विज्ञान

जनसंख्या

पर्यावरण

विकास

जनवरी-मार्च 1992 अंक

मूल्य : 8 रुपये

वार्षिक मूल्य : 25 रुपये

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
जनवरी-मार्च 1992; वर्ष 77 अंक 10-12

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे
यह अंक : 8 रु०

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक	सम्पादक	मुद्रक	सम्पर्क
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी प्रधानमंत्री विज्ञान परिषद् प्रयाग	प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव	अरुण राय प्रसाद मुद्रणालय 7, बेली एवेन्यू इलाहाबाद-211002	विज्ञान परिषद् महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

पर्यावरण और जन-संख्या विस्फोट

विश्वम्भर प्रसाद 'गुप्त बन्धु'

इस निबन्ध में पर्यावरण का मानव से सम्बन्ध बताते हुए जन-संख्या वृद्धि रोकने की आवश्यकता बताई गई हैं। अविचारपूर्ण औद्योगीकरण और उस पर आधारित अर्थ-काम प्रधान (अमानवीय) संस्कृति ही पर्यावरण-प्रदूषण का कारण है जो आँखों के सामने हैं, किन्तु उसका मूल कारण तो वैचारिक या मानसिक प्रदूषण और नेतृत्व में उद्देश्यों के प्रति ईमानदारी का अभाव है। संकीर्ण दृष्टि छोड़कर व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखें तो मानस-शुद्धि और जन-संख्या नियन्त्रण, धर्म-प्रधान भारतीय संस्कृति (जो वास्तविक मानव संस्कृति है) अपनाकर अमानवीय संस्कृति की अन्धाधुन्ध बाढ़ रोकने से ही, सम्भव है। इसके लिए आश्रमों की भारतीय शिक्षा-पद्धति ही एकमात्र दूरगामी, चिर-प्रभावी, राम-बाण इलाज है।

पर्यावरण और मानव-संस्कृति

पर्यावरण का मानव की समृद्धि से गहरा सम्बन्ध है। प्रकृति में सभी तत्वों का सन्तुलन प्रकृत्या ही होता रहता है। यदि प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन न हो तो कोई कठिनाई किसी के लिए न हो। किन्तु मनुष्य प्रकृति को अपनी इच्छा के अनुसार बदलने और उस पर नियन्त्रण रखने का अहम् पालता है तो प्रकृति भी बदला लेती है और मनुष्य के लिए हानिकर परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यदि मानव प्रकृति का उपभोग सहानुभूतिपूर्वक न करे, बल्कि उसका शोषण और दुरुपयोग करने पर तुल जाए, तो भाँति-भाँति की विपत्तियों में उसका फँसना अवश्यम्भावी है। मानवता के त्राण के लिए संकीर्ण दृष्टि अपनाने से काम नहीं चलता। एक समस्या हल होती है तो वहीं चार नई पैदा हो जाती हैं। व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखकर ही हम कोई प्रभावी और स्थायी हल खोज सकते हैं। विश्व की प्राचीनतम और सनातन संस्कृति भारत की वैदिक संस्कृति है। 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः[1]' गाने वाले दूरदर्शी वैदिक ऋषियों ने गम्भीर चिन्तन के बाद जो मानव-जीवन दर्शन हमें दिया है, उसमें सभी तत्वों में देव-बुद्धि और चराचर में ईश्वर दृष्टि रखने की प्रेरणा है। गंगा-यमुना जन-जन की मैया हैं, गैया भी मैया है और तुलसा महरानी तो हरि की पटरानी[2] ही हैं। हिमालय देवतात्मा[3] है, तो पीपल[4] बरगद भी देव-सम पूज्य हैं। बैल, भगवान शिव (कल्याण) के वाहन हैं, तो कच्छ-मच्छ-वाराह भी प्रभु के अवतार हैं (मारकर खा जाने की वस्तु नहीं)। इसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि जड़-चेतन सब में एकात्मता हो, पारस्परिक सहानुभूति हो, समरसता हो; और सबका व्यापक जन-हित में, पारस्परिक कल्याण में उपयोग हो; किसी का दुरुपयोग न हो और न कोई भी दूसरों को छोड़कर अकेले केवल अपने लिए ही किसी वस्तु का उपभोग करे। यह है भारतीय संस्कृति, धर्म-प्रधान संस्कृति जो मानव मात्र के लिए उपयोगी है और सच्चे अर्थों में मानव-संस्कृति है।

एफ० आई० ई० (इं०) विशारद (द्विक) रिटायर्ड सुपरिंटेंडिंग इंजीनियर, के० लो० नि० विभाग, भारत सरकार, बी-154, लोक विहार, पीतमपुरा, दिल्ली-110034

अविचारपूर्ण औद्योगीकरण की अमानवीय संस्कृति

अर्थ-काम-प्रधान पाश्चात्य संस्कृति या उपभोक्ता संस्कृति, जिसने तथाकथित विकसित देशों को ग्रस रखा है, वास्तव में मानव के लिए उपयुक्त नहीं है। यह अभारतीय है, अमानवीय है। यह मानव की संस्कृति नहीं, विकृति है, जिसका आधार बरबादी का अर्थ-शास्त्र है, अविचारपूर्ण औद्योगीकरण है। किसी न किसी रूप में कुशलता से खपाया जाता है जो बाद में रद्दी के रूप में फेंक दिया जाता है। उद्देश्य यह होता है कि कारखाने चलते रहें। किसी भी चीज की मरम्मत या पुर्जे-बदलाई, वह समूची चीज खरीदने की अपेक्षा, मँहगी पड़ती है ताकि पुरानी चीज जल्दी बेकार करके नई खरीदनी पड़े और उत्पादन के कारखाने चलते रहें। यह 'कारखाना चालू रहे, नीति ऐसी हावी है कि विशेष टिकाऊ माल बनाना निर्माता उद्योग के प्रति गद्दारी समझा जाता है। मानवीय तत्वों से रहित इस नीति का एक दुष्परिणाम है (विकसित देशों में) रद्दी फेंकने के लिए जगह का अभाव और दूसरा है संकटप्रद पर्यावरण प्रदूषण। यह भ्रम फैलाया गया है कि पश्चिमी देश विकसित हैं, प्रगति कर चुके हैं। किन्तु यह तो 'प्रगति' नहीं 'दुर्गति' है जिससे निकलने का मार्ग अर्थ-काम-प्रधान पाश्चात्य संस्कृति में नहीं धर्म-प्रधान भारतीय (वैदिक) संस्कृति में ही है।

अमानवीय संस्कृति में पले मानव की नियति

अविचारपूर्ण औद्योगीकरण का ताजा रूप है बीसवीं सदी की आश्चर्यजनक क्रान्ति, कम्प्यूटरीकरण, जिसकी सनक इतनी चढ़ गई है कि (विकसित देशों में तो) प्रत्येक जेब में एक गणक (कैल्कुलेटर) रहने लगा है। प्रारम्भिक पाठशालाओं के छात्र भी इनका प्रयोग करते हैं और जल्दी से जल्दी इनका प्रयोग सीख लेने पर गर्व करते हैं, जबकि भारत की पिछली पीढ़ी तक प्राथमिक कक्षाओं में ही 20 तक के पहाड़े कण्ठस्थ करा दिए जाया करते थे और कुछ मेधावी छात्र तो 40 तक के पहाड़े भी याद रखते थे। पौआ, अद्धा, पौना, सवैया, ड्योढ़ा, ढैया (1/4, 1/2, 3/4, $1\frac{1}{4}$, $1\frac{1}{2}$, $2\frac{1}{2}$ के पहाड़े) भी कम से कम 20 तक याद कराये जाते थे और कुशाग्र-बुद्धि छात्र हुण्ठा, ढ्योंचा, प्योंचा ($3\frac{1}{2}$, $4\frac{1}{2}$, $5\frac{1}{2}$) के पहाड़े) भी याद रखने में गर्व अनुभव करते थे। अब इनके न पढ़ने-पढ़ाने की आवश्यकता है, न याद करने या रखने की। जेब का गणक सब कुछ कर देगा, दिमाग कुरेदने की आवश्यकता नहीं। किन्तु किसी अंग का प्रयोग यदि न किया जाता रहेगा तो वह अंग धीरे-धीरे बेकार अवश्य हो जायेगा। इसलिए दूरदर्शी विद्वान सतर्क होने लगे हैं (भले ही कोई उनकी सुनता न हो) कि कुछ ही पीढ़ियों में मनुष्य की बुद्धि कोई काम न पाकर चरने चली जायेगी। यानी अविचारपूर्ण औद्योगीकरण से मनुष्य बेकार ही नहीं, गोबर-गणेश भी हो जायेगा; और लाभ उठाते रहेंगे पूँजीपति। अमानवीय संस्कृति अपनाकर पूँजी का गुलाम बने मानव की यही नियति क्षितिज पर उभर रही है।

मानवता के विरुद्ध एक सुनियोजित षडयन्त्र

दुख तो यह है कि यह सब कुछ हो नहीं रहा; सुनियोजित रूप से किया जा रहा है। अब मानव-जीवन-पद्धति दिव्य-दृष्टि सम्पन्न, तपः पूत, त्याग-मूर्ति ऋषि-मुनियों के दीर्घ और गम्भीर चिन्तन से निर्देशित नहीं, स्वार्थान्ध पूँजीपतियों की छल-भरी नीतियों से नियन्त्रित होती है। पर्दे के पीछे से वे ही शासन-सूत्र भी सँभाल लेते हैं और सरकारों को कठपुतली की भाँति नचाते हैं तथा मानव को भेड़ बनाकर अपने डण्डे से जहां चाहते हैं, हाँक ले जाते हैं। ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों का लाभ जन-सामान्य के बजाय उन्हीं की जेब में जाता है। पश्चिम की औद्योगिक

क्रान्ति सफल बनाने के लिए भारत जैसे बड़े-बड़े देश पिछड़े करार दिए गए। भारी उद्योगों को बाजार देने के लिए उन पिछड़े देशों के उद्योग नष्ट किए गए—कलाकारों के हाथ तक काटे गए। यह सब पिछला काला इतिहास लिख चुका है, और अब कम्प्यूटर क्रान्ति सफल बनाने के लिए नियोजित रूप से किस प्रकार मानव की मति ही हरी जा रही है, यह भावी इतिहास लिखेगा। विदेशी मुद्रा-विनिमय दर घटाना-बढ़ाना एक और बाजीगरी है। मानव अपनी धर्म-प्रधान सनातन मानव-संस्कृति की ओर से कटी हुई पतंग के समान लक्ष्य-भ्रष्ट, दिग्भ्रान्त, उद्देश्य-हीन होकर अर्थ-काम-प्रधान अमानवीय संस्कृति के स्वच्छन्द आकाश में भटकता जा रहा है। यह सदियों की दुखद नियति रही है; किन्तु यह तो मानव का महादुर्भाग्य ही है कि जिनके हाथों में नेतृत्व की बाग-डोर है, उनमें ही मानवता के प्रति, सदुद्देश्यों के प्रति, निष्ठा, सच्चाई और ईमानदारी का नितान्त अभाव है। अर्थ-काम-प्रधान अमानवीय संस्कृति का धर्म-प्रधान मानव संस्कृति पर यह आक्रमण कोई आकस्मिक दुर्घटना नहीं, कोई दुर्दैव-दत्त विपाक नहीं, बल्कि कुछ शीर्षस्थ चतुर लोगों का मानवता के विरुद्ध एक सुनियोजित षड्यन्त्र है। यह घोर मानसिक प्रदूषण और भीषण बौद्धिक विदूषण जो चतुर्दिक फैल रहा है, हमारी आँखों से ओझल है और पर्यावरण-प्रदूषण, जो आँखों के आगे है केवल उसका एक उप-उत्पाद है।

एक मात्र इलाज भारतीय शिक्षा

कोई भी नियोजित षड्यन्त्र दूषित विचारों से ही उपजता है; और वैचारिक (बौद्धिक या मानसिक) प्रदूषण किसी यन्त्र से नहीं, उपयुक्त शिक्षा से ही रोका या हटाया जा सकता है। यह भारतीय शिक्षा ही हो सकती है, जिससे मानव बलात् वंचित रखा जाता रहा है। वर्तमान अर्थ-प्रधान, काम-प्रधान शिक्षा का स्थान जब तक धर्म-प्रधान भारतीय शिक्षा नहीं लेती, तब तक मानव (भारतीय) संस्कृति सिसकती रहेगी, सभ्यता कलपती रहेगी और मानवता रो-रोकर पूँजी की दासता का कलंक ढोती रहेगी। सभी प्रकार के संकटों से त्राण पाने के लिए, वैचारिक प्रदूषण निर्मूल करने के लिए, एक मात्र इलाज भारतीय शिक्षा है जिसमें आदर्श मानव बनाने के गुण निहित हैं। 'मनुर्भव जनया दिव्यं जनम्[5]' अर्थात् अच्छे मानव बनो और दैवी-गुण सम्पन्न सन्तान उत्पन्न करो, वेद का यह आदेशकार्यान्वित करने के उद्देश्य से ही ऋषियों ने हमें भारतीय जीवन-दर्शन दिया है। भारतीय जीवनदर्शन की शिक्षा ही भारतीय शिक्षा है; यही भारतीय (मानव) संस्कृति का आधार है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ये चारों पुरुषार्थ सुचारु रूप से सिद्ध करना ही भारतीय शिक्षा का लक्ष्य है, जिनमें धर्म प्रधान है, अर्थ-काम गौण हैं, और मोक्ष इन तीनों की सन्तोषप्रद सिद्धि की चरम परिणति है। सम्पूर्ण मानव-जीवन ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नाम के चार आश्रमों में बाँट दिया जाता है और आवासीय विद्यालयों या गुरुकुलों में सतत-चिन्तन-रत मनीषी गुरु छात्रों को सारे आश्रम-जीवन जीने की शिक्षा देते हैं।

पर्यावरण, जन-संख्या और भारतीय शिक्षा

भारतीय शिक्षा मानव को पर्यावरण में देव भावना रखना सिखाती है। मानव और पर्यावरण परस्पर मित्र होते हैं। दोनों को एक दूसरे से अभय मिलना चाहिये। जहाँ मनुष्य रहता है, आस-पास कुछ प्रदूषण होता ही रहता है। इसलिए उसकी शुद्धि के लिए भारतीय शिक्षा अग्निहोत्र या यज्ञ करना सिखाती है। भारतीय जीवन सारा ही यज्ञमय या त्यागमय होता है। निःस्वार्थ, निष्काम कर्म करना ही भारतीय जीवन का उद्देश्य है, और ये कर्म ही यज्ञ हैं[6]। यज्ञ परमार्थ या जन-हित के लिए ही होते हैं[7]। 'इदं न मम' अर्थात् यह मेरा नहीं (प्रभु का) है, और 'स्वाहा'[8]

की भावना सदा जीवन में बनी रहे, यही यज्ञमय-त्यागमय जीवन है। यही धर्म है जिसे अपनाने से मनुष्य-मनुष्य बनता है, अन्यथा वह द्विपाद पशु ही होकर रह जाता है[9]। यही दिव्य जीवन है जिसे अपनाने वाला समाज बनाने का आदेश वेद ने 'जनया दिव्यं जनम्[5]' कहकर दिया है। जनसंख्या में अति वृद्धि होने से पर्यावरण में प्रदूषण बढ़ेगा ही। अतः संसार में द्विपाद जीवों की भीड़ नहीं चाहिए। सन्तति-नियमन के साथ-साथ दिव्य (श्रेष्ठ) जनों का समाज होना चाहिए जिसे बनाने की सीख देना ही भारतीय शिक्षा का उद्देश्य होता है।

अमरत्व के लिए सन्तति नियमन

वैदिक संस्कृति दिव्य (श्रेष्ठ) जनों की संस्कृति है, और दिव्य जनों के समाज में भीड़ नहीं, दिव्यता (दैवी-सम्पदा-सम्पन्न होना) मुख्य है। मनुष्य अपना जो कर्तव्य देहान्त-पर्यन्त पूरा न कर पाये उसे पूरा करना उसकी सन्तान का कर्तव्य होता है। इसीलिए मनुष्य पुत्र उत्पन्न करता है—'पुत्र' शब्द का अर्थ ही यही है[10] और पितरों का तर्पण (तृप्ति या सन्तुष्टि) इसीलिए पुत्र का धर्म समझा जाता है। किन्तु इसके लिए बहुत नहीं, एक ही पुत्र पर्याप्त होता है ('जनया दिव्यं जनम्' में 'जनम्' एक वचन ही है)। चाणक्य भी कहते हैं कि सैकड़ों मूर्ख पुत्रों से गुणवान एक ही पुत्र अच्छा होता है[11]। धर्म-प्रधान भारतीय संस्कृति में केवल एक (पहिला) पुत्र ही 'धर्मज्ञ' होता है, वही श्रेष्ठ होता है[12]। उसी से मनुष्य पुत्रवान होता है[13]। ज्येष्ठ, श्रेष्ठ एक धर्मज पुत्र (या पुत्री[14]) के अतिरिक्त शेष सब 'कामज' कहलाते हैं, और साधारण ही हुआ करते हैं[15]। धर्मानुसार उत्पन्न एक पुत्र-पुत्री प्राप्त करना आवश्यक भी होता है, ताकि वंश चलता रहे, दिव्य-समाज-निर्माण की परम्परा का उच्छेद न हो[16]। सन्तति हो, एक-दो ही हो, और दिव्य-गुण-सम्पन्न हो, ऐसी महत्वाकांक्षा किसी के लिए भी वरेण्य है। दो-चार पीढ़ियों तक निरन्तर विद्वान उत्पन्न होते रहें तो भी उस कुल का कितना सम्मान होता है! उपनिषद् कहता है कि ब्रह्मज्ञानी के कुल में ब्रह्म-ज्ञान-हीन पुरुष उत्पन्न ही नहीं होता[17]। इस प्रकार सन्तति-नियमन से कुल अमर हो सकता है, व्यक्ति तो मर्त्य ही होता है। ऋग्वेद यही कहता है कि 'प्रजया अमृतत्वमश्याम' अर्थात् प्रजा द्वारा अमरत्व की प्राप्ति होती है। सन्तति-नियमन द्वारा अखंडित दिव्य प्रजा-सातत्य सुनिश्चित करने से अमरत्व होता है जिसके लिए 'मृत्योर्माऽमृतंगमय[18]' कहकर प्रार्थना करना हमारे भारतीय जीवन का सर्वस्व है।

जन-संख्या-नियन्त्रण का सफल उपाय

जन-संख्या-विस्फोट एक ऐसी बहुमुखी समस्या है जिससे खण्ड-खण्ड करके जूझने से अभी तक की भाँति असफलता ही हाथ लगती रहेगी। इसलिए इसके समूलोच्छेद का ही लक्ष्य रखना होगा, भले ही प्रयास का लाभ तत्काल दृष्टि-गोचर न हो। भारतीय (वैदिक) शिक्षा सन्तति-नियमन द्वारा श्रेष्ठ समाज बनाने का लक्ष्य सुझाकर ही नहीं रुक जाती, बल्कि उसे प्राप्त करने का अमोघ उपाय भी सविस्तार बताती है। जीवन के चार आश्रमों में से केवल गृहस्थाश्रम ही सन्तान उत्पन्न करने के लिए है। उसके पहिले 25 वर्ष का ब्रह्मचर्याश्रम होता है। 'ब्रह्म' अर्थात् बड़ी शक्ति प्राप्त करने के लिए जैसी चर्या अर्थात् चाल-चलन, रहन-सहन आवश्यक है, वैसे सद्व्यवहार का नाम ब्रह्मचर्य है, जिसकी शिक्षा गृहस्थाश्रम के पहिले दे दी जाती है। वीर्य-नाश न होने देने वाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाता है। उसके चेहरे पर तेज झलकता है। ब्रह्मचर्याश्रम में अष्टविध मैथुन[19] से बचे रहने का संयम सिखाया जाता है। विवाह के बाद वैवाहिक (शास्त्रानुमोदित) नियमों के अनुसार स्त्री सम्बन्ध रखने का नाम भी ब्रह्मचर्य ही है। मनु के अनुसार[20] जो दम्पत्ति परस्पर प्रसन्न रहकर पर्वों तथा निन्द्य रात्रियों को बचाकर (अर्थात् मास में केवल दो रात्रियों

को, और उनमें भी यदि कोई पर्व न हों, तो) सन्तान प्राप्ति की इच्छा से ऋतुगामी होते हैं, वे गृहस्थ होकर भी ब्रह्मचारी के समान हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि भारत में पर्व भी आए दिन होते ही रहते हैं। इच्छित सन्तान प्राप्ति हेतु गर्भाधान संस्कार का एक निश्चित विधान भी होता है। इस प्रकार के प्रतिबन्ध स्वयमेव सन्तति-नियमन के साधन हैं। उपयुक्त आहार-विहार, दिन-चर्या एवं ऋतु-चर्या की गहन शिक्षा एवं दीर्घकालीन अभ्यास आरम्भिक जीवन में ही भलीभाँति हो जाने के कारण बाद में भी ये प्रतिबन्ध अप्रिय नहीं लगते, बल्कि तेजस्वी व्यक्तित्व बनाये रखने के लिए काम्य हो जाते हैं। इस प्रकार सन्तति का स्वैच्छ नियमन होता है और सन्तति-निग्रह के नाम पर भाँति-भाँति के स्वास्थ्य नाशक अप्राकृतिक उपाय करने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

कल्याण का और कोई उपाय नही है

तात्पर्य यह नहीं है कि बढ़ी हुई जनसंख्या किसी प्रकार बलात् घटा दी जाए, या उसके लिए न्यूनतम आवश्यकताओं की भी पूर्ति न की जाए, या किसी को उपेक्षा का शिकार ही बनाया जाए जैसा आज के स्वार्थपरक समाज में हो रहा है। वास्तव में आवश्यकता है उपयुक्त शिक्षा देकर धर्म-प्रधान भारतीय (मानव) संस्कृति में सबको दीक्षित करने की और अर्थ-काम-प्रधान संस्कृति की बाढ़ दृढ़तापूर्वक रोकने की। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्[21]' अर्थात् आर्य (श्रेष्ठ) बनो और संसार को बनाओ, कोई राजनीतिक अथवा मतान्ध सम्प्रदाय का जेहाद नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक क्रान्ति का, एक श्रेष्ठ समाज बनाने का नारा है, जो वैदिक युग से अब तक श्रेष्ठ समाज में चला आ रहा है और अब और भी जोर-शोर से अपनाने की आवश्यकता है। यही एक मात्र दूरगामी एवं चिर-प्रभावी राम-बाण इलाज है जन-संख्या-विस्फोट का।

सदियों से भारतीय शिक्षा से कटे हुए समाज के लिए अब यह कुछ अजूबा सा लग सकता है। अतः एक बार फिर जोर देकर कहना है कि भारतीय विवाह एक महत्वपूर्ण पवित्र धार्मिक संस्कार होता है, रति-सुख-हेतु किया जाने वाला कोई करार या समझौता नहीं। गर्भ-रोधी उपचारों से स्वच्छन्द यौनाचार को प्रोत्साहन मिलता है, जो स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकर है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान बेंजमिन फ्रैंकलिन ने उन्नतिकामी व्यक्ति के आत्म-निरीक्षण के लिए तेरह गुण गिनाये हैं। उनमें वे ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में कहते हैं कि व्यक्ति को जननेन्द्रिय का प्रयोग केवल स्वास्थ्य या सन्तति लाभ की कामना से ही करना चाहिये[22]। पौराणिक कथा है कि शिवजी काम को भस्म करके कामारि कहलाए थे। इसका लक्ष्यार्थ यही है कि शिव (कल्याण) की कामना रखने वाले व्यक्ति को काम-वासना त्याग देनी चाहिए। यह मनुष्य की उन्नति में बाधक होती है[23]। भारतीय परिवार का आधार धर्म और आध्यात्मिकता है, भोग और भौतिकता नहीं। दिव्य समाज बनाने के लिए मनुष्य को स्वयं भी दिव्य बनना है—उसे देवता या ईश्वर बनने का लक्ष्य रखना है। ईश्वर प्रजा (सृष्टि) का पालन भी करता है। इस शक्ति (पालनकर्ता विष्णु) की कल्पना शंख-चक्र-गदा-पद्म धारण किए हुए चतुर्भुज (अति कर्मठ) पुरुष के रूप में की गई है। भारतीय (हिन्दू) पति-पत्नी का सम्बन्ध शरीर का नहीं आत्मा का माना गया है—दो शरीर होकर भी प्राण एक होते हैं। इस प्रकार हिन्दू विवाह चतुर्भुज होने की दिशा में पहिली सीढ़ी है, जिससे दम्पति एकात्म होकर शुचिता, गतिमयता, शक्ति और सौम्यता (जिनके प्रतीक क्रमशः शंख चक्र, गदा और पद्म हैं) धारण करके एक अधिक शक्तिशाली और अधिक कार्यक्षम एकक के रूप में जीवन आरम्भ करें और दिव्य प्रजा (सन्तति) के पालन में समर्थ होकर एक दिव्य संसार का निर्माण करें।

यह सब कोरा वाग्विलास न मानकर भली भाँति करने और सीखने की आवश्यकता है, जो भारतीय आश्रम-शिक्षा पद्धति अपनाने से ही सम्भव है—मानव-कल्याण का और कोई उपाय नहीं हैं, नान्यः पन्था विद्यतेयनाय[24]।

निर्देश

1. अथर्व वेद 12/1/12।
2. नमो-नमो तुलसा महरानी। नमो-नमो हरि की पटरानी ॥—तुलसी की आरती।
3. अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।—महाकविकालिदासः कुमार-संभव।
4. अश्वत्थः सर्व वृक्षाणाम्।—गीता 10/26।
   अर्थात् (कृष्ण भगवान् कहते हैं कि) मैं सब वृक्षों में पीपल हूँ।
5. ऋग्वेद 10/53/6.
6. यज्ञः कर्म समुद्भवम्।—गीता 3/14।
7. यज्ञेऽपि तस्यै जनतायै कल्पते।—ऐतरेय उपनिषद्।
   अर्थात् यज्ञ-कार्य परोपकार और जनता के हित के लिए होता है।
8. सु आहा इति वा, स्वा वाग् आहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोति इति वा।—यास्कः निरुक्त 8/11।
   अर्थात् कैसा सुन्दर है यह; या यह वाणी का उद्‌गार है, या यह यजमान स्वयं कहता है, या अपने (जीवन) को यज्ञ कार्य के लिए देता है, यह स्वाहा है।
9. धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।—भर्तृहरि।
10. पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः। तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः पितृन्यः पाति सर्वतः ॥—वाल्मीकिः रामायण 2/108/13।
    अर्थात् (कोई कर्तव्य देहान्त पर्यन्त पूरा न कर पाने का जो दुख होता है, उस) 'पुम्' नाम के नरक से बेटा माता-पिता की रक्षा करता है, इसी से वह पुत्र कहलाता है।
11. वरमेको गुणी पुत्रो न तु मूर्खं शतान्यपि। एकश्चन्द्रस्तमोहन्ति न च तारागणैरपि। ॥—चाणक्य-नीति।
12. ज्येष्ठो श्रेष्ठो कुले लोके पितृणां च सुसम्प्रियः—भासः मध्यम व्यायोग।
13. ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः। पितृणामनृणश्चैव...॥—मनुस्मृति 9/106।
    अर्थात् केवल ज्येष्ठ पुत्र के होने से ही मनुष्य पुत्रवान होता है और पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है (पितरों का जो ऋण मनुष्य के ऊपर था और उसके जीते जी पूरा न हो सकेगा, वह भी उसका पुत्र स्वकर्तव्य मानकर पूरा कर देगा यह सन्तोष पाने के लिए पुत्रवान होना आवश्यक है, और पुत्र प्राप्त कर लेने पर मनुष्य स्वयं को पितृ-ऋण से मुक्त मान सकता है, इसके लिए वंश परम्परा चलती रहनी चाहिए)।

14. यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।—मनुस्मृति 9/130 ।
अर्थात् जैसे आत्मा और पुत्र समान होते हैं' उसी प्रकार पुत्र और पुत्री समान हैं ।

15. कामान्मातापिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः संभूति तस्य तां विद्याद्योनावभिजायते ।।—मनुस्मृति 2/147.
अर्थात् परस्पर काम-वश होकर माता-पिता जिस शरीर को उत्पन्न करते हैं (वह कामज है,) वह जन्म उस प्राणी का (अन्य जीवों की भाँति) साधारण होता है ।

16. आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः ।—तैत्तिरीय उपनिषद् 1/11 ।
अर्थात् (शिक्षा पूरी करके) आचार्य के लिए (दक्षिणा रूप में वांछित) धन लाकर दो, फिर (उनकी आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके) सन्तान-परम्परा चालू रखो, उसका उच्छेद न करना । यह गुरुकुल से शिक्षा पाकर निकलते समय स्नातक को उपदेश दिया जाता है ।

17. न अस्य कुले अब्रह्मविद्भवति ।—माण्डूक्य उपनिषद् ।
अर्थात् (जो ब्रह्मज्ञानी होता है, ओंकार की उपासना करता है) उसके कुल में ब्रह्मज्ञानहीन पुरुष उत्पन्न ही नहीं होता ।

18. असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्माऽमृतंगमय ।—बृहदारण्यक उपनिषद्
अर्थात् हों अग्रसर सत् पर असत् से, ज्योति में तम से प्रभो । मर्त्यत्व से अमरत्व की ही ओर ले चलिए प्रभो ।।
—गुप्त-बन्धुः पिता की खोज, पृ० 32.

19. पाराशर/याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार (परस्पर कामासक्त स्त्री-पुरुष का) दर्शन करना, स्पर्श, केलि, नेत्र-कटाक्ष, एकान्त में भाषण, मन में विषय सम्बन्धी विचार करना, परस्पर क्रीड़ा का प्रयत्न करना, और (सम्भोग की) कार्य-निष्पत्ति ये आठ प्रकार के मैथुन (स्त्री-प्रसंग) विद्वानों ने बताये हैं । इनसे बचना ही ब्रह्मचर्य है, जिसे कभी छोड़ना न चाहिए ।

20. मनुस्मृति 3/45-50 ।

21. ऋग्वेद, 9/63/5 ।

22. CHASTITY : Rarely use venery but for off-spring.—बेंजमिन फ्रैंकलिन ।

23. काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः । महाशना महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।।—गीता 3/37 ।
अर्थात् रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है जो अग्नि के समान भोगों से न तृप्त होने वाला महापापी है, इसे तू प्रेरक बैरी समझ ।
और भी, त्रिविधं नरकस्येदे द्वारं नाशनमात्मनः । कामः क्रोधस्तथा लोभस्त- स्यादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।—गीता 16/21 ।
अर्थात् काम, क्रोध और लोभ, ये आत्मा का नाश करने वाले नरक के द्वार हैं, अतः इन तीनों को त्याग देना चाहिए ।

24. यजुर्वेद 31/18 ।

परनाला वहीं गिरेगा

श्याम सरन अग्रवाल 'विक्रम'

विशेषांक का शीर्षक देते समय यह विचार मन में हो, न हो, परन्तु पाठक को तो दो बार सोचने पर यह प्रतीत होता है कि शीर्षक के क्रम में सहज परन्तु अप्रत्यक्ष वैज्ञानिकता आ गयी है कि पहले जनसंख्या, तदुपरान्त पर्यावरण नियोजित कर लेने पर विकास की प्रक्रिया तो स्वतः चली आयेगी। संकेत स्पष्ट है कि जनसंख्या को अंकुरित किये बिना पर्यावरण और विकास सम्बन्धित प्रयास वांछित फल न दे पायेंगे।

एक प्रचलित दृष्टान्त का उल्लेख भी यहाँ प्रासंगिक रहेगा :

एक शिक्षक ने श्यामपट पर एक खड़ी रेखा खींचकर कक्षा से कहा कि इसे छोटा करना है, बगैर काटे, मिटाये। जब कोई भी न कर पाया तब शिक्षक ने उस रेखा के समानान्तर दूसरी रेखा उससे बड़ी खींच दी। हो गयी न, पहली रेखा छोटी ? यथावत ही समझने की आवश्यकता है कि पर्यावरण-प्रदूषण की रेखा तो हमारी ना-समझियों से खींची गयी परन्तु सुबह का भूला, शाम को घर लौटे की मिसाल अब तो हम समझदारी से काम लें। प्रकृति से ईर्ष्यापूर्ण प्रतिद्वन्द्विता छोड़ने में हम सुरक्षित रह पायेंगे बकौल एक शायर के सटीक शब्दों में :

।। कह रहा है आस्माँ, ये सब समाँ[1] कुछ भी नहीं ।।
।। पीस दूंगा एक गर्दिश[2] में, जहाँ[3], कुछ भी नहिं ।।

[1. हमारी वैज्ञानिक उपलब्धियों की डींग हंकाई 2. बाढ़, भूकम्प, ज्वालामुखी विस्फोट आदि 3. दुनिया]

पर्यावरण-सुरक्षा तथा जनसंख्या-निरोध, परस्पर मिलते ही विकास का नया सूर्य उगेगा और पहली खिंची रेखा स्वतः छोटी हो जायेगी।

जनसंख्या-नियमन के विषय में शिक्षित वर्ग बाबत तो हम क्या कहें, अर्द्ध-अल्प और अशिक्षित वर्ग जो कि बहुत बढ़े-चढ़े वृहदांश में हैं, उन पर दूरदर्शन जैसे सबल संचार साधन का भी प्रभाव इतना नगण्य है कि यही सुनने को मिलता है—पंचों का कहना, सरमाथे, परनाला वहीं गिरेगा···ये तो भगवान की माया है, इसमें अपना बस कहाँ ? ऐसे मुकाम पर जहाँ मानव अपना ही हित-अनहित और उत्तरदायित्व समझने में असमर्थ है, वहाँ प्राणी-जगत् के माध्यम से सिखाने को प्रकृति के पास अटूट खजाना है। काश, हम प्रजनन-नियोजन के ही एक उद्देश्य तक मानव मिटकर पशु बन सकें !

---

68 असिस्टेन्ट लाइन, बिरला नगर, ग्वालियर-474004 (मध्यप्रदेश)

जन्तु-जगत् में एक प्रयोग सिद्ध तथ्य यह है कि एक प्राणी किंचित् भी अस्वस्थ होने पर खाने की ओर देखेगा भी नहीं। इसके विपरीत, मानव का हाल यह है कि भाय, कुभाय, अनख, आलसहू, भूख हो या न हो, खाने पर बैठेगा अवश्य। प्रजनन के क्षेत्र में भी सर्वशक्तिमान, प्रकृति अपना सन्तुलन बनाये रखने के लिए जिस वर्ग के जन्तुओं की संख्या अनर्यादित बढ़ती होगी उसके सामूहिक न्यूनीकरण के लिए उसके शिकारी शत्रुओं को बहुतायत में उत्पन्न करके, भूख, बाढ़ तथा बीमारी के आक्रमणों द्वारा तथा अधिक वैज्ञानिक तो यह कि उनकी प्रजनन-क्षमता शरीर की जैविक क्रियाओं द्वारा न्यूनतम करके अपना सन्तुलन सम्हाल लेती है ! इसके विपरीत, मानव का ये हाल है कि विज्ञान के बल पर रोग-संघर्ष तथा दीर्घजीवी नुस्खों द्वारा जनसंख्या वृद्धि बरकरार रखने में कोई पैंतरा नहीं चूकना चाहता !

सोचना यह भी है कि अब वह आदिमयुग तो वापस बुलाया नहीं जा सकता जबकि परिवार-नियोजन हेतु शिशु की दुग्धपान-अवधि तक माता को नर-संसर्ग से वंचित रखा जाता था। येन केन प्रकारेण गर्भ-समापन भी करा लिया जाता था और धार्मिक उन्मादी विभिन्न मान्यताओं के अन्तर्गत मानव-बलि का भी प्रचलन था। आज तो उन आदिमयुगीन बातों का जिक्र ही व्यर्थ है। आज स्थिति यह है कि समाज में अन्यान्य जघन्य अपराधों के लिए तो कठोरतम दंड-व्यवस्था है परन्तु जनसंख्या-संवर्द्धन को सामाजिक अथवा राष्ट्रीय अपराध माना ही नहीं जाता, जबकि सच पूछो तो समस्त अपराधों का सिरमौर यही है कि दाँत निपोरकर यह कहना कि—परनाला वहीं गिरेगा ! जहाँ शासन अपनी मर्यादाओं से बाहर जनांकुश लगाने में असमर्थ है, वहाँ जन-जन का सुबुद्धि संगत सहयोग सर्वोपरि आवश्यक है।

एक गणनानुसार भारत की जनसंख्या जो प्रतिघन्टा लगभग छः सौ के हिसाब से विस्फोटित होती जा रही है, वह आने वाले तीन दशकों तक तो आज की कुल संख्या से दुगुनी हो रहेगी। उस विनाशकारी जनसंख्या-विस्फोट के समक्ष हमारे समस्त अत्याधुनिक पैंतरे निष्प्रभावी रह जायेंगे। आज भी हमारे तथाकथित महानगरों की आवासीय स्थिति कबूतरखाने से कतई बेहतर नहीं क्योंकि करोड़ों की संख्या में मानव नामक कीट-पतंगे फैली धरती पर, खुले गगन के तले रहते-बसते हैं। आज आवश्यकता इस बात की भी है कि शासनगत अन्यान्य विभागों के बीच, परिवार नियोजन की भाँति जनसंख्या प्रतिरोधक विभाग बना कर उसे प्रभावी बनाये रखने में हम अपनी समस्त शक्तियाँ तन, मन से जुटाकर दाँव पर लगा दें।

किसी का यह व्यंग्य कितना आरपार बेंध देता है कि
देश को खतरा बम से नहिं, "हम" से है !!

●●

विश्व जनसंख्या की वर्तमान स्थिति का ग्रामीण और शहरी पर्यावरण पर प्रभाव

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

पिछले कुछ दशकों से तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या की समस्या ने पूरे विश्व को अपने विकराल पंजों में मजबूती से जकड़ रखा है। 'जनसंख्या विस्फोट' से ग्रामीण और शहरी क्षेत्र दोनों ही प्रभावित हुए हैं, पर्यावरण को बेतहर क्षति पहुँची है।

'एम्बायो' पत्रिका के हाल के एक अंक में प्रकाशित एक रपट के अनुसार सन् 1650 में विश्व की जनसंख्या लगभग 500 मिलियन थी, यह 1800 में 1000 मिलियन से अधिक हो गई, 1920 में यह 2000 मिलियन और 1987 में 5000 मिलियन पहुँच गई। यह निश्चित है कि वर्ष 2000 तक यह संख्या 6000 मिलियन और 2010 तक 7000 मिलियन हो जायेगी। हो सकता है कि 2020 तक यह संख्या बढ़कर 8000 मिलियन हो जाये और 2100 तक 10,000 मिलियन पर पहुँच कर स्थिर हो जाये।

ये निराशाजनक आँकड़े न्यूयार्क स्थित 'यूनाइटेड नेशन्स पॉपुलेशन फण्ड' की रपट 'द स्टेट ऑव द वर्ल्ड पॉपुलेशन 1988' शीर्षक के अन्तर्गत लन्दन में डॉ० नाफिस सादिक द्वारा प्रकाशित किए गए हैं। डॉ० नाफिस 'यूनाइटेड नेशन्स पॉपुलेशन फण्ड' के कार्यकारी निदेशक हैं।

इन आँकड़ों को निराशाजनक मानने का सबसे प्रमुख कारण यह है कि लगभग पूरी जनसंख्या वृद्धि विकास-शील देशों में ही होगी—ऐसे देश जिनमें वृद्धि को समाहित करने की क्षमता नहीं के बराबर है। तीसरी दुनिया की इस बढ़ी हुई जनसंख्या के अधिकांश लोग शहरों की ओर भागेंगे, निवास के लिए। 1950 की अपेक्षा तीन गुने अधिक लोग आज शहरों में रह रहे हैं। उपरोक्त रपट के अनुसार सन् 2000 तक दुनिया की आधी आबादी शहरों में रहने लगेगी। उस समय यानी इस सदी के अन्त तक लैटिन अमेरिका के 42 प्रतिशत और अफ्रीका के 37 प्रतिशत लोग शहरी हो जायेंगे। संयुक्त राष्ट्र की रपट के अनुसार यदि जनसंख्या वृद्धि इसी गति से होती रही तो शहरी पर्यावरण 'रहने योग्य' नहीं रह जाएगा।

सन् 2000 तक नगर निवासियों की इस विशाल संख्या का 20 प्रतिशत या इससे भी अधिक महानगरों का निवासी बन चुका होगा। अधिकतर निवासी तो जन्म से इन्हीं नगरों में रहने वाले होंगे। किन्तु कुछ ऐसे लोग गाँवों से भी शरणार्थी की भाँति शहरों में आयेंगे—लोगों को उनकी गरीबी और भुखमरी गाँवों से शहरों में खींच लायेगी। मनीला में 1970-80 के बीच शहरों की जनसंख्या में 55 प्रतिशत वृद्धि का कारण यही प्रव्रजन था। 1980 के दशक के पूर्वार्द्ध में कम से कम 10 मिलियन अफ्रीकावासियों को भयंकर सूखे के कारण अपना देश

वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद-211002

छोड़ना पड़ा था । इस समय भारत, बांग्लादेश और पाकिस्तान में 30 मिलियन से अधिक लोग बेघरबार हैं, जो या तो पूरे समय बेकार रहते हैं अथवा इनके पास इतना कम काम है कि इनकी साधारण आवश्यकतायें भी पूरी नहीं हो पाती । फिर इसमें आश्चर्य क्या कि ये लोग अच्छे जीवन की तलाश में गाँव छोड़कर शहर की ओर भागते हैं ।

यह दूसरी बात है कि इनमें से कुछ थोड़े ही अपना जीवन स्तर सुधार पाते हैं । ये कितना ही कठिन परिश्रम करें—प्रतिदिन 16 घंटे तक भी—किन्तु इतना धन कभी भी नहीं कमा पाते जिससे अपना घर बना सकें अथवा स्वस्थ पर्यावरण में रहने के लिए जरूरत की चीजें जुटा सकें । इस रपट में बम्बई महानगर की सड़कों पर रहने वालों के सर्वेक्षण का भी उल्लेख है । इनमें से अधिकांश श्रमिकों के रूप में या सड़कों पर छोटी-छोटी चीजें बेंच कर जीवन यापन करते हैं, पर उनकी एक दिन की औसत आय लगभग 25 रुपये से भी कम है ।

नगरों-महानगरों की विकासशील नीतियों का ग्रामीण पर्यावरण पर भी अनचाहे भी अत्यधिक प्रभाव पड़ता है । शहरों का जब विस्तार होता है तो वे अक्सर ही निकटवर्ती कृष्यभूमि को निगल जाते हैं । संयुक्त राज्य अमेरिका में, जहाँ जनसंख्या वृद्धि अपेक्षतया कम है, 1967-1975 के बीच 2·5 मिलियन हेक्टेयर कृषिगत भूमि शहरों के विस्तार की भेंट चढ़ गई । समस्या मात्र भूमि तक ही सीमित नहीं रहती । एक मिलियन आबादी वाले एक आम शहर के लिए प्रतिदिन 625,000 टन जल, 2000 टन भोजन और 9500 टन जलावन या ईंधन की आवश्यकता पड़ती है । जीवन की यह तीनों प्रमुख जरूरतें—भोजन, जल, ईंधन—अधिकतर गाँवों से ही प्राप्त होती हैं । उदाहरण के लिए केन्या में जंगलों के काटने का मुख्य कारण ग्रामवासियों की जलावन की आवश्यकता नहीं वरन् नगरनिवासियों के लिए उस कोयले की जरूरत है जिसे लकड़ी से तैयार किया जाता है । इन जीवन स्रोतों को प्राप्त कर बदले में एक मिलियन आबादी वाला एक आम शहर प्रतिदिन 500,000 टन दूषित जल, 2000 टन ठोस अपशिष्ट और 950 टन वायु प्रदूषक उत्पन्न करता है । शहरी अपशिष्टों का आमतौर से गाँवों में ढेर लगा दिया जाता है जो ग्रामीण पर्यावरण को भी प्रदूषित और विषाक्त कर देते हैं ।

ग्रामीण क्षेत्रों के प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार अनेक दूसरे रूपों में भी दिखाई देता है । वस्तुतः सभी जगह सरकारों पर शहरों में रहने वाले लोगों का ग्रामीण जनता की अपेक्षा अधिक दबाव पड़ता है । इस कारण विकास की मद में निश्चित धनराशि का अधिकांश शहरों को ही मिलता है । कई देशों में 1973 के सर्वेक्षण में पाया गया कि जहाँ 74 प्रतिशत शहर निवासियों को शुद्ध पेयजल मिलता है वहीं मात्र 39 प्रतिशत ग्रामवासियों को यह पेयजल उपलब्ध है । यहीं नहीं, जहाँ 52 प्रतिशत शहरी लोगों को स्वास्थ्य-रक्षा की सुविधायें उपलब्ध हैं, वहीं मात्र 14 प्रतिशत ग्रामीणों को ही यह सुविधा मिल पाती है ।

प्रायः यह भी देखने में आता है कि नगरनिवासियों द्वारा सरकार पर डाला गया राजनैतिक दबाव सरकार को खाद्यान्नों अथवा अन्य खाद्य पदार्थों का मूल्य निर्धारित करने को बाध्य करता है । इससे किसानों की आय प्रभावित होती है । यह भी एक प्रमुख कारण है कि लोग गाँवों से शहरों की ओर भागते हैं । यह निर्णय उन्हें निराश होकर लेना पड़ता है ।

शहरों की ओर प्रव्रजन की इस अटूट प्रक्रिया के बावजूद अधिकतर विकासशील देशों में अभी तक जनसंख्या का लगभग 75 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों में रहता है । इनकी वार्षिक आय औसतन 50-300 अमेरिकी डालर है ।

मकान बनाने के लिए इन्हें मिट्टी और घास जैसी प्रकृतिदत्त साधनों पर ही निर्भर रहना पड़ता है । भोजन की समस्या की पूर्ति के लिए इन्हें खेतों में काम करना, पशुओं को चराना और उनकी देखभाल करना, दूध दुहना जैसे कार्य करने पड़ते हैं । इससे शोचनीय बात यह है कि अपनी 60 प्रतिशत जल की आवश्यकता की पूर्ति ये खुले नालों से प्राप्त जल से करने पर विवश हैं । 90 प्रतिशत ईंधन या जलावन के लिए बनों से काटी गई लकड़ी, सूखे पत्तों और उपलों से ही काम चलाना पड़ता है । यातायात के लिए हैं उनके अपने दो पैर और सामान ढोने के लिए अपनी पीठ । मात्र जिंदा रहने के इस जानलेवा संघर्ष में अन्न उगाने की जिम्मेदारी ग्रामीण महिलाओं और बच्चों पर है जो स्कूल नहीं जाते । अन्न उगाने में महिलाओं और बच्चों की भूमिका क्या है यह इसी सूचना से स्पष्ट हो जायेगा कि अफ्रीका में 70 प्रतिशत, एशिया में 50-60 प्रतिशत और लेटिन अमेरिका में 30 प्रतिशत अन्नोत्पादन का कार्य केवल महिलाओं और बच्चों के बल पर होता है । यही कारण है कि परम्परागत महिलायें अपनी कठिन जिन्दगी के बावजूद अधिक बच्चे चाहती हैं क्योंकि उन्हें हाथ बँटाने वाले दो अतिरिक्त हाथ चाहिए । इस तीव्र जनसंख्या वृद्धि के दबाव से अनिवार्य रूप से ग्रामीण पर्यावरण प्रभावित होता है । इस प्रकार गाँवों में रहने वाले स्वयं ही अपनी प्राकृतिक सम्पदाओं के छीजते स्रोतों के लिए उत्तरदायी बन जाते हैं ।

इन ग्रामीण क्षेत्रों के कुंए या वे जल-स्रोत जिन पर वहाँ के निवासी निर्भर हैं, धीरे-धीरे सूख रहे हैं । भारत, नाईजीरिया, इथियोपिया जैसे अनेक देशों की यह कहानी है । यहाँ महिलायें रात-रात भर कुओं के निकट अपने बर्तन रखकर सोती हैं ताकि जब क्रम से उनकी बारी आये तो वे पानी भर सकें । फिर भी उन्हें प्रति व्यक्ति जल की न्यूनतम आवश्यक मात्रा—30 लीटर जल—प्राप्त नहीं होता, जो पीने, खाना पकाने और बर्तन साफ करने के लिए आवश्यक है । स्वच्छ पानी की कमी का असर बच्चों के स्वास्थ्य पर देखा जा सकता है । स्वच्छ जल के उपयोग और सफाई पर ध्यान देने से बच्चों के घातक रोग डायरिया (अतिसार) के प्रकोप से 40 प्रतिशत की कमी की जा सकती है ।

वन, चरागाह, जल स्रोत और भूमि पर जनसंख्या के दबाव के कारण जंगल काटे जा रहे हैं, भूमि का अपरदन हो रहा है और जलस्तर नीचे, और नीचे चला जा रहा है । प्रतिवर्ष 11 मिलियन हेक्टेयर उष्णकटिबन्धीय वनक्षेत्रों का सफाया हो रहा है। भूमि की ऊपरी उपजाऊ मिट्टी का प्रतिवर्ष 26,000 मिलियन टन की दर से अपरदन हो रहा है । प्रतिवर्ष 6 मिलियन हेक्टेयर की दर से नये रेगिस्तान बनते जा रहे हैं । पिछले 30 वर्षों में उष्णकटिबन्धीय विकासशील देशों के 160 मिलियन हेक्टेयर उच्चभूमि वाले जलसंभर (अपलैंड वाटरशेड) अपनी गुणवत्ता खो चुके हैं; अनेक क्षेत्रों में भूमिगत जल का उपयोग इस तेजी से हो रहा है कि उनकी पूर्ति करना असम्भव है । इसके अतिरिक्त खारीकरण अथवा जलाक्रांति (वाटर लॉगिंग) के कारण विश्व की लगभग आधी सिंचित कृषिगत भूमि कुप्रभावित हो रही है ।

औद्योगिक रूप से उन्नत देश भी पर्यावरण को कम क्षति नहीं पहुँचाते । इन देशों में विश्व की आबादी के 25 प्रतिशत से भी कम लोग रहते हैं । किन्तु ये पूरे विश्व में इस्तेमाल की जाने वाली ऊर्जा के 75 प्रतिशत का उपयोग करते हैं । व्यापारिक ईंधन का 79 प्रतिशत, लकड़ी का 85 प्रतिशत और स्टील उत्पादन के 72 प्रतिशत के उपभोक्ता भी इन्हीं उन्नत देशों के रहने वाले लोग हैं । इस उपभोक्तावृत्ति के कारण पर्यावरण को पहुँची अपूरणीय क्षति का अनुमान इस सूचना से लगाया जा सकता है । यूरोप और उत्तरी अमेरिका के 31 मिलियन हेक्टेयर वन इस

कारण अम्ल वर्षा की चपेट में आ गये हैं और मिट्टी का पी-एच स्तर मान्य से कहीं नीचे पहुँच गया है। विषैले और खतरनाक अपशिष्टों की अज्ञात मात्राओं से उत्पन्न प्रदूषण और उसे एक जगह दूसरी जगह ले जाने तथा निपटान की समस्या एक दूसरा कठिन प्रश्न है। यह प्रवृत्ति निश्चय ही खतरनाक है। एक अनुमान के अनुसार पूरे विश्व में औद्योगिक गतिविधियों से उत्पन्न होने वाले विषैले अपशिष्टों की मात्रा प्रतिवर्ष 370 मिलियन टन है। समस्या की गम्भीरता इसी से आंक लीजिए कि मात्र 19 देशों द्वारा उत्पन्न विषैले अपशिष्टों की मात्रा ही प्रतिवर्ष 100 मिलियन टन से अधिक है।

हम प्रारम्भ में जिस रपट की बात लेकर चले थे उसमें इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि जनसंख्या, प्राकृतिक सम्पदा और पर्यावरण का अन्योन्याश्रित रिश्ता अति जटिल है और आज भी समझा नहीं जा सकता है। अतएव पहली प्राथमिकता और अधिक अनुसन्धान की है।

ऐसे विकासशील देश, जिन्होंने जनसंख्या वृद्धि के आगामी खतरों को पहचान कर वृद्धि गति को धीमा कर लिया है, धीमी आर्थिक प्रगति के प्रति भी प्रतिबद्ध हो गये हैं और इस सैद्धांतिक मान्यता को उन्होंने अपनी योजनाओं में भी शामिल कर लिया है। इस प्रकार इन देशों में, उन देशों की अपेक्षा जहाँ जनसंख्या वृद्धि दर तेज है, गरीबी और अमीरी के बीच खाई कम हुई है, साक्षरता प्रतिशत बढ़ा है, नवजात शिशुओं की मृत्युदर घटी है, गाँवों के विकास पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है और अनियन्त्रित शहरी विस्तार पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है।

इन देशों में महिलायें आमतौर से अपेक्षाकृत शिक्षित हैं, अधिक समय तक स्कूली शिक्षा प्राप्त करती हैं, बच्चों की संख्या कम है और वे आर्थिक विकास की मुख्यधारा के निकट हैं। उक्त रपट में जनसंख्या वृद्धि को धीमा करने और पर्यावरण संरक्षण में महिलाओं की अनिवार्य भूमिका को प्रमुखता दी गई है। विकास की गति के नैरंतर्य को बनाये रखने के लिए महिलाओं की भागीदारी और उचित सहयोग की आवश्यकता को उसके सम्पूर्ण आयामों के साथ स्वीकारा गया है। यहीं औद्योगिक रूप से उन्नत देशों का भी यह कर्तव्य है कि वे उद्योगों में नई और सुरक्षित प्रौद्योगिकी का उपयोग और जनसंख्या की समस्या को सुलझाने में अपनी भूमिका की गम्भीरता के प्रति भी सजग रहें।

●●

[आविष्कार, अगस्त 1989 से साभार]

बढ़ती जनसंख्या का वन एवं वन-सम्पदा पर प्रभाव

सतीश कुमार शर्मा

आज मानवता के समक्ष अनेक विकराल समस्यायें मुँह बाये खड़ी हैं, जिनमें गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, अशिक्षा, प्रदूषण आदि प्रमुख हैं। वस्तुतः इन सभी समस्याओं का जिम्मेदार बेतहाशा बढ़ती मनुष्य की आबादी, उपभोक्ताबादी संस्कृति तथा मानव मूल्यों की गिरावट है। भारत सहित सभी देशों की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है। खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO) के महानिदेशक डॉ० एडवर्ड सौमा के अनुसार सन् 2025 तक दुनिया की आबादी 8.5 अरब तक पहुँच जायेगी। निश्चय ही तब तक ऊपर वर्णित समस्यायें सम्भवतः भयंकर रूप ले चुकी होंगी। सम्भवतः इतनी बड़ी जनसंख्या को भोजन, स्वच्छ पानी, स्वच्छ हवा, खुले आवास एवं हरी-भरी प्रकृति दे पाना बहुत कठिन हो जायेगा। विकसित देश, मानवता को बेच कर कुछ सँभलने की कोशिश कर सकते हैं, लेकिन विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था बुरी तरह चरमरा जायेगी।

बढ़ती जनसंख्या को सँभालने के लिए कृषि क्षेत्र तथा शहरों का विस्तार होगा, जिससे नये वन क्षेत्रों को नष्ट किया जायेगा। वनों की बर्बादी से मनुष्य का विशेष कर ग्रामीण आदिवासी तथा गिरिवासियों का जीवन स्तर और नीचे गिर जायेगा। पहले ही अन्न उत्पादन के लिए आवश्यक प्राकृतिक साधन तेजी से नष्ट हो रहे हैं। प्रतिवर्ष मिट्टी की ऊपरी उपजाऊ पर्त से 250 लाख टन मिट्टी बह रही है। अस्सी लाख हेक्टेयर कृषि भूमि पूरी तरह बंजर हो चुकी है। हर साल जब हम 170 लाख हेक्टेयर वन नष्ट कर रहे हैं तो प्राकृतिक आवरण के नष्ट होने से मृदाक्षय में बहुत तेजी आयेगी। बाँधों में तलछट जमाव बहुत तेजी हो जायेगा। अनेक नम क्षेत्रों (Wet lands) का स्वरूप ही बदल जायेगा। वनों की बर्बादी इसी गति से होती रही तो खाद्य संगठन (FAO) तथा संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (UNEP) के अनुसार सन् 2135 तक पृथ्वी वन विहीन हो चुकी होगी एवं तब तक आधे प्राणी व आधी वनस्पति जातियों का विलुप्तीकरण हो चुका होगा। तब तक हम कई क्षमतावान (Potential) भोज्य, औषधीय व अन्य महत्व के पौधों को भी खो देंगे। पौधों के साथ-साथ वन्य प्राणियों को खोने से हम 'विश्व जीव समूह' का एक बड़ा हिस्सा खो देंगे। वन आवासों की बर्बादी से सम्भवतः कृषि आवासों से कुछ वन्य प्राणी पलायन कर आवें, लेकिन सम्भावना ज्यादा यही है कि वहाँ मूल आवास की अनुपलब्धता के कारण वे ठीक से स्थापित नहीं हो सकेंगे तथा उनमें अधिकांश मारे जायेंगे तथा शेष में अर्द्धपालतुकरण तक पनप सकता है।

यदि हम धरती पर मानवता को बचाना चाहते हैं तो हमें 'विनाश सहित विकास' नहीं, 'विनाश रहित विकास' की अवधारणा को अपनाना पड़ेगा। जनसंख्या को निश्चय ही नियन्त्रित करना होगा। जनसंख्या नियन्त्रण को धार्मिक व राजनैतिक दृष्टि से नहीं बल्कि मानवीय एवं वैज्ञानिक दृष्टि से समझना पड़ेगा। समाज तथा सरकारों को स्पष्टता तथा कुछ कठोरता का रुख अपनाना पड़ेगा। उपभोक्तावादी संस्कृति, संसाधनों के अनावश्यक दोहन, भण्डारण तथा उपभोग को बढ़ावा देती है। हमें आवश्यकता तथा मानवीय लालच का अन्तर समझ कर अपनी माँग-

---

आर्बोरीकल्चरिस्ट, विश्ववानिकी उद्यान, झालाना डूँगरी, जयपुर-302004 (राजस्थान)

पूर्ति करनी होगी। प्राकृतिक एवं पूर्व स्थापित वनों एवं उनमें रहने वाले प्राणियों को बचाना होगा तथा अकृषि क्षेत्रों में वृहत वनारोपण करना होगा।

धनी देश जहाँ विश्व की जनसंख्या का कम प्रतिशत निवास करता है, साधनों का मनमाना उपयोग व कई मायनों में फिजूलखर्ची करते हैं, उन्हें अपनी मानसिकता बदल कर साधनों के बँटवारे में उदारता दिखानी होगी।

अपशिष्टों को फेंकने के बजाय उनका पुनःचक्रण करना होगा। कचरे को उपयोग में लाना एक ऐसा ही काम है। कचरे से कागज, कम्पोस्ट, मृदा क्षरण से प्रभावित क्षेत्रों में 'गली' अवरोधन, विद्युत्-उत्पादन आदि कार्य किये जा सकते हैं। कृषि क्षेत्रों से निकले कचरे से चारा, ईंधन, मल्चिग, कम्पोस्ट, राख, सैल्यूलोज, सक्रिय कार्बन, फरफ्यूरल व अन्य उपयोगी चीजें बनाई जा सकती हैं।

बड़ी सिंचाई परियोजनाओं की स्थापना पर पुन: विचार किया जावे। 1874 से 1975 के बीच भारत में 433 बाँध बनाये गये जिनमें 40 बड़े-बड़े बाँध हैं। बड़े बाँधों की स्थापना से डूब क्षेत्र में आने के कारण भारी मात्रा में वन, वन्य प्राणी एवं आवासों का विनाश हो जाता है तथा स्थानीय लोगों को उस धरती से विस्थापित कर दिया जाता है, जिससे वे शताब्दियों से जुड़े होते हैं। बढ़े बाँधों से नहरों का एक जाल बना कर सिंचाई का नया तन्त्र विकसित किया जाता है जो कुछ वर्ष तक ठीक-ठाक कार्य करता है, तत्पश्चात् आस-पास के क्षेत्रों में जल-प्लावनता, दलदलीकरण, लवणीकरण जैसी अनेक समस्यायें खड़ी होने लगती हैं जो पूरे पारिस्थितिकी तन्त्र एवं अर्थशास्त्र को ही बदलने लगती हैं। छोटे-छोटे बाँध बनाकर कई समस्याओं से बचा जा सकता है। चीन ने छोटे-छोटे बाँधों को ग्रामीण क्षेत्रों में अपना कर एक सफल मिसाल कायम की है।

हम बार-बार विश्व पृथ्वी दिवस, विश्व स्वास्थ्य दिवस, विश्व खाद्य दिवस, विश्व पर्यावरण दिवस आदि मनाते हैं लेकिन यदि जनसंख्या विस्फोट को शीघ्र नहीं रोक सके तो इन दिवसों के मनाने का नतीजा मिलना संदिग्ध हो जायेगा। यहाँ तक की पूरी सामाजिक व्यवस्था ही तहस-नहस हो सकती है तथा मनुष्य के अस्तित्व को ही प्रश्न-चिन्ह लग जायेगा।

●●

शिक्षा, परिवार नियोजन, पर्यावरण और विकास : कुछ तथ्य और विचार

द्वारिका प्रसाद शुक्ल

1. "यदि आप एक वर्ष की योजना बना रहे हों तो एक बीज बोयें, यदि 10 वर्ष की योजना बना रहे हों तो एक वृक्ष का पौधा लगायें और यदि 100 वर्षीय योजना बना रहे हों तो लोगों को शिक्षित करें। एक बार बीज बोने पर आप एक फसल पायेंगे। यदि आप लोगों को शिक्षित करेंगे तो सैकड़ों फसलें प्राप्त करेंगे।"

—कुआन-तू-ज़ू (KUAN-T ZU)

2. विश्व विकास रिपोर्ट, 1991 के अनुसार—जापान तथा कोरिया गणराज्य जिन्होंने शिक्षा व प्रशिक्षण पर अधिक जोर दिया, ने मानव विकास तथा आर्थिक विकास—दोनों क्षेत्रों में अच्छे परिणाम दिखाये।
3. अल्फ्रेड मार्शल के अनुसार आर्थिक संसाधनों की उपयोगिता इसी बात में है कि बुद्धिमत्ता पूर्ण उपयोग के फलस्वरूप वे मानव जाति के शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य तथा नैतिक उत्थान में सहायक होते हैं।
4. अध्ययनों से यह सिद्ध हुआ है कि अच्छे पोषण (Nutrition) के फलस्वरूप मृत्युदर में काफी कमी आती है—शिशु-मृत्युदर में कमी लाने के लिए तो अच्छे पोषण का बहुत ही महत्व है तथा शिशु-मृत्युदर में कमी आने से जनसंख्या नियोजन में लोगों की रुचि अधिक बढ़ती है।
5. माताओं की शिक्षा एवं स्वास्थ्य तथा सुपोषण से स्वस्थ बच्चों के लिए उचित आधार बनता है तथा परिवार नियोजन एवं पर्यावरण की रक्षा में महिलाओं की अहम् भूमिका है।
6. बालिकाओं एवं महिलाओं की शिक्षा में बढ़ोत्तरी से बच्चों के पोषण में वृद्धि तथा शिशु-मृत्युदर व जन्मदर में कमी सिद्ध हुई है।
7. शिक्षा के परिणामस्वरूप उद्यमिता विकास, उन्नत कृषि, उत्पादकता में वृद्धि आदि परिलक्षित होते हैं।
8. अधिक निर्धनता तथा अधिक जन्म-दर के कारण शिशु-मृत्युदर भी बढ़ती है तथा इससे परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को धक्का लगता है। माँ के स्वास्थ्य में गिरावट तथा माँ व शिशु-मृत्युदर भी बढ़ती है।
9. जनसंख्या वृद्धि के फलस्वरूप भूमि को अधिक से अधिक कृषि के उपयोग में लाने की स्थिति पैदा होती है तथा इससे पर्यावरण को विभिन्न प्रकार के खतरे उत्पन्न होते हैं। नेपाल में अधिक वनों के काटने के कारण बांगला-देश व भारत में भूस्खलन तथा बाढ़ में वृद्धि हुई है।
10. जनसंख्या परिसीमन, बेहतर नगर-नियोजन, ग्रामीण विकास तथा सबके लिए शिक्षा के द्वारा लोगों में कम बच्चे रखने तथा उनके स्वास्थ्य एवं जीवन में गुणात्मक वृद्धि के लिए प्रेरणा उत्पन्न होती है।
11. भारत में जिन इलाकों में शिक्षा तथा उन्नत कृषि का अच्छा विकास हुआ है तथा 'हरित क्रान्ति' आयी है, वहाँ जन्मदर में कमी तथा बच्चों की शिक्षा में वृद्धि देखी गयी है।

प्रबंधक, वाणिज्यिक बैंकिंग प्रभाग, भारतीय स्टेट बैंक, मोती महल मार्ग, लखनऊ-226001

12. भारत में केरल तथा पश्चिमी बंगाल—दोनों में जनसंख्या का घनत्व लगभग एक जैसा है। दोनों के ग्रामीण इलाकों में मृत्युदर में अत्यधिक अन्तर है, जो प्रतिव्यक्ति आय, शहरीकरण अथवा औद्योगीकरण आदि के द्वारा नहीं समझाया जा सकता—मुख्य कारण केरल के ग्रामीण इलाको में स्वास्थ्य सुविधाओं का अधिक उपयोग है—शिक्षा तथा महिला शिक्षा का भी योगदान कम नहीं।

13. ब्राजील में पूर्वोत्तर क्षेत्र में पैदा हुए 10 प्रतिशत से अधिक बच्चे एक वर्ष के भीतर ही काल कवलित हो जाते हैं। पीरू के एण्मिन प्रदेश में लिमा की अपेक्षा शिशु मृत्युदर पाँच गुना अधिक है। बांग्लादेश, भूटान, नेपाल व पाकिस्तान में महिलाओं की स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्यायें अधिक उग्र हैं। लड़कियों के जीवित रहने की आशा इन देशों में लड़कों की अपेक्षा बहुत कम है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन देशों में लड़कों पर लड़कियों की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया जाता है तथा उन पर परिवार अधिक व्यय करते हैं।

14. कोरिया में 1950 के दशक में प्राथमिक शिक्षा को बढ़ाने हेतु विद्यार्थियों एवं अभिभावकों ने स्कूलों के निर्माण, संचालन एवं अध्यापकों के वेतन आदि पर होने वाले समस्त व्यय का 71 प्रतिशत भाग प्रदान किया। इससे काफी तेज प्रगति हुई।

15. मानव विकास केवल शिक्षा एवं स्वास्थ्य मंत्रालयों की नीतियों पर ही निर्भर नहीं है। दूसरी सहायक नीतियाँ भी आवश्यक हैं। महिलाओं के लिए रोजगार के अवसर तथा शिशुओं के लिए देखभाल की सेवायें। (day care services) बढ़ाने से उनके शिक्षित होने की सुविधाओं में भी मदद मिलती है। जिन देशों में महिलाओं की शिक्षा व रोजगार के साधन अधिक मुहैया किये गये वहाँ परिवार नियोजन कार्यक्रम अधिक सफल हुए हैं। साफ पीने के पानी तथा मल/अवशिष्ट-विसर्जन के अच्छे तरीकों द्वारा छुआछूत की बीमारियों में कमी आती है तथा पर्यावरण को साफ रखने के कानूनों द्वारा तथा वायु प्रदूषण एवं जहरीले रसायनों के उचित विसर्जन के फलस्वरूप दीर्घकालिक स्वास्थ्य सम्बन्धी लाभ होते हैं।

16. ऐसा पाया गया है कि अधिक आय वाले देशों में जन्मदर कम है तथा कम आय वाले देशों में यह अधिक है, साथ ही वहाँ शिक्षा व स्वास्थ्य-सेवायें भी कम उपलब्ध हैं।

17. घाना, कीनिया, नाइजीरिया, इथियोपिया आदि अफ्रीकी देशों में जहाँ प्रति व्यक्ति कृषि योग्य भूमि कम है, आर्थिक व पर्यावरण सम्बन्धी विषम परिस्थितियाँ देखने को मिलती हैं। कृषि उपज में कमी, वनों में कमी, भूमि में गुणात्मक गिरावट, मरुस्थलीकरण आदि यहाँ अधिक देखने में आते हैं। सब-सहारा क्षेत्र में पशुओं के अत्यधिक चराने के कारण तथा भूमि पर अधिक दबाव के कारण मरुस्थलीकरण तेजी से बढ़ रहा है।

18. अध्ययनों से पता चलता है कि लोगों की शिक्षा के स्तर में 1 वर्ष की औसत वृद्धि से देश के उत्पादन में औसत 9 प्रतिशत की वृद्धि होती है। यह तीन वर्ष की शिक्षा तक लागू होता है। उसके बाद अगले तीन वर्षों में प्रति वर्ष शिक्षा के कारण सकल-उत्पाद में 4 प्रतिशत प्रति वर्ष की बढ़ोत्तरी देखी गयी है।

19. जापान की उन्नति में शिक्षा-पद्धति में किये गये विकास व सुधारों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। 1885-1915 के बीच जापान के माध्यमिक विद्यालयों में 10 गुना बढ़ोत्तरी हुई। प्राथमिक शिक्षा 1873 (30 प्रतिशत) से 1907 के बीच पहले ही 90 प्रतिशत तक पहुँच चुकी थी।

●●

['विश्व विकास रिपोर्ट 1990-91' पर आधारित]

जनसंख्या विस्फोट और कृषि विकास

विनय कुमार

स्वतन्त्रता के 44 वर्षों के बाद देश की आर्थिक स्थिति तथा देशवासियों के जीवन स्तर में अत्यन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन आये हैं। आजादी के समय जहाँ करोड़ों लोगों को पहनने के लिए पर्याप्त कपड़े तथा पेट भरने के लिए अनाज की अत्यधिक कमी थी, वहीं आज देश खाद्यान्नों के मामले में काफी सीमा तक आत्मनिर्भर हो गया है। खाद्यान्नों का उत्पादन 1950 के 5 करोड़ 30 लाख टन के स्तर से बढ़कर 1990-91 में 17 करोड़ 72 लाख टन तक पहुँच गया है। इसके पीछे 'हरित क्रांति' के योगदान को नहीं भुलाया जा सकता; जिसके कारण जहाँ देश की जनता को भरपेट भोजन उपलब्ध कराने में सहायता मिली है, वहीं कुछ अनाज विदेशों को निर्यात कर महत्वपूर्ण विदेशी मुद्रा की प्राप्ति भी हुई है। इतना सब कुछ होने के बावजूद भारतीय नागरिकों का जीवन स्तर अन्य विकसित देशों की तुलना में काफी नीचे है। इस तथ्य के पीछे जो महत्वपूर्ण कारण छिपा है वह है देश की लगातार बढ़ती जनसंख्या। क्या जनसंख्या वृद्धि और विकास एक साथ चल सकते हैं? इस जटिल प्रश्न पर अलग-अलग लोगों के भिन्न-भिन्न विचार हो सकते हैं। किन्तु एक बात निश्चित है कि भारत में पिछले तीन दशकों में जनसंख्या में निरंतर वृद्धि विकास की गति बढ़ाने में बाधक रही है। पंचवर्षीय योजनाओं व ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के माध्यम से गरीबी, बेरोजगारी और आवासीय समस्याओं को हल करने के दृढ़ प्रयासों के बावजूद अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं हुए। माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त के अनुसार जनसंख्या ज्यामिति के अनुपात में बढ़ती है, जबकि खाद्यान्न की मात्रा गणित के अनुपात में बढ़ती है। परिणामस्वरूप जनसंख्या वृद्धि से न केवल विकास शून्य हो जाता है, बल्कि इससे अकाल, महामारी, बेरोजगारी और गृह-युद्ध की स्थिति बनती है, जिससे जनसंख्या और विकास दोनों ही समान धरातल पर आ जाते हैं।

विकास और लोकतन्त्र

विकास का अर्थ आम जनता के जीवन स्तर में सुधार से होता है ताकि देश में आर्थिक विषमता को समाप्त किया जा सके, जो कि अन्ततः सामाजिक न्याय के लिए जिम्मेदार है। भारत जैसे देश लोकतान्त्रिक और धर्मनिरपेक्ष देश के लिए विकास का वास्तविक अर्थ निम्न कारकों में सम्मिलित है।

(क) आर्थिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति जीवनोपयोगी क्रियाओं को पूर्ण करने की क्षमता रखता हो,

(ख) आधारभूत मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति, और

(ग) सामाजिक व सांस्कृतिक समृद्धता।

भारत सरकार द्वारा उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्रता के बाद (1950-51) सामुदायिक विकास योजनाओं, पंचवर्षीय योजनाओं व 1960 ई० के बाद विभिन्न ग्रामीण व शहरी विकास योजनाओं के द्वारा

31, डायमण्ड जुबिली छात्रावास, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए नये-नये प्रयोग किये गये, जिनसे विगत वर्षों में कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त हुई जैसे—

—अनाजों का उत्पादन बढ़कर 3.5 गुने से अधिक हो गया,

—1990 के अन्त तक भारत के 5.7 लाख गाँवों में से 4.7 लाख गाँवों का विद्युतीकरण,

—1991-92 में जी० डी० पी० (GDP) 5 प्रतिशत रहा,

—वर्तमान में साक्षरता प्रतिशत 52.11 तक पहुँच गया,

—भारतीय नागरिक की औसत आयु 60 वर्ष से अधिक हुई,

—गरीबी का स्तर 25 प्रतिशत रह गया,

—जनसंख्या वृद्धि दर अनुमान से कम (2.11 प्रतिशत) रही,

—शिशु जन्म दर 30.9 तथा मृत्यु दर 10.8 प्रति हजार तक आ गई, और

—चाय, काफी, मसालों के व्यापार बढ़ने के साथ गैर परम्परागत वस्तुओं—चावल, पटसन तथा खली आदि के निर्यात में पिछले चार वर्षों में क्रमशः वृद्धि।

विकास का मूल आशय है सामाजिक रूप से उपेक्षित लोगों के जीवन स्तर में सुधार लाना ताकि वे राष्ट्र-निर्माण के कार्य में समान रूप से भागीदार बन सकें। अतः विशेष रूप से क्षेत्रीय असमानता को कम करने, रोजगार के समान अवसर प्रदान करने तथा गरीबी निवारण कार्यक्रमों पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है। जिसके लिए वर्तमान 198 कि० ग्रा० प्रतिवर्ष प्रतिव्यक्ति अनाज की उपलब्धता को बढ़ाकर 215 कि० ग्रा० करना है। साथ ही दिनों-दिन कम होती जा रही भूमि धारिता और कृष्य भूमि की प्रति व्यक्ति उपलब्धता (2000 ई० में 1.4 और 0.14 हेक्टेयर) पर भी ध्यान देना होगा, क्योंकि विकास के अन्य क्षेत्रों में भी बढ़ती हुई भूमि की माँग के कारण इसमें और भी कमी आयेगी। तेजी से घट रहे इस मूल संसाधन (भूमि) से ही हम अपनी भावी आबादी को भोजन और पोषण की सुरक्षा देने के लिए प्रतिबद्ध हैं। इस वचन को पूरा करने का एक मात्र उपाय है कृषि-वस्तुओं, विशेषकर खाद्यान्नों के साथ ही साथ दलहन व तिलहन के उत्पादन में निर्णायक वृद्धि। सारणी—1 में कुछ प्रमुख फसलों के उत्पादन में आये परिवर्तनों को प्रदर्शित किया गया है—

सारणी 1 से ज्ञात होता है कि चावल, गेहूँ, कपास, गन्ना और आलू की फसलों में उत्पादन-वृद्धि सन्तोषजनक रही है, किन्तु दालों और तिलहनों के उत्पादन में विशेष वृद्धि नहीं हुई है। इसके लिए 8वीं योजना में तिलहनों के बारे में टेक्नोलॉजी मिशन को जारी रखने और इस कार्यक्रम में दालों को शामिल कर व्यापक बनाने का निर्णय किया गया है। यद्यपि खाद्यान्नों की उत्पादकता भारत में लगातार बढ़ी है, परन्तु जब इस उपलब्धि का एशिया प्रशान्त के दूसरे देशों के साथ (सारणी 2) अथवा विश्व औसत के साथ तुलना करते हैं तो लगता है कि उनकी बराबरी करने में एक लम्बा चरण तय करना होगा। आर्थिक स्तर में सुधार तथा बढ़ती जनसंख्या को गरीबी रेखा से ऊपर उठाने के लिए हमें बढ़ती आबादी के अनुपात से अधिक उत्पादन की योजना का निर्माण करना होगा।

सारणी 1

चुनी हुई फसलों के उत्पादन में परिवर्तन

(1949-50 से 1988-89)

फसल	औसत उत्पादन 1949-50 से 1951-52	कि० ग्रा०/हेक्टेयर 1986-87 से 1988-89	उत्पादन वृद्धि (प्रतिशत)
चावल	698	1551	120.6
गेहूँ	657	2053	212.5
अन्य अनाज	418	737	76.3
दालें	431	537	24.6
तिलहन	477	687	44.0
कपास	89	180	102.2
गन्ना	33136	60374	82.2
आलू	6786	15687	131.2

[स्रोत : एशिया-प्रशान्त क्षेत्रीय कार्यालय, संयुक्त राष्ट्रसंघ का खाद्य और कृषि संगठन, बैंकाक ।]

सारणी 2

एशिया प्रशान्त महासागर क्षेत्र के कुछ देशों में वर्ष 1987 में जनसंख्या, कृषि भूमि क्षेत्र, सिंचाई क्षेत्र और अनाजों की प्रतिव्यक्ति सकल उपलब्ध मात्रा

देश	कुल जनसंख्या (हजार में)	कृषि कार्य (हजार है० में)	निबल सिंचित क्षेत्र (हजार हेक्टर में)	अनाजों का उत्पादन (हजार टन में)	अनाजों की प्रतिव्यक्ति उपलब्ध मात्रा (कि० ग्रा० में)
आस्ट्रेलिया	1656	47104	1836	22081	1367
चीन	1086328	96976	44833	352306	324
लोकतांत्रिक जन गणराज्य कोरिया	21834	2392	1180	11872	555
भारत	802699	140150	42100	175638	219
ईरान	51331	14830	5740	12562	245
फिलिपीन	58039	7930	1480	13399	231
थाईलैंड	53342	20050	3996	26207	493
एशिया प्रशांत	2819728	448328	135926	772100	274
विश्व	5026277	1473699	227108	1742985	347

चीन और ईरान अनाजों का क्रमश; 16.6 तथा 56 लाख टन निबल आयात करते थे ।

[स्रोत : एशिया और प्रशान्त क्षेत्रीय कार्यालय : संयुक्त राष्ट्र संघ का खाद्य और कृषि संगठन, बैंकाक ।]

अनाज के उत्पादन में ठोस वृद्धि करने और उत्पादन के बढ़ते स्तर को बनाये रखने के प्रमुख आवश्यक साधन हैं भूमि और फसल प्रबन्ध की बेहतर टेक्नोलॉजी, अधिक फसल देने वाले उन्नतशील बीजों की उपलब्धता, फसलों की ऐसी किस्में जो निविष्ट साधनों के अनुकूल हों और तनाव को सहन कर सकें। बेहतर सिंचाई सुविधा के अतिरिक्त विशेष रूप से कृषि रसायन उर्वरकों, कीटनाशक दवाओं का अधिक प्रयोग तथा संस्थागत वित्त की उपलभ्यता में अपेक्षाकृत सुधार ही सफलता के मूलतन्त्र हैं।

सारणी 3

उर्वरकों तथा कीटनाशकों के उपभोग में वृद्धि (लाख टनों में)

वर्ष	नाइट्रोजन	फॉस्फेट	पोटास	कुल	कीटनाशक
1955-56	1.3	0.2	0.1	1.6	—
1960-61	2.1	0.5	0.1	2.9	—
1970-71	14.9	4.6	2.3	21.8	.39
1974-75	17.7	4.7	3.4	25.8	.41
1980-81	36.8	12.1	6.2	55.2	.45
1984-85	54.9	18.9	8.4	82.1	.59
1986-87	58.2	20.7	8.5	87.4	.72
1987-88	59.3	22.6	9.2	91.1	.75

जनसंख्या का स्वरूप

भारत में सर्वप्रथम 1872 ई० में जनगणना की शुरुआत हुई थी, परन्तु नियमित जनगणना 1881 ई० से प्रारम्भ होकर लगातार प्रति 10 वर्षों के अन्तराल पर होती आ रही है। सन् 1991 की 13 वीं जनगणना के परिणाम आने प्रारम्भ हो गये हैं। प्रारम्भिक अनुमानों के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या 84.39 करोड़ है, जो सम्पूर्ण विश्व की जनसंख्या का 16 प्रतिशत है। जबकि क्षेत्र की दृष्टि से भारत विश्व का मात्र 2.4 प्रतिशत है। विश्व में जनगणना वृद्धि दर 1.67 प्रतिशत है, जो भारत की वृद्धि दर (2.11 प्रतिशत) से काफी कम है। ये हमारे लिए एक गम्भीर चेतावनी है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इक्कीसवीं सदी की प्रारम्भिक दशाब्दी (2010 ई०) के बाद चीन की आबादी 1.57 अरब से भी अधिक होगी तथा भारत की जनसंख्या 1.70 अरब तक पहुँच जायेगी। सारणी 4 में जनसंख्या के विभिन्न वास्तविक तथा अनुमानित आँकड़े प्रदर्शित किये गये हैं।

सारणी 4 के जनसंख्या सम्बन्धी आँकड़ों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारत में जनसंख्या में पिछले चार दशकों में 48 करोड़ (133 प्रतिशत की वृद्धि हुई। चीन को छोड़कर ऐसी तीव्र वृद्धि विश्व में कहीं नहीं देखी गयी। इसके दो मुख्य कारण रहे—

(क) भारत और पाकिस्तान के विभाजन के बाद भारत में आये 1.5 करोड़ से अधिक विस्थापित ।

(ख) भारत में बाल जन्म दर में आंशिक, लेकिन बाल मृत्यु दर में तेजी से आ रही कमी ।

सारणी 4

जनसंख्या की वास्तविक तथा अनुमानित स्थिति

अवधि	जनसंख्या (लाखों में)	शिशु जन्म दर (प्रति हजार)	शिशु मृत्यु दर (प्रति हजार)	जनसंख्या वृद्धि दर (प्रतिशत)
1951	3610	—	—	1.26
1961	4391	48	22	1.98
1971	5882	39	18	2.80
1981	6852	36	15.3	2.25
1988	7630	33.6	11.9	2.13
1991	8440	30.9	10.8	2.11
1996	9240	27.5	9.4	1.81
2000	10030	24.9	8.4	1.65
2006	10820	23.0	7.8	1.52

सन् 1969 में जन्म और मृत्यु पंजीकरण अधिनियम बनने से पूर्व बाल जन्म और मृत्यु दर के बारे में प्राप्त जानकारी अवैज्ञानिक ही थी, लेकिन अधिनियम के पारित होने पर भी आम जनता ने इसमें रुचि न ली । अतः 1978 के बाद नमूना पंजीकरण प्रणाली के साथ मिलाकर दोहरी अनुमान पद्धति अपनाई गई । कुल मिलाकर 1971 तक की अवधि के लिए हमें जनगणना कर्मचारियों और जनसंख्या विशेषज्ञों द्वारा दिये गये जन्म और मृत्यु दरों के परोक्ष अनुमानों पर विश्वास करना होगा। 1971-91 के मध्य जहाँ बहुत तेजी से मृत्यु दर में कमी, पोषण व स्वास्थ्य सुविधाओं की पर्याप्त उपलब्धता के कारण दृष्टिगत हुई, वहीं जन्म दर में आई कमी उतनी प्रभावशाली नहीं रही । इसके लिए महिलाओं की बढ़ती हुई प्रजनन आयु, आर्थिक स्थिति में सुधार, सामाजिक और धार्मिक नियन्त्रण में पाश्चात्य प्रभाव के कारण आई कमी जैसे कुछ कारक उत्तरदायी रहे । फलस्वरूप जनसंख्या विस्तार बड़ी तीव्रता से हुआ, जो जनसांख्यिकी संक्रमण सिद्धान्त को प्रतिबिम्बित करता है । जहाँ जन्म दर में धीमी प्रगति का कारण गर्भ-निरोधक उपायों तथा परिवार-नियोजन कार्यक्रमों की असन्तोषजनक कार्यप्रणाली रही, वहीं मृत्यु दर में कमी दर्शाती है लोगों की औसत आयु में वृद्धि (62 वर्ष) और वास्तविक आय में वृद्धि । आगामी पन्द्रह वर्षों के अनुमानित आँकड़ों में भी जनसंख्या वृद्धि की तीव्र प्रवृति स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है । इसे नियन्त्रित करने के लिए मृत्यु व जन्म दर की वर्तमान दर को आधे से भी कम करना एक लक्ष्य बनाना होना चाहिए । इस उद्देश्य की प्रगति जनता में शिक्षा के प्रसार, एवं नियोजित परिवारों को अतिरिक्त सुविधायें प्रदत्त कर के तथा बाल विवाहों पर कड़े प्रतिबन्ध और आर्थिक दण्डात्मक कार्यवाही द्वारा की जा सकती है ।

जनसंख्या वृद्धि बनाम कृषि विकास

जनसंख्या का कृषि विकास के साथ सदैव घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। भारत जैसे देश में अधिकाधिक जनसंख्या गाँवों में रहकर कृषि पर निर्भर करती है। स्वयं सिद्ध है कि भारत में यह सम्बन्ध अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। जिन क्षेत्रों में औद्योगिक विकास कृषि क्षेत्र से असम्बद्ध रहा है, वहाँ गाँवों से जनता का पलायन शहरों की ओर तेजी से हुआ। इससे कृषि का परम्परागत ढाँचा चरमरा गया। साथ ही दूसरी स्थिति (उद्योग शून्य दशा) में जनसंख्या का भार कृषि पर अधिक बढ़ गया, जो जोत सीमा में कमी, छिपी हुई बेरोजगारी बढ़ने के कारण अधिकांश कृषि जोतों को अनार्थिक बना रहा है। अतः जनसंख्या विस्तार कृषि विकास पर नकारात्मक प्रभाव डाल रहा है। भारत में इसके सम्बन्धों को सारणी 5 में दिखाया गया है—

सारणी 5

खाद्यान्न-उत्पादन व जनसंख्या वृद्धि का सम्बन्ध

वर्ष	खाद्यान्न उत्पादन (लाख टन)	जनसंख्या (करोड़)	कृषि उत्पादन वृद्धि प्रतिशत	जनसंख्या वृद्धि प्रतिशत	प्रति व्यक्ति खाद्यान्नों की उपलब्ध मात्रा कि० ग्रा०/वर्ष
1950-51	55.01	36.1			157
1960-61	82.30	49.9	49	38.2	166
1970-71	108.40	54.8	31	10.0	160
1980-81	129.80	68.4	19.7	24.6	137
1984-85	146.20	75.0	12.6	10.3	154
1985-86	149.00	—	2.0	—	176
1986-87	151.00	—	1.3	—	180
1987-88	163.70	—	5.5	—	189
1988-89	172.20	80.0	1.9	—	192
1989-90	174.90	82.3	3.1	2.25	195
1990-91	177.23	84.4	3.6	2.11	198

सारणी 5 से यह स्पष्ट है कि 1950-51 ई० से लेकर 1971 तक जनसंख्या में वृद्धि तो हुई, परन्तु कृषि उत्पादन का स्तर उसकी तुलना में अधिक बढ़ा, जिसके फलस्वरूप आम नागरिक के जीवन स्तर तथा स्वास्थ्य में सुधार आया। परिणामस्वरूप अगले दो दशकों की जनगणना में तेजी से वृद्धि (24.8 प्रतिशत व 24 प्रतिशत) हुई। उधर कृषि उत्पादन में भी वृद्धि 19.7 तथा 36.4 प्रतिशत हुई। अतः इस प्रवृत्ति में सुधार कर फसलोत्पादन

बढ़ाकर स्वस्थ मनुष्य के लिए आवश्यक खाद्यान व पोषक तत्वों की पूर्ति आबादी के बढ़ते हुए अनुपात में पूरी करनी होगी, क्योंकि कृषि उत्पादन में सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम शीघ्र लागू होता है अतः जनसंख्या विस्तार की रोक-थाम ही देश व देशवासियों की स्थिति में सन्तोषजनक सुधार का एकमात्र हल है।

भावी कृषि नीति

आगामी योजनाओं में कृषि के विकास की कार्यनीति का लक्ष्य खाद्य सुरक्षा, रोजगार सृजन, मृदा उत्पादकता व भूमि सुधार, शुष्क कृषि का विस्तार, सिंचाई जल का समुचित उपयोग तथा पर्यावरणीय सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए ग्रामीणों की आमदनी को बढ़ाना और उत्पादों की आत्मनिर्भरता के साथ-साथ निर्यात को प्रोत्साहन जैसे राष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्त करना होगा। यह तभी सम्भव है जब विकासात्मक प्रक्रियाओं और कार्यक्रमों की सुगठित प्रणाली के माध्यम से क्षेत्रीय आधार पर विभिन्न कार्यक्रमों का समन्वय कर लें। इस कार्य नीति के मुख्य तत्व इस प्रकार होंगे—

—वृहत स्तर पर भूमि और जल का विकास और प्रबन्ध ताकि इनके इस्तेमाल और कुशलता को अनुकूलतम किया जा सके।

—सम्पूर्ण कृषि क्षेत्रों का जलवायु आधार पर विभाजन कर विज्ञान और प्रौद्योगिकी की सहायता से प्रत्येक क्षेत्र/उप-क्षेत्र के लिए कृषि योजनाओं का निर्माण।

—मौसम व जलवायु विज्ञान का विकास और किसानों तक उनकी आगामी सूचना सम्प्रेषण की व्यवस्था।

—अधिक उपज के लिए आवश्यक संसाधन उन्नतशील बीज, उर्वरक, कीटनाशकों का विकास, पूर्ति और इसके इस्तेमाल के लिए आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी का अत्याधिक प्रयोग।

—कृषि शिक्षा को व्यावहारिक रूप प्रदान करके कृषि विशेषज्ञों को गाँवों में उनके कार्य करने की परिस्थितियाँ उत्पन्न करना।

—गाँवों में न्यूनतम जीवन निर्वाह आवश्यकताओं का प्रबन्ध।

—फसलों के भण्डारण की उनके उत्पादन केन्द्र पर वैज्ञानिक व्यवस्था करना।

—प्राकृतिक प्रक्रियाओं का बेहतर उपयोग जैसे—पोषक चक्र, नाइट्रोजन को नष्ट होने से बचाना।

—पौधों और पशुओं की जैविक और आनुवंशिक क्षमताओं का अधिक उत्पादक उपयोग।

—प्रत्येक क्षेत्र और उप-क्षेत्र के लिए पशुपालन, मछली-पालन, मुर्गी-पालन, रेशम-उद्योग तथा ग्रामीण-अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले अन्य पशुओं के पालन और विकास में आश्चर्यजनक सुधार के लिए विशेष कार्यक्रम और योजनाओं का निर्माण।

—पर्यावरण, किसानों और उपभोक्ताओं के स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाली फार्मेतर सामग्री का उपयोग कम करना।

—वर्तमान उत्पादन-स्तर बनाये रखने के लिए, कृषि भूमि की हदबन्दी, चकबन्दी, फार्म-प्रबन्ध, मृदा-संरक्षण, जल, ऊर्जा तथा जैविक साधनों के बेहतर उपयोग पर जोर देकर कुशल तथा लाभकारी उत्पादन दशायें उत्पन्न करना।

—समुचित बिक्री व्यवस्था, कृषि संसाधन, संचार निगरानी, प्रौद्योगिकीय विकास और उसका हस्तांतरण तथा अनावश्यक साज-समान की पूर्ति जैसी सुविधायें मुहैया कराना, देश के प्रत्येक गाँव में उसकी आवश्यकताओं की आधारभूत सुविधाओं की स्थापना करना।

भावी जनसंख्या नीति

विश्व में परिवार नियोजन को सरकारी कार्यक्रम के रूप में प्रारम्भ करने वाला देश भारत, 1951 से लेकर हर पंचवर्षीय योजना में पिछली योजना की अपेक्षा अधिक धन और कर्मचारी लगाता रहा है। परिवार नियोजन कार्यक्रमों पर 1951-90 तक 4000 करोड़ रुपये से अधिक खर्च किया जा चुका है, फिर भी शिशु जन्म दर में अत्यल्प कमी आई, जबकि 70 के दशक के प्रारम्भ में परिवार नियोजन कार्यक्रम अपनाने वाले देशों—चीन, थाईलैंड, कोरिया, इंडोनेशिया जैसे देशों को जन्म दर घटाने में बहुत अधिक सफलता मिली है। अतः भारत में परिवार नियोजन कार्यक्रमों के विश्लेषण की आवश्यकता है। भारत में पिछले तीन दशकों में संचार माध्यमों से परिवार नियोजन कार्यक्रम को काफी महत्व दिया जाता रहा है। भारत में 40 प्रतिशत से कम महिलायें शिक्षित हैं तथा 40 प्रतिशत से अधिक पुरुष अशिक्षित हैं। इससे वे अज्ञान, साधनों की कमी, संकोच, धार्मिक व सामाजिक जैसे कारणों से जन-संख्या नियन्त्रण में अपना योगदान नहीं दे पाते हैं। विश्व के प्रायः सभी देशों (विकसित या विकासशील) ने, जिन्होंने 1960 के दशक में परिवार नियोजन का सरकारी कार्यक्रम प्रारम्भ किया, दो शिशुओं के जन्म के बीच अन्तर लाने के लिए कंडोम, डाईफ्राम, लूप, खाने की गोलियाँ और टीके जैसे तरीके अपनाये और तब गर्भ-निरोधक शस्त्रागार में ऑपरेशन को शामिल किया, वहीं भारत अकेला ऐसा देश है, जिसने ऑपरेशन से ही अपने कार्यक्रम की शुरुआत की और अब हताश होकर ऐसे उपायों को अपनाने का प्रयास कर रहा है, जिनकी सहायता से पैदाइश को रोककर दुबारा आवश्यकता पड़ने पर बच्चे पैदा किये जा सकें।

नियन्त्रण के उपाय

विकास का अर्थ केवल आर्थिक विकास ही नहीं है, बल्कि इसके और महत्वपूर्ण क्षेत्र भी हैं, जैसे शिक्षा का प्रसार, जिससे जनसंख्या नियन्त्रण के लिए सही दृष्टिकोण विकसित करने में मदद मिलती है। इसके साथ ही प्रचलित परिवार नियोजन के उपायों के साथ-साथ अन्य उपायों को सहर्ष अपनाने व इसके दुरुपयोग पर भी नियन्त्रण सम्भव हो सकेगा। विभिन्न परिणामों से सिद्ध हो चुका है कि बन्ध्याकरण और अन्य उपायों के बावजूद अभी जन्म दर में उल्लेखनीय कमी लाने में काफी समय लगेगा। सबसे अच्छे तथा दीर्घावधि उपाय हैं शिक्षा, विशेषकर महिलाओं को शिक्षित करना, छोटे परिवार के विचार का प्रचार, स्वास्थ सुविधाओं में सुधार, विवाह की उम्र बढ़ाने, महिलाओं के लिए रोजगार के अवसरों में वृद्धि, और गर्भ-निरोधक उपकरणों के उत्पादन व सुलभ प्राप्ति की समुचित व्यवस्था के साथ-साथ लोगों को प्रोत्साहन स्वरूप पुरस्कार व दण्डित करने पर भी विचार किया जाना। छोटे परिवार के सदस्यों को सरकारी व सार्वजनिक क्षेत्र की नौकरियों में प्राथमिकता तथा कुछ प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था, स्वरोजगार के लिए कम व्याज दरों पर ऋण, वेतन में अतिरिक्त भत्ते का प्रावधान, खाने योग्य वस्तुओं को रियायती

दरों पर वितरण, व्यापारी, किसानों व उद्योगपतियों को भी करों में कुछ छूट दी जाये, ऐसे परिवार के बच्चों को शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश में प्राथमिकता मिले, स्वास्थवर्द्धक दवायें वा मकान की सुविधायें मिलें। दण्डस्वरूप निम्न व मध्यम आय वर्ग के लोगों को तीन से अधिक बच्चों के होने पर उपरोक्त सुविधाओं से बंचित करके तथा उच्च आय वर्ग के लोगों पर जुर्माना लगाकर भी काफी हद तक इस समस्या की विकरालता को कम किया जा सकता है। ये सभी उपाय देश के प्रत्येक भाग, जाति, वर्ग व धर्म के लिए बिना किसी भेद-भाव के समान रूप से लागू करके ही वांछित सफलता प्राप्त की जा सकती है।

उपसंहार

विकास पर जनसंख्या वृद्धि के प्रभाव के विवाद में न पड़कर हमें इस तथ्य पर ध्यान देना होगा कि 1991 की 13 वीं जनगणना के बाद भारत की जनसंख्या 84.6 करोड़ तक पहुँच गयी है और उसमें प्रतिवर्ष 1 करोड़ 60 लाख की बढ़ोत्तरी (जो विश्व में सर्वाधिक है) से 2 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि दर सन् 2000 तक एक अरब तक पहुँच जाना पिछले अनुभवों के आधार पर विकास विरोधी पहलू है। देश में अनाज तथा प्रत्येक व्यक्ति के सामान्य रहन-सहन के लिए आवश्यक अन्य वस्तुओं की कमी है। यदि एक व्यक्ति को हर वर्ष न्यूनतम आवश्यकता का 215 कि० ग्रा० अनाज उपब्ध कराना है, तो सन् 2000 तक प्रति वर्ष 23 करोड़ टन अनाज का उत्पादन करना होगा। इसके लिए उत्पादन की वर्तमान वृद्धि दर को 4 प्रतिशत तक लाना होगा। परन्तु इसमें सन्देह है कि पर्यावरण को और अधिक हानि पहुँचाये बिना अनाज के उत्पादन में इतनी प्रगति सम्भव है। लोकतांत्रिक देश के नागरिक के सामान्य स्तर के रहन-सहन के लिए अनाज तथा पौष्टिक आहार के अतिरिक्त अन्य बातों की आवश्यकता भी पड़ती है जैसे, रोजगार, शिक्षा, स्वास्थ्य, कार्य करने की उचित दशायें, आवास, सामाजिक सुरक्षा, कपड़ा, मनोरंजन और वैचारिक स्वतन्त्रता। ये प्रत्यक्षतः खाद्य पदार्थों की उपलब्धता से जुड़ी हैं। यदि खाद्यान्न उपलब्धता पर्याप्त रहीं है तो अन्य सभी बातों की स्थिति अपर्याप्त और असन्तोषजनक रहेगी।

●●

मृदा उर्वरता और जनसंख्या

डॉ० मुरारी मोहन वर्मा

विश्व की जनसंख्या की अप्रत्याशित वृद्धि से भविष्य में मानव जीवन की दुरूहता की आशंका से प्रायः सभी लोग चिन्तित हैं। कुछ विचारकों का तो मत है कि 'जनसंख्या-विस्फोट' मानवकृत आपदा से कहीं विकराल रूप ले सकती है। रोटी, कपड़ा और मकान जैसी महत्वपूर्ण आवश्यकतायें भी जनसंख्या वृद्धि के अनुरूप होनी चाहिये अन्यथा एक भयावह स्थिति उत्पन्न हो सकती है। जनसांख्यिकीय गणनाओं के आधार पर सन् 2000 ई० तक भारत की जनसंख्या बढ़कर लगभग एक सौ करोड़ तक अनुमानित की जा रही है। सर्वप्रथम उस विशाल जनसंख्या को जीवित रखने के लिए भोजन और पोषण की महत्वपूर्ण समस्या का निदान ढूँढ़ना होगा। प्रस्तुत आलेख में कृषि उत्पादन में मृदा के महत्वपूर्ण योगदान की चर्चा की गई है।

सुविख्यात कृषि बैज्ञानिक डॉ० एम० एस० स्वामीनाथन के अनुसार आज जो बच्चा पैदा होगा उसके लिए 0.08 हेक्टेयर भूमि उसके आवास, विद्यालय, सड़क आदि सुविधाओं के लिए तथा 0.4 हेक्टेयर भूमि खाद्यान्न, फल-सब्जी आदि उगाने के लिए आवश्यक होगा। इस गणना के आधार पर भारत में लगभग पचास लाख हेक्टेयर अतिरिक्त भूमि की आवश्यकता प्रत्येक वर्ष होगी। अब हमें देखना होगा कि कृषि-योग्य इतनी सारी भूमि क्या हमारे देश में बढ़ती हुई जनसंख्या के अनुरूप उपलब्ध हो सकेगी? दो दशक पूर्व लगभग कुल 1400 लाख हेक्टेयर कृषि योग्य भूमि उपलब्ध थी जो 0.34 हेक्टेयर प्रति व्यक्ति औसतन आँकी गई थी। आज भी कृषि योग्य भूमि का क्षेत्रफल लगभग उतना ही है जबकि जनसंख्या वृद्धि के कारण प्रति व्यक्ति उपलब्ध भूमि घटकर केवल 0.2 हेक्टेयर के आस पास पहुँच गई है। सन् 2000 ई० तक इस भूमि के पुनः सिमटकर 0.15 हेक्टेयर रह जाने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

इस विकट परिस्थिति में सघन-कृषि-प्रणाली को अपनाकर कृषि उत्पादकता की वृद्धि की जा सकती है। 'हरित क्रान्ति' के सफल क्रियान्वयन द्वारा भारत की कृषि उत्पादन क्षमता लगभग तीन गुना बढ़ी है। कृषि उत्पादकता की वृद्धि के लिए कई महत्वपूर्ण कारकों का समन्वय आवश्यक माना गया है जैसे—उन्नत बीज, सिंचाई, उर्वरक, कीटनाशी रसायन, मृदा आदि। इन कारकों में मृदा की भूमिका सभी फसलों के आधार के रूप में निर्विवाद स्वीकार की गई है। महान दार्शनिक अरस्तू ने तो मृदा को 'फसलों के पेट' की संज्ञा दी है, क्योंकि फसलों का पोषण मृदा माध्यम द्वारा ही सम्भव है।

मृदा के भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों के आधार पर फसलों के पोषण के लिए आवश्यक तत्वों की उपलब्धि होती है। इन्हीं पोषक-तत्वों की समुचित उपलब्धि फसल के जीवन-चक्र में पौधों की अवस्था के अनुसार सन्तुलित मात्रा में मृदा द्वारा प्राप्त होती है। अतः पौधों के लिए मृदा की यह पोषण-क्षमता ही मृदा की उर्वरता कहलाती है। मृदा की उर्वरा-शक्ति क्षीण हो तो खाद्य पदार्थों के पैदावार में कमी आ जाती है। यदि मृदा की

रीडर, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

उर्वरा-शक्ति को समुचित रूप से सन्तुलित रखने का प्रयास न किया गया तो कालान्तर में निश्चित रूप से मृदा ऊसर या बंजर भूमि में परिवर्तित हो जायेगी। फसलों की वृद्धि एवं जीवन-चक्र को पूरा करने के लिए विभिन्न आवश्यक पोषक तत्वों यथा नाइट्रोजन, फॉस्फोरस, पोटाश, कैल्शियम, गंधक, मैग्नीशियम तथा कुछ सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की आपूर्ति मृदा के माध्यम द्वारा की जाती है। सूक्ष्ममात्रिक तत्वों में प्राय: लौह, ताँबा, जस्ता, मैंगनीज, बोरान, मालीब्डेनम, क्लोरीन आदि की आवश्यकता पौधों की वृद्धि एवं विकास के लिए निर्धारित की गई है। मृदा की रासायनिक संरचना में ये सभी आवश्यक तत्व विद्यमान होते हैं।

प्रत्येक पौधे को उखाड़ कर यदि हम उसका रासायनिक विश्लेषण करें तो ये सभी आवश्यक तत्व उसमें उपस्थित रहते हैं। कुछेक तत्वों की मात्रा अधिक पायी जाती है जिन्हें 'मुख्य' तत्व कहा जाता है यथा नाइट्रोजन, फॉस्फोरस तथा पोटाश। इनमें भी नाइट्रोजन की सर्वाधिक मात्रा फसलों के लिए आवश्यक होती है। प्रत्येक दस किलोग्राम उत्पाद के लिए प्राय: एक कि० ग्रा० नाइट्रोजन की आवश्यकता होती है। अगर मान लिया जाय कि एक हेक्टेयर भूमि पर प्रतिवर्ष दो या तीन फसलों का कुल उत्पादन 100 कुन्तल हो तो इस गणना के अनुसार लगभग 10 कुन्तल नाइट्रोजन की आवश्यकता प्रति हेक्टेयर प्रतिवर्ष निर्धारित की जायेगी।

विश्वविख्यात मृदा विज्ञानी डॉ० नीलरत्न धर कहा करते थे कि मृदा से उर्वरा-शक्ति और पोषक तत्वों की उपलब्धि किसी बैंक में खाता खोलने के सदृश्य है। बैंक से यदि मात्र रुपया निकालने की प्रक्रिया चलती रहे तो कुछ समय बाद संचित राशि घटकर एक न्यूनतम सीमा तक पहुँच जायेगी और उस स्थिति में बैंक रुपये देने से मना कर देगा अत: खाते को विधिवत कारगर रखने के लिए समय-समय पर रुपये जमा करना भी अत्यन्त आवश्यक है। ठीक इसी प्रकार मृदा-बैंक से विभिन्न पोषक तत्व फसलों के उत्पाद के अनुरूप अवशोषित होकर निकल जाते हैं। फसलों को उगाने का अर्थ होता है मृदा माध्यम से पोषक तत्वों का ह्रास और पोषक तत्वों के लगातार निकलते रहने से मृदा की संचित उर्वरा-शक्ति क्षीण होती जाती है। अतएव मृदा की उर्वरा-शक्ति के सन्तुलन को कायम रखने एवं पोषक तत्वों की वृद्धि के लिए कुछ न कुछ करना आवश्यक होगा, जिससे बढ़ती हुई जनसंख्या के भोजन-पोषण तथा पशुओं को चारा उपलब्ध कराने की समुचित व्यवस्था की जा सके।

भारत सरकार इस दिशा में 'सस्टेनबल एग्रीकल्चर' यानि 'टिकाऊ खेती' को अपनाने का योजनाबद्ध कार्यक्रम संस्तुत कर रही है ताकि कृषि-उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ मृदा-संरक्षण एवं पर्यावरण की सुरक्षा भी हो सके।

मृदा उर्वरा, आवश्यक तत्वों की उपलब्धि पर निर्भर करती है। साधारणतया फसलों के लिए नाइट्रोजन, फॉस्फोरस एवं पोटाश (एन० पी० के०) की आवश्यकता अन्य तत्वों की अपेक्षा अधिक होती है, जिनकी उपलब्धि प्राय: मृदा की कुल मात्रा की लगभग एक-तिहाई के आस-पास होती है। इन मुख्य तत्वों की उपलब्धि मृदा की रासायनिक, भौतिक एवं जैविक गुणों पर आधारित होती हैं। इन्हें प्रभावित करने वाले कारकों की चर्चा संक्षेप में की जा रही है।

1. मृदा-अभिक्रिया

सम्भवत: मृदा-अभिक्रिया मृदा का अत्यन्त महत्वपूर्ण गुण है, जिसके ऊपर पोषक तत्वों की उपलब्धि बहुत कुछ निर्भर करती है। मृदा-अभिक्रिया मृदा की क्षारकता या अम्लता की माप है, जिसे पी एच (pH) द्वारा प्रदर्शित

किया जाता है तथा जो हाइड्रोजन आयन की सक्रियता का ऋणात्मक लघुगुणक होता है। उदासीन मृदा का pH 7.0 के लगभग और क्षारीय मृदा का pH 7.0 से अधिक होता है जबकि अम्लीय मृदा का pH 7.0 से कम होता है। मृदा-वैज्ञानिकों ने उदासीन मृदाओं की अभिक्रिया की सीमा pH 6.5 और 7.5 के बीच निर्धारित की है। अधिकांश पौधे pH 6.0 और 7.5 के बीच अच्छी तरह उगते हैं। इससे अधिक और कम दोनों मान पादप-वृद्धि पर अच्छा प्रभाव नहीं डालते, क्योंकि पोषक तत्वों की उपलब्धता अधिक अम्लीय अथवा क्षारीय दशाओं में कम या ज्यादा हो जाती है। अधिक मात्रा में उपलब्ध कुछेक तत्व पौधों में विषैला प्रभाव छोड़ते हैं और जब किसी तत्व की उपलब्धता में कमी होती है तो पौधों में उनकी कमी के कारण पादप-वृद्धि रुक जाती है।

अतः मृदा को उदासीन सीमा में रखने के लिए मृदा सुधारक पदार्थों का प्रयोग मृदा की उर्वरा-शक्ति की वृद्धि के लिए आवश्यक मानी गयी है। क्षारीय मृदा को सुधारने के लिए प्रायः जिप्सम, पाइराइट आदि का प्रयोग किया जाता है जबकि अम्लीय मृदा के लिए चूना का प्रयोग मृदा सुधारक के रूप में किया जाता है।

2. कार्बनिक-पदार्थ

मृदा के रासायनिक, भौतिक एवं जैविक गुणों का आधार मृदा में उपस्थित कार्बनिक तत्व पर निर्भर करता है। इस कार्बनिक मात्रा से मृदा की उर्वराशक्ति का आभास होता है, जिसे कार्बन-नाइट्रोजन अनुपात की संज्ञा दी जाती है। खर-पतवार, पत्तियों तथा पौधों के द्वारा प्राप्त सभी कार्बनिक पदार्थों का मृदा में समुचित दशा में सड़ने की प्रक्रिया से जीवांश का निर्माण होता है। कार्बनिक पदार्थों के सड़ने से खाद के रूप में या गोबर डालने से मृदा की भौतिक स्थिति में सुधार होता है। अगलित जीवांश को बनाये रखने और उसे पूरा करने में मृदा विद्यमान सूक्ष्म जीवों के लिए अनुकूल दशा उत्पन्न होती है। कार्बनिक पदार्थों के सड़ने से उनमें निहित पोषक तत्व भी धीरे-धीरे मृदा में संचित होने लगते हैं।

कार्बन-नाइट्रोजन अनुपात मृदा की उर्वरा-शक्ति का परिचायक है। आमतौर से सामान्य उर्वरा शक्ति वाली मृदा का कार्बन-नाइट्रोजन अनुपात 10:1 माना गया है। भारत की अधिकांश मृदाओं में कार्बन और नाइट्रोजन की मात्रा कम पाई जाती है। डॉ० धर मृदा-उर्वरा का स्रोत कार्बनिक पदार्थों की उपस्थिति कार्बन के रूप में स्वीकार करते थे। कुछ फसलों की हरी खाद के लिए प्रयोग किया जाता है। कम्पोस्ट, गोबर, हरी खाद या कार्बनिक पदार्थों के प्रयोग से मृदा की उर्वरा शक्ति में वृद्धि सम्भावित है। गोबर गैस संयंत्रों द्वारा प्राप्त स्लरी (कचरे) का प्रयोग भी मृदा की उर्वरा शक्ति की वृद्धि में सहायक माना गया है।

मृदा के कार्बनिक अथवा जैविक पदार्थ का अधिकतर भाग पौधों के अवशेष और उनके सड़ने से पैदा होने वाले पदार्थों से बना होता है। पौधों की आवश्यकता के लिए अधिकांश तत्व 'ह्यमस' (खाद मिट्टी) द्वारा प्राप्त होते हैं। मृदा में उपस्थित सूक्ष्मजीव (प्राणी और वनस्पति) अपनी खूराक प्राप्त करने तथा अपनी वंश वृद्धि की प्रक्रिया में धीरे-धीरे जीवांश का विघटन करते हैं तथा कार्बनिक पदार्थों के पुनः डालने से कार्बन-नाइट्रोजन अनुपात पुनः स्थिरता प्राप्त कर लेता है।

3. मृदा-संरक्षण

भूमि-संरक्षण कार्यक्रमों को अपनाकर मृदा अपरदन को कम करने का प्रयास आवश्यक माना गया है।

मृदा की ऊपरी पर्त का शनैः शनैः क्षरण तेज वारिश और तूफानी हवाओं के प्रभाव द्वारा होता है । मृदा के कणों के स्थानान्तरण के साथ-साथ उनमें निहित उपजाऊ तत्वों की भी कमी हो जाती हैं । अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त कृषि विज्ञानी डॉ० स्वामीनाथन के अनुसार प्रतिवर्ष भारत में अपरदन से लगभग 25 लाख टन नाइट्रोजन, 33 लाख टन फॉस्फेट और 25 लाख टन पोटाश के समकक्ष उर्वरकों की क्षति आँकी गई है। इन आँकड़ों के आधार पर मृदा संरक्षण की आवश्यकता मृदा को स्थायी रूप से उपजाऊ रखने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इसमें सन्देह नहीं कि भूमि-संरक्षण के अभाव में धरती की हरीतिमा धीरे-धीरे लुप्त हो जायेगी और चारों ओर बंजर और ऊसर भूमि का विस्तार होगा ।

वृक्षारोपण, जलाशयों के निर्माण, जल-निकास की व्यवस्था, भूमि के ढलान को कम करने के लिए टेरेसिंग, कन्टूरिंग आदि कार्यक्रमों को अपनाकर मृदा संरक्षण सम्भव है । उचित ढँग से फसल-चक्र का प्रयोग करने से अपरदन कम किया जा सकता है । क्षारीय एवं लवणीय मृदाओं का सुधार करना भी मृदा-संरक्षण कार्यक्रमों का महत्वपूर्ण अंग है ।

मृदा प्रदूषण की सम्भावना से मृदा को मुक्त रखना मृदा-संरक्षण कार्यक्रम का आवश्यक अंग है । औद्योगिक कूड़े-कचरे, सीवेज-स्लज में पाये जाने वाले भारी तत्व, अकार्बनिक विषैले यौगिक, कार्बनिक अनुपयोगी पदार्थ, कार्बनिक कीटनाशी तथा रेडियोसक्रिय अपशिष्ट पदार्थ मृदा को प्रदूषित करते हैं । मृदा को प्रदूषणमुक्त बनाने के लिए अनेक वैज्ञानिक इस दिशा में शोधकार्य कर रहे हैं । वायोडिग्रेडेशन (जैविक-विच्छेदन) की क्रिया मृदा को प्रदूषणमुक्त रखने में काफी सहायक सिद्ध हुई है ।

4. मृदा-जल की स्थिति

कृषि उत्पादन की सर्वप्रथम आवश्यकता पानी मानी गई है, क्योंकि पौधों का लगभग 90 प्रतिशत भाग जल से बना होता है । जल मृदा में उपस्थित पोषक तत्वों के घोलक एवं वाहक का कार्य करता है । पौधों के प्रायः सभी क्रिया-कलापों में जल की आवश्यकता होती है । अतः मृदा में समुचित मात्रा में आर्द्रता का होना अत्यन्त आवश्यक माना गया है । वाष्पोत्सर्जन तथा वाष्पीकरण द्वारा मृदा से निरन्तर जल का ह्रास होता रहता है । मृदा में अधिक एवं कम नमी दोनों ही मृदा गुणों तथा पौधों की वृद्धि के लिए हानिकारक हैं ।

सिंचाई की विधि का चुनाव, भूमि की विशेषताओं, बोई जाने वाली फसलों, सिंचाई की नालियों की क्षमता, सिंचाई स्रोतों के आकार, सिंचाई जल के गुण तथा जलवायु की परिस्थितियों के आधार पर किया जाता है । सिंचाई के लिए सबसे उपयुक्त विधि वही मानी जाती है, जिसमें जल का ह्रास कम से कम हो तथा जल पर नियन्त्रण रखा जा सके । शुष्क क्षेत्रों में जहाँ सिंचाई का कोई साधन उपलब्ध न हो, वहाँ मृदा की नमी सुरक्षित रखने के लिए प्रायः खरपतवारों को उखाड़कर उन्हें 'मल्च' के रूप में प्रयोग करते हैं ।

जल-निकास उचित न होने पर मृदा में उपस्थित पोषक पदार्थों का निक्षालस हो सकता है और जल का आधिक्य होने से उचित वायु-संचार नहीं हो सकता । वायु की कमी होने से कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा बढ़ जाती है, जिससे पौधों की जड़ों की वृद्धि रुक जाती है ।

भू-परिष्करण क्रियाओं द्वारा मृदा में जल-शोषण की क्षमता बढ़ जाती है तथा वायु-संचार की वृद्धि होती है। लगातार जुताई करने से मृदा की संरचना खराब हो सकती है अतः अधिक जुताई से मृदा की उर्वरता पर हानिकारक प्रभाव भी पड़ सकता हैं।

5 उर्वरकों का सन्तुलित प्रयोग

मृदा-परीक्षण के द्वारा मृदा में उपस्थित कुल एवं उपलब्ध पोषक तत्वों का मूल्यांकन फसलों के आधार पर करने के पश्चात् उर्वरकों का प्रयोग सन्तुलित मात्रा में करना उचित होता है। मनमाने ढँग से उर्वरकों का प्रयोग मृदा-उर्वरता के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है। पौधों की आवश्यकता के अनुसार मृदा में उचित प्रकार के उर्वरक का उचित मात्रा में प्रयोग करना की श्रेयस्कर है। मृदा-उर्वरता के निर्धारण के लिए आदर्श विधि वह है, जिससे उचित समय पर इस बात का अनुमान हो सके कि पोषक तत्वों की कितनी मात्रा मृदा विशेष से प्राप्त हो सकती है और फसल के पकने तक पौधों को निरन्तर उचित मात्रा में पोषक तत्व प्राप्त होते रहेंगे या नहीं।

उर्वरकों में उपस्थित पोषक तत्वों के द्वारा मृदा में पारस्परिक प्रभाव के कारण, ऋणात्मक अनुक्रिया के फलस्वरूप, फसलों के उत्पादन में कमी आ सकती है। उर्वरकों के अधिक मात्रा में डालने से मृदा में वैषिक प्रभाव देखा गया है, विशेष रूप से सूक्ष्ममात्रिक उर्वरकों द्वारा। इसलिए उर्वरकों के प्रयोग में सतर्कता बरतना अत्यन्त आवश्यक है।

सुविख्यात अर्थशास्त्री माल्थस ने बहुत पहले ही सन् 1803 में जनसंख्या वृद्धि की समस्या से विश्व को अवगत कराने का प्रयास किया था। अपने सिद्धान्त में उन्होंने प्रतिपादित किया कि भोज्य पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि समान्तर अनुपात (Arithmetical Ratio) में सम्भव है जबकि जनसंख्या में वृद्धि गुणोत्तर अनुपात (Geometrical Ratio) में होती है। कृषि-उत्पादकता मूलतः मृदा-उर्वरता पर निर्भर करती है, जिसकी उत्पादन क्षमता एक निश्चित स्तर तक प्रभावी हो सकती है। 'ह्रासमान प्रतिफल नियम' के अनुसार भी कृषि उत्पाद की अधिकतम उपज पाने के पश्चात् अन्य किसी प्रकार के साधनों के प्रयोग के द्वारा और वृद्धि नहीं सम्भव है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जनसंख्या वृद्धि का सीधा सम्बन्ध मृदा-उर्वरता से है, क्योंकि मृदा की उर्वराशक्ति पर कृषि-उत्पादकता आश्रित है। यदि हमें भविष्य में आने वाली अपनी सन्तानों की और उनके भोजन की समस्या की थोड़ी भी चिन्ता है, तो निःसन्देह हमें पृथ्वी की सुरक्षा का दृढ़ संकल्प लेना होगा। इससे हम न केवल आने वाली पीढ़ियों की वरन् इस धरती पर निवास करने वाली मानवों सहित सभी जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों की रक्षा कर सकते हैं।

●●

जनसंख्या और स्वास्थ्य

राजेश कुमार केसरी

पृथ्वी पर ज्यों-ज्यों मानव आबादी बढ़ती जा रही है, वृक्षों और प्राणियों का विनाश होता जा रहा है। आज हमारे सामने जनसंख्या की समस्या सबसे गम्भीर है। जनसंख्या के बढ़ने से प्रकृति का सन्तुलन बिगड़ता जा रहा है। जनसंख्या वृद्धि के कारण हमारे स्वास्थ्य पर भी परोक्ष व अपरोक्ष रूप से कुप्रभाव पड़ रहा है।

जब तक हमारा वातावरण शुद्ध नहीं होगा और वातावरण के अन्तर्गत स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का पालन कठोरता से नहीं किया जायेगा तब तक कोई भी व्यक्ति या समाज अपने स्वास्थ्य को ठीक नहीं रख सकता है। निरन्तर बढ़ती जनसंख्या के कारण रोजगार की तलाश में अधिकांश लोग गाँवों से शहरों की तरफ भाग रहे हैं, जिससे आबादी के कारण उत्पन्न दबाव से गाँव बाजार में, बाजार कस्बे में, कस्बे नगर में और नगर-महानगर में परिवर्तित होते जा रहे हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार कलकत्ता की 50 प्रतिशत आबादी, कानपुर की 33 प्रतिशत जनसंख्या और दिल्ली तथा अहमदाबाद की 25 प्रतिशत आबादी फुटपाथों पर और अस्वास्थ्यकर झुग्गी-झोपड़ियों में रह रही हैं। इससे इन नगरों का पहले से ही प्रदूषित पर्यावरण और अधिक दूषित हो रहा है। घनी आबादी का कुप्रभाव मनुष्य के केवल शारीरिक स्वास्थ्य पर ही नहीं, बल्कि मानसिक स्वास्थ्य पर भी पड़ता है। सन् 1959 में लावे द्वारा किए गए सर्वेक्षण से प्राप्त आँकड़ों के अनुसार प्रति व्यक्ति निवास हेतु 8-10 वर्ग मीटर से कम स्थान होने पर लोगों में शारीरिक विकृति के साथ-साथ मानसिक विकार भी उत्पन्न होने लगते हैं।

बढ़ती आबादी के कारण भारत जैसे विकासशील देश में केवल 25 प्रतिशत आबादी को ही भरपेट पौष्टिक भोजन मिल पाता है। अपने देश में 75 प्रतिशत लोगों को समुचित भोजन नहीं मिल पाता जिसमें 40 प्रतिशत से अधिक लोग कुपोषण और भुखमरी की स्थिति में हैं। एक सर्वेक्षण से पता चला है कि भारत में 50 प्रतिशत से अधिक बच्चे सामान्य रूप से प्रोटीन कैलोरी अल्पता से उत्पन्न कुपोषण से ग्रसित होकर दुर्बल रोगी के रूप में जीवन व्यतीत करने के लिए विवश हैं। भारतीय पोषण संस्थान के अनुसार 1 से 5 वर्ष तक के 35 प्रतिशत बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। दस्त रोग भी कुपोषण से जुड़ा है। दस्त से औसतन प्रत्येक मिनट में तीन बच्चे मर जाते हैं। अतः अब यह ध्यान देने वाली बात है कि कुपोषण न केवल वर्तमान समय के लिए अभिशाप है, बल्कि आने वाली पीढ़ियों पर भी इसका प्रभाव निश्चित रूप से पड़ेगा।

जनसंख्या की बेतहाशा वृद्धि के कारण तालाब, नदी, सागर तथा हमारा वातावरण बुरी तरह प्रभावित हो रहा है। घनी जनसंख्या का प्रत्यक्ष प्रभाव मनुष्य के जीवन-यापन हेतु उपलब्ध सीमित स्थान और सुविधाओं पर पड़ता है। फलस्वरूप शहरी क्षेत्रों में जल और वायु प्रदूषण की समस्या गम्भीर रूप धारण कर रही है। जल हमारे लिए अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। देश की 14 प्रमुख नदियाँ जिसमें गंगा भी है, हमारे देश में 85 प्रतिशत पीने का पानी उपलब्ध कराती हैं। ये नदियाँ बुरी तरह से प्रदूषित हो चुकी हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार प्रदूषित जल पीने से हैजा,

विज्ञान परिषद् प्रयाग, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

मियादी बुखार, अतिसार, पेचिश, अमीबिक डिसेण्ट्री, पीलिया, गेस्ट्रोएन्ट्राइटिस, पोलियो तथा दूषित जल में स्नान करने से खसरा, खुजली और कुष्ठ जैसे संक्रामक रोग हो जाते हैं। रासायनिक उर्वरकों के अधिक प्रयोग से भूमिगत जल का अम्लीकरण होता है। अम्लीकरण से पेयजल में एल्यूमीनियम, सीसा, जस्ता, कैडमियम जैसे धात्विक तत्वों की वृद्धि हो जाती है। इस जल के उपभोग के दौरान व्यक्ति के शरीर में पहुँच कर संचित हो जाने से अन्ततः डायरिया जैसी स्थिति पैदा हो जाती है।

जैसे-जैसे जनसंख्या वृद्धि हो रही है, उसी प्रकार मोटर वाहनों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। दिल्ली यातायात पुलिस के आयुक्त मैक्विल पपेरा बताते हैं कि देश में कलकत्ता, मद्रास, बम्बई जैसे महानगरों के साथ दिल्ली में तेजी से वाहनों की संख्या बढ़ रही है। मोटर वाहनों द्वारा मुख्यतः कार्बन डाइऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड, सल्फर ऑक्साइड एवं सीसा मिश्रित तत्व छोड़े जाते हैं। पर्यावरण में धुँए की मात्रा बढ़ने के कारण मनुष्य के शरीर में हीमोग्लोबिन की संख्या कम हो जाती है। साथ ही सल्फर डाइऑक्साइड, सल्फ्यूरिक अम्ल तथा कार्बन मोनोऑक्साइड खैसे प्रदूषकों की मात्रा बढ़ने पर कैन्सर जैसी भयानक बीमारियों के होने के भी समाचार मिले हैं। वाहनों में जलने वाले डीजल ऑयल, पेट्रोल से जो प्रदूषण हो रहा है उसका सर्वाधिक प्रभाव आँखों और हृदय की धमनियों पर पड़ रहा है। वायु प्रदूषण के कारण तेजाबी वर्षा, हरित गृह प्रभाव, ओजोन परत का क्षय, स्टोनकैंसर आदि जैसे दुष्प्रभावों का जन्म हुआ है।

जनसंख्या वृद्धि के साथ ही साथ मोटर वाहन और उद्योग धन्धों की निरन्तर वृद्धि से ध्वनि प्रदूषण भी अत्यधिक बढ़ा है। शोर या ध्वनि की अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत सीमा 45 डेसीबल है। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' ने 45 डेसीबल तक की ध्वनि को कर्ण-प्रिय एवं मानवीय स्वास्थ्य के लिए सर्वाधिक सुरक्षित बताया है। लेकिन 65 डेसीबल से अधिक तेज ध्वनि को ध्वनि प्रदूषण माना जाता है। ध्वनि प्रदूषण का हमारे स्वास्थ्य पर बहुत ही बुरा प्रभाव होता है जैसे—सिर में दर्द बहरापन, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की अनियमितता, चिड़चिड़ापन, अनिद्रा, उच्च रक्तचाप, स्मृति का कमजोर होना, दिल का दौरा, पागलपन, कानों में दर्द या झनझनाहट तथा गर्भवती महिलाओं पर भी इसका बुरा असर पड़ता है।'' इस प्रकार हम देख रहे हैं कि जनसंख्या में अनियन्त्रित वृद्धि हमारे पर्यावरण को प्रदूषित कर रही है और हम इस पर्यावरण में रहते हैं, जिससे प्रदूषित पर्यावरण हमारे स्वास्थ्य को प्रभावित कर रहा है।

केवल भारत में ही नहीं, बल्कि पूरे विश्व में विभिन्न प्रकार के प्रदूषणों का कारण बढ़ती हुई जनसंख्या है इसलिए जनसंख्या की इस वृद्धि पर तुरन्त रोक लगाना आवश्यक है अन्यथा निकट भविष्य में हमारा पर्यावरण इतना प्रदूषित हो जायेगा कि बिना विश्वयुद्ध के सिर्फ प्रदूषण के कारण ही मानव जाति का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। जनसंख्या की समस्या से निपटने के लिए यह जरूरी है कि लड़के और लड़कियों के विवाह की न्यूनतम उम्र बढ़ाई जाए। इसकी अधिक जरूरत ग्रामीण क्षेत्रों में है जहाँ कम शिक्षित लोग रहते हैं। इसके लिए सन् 1929 में बाल विवाह प्रतिबन्ध अधिनियम, 'शारदा-कानून' बनाया गया। लेकिन इसके बावजूद भी बाल विवाह में कमी नहीं आई। आज आवश्यकता है लोगों को इस विषय में शिक्षित कर उन्हें जागरूक बनाना। परिवार-नियोजन का भी समुचित प्रचार जरूरी है। इस कार्य हेतु समाजसेवी एवं जनकल्याण सम्बन्धी संस्थाओं को आगे आना चाहिए। भारत के प्रत्येक नागरिक का पवित्र कर्तव्य है, इस क्षेत्र में उसका अपना योगदान, तभी इस 'जनसंख्या विस्फोट' का कोई समाधान निकल पायेगा।

● ●

जनसंख्या वृद्धि और खाद्यान्न उत्पादन

डॉ० दिनेश मणि

यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि सन् 2000 ई० तक अब से कोई एक सौ करोड़ यानि एक अरब ज्यादा लोगों का पेट भरना होगा। हमारी धरती पर रहने वाले जीवों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। फलस्वरूप अन्य समस्याओं के साथ खाद्य वितरण की समस्या मुँह उठाये हुये हैं, जो कि हमारे प्राकृतिक पर्यावरण पर सीधे आघात करती है। बढ़ती जनसंख्या का पेट भरना भी बहुत जरूरी है। भोजन की कमी के कारण ही अल्पपोषण और भुखमरी जैसी समस्यायें सामने आ रही हैं। खाद्य एवं कृषि संगठन द्वारा वर्ष 1980-81 में किये गये विश्व खाद्य सर्वेक्षण के अनुसार विकासशील देशों में रहने वाले कोई 50 करोड़ लोग अल्पपोषी हैं।

यद्यपि पिछले दशक में विश्व स्तर पर खाद्यान्न उत्पादन में जनसंख्या की अपेक्षा थोड़ी सी अधिक वृद्धि हुई है और जिन लोगों के पास खाने को कुछ भी न था उन्हें भोजन मिला है, किन्तु फिर भी अभी स्थिति सुखद नहीं है। इन सभी व्यक्तियों को इसी धरती से खाना देना होगा। बल्कि सन् 2000 की स्थिति को देखते हुए उत्पादन की दर लगभग 40 प्रतिशत बढ़ानी होगी। इस सबके लिये आवश्यक है कि हम पर्यावरण से सन्तुलन बनाते हुए प्राकृतिक स्रोतों को उपयोग में लायें, न कि उनका अन्धाधुन्ध दोहन करें।

अपने देश ने कृषि के क्षेत्र में पिछले वर्षों में उल्लेखनीय प्रगति की है। वर्ष 1950-51 में भारत में खाद्यान्न उत्पादन 51 मिलियन टन था जो बढ़कर अब (1989-90 में) 173 मिलियन टन हो गया है। सन् 2000 ई० के लिए देश को 240 मिलियन टन खाद्यान्न उत्पादन करने की आवश्यकता होगी। (सारिणी-1) हालाँकि हमारे यहाँ जनसंख्या में वृद्धि अपेक्षाकृत अधिक रही है, पर घरेलू इस्तेमाल के लिए अनाज का आयात करने की आवश्यकता को लगभग समाप्त कर दिया गया है।

आठवीं पंचवर्षीय योजना में आयोजना प्रक्रिया को कृषि जलवायु क्षेत्र/उप क्षेत्रों पर आधारित करके खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि के लिए नई रणनीति तैयार की गयी है। इससे न केवल प्राकृतिक संसाधनों का और ज्यादा योजनाबद्ध तरीके से इस्तेमाल करने में मदद मिलेगी बल्कि यह विभिन्न जलवायु वाले क्षेत्रों के अनुकूल विभिन्न फसलों की वांछित उपज और उत्पादकता प्राप्त करने में भी सहायक होगी। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि विभिन्न कृषि जलवायु वाले क्षेत्रों में प्रणाली नीति के माध्यम से कार्यनीतियों को समन्वित किये जाने पर अनाज के मामले में 3.3 प्रतिशत और गैर अनाज के उत्पादन में 4.5 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि दर प्राप्त की जा सकती है।

नीचे दिये गये आधार स्तर के आँकड़ों को लेने पर आठवीं पंचवर्षीय योजना (1994-95) के लिए पूर्ति के अनुमान इस प्रकार तैयार किये गये हैं :

रिसर्च फेलो, उत्तर प्रदेश कृषि अनुसन्धान परिषद्, ए-11, निराला नगर, लखनऊ

सारणी 1

सन् 2000 ई० के लिए महत्वपूर्ण अनुमान

मद	अनुमान
जनसंख्या (मिलियन)	1000
पशुधन (मिलियन)	700
खाद्यान्न की आवश्यकता (मिलियन टन)	240
ईंधन की आवश्यकता (मिलियन टन)	200
पशु चारा की आवश्यकता (मिलियन टन)	700
उर्वरक की आवश्यकता (मिलियन टन)	20

स्रोत : स्वामीनाथन, एम० एस०, एग्रीकल्चर फॉर 21 सेन्चुरी, **किसान वर्ल्ड**, जनवरी 11-12, 1991

सारणी 2

1994-95 और 2000 के लिए फसल उत्पादन के अनुमान

	1988-89 तक (लाख हेक्टेयर)	1994-95 तक अनुमान (लाख हेक्टेयर)	2000 तक अनुमान (लाख हेक्टेयर)
निवल बुवाई क्षेत्र	1430	1450	1470
निवल सिंचित क्षेत्र	457.2	501.6	560
सकल सिंचित क्षेत्र	608.1	682.2	780
फसल वाला सकल क्षेत्र	1829.0	1877.1	1930
फसलीय सघनता	128	131	135
उर्वरक की खपत (लाख टन में)	120	170	230

स्रोत : खन्ना, एस० एस०, भारत की जनसंख्या और कृषि निकास, **योजना**, 26 जनवरी, 1990

सारणी 3

आधार उत्पादन के आँकड़े

	उत्पादन (लाख टनों में)	1994-95 के लिए पूर्ति अनुमान	सन् 2000 के लिए माँग के अनुमान
चावल	698.3	840.0-860.0	1060.0
गेहूँ	547.8	670.0-680.0	800.0
मोटा अनाज	337.2	380.0-385.0	420.0
दालें	151.0	170.0-175.0	220.0
खाद्यान्न	1733.2	2060.0-2100.0	2500.0
कुल तिलहन	183.5	210.0-220.0	270.0
गन्ना	2023.2	2350.0-2500.0	3100.0

स्रोत : खन्ना, एस० एस०, भारत की जनसंख्या और कृषि विकास, **योजना**, 26 जनवरी, 1990

इन अनुमानों को तैयार करने में अनेक कल्पनायें की गई हैं। मुख्य बात यह ध्यान में रखी गयी है कि उर्वरक खपत का वर्तमान स्तर 1 करोड़ 20 लाख टन है जिसमे से 70 प्रतिशत (लगभग 84 लाख टन) अनाज की फसलों में इस्तेमाल किया जा रहा है। इस बात की सम्भावना है कि उर्वरक की खपत 1994-95 में बढ़कर 1 करोड़ 70 लाख टन हो जायेगी, जिसमें से 1 करोड़ 19 लाख टन (70 प्रतिशत) उर्वरक अनाज की फसलों के लिए इस्तेमाल किया जायेगा। खाद्यान्न फसलों के लिए औसत वृद्धि उन्मुख अनुक्रिया अनुपात 1:7.5 बैठता है। इस प्रकार आठवीं पंचवर्षीय योजना में उर्वरक की खपत में लगभग 50 लाख टन की वृद्धि होने से अनाज उत्पादन 2 करोड़ 63 लाख टन के बढ़े हुए स्तर तक पहुँच सकता है। बाकी अतिरिक्त अनाज उत्पादन सिंचित क्षेत्र में हुई वृद्धि, आधुनिक प्रबन्ध पद्धतियों, प्रोत्साहन मूल्य निर्धारण और विपणन प्रणाली के फलस्वरूप प्राप्त होगा। सिंचित क्षेत्रों में 'रिले' फसल की अवधारणा के साथ बहुफसलीय प्रणाली लागू की जानी है। बीज और उर्वरक जैसी सारी आवश्यक सामग्री किसानों को उपलब्ध करायी जायेगी ताकि वांछित उत्पादन और उत्पादकता प्राप्त की जा सके। यहाँ एक बात ध्यान रखने योग्य है कि हमें अन्न जैसी मजबूत स्थिति दलहनों के उत्पादन में भी लानी है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि हमारे भोजन की थाली में रोटी तो है मगर दाल का कटोरा अभी भी खाली है। मांसाहारियों की बात छोड़ दीजिए तो आम आदमी की प्रोटीन की जरूरत दलहनों से ही पूरी होती है। आज से तीस साल पहले हर आदमी के लिए 75 ग्राम दाल उपलब्ध थी, आज 40-50 ग्राम भी नसीब नहीं है। कारण ढूँढ़ने पर बढ़ती हुई जनसंख्या तथा पैदावार का घटता क्षेत्र ही सामने आयेगा। आज हमारे देश में दलहन का कुल उत्पादन 110-140 लाख टन है, जबकि खाद्य एवं कृषि संगठन के अनुसार यदि देश की वर्तमान जनसंख्या के लिए दलहन की जरूरत 60 ग्राम प्रति व्यक्ति भी मानी जाये जो 21वीं सदी की चौखट पर पहुँचते-पहुँचते हमें 238 लाख टन दलहन की जरूरत होगी।

●●

जनांकिकी किधर ?

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

जनसंख्या, आबादी या मर्दुमशुमारी बहुज्ञात शब्द हैं। जनगणना भी परिचित शब्द है। ये सभी अँग्रेजी के 'पापुलेशन' (Population) शब्द के संज्ञार्थक है। जनसंख्या स्त्री, पुरुष, बच्चा, वृद्ध—इन सबों की कुल संख्या का द्योतन करती है। प्रारम्भ में जनगणना को ही जनसंख्या का अध्ययन माना जाता था, क्योंकि इसीसे राज्य की प्रशासनिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाती थीं। किन्तु धीरे-धीरे यह अनुभव किया जाने लगा कि जनसंख्या अध्ययन के सेलिए जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं यथा जन्म, विवाह, मृत्यु आदि को समझना आवश्यक है। इस तरह जनांकिकी या जनसांख्यिकी (Demography) की शुरुआत हुई। यह मानव-जनसंख्या का अध्ययन है। एक तरह से ये जनसंख्या का अनुभवात्मक, सांख्यिकीय और गणितीय अध्ययन है। इसके मुख्य तीन अवयव हैं—उर्वरता (Fertility), मृत्यु (Mortality) तथा देशान्तरण या प्रवसन (Migration)। किन्तु विवाह तथा सामाजिक गतिशीलता को भी अवयव माना जाता है—इसमें जनसंख्या के आकार (संख्या), गठन (सामूहिक विशेषताएँ) तथा वितरण एवं परिवर्तन अर्थात् भौगोलिक क्षेत्र का पता रहता है।

मनुष्यों की ही तरह पशुओं की भी गणना की जाती है, किन्तु छोटे-छोटे जीव किस तरह रहते हैं—और उनकी संख्या कैसे बदलती है, इस ओर भी वैज्ञानिकों का ध्यान गया है। फलतः जनसंख्या जीव विज्ञान (Population Biology) का विकास हुआ है जो अणु जैविकी या अणु जीव विज्ञान (Molecular Biology) की होड़ में विकसित की गई जीव विज्ञान की शाखा है। यह जैवप्रक्रमों की दिशा में नवीन पहल है। 1940-50 ई० के दशक में विकास इकाई को समझने के प्रयास में जनसंख्या शब्द उभर कर आया।

जनसंख्या मूलतः समजातिक (Conspecific) व्यक्तियों का पृथक समूह है जो दीर्घकाल से एक जाति परास में रहता आया है और स्वतन्त्र रूप से अनन्त काल तक चलता रहेगा। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि अलग-थलग व्यष्टियों का कोई समूह जनसंख्या का निर्माण नहीं कर सकता। जनसंख्या एक प्राकृतिक घटना है—किसी भी जाति के अस्तित्व का वास्तविक स्वरूप है। प्रकृति में जातियों के अस्तित्व का चरम स्वरूप जनसंख्या ही है।

जैवमण्डल में विभिन्न जीवों के समुदायों का समूह (Biocoenoses) होता है को निश्चित आवास (habitat) घेरते हैं। विभिन्न जनसंख्याएं (Biotopes) एक दूसरे से भोज्य (trophic), रासायनिक (allelopathic) तथा मृदीय (edaphic) बन्धनों से जुड़ी रहती हैं। जीवों के ऐसे समुदाय (Communities) प्रायः पारिस्थितिक तन्त्र (ecosystem) कहलाते हैं।

यद्यपि जनसंख्या की संरचना में लिंग, आयु, जीनी तथा पारिस्थितिक संरचनाओं पर विचार किया जाता है, किन्तु सामान्य रूप से विभिन्न आयु वर्ग के नर तथा मादा के अनुपात को ही जनसंख्या संरचना मान लिया जाता

प्रोफेसर, रसायन विभाग एवं अवकाशप्राप्त निदेशक, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

है। लिंग अनुपात की बात तभी उठती है जब जनसंख्या में विपरीत लिंग के जीव हों। सूक्ष्मजीवों में ऐसा अन्तर प्रायः नहीं होता। एतदर्थ जनसंख्या की कुछ मूलभूत विशेषताएँ गिनाई गई हैं। ये हैं—

(1) सारी जनसंख्या के जीनी संघटन में अन्तर होता है—रक्त, चर्म, दाँत की रचना, रोग आदि।

(2) दूरस्थ जनसंख्याओं में अन्तर होता है।

(3) जनसंख्या का जीनी तन्त्र जितना विशाल होगा वह उतना ही स्थायी होगा और

(4) जनसंख्या के जीनी संघटन के सारे अन्तर अन्ततोगत्वा प्राकृतिक वरण (Natural Selection) पर निर्भर करते हैं।

आइये पुनः मानव जनसंख्या की ओर मुड़ते हैं—

जनसंख्या पर एक दृष्टि

10 हजार वर्ष पूर्व कृषि क्रान्ति हुई तो उस समय आज से 1/1000 जनसंख्या थी। ईस्वी सन् के प्रारम्भ होते समय (2000 वर्ष पूर्व) विश्व की जनसंख्या 30 करोड़ थी। 1000 ई० तक जनसंख्या में कोई वृद्धि नहीं हुई किन्तु 1750 ई० की औद्योगिक क्रान्ति के समय यह जनसंख्या 80 करोड़ थी। इस तरह 750 वर्षों में प्रतिवर्ष में 1/10 प्रतिशत की वृद्धि हुई। यह वृद्धि अति न्यून कही जावेगी। किन्तु 1750 ई० के बाद लगातार वृद्धि होती रही। 1860 ई० में यह जनसंख्या 100 करोड़, 1930 ई० में 200 करोड़ और 1970 में 360 करोड़ पहुँच गई। विगत 250 वर्षों में जनसंख्या में वृद्धि के कारण जीवन स्तर में सुधार, स्वच्छता तथा स्वास्थ्य के नियमों की जानकारी, चिकित्सा सुविधा, आवागमन के साधनों में वृद्धि रहे हैं। ऐसा ज्ञात हुआ है कि 1930 के बाद यूरप तथा उत्तरी अमेरिका में सबसे अधिक जनसंख्या वृद्धि हुई। इसका कारण मृत्यु दर में कमी थी। उस समय एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका में जनसंख्या में वृद्धि नहीं हुई, किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध (1946) के बाद इन देशों में भी मृत्यु दर कम हुई—यूरप से भी अधिक अतएव द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जनसंख्या में सहसा वृद्धि हुई तो जनसंख्या विस्फोट जैसे शब्दों का प्रचलन हुआ। 1960 में तो जनसंख्या अपने चरम शिखर पर पहुँच गई। तब वृद्धि दर मात्र 2 प्रतिशत थी। किन्तु उसके बाद मृत्यु दर तथा उर्वरता में लगातार ह्रास आता रहा और वृद्धि दर 1.7 प्रतिशत थी। स्मरण रहे कि विकासशील तथा विकसित देशों में जनसंख्या वृद्धि दर एक सी नहीं रही। विकासशील देशों में 1960 ई० में वृद्धि दर 3 प्रतिशत थी। 1950 तथा 1975 के बीच के 25 वर्षों में इन देशों की जनसंख्या दूनी हो गई। किन्तु चीन एकमात्र अपवाद रहा, जहाँ वृद्धि दर 2 प्रतिशत से भी कम रही, जिसका कारण देर से विवाह और विवाहित जीवन में सीमित सन्तान का नियम था। तथाकथित विकसित देशों में एक संयम सा दृष्टिगोचर होने लगा था, किन्तु 1950 में विशेषतया युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड में उर्वरता में वृद्धि आई जिससे औद्योगिक राष्ट्रों में बच्चों की बाढ़ (Baby boom) जैसे शब्दों का प्रचलन हुआ। जो भी हो, 1980 ई० के आते-आते औद्योगिक राष्ट्रों में उर्वरता स्तर अत्यन्त न्यून हो गया और अब विकासशील देशों में केवल अफ्रीका में सर्वाधिक वृद्धि दर पाई जाती है। इसका कारण अब भी इन भागों में विकास का न होना है।

यहाँ जिस उर्वरता (Fertility) की बात कही जा रही है वह जैव क्षमता (Biological Capacity) से

सदैव न्यून रही है, जिसका कारण समाज में सांस्कृतिक संयम या नियमन का होना है। उदाहरणार्थ उत्तरी अमेरिका में 1970-80 ई० के बीच प्रति स्त्री से दो सन्तानें उत्पन्न हुई, जबकि वहीं की हुटराइट जाति में प्रति स्त्री 10 बच्चे उत्पन्न हुए। फिर भी विगत 200 वर्षों में उर्वरता में ह्रास आया है और अब यह उर्वरता पहले की अपेक्षा 50 प्रतिशत है। निरोध विधियों से उर्वरता प्रभावित हुई है।

जिस सरह जनसंख्या में उर्वरता दर है उसी तरह मृत्यु दर भी है। विशाल जनसमूह में मरने वालों की संख्या में एक विशेष प्रवृत्ति देखी जाती है। उदाहरणार्थ इस समय औसत आयु 55-60 वर्ष है। स्त्रियों की जीवन सम्भाव्यता पुरुषों से 7-8 वर्ष अधिक आँकी गई। इस समय सबसे कम औसत आयु अफ्रीका निवासियों की है।

वास्तव में जनसंख्या में वृद्धि दो प्रकार से होती है। प्राकृतिक वृद्धि प्रायः 4 प्रतिशत आँकी गई है किन्तु विज्ञान के आविष्कारों के फलस्वरूप मृत्यु दर में कमी हुई है तो भी वृद्धि दर 2.5 से 1 प्रतिशत तक हुई, शून्य वृद्धि न तो वांछनीय है, न सम्भव। वास्तव में एक ऐसा समय आता है जब जनसंख्या संवेग (Population Momentum) देखा जाता है और तभी जनसंख्या विस्फोट होता है, किन्तु यह बम विस्फोट जैसा क्षणिक नहीं अपितु मन्द गति से होता है। अतः इसकी तुलना ग्लैशियर से की जानी चाहिए न कि विस्फोट से।

यद्यपि बहुत काल जनसंख्या घनत्व पर बल दिया जाता था, किन्तु अब यह विचारधारा अर्थहीन है। कारण कि दुर्भिक्ष या प्राकृतिक विपदा आने पर जनसंख्या का स्थानान्तरण (देशान्तरण) सहज ही हो जाता है। हाँ शहरीकरण के फलस्वरूप देहाती जनसंख्या का निरन्तर देशान्तरण होता रहता है। विकसित देशों के यह अत्यधिक 75 प्रतिशत है। पश्चिमी जर्मनी में तो 85 प्रतिशत लोग शहरों में निवास करते हैं। किन्तु विकासशील देशों में अब भी 33 प्रतिशत लोग ही शहरों में बसते हैं। आबादी का बहुत बड़ा भाग अब भी देहातों में रहता है।

ईसा की तृतीय सहस्राब्दि में जनसंख्या ? जनसंख्या प्रक्षेपण

2000 ई० में जितनी जनसंख्या होगी उसी के आधार पर अभी से 25,50 या 100 वर्ष आगे अनुमान लगाये जा रहे हैं। इसे जनसंख्या प्रक्षेपण कहते हैं। संयुक्त राष्ट्र द्वारा विश्व की जनसंख्या का सतत अध्ययन किया जाता है, किन्तु उर्वरता स्तर पर जो ह्रास या वृद्धि होती है उसका दीर्घकालीन प्रभाव पड़ता है इसलिए प्रायः 25-50 वर्ष आगे की जनसंख्या का अनुमान लगाया जाता है। ये आँकड़े किसी प्रकार से भय उत्पन्न करने के लिए नहीं अपितु योजनाएँ निश्चित करने के उद्देश्य से प्रस्तुत किए जाते हैं।

प्रायः यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या जनसंख्या की कोई सर्वोच्च सीमा (शिखर) है ? कुछ लोग इसे 1000 करोड़ बताते हैं, जबकि कुछ लोगों का कहना है कि वर्तमान जनसंख्या (400-500 करोड़) का ही उदर पोषण सम्भव है। किन्तु क्या प्रकृति इतनी निष्ठुर है कि वह इस सृष्टि को नष्ट होने देगी ? ऐसे ही प्रश्नों का उत्तर देने के लिए वैज्ञानिकों तथा समाजशास्त्रियों ने समय-समय पर कुछ सिद्धान्त बनाये हैं। इनमें से माल्थस का सिद्धान्त अति प्रसिद्ध है।

1798 ई० में एक अँग्रेज पादरी **थामस माल्थस** ने एक लेख लिखा—'एन एस्से ऑन द प्रिंसिपल ऑव पापुलेशन' ('An essay on the principle of population')। उसमें कहा गया था कि उसने सारे मानव कष्टों

के स्रोत तथा कारण का पता लगा लिया है—यह अधिक जनसंख्या का प्राकृतिक नियम है, जो हर युग में तथा हर राज्य में जहाँ मनुष्य रहते हैं या रहेंगे, लागू होगा। इस नियम के अनुसार—"जिस गति से जनसंख्या बढ़ रही है, यदि इसे रोका नहीं गया तो हर पच्चीस वर्ष में यह दूनी होती जावेगी तब कि उदरपोषण के साधन इतनी तेजी से नहीं बढ़ सकेंगे"। इस तरह माल्थस इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि कोई मनुष्य ऐसे देश में जन्मता है जहाँ पहले से अधिक लोग रह रहे हैं तो इस नवागन्तुक को भोजन प्राप्त करने का अधिकार नहीं है, क्योंकि वह अवांछित है। अत: प्रकृति उसे निकाल देती है। माल्थस तथा उसके अनुयायी सलाह देते हैं कि प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष न चलाकर यौन संयम द्वारा जन्म दर को कम किया जाय। किन्तु कुछ आनुवंशिकीविदों का कहना है कि "उत्तरजीविता के लिए संघर्ष" (Struggle for existence) वाली बात अब लागू नहीं होती, क्योंकि विज्ञान तथा औषधि विज्ञान ने आनुवंशिक रीति से निकृष्ट सिद्ध किए हुए व्यक्तियों को भी समर्थ बनाकर उन्हें सन्तान उत्पन्न करने योग्य बना दिया है।

'विश्व जनसंख्या सम्मेलन' में यह कहा गया है—"मनुष्य विश्व का सर्वोच्च मूल्यवान प्राणी है और हर देश की जनसंख्या उसका सर्वाधिक मूल्यवान खजाना है।" मानवता का भाग्य हर व्यक्ति के भाग्य से जुड़ा है। ऐसी स्थिति में क्या किया जाय? इस समय विश्व की जनसंख्या 500 करोड़ (5 बिलियन) है जो 2025 ई० में बढ़कर 850 करोड़ हो जावेगी। खाद्य और कृषि संगठन की एक रिपोर्ट के अनुसार 50 करोड़, व्यक्ति जिनमें बच्चे मुख्य हैं, बिना खाये सो जाते हैं और 15-20 मिलियन भुखमरी से तथा उससे जन्य रोगों से प्रतिवर्ष मरते हैं। अधिक जनसंख्या का दुष्परिणाम है यह। **जूलियन हक्सले** ने अपनी पुस्तक **ह्यूमन क्राइसिस** में 1963 में लिखा है कि जनसंख्या की अधिकता से उत्पन्न संकट नाभिकीय युद्ध के संकट से भी बढ़कर है। किन्तु आज का वैज्ञानिक न तो मल्थस को मानता है न हक्सले को। वह यह मानता है कि पृथ्वी पर इस समय जितने साधन उपलब्ध हैं, उनसे वर्तमान जनसंख्या से भी बड़ी संख्या का उदरपोषण किया जा सकता है। आज सूखा (दुर्भिक्ष) तथा गरीबी को सामाजिक कारण माना जाता है, प्राकृतिक या शाश्वत नियम नहीं। अब वैज्ञानिक यह मानने को तैयार नहीं कि जनसंख्या को कम स्तर पर ला दिया जाय अपितु अच्छा हो कि समुद्र में तथा समुद्र के नीचे बस्तियाँ बनें और लोगों का देशान्तरण बाह्य अन्तरिक्ष में कराया जाय। अन्तरिक्ष अनुसन्धान युग की यही चुनौती है।

जनसांख्यिकी नीति ऐसी बने कि लोगों को अधिक सन्तान भले ही न पैदा करने दिया जाय, किन्तु इससे उसकी प्रतिष्ठा पर आँच नहीं आनी चाहिए। मानवतावादी तथा वैज्ञानिक प्रयास का सम्मिलित रूप अपनाया जाय। जन्मदर तथा मृत्युदर घटने से एक "तृतीय आयु समूह" उत्पन्न हो रहा है जिसमें वृद्ध लोगों की संख्या बढ़ रही है। सामाजिक जीवन पर इस समूह का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा। वह समय भी दूर नहीं जब भारत जैसे विकासशील देशों में लोग स्वेच्छा से परिवार नियोजन पर बल देंगे। जर्मनी में या अन्य देशों में ऐसा हुआ है। कोई कारण नहीं कि हम भी ऐसा न कर सकें। तभी जनांकिकी का सुखद फल मिलेगा।

●●

जनसंख्या वृद्धि और ग्रामीण पर्यावरण

विजय जी

किसी निश्चित भौगोलिक सीमा में जनसंख्या की सघनता और पर्यावरण में सीधा सम्बन्ध होता है। जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती है, प्राकृतिक संसाधन घटते जाते हैं और प्रदूषण बढ़ता जाता है। गाँव वालों के शहरों की ओर पलायन के कारण शहरों की आबादी काफी बढ़ी है, जिससे वहाँ प्रदूषण की समस्या और उससे मुक्ति पाने के उपाय भी किये गये हैं। जनसंख्या वृद्धि के साथ प्रदूषण की समस्याएँ गाँवों में भी बढ़ी, लेकिन वहाँ प्रदूषण मुक्ति के कोई उपाय नहीं किये गये। यदि कभी ऐसी कोई योजना बनायी भी गयी तो उस पर कभी अमल नहीं किया गया, जबकि जनसंख्या वृद्धि की दर गाँवों में शहरों से ज्यादा रही है।

भारत की जनसंख्या 170 लाख प्रतिवर्ष के हिसाब से बढ़ रही है। इस समय देश की आबादी 84 करोड़ के आस-पास है। सन् 2000 तक आबादी 1 अरब पहुँच जाने का अनुमान है और इक्कीसवीं सदी के मध्य तक देश की आबादी डेढ़ अरब पहुँच जायेगी। यह 160 करोड़ से 170 करोड़ तक भी पहुँच सकती है। आज देश में करीब 17 करोड़ टन अनाज पैदा हो रहा है। इस शताब्दी के अन्त तक करीब 25 करोड़ टन अनाज की आवश्यकता होगी और अगली सदी के मध्य तक करीब 40 करोड़ टन अनाज की आवश्यकता होगी।

जिस गति से जनसंख्या बढ़ती है उस गति से अनाज का उत्पादन नहीं बढ़ाया जा सकता। फिर भी पिछले दशकों में वैज्ञानिक खेती और हरित क्रान्ति के प्रयोगों द्वारा अनाज की कमी की बहुत कुछ समस्या हल की गयी। लेकिन इस वैज्ञानिक खेती के लिए गाँवों को बहुत कुछ खोना भी पड़ा है।

हरित क्रान्ति और पर्यावरण

हरित क्रान्ति का सफल प्रयोग देश के मैदानी क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अनुकूल परिस्थिति वाले क्षेत्रों में किया गया। हरित क्रान्ति के मुख्य आधार थे सिंचाई, उन्नत कृषि यन्त्र, उर्वरक, कीटनाशक दवाएँ और उन्नत बीज। इन सभी पहलुओं का ग्रामीण पर्यावरण पर सीधा प्रभाव पड़ा है।

सिंचाई के लिए विशाल परियोजनाएँ बनायी गयीं, जिससे बड़े भू-भाग के जंगल उजाड़े गये। वहाँ रहने वाले लोगों को विस्थापित किया गया। सम्बन्धित भू-भाग की वनस्पतियाँ तथा वन्य जन्तु लुप्त हो गये।

उर्वरक और कीटनाशक दवाएँ आधुनिक खेती के आधार स्तम्भ हैं। हमारे देश के उर्वरकों का उपयोग लगातार बढ़ता जा रहा है। खेत उर्वरकों के अभ्यस्त होते जा रहे हैं। अनेक क्षेत्रों में तो अब उर्वरकों के बिना खेती सम्भव नहीं। किसान सेन्द्रिय खादों के उपयोग को लगातार भूलते जा रहे हैं, जिससे एक ओर जहाँ खेतो में जीवांश

जवाहर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद-212106 (उत्तर प्रदेश)

की मात्रा घटती जा रही हैं वहीं खेती का प्राकृतिक सन्तुलन बिगड़ा है। मिट्टी के इंजीनियर केचुओं का विनाश होता जा रहा है। जीवांश घटने से मिट्टी का कटाव बढ़ता है। मिट्टी का कटाव बढ़ने से उसमें प्रयुक्त उर्वरक बहकर प्राकृतिक जलस्रोतों जैसे नदियों, तालाबों आदि में पहुँचते हैं। उर्वरकों के लगातार जलस्रोतों में पहुँचने से जल प्रदूषित हो जाता है। यही स्थिति कीटनाशकों की भी है। कीटनाशकों में कुछ तो विघटित हो जाते हैं, लेकिन अनेक (जैसे डी डी टी) लम्बे समय तक विघटित नहीं होते, जिससे ये किसी न किसी माध्यम से मानव शरीर में पहुँच जाते हैं।

हरित क्रान्ति वाले क्षेत्रों में जंगल तो नष्ट ही किए गए वहाँ पर्यावरण के प्रहरी बाग-बगीचों को भी नष्ट किया गया। ऐसा या तो खेती के लिए भूमि साफ करने में किया गया या लकड़ी प्राप्त करने के लिए किया गया।

1952 की राष्ट्रीय वन नीति की घोषणा में यह निर्देश दिया गया था कि पर्यावरण की दृष्टि से देश में भूमि के क्षेत्रफल का 33 प्रतिशत वनों से ढँका होना चाहिए। इनमें भी पहाड़ी क्षेत्रों की 70 प्रतिशत जमीन तथा मैदानी क्षेत्रों की कम से कम 20 प्रतिशत जमीन वनों से ढँकी होनी चाहिए। लेकिन लगातार जनसंख्या बढ़ने से ऊपर की घोषणा अर्थहीन हो गयी है। उपग्रह द्वारा खींचे गए चित्रों के अनुसार अब मात्र दस प्रतिशत भूमि ही जंगलों से ढँकी है।

जनसंख्या वृद्धि का रहन-सहन पर प्रभाव

गाँवों में जनसंख्या वृद्धि का रहन-सहन पर सीधा असर हुआ है। गाँवों का आकार बढ़ा है। उसीके साथ गाँव का वातावरण और भी दूषित हुआ है। चूँकि गाँवों में मल-जल के निपटान की आज तक कोई व्यवस्था नहीं हुई है, इसलिए जो गाँव जितना ही बड़ा है वहाँ स्थिति उतनी ही नारकीय हुई है।

गाँवों में पेय जल के प्राकृतिक स्रोत या तो सूख चुके हैं या उनका पानी इतना प्रदूषित हो चुका है कि पीने योग्य नहीं रह गया है। पेय जल के लिए विभिन्न प्रान्तीय सरकारों द्वारा गाँवों में हैण्डपम्प एवं जल निगम की ओर से नल लगवाए जा रहे हैं। इनके लग जाने से एक ओर जहाँ ग्रामीणों को पेयजल की सुविधा उपलब्ध हुई वहीं उचित जल निकासी न होने से गाँव का वातावरण प्रदूषित हुआ। आज के गाँवों में प्रायः गलियाँ कीचड़ से भरी दिखायी देती हैं। नाली बनाकर और सोख्ते गड्ढे बनाकर यह समस्या आसानी से हल की जा सकती है। लेकिन इस तरफ किसी का ध्यान नहीं गया है।

जनसंख्या वृद्धि और गाँवों में मल निपटान

मल निस्तारण के लिए शौचालयों की व्यवस्था गाँवों में अभी भी कल्पना की चीज है। लोग अभी भी खुले खेतों में ही मल त्याग के लिए जाया करते हैं। जब गाँवों की जनसंख्या कम थी, गाँव दूर-दूर थे, गाँव के बाहर पर्याप्त झाड़ियाँ और पेड़-पौधे थे, तब तक तो स्थिति फिर भी ठीक थी, लेकिन अब यह व्यवस्था एकदम अनुचित है। खुले में मल त्याग करने पर गाँव के चारों ओर का वातावरण बुरी तरह प्रदूषित हो जाता है। बीमारियाँ फैलती हैं, जलस्रोत प्रदूषित हो जाते हैं। यही नहीं, महिलाओं को बहुत ही मुसीबत का सामना करना पड़ता है। अनेक बीमारियाँ तो गाँव की महिलाओं में इसीलिए होती हैं कि वे नित्यक्रिया के लिए अँधेरे का इन्तजार करती हैं, जबकि मल-मूत्र त्याग ऐसी नैसर्गिक क्रियाएँ हैं जिन्हें रोकना स्वास्थ्य के लिए नुकसानदायक है।

गाँवों में परिवार नियोजन

गाँवों में जनसंख्या वृद्धि की दर अभी भी शहरों से अधिक है। ऐसा सम्भवतः अशिक्षा और गरीबी के कारण है। केरल देश का सबसे ज्यादा शिक्षित राज्य है और वहाँ जनसंख्या वृद्धि की रफ्तार सबसे कम है। इसलिए पहली आवश्यकता तो यही है कि गाँवों की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्रायः यह प्रचार किया जाता है—'कम सन्तान सुखी इन्सान'। लेकिन यह नारा गरीब आदमी को आकर्षित नहीं कर पाता, क्योंकि गरीब आदमी के बच्चे खुद ही परिवार के लिए आमदनी का साधन बन जाते हैं और घर में जो भी काम धन्धा होता है उसमें हाथ बँटाते हैं। बीड़ी उद्योग, काँच उद्योग, दियासलाई, कालीन आदि उद्योगों में आज भी गरीब परिवारों के लाखों बच्चे काम करते हैं। ये बच्चे अपनी इच्छा से नहीं वरन् परिवार का आर्थिक बोझ हल्का करने के लिए वहाँ काम कर रहे हैं।

●●

जनसंख्या, औद्योगीकरण एवं रोजगार

सुनील दत्त तिवारी

क्या जनसंख्या वृद्धि एवं विकास एक साथ हो सकते हैं? इस पर विचारधाराओं की विभिन्नता के बावजूद एक बात निश्चित है कि भारत में जनसंख्या वृद्धि पिछले तीन दशकों में विकास की गति को बढ़ाने में बाधक रही है। वैसे भी जनसंख्या वृद्धि किसी देश की प्रगति का द्योतक नहीं है। जहाँ तक देश की प्रगति का सवाल है वह प्राकृतिक, मानवीय एवं अन्य संसाधनों के कुशलतापूर्वक संदोहन एवं उसके उपयोग से है। जनसंख्या वृद्धि के बारे में विभिन्न देशों के अलग-अलग मत हैं। कुछ विकसित देशों जैसे आस्ट्रेलिया में उपलब्ध संसाधनों का लगभग आधा ही संदोहन हो पाया है अतः यह माना जाता है कि जनसंख्या वृद्धि, उत्पादक मानव शक्ति में वृद्धि है। विकासशील देशों की हालत ठीक इसके विपरीत है जहाँ पर दोहन योग्य साधन सीमित हैं तथा प्रतिव्यक्ति के लिए औसत जमीन, खनिज पदार्थ, ऊर्जा, कृषि उत्पाद आदि की कमी होती जा रही है, जो जनसंख्या वृद्धि का विपरीत परिणाम है। अपने देश में जनसंख्या वृद्धि की दर बहुत तेज रही है। सन् 1901 में भारत की कुल जनसंख्या 238·5 करोड़ तथा वार्षिक वृद्धि दर 0·30 प्रतिशत रही। जो 1911 तथा 1931 में बढ़कर क्रमशः 252.0 तथा 278.9 करोड़ हो गयी। उसी तरह से सन् 1971 में 548·2 करोड़ तथा 685.2 करोड़ सन् 1981 में थी। सन् 1901 के मुकाबले 1981 में जनसंख्या वृद्धि की दर 2.25 प्रतिशत हो गयी।

अगले पृष्ठ की सारणी से स्पष्ट है कि जनसंख्या की वृद्धि चार गुनी होगी तथा शहरीकरण का स्तर तीनगुना बढ़ेगा। इसी तरह जीवन क्षमता भी 2.6-2.7 गुना अधिक हो जायेगी जिसके चलते जनसंख्या में अतिशय वृद्धि होगी और यदि यही रफ्तार रही तो अगले सन् 2001 तक चीन की आबादी को भी पार कर जायेगी। इस जनसंख्या

शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद-211002

सारिणी—1 भारत-जनसंख्या परिवर्तन की शताब्दी (1901-2001)

क्र० स०		वर्ष				
		1901	1951	1981	1991	2001
1.	जनसंख्या (करोड़)	238.5	361.5	685.2	844.4	1021.9
2.	जनसंख्या सूची (1901=1)	1.0	1.5	2.9	335	4.3
3.	घनत्व (प्रतिवर्ग किमी०)	77	117	216	257	311
4.	लिंग अनुपात (पुरुष/स्त्री)	103	106	107	107	105
5.	जनसंख्या (शहरी) प्रतिशत	10.84	17.29	23.32	28.00	34.20
6.	जनसंख्या शहरी (करोड़)	25.8	62.4	156.7	236.4	349.5

(स्रोत : सेन्सस ऑव इण्डिया, 88 ए, हैण्डबुक ऑव पापुलेशन स्टेटिस्टिक्स, नई दिल्ली)

वृद्धि को कम करने तथा इसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु स्वतन्त्रता के पश्चात् अनेक कार्यक्रम चलाये गये। परन्तु ये कार्यक्रम भी उतने अच्छे ढँग से इस उद्देश्य की पूर्ति में अपना योगदान नहीं कर सके। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश में पंचवर्षीय योजनाएँ चलायी गयीं। जनसंख्या वृद्धि से भुखमरी, बेरोजगारी जैसी अनेक समस्याएँ उत्पन्न होने लगीं। 1947 के बाद पहली बार द्वितीय पंचवर्षीय योजना में देश में औद्योगीकरण पर विशेष बल दिया गया। इस योजना के प्रमुख उद्देश्यों में—राष्ट्रीय आय में 25 प्रतिशत की वृद्धि, आधारभूत उद्योगों की स्थापना, तीव्र औद्योगिकीकरण, रोजगार के अवसरों में वृद्धि, आयु एवं सम्पत्ति की असमानता में कमी तथा निवेशदर बढ़ाना आदि प्रमुख उद्देश्य थे। इसमें राष्ट्रीय आय में 19.5 प्रतिशत वृद्धि तो हुई परन्तु औद्योगिक उत्पादन का लक्ष्य अधूरा ही रहा। पुनः तीसरी योजना (1961-65) में इस्पात, रसायन, ईंधन, विद्युत् आदि आधारभूत उद्योगों के विस्तार पर बल दिया गया, जिससे स्थिति में मामूली सुधार हुआ। इसके बाद भी अन्य आगे आने वाली योजनाओं में भी औद्योगीकरण तथा बेरोजगारी समस्या से निपटने के प्रयास किये गये। परन्तु ये सारे प्रयास जनवृद्धि के चलते फीके पड़ गये। इन योजनाओं में औद्योगिक विकास तो हुआ परन्तु इसका वितरण असमान रहा। ज्यादातर उद्योग शहरों के आस-पास लगाये गये। गाँवों की उपेक्षा की गयी फलतः ग्रामीण जनसंख्या का नगरों की ओर पलायन शुरू हो गया। इसके चलते शहरों में जनसंख्या की वृद्धि हुई। आवास-गन्दगी तथा अनेक सामाजिक समस्याएँ भी उत्पन्न हुईं। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए चार बड़े राज्यों—उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश तथा बिहार में शहरी और ग्रामीण जनसंख्या में अनुमानित वृद्धि की दर सन् 1966 से 2001 के बीच सारणी—2 से स्पष्ट है।

इसका मुख्य कारण गाँवों में रोजगार के उचित अवसरों का उपलब्ध न होना है। सारणी—2 से यह भी स्पष्ट है कि जनसंख्या का शहरी क्षेत्रों में पलायन पिछड़े राज्यों में सर्वाधिक है। ग्रामीण क्षेत्रों में जनसंख्या वृद्धि से आर्थिक मन्दी होती है, जिससे लोग शहरों की ओर गैर कृषि कार्यों की तलाश में प्रस्थान करते हैं।

सारणी—2

राज्य	ग्रामीण वृद्धिदर प्रतिवर्ष (%)	शहरी वृद्धिदर प्रतिवर्ष (%)
उत्तर प्रदेश	0.5	5.1
राजस्थान	1.1	4.4
बिहार	1.5	4.5
मध्य प्रदेश	0.2	3.89

जहाँ तक उद्योग स्थापित करने की बात है, उसका भी पिछड़े लोगों पर बहुत कम असर हो पाया है। कारण यह है कि उद्योगों द्वारा जो रोजगार के अवसर पैदा होते हैं, वे उन्हीं लोगों को उपलब्ध हो पाते हैं जो अधिक विकसित क्षेत्र के पढ़े-लिखे और प्रशिक्षित व्यक्ति होते हैं। इन बातों से स्पष्ट है कि इस असन्तुलित क्षेत्रीय विकास का असर हमारे समाज में गरीबी, सामाजिक असन्तोष तथा तनाव के रूप में सामने आयेगा। एक बात और है—गाँव के छोटे-मोटे कुटीर उद्योग-धन्धे भी बड़े उद्योग, पूंजी प्रधान उद्योग तथा स्वचालित उद्योगों के कारण नष्ट हो गये। कुछ भी हो, बड़े उद्योगों को स्थापित करके अधिकाधिक व्यक्तियों को सरकार द्वारा रोजगार दिये जाने के प्रयास किये जा रहे हैं। सन् 1950 से चार दशकों में उद्योग में 10 गुनी वृद्धि हुई है। 1980 का दशक तीव्र औद्योगीकरण का दशक रहा है। सन् 1984-90 के बीच छः वर्षों में औद्योगीकरण की वार्षिक वृद्धि 7.3 से 8.8 तक रही।

सारणी—3

भारत में औद्योगीकरण और क्षेत्रीय अंश (Sectoral shares)

औद्योगिक उत्पादन	वर्ष				
	50-51	60-61	70-71	80-81	84-85
सूचकांक (Index) (1980-81=100)	19.0	37.9	63.9	100.0	130.7
वृद्धि (Growth)	—	—	—	—	—
	85-86	86-87	87-88	88-89	89-90
सूचकांक (Index) (1980-81=100)	142.1	155.1	167.0	180.9	195.9
वृद्धि (Growth)	8.7	7.3	8.7	8.3	8.8

(स्रोत : द इकोनामिक टाइम्स डाटा बैंक, 1989, नई दिल्ली, पृष्ठ-16)

भारतीय कार्य शक्ति, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्र की महिलाओं के सन्दर्भ में, असंगति क्षेत्रों में अधिक लगी हुई है। सन् 1981 में लगभग 9.3 प्रतिशत रोजगार संगठित क्षेत्र में था तथा इसकी वृद्धि बहुत धीमी रही। 26 वर्षों के दौरान (1961-87) संगठित क्षेत्रों (organised sector) में रोजगार की दर लगभग दुगुनी बढ़ गयी।

रोजगार की स्थूल मात्रा असंगठित क्षेत्रों में है, जहाँ पर न तो नौकरी की सुरक्षा है और न ही कोई लाभ है। यहाँ तक की इसमें रोजगार के अवसर नियमित न होकर प्रतिदिन के कार्य और मजदूरी के ऊपर आधारित है। इस तरह से स्पष्ट है कि औद्योगीकरण भी नियमित रोजगार को उपलब्ध नहीं कर पाया है। अतः इस बात पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। यदि हम क्षेत्रीय अंश (sectoral shares) का विश्लेषण करें तो यह बात सामने आती है कि प्राथमिक क्षेत्र (कृषि) में अधिक कार्यशक्ति (लगभग 71 प्रतिशत) लगी हुई है। यद्यपि केबल शुद्ध घरेलू उत्पाद (NDP) का एक तिहाई हिस्सा ही इसके द्वारा प्राप्त हो पाता है और बचा हुआ दो तिहाई हिस्सा द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्र के द्वारा प्राप्त होता है।

सारणी—4

वर्ष	प्राथमिक क्षेत्र	द्वितीयक	रक्षा प्रबन्ध	तृतीयक क्षेत्र
शुद्ध घरेलू उत्पाद (प्रतिशत) के आधार पर क्षेत्रीय अंश (Net Domestic Product)				
1970-71	50.1	19.7	4.7	25.5
1987-88	34.6	26.0	6.2	33.2
कार्य शक्ति (प्रतिशत) के आधार पर क्षेत्रीय अंश				
1981	71.1	10.9	18.0	

(स्रोत : इण्डिया टूडे 15 मई, 1990)

अतः ये सारी बाते स्पष्ट करती है कि देश में तीव्र औद्योगीकरण भी बेरोजगारी की समस्या का हल नहीं कर पाया है। हमारे देश में बड़े उद्योगों के साथ छोटे कुटीर उद्योगों पर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया। स्वतन्त्रता के बाद से लघु उद्योगों के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई है। वर्ष 1987-88 में देश में 15 लाख 90 हजार छोटी इकाइयाँ थीं जिनसे 72880 करोड़ रुपये का उत्पादन हुआ। भारत जैसे अधिक आबादी वाले देश में लघु उद्योगों के विकास का कुछ ज्यादा ही महत्व है। एक बात ध्यान देने की है कि इन लघु उद्योगों से एक करोड़ आठ लाख लोगों को रोजगार मिला हुआ है। औद्योगीकरण की प्रक्रिया में भारत के हथकरघा जैसे परम्परागत तथा खादी जैसे कुटीर उद्योगों को भी बढ़ावा दिया गया। इसके अलावा इन क्षेत्रों से निर्यात में भी काफी वृद्धि हुई है। वर्ष 86-87 में लघु उद्योगों ने लगभग 3647.9 करोड़ रुपये का निर्यात किया।

इतना सब कुछ होते हुए भी बेरोजगारी की समस्या विकराल रूप धारण कर चुकी है, जिसके कारण चलाई गयी विकास की योजनाएँ बेअसर हो गयी हैं। आज भी बहुत से लोग छिपी बेरोजगारी, अर्ध बेरोजगारी, एवं प्रत्यक्ष बेरोजगारी की स्थिति में जी रहे है। अशिक्षित बेरोजगारों की संख्या, शिक्षित बेरोगारों की अपेक्षा कहीं अधिक है। इन सबका प्रमुख कारण जनसंख्या में होने वाली तीव्र गति से वृद्धि है। योजना आयोग के सन् 1978 के आँकड़ों के अनुसार 1971 में 1/4 (0.25) मिलियन व्यक्ति बेरोजगार थे तथा सन् 1978 में 20.6 मिलियन और ऐसा

अनुमान लगाया गया था कि सन् 1983 तक 22.9 मिलियन तक हो जायेगी। जैसे की पहले ही यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि बड़े उद्योगों में रोजगार के अवसर उन्हीं लोगों के लिए ज्यादा हैं जो प्रशिक्षित हों या पढ़े-लिखे हों। हमारे देश में प्रशिक्षित बेरोजगारों की अपेक्षा अप्रशिक्षित बेरोजगारों की अधिकता है। यही कारण है कि भारत में ग्रामीण बेरोजगारी एक प्रमुख समस्या है। इस समस्या के विराट रूप का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि लगभग 4.5 करोड़ परिवारों के पास न तो जोतने के लिए जमीन है और न ही लम्बे समय तक करने के लिए कोई काम। ये परिवार गरीबी की रेखा से नीचे अपना जीवन-यापन करते हैं तथा ये इसी कारण से कम मजदूरी एवं कम उत्पादकता के शिकार होते हैं। आठवीं योजना के प्रारम्भ में ग्रामीण क्षेत्रों में 39.5 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा से नीचे थे तथा अनुमान लगाया गया कि सन् 1990-91 तक वे 28.2 प्रतिशत तथा इस शताब्दी का अन्त होते-होते 5 प्रतिशत तक रह जायेंगे। यह अनुमान तभी सच हो पायेगा जब इसके लिए गए प्रयास चलते रहें। ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के साधन उपलब्ध कराने हेतु छठीं योजना में स्थान दिया गया। गरीबों द्वारा स्वरोजगार योजनाओं को समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रमों (IRDP) से जोड़ा गया। इसके अलावा अन्य कार्यक्रम (ट्रेनिंग ऑव रूरल यूथ फॉर सेल्फ इम्प्लायमेंट), महिला तथा बाल विकास, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम, भूमिहीन ग्रामीण रोजगार गारन्टी कार्यक्रम भी शुरू किए गए। 'ट्राइसेम' (Trysem) योजना को अक्टूबर सन् 1980 में सातवीं योजना में शुरू किया गया। ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारण्टी कार्यक्रम 15 अगस्त 1983 को शुरू किया गया तथा इस कार्यक्रम का मुख्य लक्ष्य रोजगार योजना के अन्तर्गत किये गये निवेश से दीर्घकालीन रोजगार के अवसर उपलब्ध हो। इसके अलावा 1989-90 के बजट में 500 करोड़ रुपये की एक योजना—"जवाहर रोजगार योजना" की घोषणा की गयी। इस योजना का मुख्य लक्ष्य था कि हर पिछड़े क्षेत्र में कम से कम हर परिवार का एक व्यक्ति रोजगार पा सके। इस योजना का 80 प्रतिशत भार केन्द्र पर और शेष 20 प्रतिशत राज्य सरकार पर रहेगा। बाद में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम तथा भूमिहीन ग्रामीण रोजगार गारन्टी कार्यक्रमों की कमियों को पूरा करने में सहायक होगी! इससे नियोजन का विकेन्द्रीकरण होगा तथा लोगों का नियोजन एवं क्रियान्वन से सीधा सम्बन्ध जुड़ेगा। इसके अलावा अन्य योजनाएँ भी चलायी गयीं, जिनमें एक "कार्यक्रम जिला उद्योग केन्द्र" है। इस नीति का भी प्रमुख उद्देश्य यही था कि ग्रामीण क्षेत्रों में लघु एवं ग्रामीण उद्योगों का विकास हो तथा रोजगार के नये-नये अवसर पैदा हों तथा ग्रामीण लोगों की आय तथा रहन-सहन के स्तर में वृद्धि हो सके। यह कार्यक्रम सन् 1977 में शुरू किया गया। इस कार्यक्रम के अस्तित्व में आने के 9-10 वर्षों के अन्दर ही लगभग देश के सभी जिलों में 'जिला उद्योग केन्द्र' स्थापित कर दिये गये। देश के 431 जिलों में स्वीकृत जिला उद्योग केन्द्रों की कुल संख्या 422 है। वैसे भी ग्रामीण क्षेत्रों के लिए यह कार्यक्रम बहुत ही महत्वपूर्ण एवं उपयोगी सिद्ध हुआ। एक व्यक्ति जो उद्योग लगाना चाहता है, उसके लिए जिला उद्योग केन्द्र द्वारा बहुत सी योजनाएँ विधि एजेन्सियों के माध्यम से तैयार की जाती हैं। ग्रामीण औद्योगीकरण के क्षेत्र में यह कार्यक्रम अति महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। इस कार्यक्रम द्वारा सन् 1987-88 तक की उपलब्धियाँ सारिणी—4में दी गई हैं।

स्पष्ट है कि जिला उद्योग केन्द्रों ने रोजगार उपलब्ध कराने में बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान दिया है तथा ग्रामीण एवं पिछड़े क्षेत्रों में रोजगार के अधिक अवसर उपलब्द्ध कराने में जिला उद्योग केन्द्रों का योगदान निःसन्देह प्रशंसनीय है।

इस तरह से देखा जाय तो सरकार द्वारा चलायी गयी योजनाओं ने ग्रामीण एवं शहरी निर्धन व्यक्तियों का स्तर सुधारने में काफी कुछ योगदान किया है। सरकार द्वारा किये गये प्रयास निःसन्देह सराहनीय हैं। परन्तु इन

सारणी—5

वर्ष	पंजीकृत एकांकों की संख्या (लाखों में)	रोजगार सं० (लाखों में)	चालू कीमतों पर उत्पादन मूल्य (रु० करोड़ में)
1978-79	7.34	64.00	15790
1979-80	8.05	70.00	21635
1980-81	8.74	71.00	28060
1981-82	9.62	75.00	32600
1982-83	10.55	79.00	35000
1983-84	11.50	84.00	41300
1984-85	12.42	90.00	50520
1985-86	13.53	96.00	57100
1986-87	14.57	101.00	64500
1987-88*	16.91	—	—

*सम्भावित

[स्रोत : आर० बी० आई० रिपोर्ट एण्ड फाइनेन्स 1979-80 एण्ड 1985-86]
रिपोर्ट 1987-88 औद्योगिक विकास विभाग, भारत सरकार उद्योग मन्त्रालय, नई दिल्ली।

सारी योजनाओं द्वारा हुआ विकास बढ़ती जनसंख्या के सामने तुच्छ सा लगता है। यह इस तरह से स्पष्ट है कि इतने औद्योगीकरण एवं रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने के बाद भी काफी संख्या में लोग बेरोजगार हैं। परिणामतः सामाजिक असन्तोष, तनाव आदि की भावनाएँ पनप रही हैं। इस बेरोजगारी और बढ़ती आबादी से निपटने हेतु आवश्यकता है :

(1) परिवार नियोजन और जनसंख्या नियन्त्रण के लिए कड़े कदमों की।
(2) शिक्षा के तौर-तरीकों और विषयों में परिवर्तन की।
(3) श्रम प्रधान तकनीक पर बल देने की।
(4) एकीकृत विकास कार्यक्रमों को ठीक ढँग से संचालित करने की।
(5) पशुपालन, मुर्गीपालन, मछलीपालन, दुग्ध-उत्पादन जैसे धन्धों को प्रोत्साहन देने की।
(6) ग्रामीण क्षेत्रों के चहुँमुखी विकास की।
(7) गाँवों के औद्योगीकरण की।
(8) वर्ष पर्यन्त काम मिलने हेतु योजनाएँ लागू करने की।
(9) ग्रामीण बैंकों द्वारा सस्ती साख सुविधाएँ उपलब्ध कराने की।
(10) बुनियादी आवश्यकताओं—रोटी, कपड़ा और मकान के पूर्ति की।

इस तरह से यह बात प्रकाश में आती है कि भारत जैसे विकासशील देश में बढ़ती आबादी विकास के मार्ग में बाधक है। इसने हमारे लिए अनेक समस्याएँ उत्पन्न की हैं।

●●

बढ़ती जनसंख्या और हमारी नीतियाँ

उमा शंकर मिश्र

मानव इतिहास का अध्ययन करने से यह विदित होता है कि जनसंख्या की समस्या आदि काल से ही मानव मस्तिष्क को ओलोड़ित करती रही है। यूनानी (ग्रीक) दार्शनिकों, विशेषकर प्लेटो और अरस्तू ने अपने लेखों के माध्यम से जनसंख्या सम्बन्धी विषयों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। "रिपब्लिक" में प्लेटों ने जनसंख्या-वृद्धि से मानव कल्याण पर पड़ने वाले प्रभावों का वर्णन किया है। नगर राज्य के उचित आकार तथा प्रजनन सुधार सम्बन्धी उनके विचार आदर्श समाज की उनकी अवधारणा पर आधारित थे, परन्तु अरस्तू ने इस आदर्श समाज की अवधारणा को अस्वीकार करते हुए विवाह के नियन्त्रण तथा संयम द्वारा जनसंख्या की रोक पर बल दिया है। रोमन साम्राज्य को अपनी विस्तारवादी नीति के कारण लड़ाकू सैनिकों की आवश्यकता थी अतएव वे बढ़ती हुई जनसंख्या के पक्ष में थे। आगस्टस के जनसंख्या सम्बन्धी विचार विवाह को प्रोत्साहन देते थे।

हमारे विकास के सभी प्रयत्नों का एक ही लक्ष्य है—लोगों के जीवन-स्तर को सुधारना। हमारे देश की जनसंख्या गरीबी-अमीरी के अलावा कई अन्य वर्गों में विभाजित है। देश की जनसंख्या को उच्च, मध्यम, निम्नऔ र बिना आय की श्रेणियों में बाँटा गया है। कुछ ऐसे सम्पन्न लोग जो महानगर में रहते हैं, सबेरे कलेवा घर पर, दोपहर का भोजन किसी अन्य महानगर में और उसी दिन वापस आकर अपने साधनसम्पन्न घरों में रात्रि-भोजन करने की क्षमता रखते हैं। कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं जो अपनी दो जून की रोटी भी नहीं जुटा पाते। हमारे देश की जनसंख्या दिन-प्रति-दिन अधिक होती जा रही है और इसका विस्तार भयंकर रूप लेता जा रहा है। जनसंख्या विशेषज्ञों का मानना है, और उनकी इस बात में हमें कोई सन्देह भी नहीं दिखायी देता है, कि अगर इस विस्तार को समय रहते हुए नहीं रोका गया तो हमारी स्थिति ऐसी बन जायेगी जिस पर कोई भी देश गर्व नहीं कर सकता है। अर्थशास्त्रियों का एक ही मत है कि जनसंख्या-वृद्धि ने योजनाबद्ध विकास के सभी प्रयासों को विफल कर दिया है।

जनसंख्या पर प्रतिबन्ध

बढ़ी हुई जनसंख्या को घटाने तथा नया सन्तुलन स्थापित करने के लिए प्रकृति स्वयं आगे बढ़ती है और नैसर्गिक रोक लगा देती है—जैसे महामारी, दुर्भिक्ष, बाढ़, युद्ध, भूकम्प आदि। इससे देश में घोर विपत्ति आती है। असंख्य लोग असामयिक मृत्यु के शिकार होते हैं और समाज में नाना प्रकार के दुराचार फैलते हैं। दूसरे प्रकार के प्रतिबन्ध वे होते हैं, जो निरोधक या स्वयं मनुष्य द्वारा लागू किये जाते हैं—जैसे अपेक्षाकृत अधिक आयु में विवाह, युवक एवं युवतियों द्वारा ब्रह्मचर्य संयम का पालना इत्यादि। माल्थस का विचार था कि मनुष्य स्वयं प्रतिबन्धक प्रणालियों द्वारा जनसंख्या को सीमित रखें। प्रकृति द्वारा लागू की गयी नैसर्गिक रोकों से मृत्यु संख्या बढ़ती है। नकारात्मक प्रणाली में, निरोधक रुकावटों से जन्मदर में कमी आती है। यह एक धनात्मक प्रणाली है। नैसर्गिक रोक अब हीन कुचक्र के समान है अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह स्वयं मान्य संयम द्वारा जनसंख्या सीमित रखें।

शोध छात्र, शीलाधर मृदा शोध संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-2

जनसंख्या का आधुनिक या अनुकूलतम सिद्धान्त

जनसंख्या सम्बन्धी आधुनिक विचारधारा अनुकूलतम या आदर्श सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है। **हेनरी सिजविक** ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था और बाद में **कैनन** ने इसे व्यवस्थित किया। **कार सांडर्स** ने इसका वैज्ञानिक प्रतिपादन करके इसे प्रसिद्ध बना दिया। अनुकूलतम जनसंख्या का अर्थ किसी देश में उपलब्ध समस्त साधनों को ध्यान में रखते हुए एक आदर्श संख्या है, यही संख्या किसी देश के लिए सर्वश्रेष्ठ एवं वांछनीय मानी गयी है। जब किसी देश की वास्तविकता जनसंख्या न तो अधिक है और न कम—बस ठीक उतनी है, जितनी उस देश के साधनों की मात्रा, औद्योगिक ज्ञान तथा पूंजी की मात्रा को देखते हुए होनी चाहिए, तो यह कहा जाता है कि अमुक देश की जनसंख्या सर्वोत्तम बिन्दु पर है। अतएव आदर्श जनसंख्या वह है, जिसका आकार और संगठन इस प्रकार से हो जो किसी विशेष समय में वहाँ प्राकृतिक स्रोतों का अधिकतम शोषण करने में समर्थ हो, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति की वास्तविक आय, आर्थिक कल्याण तथा जीवन-स्तर उच्चतम हो सके। आदर्श जनसंख्या के सिद्धान्त का यही उद्देश्य है। यह वह संख्या है जो किसी देश में होनी चाहिए। यदि वास्तविक जनसंख्या इस आदर्श संख्या से अधिक है तो जनाधिक्य की समस्या पैदा हो जायेगी, जो हानिकारक होगी क्योंकि उस हालत में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में कमी हो जावेगी और यदि वास्तविक जनसंख्या इससे कम है तो भी हानिकारक है, क्योंकि प्राकृतिक स्रोतों के अभाव में प्रति व्यक्ति आय पुनः कम हो जावेगी।

भारत की जनसंख्या 1951 में 36 करोड़ 10 लाख से बढ़कर 1981 में 68 करोड़ 40 लाख हो गयी। 1990 में 83 करोड़, 1991 में लगभग यह 85 करोड़ हो गयी। यदि अगले दशक में वृद्धि की दर कुछ कम भी हो जाती है तो इस शताब्दी के अन्त तक भारत की जनसंख्या लगभग एक अरब हो जायेगी। इन परिस्थितियों को देखते हुए एक प्रमुख सवाल जो उभर कर हमारे सामने आता है वह यह है कि यदि जनसंख्या में वृद्धि की वर्तमान रफ्तार जारी रहती है और इसे कम करने के प्रयासों में प्रगति धीमी बनी रहती है, तो क्या यह मामूली प्रति व्यक्ति आय दर भी बनी रह सकती है? प्रायः कहा जाता है कि जनसंख्या विस्फोट अन्य समस्याओं की ही तरह अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है। अमेरिका के धनी देश, पूर्वी एवं पश्चिमी यूरोप के देश तथा प्रशान्त क्षेत्र के देश भी वहाँ की आबादी का प्रबन्ध कर लेंगे। परन्तु एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के विकासशील देशों में यह संख्या ऐसी स्थिति में पहुँच चुकी है कि उसका प्रबन्ध करना कठिन कार्य हो गया है और इस प्रकार जिस रफ्तार से जनसंख्या बढ़ती जा रही है, उसे महसूस किये बिना नहीं रहा जा सकता है।

यह स्थिति कितनी खतरनाक हो सकती है इसे सिद्ध करने के लिए कुछ ही उदाहरण पर्याप्त हैं। ब्रिटेन की जनसंख्या 590 लाख पर स्थिर हो जावेगी यानीं वर्तमान प्रतिशत स्तर से यह केवल 15 प्रतिशत ज्यादा होगी। इसके विपरीत नाइजीरिया की 1000 लाख आबादी 5320 लाख पर पहुँच कर ही रुकेगी।

भारत की दीर्घकालीन सम्भावनाएँ इससे थोड़ी ही कम भयावह हैं। जनसंख्या की वृद्धि दर में जब तक कोई नाटकीय या अप्रत्याशित कमी नहीं होती है, तब तक वर्ष 2010 तक भारत की आबादी चीन की आबादी को भी पीछे छोड़ देगी और यह 1.7 अरब पर स्थिर होगी। 1940 के दशक के प्रारम्भ में समूचे विश्व की जनसंख्या लगभग यही थी। इन आँकड़ों को देखकर बिना किसी कार्यवाही के इन्हें यों ही नहीं छोड़ा जा सकता है। यदि जन-संख्या वर्तमान रफ्तार से ही बढ़ती रही तो ऐसा कोई तरीका नहीं है, जिससे विकास सन्दर्भ में प्रति व्यक्ति आय दर

सम्भव होगी। कम उपलब्ध साधनों पर अत्यधिक दबाव बढ़ेगा। इसके अतिरिक्त जनसंख्या में विस्फोटक वृद्धि तथा पर्यावरण में लगातार ह्रास—विशेषकर भूमि, पानी एवं वन संसाधनों का सतत ह्रास परस्पर खतरनाक स्थिति उत्पन्न करने वाले हैं। इनका मिला-जुला प्रभाव हर हालत में विनाशकारी होगा। इसलिए जनसंख्या नियन्त्रण की एक जोरदार नीति तथा पर्यावरण को पुन: ठीक करने के लिए संकल्पबद्ध अभियान साथ-साथ चलाया जाना चाहिए, क्योंकि एक के अभाव में दूसरा प्रयास सफल नहीं हो सकता है।

भारत में जनसंख्या के परिप्रेक्ष्य में सबसे पहले संघ का आम सम्मेलन भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना के पहले वर्ष 1951 में हुआ था। इस सम्मेलन को पं० जवाहर लाल नेहरू ने सम्बोधित किया था। उस समय भारत की जनसंख्या की चर्चा करते हुए नेहरू जी ने कुछ इस तरह की टिप्पणी की थी—"मेरे पास 48 करोड़ समस्याएँ हैं।" प्रधानमन्त्री की उक्त टिप्पणी से जनसंख्या की समस्या के बारे में भारत की चिन्ता बिल्कुल स्पष्ट थी। इस प्रकार जनसंख्या विकास प्रक्रिया का विषय एवं लक्ष्य दोनों ही है। 1954 में नेहरू जी ने यह टिप्पणी की थी—"हमारे लोग हमारी दौलत हैं, हमें उन्हें केवल जगाने की जरूरत है।" उनकी टिप्पणी में चीन की शैली की झलक मिलती है। दो भिन्न-भिन्न प्रणालियों को अपनाने वाले देश चीन एवं सोवियत संघ ने उन्हें प्रभावित किया था। तब उन्होंने कहा था "अपनी जरूरतों के लिए सभी सड़कों, सभी रेलों, सारे स्कूलों, सारे अस्पतालों और मकानों का स्वयं निर्माण करने, अनाज उगाने एवं कपड़ा बुनने के लिए हमारे पास 40 करोड़ दिल एवं 80 करोड़ हाथ और पाँव होंगे।"

स्वतन्त्रता से पूर्व भारत में मृत्यु एवं प्रजनन दरें अधिक थीं और जनसंख्या कुल मिलाकर स्थिर थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की अवधि में मृत्यु दर में तो कमी आयी, लेकिन प्रजनन दर पहले की भाँति अधिक रही। इसका परिणाम यह हुआ कि जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। 1971-81 के दौरान जनसंख्या वृद्धि की वार्षिक दर काफी अधिक (2.8 प्रतिशत) थी। स्वतन्त्रता के बाद से हमारी जनसंख्या बढ़कर लगभग दुगनी हो गयी। 1987 के नमूना पंजीकरण प्रणाली के अनुमानों के अनुसार जन्मदर 32 और मृत्युदर 10.8 प्रति हजार थी, इस प्रकार जनसंख्या वृद्धि की वार्षिक दर 2.12 प्रतिशत थी। जनसंख्या वृद्धि के मौजूदा रुख को देखते हुए यह आशा की जाती है कि सातवीं योजना के अन्त तक मृत्यु दर सम्बन्धी लक्ष्य प्राप्त कर लिए जायेंगे, लेकिन जन्मदर में अपेक्षित कमी का लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकेगा। ऐसी सम्भावनाएँ हैं कि सातवी योजना के अन्त तक हम ज्यादा से ज्यादा 29.1 प्रति हजार की जन्म दर और 10.4 प्रति हजार की मृत्यु दर प्राप्त कर सकेंगे। उपरोक्त आँकड़ों से यह संकेत मिलता है कि जनसंख्या की वृद्धि दर 2.13 से घटकर 1.52 हो जायेगी, लेकिन जन्म के समय बच्चों के जीवित रहने की सम्भावनाएँ—लड़के एवं लड़कियों दोनों की—उल्लेनीय रूप से बढ़ जावेंगी।

क्या बढ़ती हुई जनसंख्या सर्वदा हानिकारक ही है? माल्थस और उनके अनुयायियों के अनुसार जनसंख्या में वृद्धि सर्वदा अभिशाप ही है। परन्तु यह भी सही नहीं कि वृद्धि सदैव दु:खदायी ही होती है। सर्वोत्तम जनसंख्या सिद्धान्त हमें जनसंख्या की गति को ठीक से समझने में सहायता पहुँचाता है। यदि वास्तविक जनसंख्या आदर्श जन संख्या से कम है तो जनसंख्या में वृद्धि होने से ही प्रति व्यक्ति आय बढ़ेगी और इसलिए वृद्धि वांछनीय होगी। बढ़ती हुई जनसंख्या कभी-कभी आर्थिक विकास में सहायक होती है तथा उत्पादन को प्रोत्साहित करती है। श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण के लिए अच्छा अवसर मिलता है और बाजार का विस्तार करके धन्धों के विकास में सहायक होती है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब वास्तविक संख्या अनुकूलतम बिन्दु से कम होगी।

इसलिए हमारे लिए यह आवश्यक हैं कि भावी नीतियाँ ज्यादा मजबूती से गरीबी को कम करने, उत्पादक काम के अवसर पैदा करने, उपभोक्ता वस्तुओं की पर्याप्त आपूर्ति करने तथा हमारे समाज के कमजोर वर्ग को बुनियादी सुविधाओं की ओर केन्द्रित करने के लिए विशेष बल दें।

किसी भी देश या सम्पूर्ण विश्व के आर्थिक विकास पर जनसंख्या वृद्धि के परिणामों पर विचार करते समय दो स्थितियों को प्रमुख रूप से ध्यान में रखना होगा : पहला आज की स्थिति, दूसरा 2050 की स्थिति। वर्ष 2050 को खासतौर से चुन रहा हूँ, क्योंकि तब तक पृथ्वी पर निवास के मामले में जो कई अन्य बातें जुड़ जायेंगी, उनके सन्दर्भ में नये मानकों का महत्व हो जायेगा। यह नया मानदण्ड विश्व के गर्म होने के कारण है जिसे 'हरित गृह प्रभाव' के नाम से जाना जाता है। हरित गृह प्रभाव के कारकों—कार्बनडाइऑक्साइड, मीथेन, नाइट्रस ऑक्साइड, क्लोरोफ्लूरो कार्बन तथा जल वाष्प शामिल हैं। ये वातावरण में तीव्र गति से बढ़ रहे हैं। इसका सबसे खतरनाक प्रमाण अंटार्कटिक प्रदेश में ओजोन की सुरक्षा छतरी में छिद्र के रूप में दिख रहा है। इसके अलावा ऊपरी वातावरण में स्ट्रैटोपाज से अधिक ऊँचाई पर आयनमण्डल में मानव गतिविधियों का भी प्रभाव पड़ेगा जिनमें अन्तरिक्षयानों द्वारा छोड़े कचरे, उच्च क्षमता, उच्च आवृत्ति वाली रेडियोसक्रिय पदार्थ तथा बिजली की लाईनों में गड़बड़ी का प्रभाव शामिल है। अब हमने भूमि से कई हजार किलोमीटर ऊपर तक समूचे पर्यावरणीय क्षेत्र को मान्यता देना शुरू कर दिया है और इस तथ्य को स्वीकार कर लिया है कि विभिन्न स्तर के पदार्थ और ऊर्जा के प्रवाह के जरिये परि-वर्तन हो रहे हैं, क्योंकि ये सभी स्तर किसी न किसी रूप में मानव गतिविधियों द्वारा प्रभावित होते हैं। इसलिए बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताएँ और पर्यावरण के विभिन्न स्तरों पर इनके प्रभावों और ऐसी परिस्थितियों में अपनायी गयी नीतियाँ बहुत महत्वपूर्ण हो जाती हैं।

शहरी जनसंख्या में वृद्धि, गाँवों से शहरों को पलायन द्वारा हो रही है। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए 5 बड़े राज्यों—उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान, बिहार और मध्यप्रदेश में शहरी और ग्रामीण जनसंख्या में अनुमानित वृद्धि की दर 1966 से 2001 के बीच इस प्रकार है—

राज्य	ग्रामीण वृद्धि दर प्रति वर्ष %	शहरी वृद्धि दर प्रति वर्ष %
उत्तर प्रदेश	0·5	5.1
उड़ीसा	0.4	4.7
राजस्थान	1.1	4.4
बिहार	1.4	4.4
मध्यप्रदेश	0.2	3.9
अखिल भारत	0.7	3.4

इस प्रकार सबसे पिछड़े राज्यों में गाँवों से शहरों की ओर जाने की प्रक्रिया तेज है किन्तु यह स्थिति सबसे अधिक शहरीकृत और औद्योगिक दृष्टि से विकसित राज्यों की स्थिति से भिन्न है।

राज्य	ग्रामीण प्रतिवर्ष प्रतिशत	शहरी प्रतिवर्ष प्रतिशत
महाराष्ट्र	0.6	2.6
पश्चिम बंगाल	0.8	2.3
गुजरात	0.6	2.3
तमिलनाडु	0.6	1.8

उपर्युक्त दोनों तालिकाओं से यह बात स्पष्ट है कि ज्यादा पिछड़े हुए राज्यों में जनसंख्या बढ़ने से ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक मन्दी बढ़ती है और लोगों को गैर-कृषि कार्यों की ओर मुड़ना पड़ता है। इस तरह से काम क्योंकि मुख्य रूप से शहरों में ही मिलते हैं इसलिए गाँवों के लोग कस्बों एवं शहरों में चले जाते हैं। बिहार जैसे घनी आबादी वाले राज्यों में यह स्थिति और भी स्पष्ट रूप से देखने में आयी है।

एक सर्वेक्षण के अनुसार 1987-88 में देश में 237.67 मिलियन (23 करोड़ 76 लाख 70 हजार) जनसंख्या गरीबी की रेखा के नीचे जीवन-यापन कर रही थी।

एक दूसरे अनुमान के अनुसार यह संख्या 1989-92 तक घटकर 20 करोड़ 8 लाख तक रह जाने की सम्भावना है।

रोकथाम की नीतियाँ

बड़ी जनसंख्या वरदान है या अभिशाप? उन देशों के लिए यह वरदान हो सकती है जहाँ श्रमिकों की कमी की वजह से जनसंख्या की वृद्धि आवश्यक हो, परन्तु सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री **प्रोफेसर भवतोष दत्त** के अनुसार भारत में बढ़ती जनसंख्या विकास के मार्ग में अनेक बाधायें उत्पन्न कर रही है। उनके अनुसार विकास संसाधनों का बड़ा हिस्सा केवल आवश्यक सप्लाई और सेवाओं को बनाये रखने में लग जाता है। जहाँ वे इस विचार से सहमत हैं कि दर कम करने के मौजूदा परिवार नियोजन कार्यक्रम कुछ हद तक उपयोगी रहे हैं, वहीं उन्होंने शिक्षा के प्रसार पर जोर दिया है, जिसकी सहायता से लोगों के दृष्टिकोण को दबाने में मदद मिलेगी। उनके मत में महिलाओं तथा निरक्षर वयस्कों की शिक्षा दीर्घकालीन उपाय है। जीवन को बेहतर तरीके से जीने की इच्छा सर्वव्यापी है। शिक्षा यह सन्देश पहुँचाने में पूर्णतया सक्षम है कि छोटा परिवार अधिक सुखी परिवार होता है।

वरिष्ठ अर्थशास्त्री **डॉ० राव** ने यह सुझाव दिया है कि महिलाओं को बच्चों को जन्म देने और उनके लालन-पालन तक ही सीमित न रखकर उन्हें सामाजिक जीवन में अधिक सक्रिय भूमिका देखकर जनसंख्या में वृद्धि की दर को नीचे लाया जाना चाहिये। उनके अनुसार इसके लिए एक जबरदस्त प्रचार अभियान की जरूरत पड़ेगी, जो लोगों को अधिक बच्चे होने के आर्थिक दुष्परिणामों और हर परिवार को छोटा रखने के अच्छे नतीजों से परिचित करायेगा। वे इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि जनसंख्या वृद्धि और आर्थिक विकास एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, बल्कि वे आवश्यक आर्थिक विकास प्राप्त करने में एक दूसरे के पूरक हैं। प्रसिद्ध जनसंख्याशास्त्री **प्रवीण बिसारिया** ने स्पष्ट

किया है कि भारत की जनसंख्या को कम करने के लिए भारत "प्रति परिवार एक बच्चा" के सिद्धान्त को लागू करने में चीन की नीति का अनुकरण करे।

सन् 1949 में पहली बार आम आदमी के हित के लिए परिवार नियोजन कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये। दो वर्ष बाद भारत सरकार ने परिवार नियोजन सम्बन्धी सरकारी नीति की घोषणा की उस समय सरकारी तौर पर परिवार नियोजन का समर्थन करने वाला भारत दुनिया का पहला देश था। 1952 से सरकारी परिवार कल्याण कार्यक्रमों के अन्तर्गत ले लिया गया है। पहली दो पंचवर्षीय योजनाओं के आधीन परिवार कल्याण कार्यक्रम को साधारण रूप में चालू किया गया, परन्तु तीसरी योजना में इस कार्यक्रम को पुर्नगठित किया गया, कार्यक्रम के नैदानिक स्वरूप के साथ-साथ प्रचार का भी काम अपनाया गया, जिसके अन्तर्गत कार्यक्रम के सन्देश, सेवाओं और गर्भ-निरोधक वस्तुओं को लोगों तक पहुँचाया गया।

1966 में इसके लिए पूर्णरूपेण विभाग बनाया गया। तीनों एक वर्षीय योजनाओं (1966-69) के अंतर्गत इस कार्यक्रम को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी। चौथी, पाँचवी योजनाओं के अन्तर्गत परिवार कल्याण सेवाओं को स्वस्थ बच्चों की देखभाल और पोषण सम्बन्धी सेवाओं के साथ अधिकाधिक समन्वित करने का प्रयत्न किया गया। छठी योजना के अन्तर्गत इस कार्यक्रम को प्रमुख प्राथमिकता दी गयी है, जिसकी जिम्मेदारी केन्द्रीय सरकार की है। इसका मुख्य उद्देश्य कुल जन्मदर को 1996 तक एक प्रतिशत लाना है।

ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यक्रमों का और विस्तार किया जायेगा ताकि वह सुदूर क्षेत्रों तक पहुँच सके। इसका प्रसार प्राथमिक स्वास्थ केन्द्रों तथा उपकेन्द्रों के द्वारा किया जायेगा। साथ ही परिवार कल्याण कार्यक्रम में परिवार कल्याण सामग्री, बाल स्वास्थ्य तथा प्रतिरोधीकरण कार्यक्रम को भी इन्हीं के साथ जोड़ा गया। साथ ही 5780 अन्य संस्थाएँ भी सेवा प्रदान कर रही हैं। परिवार नियोजन कार्यक्रम के बारे में भ्रान्तियों को दूर करने और लोगों को शिक्षित करने में प्रेस, फिलम, रेडियो, दूरदर्शन तथा नाटकमण्डलियों का उपयोग किया जाता है। स्कूलों और विश्व-विद्यालयों में जनसंख्या सम्बन्धी शिक्षा को शुरू किया जा रहा है। सभी सरकारी और गैरसरकारी एजेंसियों जैसे—श्रमिक संघों, सहकारी समितियों और पंचायतों आदि का सहयोग लिया जा रहा है।

परिवार नियोजन के अन्तर्गत वन्ध्याकरण तथा लूप निरोध, खाने की गर्भ निरोधक गोलियाँ, चिकित्सीय गर्भपात के कार्यक्रमों के प्रभाव द्वारा सन्तानोत्पत्ति करने योग्य अनुमानतः 12·61 करोड़ युगलों में से, जिनमें पत्नियों की आयु गर्भधारण योग्य अर्थात् 15-44 वर्ष के बीच थी, 31·9 प्रतिशत युगल परिवार कल्याण के किसी-न-किसी अनुमोदित तरीके के द्वारा 31 मार्च 1984 तक सन्तानोत्पत्ति से बचे। एक अनुमान के अनुसार 1990 तक इस कार्य के फलस्वरूप 15 करोड़ 50 लाख जन्म रोके गये।

भारत में परिवार नियोजन सेवाओं के विस्तार में संयुक्त राष्ट्र संघ का उल्लेखनीय योगदान है। तृतीय विश्व के देशों में जनसंख्या नियन्त्रण सम्बन्धी प्रयासों में सहयोग के लिए 1967 में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने इस संस्था की स्थापना की। फण्ड की सहायता से इस समय 110 देशों में 1500 से अधिक कार्यक्रम चल रहे हैं, जिन पर कुल लागत 45 करोड़ डॉलर है। करीब 130 देश इस फण्ड से सम्बन्धित हैं। भारत में फण्ड 1969 से सक्रिय है। फण्ड की सहायता से चेम्बूर (बम्बई) में एक जननांकिकी प्रशिक्षण केन्द्र चलाया जा रहा है। अन्य जिन क्षेत्रों में

फण्ड की सहायता का उपयोग हुआ है, वे हैं जच्चा-बच्चा स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार, दाइयों का प्रशिक्षण, स्कूलों, नर्सिग कॉलेजों तथा मेडिकल कॉलेजों में स्वास्थ्य शिक्षा, जनसंख्या वृद्धि एवं जनगणना विषयों पर सेमिनार तथा नसबन्दी शिविरों का आयोजन। इन कार्यक्रमों के लिए फण्ड ने लगभग 20 लाख डॉलर की सहायता दी थी।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य डॉ० हेंडरसन का यह विचार था कि यह कार्य उतना आसान नहीं है। स्वास्थ्य सेवाओं के लिए सैकड़ों नहीं, हजारों व्यक्तियों की आवश्यकता है। अशिक्षित एवं नाममात्र शिक्षित व्यक्तियों के लिए अपनी बात समझाने के तरीके निकालने होंगे। पंचायत, दूकानदार, स्कूल मास्टर आदि हर तबके का व्यापक सहयोग लेना होगा। तभी योजनाओं की सफलता की आशा की जा सकती है।

परिवार नियोजन को सफल बनाने के लिए सरकारी उपायों द्वारा लोगों के व्यवहार को बदलना और अनेच्छिक संगठनों का सहयोग लेकर ही कार्यक्रम में प्रगति की जा सकती है। परिवार को छोटा क्यों और कैसे रखें, इस सिद्धान्त को अपनाने के लिए न केवल व्यक्तियों को बल्कि समुदायों को सहमत कराना आसान नहीं है। लेकिन समझा-बुझाकर और शिक्षित कर लोगों को इसके लिए सहमत किया जा सकता है। ऐच्छिक संगठनों को इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी पड़ेगी। इसके अलावा सभी दलों के नेताओं का इस कार्यक्रम में सक्रिय सहयोग लेना जरूरी है ताकि प्रजनन क्षमता वाले दम्पतियों को छोटा परिवार सिद्धान्त अपनाने के लिए प्रेरित किया जा सके। इस प्रयोजन के लिए आवश्यक है कि केन्द्रीय व राज्य सरकार प्रचार के सभी माध्यमों का, जिनमें विस्तार सेवा के जरिये प्रेरणा देना भी शामिल है, उपयोग करें तथा इस कार्यक्रम में ग्राम पंचायतें भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करें। ग्राम पंचायतों में इस कार्य को स्वयं चलाने की पूरी क्षमता है, जिसे अधिकाधिक मान्यता दी जानी चाहिए। परिवार नियोजन कार्यक्रम की सफलता मुख्य रूप से इस बात पर निर्भर करती है कि स्कूलों में अधिक से अधिक कितनी छात्राओं को प्रवेश देकर उन्हें इस प्रकार के राष्ट्रीय कार्यक्रम के महत्व को समझाया जा सकेगा।

विश्व बैंक ने हाल ही में एक रिपोर्ट प्रकाशित की है, जिसमें यह निराशावादी चित्र प्रस्तुत किया गया है कि जिन देशों में प्रति व्यक्ति आमदनी बहुत कम है, उन देशों में शताब्दी के अन्त तक गरीबी की समस्या बनी रहेगी। विकासशील देशों में जनसंख्या के सन् 2000 तक बढ़ते-बढ़ते 350 करोड़ हो जाने का अनुमान लगाया गया है, जबकि 1975 में यह जनसंख्या 210 करोड़ ही थी। अफ्रीका एवं एशिया के कम आयु वाले देशों में जनसंख्या वृद्धि की दर अपेक्षाकृत कम रही है। भारत में 1976 के दौरान कृषि क्षेत्र का उत्पादन देश में कुल उत्पादन का 47 प्रतिशत था, जबकि देश की कुल जनसंख्या में से 76 प्रतिशत लोग ग्रामीण क्षेत्रों के निवासी थे। वास्तव में पिछले दो वर्षों में भारतीय कृषि ने उत्साहवर्धक प्रगति की है, लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि यदि जनसंख्या में वर्तमान दर से ही वृद्धि होती रही तो उससे न केवल निर्धनता बढ़ेगी बल्कि हमारे देश का भविष्य भी खतरे में पड़ सकता है।

संसद सदस्यों के संघ द्वारा परिवार नियोजन कार्यक्रमों को अपनाने वालों को प्रोत्साहन देने के लिए यह घोषणा की गई है कि दो बच्चों के पश्चात् वन्ध्याकरण कराने वाले युगलों (Couples) को 1000 रुपये और तीन बच्चों के पश्चात् वन्ध्याकरण कराने वाले युगलों को 200 रुपये देने का सुझाव दिया है। साथ ही केन्द्रीय सरकार ने सभी राज्यों को यह निर्देश भेजा है कि उन सभी व्यक्तियों को जो दो बच्चों के पश्चात् अपना वन्ध्याकरण करायेंगे, उन्हें हरे कार्ड दिये जायेंगे, जो कि मान्यता (Recognition) और प्राथमिकता (Priority attention) को दर्शायेंगे और ऐसे व्यक्तियों को विशेष क्षेत्रों में प्राथमिकता दी जायेगी।

ग्रामीण क्षेत्रों में विशेष योजनाओं के अन्तर्गत निम्नलिखित तीन योजनाओं को क्रियान्वित किया जा रहा है—

(1) अखिल भारतीय अस्पताल प्रसवोत्तर कार्यक्रम,

(2) वन्ध्यकरण शय्या योजना, तथा

(3) वन्ध्याकरण तथा एम० टी० पी० सुविधाओं के लिए प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों का नवीनीकरण करना।

अखिल भारतीय अस्पताल प्रसवोत्तर कार्यक्रम का उद्देश्य प्रसव और गर्भपात के लिए अस्पतालों में भर्ती महिलाओं में परिवार कल्याण के सन्देश का प्रचार करने के लिए शुरू किया गया। यह कार्यक्रम अब 4-5 अस्पतालों में चलाया जा रहा है।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट होता है कि भारत में जनसंख्या को कम करते के क्षेत्र में निम्नांकित नीतियों को अपनाना आवश्यक है :

(1) अनिवार्य वन्ध्यकरण

(2) विवाह की न्यूनतम आयु में वृद्धि

(3) राज्यों की वित्तीय सहायता

(4) वन्धीकरण के लिए वित्तीय सहायता

(5) लड़कियों की शिक्षा

(6) व्यापक प्रचार

(7) आय कर में छूट

(8) सामूहिक प्रेरणा

(9) जनसंख्या शिक्षा।

●●

जनसंख्या : एक नवीन दृष्टिकोण

डॉ० पद्‌मा सिंह

तथ्यों के अम्बार में गये बिना आज यह बात तो स्पष्ट है कि तीसरी दुनिया के लिए जनसंख्या एक समस्या है । लेकिन जिस तरह से सरकार, अकादमीशियन, वैज्ञानिक आदि सुर में सुर मिला रहे हैं कि जब तक जनसंख्या को रोका नहीं जायेगा तब तक विकास के धनात्मक परिणाम नहीं मिल सकते हैं, इस तरह से समस्या को देखना एकदम गलत है । यह समस्या का एक पक्ष है, किन्तु पूरी समस्या का केन्द्र कहीं और है ।

एक तरफ कृषि वैज्ञानिक दावा करते हैं कि (किसी सम्मेलन में कोट किया गया था) अगर हम 'ड्राई लैंड फार्मिंग' कर लें तो एक भारत क्या, हम इससे कई गुना ज्यादा आबादी को खिला सकते हैं । पूरे वैज्ञानिक-तकनीकी क्षमता के आधार पर हमारा विश्व में तीसरा स्थान है, लेकिन वास्तविकता यह है कि अभी भी हमारी आबादी के एक बड़े हिस्से को कड़ी मेहनत के बाद भी दो जून की रोटी नसीब नहीं हो पाती है ।

हम जानते हैं कि अशिक्षा जब तक रहेगी, जनसंख्या पर कोई बौद्धिक या सामाजिक आन्दोलन या समझ हम उत्पन्न नहीं कर पायेंगे । कमर तोड़ती मँहगाई ने बाल मजदूरों की लम्बी तादाद खड़ी कर दी है । खेलने और क ख ग को पहचानने की उम्र में ये बाल मजदूर किसी के बगीचे के फूल सँवारने, किसी रेस्तरां के प्लेट धोने या किसी अन्य इसी तरह के काम के लिए विवश हैं ।

दूसरी तरफ विकास के आँकड़े यह जरूर बताते हैं कि आज एक भारतीय की औसत आयु 57 वर्ष है, किन्तु बाल मृत्यु दर में कोई उल्लेखनीय कमी नहीं आ पायी है ।

अभी औरत की आजादी के अंकुर ही फूट रहे हैं । महिला की विकास यात्रा तो अभी बहुत लम्बी है । ऐसे में यह कहना कि महिलाएँ क्या भूमिका निभा सकती हैं, कठिन है ।

किन्तु जहाँ तक औरत के महत्व की बात है तो वह किसी से छिपी नहीं है । पूरी दुनिया के श्रम का 75% औरतें सम्पादित करती हैं । उसी के श्रम पर परिवार की बुनियाद खड़ी है । लेकिन वास्तविकता यह है कि अभी उसे स्वयं अपनी अस्मिता की पहचान नहीं है । परिवार में बच्चों की संख्या का निर्धारण या परिवार नियोजन के उपायों को अमली जामा पहनाने में भी पुरुष ही निर्णायक भूमिका निभाते हैं । इसलिए पहली आवश्यकता है उसकी मानसिकता को बदलना, नारी को उसके अस्तित्व की पहचान कराना ।

जनसंख्या के ही सन्दर्भ में एक और बात जो ध्यान देने योग्य है और वह है हमारी रूढ़ियाँ और अन्ध-विश्वास । विज्ञान की तीसरी ताकत के रूप में उभर कर विश्व के सामने आने वाला भारत अभी भी जनसामान्य में

शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

वैज्ञानिक मानसिकता का प्रसार कर सकने में पूरी तरह सफल नहीं हो पाया है। विज्ञान का ज्ञान मात्र विज्ञान की मोटी-मोटी पुस्तकों, सुन्दर प्रयोगशालाओं, बड़ी-बड़ी संगोष्ठियों और बड़े-बड़े पुरस्कारों तक ही सीमित है। यह कैसी विडम्बना है कि शिक्षक का कार्य कक्षा में विद्यार्थियों को मात्र पुस्तकीय ज्ञान देना ही है। देश के सुदूर अंचलों में आज भी तमाम बीमारियों का इलाज झाड़-फूंक ही है अतएव वैज्ञानिक मानसिकता और जनसंख्या नियन्त्रण के प्रचार-प्रसार पर बल देने की विशेष आवश्यकता है।

आज समय आ गया जब वैज्ञानिक अपनी प्रगति संगोष्ठियों, पुस्तकों, पुरस्कारों में न आँक कर जन-सामान्य के बीच जाकर उनकी समस्याओं को समझने में आँकें, तभी हम किसी सन्तोषप्रद लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।

स्मरण रहे, यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो आने वाली पीढ़ियाँ हमें कभी क्षमा नहीं करेंगी।

●●

जनसंख्या वृद्धि और जल समस्या

डॉ० रामगोपाल[1] एवं डॉ० सुशीला राय[2]

आज विश्व की जनसंख्या सन् 1950 की तुलना में दुगनी हो गई है। इस वृद्धि दर से शताब्दी के अन्त तक 6 अरब से अधिक हो जायेगी। आज उत्पन्न हुआ बालक जब अपने अवकाश ग्रहण की चिन्ता में निमग्न होगा तब तक यह जनसंख्या पुनः दोगुनी हो जायेगी। उस समय पृथ्वी पर 10 अरब व्यक्ति निवास कर रहे होंगे। किस प्रकार वह रह रहे होंगे, क्या उनकी समस्यायें होंगी ? इनका उत्तर निर्भर करता है इस बात पर कि हम आज उनके लिए क्या करने जा रहे हैं। सन् 2010 तक 300 से 400 प्रतिशत तक जल निष्कासन की आवश्यकता होगी। इस बढ़ोत्तरी का मुख्य अंश कृषि की आवश्यकता पूर्ति है। संयुक्त राष्ट्र के 1967 के आकलन के अनुसार मनुष्य की कुल आवश्यकता में आने वाले जल 70 प्रतिशत भाग कृषि में होता है। कृषि में उपयुक्त इस जल का अधिकांश भाग वाष्पीकरण, वृक्षों द्वारा अवशोषण और लवणीकृत हो जाने के कारण पुनः उपयोग में नहीं है लिया जा सकता है।

इस जनसंख्या वृद्धि के साथ यदि नगरों के विकास पर हम नजर डालें तो हमें ज्ञात होता है कि 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मात्र 3 प्रतिशत विश्व की आबादी नगरों में रह रही थी, परन्तु 21वीं शताब्दी के प्रारम्भ में नगरों और उपनगरीय बस्तियों में विश्व की जनसंख्या का 50 प्रतिशत से अधिक भाग अपने अस्तित्व के लिए

1. उप-निदेशक एवं राष्ट्रीय संयोजक, पश्चिमी अंचल-क्षेत्रीय केन्द्र, राष्ट्रीय पेयजल मिशन, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर-342 001

2. वरिष्ठ वैज्ञानिक, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर-342 001

संघर्ष कर रहा होगा। उपरोक्त वर्णित 10 अरब व्यक्तियों में से 8 अरब से अधिक लोगों का आवास विकासशील देशों में होगा।

सन् 1950 में नगरीय जनसंख्या 30 करोड़ थी और प्रत्येक वर्ष इसमें 4.5 से 5 करोड़ की गति से वृद्धि हो रही है। सन् 1960 में विकासशील देशों में 1 करोड़ आबादी वाला संघाई अकेला शहर था। सन् 2000 में ऐसे 20 महानगर होंगे, जिनमें विकासशील देशों में 17 होंगे। जब आज अनेक देशों में जल समस्या विकराल रूप धारण किए हुए है तो उस समय क्या स्थिति होगी, सोचकर ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

भारत की जनसंख्या 1987 में विश्व की जनसंख्या का 15.2 प्रतिशत थी। आज 1991 में यह 16 प्रतिशत है और सन् 2000 में अनुमानत: 1 अरब हो जायेगी। स्वास्थ्य मन्त्रालय के आँकड़ों के अनुसार 1989 में देश की औसत जन्मदर 30.6 प्रति हजार थी। वर्ष 1983 में बनी राष्ट्रीय नीति में सन् 2000 तक जन्मदर 21 प्रति हजार रखी जाने का लक्ष्य रखा गया है। उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान तथा मध्यप्रदेश वे चार बड़े राज्य हैं जहाँ कि परिवार कल्याण कार्यक्रम कतई सन्तोषजनक ढंग से नहीं चल रहे हैं। इनके अलावा गुजरात, हरियाणा, केरल, उड़ीसा तथा पंजाब जैसे अन्य प्रान्त हैं जहाँ जन्मदर अधिक है। इन प्रान्तों में सरकार द्वारा तैयार की गई एक कार्य योजना के अन्तर्गत अत्यधिक जन्मदर वाले 90 जिलों का चुनाव किया गया है, जहाँ जनसंख्या दर सुधारने के लिए विशेष कार्यक्रम शुरू किये जा रहे हैं। वर्ष 1989 के आँकड़ों के अनुसार केरल सबसे कम जन्मदर का प्रान्त पाया गया, लेकिन इसी का एक जिला भल्लापुरम् इन 90 जिलों के श्रेणी में है जहाँ कि औसत जन्मदर 39.32 प्रतिशत है। केरल के अलावा शेष आठ राज्यों की औसत जन्मदर निम्नवत् हैं : बिहार 34.3, गुजरात 28.7, हरियाणा 25.2, मध्यप्रदेश 35.5, उड़ीसा 30.5, राजस्थान 34.2, उत्तर प्रदेश 33.5 और पश्चिमी बंगाल 27.2।

विश्व जल संसाधन : विश्व के जलसंसाधनों पर यदि हम दृष्टि डालें तो लगभग 99 प्रतिशत जल महासागरों व ध्रुवीय हिम के रूप में विद्यमान है। विश्व में उपलब्ध जल की मात्रा का वितरण सारणी 1 में दर्शाया गया है। पृथ्वी पर पानी की कुल मात्रा लगभग 146 करोड़ घन कि०मी० है जो कि स्थिर और सीमित है। यह हमारे 70 प्रतिशत धरातल को ढँके हुए हैं, परन्तु इतना पानी होते हुए भी स्वच्छ पीने योग्य मीठा पानी लगभग 1 प्रतिशत ही उपलब्ध है। विशेषज्ञों के अनुसार जल-चक्र से जो आकलन किया गया है, उसके अनुसार लगभग 400×10^5 घन कि० मी० जल वाष्पित हो उड़ जाता है। इसमें 3.4×10^5 घन कि०मी० समुद्र से और 0.6×10^6 घन कि०मी० जल पृथ्वी की सतह से वाष्पित होता है। लगभग 4.4×10^6 घन कि० मी० जल वर्षा और हिम के रूप में भूमि पर गिरता है। जमीन पर गिरने वाले जल की मात्रा 1×10^6 घन कि० मी० तथा समुद्र की सतह पर गिरने वाले जल की मात्रा 3.4×10^6 घन कि० मी० है। इसमें से नदियाँ 0.4×10^6 घन कि० मी० जल प्रवाहित कर समुद्र में ले जाती हैं (सारणी-2)।

भारत के जल संसाधन और जल-आवश्यकता : मनुष्य जल पीने और भोजन बनाने के अतिरिक्त नहाने-धोने, कृषि, बागवानी, पशु-पालन, उद्योगों, मत्स्य-पालन, वातानुकूलन, ताप-ऊर्जा उत्पादन, अवशिष्टों के घोलन व वाहन, अग्नि शमन, मनोरंजन से जुड़ी क्रियाओं जैसे तरण-ताल, नौका चालन, जल-मार्गों आदि में प्रयोग में लाता है। असीम जल संसाधनों के होते हुए भी अनेक क्षेत्रों में जल-अकाल की स्थिति बनी रहती है। जनसंख्या वृद्धि, पश्चिम की

सारणी 1

जलमण्डल में जल का वितरण

क्र० सं०	जल का वितरण	प्रतिशत
1.	महासागरों का जल	97.1
2.	सतही जल	02.26
	क ध्रुवीय वर्फ व ग्लेशियर का जल	02.24
	ख पेयजल की झीलें	00.009
	ग खारे पानी की झीलें व सागरों का जल	00.008
	घ झरनों का जल	00.0001
3.	महाद्वीपों का भू-जल	00.61

सारणी 2

विश्व का जल सर्वेक्षण

क्र० सं०	उपलब्ध जल	प्रतिशत	मात्रा (घन किलोमीटर)
1.	जल संसाधन	100	1384×10^6
2.	मीठा जल	2.6	360×10^5
3.	काम में आने वाला मीठा जल	0.24	288×10^4
4.	कुल सिंचन	0.03	423×10^3
5.	भू-सिंचन	0.007	970×10^2
6.	मीठे जल की खपत	0.0002	2838
7.	पेयजल की खपत	0.000015	201

संस्कृति और पश्चिम के साम्राज्यवादी, पूंजीवादी संस्कृति और विज्ञान के नाम पर औद्योगीकरण ने भारत का ही नहीं, सारे पूर्व के देशों के भौगोलिक, ऐतिहासिक और सामाजिक सन्तुलन को बिगाड़ दिया है और एशिया तथा अफ्रीका के देशों को भुखमरी, गरीबी, बीमारी, अकाल और विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। हमारे

जल संसाधन इससे अछूते नहीं रहे हैं। इनकी दुर्व्यवस्था, अज्ञान और अधिक दोहन व प्रदूषण से अत्यन्त दुखद स्थिति बन गयी है। उदाहरण के लिये देश के जल संसाधनों को लें। भारत के उत्तरी सिरे पर तीन हजार कि० मी० लम्बी विराट हिमालय पर्वतमाला से लेकर दक्षिण, पूर्व और पश्चिम के विशाल भारत महासागर, अरब सागर व बंगाल सागर के विराट जल स्रोत हैं। उत्तर में सप्त सिन्धु और गंगा-ब्रह्मपुत्र के तथा दक्षिण में गोदावरी, कृष्णा और कावेरी के विशाल स्रोत हैं। दूसरी ओर उत्तर-पश्चिम में राजस्थान, गुजरात, कच्छ के प्रदेश हैं, जो जलहीन, बालुकामय मरु-प्रदेश हैं जहाँ वर्षा ऋतु में 1 या 2 माह बहने वाली नगण्य नदियाँ हैं जहाँ बालकों को अनेक वर्षों तक वर्षा की बूंद देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। मरुभूमि के 2500 मि० मी० वार्षिक सिंचन क्षेत्र से चेरापूंजी के 10,000 से 12000 मि० मी० वाले क्षेत्र के सभी नागरिक समुचित जल-व्यवस्था न होने से अक्सर प्यासे रहते हैं। जनसंख्या वृद्धि के दुष्प्रभाव के कारण अनेक वर्षों में जल बिकता है। सन् 1990 में तो प्रसिद्ध जोधपुर नगर व उप-नगरों में जल रेल द्वारा लाया गया और इस वर्ष (1991) पश्चिमी राजस्थान के अनेक गाँवों में पेयजल टैंकरों द्वारा वितरित किया जा रहा है।

भारतीय मानक (आई० एस० 1172-1971) के अनुसार घरेलू कार्यों के लिए साधारण स्थिति में औसतन प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन लगभग 135 लीटर जल उपयोग के लिए दिया जाना चाहिये (सारणी 3)। विकासशील देशों में यह मात्रा 350 लीटर प्रति व्यक्ति प्रतिदिन तक आँकी गयी है।

सारणी 3

घरेलू जल खपत की मात्रा

खपत	जलमात्रा (लीटर)
पीने के लिये	5
रसोई	5
स्नान	55
कपड़ा धोना	20
बर्तन धोना	10
गृह प्रक्षालन	10
शौच मल वाहन	30
I S 1172-1971	135 लीटर/दिन/व्यक्ति

बढ़ती जनसंख्या के साथ बढ़ती आवश्यकताओं और उद्योगों के लिये जल चाहिये। परोक्ष व अपरोक्ष रूप से उद्योगों में अत्यधिक जल का उपयोग हो रहा है। विशेषकर जल का ऊष्मा उत्पादन और शीतक के रूप में उपयोग है। जहाँ खाद्य सामग्रियों के उत्पादन में जल एक कच्चे माल के रूप में काम में लाया जाता है, वहीं रंगने, छापने और

अन्य उद्योगों में विलायक के रूप में अत्यधिक उपयोगों में लिया जाता है। कुछ प्रमुख उद्योगों में जल की मात्रा सारणी 4 में दी गयी है।

सारणी 4

प्रमुख उद्योगों में प्रयुक्त जल की मात्रा

उद्योग	उत्पाद इकाई	जल मात्रा (कि० ली० प्रति इकाई)
स्वचालित वाहन	वाहन	40
मद्य आसवन्	कि० ली०	122-170
उर्वरक	टन	80-200
चर्म	100 कि० ग्रा०	4
कागज	टन	200-400
खनिज तेल-शोधन	टन	1.5-2
स्टील	टन	200-250
शर्करा	टन	1-2
कपड़ा	100 कि० ग्रा०	8-14

जनसंख्या के आधार पर नगरीय निवासी जल का अत्यधिक उपयोग करते हैं। अगली शताब्दी के प्रारम्भ तक नगरीय जनसंख्या जो लगभग 50 प्रतिशत से अधिक हो जायेगी, किन जल स्रोतों पर निर्वाह करेगी ? देश के कुछ प्रमुख नगरों में जल की खपत सन् 1989 के आधार पर सारणी-5 में दी गई है।

सारणी 5

भारत के कुछ नगरों में जल की खपत

नगर	खपत (ली० प्रति व्यक्ति प्रतिदिन)	नगर	खपत (ली० प्रति व्यक्ति प्रतिदिन)
आगरा	115	हैदराबाद	205
इलाहाबाद	125	कानपुर	205
बंगलोर	90	लखनऊ	90
भोपाल	100	मद्रास	70

बम्बई	150	मदुराई	120
कलकत्ता	190	पटना	115
दिल्ली	160	पूना	275
गया	205	वाराणसी	115
ग्वालियर	90		

Jr. IWWA 1989, Apr-June, 169.

यदि हम एक भारतीय नगर की जल-आवश्यकताओं पर ध्यान दें तो निम्न गणना के अनुसार हमें प्रति-दिन प्रति व्यक्ति को 270 लीटर जल उपलब्ध कराना होगा।

(क)	घरेलू उपयोग	135 ली०/व्यक्ति/दिन
(ख)	औद्योगिक उपयोग	40 ,, ,,
(ग)	सार्वजनिक उपयोग	25 ,, ,,
(घ)	अग्निशमन मांग	15 ,, ,,
(ङ)	ह्रास, दुरुपयोग आदि	55 ,, ,,
	कुल	270 ली०/व्यक्ति/दिन

संयुक्त राष्ट्र जल सम्मेलन व अन्तर्राष्ट्रीय पेयजलदाय व स्वच्छता दशक (1981-90)

विश्व में जल प्रदूषण और पेयजल की उपलब्धि के महत्व पर विचार करने हेतु 1977 में संयुक्तराष्ट्र संघ ने जल सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन में प्रथम बार पेयजल और स्वच्छता के विषय को अन्य-जल मुद्दों से अलग किया और यह सुझाव दिया कि शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों को यदि सम्भव हो 1990 तक जल उपलब्ध कराने के लिए जल गुणवत्ता तथा मात्रा के वास्तविक मानकों के साथ दशक नीति को अपनाने के कार्यक्रम किए जायें। सम्मेलन ने अनुमोदन किया कि प्रत्येक देश जल की अत्यधिक आवश्यकता वाली जनसंख्या को प्राथमिकता देते हुए सामुदायिक जल सप्लाई तथा स्वच्छता हेतु राष्ट्रीय योजनाएँ तथा कार्यक्रम बनायें। इसके परिणामस्वरूप 1 अप्रैल 1981 को भारत में जलदशक कार्यक्रम की शुरुआत की गयी ताकि 31 मार्च 1991 तक जनसंख्या को कवर करने के वास्तविक लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके। भारत में दशक की शुरुआत में जलदाय और स्वच्छता की स्थिति नगरीय और ग्रामीण जनसंख्या के आधार पर सारणी-6 में दी गयी है।

सारणी 6

भारत में पेयजल और स्वच्छता सुविधाओं की स्थिति

क्षेत्र		लाभान्वित जनसंख्या (%)		
		1981	1985	1990
जलदाय				
	नगरीय	72.3	72.9	86.4
	ग्रामीण	30.8	56.2	73.2
स्वच्छता				
	नगरीय	25.1	28.4	44.7
	ग्रामीण	0.5	0.7	1.8

संयुक्त राष्ट्र जल सम्मेलन (1977) में पारित प्रमुख निर्णयों के मुख्य अंश निम्न हैं :

(अ) पारित प्रस्ताव

- प्रत्येक धनाड्य व निर्धन को जो किसी भी रंग व जाति का हो, अपनी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समुचित मात्रा में स्वच्छ पेयजल प्राप्त करने का अधिकार है।
- यह सिफारिश की जाती है कि प्रत्येक राष्ट्र पेयजलदाय और जल-मल निष्कासन को प्राथमिकता दे।
- संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्य देशों से अनुरोध किया जाता है कि इस सम्बन्ध में कार्यक्रम बनाये कि किस प्रकार वे 1990 तक नगरीय व ग्रामीण क्षेत्रों में स्वच्छ पेयजल सुलभ करा पाना सम्भव कर सकेंगे।

(ब) वित्तीय लाभ

- कम अस्वस्थ्यता के कारण कम मानव शक्ति का ह्रास।
- देश में अधिक जनशक्ति की उपलब्धता।
- चिकित्सा व्यय में कमी।
- आय वृद्धि तथा
- अधिक रोजगार।

(स) **पर्यावरणीय लाभ**

- ○ स्वच्छ आवास, नगर और ग्राम ।
- ○ भू-जल एवं सतही जल का कम प्रदूषण ।
- ○ जलस्रोतों का अधिक अच्छा उपयोग ।
- ○ बाढ़ में कमी और
- ○ भू-क्षरण में कमी ।

इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत पेयजल एवं जलमल निष्कासन के कार्यक्रम पिछले वर्षों विशेषकर 5 वर्षों में प्राथमिकता के आधार पर नगरों एवं गाँवों में किये जा रहे हैं । सीवर-लाइनों, जलकूप और जलदायों का निर्माण एवं विकास, प्रसार और व्यवसायीकरण भी किया गया है ।

राष्ट्रीय पेयजल मिशन : भारत सरकार ने इस मूल आवश्यकता की पूर्ति करने हेतु 1986 में राष्ट्रीय मिशन प्रारम्भ किया था । सातवीं पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भिक वर्ष 1985 में भारत में 1,61,772 ऐसे समस्याग्रस्त गाँव थे जहाँ या तो कोई स्वच्छ पेयजल स्रोत न था या निकटतम जलस्रोत 1.6 कि० मी० से अधिक दूर था । जल मिशन ने राष्ट्रीय स्तर पर सम्मेलन गोष्ठियाँ व कार्यशालाएँ आयोजित की, सर्वेक्षण कराये तथा देश में उपलब्ध समस्त वैज्ञानिक व तकनीकी जानकारी एकत्रित की, जिसके आधार पर देश की पेयजल क्षेत्र की समस्त मूल समस्याओं का पता लगाया गया और समाधानों से सम्बन्धित विधिवत् कार्यक्रम बनाकर उन्हें क्रियान्वित किया । पेयजल कार्यक्रमों के अन्तर्गत निम्न उप-मिशन है :

- ○ खारेपन पर नियन्त्रण ।
- ○ फ्लोरोसिस पर नियन्त्रण ।
- ○ अधिक लोहे को दूर करना ।
- ○ गिनी कृमि को दूर करना ।
- ○ वैज्ञानिक तरीकों से जल स्रोतों का पता लगाना, जल संरक्षण और भूमिगत जल की सम्पूर्ति ।
- ○ जल गुणवत्ता की निगरानी ।

भारत की 75 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में निवास करती है । अतः गाँवों में शुद्ध पेयजल उपलब्ध कराने को प्राथमिकता देने हेतु पेयजल मिशन को कृषि मन्त्रालय के ग्रामीण विकास विभाग के अन्तर्गत रखा गया था । वर्तमान सरकार ने विभाग को क्रमोन्नत कर ग्रामीण विकास मन्त्रालय बनाकर सर्वोच्च प्राथमिकता दी है । गाँवों को जल उपलब्ध कराने के लिए निम्नलिखित मानदण्डों को अन्तिम रूप दिया गया है :

(क) मानवीय उपयोग के लिए प्रतिदिन, प्रति व्यक्ति 40 लीटर स्वच्छ पेयजल ।

(ख) मरुस्थलीय जिलों में पशुओं के लिए प्रतिदिन प्रति पशु 30 लीटर अतिरिक्त जल ।

(ग) जलस्रोत 15 मीटर को न्यूनतम गहराई तथा 100 मीटर की ऊँचाई के अन्तर पर 1.6 कि० मी० की दूरी पर मौजूद होना चाहिए।

(घ) उस जल को स्वच्छ जल माना गया है जो जीवाणु प्रदूषण (गिनीकृमि, हैजा, टायफाइड) से मुक्त हो और जिसमें रासायनिक तत्व (अधिक फ्लोराइड, खारापन, अधिक लौह, आरसेनिक, नाइट्रेट आदि) मौजूद न हों।

देश में 55 मिनी-मिशन जिलों का चुनाव किया गया है जहाँ पेयजल समस्या अति दुष्कर है। उपमिशन के कार्यक्रमों के अन्तर्गत प्रारम्भ में मिनी-मिशन जिलों में कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिये गये थे। इनके अन्तर्गत निम्नलिखित जल सर्वेक्षण एवं शोधन कार्यक्रम हाथ में लिये गये हैं :

(क)	लौह दूर करने वाले संयन्त्रों की स्थापना	11,780
(ख)	फ्लोराइड दूर करने के संयन्त्र	130
(ग)	जलगुणवत्ता जाँच प्रयोगशालाएँ	85 (स्थिर) और 17 (चल)
(घ)	खारापन दूर करने के संयन्त्र	130
(ङ)	गिनीकृमि दूर करना (स्टेप कुँओं को स्वच्छ कुँओं में बदलना)	5,578

इसके अतिरिक्त पेयजल व्यवस्था की सुविधाएँ सुलभ कराने में, सोलर फोटोवोल्टिक पम्पिंग प्रणालियाँ, रिग निष्पादन, वैज्ञानिक रूप से जल स्रोतों का पता लगाना आदि सम्मिलित है। ग्रामीण पेयजल व्यवस्था के क्षेत्र में भारत की उपलब्धि देखते हुए संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत "SAFE WATFR-2000" विषय पर सितम्बर 1990 में नई दिल्ली में विश्व सम्मेलन आयोजित किया गया था।

जल गुणवत्ता परीक्षण एवं सर्वेक्षण : विश्व स्वास्थ्य संगठन ने मई 1979 में संयुक्त राष्ट्र संघ पर्यावरण के कार्यक्रम के अन्तर्गत भूमण्डलीय पर्यावरय जाँच प्रणाली (ग्लोबल इनवायरेनमेन्ट मॉनीटरिंग सिस्टम, जैम्स) समन्वय केन्द्र की स्थापना की थी। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत विश्व के पर्यावरण की जाँच के अतिरिक्त मानव स्वास्थ्य और प्रमुख प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा करना है। इस कार्यक्रम में जल व वायु गुणवत्ता की जाँच की जा रही है। जल जाँच के अन्तर्गत (जैम्स-वाटर) 300 जाँच केन्द्र, नदियों, झीलों और भू-जल-स्रोतों पर स्थापित किये गये हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन के क्षेत्रीय कार्यालयों के माध्यम से इस परियोजना पर कार्य हो रहा है।

राष्ट्रीय पेयजल मिशन के 5 क्षेत्रीय केन्द्रों (सारणी-7) और प्रान्तीय सरकारों के जन अभियांत्रिकी विभागों के अन्तर्गत जल गुणवत्ता परीक्षण का कार्य किया जा रहा है। पेयजल मिशन के अनुसार उस जल को शुद्ध पेयजल माना गया है जो कि जल रोग से सम्बन्धित कीटाणु, पेथोजनिक कीटाणु, विषैले पदार्थों, अत्यधिक लवणों और कार्बनिक पदार्थों से मुक्त हो। जिनसे कि शरीर पर अनैच्छिक प्रभाव होते हैं। ये जल रंग, टरबीडिटी, स्वाद व गंध से मुक्त होने के अतिरिक्त सामान्य तापक्रम वाले और ऑक्सीकृत होने चाहिए। पीने के लिए प्राप्त प्राकृतिक जल को चार समूहों में बाँटा जा सकता है :

(i) वातावरणीय जल,

(ii) सतही जल,

(iii) एकत्रित जल और

(iv) भू-जल ।

इन जलों में वातावरण और मृदा में उपस्थित रसायन सम्पर्क में आने पर घुलनशील अवस्था में प्रवेश कर जाते हैं और जल को उसके अनुकूल स्वाद, गंध, रंग प्रदान करते हैं । घुलनशील लवणों की मात्रा में परिवर्तन साधारणतया तब तक नहीं होता जब तक बाहरी प्रदूषण और अत्यधिक वाष्पीकरण न हो । परन्तु वायु, मिट्टी, जल-मल; मृत पौधों और पशुओं आदि के कारण जीवाणु प्रदूषण होता है । जो जलजन्य रोगों का कारण है ।

सारणी—7

जलमिशन द्वारा नामांकित क्षेत्रीय केन्द्र

क्रमांक	अंचल	प्रान्त/केन्द्र शासित क्षेत्र	क्षेत्रीय केन्द्र
1.	पूर्वी एवं उत्तर पूर्वी अंचल	अंडमान-निकोबार द्वीप समूह, पश्चिम बंगाल, सिक्किम, आसाम, नागालैंड, मनीपुर, त्रिपुरा, मेघालय व बिहार	आल इण्डिया इन्स्टीट्यूट ऑव हाइजीन एण्ड पब्लिक हेल्थ, 110 चितरंजन एवेन्यू, कलकत्ता (प० बं०)
2.	उत्तरी अंचल	जम्मू-कश्मीर, पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, दिल्ली और चण्डीगढ़	इन्डस्ट्रीयल टॉक्सीकोलाजिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पो० बा० नं० 80, लखनऊ (उ० प्र०)
3.	पश्चिमी अंचल	राजस्थान, गुजरात दमन और दिव्यू	रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर (राजस्थान)
4.	केन्द्रीय अंचल	महाराष्ट्र, गोवा, दादर, नगर हवेली मध्यप्रदेश और आन्ध्रप्रदेश	भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र, ट्राम्बे, मुंबई
5.	दक्षिणी अंचल	केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक, पांडेचेरी और लक्षद्वीप	श्री जयचामराजेन्द्र कॉलेज ऑव इंजीनियरिंग, मैसूर (कर्नाटक)

मानव स्वास्थ्य को सर्वाधिक हानि पहुँचाने वाले रोगजनक सूक्ष्म जीवों द्वारा प्रदूषित जलजन्य रोगों को पाँच प्रमुख वर्गों में बाँटा गया है :

(क) विषाणुजन्य रोग : पीलिया, पोलियो, डेंगू आदि ।

(ख) जीवाणुजन्य रोग : हैजा, टायफाइड, पेचिश, अतिसार आदि ।

(ग) प्रोटोजोआ जन्य रोग : अमीबारुग्णता, जियार्डिया रुग्णता आदि ।

(घ) कृमिजन्य रोग : गोलकृमि, कृषाकृमि, सूत्रकृमि आदि ।

(ङ) लेप्टोस्पाइरा रुग्णता : नेलस रोग ।

इन रोगों पर नियन्त्रण करने के लिए जल गुणवत्ता जाँच और जल शुद्धिकरण आवश्यक है । जल गुणवत्ता जाँच के विभिन्न परीक्षण सारणी-8 और जल शोधन की विधियाँ सारणी 9 में संकलित की गई हैं ।

उपरोक्त विधियों के अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रों में पारम्परिक तरीकों से वर्षा जल को एकत्रित करने और स्वच्छ रखने के साथ उचित भण्डारण पर बल देने की आवश्यकता है । स्वास्थ्य एवं जन जागरूकता कार्यक्रमों में सुलभ शौचालय का प्रयोग, पेयजल स्रोतों को मल व अन्य प्रदूषणों से बचाव और स्वच्छता पर विशेष ध्यान देना है । पेयजल के सभी कार्यक्रमों में महिलाओं की प्रारम्भ से ही भागीदारी पूर्ण सफलता प्राप्त करने में अहम् भूमिका निभायेगी ।

सारणी 8

जलगुणवत्ता जाँच : विभिन्न परीक्षण

क्रमांक	परीक्षण	अवयव
1.	भौतिक	रंग, गंध, स्वाद, धुंधलापन, चालकता (घुलनशील लवण)
2.	रासायनिक	कार्बनिक यौगिक, अकार्बनिक लवण, धातु पदार्थ
3.	सूक्ष्मजीवीय	मल-प्रदूषण सूचक ई० कोलाई, सल्फाइड अपचायी जीवाणु, लौह जीवाणु, विभिन्न कृमि
4.	रेडियोधर्मी	प्रकृति में उपलब्ध

सारणी 9

जल शोधन विधियाँ

क्रमांक	विधि	विवरण
1.	भण्डारण	विविध टैंक, टांका, घड़ा आदि
2.	स्कन्दन तलछटीकरण फिल्टरण	फिटकरी, बालू छन्ने, सूक्ष्म छलनी, अन्य फिल्टरण के उपकरण
3.	वायुमिश्रण, उबालकर छानना	फौबारा, वायुदाब द्वारा उबालना
4.	आयन विनियम रेजिन	अकार्बनिक लवण (धनायन एवं ऋणायन)

5.	निर्लवणीकरण	आसवन की विधियाँ, सौर ऊर्जा द्वारा विद्युत् डायोलिसिस, विपरीत परासरण
6.	निर्जर्लीकरण या रोगाणुनाशन	क्लोरीन, ब्लीचिंग पाउडर, हाइपो क्लोराइट, पोटैशियम परमैग्नेट (लाल दवा), ओजोन, पराबैंगनी किरणें, हैलोजन युक्त रेजिन, उबालना व विशिष्ट फिल्टरीकरण

विश्व जल समस्या

विकासशील देशों में आधी से अधिक जनसंख्या निर्धनता और कुपोषण की शिकार है। अफ्रीकी देशों में इसकी संख्या 70 प्रतिशत है। सन् 2000 में विश्व में इन निर्धनों की संख्या, जो स्वच्छ पेयजल के लिए संघर्ष कर रहे होंगे, 77 प्रतिशत तक होगी। आज विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार 1 अरब 20 करोड़ लोगों को स्वच्छ पेयजल और 1 अरब 80 करोड़ लोगों को शौच की सुविधा विकासशील देशों में उपलब्ध नहीं है। सभी सदस्य देशों से स्वच्छता के कार्यक्रमों को प्राथमिकता के आधार पर क्रियान्वित करने पर बल दिया गया है ताकि जल सम्बन्धित रोगों द्वारा होने वाली अकाल मौतों से लोगों को बचाया जा सके।

अन्तर्राष्ट्रीय पेयजलदाय और स्वच्छता दशक के प्रयासों के बावजूद क्षेत्रीय जल आपूर्ति व जलगुणवत्ता में कमी के कारण स्थिति गम्भीर हुई है और अगली शताब्दी के मध्य तक यह जल संकट बद से बदतर स्थिति में पहुँच जायेगा। विश्व स्तर के अध्ययन के अनुसार आज कुल उपयोग में आने वाले जल की उपलब्ध मात्रा, जो 1000 से 5000 घन मीटर प्रतिवर्ष प्रतिव्यक्ति है, वह सन् 2030 तक 1000 घन मीटर प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति से कम निम्न देशों में हो जायेगी—केन्या, उगांडा, तंजानिया, मोजाम्बीक, अलजीरिया, तूनीसिया, मोरक्को, मोरिटानिया, पश्चिमी सहारा, मेक्सिको, पैरागुए, उरुगुए, अरजेन्टाइना, फिलीपाइन्स, इंडोनेशिया, बंगलादेश. पाकिस्तान, मिस्र, सीरिया और जोरडन। भारत आज 1000 से 5000 घन मीटर प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति वाली श्रेणी में आता है। अमेरिका, पूर्व यूरोपीय देश और यूरोपीय रूस में भी 10,000 घन मीटर प्रतिवर्ष प्रतिव्यक्ति से अधिक जल उपलब्धता घटकर 5000 से 10,000 घन मीटर प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति के मध्य रह जायेगी। जबकि कनाडा, आयरलैंड, स्कैंडीनेविया, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, सायबेरिया, मंगोलिया, बर्मा, ब्राजील, पेरू, बोलीविया, कोलम्बिया और बेनेज्वेला में सर्वाधिक जल उपलब्धता 10,000 घन मीटर प्रतिवर्ष प्रतिव्यक्ति से अधिक बन रहेगी। सारांश में सन् 2000 तक जनसंख्या वृद्धि के कारण आज कुल उपलब्ध जल की मात्रा में 35 प्रतिशत प्रतिव्यक्ति के हिसाब से कमी आयेगी।

आगामी वर्षों में जनसंख्या वृद्धि से ऊर्जा मँहगी हो जायेगी, जिसका पेयजल और सिंचाई योजनाओं पर सीधा प्रभाव पड़ेगा। ऊर्जा के लिए विशाल बाँध बनाकर पन-बिजली योजनाओं से अनेक लाभ के साथ स्वच्छ जल तथा तटीय पारिस्थितिक तन्त्र पर प्रभाव पड़ेगा परिणामस्वरूप अनेक क्षेत्रों के जलमग्न होने व बड़ी आबादी के स्थानान्तरण के साथ सिस्टोसोमायसिस, रिवर ब्लाइन्डनेस, मलेरिया आदि रोगों में वृद्धि होगी। प्रदूषण की मात्रा, जो दिनों दिन बढ़ती जा रही है, विकराल रूप ग्रहण कर लेगी। उर्वरक, कीटनाशक, जलमल तथा औद्योगिक अवशिष्ट जल को पर्याप्त विषैला बना देंगे। पारा, सीसा तथा अन्य भारी धातुएँ यौगिकों के रूप में समुद्रों को हलाहल प्राप्त होगा। इनमें से अनेक विषैले 50 से 100 वर्षों तक बिना विघटित हुए जल में पड़े रहते हैं और मछलियों, अन्य खाद्य जल-जन्तुओं अथवा सागर की जटिल खाद्य-श्रृंखला द्वारा हमारे शरीर में पहुँचकर प्रभावित करते हैं। समुद्र के ऊपर

तैरने वाला खनिज तेल जलचरों के जीवन के लिए विकट समस्या बन गया है। प्रतिवर्ष इसकी मात्रा बढ़ती जा रही है। अरब सागर के ऊपर 10 मीटर तक पानी में पेट्रोलियम हाइड्रोकार्बन की सान्द्रता 0.12 से 2.44 मि० ग्रा० प्रति लीटर तक हो गई है जबकि 50 मि० ग्रा० प्रति लीटर सान्द्रता में 50 प्रतिशत मछलियाँ 24 घन्टे में मर जाती हैं।

जनसंख्या वृद्धि का अन्य जल समस्याओं पर प्रभाव है—ईंधन व औद्योगिक विकास के लिए जंगलों का काटना। भारत में 1 लाख एकड़ वन भूमि को नष्ट कर दिया गया है। विश्व में 2.2 प्रतिशत प्रतिवर्ष की गति से लकड़ी के ईंधन की मांग बढ़ रही है, जो कि सन् 2000 तक 72.5 करोड़ घन मीटर तक हो जायेगी। वनों के इस निरंकुश नाश से ऐसी सम्भावना है कि सन् 2100 से 2200 के मध्य वातावरण में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा दोगुनी हो जायेगी। यह विश्व के जल-सिंचन पर कुप्रभाव डालने के साथ पृथ्वी के मध्य भाग का तापक्रम 2 से 3° सेल्सियस तक बढ़ा देगा। इस तापक्रम की बढ़ोत्तरी सन् 2200 के बाद ध्रुवों पर 3 से 4 गुना अधिक हो सकती है। तापक्रम में 5° से० की बढ़ोत्तरी ग्रीनलैंड, साइबेरिया और आर्कटिक की बर्फ टोपियों को पिघलाकर समुद्र के स्तर को बढ़ा देंगे। यदि अन्टार्कटिका के दक्षिण गंगोत्री का बर्फ इस 5° से० तापक्रम बढ़ने के कारण पिघला तो 3 करोड़ घन मीटर जल प्राप्त होगा, जो कि उस क्षेत्र में 1600 मीटर तक गहरा होगा और विश्व की वार्षिक वर्षा के 30 प्रतिशत जल के बराबर होगा। समुद्र की सतह 50 मीटर ऊँची हो जायेगी जिसमें अनेक तटीय नगर जलसमाधि ले लेंगे।

●●

जनसंख्या वृद्धि के दुष्परिणाम

प्रेमानन्द चन्दोला

किसी देश की आबादी उसका आपेक्षिक घटक है। किसी देश के लिए अधिक आबादी अपेक्षित है तो किसी देश के लिए अनपेक्षित या हानिकारक। हमारे भारत के लिए तो आबादी की बढ़ोत्तरी अनपेक्षित ही नहीं हानिकारक और घातक है, भले ही भारत के कुछ आदिवासी क्षेत्रों में आबादी बहुत कम है, यानी इष्टतम मात्रा से कम, जैसे कि ओंगो, जरावा वाले क्षेत्रों में। वहाँ आबादी के बढ़ने पर जाने कैसी प्राकृतिक रोक लगी है कि वह बढ़ने नहीं दे रही है। लेकिन ऐसे क्षेत्र भारत के लिए अपवाद हैं और भारत की सामान्य आबादी से इनका कुछ लेना-देना नहीं है।

हर देश की आबादी इष्टतम ही होनी चाहिए, तभी उसका कल्याण है वरना हायतौबा से देश की और उसकी सभी इकाइयों की खैर नहीं। आज के सन्दर्भ में देश का हर नागरिक इस बात को बखूबी जानता है, लेकिन सच यह है कि आबादी का भूत सबको ग्रसता चला जा रहा है। आज महानगर से लेकर छोटे नगरों और कस्बों तक एक ही हाल है। लोग कीड़े-मकोड़ों की तरह चारों ओर चिल्ल-पों करते नजर आते हैं और सोचने पर मजबूर होना

ई-1, साकेत, एम० आई० जी० फ्लैट, नई दिल्ली-110017

पड़ता है कि बीसवीं सदी के विकसित आदमी का क्या यही हश्र है ? सारा दर्शन सोचने से ही उजागर होता है । जो सोचे नहीं या जिसके पास सोचने वाला दिमाग नहीं वह सुखी इन्सान है ।

आबादी का गुब्बारा दिन दूनी और रात चौगुनी रफ्तार से फूलता चला जा रहा है और अगर इस रफ्तार में कमी नहीं हुई तो यह तय है कि यह गुब्बारा लचीलेपन और तनन सामर्थ्य के बाहर होने पर जोरों से फटेगा ही । माल्थस के नियम से भी सभी अच्छी तरह परिचित हैं, कोई नई बात नहीं है । लेकिन यह सोच पढ़े लिखे समझदार लोगों तक ही सीमित है । आबादी का असली और अधिकांश अनुपात तो अनपढ़, नासमझ, गैर जिम्मेदार और बेअसर आम लोगों का है । इन्हें समय की नाड़ी-नब्ज से कोई सरोकार नहीं, उनकी तरफ से देश और दुनिया जाये भाड़ में । वे तो रोज की मौज मस्ती के आलम में बेखबर हैं आबादी की चिन्ता से ।

घर-घर में सन्तानोत्पादन फैक्टरियाँ

भारत की आबादी की बढ़ोत्तरी का यह हाल है कि वह हर साल लगभग एक करोड़ सत्तर लाख की रफ्तार से बढ़ रही है जो कि आस्ट्रेलिया की जनसंख्या के बराबर बैठती है । देश के घर-घर में सन्तान-उत्पादन की फैक्टरियाँ हैं । फिर विडम्बना यह कि छोटे निर्धन घरों में सन्तानों का उत्पादन अधिक ही होता है भले ही उनके भरण-पोषण, कपड़े-लत्ते और पढ़ाई-लिखाई के पर्याप्त साधन न हों । कच्ची उम्र में लड़की की शादी होने पर जच्चा-बच्चा का स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता और न ही दो बच्चों के बीच में अन्तराल अधिक रह पाता है, जिसके परिणामस्वरूप स्त्रियाँ व बच्चे बीमार रहते हैं । इस तरह जब देश की अधिकांश आबादी अस्वस्थ, अशक्त, अशिक्षित, अदूरदर्शी और अपरिष्कृत रहेगी तो समूचे देश की नियति क्या होगी ?

नवम्बर, 1991 में आयोजित भारत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मेले में स्वास्थ्य तथा परिवार कल्याण मंडप में रखी 'जनसंख्या सूचक घड़ी' लोगों के आकर्षण का केन्द्र रही । इस घड़ी का प्रदर्शन संयुक्त राष्ट्र संघ के जनसंख्या कोष के तहत किया गया था । इसके अनुसार किसी भी काल बिन्दु पर भारत की अनुमानित आबादी की जानकारी ली जा सकती थी । ऐसी घड़ियाँ पूर्वयोजित इलेक्ट्रोनिक सूचनापट्ट हैं जिनमें समय, भारत की वर्तमान आबादी और भारत में आबादी सम्बन्धी प्रभावकारी कार्यों का लेखा-जोखा तुरन्त मिल जाता है । यही घड़ी परियोजना सरकार के जनसंख्या नियन्त्रण कार्यक्रम तथा प्रचार-प्रसार कार्यक्रम का एक अंग है, जो देश की आबादी की तस्वीर दिखा देता है ।

पंचवर्षीय योजना में अब शिक्षा और स्वास्थ्य को अधिक महत्व दिया जाएगा और तभी परिवार कल्याण अभियान को राष्ट्रव्यापी स्तर पर अधिक बल मिलेगा । 1975-77 के दौरान जनसंख्या नियन्त्रण कार्यक्रम को जो धक्का पहुँचा था उसके कारण इसकी गति बिगड़ती ही गई । लेकिन इसे अब गम्भीरतापूर्वक लिया जा रहा है वरना भविष्य में देश को गम्भीर समस्याओं का सामना करना पड़ेगा । हर राज्य को अपने जनसंख्या नियोजन लक्ष्य पूरे करने होंगे और ऐसा न कर पाने पर उनको दिये जाने वाले केन्द्रीय अनुदान में कटौती कर दी जाएगी । साथ ही अन्य केन्द्रीय परियोजनाओं में भी इसी तरह की कटौतियाँ की जायेंगी ।

उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार और मध्यप्रदेश के चार हिन्दी भाषी राज्यों में परिवार कल्याण कार्यक्रम पिछड़ते गये हैं, इसलिए इन पर विशेष ध्यान दिया जाना अपेक्षित है । जनसंख्या नियोजन के पहलू से इन राज्यों में

कार्यक्रम सम्बन्धी कोई बाधा नहीं है। समस्या रही है तो केवल अपर्याप्त सुविधाओं की, और अब इन सुविधाओं को बढ़ाये जाने की आवश्यकता है। आबादी के नियन्त्रण की दिशा में राजनैतिक तथा प्रशासकीय कर्णधारों तथा विभिन्न क्षेत्रों के लोगों को सम्बद्ध करने के लिए जनसंख्या आयोग के गठन किये जाने का भी प्रस्ताव है जिसके अध्यक्ष होंगे प्रधान मन्त्री। इसी तरह की राज्य स्तर की संस्थाओं के अध्यक्ष राज्यों के मुख्य मन्त्री होंगे। इस प्रसंग में किये गये सर्वेक्षण से स्पष्ट रूप से पता चला कि परिवार कल्याण उपायों की सफलता प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक स्तर और शैक्षिक स्तर से जुड़ी होती है। अतः सेवा और सुविधाएँ मुहैया कराने के साथ-साथ कार्यकारी योजना में दूर दराज के लोगों में जागरूकता पैदा करना बहुत जरूरी है। तभी जनसंख्या नियन्त्रण कार्यक्रम सही मायने में गतिमान और सार्थक हो सकता है।

अधिक आबादी भी प्रदूषण है

इसमें कोई शक नहीं कि अधिक आबादी भीषण प्रदूषण है। अधिक आबादी से पारिस्थितिक असन्तुलन होता है, जनसंख्या का समीकरण गड़बड़ा जाता है। इस असन्तुलन से बचने के लिए अनेक देशों ने अपनी जनसंख्या को न घटने दिया है और न बढ़ने दिया है बल्कि लगभग स्थिर रखा हुआ है। इसीलिए वहाँ हाय-हाय नहीं है और खुशहाली बरकरार है। देश की प्रगति तथा सुख-शान्ति के लिए इष्टतम जनसंख्या महत्वपूर्ण घटक है और अधिक आबादी से एक नहीं अनेक समस्यायें मुँह बाये खड़ी हो जाती है। आबादी की बढ़ोत्तरी से एक साधन सम्पन्न खुशहाल देश भी विपन्न और तंगहाल हो जाता है। देश में व्याप्त साधनों की व्यवस्था के अनुसार आबादी सम्पत्ति या परिलब्धि भी होती है अथवा अतिरिक्त भार या अभिशाप। अपने देश में आये दिन के अनुभवों से तो हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि आबादी हमारे लिए अभिशाप ही है क्योंकि हमें इसके भयंकर दुष्परिणाम भुगतने पड़ रहे हैं और भुगतने पड़ेंगे।

देश के विकास की प्रक्रिया में आबादी वस्तुतः सबसे अधिक क्रान्तिक चर है और आबादी की बढ़ोत्तरी से निबटने के लिए विज्ञान की जानकारी ही आधार प्रदान करती हैं। अनुभव के आधार पर प्रायः यही कथन दोहराया जाता है कि अधिक आबादी ही सारी समस्याओं की जड़ है—जैसे कि गरीबी, भुखमरी, पर्यावरणीय असन्तुलन, स्त्रियों का अपविकास, अल्प पोषण, कुपोषण, रोगव्याप्ति, भोजन का अभाव, जमीन की कमी, बेरोजगारी, बुद्धिजीवियों की अपेक्षा औसत से नीचे के स्तर के नागरिकों की अधिक संख्या, शिशु मर्त्यता, जच्चा मर्त्यता, गंदगी, प्रदूषण आदि-आदि। गरीबी अनेक पर्यावरणीय समस्याओं का कारण और परिणाम दोनों है। अधिक आबादी का मतलब है अधिक अन्न की आवश्यकता, आवास के लिए अधिक जमीन का तोड़ा जाना, झोपड़-पट्टियों का फैलाव, अधिक पेड़ों का नाश, अस्वच्छ और अस्वास्थ्यकर दशायें आदि। अधिक पेड़ कटेंगे तो भूमि का क्षारण होगा ही और पानी तथा अन्य संसाधनों का अभाव भी।

अतः इस पहलू को हमें व्यक्तिनिष्ठ भाव से नहीं वस्तुनिष्ठ भाव से देखना होगा और तभी विज्ञान के आधार पर समाधान सम्भव है। पलायन से तो काम चलने का नहीं, हमें तो समस्याओं से जूझ कर समाधान ढूँढ़ना होगा। इसलिए हमारी जनसंख्या व्यवस्था से जुड़े क्रिया-कलापों का बहुआयामी होना बेहद जरूरी है और उन्हें विभिन्न परिप्रेक्ष्यों से होकर जानकारी के विभिन्न स्रोतों से जुड़ना होगा। आबादी सम्बन्धी हमारी जानकारी बढ़ाने में जीव-विज्ञान, रसायन, भूविज्ञान, पुरातत्व, इतिहास, जनसांख्यिकी, संसाधन परिस्थितिविज्ञान, भौतिकी, मनोविज्ञान,

विकासात्मक अर्थशास्त्र, राजनीतिविज्ञान, भूगोल, मानवविज्ञान, जराविज्ञान, दर्शन, शिक्षा, संचार और प्रबन्धविज्ञान ने बहुत योग दिया है।

विभिन्न परिप्रेक्ष्यों से जनसंख्या के प्रश्न को जोड़ने में विभिन्न विशेषज्ञों और विद्वानों को अपने अनुभवों और ज्ञान के बल पर एक दूसरे को सम्पूरित करना होगा। अन्तरविषयक विचार-विमर्श से निश्चय ही हमें नया भावबोध मिलेगा और आबादी की समस्या को हल करने के लिए नई राहों और सीमाओं की पहचान हो सकेगी। लेकिन हमें यह रेखांकित करके रखना होगा कि हमारे अपने कल्याण के लिए जनसंख्या नियन्त्रण एक अनिवार्य और महत्वपूर्ण मद है।

जनन नियन्त्रण और सुजनन विज्ञान

जनसंख्या नियन्त्रण के पारम्परिक तथा सामान्य उपायों के साथ-साथ यदि हम ठेठ विज्ञान और प्रौद्योगिकी के युग में जनन नियन्त्रण के लिए यदि अधिक उन्नत वैज्ञानिक तकनीकों और सुजननविज्ञान (यूजेनिक्स) का भी सहारा लें तो श्रेयस्कर होगा। हमें हर दृष्टि से अपने समाज के हित के लिए सुमानवों की अपेक्षा है यानी सन्तुलित व सुलझे बुद्धिजीवियों की, जो अपना, समाज व देश का भला-बुरा समझ सकें और हर प्रघटना का आगा-पीछा देख सकें। लीक से पृथक इस सन्दर्भ में हमारे सामने दो नई संकल्पनाएँ उजागर होती हैं—जनन नियन्त्रण और सुजनन-विज्ञान की। यह तो तय है कि इनके कार्यान्वियन के लिए कुछ सरकारी, कुछ सामाजिक और कुछ वैधानिक नियम-उपनियम आवश्यक होंगे।

''सुजननविज्ञान जीवविज्ञान की वह शाखा है, जिसमें आनुवंशिकी (जेनेटिक्स) के ज्ञात तथ्यों के आधार पर मानव की भावी पीढ़ियों को अधिक उन्नत बनाने का प्रयास किया जाता है यानी मानव की नस्ल सुधार के प्रयोग किये जाते हैं।'' इसका उद्देश्य है सुसन्तति जनन।

सर फ्रान्सिस गाल्टन ने सन् 1883 में मानव के सन्दर्भ में जीवविज्ञान की इस विधा का सूत्रपात किया। मानव समुदाय का सुधार वातावरण के सुधार से भी सम्पन्न हो सकता है लेकिन सुजननविज्ञान के क्रियाकलापों का क्षेत्र केवल आनुवंशिक विधियों तक ही सीमित है। अन्य जीवों पर किए गए प्रयोगों के परिणाम मानव पर भी लागू होते हैं पर यह भी निश्चित है कि जीव विशेष के लक्षण आनुवंशिकी के अलग-अलग नियमों का पालन भी करते हैं और हरएक जीव के प्रसंग में आनुवंशिकता की जानकारी पृथक प्रयोगों से ही प्राप्त की जा सकती है। फिर मानव तो उच्चतम विकसित प्राणी है और उसमें भिन्नताएँ हो सकती हैं। मानव के आनुवंशिक अध्ययन के लिए बहुत लम्बी अवधि चाहिए यानी क्रमिक चार पांच पीढ़ियों की सम्यक जानकारी के लिए कम से कम एक सौ वर्ष की अवधि अपेक्षित है। इसी कारण सूक्ष्म अध्ययन के लिए इस सन्दर्भ में मानव को अच्छा और सुविधाजनक प्राणी नहीं कहा जा सकता। मानव और उसकी पीढ़ियों को सेम, मटर, मेंढक, चूहे, खरगोश वगैरह की तरह मनचाही तरह से इस्तेमाल नहीं किया जा सकता और न ही मनचाही तरह से उस पर प्रयोग किए जा सकते हैं। मानव की सामाजिकता और वैयक्तिक आजादी इसमें आड़े आ जाती है। पेड़-पौधों और छोटे जानवरों की तरह अनुपयुक्त तथा निकृष्ट मानवों को नष्ट भी नहीं किया जा सकता।

सुजननविज्ञान के पहलू से मानव का विभाजन मोटे तौर पर इन चार कोटियों में किया जा सकता है :

(1) विलक्षण रूप से प्रतिभाशाली व्यक्ति

(2) विशेष बुद्धि-कौशल वाले व्यक्ति

(3) सामान्य व्यक्ति और

(4) हीन व्यक्ति।

विलक्षण प्रतिभावान व्यक्ति बिरले ही होते हैं यानी करोड़ों में एक। ऐसी विभूतियाँ सामान्य लोगों का पथ-प्रदर्शन करती हैं। विशेष बुद्धि-कौशल वाले व्यक्ति लाखों में एक और नामी-गिरामी होते हैं। ये ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में यशस्वी होते हैं और अल्प संख्या में होते हैं।

तीसरी कोटि के व्यक्ति सामान्य बुद्धि के सामान्य लोग होते हैं जो समाज की मर्यादा के अनुसार चलते हैं। इसी कोटि के लोग वास्तविक 'मानव धन' हैं यानी सामान्य जनता।

चौथी कोटि के व्यक्ति यानी हीन व्यक्ति भी संख्या में कम होते हैं पर वास्तव में ये समाज पर दाग होते हैं। इनमें मन्द बुद्धि, विक्षिप्त, पागल, नसेड़ी, विकलांग, अपराधी; ऐबी, लती, भिखारी वगैरह सम्मिलित हैं।

देखा जाये तो हमारे समाज का हित तभी है जब पहली दो कोटि के प्रतिभावान व्यक्ति ज्यादा से ज्यादा संख्या में उत्पन्न हों और चौथी कोटि के हीन व्यक्ति कम से कम पैदा हों या हो ही नहीं। लेकिन इस चाहने को व्यावहारिक रूप में साकार करना कठिन कार्य है। इसके लिए वैज्ञानिक पद्धति पर आनुवंशिक योजना का सुचारु कार्यान्वियन करना होगा।

यह भी ठीक से नहीं कह सकते कि प्रतिभावान बुद्धिमान और हीन व्यक्तियों की सन्तति भी उन्हीं जैसी होंगी। वैज्ञानिक भी इन गुणों के बारे में सही-सही नहीं बता सकते। बुद्धि के प्रसंग में स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस पर आनुवंशिकता का कितना प्रभाव पड़ता है और वातावरण का कितना।

सुजनन कार्यक्रम दो रीतियों से चलाया जा सकता है। एक रीति है उत्तम व्यक्तियों की संख्या में बढ़ोत्तरी और दूसरी रीति है हीन व्यक्तियों के जनन द्रव्य (जर्मप्लाज्म) का नाश। व्यष्टि और समष्टि दोनों के सोद्देश्य प्रयत्नों से ही इस राष्ट्रीय कार्यक्रम को सफल बनाया जा सकता है। इस कार्यक्रम में सरकारी नियम अपेक्षित हैं। समाज द्वारा हीन व्यक्तियों का सफाया तो किया नहीं जा सकता लेकिन हाँ, यह हो सकता है कि उनके द्वारा जनन किए जाने पर प्रतिबन्ध रखा जाये। ऐसा कुछ देशों में विशेष नियमों द्वारा कराया जा रहा है। लेकिन यह तभी सम्भव है जब हीन व्यक्तियों का सामान्य व्यक्तियों से लैंगिक सम्पर्क न हो, विवाह पूर्व उनकी डॉक्टरी परीक्षण हो और परिस्थितियों के अनुसार हीन व्यक्तियों के बन्ध्यीकरण की व्यवस्था हो और ऐसा सरकारी नियमों-विनियमों के तहत ही हो सकता है।

वर्तमान में इस कार्यक्रम में कुछ व्याप्त अच्छी परम्पराएँ ऐसी हैं जो बाधाएँ बन गई हैं। अधिक शिक्षित और उत्तम व्यक्ति आजकल ऊँची शिक्षा लेने के बाद देर से विवाह करते हैं। फिर परिवार नियोजन और गर्भ निरोध भी इन्हीं के द्वारा अपनाया जाता है। होना यह चाहिए कि हीन व्यक्ति इन बातों को अपनायें। लेकिन हीन और निम्न स्तर के व्यक्ति कम शिक्षा प्राप्त करते हैं, जल्दी विवाह कर लेते हैं और अधिक बच्चे पैदा करते हैं।

आज यह आलम है कि उच्चतम स्तर के व्यक्तियों यानी देश के कर्णधारों, साहित्यकारों, वैज्ञानिकों, दार्शनिकों वगैरह के बच्चे कम होते हैं और कुछ तो शादी ही नहीं करते। कुछ शादी करते भी हैं तो उनके बच्चे नहीं होते। अपेक्षतया इनके बच्चे कम ही होते हैं। इस प्रसंग में कुछ बातों का संकेत भर देना काफी होगा।

पहले समय की बात करें तो पता चलता है कि उच्चतम व्यक्ति अधिक बच्चे पैदा करते थे। राजाओं की अधिक रानियाँ होती थीं। प्रतिभावान व्यक्ति अधिक विवाह करने में अपना मान समझते थे। रखैलों से भी सन्तानें होती थीं। इस तरह इनके 'जननद्रव्य' का गुणन होता जाता था और अच्छी सन्तान की संख्या बढ़ती थी। उस समय आयुर्विज्ञान के अल्प लाभों के कारण हीन और गरीब व्यक्तियों के बच्चे कम जीवित रह पाते थे। आज लड़ाइयों में उत्तम जवान ही चुने जाते हैं और उनके संहार की सम्भावना अधिक रहती है जबकि हीन और निकृष्ट व्यक्ति भरती होने से बच जाते हैं। इस दिशा में व्यावहारिक सोच की जरूरत है और तभी नई योजना प्रणाली और नये नियमों से देश के कल्याण और उत्तम, स्वस्थ, इष्टतम और सन्तुलित व्यक्तित्व वाले नागरिकों की कल्पना की जा सकती है। यह एक सर्वथा नया पहलू है। जनसंख्या वृद्धि के दुष्परिणामों से बचने के लिए जनन नियन्त्रण और सुजनन विज्ञान का सहारा लिया जाना चाहिए।

●●

(पृष्ठ 83 का शेष)

समाज का आर्थिक पहलू आज के अर्थप्रधान युग में सबसे महत्वपूर्ण है। औसत परिवार की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के अभाव में शिशुओं एवं युवाओं को कुपोषण एवं अनेक रोगों का शिकार होना पड़ता है। इससे उनकी प्रतिभा कुण्ठित तो होती ही है, उनकी आर्थिक दशा में सुधार भी नहीं हो पाता है। यही कारण है कि आजादी के 44 वर्ष बाद भी हमारा रहन-सहन का स्तर विकसित देशों की तुलना में 20 गुना कम है। इसी से अपने देश की शोचनीय स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। हम जब तक बढ़ती जनसंख्या को नियन्त्रित नहीं करेंगे, देश पर आर्थिक संकट गहराता ही जायेगा। अतएव आज हमारी मूलभूत आवश्यकता है जनसंख्या नियन्त्रण ताकि हम प्रगति की मिठास का आनन्द ले सकें।

●●

जीवन-स्रोत एवं पर्यावरण संरक्षक वन

डॉ० एस० के० ओझा एवं एस० के० वर्मा

पर्यावरण को सन्तुलित रखने के लिए प्रकृति के विभिन्न घटकों में समुचित सामंजस्य आवश्यक होता है और वन इनमें से एक महत्वपूर्ण घटक है। बढ़ती हुई आबादी एवं औद्योगीकरण से प्राकृतिक सम्पदा का अति तीव्रता से विनाश हुआ है। इसलिए आज औद्योगीकरण के कारण प्रदूषण की समस्या भयावह बनती जा रही है। "प्रकृति हम सबकी आवश्यकता तो पूरा कर सकती है किन्तु किसी के लालच को नहीं", बापूजी की इस चेतावनी की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। कच्चे माल की जरूरत को अधिकाधिक पूरा करने में धरती और उसके संरक्षक तत्व वन एवं वनस्पति का बेतहाशा उपयोग होता गया और आज स्थिति यह है कि धरती से वन लुप्त प्राय होते जा रहे हैं। इसके कारण ग्रामवासियों को तो जलावन, इमारती लकड़ी और ग्रामोद्योग के लिए कच्चे माल की कमी होने ही लगी हैं, साथ ही मौसम में अन्तुलन प्रकृति की सहिष्णुता में कमी, मृदा-क्षरण एवं वायु प्रदूषण के कारण मानव जीवन के अस्तित्व को भी खतरा पैदा हो गया है। इस शताब्दी के दूसरे दशक में ही एक अँग्रेज विचारक ने यह चेतावनी दी थी कि "प्रकृति के साथ अत्याचार किये जाने पर वह निश्चय ही प्रतिशोध लेती है।" यह विचार आज अक्षरसः सही प्रतीत हो रहा है। एल्डूस हक्सले ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "थीम्स एण्ड वेरियेशन्स" में लिखा था कि वैज्ञानिक शक्ति के कारण मदान्ध मनुष्य अपने परिवेश के विरुद्ध अनेक अपराध कर रहा है। मनुष्य की इसी अपराधिक वृत्ति का ही परिणाम है कि अफ्रीका में सहारा का रेगिस्तान बहुत दूर तक फैल गया है और अभी बढ़ता ही जा रहा है। भूमध्य रेखा के निकटवर्ती पर्वतीय और मैदानी प्रदेश मनुष्य के आवास के अयोग्य होते जा रहे हैं, मध्य अमेरिका मरुस्थल बन जाने की स्थति में हो गया है और आस्ट्रेलिया और अमेरिका में अनावृष्टि होने पर गर्म हवा के धूल भरे झोकें चलने लगते हैं। पश्चिमी देशों में औद्योगिक उन्नति ने प्राकृतिक संसाधनों को जो भयंकर क्षति पहुँचायी है उसके लिए समाजशास्त्रियों ने एक शब्द "एकोसाइड" का प्रयोग किया है जो अँग्रेजी भाषा के शब्द "सूसाइड" की तरह का है। इस शब्द का अर्थ यह निकलता है कि प्राकृतिक साधनों का विध्वंश मनुष्य के लिए आत्मघात के ही तुल्य है।

लोगों की न्यूनतम बुनियादी आवश्यकताओं के लिए वन के उपयोग पर किसी को ऐतराज नहीं हो सकता है। देशक के अधिकांश ग्रामवासियों का जीवन पूर्णतःवनों पर ही आश्रित है। वनों से प्राप्त होने वाली लकड़ी एवं वनस्पति ही उनकी दैनिक आवश्यकता की ऊर्जा, उनके पशुओं के चारे और उनके आवासीय मकानों एवं झोपड़ियों के आधार हैं। गाँवों की अधिकतम आबादी भोजन पकाने के लिए ईंधन के रूप में केवल लकड़ी का उपयोग करती है। उत्तर प्रदेश के हिमालय क्षेत्र के जनपदों के घनी आबादी के ग्रामों से वन क्षेत्र इतनी दूर चले गये हैं कि जलाने की लकड़ी जुटाने के लिए वहाँ की महिलाओं को प्रातः ही घर से निकल जाना पड़ता है और मीलों तक चढ़ाई-उतराई पार करके वे रात गये केवल 25-30 किग्रा० लकड़ी लेकर घर लौटती हैं। समय बीतने के साथ-साथ यह समस्या और विकट रूप धारण करती जा रही है।

इफको, लखनऊ, उत्तर प्रदेश

शुद्ध प्राणदायिनी वायु प्रदान करने, वातावरण को रमणीय बनाने; बाढ़ एवं सूखे जैसी आपदा में कमी लाने में इन वृक्षों का महत्वपूर्ण योगदान है। आज औद्योगीकरण के कारण प्रदूषण की समस्या भयावह बनती जा रही है। ऐसे में वृक्षों की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। यह अतिश्योक्ति न होगा यदि कहा जाए कि मानव का अस्तित्व, प्रगति एवं समृद्धि वनों एवं वृक्षों से जुड़ी हुयी है। वैज्ञानिक आँकड़े इस बात की ओर संकेत करते हैं कि बढ़ती जन-संख्या के दबाव के कारण यदि इसी प्रकार जंगल काटे जाते रहे तो 21वीं शती में वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा बढ़कर दुगनी हो जायेगी, जिससे मानव जीवन के अस्तित्व को खतरा पैदा हो सकता है।

पर्यावरण सन्तुलन को बनाये रखने के लिए सम्पूर्ण भू-भाग का एक तिहाई वनों एवं वृक्षों से आच्छादित होनाचाहिए। लेकिन हमारे देश में कुल भू-भाग का केवल 20 प्रतिशत वनों से घिरा हुआ है। विकास के नाम पर वनों का विनाश हुआ है लेकिन हमें आज आवश्यकता आ पड़ी है विनाश रहित विकास की। हमें जिन्दा रहने के आधार हवा, मिट्टी एवं पानी की रक्षा करनी है। यह मनुष्यमात्र के लिए ही जीवन के आधार नहीं हैं बल्कि प्राणि मात्र के जीवन आधार हैं। जैसा किसी कवि ने कहा है—

जीवन के हैं ये आधार।
मिट्टी पानी और बयार।

अतः मानव जीवन के मूलभूत आधारों की रक्षा करना मानव मात्र का परम कर्तव्य है। हमारे देश में प्रतिवर्ष लगभग 13 लाख हेक्टेयर भूमि से वन समाप्त हो रहे हैं। इसे अविलम्ब रोकना चाहिये। इसके साथ-साथ वृक्षारोपण को प्राथमिकता दी जाए। इसके लिए सार्वजनिक भवन, नदी, तालाब, सड़क, परती, बंजर एवं ऊसर भूमि तथा नहरों के किनारे वृक्षारोपण को बढ़ावा दिया जाए। इस प्रकार के वृक्षारोपण हेतु इस बात की जानकारी होना अति आवश्यक है कि कौन से स्थान तथा परिस्थिति के लिए कौन से पौधे का चुनाव किया जाए। उपयोगिता तथा मिट्टी के अनुसार वृक्षों के चुनाव का विवरण निम्न तालिका में दिया गया है :

तालिका 1

उपयोगिता के अनुसार वृक्षों के चुनाव

क्र० सं०	उपयोग	मैदानी क्षेत्र के लिए	पहाड़ी क्षेत्र के लिए
1.	इमारती लकड़ी	साखू, सागौन, शीशम, महुआ, जामुन, नीम बाँस।	तुन, चीड़, कैल, सुरई, देवदार, गैंठी।
2.	इंधन	बबूल, ढाक, अर्जुन, बिलायती बबूल, नीम, इमली, बकायन, यूकेलिप्टस।	बाँस, तिलोज आदि।
3.	फल	आम, अमरूद, आँवला, कटहल, महुआ, बेर, जामुन, बेल।	किमू, आड़ू, अखरोट, नाशपाती, सेब, खुमानी आदि।

4.	छाया	मौलासिरी, अशोक, जामुन, नीम, पाकड़, बरगद, पीपल, इमली आदि ।	तुन, याकर, बाँस ।
5.	शोभा	गोल्डमोहर, जफरण्डा, कचनार, अमलतास, बोतलब्रश, अशोक, पीपल, यूकेलिप्टस आदि ।	पांगर, कौनेरा, पापलर, सैलिक्स, देवदार, चीड़ आदि ।
6.	चारा	बबूल, नीम, सिरिस, कचनार गूलर, पीपल, सुबबूल आदि ।	पांगुर, खड़िक, भीमाल, किमू आदि ।

तालिका 2

मिट्टी के अनुसार वृक्षों का चुनाव

क्र० सं०	मिट्टी के प्रकार	उपयुक्त वृक्ष
1.	भारी मिट्टी	ढाक, कालासिरिस, असना, अर्जुन आदि ।
2.	दोमट तथा बलुई मिट्टी	शीशम, सिरिस, बबूल, खैर, साल, सागौन, आम, कटहल, मौलसिरी, अशोक, पाकड़, बरगद, पीपल, इमली, कंजी, अमलतास, कचनार, आँवला, अमरूद आदि ।
3.	नमीयुक्त मिट्टी	जामुन, ढाक, अर्जुन, असना तथा गुटेल ।
4.	ऊसर मिट्टी	ढाक, बिलायती बबूल, नीम, कन्जी, सिरिस, अर्जुन, सुबबूल, युकेलिप्टस, बेरबेल, आँवला अमरूद ।
5.	सूखी मिट्टी	विलायती बबूल, सांदल, कंजी, झीगन, बाकली, इमली और महुआ ।
6.	पथरीली मिट्टी	चिरौंजा, महुआ, तेंदू, करथई आदि ।
7.	पहाड़ी मिट्टी	चीड़, कैल, सुरई, देवदार, बांज, तिलौंज, पांगुर, अखरोट, किमू, आड़ू, पापलर, यूकेलिप्टस आदि ।

वृक्षारोपण का उचित समय बरसात का मौसम होता है । जुलाई से सितम्बर के मध्य का समय वृक्ष लगाने के लिए मैदानी भागों में सर्वोत्तम माना जाता है । पहाड़ी क्षेत्रों में सबसे अच्छा समय जनवरी, फरवरी तथा जुलाई-सितम्बर के मध्य होता है । अतः यह आवश्यक है कि इसके पूर्व आवश्यक पौध की व्यवस्था कर ली जाये । वृक्ष लगा देने से ही कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती है बल्कि पौध-रोपण के बाद उसकी देखभाल, सुरक्षा, सुचारु रूप से सिंचाई आदि का प्रबन्ध करना अति आवश्यक है ।

अतः प्रदूषण की समस्या का निराकरण तथा देश के सर्वांगीण विकास के लिए यह आवश्यक है कि भारत और अन्य अल्पविकसित देशों को ऐसी चतुर्दिक योजना के अनुसार विकास के पथ पर अग्रसर होना चाहिए कि आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन बढ़े, किन्तु विलास सामग्रियों का उत्पादन कम हो। प्राकृतिक साधनों का उपयोग इस प्रकार से हो कि पूरे समाज का अधिक लम्बे काल तक के लिए लाभ हो। निजी कार इस समय निर्विवाद रूप से उच्चतर आर्थिक स्थिति का प्रतीक समझा जाता है। अतः इसका प्रयोग न्यूनतम हो और इसके स्थान पर सार्वजनिक परिवहन की व्यवस्था को कुशल और सुसंगठित बनाया जाये। इसके साथ ही साथ कोई भी सार्वजनिक भवन या स्थान ऐसा न हो जहाँ पर छायादार सघन वृक्ष न हों। रास्तों के दोनों ओर वृक्षों की सघन पंक्तियाँ हों और पार्कों में हरी-भरी घास के साथ-साथ वृक्षों के कुंज हों।

●●

जनसंख्या विस्फोट पर नियंत्रण आवश्यक

दर्शनानन्द

अपने देश की दिन-प्रतिदिन की बढ़ती हुई जनसंख्या से पर्यावरण प्रदूषण बढ़ रहा है और देश के विकास की गति धीमी हो रही है। यह निर्विवाद है कि जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती जायेगी, वैसे-वैसे खाने-पीने की सामग्रियों और रहने के लिए जगहों की कमी होती जायेगी। इनके अलावा परिवारों में बाल-बच्चों की देख-भाल, पढ़ाई-लिखाई आदि पर निश्चय ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा तथा कुपोषण और रोगों की अधिकता भी होगी। अब ये सारी बातें देखने में भी आ रही हैं।

जनसंख्या कम या स्थिर करने के लिए सरकार प्रतिवर्ष अनेक प्रोत्साहन घोषित करती है। इस मद में लाखों-करोड़ों रुपये खर्च हो रहे हैं। परन्तु क्या जनसंख्या में कमी या स्थिरता आ रही है? कदापि नहीं। इसका क्या कारण है? क्या इस पर कभी गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया? यदि निष्पक्ष रूप से सोचा जाय तो निश्चय ही निम्नलिखित कारण प्रकाश में आयेंगे :

(1) परिवार नियोजन के लिए अपनी सरकार हर विभाग पर जबरन लक्ष्य निर्धारित करती रही। चूंकि प्रेरक और प्रेरित दोनों के लिए ही खर्चे किये जाने की धनराशियाँ निर्धारित की जाती हैं, इसलिए प्रोत्साहन की लालच और कर्मचारी द्वारा लक्ष्य पूर्ति का भय, इन दोनों के मेल से सही तथा फर्जी मामलों को भी कार्यान्वित दिखा दिये जाते हैं। इस प्रकार वास्तविक स्थिति पूर्ववत् बनी रहती है।

(2) कुछ विशेष सम्प्रदाय परिवार नियोजन से बचने के लिए धार्मिक मुद्दे पेश कर देते हैं और जनसंख्या बढ़ाते चले जा रहे हैं। सरकार भी इस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठा रही है, जबकि यह एक दण्डनीय

उपनिदेशक उद्यान, इलाहाबाद मण्डल (अवकाशप्राप्त), सी-67, गुरु तेग बहादुर नगर (करेली हाउसिंग स्कीम), इलाहाबाद-211016

अपराध है । इस राष्ट्रीय योजना के अन्तर्गत सभी देशवासियों को एक ही अनुशासन में रहने का औचित्य है । हर नागरिक के लिए दो या तीन बच्चों से अधिक बच्चे पैदा करना कानूनन अपराध होना चाहिए ।

(3) एक से अधिक पत्नी न रखने का प्रतिबन्ध केवल सरकारी कर्मचारियों पर ही लागू है, जबकि यह प्रतिबन्ध देश के प्रत्येक नागरिक पर लागू होना चाहिये ।

(4) अधिक बच्चे पैदा करने वालों को हतोत्साहित नहीं किया जा रहा है । कम बच्चे पैदा करने वालों को प्रोत्साहित करने के साथ ही अधिक बच्चे पैदा करने वालों को हतोत्साहित व दण्डित करना चाहिए ।

(5) अपने देश की जनसंख्या तो बढ़ती ही जा रही है, साथ ही हजारों-लाखों की संख्या में विदेशियों को भी शरण दिया जा रहा है । यह उचित नहीं है ।

इतनी बड़ी जनसंख्या का पलना कहाँ तक सम्भव है, जबकि खेती-बागवानी के लिए देश में जगहें सीमित हैं । इनमें बढ़ोत्तरी होने का प्रश्न ही नहीं उठता । अन्न की पूर्ति करने के लिए वैज्ञानिक तकनीकों से फसलों की उत्पादकता और उपज में बढ़ोत्तरी लायी गयी । बंजर व ऊसर भूमि के उपयोग भी किये जा रहे हैं । परन्तु दालों, खाद्य तेलों, अन्न, मसालों व अन्य आवश्यक वस्तुओं के भाव आसमान छू रहे हैं । पानी-बिजली की कमी, रेलगाड़ियों व बसों में, बाजारों में व सड़कों पर भीड़ तथा रोजाना की अकस्मात् दुर्घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं । सम्भव है कि एक युग वह भी आ जाए कि इस बढ़ती हुई आबादी के कारण ठीक से एक स्थान पर खड़े होने की भी जगह न मिल पाये ।

आलू, शकरकन्द, शलजम, गाजर, मूली, प्याज, चुकन्दर, घुइयां, सुथनी, सिघाड़ा, केला, पपीता व आम तथा पत्तीदार सब्जियाँ उगाकर और अपने खान-पान की प्रवृत्ति में परिवर्तन लाकर पर्याप्त सीमा तक अन्न पर पड़ते हुए भार तथा कुपोषण को निश्चय ही कम किया जा सकता है । परन्तु यहाँ भी सीमित भूमि का ही प्रश्न उठता है ।

फिर भी उक्त सन्दर्भित साग-सब्जियाँ और केला, पपीता जैसे फलों को आम, कटहल, आँवला, लीची, अमरूद आदि के बागों के रिक्त स्थानों में भी पैदा कर सकते हैं । जब तक बगीचे के पेड़ों की डालें आपस में छूने न लगें तब तक ये अन्तराशस्य की फसलें आसानी के साथ बागों में ले सकते हैं । जो बाग बहुत पुराने हो जाएँ उनमें साये में हल्दी, अदरक और अनन्नास पैदा कर सकते हैं ।

बढ़ती हुई जनसंख्या के दबाव से खाने के अतिरिक्त रहने की समस्या भी उत्पन्न होती जा रही है, जैसा कि पूर्व में भी सन्दर्भित है । यह भी एक बड़ी जटिल समस्या है । किसी को भी रहने के लिए कहीं न कहीं तो जगह चाहिए ही ।

इसका परिणाम यह हो रहा है कि उपयोगी व अनुपयोगी जमीनों में झुग्गी-झोपड़ियाँ बनती और बढ़ती जा रही हैं । इनके अतिरिक्त बाग-बगीचे और पेड़-पौधे कटते जा रहे हैं और उनमें आवासीय कॉलनियाँ बनती जा रही हैं । इस प्रकार निश्चय ही पर्यावरण भी प्रभावित हो रहा है, जबकि स्वच्छ वातावरण के लिए बाग-बगीचों और पेड़-पौधों का बना रहना व उनकी संख्या व क्षेत्रफल में वृद्धि होना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है ।

दूसरी ओर जो बाग-बगीचे बचे भी हैं वे प्रदूषित पर्यावरण से नष्ट होते जा रहे हैं। धूल-धुसरित व दयनीय दशा में पड़ी सड़कों की हवा व वाहनों से उड़ती गर्द तथा कारखानों व वाहनों के काले धुएँ और कीड़े-मकोड़ों द्वारा छोड़े गये काले पदार्थ आदि—ये सब वृक्षों की पत्तियों और फूल-फलों पर अपनी तह जमाये जा रहे हैं। इन कारणों से पेड़-पौधों के प्रकाशसंश्लेषण व श्वसन-क्रिया में बाधा पड़ती है, जिससे अन्य कीट-व्याधियों को भी बढ़ावा मिलता है और फलों की पैदावार प्रभावित होती है। धूम्रपानी व तम्बाकू प्रेमी दूसरों के मुंह पर धुँआ छोड़ने और दुर्गन्ध फैलाने में संकोच नहीं करते। इन्हीं सब कारणों से प्रदूषित वायु की अधिकता और प्राणवायु ऑक्सीजन की कमी होती जा रही है।

बढ़ती जनसंख्या के दबाव के कारण आम जैसे सर्वश्रेष्ठ फल के साथ भी ज्यादती हो रही है, जबकि आम अपने देश की एक ऐसी महत्वपूर्ण प्राकृतिक सम्पदा है, जिसके निर्यात से अत्यधिक विदेशी मुद्रा अर्जित करने की प्रबल सम्भावनाएँ हैं। महाराष्ट्र के **अल्फॉन्जो** और उत्तर प्रदेश के **दशहरी** आम हर वर्ष विदेशों को निर्यात किये जाते हैं। कितने लोग तो आम के मौसम में केवल आम खाकर ही रहते हैं।

देश में फलों के कुल क्षेत्रफल का लगभग 44 प्रतिशत भाग केवल आम के अन्तर्गत है। इन्हीं सारी गुणवत्ताओं के कारण आम को फलों का राजा कहा जाता है। ऐसी महत्वपूर्ण सम्पदा की सुरक्षा करना और नष्ट होने से बचाना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है।

परन्तु आम के बागों के आस-पास ईंटों के भट्ठों का स्थापित रहना आम की फसल के लिए अत्यन्त घातक है। ईंटों के इन भट्ठों में जलते हुए कोयलों के धुँए में मौजूद कार्बन मॉनोऑक्साइड, सल्फर डाइऑक्साइड और इथिलीन गैसें पर्यावरण को प्रदूषित करती रहती हैं, जिसके फलस्वरूप आम के फल नष्ट होने लगते हैं।

आम की फसल के समय जब फलों की वृद्धि अप्रैल-मई में होती रहती है, उस सम ईंटों के भट्ठों के पास स्थित आम के बागों के फलों की शिखाएँ (जो नीचे की ओर लटकती रहती हैं अर्थात् चोंच वाले भाग) काली पड़ जाती हैं। पहले वायुमण्डल में फैली ये गैसें वृद्धि करते हुए आम के कच्चे फलों की शिखाओं में प्रवेश करती हैं। इसके बाद शिखाओं पर हल्का सा दाग बनता है। फिर ये दाग पानी सोखे हुए जैसे भूरे रंग के धब्बों में बदल जाते हैं। बाद में धब्बे धीरे-धीरे काले पड़ जाते हैं और फलों में सड़न तथा कभी-कभी फटाव भी पैदा हो जाते हैं।

प्रकोप हो जाने पर रोग ऊपर की ओर बढ़ता जाता है। अन्त में काले धब्बे छिलके व गूदे सहित सूखकर कड़े हो जाते हैं तथा सिकुड़ कर चपटे भी हो जाते हैं। प्रकोप अधिक होने पर सूखे गूदे वाले भाग के पास से भीतर की गुठली का कुछ भाग बाहर को निकल आता है। आम के इस रोग को **कोयलिया रोग** या **ब्लैकटिप डिजीज** कहते हैं। यह रोग **'कालासिरा'** नाम से भी जाना जाता है।

ऐसे रोगी फलों की वृद्धि रुक जाती है और पकने के पूर्व ही वृक्ष से गिर भी जाते हैं। बाजार में इन आमों के दाम नहीं मिलते हैं। आम तो एक उदाहरण है। अतएव 'जनसंख्या विस्फोट' पर नियन्त्रण की तत्काल आवश्यकता है।

●●

बढ़ती जनसंख्या का आर्थिक दबाव

डॉ० अशोक कुमार गुप्ता

विश्व में भारत दूसरा सर्वाधिक जनसंख्या वाला देश है। विश्व की सम्पूर्ण आबादी का लगभग 15 प्रतिशत भाग भारत में ही है, जबकि विश्व के कुल भू-क्षेत्र का मात्र 2.5 प्रतिशत ही भारत के हिस्से में है। एक अनुमान के अनुसार सन् 2000 तक विश्व की जनसंख्या लगभग सात अरब और भारत की लगभग 105 करोड़ हो जायेगी।

भारत की जनसंख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। भारत की जनसंख्या 1901 से 1951 के दौरान 23.8 करोड़ से बढ़कर 36 करोड़ हो गई अर्थात् 50 वर्षों में लगभग 52 प्रतिशत की वृद्धि हुई। पर 1951 से 1981 के दौरान यह जनसंख्या 36 करोड़ से बढ़कर 68.5 करोड़ हो गई अर्थात् स्वतन्त्रता प्राप्ति के 35 वर्षों के उपरान्त भारत की जनसंख्या लगभग दो गुनी (33 से 68.5 करोड़) हो गई। या हम यों कहें कि एक और भारत की आबादी उसी सीमित क्षेत्र में समाहित हो गई। 1991 की जनगणना तो और भी अधिक चौकाने वाली हुई, जिसके अनुसार भारत की जनसंख्या 85 करोड़ हो गई। अर्थात् स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से 1991 तक भारत की जनसंख्या में ढाई गुना से अधिक की वृद्धि हो गई। इस प्रकार 1951 से 1991 के चालीस वर्षों में जनसंख्या में 136 प्रतिशत की वृद्धि हो चुकी है। जनसंख्या की इस वृद्धि को रोकने के लिए भारत जैसे विकासशील देशों को तीव्र दौड़ लगाने की आवश्यकता है।

जनसंख्या वृद्धि समाज पर कई प्रकार से प्रभाव डालती है। इससे सीमित भूमि, जल, ऊर्जा व खनिज स्रोतों पर दबाव बढ़ता है, उनकी माँग में वृद्धि होती है तथा उन संसाधनों के उपयोग बढ़ने से उनकी कमी होने लगती है। औसत संसाधनों की कमी से खींचातानी मच जाती है, जिससे क्षेत्रीय विवाद और असन्तोष तो बढ़ते ही है, साथ ही पर्यावरणीय समस्याओं में भी वृद्धि होती है। जनसंख्या वृद्धि से क्षेत्र में वृक्षों व जानवरों की संख्या में भी कमी आ जाती है जिससे पारिस्थितिकी पर दबाव पड़ता है।

निरन्तर जनसंख्या के प्रसार का आशय है अधिक भोजन की आवश्यकता, प्राकृतिक संसाधनों का अधिक दोहन, शुद्ध जल में कमी, रहने के लिए भूमि व मकान की कमी एवं उन्हें प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा तथा अधिक आर्थिक साधनों की आवश्यकता।

गत दशकों में यह देखा गया कि जनसंख्या की अभिवृद्धि के कारण ही विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक समस्यायें उठ खड़ी हुई हैं जैसे सामाजिक मूल्यों में गिरावट, पारिवारिक जीवन में संघर्ष, राजनीतिक संघर्ष, क्षेत्रीय संघर्ष, निम्न आर्थिक वृद्धि, बचत व विनियोग में कमी, खाद्य समस्या में वृद्धि, बेरोजगारी, अशिक्षा, जनस्वास्थ्य में गिरावट आदि।

प्रवक्ता, एग्रीकल्चर इंस्टीट्यूट, इलाहाबाद-211 007

अनेक अध्ययनों से यह सिद्ध हो चुका है कि भारत में निर्धनता में निरन्तर वृद्धि हो रही है। एक अनुमान के अनुसार 1960-61 में 40 प्रतिशत व्यक्ति गरीबी रेखा से नीचे थे। 1973-74 में यह प्रतिशत बढ़कर 45 हो गया। 1977-78 में 46 प्रतिशत व्यक्ति गरीबी रेखा के नीचे थे, पर आज देश की लगभग आधी जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे है।

तेजी से बढ़ती जनसंख्या ने बचत और विनियोग पर विपरीत प्रभाव डाला है। एक सर्वेक्षण के अनुसार 1969 में बचत दर जापान में 30 प्रतिशत, कनाडा में 33 प्रतिशत, अमेरिका में 17 प्रतिशत तथा भारत में मात्र 9 प्रतिशत रही। हम यदि खाद्य पोषण की दृष्टि से देखे तो पायेंगे कि हमारे देश में एक वयस्क प्रतिवर्ष मात्र 1990 कैलोरी ऊर्जा के बराबर भोजन प्राप्त करता है जबकि मिस्र में प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष 2770 कैलोरी, अमेरिका में 3000 कैलोरी, फ्रांस में 3270 कैलोरी ऊर्जा के बराबर भोजन प्राप्त करता है। भारत में एक व्यक्ति के हिस्से में प्रतिदिन मात्र 116 ग्राम दूध आता है जबकि यह विकसित देशों में इससे कई गुना अधिक है।

जनसंख्या की वृद्धि से श्रमिक शक्ति में भी तेजी से वृद्धि हुई है जिससे बेरोजगारी बढ़ी है। अर्थशास्त्रीय आँकड़े बताते हैं कि एक प्रतिशत श्रमिक शक्ति की वृद्धि के लिए रोजगार मुहैया कराने के लिए तीन प्रतिशत आर्थिक विकास दर रखी जानी चाहिये। आधुनिक तकनीकी के साथ वर्तमान में भारत 2.5 प्रतिशत जनसंख्या वृद्धि का सामना कर रहा है, जिसे अर्धरोजगार उपलब्ध कराने के लिए 7.5 प्रतिशत आर्थिक विकास दर रखना अनिवार्य है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि पूर्ण रोजगार प्राप्त करने हेतु इससे भी अधिक आर्थिक विकास दर सुनिश्चित करना आवश्यक होगा। योजना आयोग के आँकड़ों के अनुसार भारत में 1971 में 140 लाख व्यक्ति बेरोजगार थे, जो 1978 में बढ़ कर 206 लाख हो गये। 1983 में बेरोजगारों की संख्या बढ़कर 229 लाख तथा 1991 में यह संख्या बढ़कर 500 लाख हो गयी। बढ़ती बेरोजगारी तथा बढ़ती मँहगाई से सामान्य अर्थव्यवस्था पर एवं परिवार पर आर्थिक बोझ बढ़ता ही जायेगा। यदि इस श्रमिक शक्ति का उपयोग औद्योगिक उत्पादन की ओर लगाया जाय तो निश्चित रूप से हम विदेशी मुद्रा अर्जित कर आम आदमी के जीवन-स्तर में सुधार ला सकते हैं।

पेट्रोलियम ऊर्जा का उपयोग अब रसोईघर से लेकर कृषि एवं अन्य उद्योगों तक व्याप्त हो गया है। अब यह हमारी मूलभूत आवश्यकता बन चुकी है। भारत में ही इसके उपभोग के आँकड़े चौंकाने वाले हैं। अब इस दशक के पूर्ण होते ही वर्तमान खपत से दो गुना और बढ़ने का अनुमान है। आने वाले समय में पेट्रोलियम और अधिक मँहगा हो जायेगा, जिससे हमरी पूँजी इसके खरीद में अधिक व्यय होगी। पेट्रोल के भाव तो आज भी आसमान छू रहे हैं।

भारत में खाद्यान्न उत्पादन जनसंख्या वृद्धि के अनुपात में नहीं हो पा रहा है। खाद्यान्नों की प्रति व्यक्ति वार्षिक प्राप्ति हमारे देश में 170 कि० ग्रा० होनी चाहिए, किन्तु प्राप्ति 153 कि० ग्रा० ही है, जबकि विकसित राष्ट्रों में यह 800 कि० ग्रा० प्रति व्यक्ति से भी अधिक है। यदि हमने अभी से सजगता नहीं बरती तो प्राकृतिक संसाधनों का दोहन और अधिक एवं क्रूरता से होगा। असीमित जनसंख्या वृद्धि से अनाज, वनस्पति, मकान के लिए भूमि, कपड़ा, ईंधन, वनसम्पत्ति की अत्यधिक खींचातानी मचेगी। यही नहीं, अपशिष्टों एवं कार्बन डाइऑक्साइड की अधिकता से पर्यावरण सम्बन्धी अनेक समस्यायें सहज उठ खड़ी होंगी। इसका दुष्परिणाम यह होगा कि शुद्ध वायु, शुद्ध जल की अत्यधिक कमी हो जायेगी।

(शेष पृष्ठ 75 पर)

जनसंख्या वृद्धि पर रोक आवश्यक

देवी दयाल पाण्डेय

यद्यपि जनसंख्या वृद्धि पर पूर्ण रोक एक कल्पना है, तथापि नियन्त्रण तो सम्भव है ही। हाल में ही की गई गणनायें बताती हैं कि पृथ्वी पर मानव अस्तित्व को बनाये रखने के लिये विश्व की जनसंख्या 6.5 अरब से अधिक नहीं होनी चाहिये। इसके लिये विकासशील राष्ट्रों को अपनी जनसंख्या वृद्धि दर 1990 तक 3.2% से घटाकर 2.6% तथा सन् 2020 तक यह दर 1% करनी होगी।

ऐसी बात नहीं कि यह लक्ष्य पूरा नहीं किया जा सकता, चीन, इंडोनेशिया, कोस्टारिका जैसे कई देशों ने यह लक्ष्य प्राप्त कर लिया है। अनुमानतः दुनिया भर में इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए परिवार नियोजन कार्यक्रमों पर प्रतिवर्ष तीन अरब डॉलर खर्च करने पड़ेंगे।

विकसित व विकासशील देशों की जनसंख्या वृद्धि की तुलना

वर्ष	विकसित देशों की जनसंख्या (अरब में)	विकासशील देशों की जनसंख्या (अरब में)
1950	0.8 (32%)	1.7 (68%)
1985	1.2 (25%)	3.6 (75%)
2000*	1.3 (21%)	4.9 (79%)

*सम्भावित

विश्व में व्याप्त निर्धनता व भुखमरी का दोष प्रायः बढ़ती आबादी के सिर मढ़ दिया जाता है, जबकि सत्यता यह है कि 'सस्य श्यामला बसुन्धरा' के अन्दर बाहर इतना सब कुछ है कि वह पृथ्वी पर जन्मे हर पेट को भर सकती है। गरीबी का कारण संसाधनों का असमान वितरण है। पृथ्वी हमें प्रतिवर्ष 150 करोड़ टन खाद्यान्न देती है। यदि इसका वितरण किया जाये तो विश्व के प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन एक किग्रा० अनाज मिल सकता है, जो सामान्य स्वास्थ्य बनाये रखने के लिये पर्याप्त है। लेकिन दुनिया में समान वितरण की कोई व्यवस्था नहीं है। एक ओर अमेरिका है, जहाँ अनाज-उत्पादन इतना अधिक है कि उसे समुद्र में फेंकना पड़ता है, अथवा किसानों को खेत खाली रखने के लिये पैसा दिया जाता है। दूसरी ओर अफ्रीका है जहाँ के निवासी एक-एक दाने को तरसते हैं। 1983 में विश्व में अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, अर्जेन्टीना तथा यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों के पास 17.2 करोड़ टन अनाज निर्यात के लिये था। जबकि अनाज आयातित करने वाले देशों की माँग केवल 8.5 करोड़ टन की

एम० एस-सी०, द्वितीय वर्ष (कृषि), शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद-2

थी। शेष अनाज या तो गोदामों में बेकार हो जाता है या समुद्र में फेंक दिया जाता है। इसी असमानता का परिणाम है कि पृथ्वी पर लगभग 100 करोड़ व्यक्ति आधा पेट भोजन करते हैं। इसी से फलस्वरूप तृतीय विश्व के देशों के व्यक्तियों के शारीरिक व मानसिक विकास में ह्रास हो रहा है। दूसरी ओर विकसित राष्ट्रों के व्यक्ति अत्यधिक पौष्टिक आहार से भर रहे हैं। उल्लेखनीय है कि हृदय रोग तथा कैंसर धनी राष्ट्रों की ही देन है।

इसी के आधार पर अनुमान लगा गया है कि "20वीं सदी के अन्त तक विश्व के 20% व्यक्ति कम खाने से तथा 20% व्यक्ति अधिक खाने से मृत्युजाल में फँसेगे।"

निष्कर्षत: आज विश्व में खाद्यान्न की भाँति ऊर्जा, वन उत्पादों का उपयोग, सागरों का दोहन, भूगर्भीय संसाधनों का दोहन, आदि सभी संसाधनों का असमान वितरण हो रहा है। अत: पृथ्वी पर जनसंख्या की बाढ़ को रोकने के लिये धरती के संसाधनों का वितरण तथा उपयोग सन्तुलित करना होगा। इसके अलावा हमें कृषिभूमि के विकास के लिये प्रयास करने होंगे, क्योंकि अनुमान है कि आगामी 20 वर्षों में विश्व की एक तिहाई कृषि योग्य भूमि बंजर हो जायेगी। भूमि विकास के लिये वनों की अन्धाधुन्ध कटाई को रोकना होगा। उल्लेखनीय है कि 1900 में विश्व में 700 करोड़ हेक्टेयर क्षेत्र पर वन थे, जो घटकर 1975 में 249 करोड़ हेक्टेयर पर रह गये। यदि यही गति रही तो वर्तमान शताब्दी के अन्त तक वन 237 करोड़ हेक्टेयर क्षेत्रफल पर ही रह जायेंगे। आशा है कि विकसित राष्ट्र समय की माँग को समझेंगे और विकसित व विकासशील देशों के व्यक्तियों के बीच संसाधनों के वितरण के असमान अनुपात 1:40 को कम करने का प्रयास करेंगे।

●●

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय सुहृद

नया वर्ष आप सभी के लिए शुभ एवं मंगलमय हो। नये वर्ष का पहला अंक (जनवरी-मार्च 1992 अंक) आपको देते हुए हर्ष हो रहा है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लगातार बढ़ती जनसंख्या आज न केवल भारत वरन् सारे संसार की सबसे बड़ी समस्या है। जनसंख्या वृद्धि से पर्यावरण को क्षति होती है और विकास की गति भी मन्द पड़ जाती है, इसे संसार के सभी देशों के प्रबुद्धजन भली-भाँति समझ गये हैं। "दूधो नहाओ, पूतों फलो" का आशीर्वाद् मजाक सा लगता है। फिर भी आबादी है कि सूदखोर के ब्याज की तरह बढ़ती ही जा रही है। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के भारतीय अर्थशास्त्री **वी० के० आर० वी० राव** के अनुसार बढ़ती जनसंख्या बेरोजगारी, धीमी विकास गति, मलिन बस्तियों के विस्तार और पर्यावरण के क्षतिग्रस्त होने का सर्वप्रमुख कारण है। पर्यावरण विज्ञानियों का तो निश्चित मत है कि बढ़ती आबादी के कारण ही मानव ने वनों का विनाश किया है। इससे प्रकृति का सन्तुलन बिगड़ा, जीव-जन्तु और वनस्पतियों की अनेक जातियाँ लुप्त हो गई हैं। भविष्य में तो यह धरती हमारे रहने योग्य भी नहीं रह जायेगी। कैसा होगा भविष्य हमारी आने वाली सन्तानों का ? इस प्रश्न और इस जैसे अन्य प्रश्नों के उत्तर आज हमारे पास नहीं है, क्योंकि आज भी हम धरती पर बढ़ती आबादी की बाढ़ को रोक नहीं पाये हैं।

इस अंक में ऐसा कुछ नहीं है जो नया है किन्तु "विज्ञान" के समर्पित लेखकों की सामयिक सहायता से इतनी अधिक सामग्री आपको मिलेगी कि आप सोचने को विवश हो जायेंगे। समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का हमारा कोई दावा नहीं है। समाधान तो आपको ढूँढना है। हमारा ध्येय तो आपको मात्र चिन्तन की सामग्री प्रदान करना है।

प्रसिद्ध अमेरिकी वैज्ञानिक **डॉ० कार्ल सागन** के अनुसार जैसे-जैसे विकासशील देशों में आबादी बढ़ती जा रही है, समस्यायें बढ़ती जा रही हैं। केवल गरीब देशों में ही नहीं, पूरे विश्व में यही हाल है। पृथ्वी को बचाने के लिए विकासशील देशों को चाहिए कि वे अपनी आबादी पर नियन्त्रण रखें। पूरे विश्व में जहाँ-जहाँ जीवन-स्तर ऊँचा उठा है, औसत उम्र बढ़ी है। भारत में 1902 में औसत आयु सीमा 30 वर्ष थी और अब बढ़कर 57 वर्ष हो गई है। तब प्रत्येक महिला 6 बच्चो को जन्म देती थी, अब यह संख्या घटकर 4 रह गई है। आज भी गरीब देशों में प्रति महिला बच्चों की जन्म दर 8.2 है। आबादी वृद्धि की यह प्रवृत्ति विश्वव्यापी है।

43वें भारतीय गणतन्त्र दिवस की पूर्व संध्या पर देशवासियों को सम्बोधित करते हुए **राष्ट्रपति श्री वेंकट रामन** ने विकास प्रयत्नों को सार्थक बनाने के लिए जनसंख्या वृद्धि की समस्या पर गम्भीरता से ध्यान देने की आवश्यकता जताई। राष्ट्रपति के अनुसार सकल उत्पाद में प्रभावशाली बढ़ोत्तरी से अधिक उच्च जीवन स्तर प्राप्त करना सम्भव था, लेकिन जनसंख्या वृद्धि ने इस प्रगति को निष्प्रभावी कर दिया है।

अधिक बच्चे पैदा होने का मुख्य कारण है अशिक्षा। भारत के केरल प्रदेश में, जहाँ शिक्षा अधिक है, बच्चे कम पैदा होते हैं।

जनसंख्या की समस्या भारतीय जनमानस को किस प्रकार मथ रही है यह इसी से परिलक्षित होता है कि इस वर्ष 3-8 जनवरी को सम्पन्न 79वें भारतीय विज्ञान काँग्रेस का मुख्य विषय "साइन्स, पापुलेशन एण्ड डेवलपमेंट" (विज्ञान, आबादी और विकास) था।

कौटिल्य ने अपनी "अर्थशास्त्र" नामक पुस्तक में बढ़ती जनसंख्या के विषय में लिखा है कि यदि किसी स्थान विशेष की जनसंख्या में वृद्धि हो जाये तो वहाँ से कुछ लोगों को ऐसे स्थानों में स्थानान्तरित कर देना चाहिए, जहाँ जनसंख्या कम हो, अथवा कुछ लोगों को जीते हुए स्थानों में रहने के लिए भेज देना चाहिए। यही नहीं, चूँकि उस समय जनसंख्या समस्या नहीं थी इसलिए उन्होंने कहा है कि विदेशों से आये लोगों को बसने की अनुमति देनी चाहिए। किन्तु आज तो ऐसा कदापि उचित नहीं क्योंकि आज तो अपने देश की आबादी ही समस्या है।

अतएव आज आवश्यकता है शिक्षा के प्रसार की, विशेष रूप से महिलाओं की शिक्षा की, परिवार कल्याण योजनाओं को ईमानदारी से क्रियान्वित करने की और सबसे बड़ी आवश्यकता है छोटे परिवार के महत्व को समझने-समझाने की। यदि हमने विवेक से काम लिया तो कोई कारण नहीं कि हम इस समस्या पर विजय न पा सकें।

अपनी बात को मैं निम्न श्लोक से समाप्त करना चाहूँगा—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

[सभी सुखी हों, सभी स्वस्थ हों, सभी को प्रसन्नता के दर्शन हों, कोई दुःखी न हो।]

आपका
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

फार्म 4

(नियम 8 देखिये)

1.	प्रकाशन स्थान	विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद-211002
2.	प्रकाशन अवधि	मासिक, प्रत्येक मास का 15 दिनांक
3.	मुद्रक का नाम	श्री अरुण राय
	क्या भारत का नागरिक है ?	हाँ
	पता	प्रसाद मुद्रणालय, 7ए बेली एवेन्यू, इलाहाबाद-2
4.	प्रकाशक का नाम	डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
	क्या भारत का नागरिक है ?	हाँ
	पता	विभागाध्यक्ष, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद
5.	सम्पादक का नाम	प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
	क्या भारत का नागरिक है ?	हाँ
	पता	वनस्पति विभाग, सी० एम०पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
6.	उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूँजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों	विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद-211002

मैं हनुमान प्रसाद तिवारी, एतत् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं।

दिनांक
8.2.1992

हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधानमन्त्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1991

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।

(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।

(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।

(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।

(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1991 से दिसम्बर 1991 माह के बीच प्रकाशित हो।

(6) लेखक को साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।

(7) विज्ञान-परिषद् के सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।

(8) वर्ष 1991 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1992 है।

लेख निम्न पते पर भेजें—

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद वा रुचिकर हों,।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन की प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझाओं का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु०, चौथाई पृष्ठ 50.00; आवरण द्वितीय; तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० **व्यक्तिगत** : 500 रु० **संस्थागत**

त्रिवार्षिक : 60 रु०

वार्षिक 25 रु०

प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे, **यह अंक** : 8 रु०

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
अप्रैल 1992; वर्ष 78 अंक 1

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7, ए बेली एवेन्यू
इलाहाबाद-211002

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

एक नोबेल पुरस्कार विजेता का दुःखद अंत

डॉ० रमेश चन्द्र कपूर

अमेरिकी मध्य पश्चिम में स्थित विश्वविद्यालय में **विलियम जॉन्सन** बायोकेमिस्ट्री के प्रोफेसर के रूप में प्रतिष्ठित थे। अपने शोधछात्रों के बड़े समूह के साथ वे कैंसर अनुसन्धान के कार्य में रत थे। उनकी आस्था थी कि जो कैंसर अर्बुद की संरचना का सही सिद्धान्त खोजेगा वही उसके उपचार का मार्ग बता सकता है और यह दूभर कार्य उनके जैसे वैज्ञानिकों के ही बस का है। यकायक एक दिन उनके मस्तिष्क में इस सिद्धान्त की रूपरेखा बिजली की भाँति दौड़ गई। उन्होंने निश्चय किया कि प्रयोगों द्वारा इस सिद्धान्त की परख की जाये। प्रयोगों की एक शृंखला उन्होंने बनाई और उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि प्रयोगों के सफल होने पर उनका सिद्धान्त एक ठोस नियम के रूप में स्वीकृत हो जायगा। विश्व के उच्चतम पारितोषिक 'नोबेल पुरस्कार' पाने की अभिलाषा जॉनसन में तीव्र रूप से थी और प्रयोगों के सम्पन्न होने पर यह अभिलाषा वास्तविकता में बदल सकती थी।

अपने विद्यार्थी समूह में एक की दक्षता पर जॉनसन का पूर्ण विश्वास था। **पाल टोरेन** ने कुछ समय पहले ही डॉ० ऑव फिलॉसफी की उपाधि अर्जित की थी और जॉनसन की प्रयोगशाला में पोस्ट-डॉक्टर सहयोगी के रूप में कार्य कर रहा था। वैसे तो जानसन अपने सारे विद्यार्थियों और सहयोगियों के साथ सहज व्यवहार रखता था, परन्तु पाल टोरेन से उसका विशेष लगाव था। पाल को इसका पूरा अहसास था। सारे विद्यार्थियों में से केवल वही जानसन को 'बिल' कह कर सम्बोधित कर सकता था।

जॉनसन ने पाल को अपने कक्ष में बुलाया और बड़ी गम्भीरता से सम्बोधित किया—"पाल इस समय सारे कार्य छोड़ कर एक नवीन प्रयोग शृंखला में लग जाओ। सामान्यतया मैं तुमसे ऐसा न कहता, परन्तु इसी समय एक महत्वपूर्ण समस्या को सुलझाना है। यह भी आवश्यक है कि जो मैं तुमसे कहने जा रहा हूँ, इसकी अभी किसी से चर्चा न हो"। पाल अचम्भित रह गया, क्योंकि जॉनसन अत्यन्त खुले दृष्टिकोण का वैज्ञानिक था और अपने सेमिनारों में विद्यार्थियों तथा सहपाठियों के साथ खुल कर बहस करता था और उन्हें भी ऐसा ही करने को प्रेरित करता था। पाल को ऐसा लगा कि प्रोफेसर किसी ऐसी खोज की कगार पर हैं जो क्रान्तिकारी होगी। पाल को विशेष उल्लास भी हुआ कि प्रोफ़ेसर ने उसी को इस कार्य के लिये चुना और किसी दूसरे को भनक भी न दी। उसने जल्दी से जॉनसन द्वारा बताये प्रयोगों के निर्देशों को लिख लिया और योजना अच्छी प्रकार समझ ली। ऐसा अनुमान बना कि प्रयोगों को सम्पन्न करने में लगभग तीन माह लगेंगे। सफल होने पर वे ऐतिहासिक सिद्ध होंगे और कैंसर के क्षेत्र में वर्तमान विचारधारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन लायेंगे। पचीस वर्ष की आयु में पाल को ऐसे ऐतिहासिक प्रयोगों को करने का मौका मिला, यह उसका सौभाग्य था।

दो महीनों के अन्दर पाल ने सारे प्रयोग पूरे कर डाले और परिणाम आशातीत रहे। जॉनसन की प्रसन्नता की सीमा न थी। विश्व की सर्वोच्च शोध पत्रिका में प्रकाशित करने के लिये उसने लेख का प्रारूप रातों रात बैठ कर

ए 4/8, रेजिडेन्सी रोड, जोधपुर-342001 (राजस्थान)

तैयार किया, जिसका शीर्षक था "कैंसरी अर्बुदों की उत्पत्ति के व्यापक सिद्धान्त।" लेखकों के नाम थे—जॉनसन एवं टोरेन। लेख प्रकाशन के लिये तुरन्त स्वीकृत हुआ। छपने पर विश्वभर से रीप्रिन्टों की अनगिनित माँगे आयीं। विभाग के साप्ताहिक सेमिनार में जॉनसन ने पाल से प्रयोगों पर प्रवचन दिलाया और उसकी पीठ थपथपाई।

जॉनसन के प्रगाढ़ मित्र स्टेनफर्ड विश्वविद्यालय के जॉन डेविस ने उसको बधाई देते हुए कहा कि उन्हें कुछ ईर्ष्या सी हो रही है, परन्तु साथ में हर्ष भी हो रहा है, यह जान कर कि ऐसी अभूतपूर्व कल्पना उनके परम मित्र ने की। जॉनसन ने रोमांच में उत्तर दिया कि यह कल्पना केवल उत्तम ही नहीं वरन् उनका अब तक सर्वश्रेष्ठ विचार भी था। सौभाग्य से उन्हें पाल जैसा सहयोगी मिला, जिसने बड़ी योग्यता तथा कठोर परिश्रम द्वारा प्रयोगों को सम्पन्न किया। किसी दूसरे के लिए इसे फलीभूत करना असम्भव तो नहीं परन्तु अत्यन्त कठिन होता। जॉनसन तथा डेविस बहुधा आपसी परामर्श करते थे, जो टेलीफोन द्वारा ही होता था। एक दिन डेविस ने बताया कि उनकी प्रयोगशाला में जॉनसन एवं टोरेन के प्रयोग असफल रहे, परन्तु हो सकता है कि दोहराते समय कोई त्रुटि रह गई हो। अच्छा यह होगा कि उन प्रयोगों का पूरा ब्यौरा वह डेविस को भेज दे, जिससे वे उचित रूप से दोहराये जा सकें। ऐसी परम्परा रही है कि किसी भी क्रांतिकारी प्रयोग को पूर्ण मान्यता तभी मिलती है जब कि उसे किसी अन्य प्रयोगशाला में भी स्वतन्त्र रूप से दोहराया जा सके। जॉनसन ने इसे उचित माना और पाल को बुला कर आदेश दिया कि वह किये गये प्रयोगों को पूरा ब्यौरा तैयार करे; जिससे उसे डेविस को भेजा जा सके।

दो दिन पश्चात् पाल ने जॉनसन की सचिव द्वारा कहला भेजा कि तीव्र ज्वर के कारण वह ब्यौरा बनाने में असमर्थ है। एक सप्ताह बाद उसका न्यू यार्क से टेलीफोन आया कि उसकी माता हृदय रोग से पीड़ित है और कुछ दिन उसे वहाँ रुकना होगा। जॉनसन को उलझन हुई और क्रोध भी आया। क्या उसी समय पाल को साथ ऐसी घटनायें घटनी थी, जब कि उसकी साख का प्रश्न था। उसने सोचा कि ठीक यही होगा कि वह पाल की शोध नोट बुक में लिखे प्रयोगों की नकल डेविस को भेज दे।

जॉनसन की प्रयोगशाला में शोध नोट बुक का विशिष्ट स्थान था। प्रत्येक शोधकर्ता को जिल्द बँधी कापी दी जाती थी, जिसके पन्नों पर नम्बर अंकित रहते थे। उसमें प्रयोगशाला का सारा रोजनामचा स्याही से लिखना अनिवार्य था। सभी जोड़-बाकी या अन्य हिसाब भी कापी में लिखना होता था, क्योंकि किसी प्रकार की भी गणना नहीं छूटनी चाहिये थी। कापी समय-समय पर जाँच के लिए मँगाई जाती थी और शोधकर्ता जाते समय इस कापी को प्रयोगशाला में छोड़ कर ही जाता था। पाल की कापी को देखने पर पाया गया कि प्रयोगों की गणनायें सावधानी तथा बारीकी से अंकित न थीं। बफर विलयनों में प्रयुक्त यौगिकों के नाम तक न लिखे थे, HPLC में प्रयुक्त दबावों का वर्णन न था, आदि। इस अवस्था में कापी की नकल भेजना उपयुक्त न जान पड़ा। पाल के लौटने पर ही जॉनसन ने सारा ब्यौरा तैयार कराया और डेविस के पास भेजा।

डेविस के सहयोगी फिर भी प्रयोगों को दोहराने में असफल रहे। जॉनसन ने डेविस को आश्वस्त किया कि वह उन प्रयोगों को निजी प्रयोगशाला में दोहरायेगा और तत्पश्चात् डेविस या सहयोगी को बुला कर अपने सामने करने को कहेगा। इसके अतिरिक्त उसके पास कोई चारा न रह गया था। जॉनसन ने पाल को बुला कर सारी स्थिति समझाई और आदेश दिया कि वह जॉनसन की निजी प्रयोगशाला में प्रयोगों की पुनरावृत्ति करे जिससे सबको उनकी सफलता पर विश्वास हो जाये। दो सप्ताहों में पाल ने सारे प्रयोग जॉनसन की निजी प्रयोगशाला में पूरे कर दिये।

अन्तिम दिन जॉनसन के लिये संकटकालीन था क्योंकि उसी दिन एन्जाइम की परख होनी थी। पाल के अनुसार परिणाम आशा के अनुरूप ही मिले और प्रयोग पूरी तरह सफल रहा। एक विशेष सेमिनार आयोजित कर जॉनसन ने प्रयोगों की सफलता की घोषणा कर पाल की कार्य कुशलता की प्रशंसा भी की। अपने दफ्तर में लौटने पर अपनी मेज पर एक बन्द लिफाफे पर उसकी नजर पड़ी। खोलने पर एक टाइप सन्देश मिला—"कल छुट्टी के दिन सायंकाल डॉ० पाल टोरेन आपकी निजी प्रयोगशाला में क्यों आये थे ?"

प्रोफेसर जॉनसन सन्न रह गये। क्या पाल ने छल-कपट किया है या किसी इर्ष्या ने पत्र लिखा है ? उन्हें लगा कि उचित यही होगा कि पाल को इसकी जानकारी दी जाये और फिर प्रयोगों को स्वयं किया जाय। यदि प्रयोग असफल हों तो डेविस को सारी बातें बतानी भी आवश्यक होंगी। छपे हुए शोधपत्र को यह कह कर वापस लेना होगा कि परिणामों को सत्य प्रमाणित करने के लिए कुछ और प्रयोग आवश्यक हैं। परन्तु उस स्थिति में उसके नये अर्बुद सिद्धांत की अंत्येष्टि निश्चित थी। उधर जॉनसन की अन्तरात्मा कह रही थी कि उसका सिद्धांत सही होना चाहिए। उसे सही प्रमाणित करने के लिए उसने एक दूसरा प्रयोग सोचा जो पहले प्रयोग से सर्वथा भिन्न था। काम जोखिम का था परन्तु उसका खोजा हुआ सिद्धांत दाँव पर था। जॉनसन ने यही मार्ग चुना और निश्चय किया कि अभी बात यहीं तक रखी जाय।

जॉनसन को दिल का रोग होने के कारण जॉनसन के निजी चिकित्सक ने उसे सदा अपने पास नाइट्रो-ग्लिसरिन की गोलियाँ रखने का परामर्श दिया था। उसने एक गोली खाई और प्रयोग में जुटने का निश्चय किया। कुछ दिनों के लिए उसका विभाग में दिखाई देना बन्द हो गया। जॉनसन की अकस्मात अनुपस्थिति से प्रयोगशाला में सनसनी सी फैल गयी। पाल को अत्यन्त तीखा लगा जब जानसन की निजी सचिव ने उसे रूखा सा उत्तर दे दिया कि प्रोफेसर अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयोगों में व्यस्त हैं। यदि कोई आवश्यक सन्देश हो तो वे सन्देश उसके पास छोड़ दें।

प्रयोग अन्ततः सफल रहे। इस प्रकार जॉनसन के अर्बुद उत्पत्ति सिद्धांत की दूसरी प्रयोग शृंखला द्वारा स्वतन्त्र रूप से पुष्टि हो गई। इसकी घोषणा एक विशेष आयोजित सेमिनार में की गई और शीघ्र ही इसकी सूचना अन्य प्रयोगशालाओं में पहुँच गई। सारे भाषण में पाल द्वारा किये पूर्व प्रयोगों की कोई चर्चा न थी। जॉनसन ने अपने प्रयोगों के परिणामों को शोध पत्रिका में प्रकाशित करने की जल्दी नहीं की वरन् डेविस को परामर्श दिया कि अब उन्हें पाल द्वारा किये प्रयोगों को दोहराने की आवश्यकता नहीं है। उसके स्थान पर वे अब उनके स्वयं के प्रयोगों की जाँच करें जो अपेक्षाकृत अधिक सरल थे। जाँच के पश्चात् ही जॉनसन अपने प्रयोगों को प्रकाशन हेतु भेजेंगे। जैसी उम्मीद थी डेविस ने प्रयोगों को सफलता पूर्वक दोहराया। परन्तु उसने दोहराये प्रयोगों को कोई नई संज्ञा न देकर अपने शोध प्रपत्र में केवल यह कहा कि इन प्रयोगों द्वारा जॉनसन टोरेन के पूर्व प्रयोग सत्य-प्रमाणित होते हैं, जिनके द्वारा अर्बुद उत्पत्ति सिद्धांत प्रस्तावित हुआ था।

कुछ समय पश्चात् डेविस ने जॉनसन को फोन पर बताया कि पाल टोरेन, डेविस के पास एक पोस्ट-डाक स्थान चाहता है। किसी अन्य प्रयोगशाला में अनुभव अर्जित करने की उसकी इच्छा है, यद्यपि उसे जॉनसन की प्रयोगशाला में सारी सुविधायें उपलब्ध हैं। डेविस चाहते थे कि यदि जॉनसन पाल की कार्य कुशलता का अनुशंसा पत्र

लिख भेजें तो डेविस पाल को सरलता से अपनी प्रयोगशाला में रख सकेगा। जॉनसन की सिफारिश के बिना वे पाल को अपनी प्रयोगशाला में कार्य करने की अनुमति न देगा।

जॉनसन असमंजस में पड़ गया। यदि वह पाल की सिफारिश न करे तो उसे डेविस को सारी स्थिति समझानी पड़ेगी। दूसरी ओर यदि सिफारिश का पत्र देता है तो उसे सदा पाल द्वारा किये प्रयोगों मे जुड़ा रहना पड़ेगा। अन्ततः उसने सिफारिश भेज दी और पाल शीघ्र ही स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय में डेविस की प्रयोगशाला में चला गया।

अक्तूबर माह में जॉनसन के पास स्टॉकहोम से टेलीफोन आया। स्वीडन की अकादमी के अधिकारी ने उसे आयुर्विज्ञान में नोबेल पुरस्कार प्राप्त होने की सूचना दी। उल्लास से जॉनसन की हृदय की धड़कन तीव्र हो गई और उसे ग्लिसरिन की गोली खानी पड़ी। तुरन्त ही अनेक पत्रकारों द्वारा बधाई के फोन भी आये, और प्रश्नों का ताँता बँध गया। इसी काल में डेविस का भी फोन आया। उसने बताया कि इस वर्ष आयुर्विज्ञान का पुरस्कार दो अमेरिकी वैज्ञानिकों में विभाजित हुआ है, जिसमें एक स्टेनफोर्ड का पाल टोरेन है। कैसी विडम्बना थी कि वहाँ बिना कुछ कार्य किये स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय को एक पुरस्कार विजेता मिल गया। यह सुनकर जॉनसन सन्न रह गया।

नोबेल पुरस्कार के इतिहास में ऐसे भी अवसर आये हैं कि कार्य तो तरुण वैज्ञानिक ने किया और पुरस्कार प्रयोगशाला के निदेशक हड़प गये। इन्सुलिन की खोज के सन्दर्भ में शायद ऐसा ही हुआ था और सम्भवतः इसी कांड के कारण नोबेल कमेटी का बाद में सदैव यह प्रयत्न रहा है कि प्रयोग करने वाले तरुण वैज्ञानिक के दावे को नजर-अन्दाज न किया जाय। इसी कारण अर्बुद उत्पत्ति के सिद्धांत के प्रतिपादन के लिये पुरस्कार जॉनसन और टोरेन दोनों को मिला।

शिष्टाचार के नाते आमतौर से विजेता अपने सह विजेता को सर्वप्रथम बधाई देते हैं। परन्तु जॉनसन तथा टोरेन ने एक दूसरे को पत्र तक न लिखा। पुरस्कार वितरण का समय ज्यों-ज्यों पास आता गया, जॉनसन पर दबाव बढ़ता गया। कारण यह था कि दिसम्बर में पुरस्कार वितरण समारोह के पश्चात् प्रत्येक विजेता को भाषण देना होता है। जॉनसन और टोरेन एक ही शोध पर पुरस्कृत हुए थे और उचित यही था कि एक दूसरे से मशविरा करके अपने भाषण तैयार करते। अभी तक पाल टोरेन ने इस विषय पर कोई पहल नहीं की थी। अतएव जॉनसन स्वतन्त्र रूप से अपना भाषण लिखने बैठा। उन्होंने लिखा—"मुझे अपार दुख है कि...।" हृदय की धड़कन तीव्र होने लगी। उसने नाइट्रोग्लिसरिन की गोली निकालने के लिए हाथ बढ़ाया। हाथ बढ़ा का बढ़ा रह गया। हृदय गति रुक गई और जॉनसन सदा के लिए सो गया।

●●

पेट्रोल के विकल्प ये पेट्रो-पौधे

पंकज कुमार कर्ण

खनिज तेल के सीमित भण्डारों को देखते हुए इसके विकल्पों की खोज आवश्यक हो गयी है। कुछ आवृत-बीजी (एंजियोस्पर्म) पौधों ने वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर काफी आकर्षित किया है, जिनमें **यूफोर्बिया लेथाइरस, यूफोर्बिया तिरुकैलाई, कोपेफेरा लोंग्सडोर्फाई, कैलोट्रोप्रिस प्रोसेरा**' आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त **बोट्रयोकोकस ब्राउनी** और **क्लोरेला पायरोनायडोसा** नामक शैवालों में भी हाइड्रोकार्बन के सम्भावित स्रोत हैं। इन पौधों व शैवालों से प्राप्त हाइड्रोकार्बन की रासायनिक संरचना पेट्रोलियम हाइड्रोकार्बनों के सदृश्य ही होता है तथा इन हाइड्रोकार्बनों को आसानी से पेट्रोलियम में बदला जा सकता है।

वास्तव में इन "पेट्रो-पौधों" की खोजें नयी नहीं है। दरअसल 1935 में इथियोपिया पर कब्जा करने के बाद इटली के सैनिकों ने देखा कि वहाँ उगने वाले **यूफोर्बिया** प्रजाति के पौधों का उपयोग बिना उपचारित किये पेट्रोलियम ईंधन के रूप में किया जा सकता है। फलतः इटली के ईंधन आयोग ने **यूफोर्बिया** से पेट्रोलियम बनाने की सरकार से पेशकश की और उन्हें सफलता भी मिली। अब उन्हें कम लागत पर ही पेट्रोलियम प्राप्त होने लगा। यही नहीं, 1940 में फ्रांसीसियों ने मोरक्को में **यूफोर्बिया** की खेती की और इससे उन्होंने प्रति एकड़ तीन टन पेट्रो-लियम प्राप्त किया।

लेकिन पेट्रो-पौधों में विद्यमान हाइड्रोकार्बनों की रासायनिक संरचना कुछ जटिल होती है। ऐसे पौधों में कार्बन तथा हाइड्रोजन की लम्बी-लम्बी शृंखलायें मौजूद होती हैं। इन पौधों से दूध के समान "लैटेक्स" नामक एक तरल पदार्थ निकलता है जिसमें हाइड्रोकार्बन तथा हाइड्रोकार्बन सदृश्य पदार्थ मौजूद रहते हैं। यहाँ यह बता देना उपयुक्त होगा कि पेट्रोलियम भी विभिन्न यौगिकों, जिनमें मुख्यतः हाइड्रोकार्बन होते हैं, का एक मिश्रण है।

लगभग 900 वंशों और 12500 प्रजातियों के आवृतबीजी पौधों में लैटेक्स पाया जाता है। लैटेक्सधारी पौधे छोटे, एक वर्षीय शाक (**यूफोर्बिया**) से लेकर बड़े-बड़े पेड़ (रबड़ का पौधा) तक होते हैं। सामान्यतया ये पौधे विश्व भर में पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं।

लैटेक्स में दो भाग होते हैं :

(1) तरल द्रव, जो काफी लसदार होता है तथा इसमें कार्बोहाइड्रेट, कार्बन अम्ल, लवण, एल्कलायड, स्टेरॉल तथा वसा मौजूद रहता है।

(2) कार्बनिक पदार्थों के सूक्ष्म कण, हाइड्रोकार्बन तथा हाइड्रोकार्बन सदृश्य पदार्थों के कण होते हैं।

निम्नलिखित पेट्रो-पौधों से कम लागत पर पेट्रोल की प्राप्ति हो सकती है।

ग्राम-छातापुर, पोस्ट-सुरपतगंज, जिला-सहरसा-832137 (बिहार)

यूफोर्बिया

कैक्टस जैसे इस पौधे को 'थोर' के नाम से भी पुकारा जाता है। यह एकवर्षीय पौधा है जिसके लैटेक्स में पर्याप्त मात्रा में हाइड्रोकार्बन मिलता है। **यूफोर्बिया** से प्राप्त हाइड्रोकार्बनों को आसानी से पेट्रोलियम के रूप में उपयोग किया जा सकता है। चूँकि इनका आणविक भार कम होता है, अतः ये वाहनों के इंजनों में नहीं जमते हैं और ये ठीक पेट्रोलियम के हाइड्रोकार्बन जैसे ही होते हैं। पेट्रोलियम उत्पादन के लिए इसकी **यूफोर्बिया लेथाइरस यूफोर्बिया तिरुकैलाई, यूफोर्बिया ट्राइगोना** तथा **यूफोर्बिया कोइरूलेंसेस** नामक प्रजातियाँ काफी महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इन पौधों के लैटेक्स में कम आणविक भार वाले हाइड्रोकार्बनों की मात्रा अधिक होती है। एक एकड़ में उगे **यूफोर्बिया** पौधे प्रतिवर्ष 20-25 बैरल पेट्रोलियम तेल देते हैं। **यूफोर्बिया लेथाइरस** तथा **यूफोर्बिया तिरुकैलाई** पेड़ नहीं बनते हैं, इसलिए मिल में इनकी गन्ने की तरह पेराई की जाती है। **यूफोर्बिया** प्रजाति के बड़े वृक्षों से लैटेक्स प्राप्त करने के लिए उनके तने को जगह-जगह छीलकर उसके नीचे कटोरे लगा दिये जाते हैं।

इनसे तैयार किया गया पेट्रोलियम गन्धक तथा अन्य अवांछित पदार्थों से बिल्कुल मुक्त होता है। इसे बहुत कम पानी की आवश्यकता होती है। अतः सूखे तथा बंजर इलाकों में भी **यूफोर्बिया** की खेती आसानी से की जा सकती है।

कोपेफेरा लोंग्सडोर्फाई

यह लेग्यूमिनेसी कुल का एक वृक्ष है, जो 30-35 मीटर ऊँचा होता है। इस वृक्ष के तने में हाइड्रोकार्बन छोटी-छोटी केशिका नलियों में एकत्र रहता है। इससे लगभग "शुद्ध डीजल" प्राप्त होता है। एक एकड़ में लगे 100 वृक्ष प्रतिवर्ष करीब 25 बैरल तेल (डीजल) पैदा करते हैं। कहा जाता है कि ब्राजील के आदिवासियों को इस वृक्ष (**कोपेफेरा लोंग्सडोर्फाई**) के बारे में बहुत पहले से ही जानकारी थी। वे इस पेड़ के एक मीटर मोटे तने में 5-6 सेन्टीमीटर गहरा छेद कर एक डाट लगा देते हैं और कुछ महीनों के बाद डाट हटाकर 20-25 लीटर तरल हाइड्रोकार्बन इकट्ठा कर लेते हैं। विचित्र बात तो यह है कि इस तरल हाइड्रोकार्बन को डीजल से चलने वाली गाड़ियों में सीधे (बिना किसी उपचार के) व्यवहार में लाया जा सकता है।

कैलोट्रॉपिस प्रोसेरा

इसके सभी भागों (तना, पत्ती, फल) से हाइड्रोकार्बन प्राप्त होता है जो कच्चे पेट्रोलियम सदृश्य होता है। वास्तव में यह एक बहुवर्षीय झाड़ी है जो एसक्लेपियेडेसी कुल के अन्तर्गत आता है। इसका तना सीधा तथा कई घने रोमों से भी ढका रहता है। इसके तनों, पत्तों के अन्दरूनी भाग फलों पर मोम की एक पतली परत जमी रहती है। इसके फलों से प्राप्त हाइड्रोकार्बन की मात्रा **यूफोर्बिया लेथाइरस** से दुगुनी और उच्च कोटि की होती है। इससे काफी मात्रा में हाइड्रोकार्बन प्राप्त किये जा सकते हैं।

असामान्य परिस्थितियों में भी इस पर किसी प्रकार की आँच नहीं आती है। यह बिना किसी देख-भाल के और प्रतिकूल परिस्थितियों में, ऊँचे तापमान और बंजर इलाकों में भी आसानी से जिन्दा रह लेता है। इन पौधों को सड़कों के किनारे, सूखे इलाकों तथा पथरीली जगहों पर भी देखा जा सकता है। आम बोल-चाल की भाषा में यह साधारण आक के नाम से मशहूर है।

शैवाल

बोट्र्योकोकस ब्राउनी नामक शैवाल से प्राप्त हाइड्रोकार्बन अन्य पौधों से प्राप्त हाइड्रोकार्बन जैसा ही होता है। दरअसल यह शैवाल हाइड्रोकार्बन इकट्ठा तो करता है, लेकिन उसका उपयोग नहीं करता है। **बोट्र्यो-कोकस ब्राउनी** में हाइड्रोकार्बन कोशिका के बाहरी भित्ति पर ही एकत्रित रहता है, जो इसके कुल भार का 75% तक होता है।

इस प्रकार पेट्रो-पौधे उन देशों के लिए निश्चय ही वरदान साबित होंगे जहाँ खनिज तेलोंके भण्डार सीमित हैं। भारतीय पेट्रोलियम संस्थान, देहरादून के शोधकर्ताओं ने पेट्रो-पौधों के दो नमूनों में 81 प्रतिशत तक तरल हाइड्रोकार्बन प्राप्त किया है, जिससे 24 प्रतिशत पेट्रोल, 22 प्रतिशत मिट्टी का तेल और 18 प्रतिशत तरल गैस प्राप्त हुई है।

राजस्थान के बेकार पड़े रेगिस्तानी इलाकों में इन पौधों की व्यापक खेती की जा सकती है और भारत अपने को पेट्रोलियम के भयानक संकट से बहुत हद तक बचा सकता है।

●●

रावटभाटा में विकिरण का कहर

प्रेम प्रकाश व्यास

राजस्थान के चित्तौड़गढ़ जिले के रावतभाटा कस्बे में स्थापित राजस्थान परमाणु ऊर्जा केन्द्र, अपनी स्थापना के कुछ ही वर्षों बाद, विकिरण का जहर वातावरण में घोलने लगेगा, इसका अनुमान तो कदाचित इसको स्थापित करने वाले वैज्ञानिकों स्वप्न में भी नहीं रहा होगा। कोटा नगर से पचास किलोमीटर दूर स्थित इस परमाणु ऊर्जा संयन्त्र में दो भारी पानी उत्पन्न करने के संयन्त्र भी लगे हैं। इनमें से एक राणा प्रताप सागर पर, तथा दूसरा तामलोव नामक गाँव में। रावतभाटा के परमाणु ऊर्जा केन्द्र पर कार्य करने वाले कर्मचारियों की आवासीय बस्ती भी मात्र 11 किमी० दूर है। इसके पास ही लगभग नौ कि० मी० दूर है गाँव झरझनी जहाँ के लोग रावतभाटा परमाणु ऊर्जा केन्द्र पर काम करने रोजाना आते हैं।

अध्ययन से पता चलता है कि पूरे वर्ष में हवा का प्रवाह परमाणु संयन्त्र से इन गाँवों की ओर रहता है और विकिरणयुक्त हवा में इस गाँव के लोग जी रहे हैं। हाल ही में चिकित्सकों के एक दल ने इन गाँवों का अध्ययन किया। उन्होंनें पाया कि रावतभाटा ऊर्जा संयन्त्र के 20 कि० मी० के घेरे में विकिरण का कहर आसानी से देखा जा सकता है। बम्बई के एक चिकित्सालय में इस दल ने कई स्लाइडों, फोटो व रिपोर्ट से इस भयानक विपदा को प्रस्तुत

प्रधानाध्यापक, राजकीय माध्यमिक विद्यालय, जसाई (बाड़मेर)-344001 (राजस्थान)

किया है। डॉ० सुरेन्द्र गडकर समेत लगभग 20 चिकित्सकों ने इस क्षेत्र से लगातार प्राप्त हो रही शिकायतों के कारण अध्ययन किया। उन्होंने झरझनी गाँव में देखा कि ग्रामीणों के सीने पर और भुजाओं पर चकत्ते उभरने लगे हैं तथा परमाण्विक विकिरण के प्राथमिक चिन्ह एलर्जी के रूप में प्रकट हुए हैं। त्वचा पर काले धब्बे बनना, जलन व खुजली होना तथा ल्यूकोडर्मा की भाँति त्वचा का स्थान-स्थान पर सफेद हो जाना, अब वहाँ ग्रामीणों में आम बात हो गई है। इन घावों में से रक्त व मवाद आना भी कई ग्रामीणों में देखा गया है।

दो वर्ष के एक बालक का मामला तो निश्चय ही चौंकाने वाला है, जिसकी त्वचा में जगह-जगह ट्यूमर होने लगे। स्थानीय चिकित्सकों के समझ से बाहर हो जाने पर अन्ततः उसके माता-पित ा उसे लेकर कोटा भागे। कहना न होगा इलाज को पूरी प्रक्रिया में उसे अपनी सारी जमीन ही बेचनी पड़ी और बच्चा अभी भी जिन्दगी और मौत के बीच झूल रहा है। चिकित्सकों के दल के अनुसार उसी गाँव का एक भील युवक विकिरण की त्रासदी का आँखें खोलने वाला उदाहरण है। उसके दोनों पाँव बेकार हो चुके हैं और उसकी पेशियों में शिथिलता के कारण वह जल्दी ही लकवाग्रस्त होने जा रहा है। कई लड़कियों को भी चिकित्सक दल ने मानसिक रूप से विकलांग पाया। ग्रामीणों में, पाँवों में न भरने वाले घाव होना एक आम बात हो चुकी है। पास ही के गाँव तामलोव को लें, जहाँ एक तेरहवर्षीय बालक की काँख में एक ट्यूमर हुआ और उसकी चिकित्सा भी उसने कार्रवाई लेकिन अभी तक उसमें कोई सुधार नहीं हुआ। उल्टे उसकी आँतों में कई ट्यूमर उत्पन्न हो गये हैं। लोग बताते हैं कि उसके पिता इसी रोग से मारे गये थे।

चिकित्सा दल की रिपोर्ट बताती है कि निरन्तर लोग कैंसरग्रस्त हो रहे हैं पर यह भी उतना घातक नहीं है जितना विकिरण का आनुवंशिक रूप से प्रभावित करना है। अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि विकिरण से ग्रस्त शिशुओं के जन्म अधिक हो रहे हैं। चिकित्सा दल की स्लाइडों में एक नौ वर्षीय बालक के पाँव का अगला हिस्सा गायब है तो कहीं दोवर्षीय बालिका के हाथ की पूरी उँगलियाँ ही नहीं हैं। सबसे दयनीय है वह तीनवर्षीय बालक जो "मैगासिर्फलिक" या दानवाकार सिर लेकर पैदा हुआ है। वह न तो बैठ सकता है न ही बोल सकता है। मानसिक रूप से विकलांग इस बालक का भविष्य कितना दुःखद है! इनमें से अधिकांश बच्चों के माता-पिता परमाणु ऊर्जा संयन्त्र में कार्यरत हैं। कई छोटे-छोटे शिशु भी "डाउन्स सिन्ड्रॉम" से ग्रस्त पाये गये हैं। डॉ० गडकर के अनुसार सभी कोशिशों के बावजूद यहाँ पर पोलियो का सर्वाधिक प्रकोप पाया गया है। वे बताते हैं कि चेर्नोबिल दुर्घटना से सबसे बड़ी बात यह सामने आयी कि विकिरण से शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता पूरी तरह से नष्ट हो जाती है और श्वेताणुओं के निर्माण में तेजी आ जाती है। इसी से शरीर कैंसरग्रस्त भी हो जाते हैं। बच्चों में अन्धापन, विकलांगता और ट्यूमर आम बात हो जाती है।

विकिरण ने केवल मनुष्यों पर कुप्रभाव डाला हो ऐसा नहीं है। उसने पशुओं को भी नहीं छोड़ा। ग्रामीण बताते हैं कि इस क्षेत्र में पिछले 10 वर्षों में तेजी से पशुओं की संख्या कम होती जा रही है। डॉ० संघमित्रा देसाई गडकर, जो इस चिकित्सक दल के साथ थीं, ने एक दिन में सैकड़ों पशु देखे जो ट्यूमर से ग्रस्त थे। उन्होंने पता लगाया कि ये सारे लक्षण पिछले पाँच वर्षों से ही उत्पन्न हुए हैं। डॉ० संघमित्रा का मानना है कि इस संयन्त्र से रोजाना उससे कहीं अधिक रेडियोधर्मिता का विकिरण हो रहा है, जितना कि इस संयन्त्र के सुरक्षा अधिकारी दावा करते रहे हैं। या फिर उस संयन्त्र में पिछले सत्रह वर्षों में कई दुर्घटनाएँ या रिसाव होते रहे हैं, जिन्हें अधिकारिक स्तर पर छिपाया गया है। उनका सुझाव है कि स्वतन्त्र, पर्यावरण चेतना वाली संस्थाएँ इसकी निष्पक्ष जाँच हेतु

नियुक्त की जायें। इसी बीच बम्बई स्थित परमाणु ऊर्जा केन्द्र ने इस आरोप का खण्डन किया है। उनका कहना है कि 1967 से निरन्तर इस क्षेत्र में वे चिकित्सा सुविधा जुटा रहे हैं तथा रेडियोधर्मी विकिरण की जांच कर रहे हैं। उनके अनुसार राजस्थान परमाणु ऊर्जा संयन्त्र के आस-पास 2 मिलीरेम विकिरण प्रति वर्ष हो रहा है। जबकि अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डों के अनुसार यह सीमा 100 मिलीरेम प्रति वर्ष है। उनका यह भी कहना है कि संयन्त्र के कर्मचारियों के स्वास्थ्य की देखभाल नियमित रूप से हो रही है। रही बात ग्रामीणों की तो, यह काम राज्य सरकार का है। उनका कहना है कि ये सारी समस्याएँ, अस्वच्छता, स्वच्छ पेयजल की कमी और स्वास्थ्य सेवाओं के अभाव से हो रही हैं न कि रेडियोधर्मी विकिरण से।

बहरहाल चिकित्सा दल की रिपोर्ट चौंकाने वाली तो है ही, यह उस आसन्न संकट के प्रति हमें सचेत भी कर रही है जो कभी घट जायेगा तो चेर्नोबिल से कम न होगा।

●●

विकिरण : जीवन की वास्तविकता

दिलीप भाटिया

विकिरण हमारे वायुमण्डल व प्रकृति में विद्यमान है। यह धारणा गलत है कि मात्र परमाणु बिजलीघर ही इसके कारण हैं। परमाणु बिजलीघर नहीं होते तो भी हम विकिरण से बच नहीं सकते थे। कॉस्मिक किरणें निरन्तर विकिरण दे रही हैं। हवाई-यात्रा से विकिरण मिलता है। सुपरसोनिक वायुयान में अधिक विकिरण मिलता है। समुद्र तल से ऊँचाई भी विकिरण का कारण है। समुद्रतल से अधिक ऊँचाई पर अधिक विकिरण-मात्रा मिलेगी। अमीर लोग जो वायुयान से यात्रा करते हैं और अपना ग्रीष्मावकाश पहाड़ी रमणीक स्थलों पर मनाते हैं, उन्हें जन-साधारण की अपेक्षा अधिक विकिरण-मात्रा प्राप्त होगी।

हमारे घर के उद्यान की मिट्टी में 80 प्रतिशत सिलीकॉन होता है। उद्यान की ऊपरी 1 मीटर सतह पर पोटेशियम, यूरेनियम व थोरियम पाए जाते हैं। इनके अलावा अतिरिक्त रेडियोआइसोटोप रूबिडियम कार्बन, बेरेलियम, सीनियम, स्ट्रॉनशियम भी पाया जाता है। इस प्रकार हमारा उद्यान भी हमें विकिरण दे रहा है।

खाद्य-पदार्थों में पोटेशियम-40 की मात्रा होती है। दूध, चाय, सब्जी, चावल-सभी में पोटेशियम-40 होता है। रेडियम-225 व थोरियम-228 की मात्रा भी खाद्य-पदार्थों में पायी गयी है। कार्बन तो हर खाद्य-पदार्थ में होता है। हम औसत प्रति वर्ष 93 किलो कार्बन लेते हैं। खाद्य-पदार्थों द्वारा हमारे शरीर में 5000 से 7000 बेक्वारल रेडियोधर्मिता एकत्रित हो जाती है।

वैज्ञानिक अधिकारी, एस० ई०, राजस्थान परमाणु बिजलीघर, अणुशक्ति-323303, कोटा (राजस्थान)

हमारे शरीर में पोटेशियम-40 में 15 मिलियन एटम प्रति घण्टे डिस्इंटीग्रेट होते रहते हैं। हमारे शरीर में प्रति घण्टे 1 लाख कॉस्मिक रे न्यूट्रान व 4 लाख सेकेन्डरी कॉस्मिक रे पार्टिकल चलते रहते हैं। हमारे फेफड़ों में 30,000 रेडॉन, पोलोनियम, विस्मथ व सीसे के परमाणु प्रति घण्टे डिस्इंटीग्रेट होते रहते हैं। इस प्रकार हमारे शरीर के अन्दर अल्फा, बीटा, गामा व न्यूट्रॉन विकिरण लगातार मिलता रहता है।

दूध में बीयर की अपेक्षा तीन गुनी रेडियोधर्मिता होती है। एक कप दूध में पोटेशियम 40 से 180 बीटा कण प्रति मिनट निकलते रहते हैं। पीने के पानी की अपेक्षा दूध में 200 गुना रेडियोधर्मिता होती है। साधारण फलों की तुलना में बादाम में 14000 गुना रेडियोधर्मिता होती है। एक ग्राम बादाम में प्रति मिनिट में 30 एल्फा कण निकलते रहते हैं।

धूम्रपान करने वाले व्यक्ति को प्रतिदिन 240 माइक्रोग्रे विकिरण मात्रा मिलती है। अस्पताल में करवाया गया एक्स-रे, कंक्रीट या ईंट के मकान, टेलीविजन इत्यादि से भी विकिरण मिल रहा है।

परमाणु बिजलीघर से निकलने वाले विकिरण की मात्रा 1 या 2 प्रतिशत तक ही है। तारापुर, रावतभाटा व कलपक्कम स्थित परमाणु बिजली घरों के आस-पास के वातावरण का विकिरण-मापन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वहाँ के उपस्थित प्राकृतिक स्रोतों में विकिरण में 1 या 2 प्रतिशत भर की ही वृद्धि हुई है।

आइए, मन से इस शंका को निकाल दें कि परमाणु बिजलीघर कोई खतरनाक विकिरण-स्रोत हैं। विकिरण सदा से ही विद्यमान रहा है। परमाणु बिजलीघर नहीं होते तो भी वर्तमान क्षमता का 99 प्रतिशत विकिरण हमें मिलता ही, हम इससे बच नहीं सकते थे। इस तथ्य को हमें स्वीकार करना ही होगा कि विकिरण हमारे जीवन की एक वास्तविकता है।

●●

परमाणु विकिरण अपशिष्ट का उपयोग

डॉ० वीरेन्द्र कुमार सिन्हा

परमाणु उद्योग का मुख्य क्षेत्र उत्पादन के अन्दर आता है। इसलिए परमाणु उद्योग के पर्यावरणीय प्रभाव को ऊर्जा के अन्य स्रोतों से होने वाले पर्यावरणीय प्रभावों के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए। परमाणु ऊर्जा उत्पादन का मुख्य ईंधन **यूरेनियम** नामक तत्व है। इस तत्व के खनन से लेकर ईंधन के भस्म होने तक व ध्रुवावशेष ईंधन के पुनः संसाधन से नये तत्व **प्लूटोनियम**, जिसका इस्तेमाल परमाणु ईंधन के रूप में किया जा सकता है, को निकालने की तमाम औद्योगिक श्रृंखलाओं को परमाणु ईंधन चक्र का नाम दिया गया है। इस चक्र से निष्कासित होने वाला रेडियोधर्मी अपशिष्ट प्रदूषण का सर्वाधिक गम्भीर स्रोत हो सकता है। इसका नियन्त्रण करना परमाणु उद्योग की सबसे महत्वपूर्ण पर्यावरणीय अपेक्षा है। ईंधन चक्र की मुख्य कड़ियाँ निम्न हैं :

(1) भूसर्वेक्षण व खनन,
(2) खनिज से यूरेनियम को अलग करना,
(3) यूरेनियम का ईंधन के रूप में निर्माण,
(4) परमाणु-भट्ठी का प्रचालन,
(5) भट्ठी से निकले, जले ईंधन का पुनः संसाधन, और
(6) ईंधन अपशिष्ट का प्रबन्धन व निपटान।

यहाँ प्रत्येक कड़ी व उससे उत्पन्न पर्यावरणीय प्रभावों के विषय में जान लेना भी समीचीन होगा।

खनन व यूरेनियम का पृथक्करण

खुदाई, विस्फोटक पदार्थों का प्रयोग, चट्टानों की तोड़-फोड़ आदि क्रियायें खनन के मुख्य अंग हैं। जाइगुड़ा खानों में यूरेनियम खनिज लगभग 1 कि० मी० तक की गहराई से निकाला जाता है। खनिज को कूट-पीस कर गंधक के तेजाब, मैगनीशियम व सोडियम क्लोराइड के साथ रासायनिक क्रियायों के प्रयोग से मैगनीशियम डाईयूरेनेट नामक पदार्थ तैयार किया जाता है। इसे पीला केक भी कहते हैं। इसी पदार्थ से हैदराबाद के परमाणु ईंधन संयन्त्र में परमाणु भट्ठियों के लिए ईंधन की छड़ें बनाई जाती हैं। पीला केक बनाने के दौरान जो अवांछनीय पदार्थ बचते हैं और जिनका निपटान करना पड़ता है, वे हैं—

(1) अपशिष्ट केक : इसमें यूरेनियम श्रृंखला के सभी रेडियोधर्मी सदस्य और साथ ही मैंगनीज सल्फेट्स, क्लोराइड्स जैसे विषैले रसायन भी होते हैं।

निदेशक, महिला शाखा, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद-211001

(2) आयन विनिमय से निकलने वाला अत्यधिक अम्लीय घोल ।

इन अपशिष्टों का निपटान निम्न प्रकार से किया जाता है—

सर्वप्रथम अम्लीय घोल को 9.5 पी० एच० पर निराकरित किया जाता है, फिर अपशिष्टों की स्लरी बना कर उसे मोटे धन 200 व बारीक 200 ऋणकणों वाले हिस्सों में बाँट लिया जाता है । मोटे कण वाले भाग को खनन से रिक्त हुए स्थानों में भर दिया जाता है और बारीक कण वाली स्लरी को टेलिंग पॉण्ड में पम्प कर दिया जाता है। वहाँ से द्रव बहकर निकल जाता है और ठोस सतह पर जम जाता है । जब यह पॉण्ड ठोस से भर जायेगा तो उस पर वृक्षारोपण कर दिया जायेगा और इस प्रकार यूरेनियम दोहन के पश्चात् स्थल के पर्यावरण को नष्टप्राय हालत में छोड़ने के बजाय उसे पूर्वावस्था में लाने का प्रयत्न किया जाता है । खनन के अन्य उद्योगों के लिए भी यह तरीका अनुकरणीय है ।

परमाणु ईंधन निर्माण

मैगनीशियम डाइयूरेनेट को नाइट्रिक अम्ल (90 एन) में घोलने के पश्चात् इससे शुद्ध यूरेनियम ऑक्साइड बनाया जाता है । इस पदार्थ से ईंधन की टिकियाँ बनाई जाती हैं, जिन्हें मिश्र धातु की नलियों में बन्द कर ईंधन बंडल बनाये जाते हैं । यूरेनियम ऑक्साइड बनाने की प्रक्रिया में सॉलवेंट एक्सट्रेक्शन संयन्त्र से निकलने वाला यूरेनायल नाइट्रेट रैफिनेट मुख्य अपशिष्ट पदार्थ है । इसे कॉस्टिक डाइ से निराकरित कर दिया जाता है । जमा हुआ पदार्थ सोडियम नाइट्रेट बाद में बिक जाता है । अपशिष्ट द्रव सूर्यताप वाष्पीकरण ताल में सुखा दिया जाता है और इस प्रकार कोई भी अवांछनीय स्राव पर्यावरण में नहीं जाने दिया जाता है । इसी प्रकार सम्बन्धित यूरेनियम ऑक्साइड संयन्त्र से निकलने वाला अमोनियम क्लोराइड भी चूने से मिलाकर और स्थिर कर सूर्यताप वाष्पीकरण ताल में भेज दिया जाता है । ज्वलनशील ठोस अपशिष्टों को रेडियोधर्मी पदार्थों से मुक्त करने के पश्चात् संयन्त्र के अहाते में ही जला दिया जाता है ।

परमाणु विद्युत्घर प्रचालन

प्रचालन व रख-रखाव के दौरान शीतलक सम्बन्धी साफ-सफाई से निकलने वाले पानी में सूक्ष्म मात्रा में रेडियोधर्मी तत्व होते हैं । अल्पायु वाले तत्व तो इस पानी को जमा रखने के दौरान ही समाप्त हो जाते हैं । जब रेडियोधर्मिता निर्धारित सीमा से नीचे आ जाती है तो इस जल को समुद्र में छोड़ दिया जाता है । वाष्पीकरण के बाद रहेसहे ठोस पदार्थ को कंक्रीट में मिलाकर ठोस अपशिष्ट की पद्धति से दफन कर दिया जाता है ।

परमाणु भट्ठी के प्रचालन के दौरान कुछ गैसीय रेडियोधर्मी पदार्थ संयन्त्र की चिमनी से भी निकलते हैं । इसके नाभिकीय पदार्थ तो उच्च दक्षता वाले छन्नों में रुक जाते हैं । जेनान् व आर्गन जैसी निष्क्रिय गैसें हवा में ऊँचाई पर ही घुल जाती हैं । इन तरल व गैसीय पदार्थों के पर्यावरण में पहुँचने से जो विकिरण मात्रा आस-पास के मानवों को मिलसकती है उसकी मात्रा निर्धारित सीमा से काफी नीचे रहती है । जन-सामान्य के लिए लम्बे काल के औसत में इस मात्रा की सीमा प्राकृतिक विकिरण मात्रा की केवल चौथाई मात्र होती है ।

(शेष पृष्ठ 18 पर)

मैं सीमेन्ट हूँ

श्याम सरन अग्रवाल 'विक्रम'

जी हाँ, मैं ही हूँ सीमेन्ट ...

सब का जाना-पहिचाना, सर्वप्रिय, सर्वोपयोगी सीमेन्ट ।

मेरे इतिहासकार मुझे युगप्रवर्त्तक मानते हैं—ठीक वैसे ही जैसे वायुयान, रेडियो आदि ने युगों को नयी पहिचान दी । इंग्लैण्ड के सुदूर डारसेस्टर शायर के दक्षिणी सागर तट के निकट । उन दिनों अल्प-परिचित तथा लगभग भूले-बिसरे स्थल पोर्टलैण्ड से प्रारम्भित मेरा जीवन-सफर डेढ़ सौ वर्ष से अधिक पुराना नहीं । आज भी अनेक नए-नए नामों के बीच पोर्टलेण्ड का उल्लेख मुझे एक अवर्णनीय रोमांचक एहसास से गुजार देता है, मानो किसी ढलती आयु वाले व्यक्ति को उसके जन्म-स्थान की याद दिला दी !

कभी विदेश-प्रवास के दौरान इंग्लैण्ड के लीड्ज विश्वविद्यालय के सिविल इंजीनियरिंग विभाग की मुलाकात का प्रसंग बने तो वहाँ एक शिलालेख मिलेगा—यह कहता हुआ कि जोसेफ एस्पिडीन की पुण्य स्मृति में जिन्होंने आज 20 मार्च, 1855 को पोर्टलेण्ड पेटेन्ट का आविष्कार संसार को दे दिया । यहाँ एस्पिडीन महोदय का संक्षिप्त परिचय अप्रासंगिक न होगा ।

सन् 1778 के पावन क्रिसमस दिवस पर जन्मे एस्पिडीन के पिता थामस एस्पिडीन लीड्ज में राज-मजदूरों के बीच ईंटें जमाने का काम करते थे । बड़ा होकर अपने अन्य भाइयों के साथ पिता के काम में हाथ बँटाते हुए युवा जोसेफ कुछ नयापन प्रस्तुत करने की उत्कंठा से सम्पन्न था । सन् 1811 में विवाहोपरांत वह पाँच बच्चों का पिता बना जिनमें तीन ही दीर्घायु प्राप्त कर सके । दोनों बड़े बेटे पिता की सहायता करते थे । अनेक उतार-चढ़ाव, सफलता-असफलताओं से जीवनभर जूझते एस्पिडीन ने सीमेन्ट-उत्पादन को प्रतिष्ठित और बहुप्रचारित रुतबे पर पहुँचा दिया और 76 वर्ष की परिपक्व आयु प्राप्त करके मार्च, 1855 में जीवन मुक्त हो गया ।

मेरे प्रारम्भिक विभिन्न स्वरूपों की चर्चा तो एस्पिडीन के वयस्क होने से पूर्व ही सन् 1798 से प्रारम्भ हो चुकी थी । अठारहवीं शताब्दी के अर्द्धांश से पूर्व तो एक अन्य ब्रिटिश इंजीनियर ज्हॉन स्मीएटसन इस जुगाड़ में लग चुके थे कि चूने-गारे के स्थान पर पानी से शत्रुता-मित्रता निभाने योग्य कोई मसाला बनाया जा सके ... शत्रुता इस माने में कि पानी में घुलने-मिलने न पाये और मित्रता यह कि ज्यों-ज्यों पानी पीये, दृढ़ से दृढ़तर होता जाये !

तरह-तरह के प्रयोगों की शृंखलाओं के बीच यह निष्कर्ष निकलता रहा कि चूना और चिकनी माटी को भट्ठी में फूंकने पर जो नया पदार्थ मिलता है वह पानी से कुप्रभावित हुए बगैर मजबूती में भी विशिष्टता दर्शाता है । पोर्टलैण्ड के चारों ओर की खुदाई से प्राप्त मिट्टी इस प्रक्रिया द्वारा जो नया पदार्थ देने लगी उसका रंग वहाँ से अन्य खुदाई द्वारा प्राप्त पत्थरों जैसा हलका हरितवर्णी आने लगा, जैसा कि सामान्य शुद्ध सीमेन्ट का रंग होता है ।

---

68 असिस्टेंट लाइन, बिरलानगर, ग्वालियर-474004, मध्यप्रदेश

मेरे प्रारम्भिक विकास में ज्हॉन स्मीएटमन के साथ जेम्स पार्कर और लुई विकेट के भी नाम उल्लेखनीय हैं। ऊपर के अनुसार चूना और चिकनी माटी को भट्ठी में लगभग 1400°C तक के उच्च ताप पर पकाने के पश्चात् कार्बनिक गैस से संयुक्त होने पर मेरा वर्तमान रूप बन पाता है। मैं इस सचाई को भी नहीं भुलाना चाहता कि मुझसे भी युगों पूर्व मिस्र, ग्रीस और रोम-निवासी भवन-निर्मायकों ने मेरे जैसे पदार्थ की कल्पना और प्रयासों के द्वार खोल दिये थे। मैं तो उनके लगाये आम्र वृक्षों का एक क्षुद्र फल मात्र हूँ। श्रेय के मूल अधिकारी तो वे ही हैं। ईसा से भी चार हजार वर्ष पूर्व के मिस्रवासी विशाल प्रस्तर खण्डों को मजबूती से जोड़ने के लिए जिप्सम को इसी प्रकार से भट्ठी में तपाकर नया पदार्थ प्राप्त कर लेने के उल्लेख भी मिलते। तदुपरान्त दो हजार वर्ष पश्चात् चूने को भी जलाने के प्रयोग प्रचलित किये गये। कालान्तर में वह कला ग्रीस और रोम भी पहुँच गयी।

आज तो सीमेन्ट-स्टील की जुगल जोड़ी भवन-निर्माणों में जिस प्रकार प्राथमिकता प्राप्त किए हुए हैं, उसकी विश्व-मान्य महत्ता जो आज असंदिग्ध है, उसके श्रेय के लिए मैं आभारी हूँ अपनी जन्मस्थली पोर्टलैण्ड का जो आज मेरा उत्पादन विश्व-व्यापी बढ़ा-चढ़ा होने पर भी यत्र-तत्र पैकिंग पर 'पोर्टलेण्ड' का उल्लेख मिल जाता है। अपने प्रवर्त्तक जॉसेफ एस्पिडीन का भी मैं कृतज्ञ हूँ। युग की माँग है भवनों की अबाध निर्माण-प्रगति। मुझे सन्तोष है कि मेरा भारत महान भी सीमेन्ट-उत्पादन वृद्धि की ओर सजग है, उद्योगरत है।

●●

(पृष्ठ 12 का शेष)

ईधन अपशिष्ट प्रबन्धन व निपटान एक जटिल समस्या है। यहाँ यह कहना काफी होगा कि हमारे परमाणु उद्योग में इस समस्या से निपटने की क्षमता अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की है। हमारे देश में जले ईधन को संसाधित करके प्लूटोनियम निकाल लिया जाता है, जिससे अपशिष्ट की मात्रा यूँ ही काफी कम जो जाती है। जो अपशिष्ट निकलता है, उसे काँच के साथ पिघला कर स्टेनलेस स्टील के सिलिंडरों में बन्द कर भूमि के नीचे सावधानी के साथ रख दिया जाता है। इसका कोई भी भाग पर्यावरण में नहीं जाने दिया जाता है। इस परमाणु विकिरण अपशिष्टों का उपयोग पूरे औद्योगिक क्षेत्र के लिए अपने आप में एक उदाहरण है।

●●

अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में पहली बार हिन्दी में शोधपत्र

डॉ० राम बहादुर चौधरी

लखनऊ, 9 अक्टूबर 1991

भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के भाषा माध्यम को लेकर दुविधा और विवाद की स्थिति रही है। लेकिन यह निर्विवाद है कि विज्ञान को जनसंस्कृति का हिस्सा बनाने का गुरुगम्भीर कार्य बिना भारतीय भाषाओं को माध्यम बनाये पूरा नहीं हो सकता। इस दिशा में युवा वैज्ञानिकों और विज्ञान लेखकों ने काफी रुचि दिखाया है, और देश में प्रशंसनीय प्रयास हो रहे हैं। गत 23-28 सितम्बर 1991 को एनिमल न्यूट्रीशन सोसायटी ऑव इंडिया, भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद्, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग भारत सरकार, पशुपालन एवं पशुचिकित्सा विभाग कर्नाटक, थर्ड वर्ल्ड ऐकेडेमी ऑव साइन्सेज, इटली आदि के समन्वित प्रयास से बंगलोर के ताज रेजिडेन्सी में 'फर्स्ट इण्टरनेशनल एनिमल न्यूट्रीशन वरकर्स कान्फ्रेन्स' का आयोजन किया गया, जिसमें हिन्दी भाषा में एक शोधपत्र प्रस्तुत किया गया। बताया जाता है कि वैज्ञानिकों के इस ऐतिहासिक संगम के अवसर पर प्रस्तुत किया गया शोधपत्र पशु विज्ञान/पशु-पोषण अनुसन्धान की दिशा में पहला प्रयास है।

उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में एग्रीकल्चरल रिसर्च सर्विसेज की तैयारी में संलग्न पन्तनगर कृषि विश्वविद्यालय के भूतपूर्व छात्र तथा वन एवं पर्यावरण मन्त्रालय के तहत संचालित भारतीय जन्तु कल्याण बोर्ड के अवैतनिक पशु कल्याण अधिकारी **श्री आर० बी० चौधरी** ने इस शोधपत्र को प्रस्तुत किया। उन्होंने जारी एक प्रेस विज्ञप्ति में यह बताया कि कान्फ्रेन्स में पाँच सौ से अधिक देश-विदेश के वैज्ञानिक सम्मिलित हुए। विदेशी वैज्ञानिकों में अमेरिका, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, नीदरलैण्ड आदि से 25 देशों के वैज्ञानिकों ने सहर्ष अपने शोधपत्र पढ़े। इस चहलकदमी के वातावरण में श्री चौधरी ने यह विचार रखा कि भाषा और विषय ज्ञान में समन्वय स्थापित करना भारत जैसे बहुभाषी एवं विकासशील देश के लिए आज बड़ी आवश्यकता है। श्री चौधरी ने विज्ञप्ति में यह भी कहा है कि इसका निराकरण यदि युवा वैज्ञानिक करें तो देश में बेहतर प्रौद्योगिकी स्थानान्तरण ही नहीं, बल्कि इसके साथ-साथ वैज्ञानिक तेवर उत्पन्न करने में आशातीत सफलायें अर्जित की जा सकती हैं।

इस कान्फ्रेन्स में भाग लेने से पहले श्री चौधरी अपने स्नातकोत्तर अध्ययन के दौरान सम्पन्न किये गये शोध कार्य (जैविक विधि से सूखे चारे का उपचार) की रोचक जानकारियों को सरल हिन्दी में आकाशवाणी, दूरदर्शन और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से गाँवों तक ले जाने का सफल प्रयास कर चुके हैं। श्री चौधरी का विश्वास है कि भारत के युवा वैज्ञानिक यदि राष्ट्रभाषा में लेखन की रुचि विकसित कर लें तो पशुपोषण अनुसन्धान क्या, आधुनिक से आधुनिक तकनीकों को तरो-ताजा जनभाषा में प्रयोगशाला से गाँव तक पहुँचाया जा सकता है।

8/114, विकासनगर, कुर्सी रोड, लखनऊ-226020

कान्फ्रेन्स में सम्मिलित देश-विदेश के अनेक वैज्ञानिक काफी प्रभावित हुए हुए और अनुसन्धान के साथ प्रसार प्रणाली के इस युवा प्रयास की सराहना की। इस शृंखला में श्री लंका के प्रख्यात पशुपोषण वैज्ञानिक डॉ० के० के० पथिराना, भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् के सहायक महानिदेशक डॉ० किरन सिंह, एनिमल न्यूट्रीशन सोसायटी ऑव इंडिया के प्रेसिडेन्ट डॉ० एस० पी० अरोड़ा, इंडियन जर्नल ऑव एनिमल रिसर्च के सम्पादक डॉ० के० के० सिंघल ने इसे एक 'अभियान' का नाम दिया।

● ●

पेट में गैस की तकलीफ

श्रीमती शुभा पाण्डेय

पेट की गैस सम्बन्धी तकलीफ अब एक आम पीड़ादायक चिन्तनीय समस्या है। इसके शिकार आप, हम, कोई भी हो सकता है।

पेट में गैस, हृद्‌दाह, उदर के ऊपरी भाग में ऐंठन, गड़गड़ाहट, डायरिया या फिर कब्ज इत्यादि के रूप में हमें अनेक प्रकार से परेशान करती रहती है। अधिकांश लोग तो इस रोज-रोज की समस्या से समझौता कर चुके हैं। वे या तो ऐन्टेसिड गोलियों या फिर घर में बने काले नमक-हींग के चूरन को खाकर कुछ हद तक अपनी तकलीफ से आराम पा जाते हैं या फिर उदर पर गर्म पानी की थैली से सिकाई करके आशा करते हैं इस गैस से छुटकारा पाने की।

पेट में गैस का बनना पाचन सम्बन्धी समस्या है। यह दो रूपों में उभरती है—

(i) पेट में पीड़ा—जिसमें गैस मुँह के द्वारा एक आवाज के साथ बाहर निकलती है। यह प्रक्रिया 'डकारना' कहलाती है।

'डकार' आने का मुख्य कारण है जल्दी-जल्दी खाना-खाना, बिना चबाये खाना, या फिर मुँह खोल कर खाना जिसमें भोजन के साथ-साथ हवा भी पेट में पहुँच जाती है।

भोजन के बाद डकार लेना एक आम और मान्य प्रथा है। हमारे भारतीय समाज में इसे इस बात का द्योतक माना जाता है कि खाना प्रेमपूर्वक और भरपेट खाया गया है, और यह खाना बनाने वाले व खिलाने वाले के लिए प्रशंसा व बधाई का प्रतीक है।

हवा को निगल लेना भी डकार आने का एक कारण है। उदाहरण के तौर पर किसी मनुष्य ने यदि कार्बोनिक एसिड गैस युक्त पेय—यथा सोडावाटर, लेमनेड इत्यादि गटक लिया हो, तब भी डकार आती है।

द्वारा डॉ० विजय हिन्द पाण्डेय, लखनऊ

(ii) दूसरे प्रकार की गैस वह है जो छोटी आँत में बनती हैं और अधोवायु के रूप में बाहर आती है। इस अधोवायु का कारण है **'कुपाचन'**।

कुपाचन की समस्या किसी बीमारी के कारण हो सकती है या फिर भोजन के बड़े बिना चबाये टुकड़ों को पचाने के लिए शरीर से निकले एन्जाइम की पाचन-क्षमता कम होने के कारण हो सकती है।

बिना पचा भोजन बड़ी आँत में चला जाता है जहाँ यह बैक्टीरिया के सम्पर्क में आता है। 'कार्बोहाइड्रेट' के बैक्टीरिया द्वारा किण्वन से गन्धहीन गैस उत्पन्न होती है। प्रोटीन के बैक्टीरिया द्वारा पूतिभवन (putrefaction) से हाइड्रोजन सल्फाइड (H_2S) गैस बनती है जो सड़े अण्डे की गन्ध के समान बदबू से पहचानी जा सकती है।

जिस प्रकार हमारी त्वचा की संवेदनशीलता अलग-अलग मनुष्य में भिन्न होती है उसी प्रकार हमारा पाचन तन्त्र भोजन के मामले में संवेदनशील होता है। अक्सर देखा गया है दो मनुष्यों ने एक ही खाना खाया—जबकि एक को दस्त की शिकायत हो गई।

अधिकांश लोग यही विचार प्रकट करेंगे यदि भोजन दूषित था तो इसका असर दोनों पर पड़ना चाहिए था किन्तु दोनों के पाचन तन्त्र की प्रतिक्रिया का अन्तर इस बात पर निर्भर करता है कि पहले मनुष्य के आमाशय में प्रचुर मात्रा में एसिड है जो हानिकारक बैक्टीरिया को नष्ट करने के लिए पर्याप्त है जबकि दूसरे के आमाशय में या तो कम एसिड बन रहा है या वह भोजन के बीच में अधिक जल ले रहा है जिससे अम्ल की तीव्रता कम हो रही है और हानिकारक बैक्टीरिया उसके प्रभाव से बचकर छोटी आँत तक पहुँच रहे हैं और उसे प्रभावित कर रहे हैं।

जीन्स व गैस

कुछ परिवारों में गैस छोड़ने की प्रवृत्ति देखी गई है। यह प्रवृत्ति उन विशेष जीनों के कारण है जिनमें किसी विशेष बैक्टीरिया के प्रचुरोद्भवन के लिए आनुवंशिक गुण होता है।

हर व्यक्ति दूध को नहीं पचा सकता। ऐसे व्यक्ति में लैक्टोज एन्जाइम का अभाव होता है और उनकी आहारनाल के लिए दुग्धशर्करा को पचा पाना कठिन होता है। लैक्टोज का अवशोषण छोटी आँत में नहीं होता और वह बिना टूटे ही बड़ी आँत में पहुँच जाता है जहाँ बैक्टीरिया द्वारा किण्वन से अम्लीय मल बनता है जो पुनः "डायरिया" व "गैस" के रूप में शरीर से बाहर निकलता है।

आंत्रवायु या अधोवायु (flatus) अक्सर दालें, बीन्स (बीज युक्त सब्जियाँ) व कार्बोहाइड्रेट या स्टार्च युक्त भोज्य पदार्थों को लेने पर बनती हैं। बीन्स व दालों में ट्रिप्सिनरोधी प्रवृत्ति पायी जाती है जो छोटी आँत से निकलने वाले पाचन एन्जाइम ट्रिप्सिन की क्रिया को रोक देती है और भोजन बिना पचे ही बृहद्आंत्र में पहुँच जाता है जहाँ बैक्टीरिया द्वारा उसका किण्वन हो जाता है। चूंकि दाल की अपेक्षा बीन्स में पाचनरोधी प्रक्रिया अधिक होती है, यही कारण है कि बीन्स के प्रयोग से गैस की अक्सर शिकायत हो जाती है। बीन्स व दालें जब अच्छी तरह से पकाई जाती हैं तब यह ट्रिप्सिनरोधीकारक नष्ट हो जाता है। आहार में रेशेयुक्त भोजन के अधिक प्रयोग से भी गैस की शिकायत हो जाती है।

गैस की समस्या का एक और कारक है, खाना खाते समय का वातावरण। बहुत से लोगों का यह अपना अनुभव है जब वे भीड़-भाड़ युक्त वातावरण, जैसे कि रेस्तरां इत्यादि में खाना खाते हैं तब उनका पाचनतन्त्र प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। दो बातें इन पब्लिक की खाना खाने वाली जगहों पर काम करती है—एक तो वातावरण, दूसरा खाने का मीनू।

खाने का यह संकीर्ण व अस्त-व्यस्त वातावरण इस बात पर विवश कर देता है कि खाने को जल्दी से निगलो और दूसरे के बैठने के लिए स्थान खाली करो।

गर्म और मसाले युक्त भोजन के प्रयोग से भी पाचनतन्त्र प्रभावित होता है। आहारतन्त्र में कहीं भी पाचक एन्जाइम की प्रतिक्रिया हुए बिना ही भोजन सीधे बड़ी आँत में पहुँच जाता है। होटलों में दालों को शीघ्र गलाने के लिए सोडाबाईकार्ब का प्रयोग किया जाता है चूंकि यह क्षारीय माध्यम है और आमाशय के अम्ल को उदासीन कर देता है अतः भोजन आमाशय के अम्लीय (gastric juice) से प्रभावित हुए बिना ही आँतों में पहुँच जाता है।

स्व अनुशासन (Self Discipline)

गैस की समस्या दूर करने के लिए कुछ विशेष बातों पर ध्यान देना होगा।

यह अति आवश्यक है कि भोजन 'सन्तुलित' हो और 'अच्छी तरह से चबा कर' खाया जाये (भोजन को चबा कर तरल पदार्थ की भाँति कर लिया जाये)। 'व्यायाम' से भी यह समस्या कुछ हद तक दूर हो सकती है। व्यायाम के साथ-साथ अंतड़ियों में भी गति आ जाती है, जिससे बड़ी आंत में पड़ा भोजन (जिसे आहार नाल में अवशोषित नहीं किया गया है) अधिक देर रुक नहीं पाता (और सड़न से बच जाता है), बैक्टीरिया के विभाजन से भी बच जाता है जो गैस का निर्माण करते हैं।

आँतें अपनी सही गति में रहें इसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हमारे भोजन में हरी रेशेदार सब्जियाँ व फल सम्मिलित हों जिससे मल की मात्रा बढ़ जाये। परिणामस्वरूप सबेरे उठते-उठते व्यक्ति को चाय, सिगरेट पिए बिना मलत्याग आसानी से हो जाता है।

यदि आपको अपने पेट विशेष की प्रवृत्ति का अध्ययन करना है तो अपने प्रतिदिन के भोजन का (सबेरे से रात तक) समय के साथ व उस समय आपकी मानसिक अवस्था क्या थी, का चार्ट अपनी डायरी में बनाना होगा और आपकी यह डायरी ही आपको बतायेगी कि भोजन में आपके लिए क्या अनुरूप है और क्या नहीं।

●●

पक्षी वनस्पतिविज्ञान

डॉ० सतीश कुमार शर्मा

वनस्पतिविज्ञान की अनेक स्थापित शाखाएँ हैं, जिनका विधिवत् अध्ययन विभिन्न विश्वविद्यालयों में किया जाता है। हाल ही में राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में पक्षी-वनस्पतिविज्ञान (**Ornithobotany**) नामक वनस्पति विज्ञान की एक नई शाखा का श्रीगणेश भी हो चुका है। जैसा नाम से विदित है इस विज्ञान में पक्षियों तथा

ORNITHOBOTANY
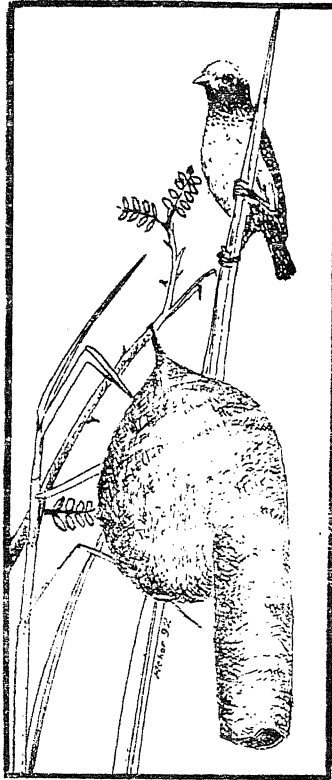
SATISH KUMAR SHARMA
Arboriculturist, World Forestry
Arboretum, Jaipur
ASSISTED BY : MS ALKA AWASTHI,
Department of Botany,
University of Rajasthan, Jaipur

आर्बोरीकल्चरिस्ट, विश्ववानिकी वृक्ष उद्यान, झालाना डूंगरी, जयपुर-302004 राजस्थान

वनस्पतियों के सहसम्बन्धों का अध्ययन निहित है। वस्तुत: पक्षीविज्ञान (Orthology) तथा वनस्पतिविज्ञान (Botany) जैसे दो स्वतन्त्र विषयों का एक अतिव्यापित (Overlapped) क्षेत्र भी है जिसे हम पक्षी-वनस्पतिविज्ञान नाम दे सकते हैं। यों तो पक्षियों तथा वनस्पतियों के सम्बन्ध की घटनायें साहित्य में बिखरी पड़ी हैं, लेकिन उनका पृथक से एक साथ अध्ययन इस नई शाखा के अन्तर्गत किया जा सकता है।

पक्षियों तथा वनस्पतियों के सहसम्बन्ध का क्षेत्र बहुत विशाल है। पक्षी, वनस्पतियों को प्रभावित करते हैं तथा स्वयं भी उनसे प्रभावित होते हैं। पक्षी पौधों से न केवल भोजन, आवास सुरक्षा, नीड़-निर्माण एवं नीड़-अलंकरण सामग्री, उपकरण आदि ही प्राप्त करते हैं बल्कि पौधों को अपनी लाभदायक (एवं हानिकारक) दोनों ही तरह की सेवायें भी प्रदान करते हैं जैसे :

लाभदायक क्रियायें

1. बीज की सुषुप्तावस्था को दूर करना,
2. फल व बीजों का प्रकीर्णन करना,
3. परागण, विशेषकर परपरागण करना,
4. खरपतवारों के बीज नष्ट करना,
5. पुष्पन (फूल खिलने) में मदद करना,
6. कीटों पर नियन्त्रण कर पौधों को उनके प्रकोप से बचाना आदि।

हानिकारक क्रियायें

1. पत्तियां तोड़ कर प्रकाश-संश्लेषी क्षेत्र में कमी करना,
2. तनों एवं शाखाओं में छेद कर ऊतकों को नष्ट करना,
3. कलिकाओं, पुष्पों व कच्चे-पक्के फलों को नष्ट करना,
4. परजीवी पौधों का स्थानान्तरण,
5. जमीन खुरच कर पौधों की जड़ों को उखाड़ना आदि।

यदि सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाये तो हम पायेंगे कि पक्षियों एवं वनस्पतियों का बहुत घनिष्ठ रिश्ता है। पक्षियों के भोजन एवं भोजन आदतों का आभास उनकी चोंच, पंजों तथा उनके आवास से हो जाता है। उदाहरणार्थ चाफिन्च नामक पक्षी कठोर चोंच वाले नहीं होते अत: वे मध्यम आकार के बीज जैसे हैम्प आदि खाना पसन्द करते हैं। लिनेट नामक पक्षी हलकी तथा नाजुक चोंच वाले होते हैं अत: वे छोटे बीज खाना पसन्द करते हैं। ग्रीनफिन्च मजबूत चोंच वाले पक्षी हैं अत: वे बड़े चाव से सूरजमुखी जैसे बड़े बीजों को खोलकर खा जाते हैं। जब चाफिन्च को सूरजमुखी के बीज खाने को दिये जाते हैं तो औसतन वह 45 सेकेन्ड में उसे खा जाती है जबकि ग्रीनफिन्च मात्र 10 सेकेन्ड में ही उसे खा जाती है।

अनेक पक्षी जैसे तोता, मैना, बुलबुल, हॉर्नबिल, कॉपर-स्मिथ आदि फलों को खाना पसन्द करते हैं। शक्कर खोरा, हमिंग बर्ड सहित अनेक पक्षी फूलों का मीठा मकरन्द पीना पसन्द करते हैं तथा अपनी चोंच के प्रहार से पुष्प को समयपूर्व ही खिलने को प्रेरित करते हैं।

साल के किस भाग में कौन से फूल खिलते हैं तथा कौन से फल व बीज पकते हैं तथा उनको कौन-कौन से पक्षी किस तरह उपयोग करते हैं तथा पक्षियों का वितरण किस तरह पुष्पन व फलन से प्रभावित व नियन्त्रित होता है, पक्षीविज्ञान एवं वनस्पतिविज्ञान का मिला-जुला अध्ययन क्षेत्र है।

बीजों के अंकुरण, उपरिरोही तथा परजीवी पौधों के प्रकीर्णन, एन्डेमिक प्रजातियों का अपने मूल स्थान से बाहर वितरण जैसी घटनाओं का पूरा ज्ञान पक्षियों के अध्ययन बिना सम्भव नहीं है। परजीवी पौधों के फलों का गूदेदार होना व रंग, पक्षियों को आकर्षित करते हैं तथा पक्षी अपचित बीजों को उदर के अम्लों से उपचारित कर शीघ्र उगने योग्य बना कर दूसरे वृक्षों, चट्टानों व भवनों की दरारों तक पहुँचाने में मदद करते हैं। इससे न केवल अंकुरण प्रतिशत (Germination percentage) में बढ़ोत्तरी होती है बल्कि पौध प्रतिशत (Plant percentage) भी बढ़ जाता है। पक्षियों द्वारा बीजों को दूर-दूर तक छितराने से पौधों में प्रतिस्पर्धा में काफी कमी हो जाती है। अंकुरण क्रिया में पक्षियों का कितना महत्व है इसका अन्दाज डोडो पक्षी के उदाहरण से लिया जा सकता है। इस पक्षी के विनाश का कारण ही मॉरीशस में कालबेरिया मेजर नामक वृक्ष के विनाश का कारण बना है। डोडो कालवेरिया के कठोर भित्ती वाले बीजों को खाकर अपनी बीट के साथ अपचित बीजों का त्याग देता था। डोडो के गिजर्ड में उपस्थित पत्थरों से खुरचे जाने पर बीजों की कठोर फलभित्ति पतली व कमजोर हो जाती थी तथा उदराम्लों से उपचारित हो जाने के कारण बीज शीघ्र उग आते थे। डोडो के विलुप्तीकरण से कालबेरिया के बीजों का प्राकृतिक उपचार बन्द हो गया फलतः इस प्रजाति के वृक्षों के बीजों ने उगना बन्द कर दिया।

चन्दन के बीजों का पक्षियों द्वारा प्रकीर्णन, अमरबेल, लॉरेन्थस जैसे अन्य परजीवियों के वनों में विस्तार को पक्षियों के अध्ययन के बिना समझ पाना सम्भव नहीं है। पक्षी, परजीवी पौधों के अपच बीजों को दूसरे स्वस्थ्य पौधों पर छोड़ते रहते हैं। कई बार वे अपनी चोंच को साफ करते समय परजीवी पौधों के बीजों को अनायास दूसरी जगह स्थानान्तरित कर देते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जब तक फल व बीजों की रचना तथा पक्षियों की चोंच, भोजन-आदतें एवं पाचन तन्त्र का एक साथ अध्ययन नहीं किया जायेगा, प्रकीर्णन तथा अंकुरण जैसी प्राकृतिक घटनाओं को ठीक से नहीं समझा जा सकता।

कई खरपतवारों का अध्ययन बिना पक्षीविज्ञान के अध्ययन के अधूरा है। भारत तथा जावा में लैन्टाना का प्रकोप, ब्राजील तथा न्यूजीलैण्ड में रूबस का असाधारण फैलाव, यूरोप में प्रूनस सिरोटीना का फैलाव तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक कि हम कुछ खास फलाहारी पक्षियों के भोजन, भोजन-आदतों एवं आवास विशिष्टता का अध्ययन नहीं कर लेते।

कदम-कदम पर पक्षी तथा वनस्पतियाँ आपस में गहरे रिश्तों से बँधी हुई हैं। सफेद लतौरा नामक पक्षी बबूल व अन्य तीक्ष्ण काँटों वाली वनस्पतियों पर अपने शिकार को सूली पर चढ़ा देता है तो वुडपैकर फिन्च कैक्टस के काँटों को एक उपकरण की तरह उपयोग कर वृक्षों की छाल में दरारों में छिपे कीटों को हाँक कर बाहर निकाल लेते हैं तथा उनका सफाया कर देते हैं।

पक्षी पौधों के झुरमुटों में अपने दिन व रात्रि बसेरे बनाते हैं। पौधों पर नीड़ारोपण किया जाता है। पौधों से ही नीड़-निर्माण सामग्री प्राप्त की जाती है। कुछ पक्षी जैसे बीवर पक्षी, बया पक्षी आदि पौधों के फूल तोड़कर अपना घोंसला सजा कर मादा को रिझाते हैं। पक्षियों द्वारा पसन्द फूलों के रंग, उनका प्रकार, उनको तोड़ने व उठाने की प्रक्रिया, परिवहन करने की विधि, सजाने का तरीका एवं कारण आदि बारीकियों का अध्ययन इस नई शाखा का क्षेत्र हो सकता है।

वास्तव में पौधों तथा पक्षियों में घनिष्ठ एवं विशिष्ट सम्बन्ध है। हम पक्षियों के कई तथ्यों को बिना वनस्पति विज्ञान के नहीं समझ सकते। इसी तरह वनस्पति विज्ञान की अनेक घटनाओं को अकेले में, बिना पक्षीविज्ञान के नहीं समझा जा सकता। वनस्पति विज्ञान के कई क्षेत्र यथा परागण, फल व बीज प्रकीर्णन, बीज अंकुरण, उपरिरोहिता, पौध परजीविता, पुष्पन, फीनोलॉजी, पैलीनोलॉजी, पादप भूगोल, वन विज्ञान, वन वनस्पतिविज्ञान आदि बिना पक्षीविज्ञान के ज्ञान के ठीक से नहीं समझे जा सकते क्योंकि इन क्षेत्रों से पक्षीविज्ञान का गहरा सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध को जानने व अध्ययन करने हेतु एक स्वतन्त्रशाखा की स्थापना की गई है जो जितना वनस्पतिविज्ञान का एक भाग है उतना ही पक्षीविज्ञान का भी एक हिस्सा है। वास्तव में यह दो स्वतन्त्र विज्ञानों का मिलन बिन्दु भी है तथा अतिव्यापन वाला क्षेत्र भी। इसी मिश्रित क्षेत्र को समझने हेतु पक्षी वनस्पतिविज्ञान का उद्‌भव हुआ है। आशा है आने वाले वर्षों में जीवविज्ञान की यह शाखा अपना आकार ग्रहण करने लगेगी तथा क्रमशः इसकी पहचान तथा इसका क्षेत्र व महत्व अधिक स्पष्ट होता चला जायेगा।

●●

पिरैमिड : चिकित्सा उपकरण

आर० के० त्यागी

प्राचीन काल से ही मिस्र के गीजा पिरैमिड दुनिया के आश्चर्य रहे हैं। पश्चिमी श्रेष्ठ वैज्ञानिकों के प्रयास से पिरैमिड के आश्चर्यजनक उपयोग मिले हैं। 51°, 51′ के आधार कोण पर झुका हुआ, वर्गाकार आधार पर बना हुआ कोई भी पिरैमिड मॉडल चिकित्सा में उपयोग किया जा सकता है। पिरैमिड लकड़ी, काँच, प्लास्टिक का बनाया जाना चाहिए। एल्युमिनियम को छोड़कर किसी अन्य धातु का प्रयोग नहीं होना चाहिए। यह विद्युत् क्षेत्र चुम्बकीय क्षेत्र से दूर स्थित होना चाहिए और भौगोलिक चुम्बकीय यामोत्तर में स्थिर करना चाहिए। इस मॉडल पिरैमिड के अन्दर मॉडल की 1/3 ऊँचाई पर एक अज्ञात ऊर्जा उत्पन्न होती है जो फलों के जूस, दूध और पानी को प्रभावित करके उसकी गुणवत्ता बढ़ा देती है। मेज पर स्थिर करने लायक छोटा पिरैमिड बनाकर इसके अन्दर दूध, पानी आदि 12 घन्टे तक रखकर ऊर्जा से परिपूर्ण किया जा सकता है। यह दूध और पानी गठिया, मोटापा, रक्तचाप, मानसिक कमजोरी, गुप्त रोग, चर्म रोग, पाचन संस्थान, श्वसन संस्थान, एवं उत्सर्जी संस्थान में लाभकारी पाया गया है। इसी प्रकार 08 फुट ऊँचे पिरैमिड बनवाकर उनके अन्दर ध्यान का अभ्यास कराने से मानसिक रोगों का निदान होता है।

त्यागी इंस्टीट्यूट ऑव कॉस्मिक रे थिरेपी, 127/14 विनोबा नगर, जूही डिपो चौराहा, कानपुर-14

जैसे कि पागलपन, और व्यक्ति विशेष का इस पर कोई वश नहीं। अतः इन पर दोषारोपण नहीं किया जा सकता। दूसरी तरफ बच्चों के बालों का परीक्षण कर, उग्र स्वभाव के बच्चों का इलाज किया जा सकता है ताकि आगे चलकर वे अपराधी न बन जाएँ।

दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने अपराधिक व्यवहार के कारणों का गहराई से अध्ययन किया है। यह आमतौर पर माना जाता है कि कई घटक अपराधी बनाने में सहायक हैं। आस-पास का वातावरण, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारण इसके अन्तर्गत आते हैं। विश्वसनीय आँकड़ों के अनुसार विकासशील देशों की तुलना में विकसित देशों में तिगुने अपराध होते हैं जबकि वहाँ "सभ्य" जीवन यापन के अच्छे अवसर हैं।

ऐसा भी माना जा रहा है कि बच्चे माँ-बाप और बड़ों से अपराध सीखते हैं। वाशिंगटन विश्वविद्यालय के मनोवैज्ञानिक **रॉबर्ट क्लोनिजर** ने 1500 व्यक्तियों पर एक रुचिकर अध्ययन किया। इनमें से 7 प्रतिशत व्यक्ति अपराधिक लक्षण युक्त पाये गये जो कि अस्वस्थ वातावरण में पले परन्तु इनके माँ-बाप का कोई अपराधिक रिकार्ड नहीं था; 12 प्रतिशत व्यक्ति अपराध उन्मुख थे जो स्वस्थ वातावरण में पले परन्तु अपराधिक वंशावली से थे। लेकिन 40 प्रतिशत से अधिक व्यक्ति अपराध-प्रवृत्तियों से ग्रस्त पाये गये जो कि अस्वस्थ वातावरण में पले और अपराधिक वंशावली से आये।

अपराधिक प्रवृत्ति आनुवंशिक भी हो सकती है। सामान्यतया, मानव कोशिकाओं में 46 क्रोमोसोम पाये जाते हैं। क्रोमोसोम में उपस्थित लाखों जीन मनुष्य के आचरण का निर्धारण करते हैं। कैदियों पर अध्ययनों में कई अपराधियों में एक क्रोमोसोम अधिक (अर्थात् 46 के बजाय 47 क्रोमोसोम) पाया गया। क्या यह अतिरिक्त क्रोमोसोम अपराधिक व्यवहार के लिए उत्तरदायी है? वैज्ञानिक अभी असमंजस में हैं।

एक अन्य परिकल्पना के अनुसार सेक्स हारमोनों के असन्तुलन का अपराधिक प्रवृत्ति में योगदान हो सकता है। किसी भी देश में महिला अपराधी 20 प्रतिशत से अधिक नहीं होतीं। पुरुष अधिक आक्रामक एवं उग्र होते हैं। कुछ शोधार्थियों ने आक्रामक व हिंसक पुरुषों में टेस्टोस्टीरोन हारमोन सामान्य स्तर से उच्च मात्रा में रिकार्ड किया। इनमें मस्तिष्क को शांत रखने वाला सेरोटोनिन हारमोन निम्न मात्रा में पाया गया।

कई शोधार्थियों ने असन्तुलित भोजन का अपराध-प्रवृत्ति में योगदान पर अध्ययन किया है। कई मामलों में देखा गया है कि अपराधी बहुत अधिक दूध पीते हैं। शर्करा का शरीर में उच्च या निम्न स्तर सामान्य व्यवहार को प्रभावित करता है।

(सम्प्रेषण से साभार)

●●

समीक्षा :

पत्रिका : पर्यावरण पत्रिका

प्रकाशक : राष्ट्रीय पर्यावरण अभियांत्रिकी अनुसन्धान संस्थान, नेहरू मार्ग, नागपुर-440020

आलोच्य अंक : सितम्बर 1991, वर्ष-1, अंक-1

हर्ष का विषय है कि आजकल विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञान विषयक सामग्री को स्थान मिलने लगा है। इनमें भी पर्यावरण सम्बन्धी लेखों को काफी जगह मिल रही है। पर्यावरण को केन्द्र बिन्दु बनाकर कुछ पत्रिकायें भी प्रकाश में आयी हैं। राष्ट्रीय पर्यावरण अभियांत्रिकी अनुसन्धान संस्थान द्वारा शुरू की गयी 'पर्यावरण पत्रिका' एक ऐसा ही प्रयास है।

पत्रिका का पहला अंक 'विशालकाय बाँध विशेषांक' है। सम्पादकीय के अनुसार आगे भी पत्रिका का प्रत्येक अंक पर्यावरण से सम्बन्धित किसी न किसी विषय पर ही केन्द्रित रहेगा। उद्देश्य अच्छा है। आलोच्य अंक में विशालकाय बाँधों से सम्बन्धित सामग्री देने का प्रयास किया गया है। **सुन्दर लाल बहुगुणा** का लघु लेख 'टिहरी बाँध' विशाल बाँधों के विरोध में और **डॉ० जयशंकर पाण्डेय** का लेख 'विशालकाय बाँध : भविष्य की आशा' समर्थन में लिखा गया है। दो तीन लेख और भी हैं। **संजीव कुमार गोयल** की कविता 'विशालकाय बाँध—नहीं वरदान ...' अच्छी है। कविता में वे एक जगह कहते हैं—

आज के जैसे हालात चले आ रहे हैं खुदा न करे कहीं युद्ध छिड़ जाये
और एक बम इस बाँध पर पड़ जाये तो राष्ट्र का, जनता का,
क्या हृश्र होगा, कभी इसके बारे में भी सोचा ।।

लगता है पत्रिका हड़बड़ी में निकाली गयी है। 12 पृष्ठ की पत्रिका में न तो विषय-सूची है और न पेज नम्बर लिखे गये हैं। यही नहीं, कहीं यह भी नहीं लिखा है कि पत्रिका मासिक, द्विमासिक या त्रैमासिक है। कहीं मूल्य या वार्षिक शुल्क भी नहीं लिखा गया। इससे भ्रम होता है कि यह पत्रिका मात्र अन्य पर्यावरण विभागों से सम्पर्क बनाने हेतु है, जनसाधारण के लिए नहीं।

पत्रिका की छपाई और साज-सज्जा अच्छी है। कागज काफी अच्छे किस्म का है। कागज कुछ सस्ता करके पत्रिका में और पेज बढ़ाये जा सकते हैं तथा सामग्री भी बढ़ाई जा सकती है। पाठकों के पत्रों को स्थान देकर एवं गम्भीर विषयों पर बहस छेड़कर जनजागरण का सक्रिय प्रयास किया जाना चाहिये।

यदि पत्रिका के पृष्ठों की संख्या बढ़ाकर कुछ और स्तरीय लेख शामिल किये जायें तो पत्रिका अधिक अच्छी हो सकती है। इसमें पर्यावरण के सम्बन्ध में अन्य देशों में क्या प्रयास चल रहे हैं, इसके बारे में भी जानकारी दी जानी चाहिये। इसके अलावा इसमें पर्यावरणीय शोधों से सम्बन्धित जानकारी भी शामिल की जानी चाहिये।

वैसे कुल मिलाकर इस पत्रिका का प्रकाशन एक सराहनीय प्रयास है। सामान्य जन को भी इसे उपलब्ध कराना चाहिए। सम्पादक, लेखक, प्रकाशक सभी को साधुवाद।

—विजय जी
जवाहर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद
एवं
सुनील कुमार तिवारी
शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद

पत्रिका समीक्षा :

पत्रिका : वनस्पति वाणी

प्रकाशक : भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण,
पी-8, ब्रेबोर्न रोड, कलकत्ता-700001

आलोच्य अंक : अंक-1, सितम्बर 1990

कुल पृष्ठ : 36

मूल्य : उल्लेख नहीं

'भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण' देश की एक ख्याति प्राप्त संस्था है। इस संस्था ने पिछले सौ वर्षों में देश की वनस्पतियों के सर्वेक्षण, अन्वेषण, वर्गीकरण, संरक्षण आदि में उल्लेखनीय भूमिका निभाई है। हिन्दी में संस्था द्वारा 'वनस्पति वाणी' निकाला जाना एक सराहनीय प्रयास है।

पत्रिका के अनेक लेख वनस्पतियों से सम्बन्धित नहीं है। स्वयं संस्था के निदेशक **डॉ० बी० डी० शर्मा** का पहला लेख नाभिकीय ऊर्जा पर लिखा गया है। यह लेख काफी अच्छा है।

हरित कक्ष प्रभाव, ओजोन परत, तेजाबी वर्षा आदि लेख भी उपयोगी हैं। इन लेखों में कहीं न कहीं वनस्पतियों की भूमिका जरूर दर्शायी गयी है।

'त्रिलोकी नाथ : हिमाचल का एक मनोरम तीर्थस्थल' एक सूचनाप्रद और रोचक लेख है। इस लेख में हिमालय में स्थित एक दुर्गम तीर्थस्थान त्रिलोकी नाथ की यात्रा का वर्णन है। क्षेत्र में पौधों के नमूने एकत्र करने के लिए 1971 की जुलाई-अगस्त में यह यात्रा की गयी थी। 'प्राकृतिक संसाधनों एवं दुर्लभ लुप्तप्राय वनस्पतियों का संरक्षण' तथा 'नागलिंगम्' आदि लेख सूचनाप्रद और स्तरीय हैं।

'भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण' की प्रतिनिधि पत्रिका होने के नाते पाठक इस पत्रिका से अनेक अपेक्षायें कर सकते हैं। उदाहरणस्वरूप भारत में वनस्पति संरक्षण के कहाँ क्या प्रयास किये जा रहे हैं, कौन सी वनस्पतियाँ लुप्तप्राय हैं, किन वनस्पतियों का किस तरह व्यवहारिक उपयोग हो सकता है आदि। यही नहीं, स्वच्छ पर्यावरण के लिए पेड़-पौधे क्या भूमिका निभा रहे हैं जैसे लेख भी दिये जाने चाहिए।

'वनस्पतिवाणी' में दिये गये पुराणों के श्लोक एवं कविताएँ अच्छी हैं। आवरण आकर्षक और छपाई अच्छी है। थोड़े प्रयास से ही पत्रिका में गुणवत्ता लायी जा सकती है। सम्पादक, प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

—विजय जी
जवाहर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद

पुस्तक समीक्षा :

पुस्तक : रसायन शिक्षा पर विचार
लेखक : डॉ० नील रत्न धर
प्रकाशक : उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,
राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन हिन्दी भवन,
महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ-226001
मूल्य : 27 रुपये
पृष्ठ : 198

"इस पुस्तक में मैंने अपने विद्यार्थी जीवन से लेकर 82 वर्ष की आयु तक के अनुभवों को क्रमबद्ध किया है। ये अनुभव मधुर तथा तिक्त होने के साथ-साथ सत्य हैं। मैंने अपने जीवन में कभी कोई समझौता नहीं किया। कठिन परिश्रम और ईमानदारी मेरे जीवन के दृढ़ स्तम्भ रहे हैं, जिनके सहारे मैंने देश-विदेश में प्रचुर सम्मान अर्जित किया है। मुझे इसका गर्व है कि मैं अपने देश का इस समय सबसे वयोवृद्ध रसायनज्ञ हूँ और संसार में शायद कोई ऐसा वैज्ञानिक नहीं है, जिसने मेरे बराबर शोध छात्रों को प्रशिक्षित किया हो।"

पुस्तक की भूमिका में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक **डॉ० नील रत्न धर** के ये शब्द वास्तव में पुस्तक की प्रकृति को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त हैं। लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं कि यह पुस्तक मात्र डॉ० धर की आत्मकथा है। आत्मकथा से कहीं ज्यादा यह पुस्तक रसायनशास्त्र के पिछले 200 वर्षों के इतिहास पर प्रकाश डालती है। आधुनिक रसायन के विकास में यूरोप में वैज्ञानिकों की भूमिका ही सर्वोपरि रही है। सौभाग्य से डॉ० धर ने लन्दन और पेरिस दोनों जगह रहकर शोध कार्य किया। इस बीच वे यूरोप के चोटी के रसायनज्ञों के सम्पर्क में आये और अपनी प्रतिभा विकसित की।

डॉ० धर की सबसे महत्वपूर्ण खोज 'फोटो केमिकल नाइट्रोजन फिक्सेशन' थी। इस खोज पर उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली। स्वीडन के वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में शोध करके उन्हीं परिणामों पर पहुँचे जहाँ डॉ० धर पहुँचे थे। इसी शोध पर डॉ० धर का नाम 'नोबेल पुरस्कार' के लिए प्रस्तावित किया गया था। लेकिन दुर्भाग्य से डॉ० धर को यह पुरस्कार नहीं मिल सका। लेकिन डॉ० धर 1937 और 1944 में 'नोबेल पुरस्कार चयन समिति' के सदस्य बनाये गये थे।

पुस्तक में कुल 198 पृष्ठ तथा 19 अध्याय हैं। पुस्तक के कई अध्याय तो यूरोप में रसायन विज्ञान के विकास पर लिखे गये हैं। यही नहीं, महान वैज्ञानिकों जैसे लेवोजियर, गेलुसाक, ए० जे० लीबेल, जी० डर्बेन, वोहलर, पाश्चर, बर्केलॉट, आरहेनियस, ग्रिगनार्ड, मेरी क्यूरी आदि का उल्लेख करते हुए उनकी खोजों और उनकी शिक्षा परम्परा का भी वर्णन किया है।

डॉ० धर ने 66 वर्ष का लम्बा शैक्षणिक जीवन इलाहाबाद में बिताया। इस दरम्यान वे पहले म्योर सेण्ट्रल कॉलेज, फिर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष और अन्त में शीलाधर मृदा शोध संस्थान में अवैतनिक निदेशक रहे। इस दरम्यान प्रोफेसर धर के निर्देशन में भारत में अनेक ख्याति प्राप्त रसायनज्ञों ने जन्म लिया। यूरोप ही नहीं अपितु भारत में भी रसायन विज्ञान के आधुनिक विकास पर यह पुस्तक बहुत महत्वपूर्ण जानकारी देती है।

पुस्तक की साज-सज्जा और छपाई आकर्षक है। आजकल की मँहगाई के हिसाब से दाम भी ज्यादा नहीं है। रसायन विज्ञान के छात्रों, प्राध्यापकों, शोध छात्रों, विज्ञान लेखकों और जागरूक पाठकों को यह किताब अवश्य पढ़नी चाहिये। पुस्तक के प्रकाशन के लिए उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान को विशेष बधाई।

●●

—विजय जी

विज्ञान परिषद् प्रयाग की दिल्ली शाखा से

मनोज पटैरिया को इंदिरा गाँधी पुरस्कार

28 नवम्बर, 1991 को युवा विज्ञान पत्रकार श्री मनोज कुमार पटैरिया को वर्ष 1990 के लिए भारत सरकार की इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय राजभाषा पुरस्कार योजना के अन्तर्गत प्रथम पुरस्कार से सम्मानित किया गया। यह पुरस्कार भारत के महामहिम उप-राष्ट्रपति डॉ० शंकर दयाल शर्मा ने राजधानी के मावलंकर हाल में आयोजित एक समारोह में प्रदान किया। पुरस्कार में दस हजार रुपये नकद की राशि और एक प्रशस्ति पत्र भेंट किया गया।

श्री पटैरिया को यह पुरस्कार उनकी चर्चित किताब 'हिन्दी विज्ञान पत्रकारिता' पर दिया गया है। उन्होंने विज्ञान के विभिन्न विषयों पर पाँच सौ से भी अधिक लोकप्रिय लेख लिखे हैं। उनके दो नये आविष्कार भारत में पेटेण्ट हो चुके हैं। अनेक पत्र पत्रिकाओं के सम्पादन तथा आकाशवाणी और दूरदर्शन कार्यक्रमों के संयोजन के अतिरिक्त वह वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् (सी० एस० आई० आर०) की पत्रिका 'विज्ञान प्रगति' के सहायक सम्पादक रहे हैं।

श्री पटैरिया आजकल विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी मंत्रालय के अन्तर्गत, आम लोगों तक विज्ञान को ले जाने के उद्देश्य से बनाई गई, राष्ट्रीय विज्ञान और प्रौद्योगिकी संचार परिषद् में वरिष्ठ वैज्ञानिक अधिकारी (प्रथम श्रेणी) के पद पर कार्य कर रहे हैं। विज्ञान लेखन के क्षेत्र में उनका सराहनीय योगदान है और उन्होंने लेखन की विभिन्न
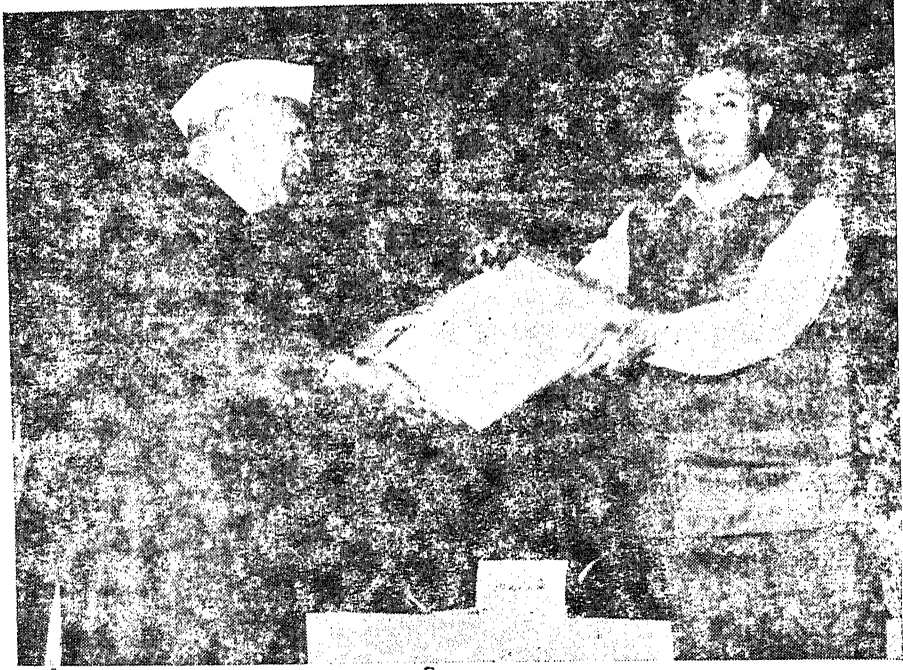
चित्र—उपराष्ट्रपति डॉ० शंकर दयाल शर्मा से पुरस्कार प्राप्त करते हुये श्री मनोज पटैरिया

विधाओं तथा तकनीकों का प्रयोग करते हुए सृजनात्मक विज्ञान लेखन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। उनको उक्त इंदिरा गाँधी पुरस्कार, राजभाषा विभाग, गृहमन्त्रालय भारत सरकार द्वारा प्रदान किया गया है। विज्ञान के लेखन में श्रेष्ठ योगदान के लिए उनको 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' द्वारा वर्ष 1990 के 'डॉ० गोरख प्रसाद विज्ञान पुरस्कार' से भी सम्मानित किया जा चुका है।

—डॉ० रमेश दत्त शर्मा
उपाध्यक्ष
457, हवा सिंह ब्लॉक, खेल गाँव, नई दिल्ली

●●

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय

विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1992

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।

(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।

(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।

(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।

(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1992 से दिसम्बर 1992 माह के बीच प्रकाशित हो।

(6) लेखक को साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।

(7) विज्ञान-परिषद् के सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।

(8) वर्ष 1992 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1993 है।

लेख निम्न पते पर भेजें—

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें ।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद वा रुचिकर हों ।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है । यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें ।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी ।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा । उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है ।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है । कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें ।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझाओं का स्वागत है ।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए । समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी ।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है । विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु०, चौथाई पृष्ठ 50.00; आवरण द्वितीय; तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु० ।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० **व्यक्तिगत** : 500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु०

वार्षिक 25 रु०

प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे,

प्रेषक : विज्ञान परिषद्

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

विज्ञान

मई-जून 1992 अंक

5 रु० मूल्य :

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
मई-जून 1992; वर्ष 78 अंक 2-3

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे
यह अंक : 5 रु०

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7, ए बेली एवेन्यू
इलाहाबाद-211002

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

अलबर्ट आइंस्टीन : एक अद्भुत् व्यक्तित्व

प्रो० रमेश चन्द्र कपूर

ऐसी धारणा है कि आइन्स्टीन वर्तमान् शताब्दी के सबसे उच्च कोटि के वैज्ञानिक थे। गणित तथा भौतिकी में उनका योगदान न्यूटन के बराबर या उससे अधिक ही आँका जायेगा। परन्तु बचपन में वह अत्यन्त साधारण या मंदबुद्धि बालक था। बोलना सीखने में उसे काफी कठिनाई आई थी। वह अत्यन्त झेंपू था और पाठशाला में उसे गुरुजनों ने 'बुद्धू' की संज्ञा दी थी।

परन्तु इस शताब्दी के आरम्भ में उसे यकायक असाधारण ख्याति प्राप्त हुई। संसार के विभिन्न पत्रों में उसके चित्र तथा विचार छपने लगे। गणित के आचार्य का जनता में इतनी ख्याति पाना अत्यन्त आश्चर्यजनक बात है। आइंस्टीन को स्वयं ही नहीं समझ में आता था कि यह सब कैसे हुआ। वास्तव में ख्याति, ऐयाशी और ऐश्वर्य अथवा धन-सम्पत्ति से वह पूर्णतया उदासीन था। एक विदेश यात्रा करते समय जहाज के कप्तान ने आइंस्टीन को सम्मानित करने के आशय से उसे एक अत्यन्त मँहगा तथा आडम्बरपूर्ण कमरे के सेट में ठहरने का आमन्त्रण दिया। परन्तु आइंस्टीन ने उसे विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर मामूली केबिन में रहना प्रसन्द किया।

पचास वर्ष की आयु होने पर जर्मनवासियों ने आइंस्टीन का भव्य अभिनन्दन किया। उनके सम्मान में बर्लिन की पोट्सडेस उपनगरी में उनकी अर्धप्रतिमा स्थापित की गई। उन्हें विशेष हवेली दी गई और साथ में एक नौका भी जिस पर वे पास की झील में नौकाविहार कर सकें। परन्तु शीघ्र ही भाग्य ने पलका खाया। जर्मनी में हिटलर के सत्ता हथियाने के बाद आइंस्टीन को सब कुछ छोड़ना पड़ा और विदेश में शरण लेनी। पहले कुछ सप्ताह बेल्जियम में कड़ी सुरक्षा में गुजारे और बाद में उन्होंने अमेरिका की ओर मुख मोड़ा क्योंकि प्रिंस्टन के उच्च अध्ययन संस्थान की ओर से उन्हें प्रोफेसर पद स्वीकार करने का आमन्त्रण प्राप्त था। वे एक जहाज द्वारा योरोप से अमेरिका के लिए रवाना हो गये। न्यूयार्क पहुँचने पर वे पत्रकारों की भीड़ से बचना चाहते थे इस कारण उनके शुभचिन्तकों ने उन्हें जहाज के बन्दरगाह पहुँचने के पूर्व ही एक नाव पर उतार लिया। चुपके से उन्हें किनारे ले जाया गया जहाँ से मोटर कार द्वारा उन्हें प्रिंस्टन पहुँचाया गया।

आइंस्टीन के सापेक्षवाद पर सहस्त्रों पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं, परन्तु उन्हीं के अनुसार संसार में मात्र बारह समकालीन व्यक्ति ही उस सिद्धान्त को भली भाँति समझते थे। एक सामान्य पुरुष के पूछने पर उन्होंने सापेक्ष-वाद को इन सुलभ शब्दों में समझाया—"यदि तुम एक सुन्दर बाला के पास एक घण्टे तक बैठोगे तो तुम्हें ऐसा लगेगा कि केवल एक मिनट ही गुजरा है। परन्तु यदि तप्त तवे पर एक मिनट के लिए बैठा दिया जाय तो वह समय तुम्हें एक घण्टे से भी लम्बा लगेगा।"

ए 4/8, रेजीडेन्सी रोड, जोधपुर-342001 (राजस्थान)

आइंस्टीन ने दो बार विवाह किया था। पहली पत्नी द्वारा उनके दो प्रतिभाशाली पुत्र हुए, फिर भी उन्हें पत्नी से अलग होना पड़ा। दूसरी पत्नी ने आइंस्टीन की भली प्रकार देख-भाल की। वह कहा करती थीं कि उसे सापेक्षवाद का तो एक शब्द भी समझ में नहीं आया परन्तु अपने पति के स्वभाव को समझने में वह सफल रहीं। वह प्रायः मित्रों को चाय पर बुलाया करती थीं, परन्तु अतिथियों के आने पर जब वह प्रोफेसर के कक्ष में उन्हें बुलाने जातीं तो वह उत्तेजित होकर कहने लगते, "नहीं ! मुझे चाय पर आने का समय नहीं है। मैं बिल्कुल नहीं आ सकता। मुझे अपने कार्य में इस प्रकार का व्यवधान बिल्कुल पसन्द नहीं है। मैं इस दशा में काम नहीं कर सकता। मैं यहाँ से चला जाऊँगा।" उनकी पत्नी धैर्यता से सब कुछ सुनती रहती थीं और जब आइंस्टीन की सारी उत्तेजना समाप्त हो जाती तब वह उन्हें अपने साथ चाय पर ले आती थीं। इस प्रकार आइंस्टीन को कुछ विश्राम भी मिल जाता था, जो उनके स्वास्थ्य के लिये नितान्त आवश्यक था।

अपनी विचारधारा में आइंस्टीन पूर्ण रूप से व्यवस्थित थे। इसी कारण वे उच्चतम कोटि के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर सके थे। परन्तु सामान्य जीवन में वे नितान्त अव्यवस्थित रहते थे। उनकी जब जो इच्छा होती, वही करते थे। उनके केवल दो नियम थे, जिनका वह पालन करते थे। उनका पहला नियम था कि अपने सामान्य जीवन में कोई नियम न रखना और दूसरा नियम था दूसरों की राय की कोई परवाह न करना। वे सदा सादे ढंग से रहते थे। जो कपड़े पहनते थे वे प्रायः गुड़ी-मुड़ी ही रहते थे। उन्हें स्नानगृह में सीटी बजाना और गाना अच्छा लगता था। बाथ टब में ही बैठकर वे दाढ़ी बनाते थे और शेव के लिये वे नहाने के साबुन का ही उपयोग करते थे। उनके अनुसार नहाने तथा दाढ़ी बनाने के लिये अलग-अलग साबुनों का उपयोग जीवन को जटिल बना देगा। यह उस महापुरुष के विचार थे जो ब्रह्माण्ड की जटिलतम समस्याओं को समझने में सदा प्रयत्नशील रहा।

आइंस्टीन एक अलमस्त पुरुष थे। उनकी स्वस्थ मानसिक स्थिति का रहस्य यह था कि उन्होंने किसी अन्य व्यक्ति से किसी उपकार या उपहार की अपेक्षा नहीं की। उन्हें धन-वैभव, उपाधि अथवा प्रशंसा की कोई इच्छा नहीं थी। वे अपनी नौका में घूमकर और वायलिन बजाकर प्रसन्न रहते थे। उन्हें संगीत के माध्यम से सोचना और जीवन निर्वाह करना बहुत अच्छा लगता था।

एक बार बर्लिन में ट्राम में यात्रा करते समय उन्होंने कन्डक्टर को टिकट खरीदने के लिए एक राशि दी। कन्डक्टर ने टिकट के साथ बाकी रेजगारी वापस दी। आइंस्टीन ने उससे कहा कि उसे गलत रेजगारी मिली है। कन्डक्टर ने रेजगारी फिर से गिनी और उसे सही पाया। सिक्कों को वापिस करते हुए उसने आइंस्टीन से कहा— "ऐसा लगता है कि आपको ठीक से गिनना नहीं आता।" कैसी विडम्बना है— कन्डक्टर ने ये शब्द विश्व के सर्वोच्च गणितज्ञ से कहे थे।

●●

वरेण्य विज्ञानी डॉ० नीलरत्न धर : जन्मशताब्दी श्रद्धांजलि

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

"मेरे जीवन का उद्देश्य विज्ञान के माध्यम से मानव-मात्र की सेवा करना रहा है। इसके लिए मैंने अध्यापन-कार्य को चुना, विद्यार्थियों को प्रशिक्षित किया और अपनी गाढ़ी कमाई में से विभिन्न विश्वविद्यालयों को बीस लाख रुपये का दान दिया।" ...

"मुझे इसका भी गर्व है कि मैं अपने गुरुओं को भूला नहीं। मैं सबसे अधिक **सर जे० सी० बोस तथा पी० सी० राय** से प्रभावित हुआ, जिसके फलस्वरूप मैं भी प्राचीन भारतीय जीवनशैली का पालन करने के लिए बाध्य हुआ।" ...

"यद्यपि मैं इस समय 90 वर्ष का हूँ, किन्तु मुझे थकान नहीं लगती। मेरा दैनिक जीवन नियमित है।"...

"मैंने अपने जीवन में कभी कोई समझौता नहीं किया। कठिन परिश्रम और ईमानदारी मेरे जीवन के दृढ़ स्तम्भ रहे हैं, जिनके सहारे मैंने देश-विदेश में प्रचुर सम्मान अर्जित किया है।"

ये वाक्य मेरे गुरुवर पूज्य **डॉ० नीलरत्न धर** की पुस्तक "रसायन-शिक्षा पर विचार" की भूमिका में से हैं। 90 वर्ष की परिपक्व अवस्था में लिखी इस पुस्तक की पांडुलिपि उन्होंने हिन्दी संस्थान, लखनऊ को प्रकाशनार्थ दी थी और मुझे इसका खेद है कि पुस्तक उनके जीवनकाल में प्रकाशित नहीं हो पायी।

डॉ० धर का देहान्त 5 दिसम्बर 1986 को छोटी-सी बीमारी के बाद हुआ। तब वे 94 वर्ष के थे। हम लोग तो उनके शतायु होने के प्रति पूर्ण आश्वस्त थे। उनकी मृत्यु के साथ उत्तर भारत ही नहीं, पूरे देश की रसायन-परम्परा का एक सुदृढ़ स्तम्भ ढह गया। "हरे कृष्ण" सम्प्रदाय के संस्थापकाचार्य **श्रील प्रभुपाद** ने कहा है कि "जब गुरु का निधन हो तो शिष्यों को जोर-जोर से रोना चाहिये।" सचमुच हम उनके शिष्य अपनी रुलाई न रोक सके।

2 जनवरी 1992 को डॉ० धर का 100वां जन्मदिन था। उस दिन से साल भर उनका जन्मशताब्दी वर्ष मनाने की योजना बनायी गयी है। कार्यक्रमों का आरम्भ इलाहाबाद से होगा, क्योंकि यही उनकी कार्यस्थली रही है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय का शीला धर मृत्तिका गवेषणागार न केवल डॉ० धर की दूरदर्शिता एवं कर्मठता का प्रमाण है, अपितु अपनी पत्नी के प्रति उनकी स्मृति-थाती है।

डॉ० शिवगोपाल मिश्र, शीलाधर मृदाविज्ञान संस्थान, इलाहाबाद वि० वि० के भूतपूर्व निदेशक और इलाहाबाद विश्व-विद्यालय के रसायन विभाग में प्रोफेसर हैं।

अभी गत नवम्बर में देश के विशिष्ट वनस्पतिशास्त्री **डॉ० बीरबल साहनी** की जन्मशताब्दी लखनऊ और इलाहाबाद में बड़ी धूमधाम के साथ बनायी गयी। डॉ० साहनी और डॉ० धर एक ही खेवे के वैज्ञानिक थे। दोनों विदेश से शिक्षा समाप्त करके 1919 ई० में एक ही जहाज से भारत लौटे थे। डॉ० साहनी का जन्म-सम्बन्ध पंजाब से था, किन्तु उन्होंने पहले बनारस और फिर लखनऊ को अपना कर्मक्षेत्र बनाया। डॉ० धर बंगाल की शस्यश्यामला भूमि के रत्न थे और उन्होंने प्रयाग को अपने सुदीर्घ ज्ञानसत्र का स्थल बनाया।

डॉ० नीलरत्न धर 2 जनवरी 1892 को एक मध्यम-वर्गीय परिवार में कलकत्ता से ठीक 75 मील दूर स्थित जैसोर में जनमे थे, जो अब बांग्लादेश के अन्तर्गत है। पिता प्रसन्न कुमार धर वकील थे और नीलरत्न उनकी नौ सन्तानों में से तीसरे थे। अपनी अन्तिम पुस्तक में पिता के विषय में डॉ० धर ने लिखा है : "विवाह के समय मेरे पिता की आयु 41 वर्ष तथा माता नीरदमोहिनी की आयु केवल 11 वर्ष थी। मेरे पिता का जीवन सीधा-सादा तथा व्यवस्थित था। वे सादा भोजन करते थे और रोज दूर-दूर तक घूमने जाते थे। फरवरी 1930 में 97 वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हुई। मेरी माँ जो मेरे पिता से 30 वर्ष छोटी थी, पिता की मृत्यु के एक वर्ष के भीतर स्वर्ग सिधारी। यद्यपि वे ज्यादा पढ़ी-लिखी न थी, किन्तु काफी तेज और प्राकृतिक ज्ञान से भरपूर थी।" डॉ० धर के दीर्घ जीवन और सादगी का रहस्यसूत्र हमें यहाँ मिल जाता है।

अपने जिन दो गुरुओं **जगदीश चन्द्र बसु** तथा **प्रफुल्ल चन्द्र राय** का उल्लेख डॉ० धर के अनन्य भक्तिभाव से किया है, वे बंगाल ही नहीं पूरे देश के लिए आदर्श गुरु थे। प्राचीन भारतीय जीवनशैली अपनाने की प्रेरणा उन्हें आचार्य राय महोदय से ही मिली थी। गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता से भरकर उन्होंने लिखा है, "मेरे गुरु मुझसे बहुत स्नेह करते थे और अपने समकक्ष समझते थे। वे जीवन के हर पहलू पर मुझसे स्पष्ट वार्ता किया करते थे।" सच तो यह है कि योग्य और सत्पात्र शिष्य को पाकर गुरु भी धन्य हो जाता है।

अपने यूरोपीय शिक्षकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना भी डॉ० धर नहीं भूले। उन्होंने लन्दन के **प्रोफेसर जे० सी० फिलिप** की प्रशंसा की है, जिनके निर्देशन में उन्होंने डी० एस-सी० की उपाधि प्राप्त की। एक अध्यापिका **जां मेस्त्र** का भी उन्होंने स्मरण किया है, जिन्होंने फ्रांसीसी में शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने में उनकी सहायता की थी। यहाँ तक कि जर्मनी की जिन शोधपत्रिकाओं में उनके शोधपत्र छपे, उनके सम्पादकों के सहयोग का भी सादर उल्लेख उन्होंने किया है।

डॉ० धर ने अपना प्रथम शोधकार्य 1911 में कलकत्ता में किया था और विदेश से डी० एस-सी० उपाधि प्राप्त करने के बाद वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायन-विभाग में 1919 से 1954 तक अध्यक्ष के रूप में तथा उसके बाद शीला धर मृदा शोध संस्थान के आजीवन निदेशक के रूप में जीवन के अन्तिम क्षणों तक शोधकार्य का निर्देशन करते रहे। उन्होंने 150 से अधिक शोधछात्रों का मार्ग-निर्देश किया और 500 से अधिक शोधपत्र छापे। 6 मई 1986 को उन्होंने निदेशन-भार मुझे सौंप दिया और वर्ष के अन्त में प्रसन्नतापूर्वक शरीर त्याग किया।

डॉ० धर की प्रथम पत्नी **शीलादेवी** थीं, जो उनके साथ 1937 में लन्दन गयी थीं। 1947 में इनकी मृत्यु हो गयी तो डॉ० धर ने इनके नाम पर "शीला धर मृदा शोध संस्थान" खोला। दूसरा विवाह अक्तूबर 1950 में हुआ। द्वितीय पत्नी के साथ 1951 में जब वे यूनिवर्सिटी कॉलेज, लन्दन तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय गये, तब

मैं उनका छात्र था । बाद में जब वे स्वीडन गये तो मैं उनके निर्देशन में प्रयाग में शोधकार्य कर रहा था । रवाना होने के पूर्व उन्होंने न जाने कितने दिनों तक अपने भाषण की सामग्री टंकित करायी थी ।

स्वीडन के उप्साला केन्द्र में उन्होंने अपने सिद्धान्त "प्रकाश-रासायनिक नाइट्रोजन यौगिकीकरण" की पुष्टि करने वाले प्रयोग सम्पन्न कराये । वहाँ के डॉ० बजाल्फे, प्रो० बर्थेल तथा आरेंन्यूज से उनके अच्छे सम्बन्ध थे । वैसे मास्को के मृदा-विज्ञानी प्रो० तुईरिन तथा रूस के विख्यात शस्यविज्ञानी कोब्डा से भी अपने सम्बन्धों की चर्चा उन्होंने की है । डॉ० बर्थेल की मृत्यु 1954 में हुई । उसका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है, "यदि बर्थेल जीवित रहते तो हमारे कार्य पर मुझे भी 'नोबेल पुरस्कार' मिल गया होता ।"

वे देश के सर्वाधिक भ्रमणकर्ता वैज्ञानिक थे और रसायनविज्ञान में देश-विदेश की प्रगति का लेखा-जोखा रखते रहे । "सर एस० एस० भटनागर ने बनारस, लाहौर तथा दिल्ली में, डॉ० जे० सी० घोष ने ढाका, बेंगलूर तथा खड्गपुर में और जे० एन० मुखर्जी ने कलकत्ता तथा दिल्ली (पूसा) में कई योग्य रसायनवेत्ता तैयार किये । भारतीय रसायनज्ञों ने ब्रिटिश शिक्षकों से प्रेरणा ली और ब्रिटेन वालों ने अपने समय में अपने जर्मन एवं फ्रेंच अध्यापकों से प्रेरणा पायी । लन्दन, कैम्ब्रिज तथा ऑक्सफर्ड तो विद्या के केन्द्र और नये-नये वैज्ञानिकों के लिए तीर्थ बन चुके थे ।"

यदि उनसे पूछा जाता कि आप ब्रिटेन, फ्रांस तथा जर्मनी में से किसे अधिक चाहते हैं तो वे फ्रांस का नाम लेते । उन्होंने फ्रांसीसी भाषा सीखी थी और उसमें वे धड़ल्ले से भाषण दे सकते थे । उन्होंने लिखा है कि 18वीं शती से आज तक पेरिस विद्याकेन्द्र के रूप में अग्रणी है । फ्रांस के विज्ञानी आंत्वान लारां लावाजिए (1743-1794) के तो वे बहुत ही बड़े प्रशंसक थे । वे उन्हें वर्तमान भारतीय रसायनज्ञों का पूर्वज मानते थे । सर्वप्रथम लावाजिए ने ही ऑक्सीजन की खोज की और यह घोषित किया कि जीवन-प्रक्रियायें ऑक्सीकरण-प्रक्रियायें ही हैं । आहारविज्ञान के आधुनिक युग का सूत्रपात भी लावाजिए ने ही 1780 ई० में किया ।

शायद डॉ० धर ने ही प्रथम बार इसका उल्लेख किया कि "हमें आभार के साथ मदाम लावाजिए को याद रखना चाहिए, जिन्होंने अपने पति के प्रयोगों तथा उनके मौलिक शोधपत्रों का अनुवाद अंग्रेजी, जर्मन तथा इटालियन भाषाओं में किया और अपने पति की अद्वितीय सेवा की ।" यूरोप में विज्ञान की प्रगति का एक बड़ा कारण वे वहाँ की महिलाओं के अथक परिश्रम को मानते थे । मदाम लावाजिए, मदाम क्यूरी आदि की प्रशंसा करते वे अघाते नहीं थे ।

अपने विशाल अनुभव के आधार पर डॉ० धर ने देश की वैज्ञानिक स्थिति का जो मूल्यांकन किया है, उससे हमारी कमी, हमारी मनोवृत्ति आदि का पता चलता है । उनके मतानुसार, भारत में आधुनिक विज्ञान की उम्र केवल 60-70 वर्ष है, जबकि उत्तर-पश्चिम यूरोप के वैज्ञानिकों ने लगभग 500 वर्षों तक कठिन परिश्रम किया है ।

बड़ी वेदना के साथ उन्होंने लिखा है, "आठवीं शताब्दी ई० के बाद हमने देश में प्रयोग नहीं किये, न विज्ञान की प्रयोगात्मक विधियों को ही स्वीकार किया । सम्भवतः यही कारण है कि हम इतने पिछड़े हुए हैं और अपने कार्यों तथा प्रयासों में ईमानदारी नहीं हैं . . . कर्तव्यनिष्ठा, कर्मठता से वैज्ञानिक कार्य तथा उचित मार्ग पर काम

करने के बजाय हम शासकीय अधिकारियों को सलाम कर, उनकी हाँ में हां मिलाकर और आत्म-प्रचार करके अपना स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयास करते रहे हैं।"

तथ्यपूर्ण आलोचना में वे किसी को बख्शते नहीं थे, चाहे अपने देश के नेहरू हों या विदेश के ब्रुइन ' उनके शब्द हैं, "प्रधान मंत्री के नाते पंडित नेहरू का यह कथन औचित्यपूर्ण नहीं था कि भारतीय वैज्ञानिकों का विज्ञान के क्षेत्र में योगदान तुच्छ या निम्नस्तरीय है और उससे राष्ट्र को किसी तरह का लाभ नहीं मिला है। मुझे इन बातों पर अत्यन्त क्षोभ हुआ, अत: मैंने प्रधान मंत्री से अपना विरोध प्रकट किया। मैंने बताया कि 1914 की प्रथम सायंस कांग्रेस में मैंने भाग लिया था और 58 वर्षों में स्तर सुधरा है और हमने विज्ञान में अन्य देशों के समान ही उन्नति की है।"

जब डॉ० ब्रुइन ने 1956 में पेरिस में हुई मृदाविज्ञान कांग्रेस में नाइट्रोजन उर्वरकों के उपयोग के लिए उत्तर-पश्चिमी यूरोप के देशों में अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोग का प्रस्ताव रखा, तो डॉ० धर ने उसे अव्यावहारिक बतलाया और फलस्वरूप ब्रुइन को अपना प्रस्ताव वापस लेना पड़ा था।

सन 1961 में डॉ० धर भारतीय सायंस कांग्रेस के रुड़की अधिवेशन के अध्यक्ष बनाये गये। उस अवसर पर उन्होंने कहा था, "अभी तक विज्ञान भारतीय जनमानस में नहीं उतर पाया है और हम अपने प्रयासों व कार्यों में अभी तक ईमानदार नहीं बन पाये हैं।"

इसी तरह अन्यत्र उन्होंने लिखा, "प्रो० साहा, डॉ० भटनागर, डॉ० कृष्णन, डॉ० साहनी, डॉ० जे० एन० मुखर्जी जैसे प्रख्यात वैज्ञानिक पं० नेहरू द्वारा भारतीय विज्ञान कांग्रेस के उद्‌घाटन समारोहों में उपस्थित रहा करते थे। ये सब वैज्ञानिक सम्भवतः, शक्तिशाली और 'महान मुगल' कहे जाने हाले प्रधान मंत्री के कृपापात्र बनने के लिए ही ऐसा किया करते थे। ये महानुभाव प्रधान मंत्री के जाते ही अधिवेशनों से गायब हो जाते थे। वहुधा विज्ञान कांग्रेस के सत्र प्रधान मंत्री के व्यस्त कार्यक्रमों के कारण देर से आरम्भ हुआ करते थे।"

निर्भीकता, स्पष्टवादिता और अपने सिद्धान्तों पर अटल रहने की आदत के कारण ही बाद के जीवन में वे अलग-थलग पड़ गये थे। फिर उन्होंने कभी किसी की चाटुकारिता नहीं की और न समझौता किया। वे विश्वमानव के कल्याण की बातें करते थे। अपने देश की गरीबी उन्हें व्यथित करती थी। जनसंख्या-वृद्धि के कुप्रभावों से वे आशंकित थे। अनाज का उत्पादन बढ़ाने के लिए वे जीवन-भर अपने "प्रकाश-रासायनिक नाइट्रोजन यौगिकीकरण" का यज्ञ करते रहे, जिसमें 150 ऋत्विजों ने आहुतियाँ दीं। उनका एक ही मंत्र था—"मिट्टी में जैव अंश बढ़ाने, फॉस्फेट डालने तथा उचित सावधानी बरतने से अच्छी उपज ली जा सकती है।" सुनने में सरल और संक्षिप्त परन्तु प्रभाव में अत्यन्त गुणकारी। हमारा दुर्भाग्य कि इस ऋषि-वचन पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। शायद इसलिए कि कुछ लोग इसे भ्रम समझते थे, और कुछ ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित थे।

किन्तु अब विवेक और कृतज्ञता का तकाजा है कि उनका शताब्दी-समारोह मनाने के बहाने ही सही हम उन्हें स्मरण करें और उन्होंने जो कुछ किया और कहा उससे लाभ उठायें।

● ●

सागर सम्पदा : एक वैज्ञानिक विश्लेषण

डॉ० रवि शंकर पाण्डेय एवं मानवेन्द्र त्रिपाठी

सभ्यता के विकास से ही विज्ञान मानव का सबसे बड़ा सहयोगी रहा है। मानव प्रयास के जिन-जिन क्षेत्रों की ओर हम देखते हैं हमें विज्ञान की अमिट छाप देखने को मिलती है। वास्तविकता तो यह है कि जीवन के ऐसे क्षेत्र की कल्पना दुष्कर ही नहीं अपितु असम्भव भी है जहाँ वैज्ञानिक अनुसंधानों से लाभ न मिल रहे हों। हमें भविष्य इसलिये सुनहरा प्रतीत होता है क्योंकि हमारा वर्तमान सतत वैज्ञानिक ज्ञान से समृद्धि रहा है।

वास्तव में, इसे विडम्बना ही कहा जायेगा कि बुद्धि को चमत्कृत कर देने वाली बहुमुखी प्रगति के बावजूद मानव अनेक समस्याओं से जूझ रहा है। इनमें प्रमुख है पर्याप्त भोजन की समस्या, असाध्य रोगों (एडस्, कैंसर) से सुरक्षा और विनाशकारी अनुसंधानों से बचाव। इन समस्याओं से उबारने के लिए विज्ञान ही कोई रास्ता निकाल सकता है—चाहे यह प्रौद्योगिकी के नये-नये आविष्कारों के द्वारा हो या समुद्र के द्वारा हो, जिसकी अपार क्षमता का अभी तक प्रयोग नहीं किया जा सका हैं।

मानव जाति का अस्तित्व और कल्याण पूर्णतया प्राकृतिक संसाधनों पर आश्रित है। प्रकृति के अन्धाधुन्ध दोहन के परिणामस्वरूप प्राकृतिक संसाधनों का तेजी से लोप होता जा रहा है। इसकी भी सम्भावना है कि आने वाले 25-30 वर्षों में पृथ्वी से प्राप्त होने वाले कच्चे पदार्थों की आपूर्ति में अत्यधिक कमी हो जायेगी अतएव समुद्र जो कि प्राकृतिक सम्पदाओं का अक्षय भंडार है और पृथ्वी के 71% भाग पर फैला (362,000,000 Sq Km) है और वे सभी प्राकृतिक संसाधान जो स्थल पर उपलब्ध है, सागर में भी मिलते हैं। अतः मानव जाति को भविष्य में प्राकृतिक सम्पदा के वैकल्पिक स्रोत हेतु सागर पर ही निर्भर रहना होगा। इसलिए यह एक महती आवश्यकता है कि देश में सागर विज्ञान और उसके तकनीकी कार्यक्रमों की दूरगामी योजना बनायी जाय और उनके कार्यान्वियन पर पर्याप्त बल दिया जाय। स्वतन्त्रता के समय से ही सागर विज्ञान एक नये पौधे के रूप में विकसित हो रहा था। सातवें दशक के प्रारम्भ में इस अछूते क्षेत्र में विधिवत प्रयास प्रारम्भ किये गये और अल्पावधि में ही इस दिशा में उल्लेखनीय प्रगति हुई।

* भर्तृहरि कृतं-नीतिशतकम् में भी इसका उल्लेख है।

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा न भेजिरे भीमविषेण भीतिम्।
सुधां बिना न प्रययुर्विरामं न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ॥

अर्थ : समुद्र मन्थन के समय देवताओं को बहुमूल्य रत्नों से सन्तोष नहीं हुआ अपितु अमृत प्राप्ति के लिये उन्होंने अनवरत प्रयास किया।]

प्राणि विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

भारतीय पौराणिक कथाओं में भी समुद्र मंथन व सागर में निहित सम्पदा का उल्लेख मिलता है।* प्राचीन काल से ही सागर का प्रयोग मुख्यतया दो उद्देश्यों—जहाजरानी और परिवहन तथा मत्स्स उद्योगों के लिये किया जाता रहा है परन्तु आधुनिक विज्ञान और टेक्नोलाजी की सहायता से सागर में तेल, गैस, खनिजों, रसायनों, ओषधियों और ऊर्जा की भी खोज की गयी है जिसके फलस्वरूप यह विश्वास होता जा रहा है कि सागर में विश्व सम्पदा का एक बड़ा खजाना छिपा हुआ है। इसलिये सागर को "हमारी अन्तिम सीमाएँ" भी कहा जाता है।

सागर सम्पदा के सुनियोजित उपयोग के लिये सागर विकास विभाग की स्थापना भारत सरकार ने की है जिससे इस अपार सम्पदा का प्रयोग मानव कल्याण के निमित्त किया जा सके। वर्तमान में भौगोलिक जलवायु कार्यक्रम में दो महत्वपूर्ण गतिविधियाँ मुख्य हैं। प्रथम—अन्तरिक्ष पर आधारित प्लेटफार्म जिनका मौसम उपग्रहों के साथ सतत सम्पर्क बना रहता है। दूसरा—सागरीय वातावरण के परिवर्तन का कम्प्यूटर अध्ययन से है। भारत इन दोनों का ही प्रभावकारी ढंग से प्रयोग कर रहा है। सागर के विषय का ज्ञान मानसून के बारे में अधिक विश्वसनीय पूर्वानुमान लगाने में सहायक होता है जिस पर करोड़ों लोगों की जीविका आधारित है। सुपरकम्प्यूटर का लगाया जाना भी इसी दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। इसकी सहायता से सागरीय जलवायु व मानसून से सम्बन्धित भविष्यवाणी करने में वैज्ञानिक सक्षम हो सकेंगे।

खनिज तेल और कोयले के भण्डारों का तेजी से ह्रास होने के कारण सम्पूर्ण विश्व को अन्य गम्भीर चुनौती का सामना करना पड़ रहा है—वह है ऊर्जा के प्रदूषण मुक्त वैकल्पिक स्रोतों का पता लगाना। ऊर्जा मानव की नितान्त आवश्यकताओं में से प्रमुख है। विकासशील देशों में जीवन स्तर के सुधरने से ऊर्जा के खपत में तीव्र वृद्धि हुई है। भारत जैसे विकासशील देश के लिये ऊर्जा में आत्मनिर्भरता आवश्यक है लेकिन निकट भविष्य में यह कार्य दुष्कर प्रतीत होता है।

वर्तमान में अधिकतर ऊर्जा परम्परागत स्रोतों से ही प्राप्त की जाती है। कुल उत्पादित ऊर्जा में—

ताप बिजली का प्रतिशत-56

जल बिजली का प्रतिशत-36

परमाणु बिजली का प्रतिशत-6

तथा शेष डीजल और गैस पर आधारित शक्ति से प्राप्त होती हैं।* समुद्र से ऊर्जा प्राप्त करने के निम्न-लिखित स्रोत हैं।

1. सागर की लहरें
2. सागर के ज्वार
3. सागर के ताप का ऊर्जा विनियमन
4. सागर की हवाएँ
5. लवणता के तत्व
6. सागर का भूताप
7. सागर के शैवालों आदि का जैविक विनियमन

---

* इन आँकड़ों में विकासशील देशों में जलाने वाली लकड़ी जो वनों से प्राप्त की जाती है और इन क्षेत्रों में ऊर्जा उपलब्ध कराने का एक प्रमुख साधन भी है, को शामिल नहीं किया गया है।

सागरीय जल लहरों के अनवरत ऊपर उठने और नीचे गिरने की प्रक्रिया का प्रयोग जलसंचालित या वायुसंचालित टरबाइनों के लिये किया जा सकता है। वायुसंचालित टरबाइनों को विशेष प्राथमिकता दी जाती है। इस्पात से निर्मित स्तम्भ की तली में लहरों के आवागमन की जगह रहती और यह स्तम्भ सागर में लहरों के टकराने से हिलता-डुलता रहता है। आने वाली लहरों से पानी का स्तम्भ हवा को धक्का देता हुआ ऊपर की ओर उठाता है और उसी शक्ति से टरबाइन को घुमाता है और जब लहर बाहर निकलती है तो पानी का स्तर घटता है जिससे स्तम्भ नीचे आता है और हवा के साथ टरबाइन खींच कर घुमाता है परिणामस्वरूप ऊर्जा पैदा होती है। लहर जितनी ज्यादा गति में और जितनी ऊँची उठती है उतनी ही ज्यादा बिजली पैदा होती है। भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (मद्रास) का सागर अभियंत्रिकी केन्द्र उपर्युक्त विधि की सहायता स्वदेशी मॉडल का विकास करने में सक्षम रहा है। विश्व में अपनी तरह का यह प्रथम संयंत्र होगा। सागरीय लहर की ऊर्जा बारम्बार प्रयोग में लाई जा सकती है और यह प्रदूषण से मुक्त है।

ऊर्जा उत्पन्न करने की सर्वाधिक लोकप्रिय विधि सागर के ज्वार से है। सूर्य और चन्द्रमा के गुरुत्वाकर्षण बल के कारण नियमित अन्तराल पर ज्वार और भाटा आते रहते हैं। यदि उच्च और निम्न ज्वार के बीच का अन्तर अधिक है और यदि प्राकृतिक या कृतिम जलभण्डारण की सुविधा उपलब्ध है तो बिजली का उत्पादन किया जा सकता है। फ्रांस में "ला सन्स-एश्चुअरी" में काफी समय से समुद्री ज्वार से चलने वाले संयंत्र कार्यरत हैं। इससे लगभग 230 मेगावाट बिजली भी पैदा की जा रही है। भारत में खम्भात तथा कच्छ की खाड़ी में समुद्री ज्वार के बिजल संयंत्रों के डिजाइन तैयार किये गये हैं। इन क्षेत्रों में सही क्षमता के सागरीय ज्वार पाये गये हैं।

शीतोष्ण कटिबन्धीय सागर में सतह पर गर्म जल तथा नीचे ठण्डा जल पाया जाता है। एक हजार मीटर की गहराई में जाने पर ऊपरी और निचली सतह में लगभग 29° सेल्सियस या इससे अधिक अन्तर पाया जाता है। जहाँ पर इस प्रकार की परिस्थिति विद्यमान है वहाँ सागर तापीय ऊर्जा विनियमन (Ocean Thermal Energy Exchange—O. T. E. C.) संयंत्र लगाया जा सकता हैं। सूर्य की गर्मी से सागर की ऊपरी सतह गर्म हो जाती है और यह ऊर्जा सबसे ऊपर की सतह पर जमा होती रहती है जब कि नीचे की सतह ठण्ठी बनी रहती है। सैद्धान्तिक रूप से इस विधि के अन्तर्गत कम क्वथनांक वाले द्रव अमोनिया या प्रोपेन को एक बंद ट्यूब में प्रवाहित किया जाता है जो जब गर्म जल में जाकर मिलता है तब गर्म जल की उष्मा उस द्रव का वाष्पन करती है। इस भाप को ठण्डे जल क्षेत्र में ले जाया जाता है जहाँ यह संघनित्र होकर द्रव को पुनः तरल रूप में परिवर्तित कर देती हैं। यदि इस भाप को टरबाइन में से होकर गुजरने दिया जाय तो यह ऊर्जा पैदा कर सकता है। इस समूची प्रणाली को सागर तट पर लगाया जा सकता है जहाँ पर दो नलियाँ लगायी गयी हो। छोटी नली से सतह से गर्म पानी प्रवाहित किया जाता है और लम्बी नली से ठण्डा (शीतल जल) जिससे कि तरल पदार्थ के प्रवाह चक्र को कायम किया जा सके। अमेरिका की दो कम्पनियाँ टी॰ आर॰ डब्लू॰ इन्कार्पोरेटेड तथा लाकहीडमिसाइलस एण्ड स्पेस के पास डिजाइन पूर्णरूपेण उपलब्ध है। अपने देश में भी ओ टेक (O. T. E. C.) संयंत्रों के लगाने की योजना बनायी गयी है। इसमें तमिलनाडु के तिरुनेलवेलि जिले में कुलशेखरपट्टनम् का भारतीय बन्दरगाह पर इस योजना को कार्यरूप देने का कार्य प्रगति पर है।

सागरीय धाराओं से भी ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है। तेज गतिमान धाराओं की ऊर्जा को विद्युत ऊर्जा में परिवर्तित करने के लिए अनेक डिजाइनें उपलब्ध हैं।

सामान्यतया सागर तटवर्ती क्षेत्रों में अपेक्षाकृत तेज हवाएँ चलती हैं। अत: वहाँ हवाओं से और अधिक ऊर्जा उपलब्ध होती है। भूमि पर चलने वाली हवाओं के विपरीत सागर पर चलने वाली हवाओं की गति तटवर्ती क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक एकरूपता लिये होती है।

सागरीय जल में घुलनशील लवण बहुतायत में पाये जाते हैं। ये ही समुद्र में लवणता के लिए उत्तरदायी हैं। सामान्य लवणता—समुद्र जल कि 35 प्रति हजार है (जिसका अर्थ यह है कि 1000 ग्राम पानी में 35 ग्राम लवण विद्यमान है)। लवणता के कारण ही तापक्रम, घनत्व, ऊष्मा प्रसार और सागरीय जल के घटकों में विभिन्नता मिलती है। इसी लवणता की मात्रा के अन्तर को देखते हुए ऊर्जा के उत्पादन का सिद्धान्त सरल सा है। यदि भिन्न-भिन्न लवणता के मात्रा वाले जल के दो प्रकार के भण्डार उपलब्ध हैं और यदि उनके बीच अर्धपारदर्शी झिल्ली रख दी जाय तो कम लवणता वाला जल अवरोधक के माध्यम से तब तक प्रवाहित होता रहता है जब तक कि दोनों ओर लवणता की मात्रा की सान्द्रता एक जैसी न हो जाय। लवणता ऊर्जा विद्युत पैदा करने के लिए समुद्र में खारेपन की मात्रा की सान्द्रता का प्रयोग करती है। स्वीडन में 200 मेगावॉट बिजली उत्पन्न करने के लिये एक प्रायोगिक अध्ययन किया जा रहा है।

समुद्री भूताप का स्रोत इस समय अत्यन्त सीमित है। पृथ्वी के कई क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ पृथ्वी की सतह से ज्यों-ज्यों नीचे जाते हैं तापमान बढ़ता जाता है। सागर के भीरतर कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ भूमि के नीचे का तापमान 50° सेल्सियस तक है और तापमान के इतने अधिक अन्तर का प्रयोग ऊर्जा के उत्पादन में किया जा सकता है।

सागर में ऊर्जा के विभिन्न स्रोतों को वैद्युत ऊर्जा में परिवर्तित करने के लिये जिन यांत्रिक उपकरणों की सहायता ली जाती है उसके अलावा सागरीय शैवाल आदि को ईंधन और अन्य उत्पादों आदि के रूप में परिवर्तित करने के लिये अन्य विधियों का भी प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार 'जैवविनियमन' से यांत्रिक उपकरणों के हस्तक्षेप को कम किया जा सकता है। प्रकाश संश्लेषण द्वारा सौर ऊर्जा को परिवर्तित करने वाले समुद्री शैवाल आदि से ईंधन के अलावा खाद्य सामाग्रियां और औद्योगिक उत्पाद भी सरलता से तैयार किये जा सकते हैं। सागर तटीय क्षेत्रों में नारियल की रस्सियों पर तीव्र गति से वृद्धि करने वाले और आसानी से उगाये जाने वाले समुद्री शैवालों की खेती भी की जा सकती है। इसके पश्चात संसाधित करने वाले संयंत्रों में उन्हें ले जाया जाता है और वहाँ मूल पौधों को कोई हानि पहुँचाये बिना ही समुद्री शैवाल को तोड़ लिया जाता है। संसाधित करने वाले संयंत्र में समुद्री शैवाल आदि को मीथेन, खाद्य पदार्थों तथा रसायनिक खादों के रूप में परिवर्तित किया जाता है।

सागर से ऊर्जा प्राप्त करने के लिए उपर्युक्त विधियों में उत्तम तकनीकी ज्ञान एक समस्या के रूप में विद्यमान है। सागर का वातावरण भी प्राय: अनुकूल नहीं रहता है। यह मौसम की कृपा पर निर्भर करता है। विभिन्न प्रकार की धाराओं और तेज लहरों तथा समयानुसार प्रत्येक मौसम में परिवर्तित परिस्थितियों में कोई उपयुक्त ढाँचा तैयार करना विशेष विचारणीय है। तकनीकी ज्ञान से ज्यादा सागर से बिजली उत्पादन करने के लिये आर्थिक स्थितियों पर निवेश तथा प्रणालियों की देखभाल इस प्रकार करना होगा कि परम्परागत स्रोतों की तुलना में इस प्रक्रिया से निर्मित विद्युत उत्पादन की लागत अनुकूल हो।

जीविका संसाधनों के अन्तर्गत मत्स्य उद्योग ही प्रमुख है। भारत में मत्स्य उद्योग का एक बड़ा भाग सागर से पकड़ी गई मछलियों से सम्बन्धित है और इसके लिये व्यापक सम्भावनाएं तटीय क्षेत्रों में है। प्रतिवर्ष लगभग

73.5 मिलियन टन से अधिक मछलियाँ पकड़ी जाती है जिसमें एशिया का भाग 44 प्रतिशत है। वर्तमान में मछली उत्पादक देशों की शृंखला में भारत का छठा स्थान है। विश्व में खाद्य उत्पादन के अन्तर्गत 4 प्रतिशत मछलियों से प्राप्त होता है। भारत में मछली और झींगा का उत्पादन लगभग 20 हजार टन है। इसकी सम्भावना है कि सन् 2000 तक 40 लाख टन (25 लाख टन तटवर्ती+15 लाख टन ताजा जल) उत्पादन होगा। मछलियाँ प्रोट्रीन के एक वृहत्त स्रोत के रूप में विद्यमान हैं इसलिए इनका समुचित उपयोग आवश्यक है।

विश्व की जनसंख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण शुद्ध पेय जल की उपलब्धता कम होती जा रही है। इसलिए सभी सम्भव स्रोतों से पेयजल उपलब्ध कराने के प्रयास किये जा रहे हैं। भारत के अनेक क्षेत्रों में पेयजल की व्यवस्था उचित न होने के कारण खारे जल को प्रयोग में लाना पड़ता हैं जिसमें हानिकारक रसायन भी उपस्थित रहते हैं जिनका निराकरण परमावश्यक है और उसके लिए अनेकानेक विधियाँ प्रयोग में लाई जा रही हैं। इनमें एक महत्वपूर्ण उपाय है—सौर ऊर्जा का प्रयोग। ऐसे क्षेत्रों में जहाँ छोटी और अलग बस्तियाँ है, जल सीमित है, बिजली का उत्पादन लगभग शून्य है अथवा आपूर्ति अव्यवस्थित है उन स्थानों पर सौर ऊर्जा की सहायता से जल का खारापन दूर किया जा सकता है। इस विधि के अन्तर्गत सूर्य ताप को केन्द्रित करके सागर के जल को उबाला जाता है और जो भाप उत्पन्न होती है उससे ताजा जल एकत्रित किया जा सकता है। गुजरात के अवनिव गाँव में इसी तकनीक की सहायता से 5000 लीटर पेयजल प्रतिदिन उपलब्ध कराया जा रहा है जिससे 500 परिवारों की पेयजल की आवश्यकतापूर्ति की जा रही है।

सागरीय जल से ताजा जल के निर्माण की विधि में जलआसवन प्रक्रिया को भी प्रयोग में लाया जा सकता है। एक अन्य तकनीक इलेक्ट्रोडायलिसिस की है। इस विधि के अन्तर्गत खारेपानी के खारेपन को दूर करने के लिये लोहे की झिल्लियों का प्रयोग किया जाता है। यह पद्धति पानी के प्रति दस लाख हिस्से में 5000 से कम मात्रा में खारापन दूर करने की सर्वाधिक कम खर्चीली पद्धति है।

विपरीत परासरण विधि की सहायता से भी जल के खारेपन को दूर किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत अनुकूल परासरण झिल्लियों का प्रयोग किया जाता है जो उच्च दबाव के अन्तर्गत सागरीय जल के गुजरते समय क्षारता को समाप्त करती है। भारत के अनेक गाँवों में 50,000 से 1,00,000 लीटर की क्षमता वाले अनेक संयंत्र लगाये गये हैं। इस क्षेत्र में गुजरात के भावनगर में स्थित केन्द्रीय नमक एवं समुद्री रसायनिक अनुसन्धान संस्थान का विशेष योगदान रहा है।

भारत में सागरीय जीवों और पौधों से ओषधियाँ और फार्मास्युटिकल्स के लिए कच्चे माल के रूप में प्रयोग अभी कुछ समय पूर्व ही प्रारम्भ हुआ है। अब तक ऐसे 200 से अधिक जैविकों का पता लगाया जा चुका है। हाल ही में 'प्रोस्टाग्लैन्डिस' नाम के जैविक का पता लगाया गया है जो जैविक पुर्नत्पादन को रोकने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इसे ग्रेसिलारिका नामक शैवाल से निकाला जाता है। भारत में किये गये अनुसन्धानों से यह ज्ञात हुआ कि सागरीय शैवालों की अनुर्वरता से सम्बन्धित सभी प्रकारों में प्रोस्टाग्लैन्डिस पाया जाता है।

सागरीय जल में विद्यमान लगभग 60 तत्वों में से केवल 6 तत्वों को व्यापारिक रूप में निकाला जा सका है। ये हैं, सोडियम और क्लोराइड साधारण नमक के रूप में, मैग्नीशियम मिश्रण के रूप में, ब्रोमीन, कैल्शियम और

सल्फेट के रूप में (जिप्सम)। पोटेशियम की सान्द्रता कम होने के कारण आर्थिक दृष्टि से इसको प्राप्त करना लाभ-दायक नहीं है। समुद्र जल से अनेक उपयोगी तत्वों जैसे—आयोडीन, यूरेनियम, सोना इत्यादि के निष्कर्षण के प्रयास चल रहे हैं।

काली रेत बहुतायत में सागर के छोर पर पायी जाती है जिसमें खनिज पाये जाते हैं। भारतीय तटों पर भी काली रेत अधिकता में उपलब्ध है। इन भण्डारों में मुख्यतया इलमेनाइट, जिरकान, मोनोजाइट और मैग्नेटाइड मिलते हैं। इस समय इन अयस्कों के निष्कर्षण भारतीय दुर्लभ अर्थ एवं मृदा संगठन द्वारा किया जा रहा है। इसी प्रकार पश्चिमी तट पर मोनोजाइट रेत द्वारा (परमाणु खनिज शाखा द्वारा) अनेक समस्थानिक प्राप्त किये जा रहे हैं।

सागर की तलहटी से विभिन्न तत्वों के निकालने का कार्य प्रगति पर है। भारत ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय प्रगति की है। तलहटी में ही पालीमेटलिक (मैगनीज) के व्यापक स्रोत है। इसमें अनेक भौतिक एवं रसायनिक गुण विद्यमान हैं और ये विभिन्न आकारों में भी पाये जाते हैं। इस दिशा में राष्ट्रीय समुद्र विज्ञान संस्थान, गोवा का योगदान बेजोड़ रहा है। पालीमेटलिक नोडयूल्स की खोज के लिए पहला समुद्री अभियान हिन्दमहासागर में 1981 में प्रारम्भ किया गया और यह अभियान भारत में निर्मित अनुसन्धान जहाज 'गवेषणी' द्वारा किया गया। विकासशील देशों में भारत प्रथम पंक्ति का देश है जिसने पालीमेटलिक नोडयूल्स के खोजने को सर्वाधिक महत्व दिया है।

सागर की खोज के लिए जो आधार बनाया जाता है उसकी आपूर्ति के स्रोतों से दूरी होने के कारण किसी भी सागरीय गतिविधि में खर्च का दबाव अधिक रहता है। सागर अभियांत्रिकी से सम्बद्ध समस्यायें निम्नवत हैं :

(क) पानी के दबाव और लहरों के उतार-चढ़ाव के कारण आधार के निर्माण में कठिनाई।

(ख) विशेष स्थल के चयन में लहरों और बहाव की शक्तियों के अनुमान में कठिनाई।

(ग) सागर में पाइप लाइन और ठिकानों का निर्माण एक दुरूह कार्य है।

(घ) सागर के जल में संक्षारण भी अधिक होता है।

(ङ) विभिन्न सागरीय स्थितियों में पाइप बिछाने की तकनीक, जलान्तर्गत मशीनरी का नियन्त्रण, जल में सर्वेक्षण और सागर विज्ञान के आँकड़ों का विश्लेषण भी कठिन है।

सागर से तेल एवं प्राकृतिक गैस भी प्रचुर मात्रा में निकाला जा रहा है। बाम्बे हाई, इसका जीता जागता उदाहरण है। प्राकृतिक गैस ने ऊर्जा की समस्या को सुलझाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। वर्तमान में प्राकृतिक गैस पर आधारित रसायनिक कारखाने भी लगाये जा रहें हैं।

तट और सागर में होने वाली मानवीय गतिविधियों का सागर के पर्यावरण पर प्रभाव पड़ता है। भारत में प्रतिवर्ष लगभग 34,000 टन कीटनाशकों और लगभग 11,000 टन कृत्तिम डिटर्जेन्ट्स का प्रयोग होता है। ऐसा अनुमान है कि इसका 25 प्रतिशत किसी न किसी रूप में सागर में पहुँचता है। यह भी अनुमान लगाया गया है कि प्रतिवर्ष लगभग 5 करोड़ घन मीटर घरेलू गन्दगी (मल-मूत्र) भारत के तटीय जल में मिलती हैं। सागर के पर्यावरण पर वर्तमान में जो अनुसन्धान और निगरानी का कार्य चल रहा है उसमें प्रदूषण के दुष्प्रभाव से तटीय पर्यावरण की सुरक्षा के लिए उपाय करना भी शामिल है।

अन्टाकार्टिक अभियान के बारे में अब तक की जानकारी काफी कम रही है। परन्तु अब यह विकसित देशों के वैज्ञानिकों को आकर्षित कर रहा है। अन्टाकार्टिका पृथ्वी का सातवां महाद्वीप है। इसका क्षेत्रफल लगभग 1 करोड़ 39 लाख वर्ग कि० मी० है जो कि भूक्षेत्र (तल) का दसवाँ हिस्सा हैं। यह अन्य महाद्वीपों की तुलना में सर्वाधिक दुर्गम और ठण्डा है। ग्रीष्मकाल में वहाँ पर लगातार कई महीनों तक प्रकाश और शीतकाल में लगातार अँधेरा रहता है। इसका 95 प्रतिशत से अधिक भाग बर्फ से ढँका रहहा हैं।

विभिन्न अभियानों के दौरान अन्टाकार्टिका पर मानव रहित मौसम केन्द्र "दक्षिण गंगोत्री" स्थापित किया गया है। इसके बाद से अब तक नौ अभियान दल भेजे जा चुके हैं। भारत के दो स्थायी केन्द्रों "दक्षिण गंगोत्री" और "मैत्री" में अन्टाकार्टिका अनुसन्धान के लिये आधुनिक शोध सुविधायें उपलब्ध हैं।

वैज्ञानिक आविष्कारों का क्षेत्र तकनीकी उत्कृष्टता के साथ विस्तृत होता जाता है। सागर अनुसन्धान के क्षेत्र में मानव जाति के भविष्य के लिए विराट सम्भावनायें छिपी हैं। सागर अनुसन्धान की महत्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अब मात्र परमाणु, इलेक्ट्रॉन या अंतरिक्ष में ही नहीं वरन सागर अनुसन्धान के युग में भी हमारा प्रवेश समयानुकूल है।

●●

विकिरण : जीवन की वास्तविकता

दिलीप भाटिया

विकिरण का नाम सुनते ही आप सावधान हो जाते हैं। परमाणु बिजलीघरों को आप संदेह व शंका की दृष्टि से देखते हैं। लगता है कि यहाँ पर रेडियेशन फैल रहा है व हमारी सारी परेशानियों व समस्याओं का कारण विकिरण ही है। भ्रामक व गलत प्रचार आग में घी का काम करते हैं व आप इन बिजलीघरों को कोसने लग जाते हैं, जो आपको लाखों यूनिट बिजली प्रतिदिन दे रहे हैं। बिना अपराध के इन्हें आप को घृणा व नफरत का दण्ड झेलना होता है। विकिरण प्रभावशाली व लाभप्रद भी है। यह शायद आप विश्वास नहीं करेंगे पर विभिन्न वैज्ञानिकों ने जो अनुसंधान व प्रयोग किये हैं, उनके परिणाम यह बतलाते हैं कि विकिरण अभिशाप कम है व वरदान अधिक है।

विकिरण कहें या रेडियेशन, इसका यह दुर्भाग्य है कि जिस प्रकार हम सर्दी, गर्मी, आँधी, हवा, तूफान इत्यादि को महसूस कर सकते हैं, रेडियेशन को नहीं। तापमान मापा जा सकता है व औसत वर्षा भी। हर घर में थर्मामीटर उपलब्ध होता हैं, जिससे बुखार महसूस होने पर हम पुष्टि कर सकते हैं। पर, विकिरण-मापन-यन्त्र हर घर व हर स्थान पर उपलब्ध हो पाना सम्भव नहीं है। इसीलिए हमें विश्वास नहीं होता है। वैज्ञानिकों ने जब विकिरण-मापन-यन्त्र बनाये, तो पाया कि विकिरण तो हर स्थान पर है ही। वह तो कोटा में भी है, रावतभाटा में

वैज्ञानिक अधिकारी, एस ई०, राजस्थान परमाणु बिजलीघर, अणुशक्ति-323303, कोटा, राजस्थान

भी है, तारापुर में भी व कानपुर में भी। लखनऊ हो या नरोरा, सूरत हो या अहमदाबाद, हर स्थान पर प्राकृतिक विकिरण तो होता ही है।

आधा लिटर ह्विस्की व 100 ऐस्प्रीन की गोलियाँ प्राणघातक सिद्ध होंगी, पर लम्बे समय, 100 दिन, तक प्रतिदिन मात्र एक ऐस्प्रीन की गोली व एक चम्मच ह्विस्की की मात्रा हमें किसी लम्बी बीमारी को दूर करने में सहायक सिद्ध होगी। इसी प्रकार, रेडियेशन की अत्यधिक मात्रा प्राणघातक सिद्ध होगी ही। इसमें दो मत नहीं हैं। परन्तु अत्यधिक कम मात्रा में, नियन्त्रित रूप से रेडियेशन लाभप्रद व कष्ट निवारक सिद्ध होगा।

रेडियेशन मेडिकल सेन्टर व टाटा मेमोरियल हास्पिटल में विकिरण-मात्रा देकर कई मरणासन्न रोगियों को जीवन-दान दिया जाता है। चिकित्सा-क्षेत्र से हमें 11.5 प्रतिशत विकिरण मिलता है। प्राकृतिक विकिरण 87 प्रतिशत व कृत्रिम कारणों से 13 प्रतिशत विकिरण मिलता है। परमाणु बिजलीघर से निकले नाभिकीय अपशिष्ट का योगदान मात्र 0.1 प्रतिशत होता है। काँस्मिक किरणें 14 प्रतिशत, गामा किरणें 19 प्रतिशत, रेडॉन 32 प्रतिशत, थोरोन 5 प्रतिशत व भीतरी किरणों से 17 प्रतिशत विकिरण मिलता है। प्राकृतिक विकिरण के बिना जीव-उत्पत्ति जीवन व विकास असम्भव होता। विटामिन-डी की कमी दूर करने के लिए अल्ट्रा-वायलट रेडियेशन दिया जाता है। मनुष्य के शरीर के अन्दर ही 5000 वेस्वारल रेडियोधर्मिता पोटेशियम-40 के कारण उपस्थित है।

हिरोशिमा व नागासाकी के दुर्भाग्यपूर्ण काण्ड के कारण जो नुकसान हुआ वह कभी पूरा नहीं हो सकता है। अत्यधिक मात्रा में विकिरण मात्रा निःसन्देह प्राणघातक व कुप्रभाव देगी ही, हम इससे सहमत हैं, पर इससे यह मान लेना कि कैसा कितना भी विकिरण घातक ही है, यह सही नहीं है। वैज्ञानिकों ने प्रयोगशालाओं में चूहों व अन्य जीव-जन्तुओं पर कई परीक्षण किये हैं, जिनके परिणाम हमारे सामने आने पर कई शंकाओं का स्वतः ही समाधान हो जाता है। 1000 रेम विकिरण-मात्रा देने पर चूहे कुछ ही मिनटों में मर गये, पर प्रतिदिन 16 रेम विकिरण-मात्रा देने पर एक वर्ष तक भी कोई कुप्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ। आश्चर्यजनक तथ्य तो यह है कि कुछ विशेष प्रकार के जीवों में सीमित मात्रा में रेडियेशन ने उनकी जीवन अवधि बढ़ाई है। कैंसर होने की सम्भावना जो नगण्य है, वह अपरिवर्तित ही रहेगी, पर जीवन काल में वृद्धि तो निःसन्देह सिद्ध तथ्य है। हर ग्रुप में 22 चूहों पर परीक्षण किया गया। विकिरण प्रति दिन 16 घंटे एक ही गति से दिया गया। आधे चूहे बिना विकिरण के 445 दिन जीवित रहे, पर 0.8 रेम विकिरण प्रतिदिन देने पर 585 दिन जीवित रहे। अनुसन्धान व तुलनात्मक विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि कम मात्रा में नियमित विकिरण ने मनुष्य की औसत आयु वर्तमान में 75 वर्ष से बढ़कर 120 वर्ष तक हो सकती है। एक रेम विकिरण मात्रा से 18 दिन की जीवन अवधि बढ़ाई जा सकती है। यही परीक्षण, चुहियों पर किया गया तो बिना विकिरण के औसत जीवन 23 महीनों से बढ़कर 27 महीने हो गया, प्रतिदिन 8 घंटे तक 0.11 रेम विकिरण देने से। मानव-जीवन में यह वृद्धि का अनुपात 15 वर्ष का अधिक जीवन-काल आता है।

विकिरण का यह प्रभाव मात्र स्तनधारी जीव-जन्तुओं तक ही सीमित नहीं है। सामन मछली पर कई किस्मों के प्रयोग किये गये। अण्डे देने के बाद ये जन्म-स्थान से दूर चले जाते हैं व दो से चार वर्ष की अवधि के पश्चात् जन्म-स्थल पर प्रजनन-क्रिया के लिए वापिस आते हैं। इनको 0.5 से 20 रेम प्रति वर्ष विकिरण दिया गया।

कई वर्षों के बाद थी इनकी संख्या में कोई कमी नहीं पाई गई। जिस ग्रुप को अधिक विकिरण मात्रा दी गई, वह अधिक मात्रा में अण्डे उत्पादित करता पाया गया। इस प्रकार के कई परीक्षण प्रयोगशालाओं तक ही सीमित रहे, क्योंकि इनका कोई ठोस कारण समझ में नहीं आ सका था। अलग-अलग प्रयोगशालाओं में विभिन्न वैज्ञानिकों के परीक्षण का समालोचन जब एक स्थान पर हुआ तो पुष्टि होना स्वाभाविक ही था। विकिरण-मात्रा का यह प्रभावशाली उपयोग निःसन्देह हमारे ज्ञान-चक्षु खोलता है।

विभिन्न कारणों से विकिरण-मात्रा हमें निम्न प्रकार मिलती है—

	मिलीरेम
सूर्य व बाहरी स्पेस	28
वातावरण (समुद्र तल से प्रति 100 फीट की ऊँचाई पर)	1
ईंट या कंक्रीट का मकान	70
लकड़ी का मकान	26
पानी, भोजन, हवा	28
हवा में परमाणु परीक्षण	4
प्रति व्यक्ति 8 घंटे बिताने पर दाँत का एक्सरे	0.1
हवाई जहाज में 1500 मीटर का सफर	1
परमाणु बिजलीघर में 5 मील के अन्दर रहने पर	0.5
परमाणु बिजलीघर में 5 मील के बाहर रहने पर	0

भारत में औसत बाहरी विकिरण डोज 690±200 माइक्रोसीवर्ट प्रतिवर्ष है। भीतरी विकिरण डोज 1300 है। इस प्रकार कुल विकिरण 2000 माइक्रोसीवर्ट प्रति वर्ष है। सीवर्ट विकिरण की इकाई है। सीवर्ट=100 रेम। 1 माइक्रोसीवर्ट=10^{-6} सीवर्ट। विकिरण विकेन्द्रीकरण के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ने जनता के लिए किसी भी वर्ष में 5000 माइक्रोसीवर्ट की सीमा घोषित की है। पूरे जीवनभर प्रतिवर्ष 1000 माइक्रोसीवर्ट विकिरण हानि रहित सीमा है। इसमें प्राकृतिक कारणों से व चिकित्सा में लगने वाला विकिरण सम्मिलित नहीं हैं। जैट हवाई-जहाज में यात्रा 8.5 माइक्रोसीवर्ट प्रति घंटा विकिरण मिलता है। सुपर सोनिक हवाई-जहाज में 16 माइक्रोसीवर्ट विकिरण मिलता है। इनकी तुलनामें परमाणु बिजलीघर के समीप रहने से मात्र 10 से 20 माइक्रोसीवर्ट प्रति वर्ष विकिरण मिलने की सम्भावना अधिकतम है। विभिन्न स्थानों पर प्राकृतिक विकिरण इस प्रकार है—

	कॉस्मिक किरणें	टरैस्ट्रियल	योग (माइक्रोग्रे प्रतिवर्ष)
बम्बई	280	204	484
कलकत्ता	280	530	810
दिल्ली	310	390	700
मद्रास	280	510	790
बेंगलोर	440	385	825

देश के विभिन्न भागों में यह 230 (लक्षद्वीप) से 26730 (केरल) तक रहता है व औसत 775 माइक्रोग्रे प्रति वर्ष है। विभिन्न परमाणु बिजलीघरों के पास यह मात्रा इस प्रकार है—

तारापुर	596	माइक्रोग्रे प्रति वर्ष
रावतभाटा	691	,,
कलपक्कम	1245	,,

कॉस्मिक किरणें, रेत, चट्टान, पदार्थ, पोटैशियम, शरीर में कार्बन से प्रति वर्ष 200 मिलीरेम विकिरण मात्रा मिलती है।

	मिलीरेम/वर्ष	प्राकृतिक मिलीरेम/वर्ष
तारापुर	4 से 16	200
राजस्थान	2 से 5	200
मद्रास	2 से 5	200

इस प्रकार परमाणु बिजलीघर से मिलने वाला विकिरण मात्र 1 से 2 प्रतिशत ही है। कम मात्रा में विकिरण हानिकारक नहीं है, वरन् कई अप्रत्याशित लाभ भी हैं ही।

घबराने व डरने की कोई आवश्यकता है ही नहीं। दूध के प्याले से लेकर हमारे घर के गार्डन तक हमारे शरीर के अन्दर व बाहर वायुमण्डल में, हर खाद्य-पदार्थ, स्थल व स्थानों पर बिकिरण है ही। रावतभाटा या तारापुर में परमाणु बिजलीघर नहीं होता, तो भी वर्तमान क्षमता का 99 प्रतिशत विकिरण मिलता ही। उपरोक्त तथ्य व आँकड़े वैज्ञानिक परीक्षणों, प्रयोगों व विश्वसनीय मापन-यन्त्रों द्वारा लिये गये हैं।

अत्यधिक मात्रा में अनियन्त्रित विकिरण हानिकारक है, पर नियन्त्रित मात्रा में कम डोज सुरक्षा-सीमा के प्रावधानों के अन्तर्गत है व कई दृष्टि से लाभप्रद व जीवन अवधि को बढ़ाने वाला भी है।

●●

कविता

सिगरेट

अनिल श्रीवास्तव

पीजिये
महानुभाव,
कार्बन मोनोऑक्साइड,
बेंजोपायरिन,
हाइड्रोजन साइनाइड,
कार्बोलिक एसिड जैसी
खतरनाक गैसों में लिपटी;
जहरीली निकोटिन और
टारकोल के मिश्रण से तैयार;
लकवा, दमा,
फेफड़े और मुँह के कैंसर
के शानदार उपहारों से
आपको शोभित करती;
आस-पास और
घर के माहौल को विषाक्त बनाती;
क्षणिक आनन्द की
विषैली आदत के रूप में;
आपकी परम् पूज्य (?);
अपनी मात्र एक संख्या से
तमाम जन्मों के बाद मिले
ब्रह्मा की उत्कृष्ट
और सर्वोत्तम रचना के
पाँच मिनट खा जाने वाली;
सफेद-रंगीन कागज में छिपी
बदबूदार, तुच्छ-सी सिगरेट।

●●

ग्राम-परसोहर, पोस्ट-जरवल रोड, जिला-बहराइच-271901 (उत्तर प्रदेश)

मिट्टी उपेक्षित क्यों ?

दिनेश मणि

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि उपजाऊ मिट्टी की ऊपरी परत बनने में 3 हजार से लेकर 12 हजार साल तक लग जाते हैं। मिट्टी को नीची निगाह से देखने वाले शायद यह भूल जाते हैं कि मिट्टी सिर्फ मिट्टी ही नहीं, कृषि का आधार ही नहीं अपितु यह हमारी सभ्यता का प्रतिबिम्ब है। प्रत्येक जीवधारी का प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध इस मिट्टी से है। मिट्टी की उपलब्धता पर ही कृषि निर्भर करती है। विश्व की महान सभ्यतायें नदियों के मैदानों में जहाँ उपजाऊ मिट्टी उपलब्ध है, में विकसित हुयीं। इसीलिए **विलकोक्स** (Wilcox) ने कहा है कि "मानव सभ्यता का इतिहास मिट्टी का इतिहास है तथा प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा मिट्टी से प्रारम्भ होती है।" नील नदी, दजला-फरात, सिन्ध, गंगा तथा ह्वांगहो नदियों के मैदानों की सभ्यता इन मैदानों की उपजाऊ मिट्टी का ही प्रतिफल है। आज विश्व की आधी से अधिक जनसंख्या कृषि व्यवसाय में संलग्न है और यही उसकी जीविका का आधार है। मिट्टी पर ही किसी देश का राष्ट्रीय ढाँचा निर्भर करता है। यदि इसका दुरूपयोग होता रहेगा तो उस देश का सारा आधार व जीवन ही ध्वस्त हो जायेगा।

बढ़ती हुई आबादी से देश की मिट्टी और भी खराब हुई है। एक अनुमान के अनुसार लगभग साढ़े सत्रह करोड़ हेक्टेयर जमीन कई तरह से बरबाद होने को है। कहीं रेह बढ़ रही है, तो कहीं मिट्टी अम्लीय हो रही है। कहीं पानी भरे रहने की समस्या है तो कहीं बीहड़ों के बढ़ने की। उधर झूम खेती जंगल उजाड़ रही है, तो इधर रेगिस्तान के विस्तार से हरियाली में कमी आती जा रही है। एक अनुमान के अनुसार करीब 8 लाख हेक्टेयर अच्छी जमीन हर साल बीहड़ों में बदलती जा रही है और 90 लाख भूमि बाढ़ की चपेट में आ रही है।

वन और मिट्टी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। मिट्टी का लगातार उपयोग करने से मिट्टी में कार्बनिक पदार्थ तथा अन्य पोषक तत्वों की मात्रा में कमी आने लगती है। वन अपनी सड़ी-गली पत्तियों द्वारा मिट्टी में कार्बनिक पदार्थ की मात्रा बढ़ाते रहते हैं। मरुस्थलीय तथा अर्द्धमरुस्थलीय भागों एवं देश के अन्य भागों में जहाँ तक विनाश द्वारा भूमि खाली हो गयी, मिट्टी के जैविकीय गुण समाप्त होते जा रहे हैं। कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार जहां-जहाँ जंगल काटे गये हैं उन उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों में मिट्टी में कार्बनिक पदार्थ का 20-60 प्रतिशत तक बिना कुछ किये ही खत्म हो जाता है। वन विनाश द्वारा भूमि के नंगा होने के बाद जब भारी मूसलाधार वर्षा अथवा ओलावृष्टि होती है तो मिट्टी की ऊपरी उपजाऊ सतह टूटकर ढीली होकर पानी के साथ बह जाती है। वन विनाश द्वारा मिट्टी का इस प्रकार का कटाव इतनी तीव्र गति से होता है कि 100 वर्षों में होने वाला मिट्टी कटाव एक ही दिन में समाप्त हो जाता है। डॉ० एम० एस० स्वामीनाथन के अनुसार कई सिंचाई परियोजनाओं में सिंचाई प्रारम्भ होने के कुछ ही वर्षों में खार और पानी के जमाव जैसे दोष देखे गये। इससे अनेक किसानों को लाभ की अपेक्षा नुकसान ही अधिक हुआ है।

संयुक्त मन्त्री, विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद—2

हमारे देश की लगभग 70 लाख हेक्टेयर भूमि खार के कारण अपनी उत्पादन क्षमता खो चुकी है और 60 लाख हेक्टेअर कृषि भूमि पानी के जमाव की शिकार हो गयी है।

डॉ० जे० एन० कँवर के अनुसार-सघन खेती और अधिक पैदावार ये दोनों खाद के सन्तुलित उपयोग से ही सम्भव हैं और उसी से उर्वरता भी बनी रह सकती हैं। किन्तु झूम खेती करने वाला आदिवासी और सघन तथा स्थिर खेती करने वाला आधुनिक किसान दोनों धरती की उर्वरा शक्ति को निचोड़ने का एक तरह का अपराध कर रहे हैं। झूम खेती में आदिवासी किसान कुछ प्रतिबन्ध लागू करता है जबकि सघन खेती के लिए आधुनिक किसान पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। यद्यपि बढ़ती हुई आबादी के दबाव के कारण और भूमि के सघन उपयोग की बढ़ती आव-श्यकता के कारण पुरानी कृषि पद्धति भी बदलती जा रही है किन्तु आगे चलकर समाज को इसकी बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ेगी।

खाद्य और कृषि संगठन के अनुसार—"यदि इसी तरह से मिट्टी की बरबादी होती रही तो इस सदी के अन्त तक विकासशील देशों की उत्पादक क्षमता में 20 प्रतिशत तक कमी आ सकती है।" इसी आशंका से सावधान होकर सन् 1981 में खाद्य एवं कृषि संगठन के सदस्य देशों ने "वर्ल्ड सायल चार्टर" को स्वीकार किया था। इस चार्टर में जो सिद्धान्त निर्धारित किये गये उनके आधार पर अनेक देशों ने अपने यहाँ मिट्टी के संरक्षण की नीतियाँ बनाई हैं। हमें मिट्टी-संरक्षण की मूलभूत विधियों की जानकारी पहले से ही है। जरूरत है सिर्फ सही दृष्टिकोण अपनाने की।

●●

श्रद्धांजलि

विज्ञान कथा सम्राट आसिमोव नहीं रहे

अनिल कुमार शुक्ल

पूर्व सोवियत संघ के **पेट्रोविशी** (Petrovichi) में 2 जनवरी, 1920 को जन्मे सुप्रसिद्ध अमेरिकी विज्ञान कथा लेखक इसाक **आसिमोव** का निधन 6 अप्रैल 1992 को 02.20 बजे न्यूयार्क विश्वविद्यालय अस्पताल में हृदय एवं किडनी द्वारा कार्य बन्द कर देने के फलस्वरूप हो गया। जब आसिमोव केवल तीन वर्ष के थे तभी उनका परिवार संयुक्त राज्य अमेरिका चला आया। वहीं ब्रुकलिन (Brooklyn) में अपने पिता के कैंडी स्टोर (Candy Store) में हाथ बँटाने के साथ-साथ 9 वर्ष की आयु से ही आसिमोव ने विज्ञान कथाएँ पढ़ना शुरू किया। लगभग 400 शब्द प्रतिदिन के औसत से विज्ञान की प्राय: हर शाखा से सम्बन्धित विषयों पर सुगम एवं सरस शैली में लगभग 500 विज्ञान कथा पुस्तकों के रचयिता कुशाग्र बुद्धि आसिमोव ने कोलम्बिया विश्वविद्यालय से रसायनशास्त्र में पीएच०

क्वार्टर न० 186, टाइप सेकेण्ड, केन्द्रीय कर्मचारी आवास कॉलोनी, गुलमोहर बिहार, कानपुर-208014

डी० उपाधि हासिल की थी। उन्होंने बोस्टन विश्वविद्यालय में जैवरसायन के शिक्षक नियुक्त होने से पूर्व न्यूक्लिक अम्ल पर विशेष शोध कार्य किया। फ्रेड होयल (Fred Hoyle) और आर्थर कानन डायल की ही तरह आसिमोव भी न केवल उच्च कोटि के प्रशिक्षित वैज्ञानिक थे, बल्कि अनोखी अन्तर्दृष्टि सम्पन्न विज्ञान कथाकार भी थे।

आसिमोव की पहली विज्ञान कथा अक्टूबर 1938 में छपी, जब उनकी उम्र मात्र 18 वर्ष थी। उनके लेखन की गति, विषय की विविधता एवं सृजन की गुणवत्ता पर समीक्षात्मक दृष्टि डालने से कभी-कभी ऐसा लगता है कि मानो यह विराट अद्भुत रचना संसार किसी मानव का सृजन न होकर, विलक्षण कम्प्यूटरी मस्तिष्क वाले रोबोट की करामात हो।

बात 'रोबोट' की चली है तो स्वाभाविक रूप से 'आधार त्रयी' (Foundation Triology) के रूप में प्रसिद्ध आसिमोव के तीन प्रारम्भिक विज्ञान कथा उपन्यासों की याद आती है, जिन्हें तब तक की सर्वश्रेष्ठ विज्ञान कथा शृंखला घोषित करते हुए 1966 में उन्हें विशेष 'ह्यूगो पुरस्कार' से सम्मानित किया गया था। इसी 'आधार त्रयों की दूसरी पुस्तक 'आई रोबोट' (I, Robot) में उन्होंने मानव समाज में कृत्रिम बुद्धि सम्पन्न और संवेदनायुक्त इन मशीनों (रोबोटों) के लिये तीन मौलिक नियमों का प्रतिपादन किया था। ये तीनों नियम आज भी न केवल विज्ञान कथा लेखकों, बल्कि रोबोट विज्ञान के शोधकर्त्ताओं के लिए 'ब्रह्मवाक्य' बने हुए हैं—

(1) रोबोट स्वयं कभी किसी मानव को क्षति नहीं पहुँचायेगा और न ही अपनी निष्क्रियता द्वारा उसे क्षति पहुँचने देगा।

(2) रोबोट सदैव मानव द्वारा दिये गये आदेशों का पालन करेगा बशर्ते उन आदेशों से प्रथम नियम भंग न होता हो।

(3) रोबोट सदैव अपने अस्तित्व की रक्षा करेगा बशर्ते इससे पूर्ववर्ती दो नियम भंग न होते हो।

'आधार-त्रयी' के रूप में विश्वविख्यात आसिमोव की इन पुस्तकों से वह पृष्ठभूमि तैयार हुई जिससे आगामी सहस्राब्दी ब्रह्माण्डीय सभ्यता (Galactic Empire) से सम्बन्धित विषय विज्ञान कथा जगत् की परिधि में समाहित हो सके। इनके माध्यम से आसिमोव ने विज्ञान कथाकारों को कल्पना का एक नया आयाम दिया—मनो-इतिहास (Psychohistory) जिसमें गणित, इतिहास, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र इस रूप में अन्तर्ग्रंथित होते हैं कि मानवीय सभ्यता के भविष्य की लगभग त्रुटिहीन संरचना पाठक के मानस पटल पर साकार होने लगती है।

आसिमोव के रचनात्मक सृजन की सबसे बड़ी विशेषता कथा को रोचक बनाकर प्रस्तुत करने की उनकी पारंगतता और वैज्ञानिक सत्यांश की बलि चढ़ाये बिना जटिल से जटिल अवधारणाओं को सरल एवं बोधाम्य गद्य में प्रस्तुत करने की अनूठी क्षमता में निहित है। तीन कम्प्यूटरों पर बैठकर तीन अलग विषयों पर एक साथ साहित्य सृजन करने की योग्यता रखने वाले इस 'रोबोट' विज्ञान कथाकार के लिए एक वर्ष में 10-11 पुस्तकें प्रकाशित करना कोई कठिन नहीं था। वर्ष 1977 में हृदयाघात (Heart Attack) और 1983 में ट्रिपल बाईपास सर्जरी (Triple Bypass Surgery) के बावजूद उनकी लेखनगति बरकरार रही थी, परन्तु इस वर्ष के प्रारम्भ में प्रोस्टेट ग्लैंड के ऑपरेशन के बाद उन्हें लेखन कम करना पड़ा था। इसी के फलस्वरूप उन्हें अपनी विज्ञान कथा पत्रिका में पिछले तैंतीस वर्षों से नियमित रूप से छपने वाले स्तम्भ को भी बन्द कर देना पड़ा था।

रचनाकार के रूप में लेखन में विराग की इस पीड़ा को आसिमोव से बेहतर और कौन समझ सकता है। आसिमोव ने अपनी रचना प्रक्रिया के बारे बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा हैं—"मैं किसी अन्तर्प्रेरणा के वशीभूत होकर लिखता हूँ और प्रायः इस पर मेरा कोई नियन्त्रण नहीं होता।"

ऐसे प्राकृत रचनाकार का निधन, निश्चय ही, विज्ञान कथा जगत की अपूरणीय क्षति है। इसाक आसिमोव, निःसन्देह, विज्ञान तथा जगत के बेताज बादशाह थे और उनकी मृत्यु से उभरे शून्य की पूर्ति निकट भविष्य में सम्भव नहीं दिखती। इस अनुपम विज्ञान कथाकार को हम सबका कोटिशः नमन।

●●

विज्ञान के साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी जरूरी

राजेन्द्र कुमार राय

पिछली अट्ठाइस फरवरी को देश भर में राष्ट्रीय विज्ञान दिवस मनाया गया। इस दिन देश में विज्ञान को लोकप्रिय बनाने का संकल्प दोहराया जाता है। इस काम के लिये देश में "राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद्" नामक एक सरकारी संस्था काम कर रही है। प्रस्तुत है परिषद् के निदेशक **डॉ० नरेन्द्र सहगल** से इस विषय पर हुई बातचीत के प्रमुख अंश।

हमारे यहाँ विज्ञान तो फल-फूल रहा है पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं। अन्धविश्वासों का बोल-बाला बना हुआ है। इसका कारण विज्ञान के प्रचार-प्रसार में कमी है। वैसे यह काम आसान भी नहीं है। कई समस्यायें हैं। इस चुनौती का सामना कैसे किया जाये?

हमने इस सवाल का जवाब खोजने के लिए डॉ० नरेन्द्र सहगल से बातचीत की। उल्लेखनीय है कि डॉ० सहगल को इसी साल विज्ञान को लोकप्रिय बनाने का सबसे बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला है—यूनेस्को का 'कलिंग पुरस्कार'।

—पिछले कुछ सालों से अपने यहाँ विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के लिए काफी कुछ किया जा रहा है। हालांकि आजादी के साथ ही नेहरू जी ने एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की बात कही थी। यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण और विज्ञान को लोकप्रिय बनाकर आम लोगों के जन-जीवन में क्या कुछ बदलाव लाया जा सकता है?

सम्पर्क सूत्र : डी-720, सरस्वती विहार, दिल्ली-110034

—नेहरू जी इस बात पर बहुत जोर दिया करते थे कि हमारे जन साधारण में वैज्ञानिक दृष्टिकोण को बढ़ावा मिलना चाहिये और अधिक से अधिक लोग वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपना कर अपने जीवन में काफी कुछ बदलाव ला सकते हैं। नेहरू जी जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण की बातें करते थे उससे लोगों को कैसे फायदा हो सकता है ? यह एक महत्वपूर्ण बात है, आखिर उनका मतलब ही क्या था कि लोगों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण जाग्रत की जाये। नेहरू जी के कहने का मतलब यह था कि लोगों में सोचने का ढंग या कहें जब किसी समस्या के समाधान हेतु वैज्ञानिक विधि अपनाएं, तो इससे समस्या को हल करने में बहुत मदद मिलती है।

—आप इसके लिए क्या कोई उदाहरण देंगे ?

—जैसे आप किसी चीज के बारे में खुले तरीके से सोचते हैं और कोई भी निष्कर्ष निकालने से पूर्व उस बात के सभी तथ्यों और आँकड़ों को ध्यान में रखकर कोई निष्कर्ष निकालते हैं, तब इस बात की अधिक सम्भावना है, कि आप ने जो निष्कर्ष निकाला है, वह काफी हद तक सही है। अब आप देखिए हमारे देश में एक आम व्यक्ति अपने जीवन में कैसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाता है। जब कोई पिता अपनी लड़की के लिए वर देखने निकलता है तो मेरे हिसाब से वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण का सबसे बढ़िया उदाहरण पेश करता है। इससे क्या होता है कि वर ढूंढने में वह उसकी आयु, शिक्षा, आर्थिक व पारिवारिक स्थिति और शारीरिक मापदण्ड तथा उसके भविष्य को देखकर यह निर्णय लेता है कि उसको कहाँ शादी करनी है ? यह बात अलग है कि ऐसा उपयुक्त वर ढूंढ पाता है या नहीं। क्योंकि यह व्यावहारिकता पर टिका है। आखिर में जब उसे एकदम उपयुक्त वर नहीं मिलता है तो वह अपने पैमाने को एक-एक कर कम करता जाता है और फिर जहाँ उसे उपयुक्त लगता है शादी कर देता है। अब इस पूरी प्रक्रिया में उसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक होता है।

—तो क्या वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिए विज्ञान का ज्ञान आवश्यक नहीं है ?

—नहीं, एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिए विज्ञान का जानना जरूरी है। वास्तव में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विज्ञान में प्रयोग किये जाने वाले एक तरीके से सम्बन्धित है। और वह तरीका जीवन के हर कार्य व पहलू में इस्तेमाल हो सकता है। क्योंकि यह तरीका विज्ञान में अधिक इस्तेमाल किया जाता है इसलिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण को विज्ञान की लोकप्रियता से जोड़ा जा रहा है।

—यानि वैज्ञानिध दृष्टिकोण अपनाकर जीवन के हर क्षेत्र में सुधार लाया जा सकता है ?

—जी हाँ, ऐसा सम्भव है। अगर आप देखें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का एक मतलब तो यह होता है कि आप किसी बात को बिना उससे सहमत हुए और जो तथ्य उपलब्ध हैं, उसको स्वीकार कर रहे हैं या नहीं। यदि आप उससे सहमत नहीं हैं और जिस बात पर आपको शक है उस पर प्रश्न नहीं करते हैं तो यह एक वैज्ञानिक तरीका नहीं हैं। वैज्ञानिक सोच में जो सबसे महत्वपूर्ण बात है वह है प्रश्न करने की। जैसे यदि आपने कोई एक अफवाह सुनी और उसे देखा नहीं और आप उस अफवाह पर ही कोई धारणा बना लें तो यह वैज्ञानिक सोच नहीं है। अपने यहाँ अक्सर दंगों का कारण दे अफवाहें ही होती हैं। यदि हम अपने कार्य करने या सोचने के ढंग में वैज्ञानिक सोच का उपयोग करते तो खून-खराबा व दंगे कहीं कम होते।

—इसके अलावा गाँव की समस्याओं को जैसे पीने का पानी, सफाई, टीकाकरण आदि ऐसी कई समस्यायें हैं, इनको हल करने में वैज्ञानिक दृष्टिकोण कहाँ तक सहायक है ?

—देखिये इसमें दो बाते हैं । एक तो यदि जैसे आप किसी भूखे पेट वाले आदमी को कोई बात समझाने की कोशिश करें तो उसके समझ में नहीं आयेगी । आपका यह प्रयास तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक यह उसके रोटी व कपड़ा आदि जैसी मूल आवश्यकताओं से सम्बन्धित न हों । यहाँ सबसे बड़ी बात यह है कि आप जो बात भूखे आदमी को बता रहे हैं वह उसका उपयोग भी कर सकता है या नहीं । दूसरी बात है कि उनको जो बात बताई जा रही है उसका उपयोग वे अपनी परिस्थितियों में और अपने संसाधन से कर सकते हैं या नहीं । जैसे पंजाब और हरियाणा के किसानों ने जब यह देखा कि उन्नत बीज, समय पर सिंचाई व कीटनाशकों के इस्तेमाल से खेती की स्थिति में सुधार लाया जा सकता है तो उन्होंने इसे शीघ्र अपना लिया और उन्हीं के प्रयास से वहाँ हरित क्रांति आई । अगर यही बात उस जगह कही जाती जहाँ न पानी उपलब्ध हो और न ही उनकी आर्थिक स्थिति ऐसी हो, कि वे उन्नत किस्म के बीज व कीटनाशकों का प्रयोग कर सकें, तो यह सारा प्रयास बेकार जाता । असली बात यह है कि यदि किसी को कोई बात समझाई जाये और उसमें उसको फायदा दिखता है तो वह उसे शीघ्र मान लेता है । लाभ हमेशा आर्थिक ही नहीं होता, वह मानसिक भी हो सकता है तथा उसका और भी कोई स्वरूप हो सकता है । यही बात वैज्ञानिक दृष्टिकोण में भी लागू होती है ।

—वैज्ञानिक दृष्टिकोण को बढ़ावा देने और विज्ञान को लोकप्रिय बनाने में मीडिया की क्या भूमिका हो सकती है ?

—कोई भी ऐसा साधन जो एक व्यक्ति की बात को दूसरे तक पहुँचा सके और यह सम्प्रेषण एकतरफा न हो तो इससे काफी फायदा हो सकता है । हमारे देश में अभी भी काफी ऐसे व्यक्ति हैं जिन तक किसी भी जनसंचार का कोई भी माध्यम उपलब्ध नहीं है । उनको जानकारी प्राप्त करने का एकमात्र साधन एक दूसरे से बात करना ही है । ये अपना सारा जीवन इसी साधन पर बिता देते हैं । उनके सोचने का ढंग सुनी हुई बातों पर पर ही आधारित होता है और जिन लोगों तक संचार माध्यम उपलब्ध हैं उन तक पहुँचने का मीडिया सबसे बड़ा और अच्छा साधन है, विशेषतः प्रिंट मीडिया । हमारे "राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद्" का मूल उद्देश्य यही है कि लोगों में वैज्ञानिक सोच को विकसित किया जाये । रेडियो पर "विज्ञान विधि" और दूरदर्शन पर "भारत की छाप" नामक कार्यक्रम बनाने का हमारा उद्देश्य यही था । "विज्ञान विधि" 10-14 वर्ष तक के बच्चों के लिए बनाया गया था । इन बच्चों पर ही हमारे देश का भविष्य निर्भर है । इस कार्यक्रम को 140,000 बच्चों ने, अपने आप को पंजीकृत करके, सुना ।

—विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के बारे में आप का कोई सुझाव ?

—देखिये एक सुझाव या एक माध्यम या कार्यक्रम से यह कार्य सम्भव नहीं है । इसके लिए हम कई रास्ते अपना रहे हैं । वर्ष 1987 में हमने भारत जन विज्ञान जत्थे के द्वारा एक प्रयास किया था । इसे मीडिया में "विज्ञान की भारत यात्रा" भी कहा गया । इस वर्ष हम इसे फिर से और बड़े पैमाने पर करने जा रहे हैं और आखिर में मैं यह कहना चाहूँगा कि मेरा अन्तिम लक्ष्य यह है कि मैं अपने जीवन

काल में किसी जनमंच पर यह कह सकूं कि मैं अपने इस परिषद् को अब बन्द करने की घोषणा कर रहा हूँ क्योंकि देश में विज्ञान को लोकप्रिय बनाने और वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने के कार्यक्रम के अपने आप से इतने प्रयास हो रहे हैं कि इस परिषद् की जब आवश्यकता नहीं है। पर वह दिन कितना दूर है, यह नहीं कहा जा सकता।

●●

बाल वैज्ञानिकों का अनूठा कार्यक्रम

प्रयोग पर्व-91 : साकार हुआ सपना

प्रस्तुति : प्रकाश तातेड़

द्वारकेश विद्यापीठ समिति द्वारा संचालित आदर्श विद्या मन्दिर उ० प्रा० बिद्यालय, कांकरोली का प्रांगण दि० 1 से 3 नवम्बर, 91 तक प्रयोग पर्व, 91 की आयोजना से आकर्षण का केन्द्र रहा। शिक्षा विभाग द्वारा गठित जिला विज्ञान शिक्षा समिति के मार्गदर्शन में सम्पन्न इस नूतन कार्यक्रम में राजसमन्द नगर क्षेत्र के उच्च प्राथमिक से वरिष्ठ माध्यमिक स्तर के बारह विद्यालयों के 170 बाल वैज्ञानिकों की विभिन्न प्रतियोगिताओं व प्रवृत्तियों में अभिव्यक्ति एवं विभागों संस्थाओं की प्रदर्शन सामग्री को हजारों दर्शकों ने मुक्त कंठ से सराहा। इस आयोजन का मूल वाक्य रहा—विज्ञान का आधार है "प्रयोग", प्रयोग को चाहिये "प्रोत्साहन" और प्रोत्साहन के लिए प्रस्तुत है "प्रयोग-पर्व"।

बोल उठे "विज्ञान-दर्शन" के कमरे

विद्यालय के पन्द्रह कमरों में विज्ञान के लोकोपयोगी पक्ष को सर्व-सुलभ कराती, विविधवर्णी, ढेर सारी सुसज्जित प्रदर्शन-सामग्री ने "विज्ञान-दर्शन" को दर्शनीय व ज्ञानवर्द्धक बनाया। इन कक्षों में रखे गये—किशोर वैज्ञानिकों द्वारा निर्मित चल व अचल मॉडल्स एवं चार्ट्स, रवीन्द्र नाथ टैगोर मेडिकल कॉलेज, उदयपुर से आगत मानव शरीर के अंगों के वास्तविक नमूने व कंकाल, स्थानीय शर्मा क्लीनिक से प्राप्त मानव शरीर के रोग ग्रस्त अंग, राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण संस्थान, उदयपुर की भौतिक एवं जीवविज्ञान प्रयोगशालाओं तथा जनसंख्या प्रकोष्ठ से लाये गये प्रयोग—उपकरण एवं प्रचार सामग्री, स्थानीय वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालयों से जीव-विज्ञान, भूगोल, व गणित सम्बन्धी शिक्षण सामग्री, बाल विकास परियोजना व आयोजक विद्यालय के पूर्व प्राथमिक शिक्षा के खेल-खिलौने, स्वच्छ परियोजना परिवार कल्याण एवं पर्यावरण विभागों के जानकारी मूलक पार्ट्स व मॉडल्स, धूम्रपान व मद्यपान के खतरों के प्रति सचेत करती, सद्प्रवृत्तियों की संवाहक अणुव्रत विश्व भारती राजसमन्द की विशाल चित्र प्रदर्शनी, उदयपुर के सेवानिवृत शल्य चिकित्साधिकारी डॉ० आर० के० अग्रवाल के द्वारा जीवन-पर्यन्त खींचे

नवगीत' नई आबादी, कांकरोली, 313324 (राजस्थान)

गये शल्य चिकित्सा के दुर्लभ रंगीन फोटोग्राफ। इस प्रकार जीवन से जुड़ी विज्ञान की हर शाखा से सम्बन्धित इस प्रदर्शनी सामग्री से सजे कमरे मानो बोल उठे हों और उनके संदेश का स्वागत किया आगन्तुक दर्शकों की जिज्ञासा भरी आंखों ने।

सृजनशील प्रतिभाओं की पहचान

इस आयोजन का एक बड़ा उद्देश्य सृजनशील बाल प्रतिभाओं को अपनी पहचान का अवसर देना भी रहा है। इस निमित्त प्रयोग पर्व के दौरान तीन वर्गों में विज्ञान प्रश्नोत्तरी (क्वीज) तथा विज्ञान निबन्ध लेखन की प्रतियोगिताएँ हुई। इनमें क्रमशः 28 व 30 छात्र-छात्राएँ संभागी रहे। विज्ञान प्रश्नोत्तरी में विज्ञान के सामान्य ज्ञान से सम्बन्धित प्रश्न लिखित, मौखिक एवं प्रादर्श विधि से पूछे गये। निबन्ध के विषय एक घण्टा पूर्व घोषित किये गये—विज्ञान का समाज पर प्रभाव (कक्षा 6 से 8) पर्यावरण-प्रदूषण (कक्षा—9-10), तथा चिकित्सा विज्ञान की उपलब्धियां (कक्षा 11-12)। पारस्परिक विज्ञान मेलों की इन प्रतियोगिताओं के अलावा एक नवीन रात्रि कार्यक्रम "संदेश नाटिका" का हुआ जिसमें विज्ञान व अंधविश्वास, रक्तदान, नेत्रदान व प्रदूषण जैसे सामयिक विषयों पर जीवन्त अभिनय-प्रस्तुति से प्रभावी वातावरण की सर्जना की गई।

धूम्रपान : कैंसर का आह्वान

प्रयोगपर्व की अवधि में एक सन्ध्या डॉ० आर० के० अग्रवाल की प्रेरणास्पद शैक्षिक वार्ता को अर्पित रही। सेवा समर्पित, सुप्रसिद्ध शल्यचिकित्सक डॉ० अग्रवाल ने अपनी रोचक आनुप्रासिक भाषा-शैली में, दो घण्टे तक प्रोजेक्टर पर स्लाइड शो के साथ स्वअनुभव के चित्र प्रदर्शित कर कैंसर व धूम्रपान, मोटापा एक अभिशाप, विकलांगता में भरा आत्म विश्वास विषयों पर अपनी ज्ञानवर्द्धक व विचारोतेजक वार्ता से उपस्थित जन समूह को लाभान्वित किया।

प्रयोग पर्व : एक नया नवाचार

प्रयोग पर्व के स्वप्न को साकार करने में जुड़े व जुटे शिक्षकों व विद्यार्थियों की आम राय रही कि य एक नया कार्यक्रम है क्योंकि इसके आयोजन में विज्ञान मेलों की अपेक्षा निम्नलिखित नूतन प्रयोग किये गये—

1. इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य विज्ञान के लोकोपयोगी पक्ष को जनता तक ले जाना रखा गया जो अत्यधिक महत्वाकांक्षी न होकर, संभागियों की सहज पहुँच में था।
2. विषयवार प्रतियोगिताओं के बजाय, चल व अचल मॉडलस, पार्ट्स की प्रतियोगिताएँ रखी गई। ये प्रतियोगिताएँ दो वर्गों में आयोजित की गई जिससे कक्षा 6 से 12 तक विद्यार्थियों को भाग लेने का अवसर मिला।
3. पार्ट्स निर्माण प्रतियोगिता "स्पॉट ड्राइंग" द्वारा कारवाई गई ताकि कौशलात्मक मौलिकता सुनिश्चित हो सकी।
4. सभी संभागी चल व अचल मॉडल्स पर 11 रु० से 51 रु० तक का आर्थिक सहयोग दिया गया।
5. "संदेश नाटिका" के अभिनव अभिनयात्मक कार्यक्रम से कला व विज्ञान का सार्थक समन्वय किया गया।

6. विद्यार्थियों को प्रत्येक वर्ग व प्रतियोगिता में प्रमाण-पत्र व विज्ञान-साहित्य देकर पुरस्कृत किया गया ।

7. सर्वाधिक सफलता प्राप्त विद्यालय को वैजयन्ती (शील्ड) प्रदान की गई ।

8. विद्यार्थियों के मार्गदर्शक शिक्षकों को भी प्रशंसा पत्र देकर सम्मानित किया गया ।

9. यह सम्पूर्ण कार्यक्रम निःशुल्क रखा गया । सारा खर्च द्वारकेश विद्यापीठ समिति, कांकरोली ने वहन किया ।

10. संभागी छात्रों व शिक्षकों को प्रतिदिन अल्पाहार दिया गया ।

11. प्रयोग पर्व के सम्बन्ध में दर्शकों के विचार लिखित में प्राप्त कर संकलित किये गये ।

आशीर्वाद व उद्‌बोधन के क्षण

इस आयोजन के स्वप्नदृष्टा रहे द्वारकेश विद्यापीठ समिति के संस्थापक-संचालक, राजकीय सेवारत युवा उत्साही शिक्षक श्री प्रेमनारायण जोशी । इसे साकार व सफल बनाने में सक्रिय हुए जिला विज्ञान शिक्षा समिति के सदस्यगण एवं आदर्श विद्या मन्दिर का परिवार । शुभारम्भ पर आशीर्वाद देते हुए, विज्ञान शिक्षक रहे हमारे जिला शिक्षा अधिकारी श्री वासुदेव दवे ने वैज्ञानिक पद्धति को जीवन का अंग बनाने पर जोर दिया । उन्होंने टी० वी० का स्वीच दबाकर प्रयोग पर्व का उद्‌घाटन किया । टी० वी० पर संस्थान से लाई गई पर्यावरण सम्बन्धी फिल्म दिखाई गई ।

समापन पर जिला पुलिस अधीक्षक श्री आलोक त्रिपाठी ने पधारकर एक प्रेरक उद्‌बोधन के साथ पारितोषिक वितरण किया । राजकीय वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय राजसमन्द के प्राचार्य श्री हरिशचन्द जोशी ने अध्यक्षता की । सम्पूर्ण त्रिद्विसीय कार्यक्रम के दुर्लभ क्षणों की एक वीडियो कैसेट तैयार की गई जिसमें प्रयोग पर्व की आयोजना सजीव अंकित है ।

सफलता से जन्मी भावी आकांक्षायें

राजसमन्द नगर क्षेत्र की लगभग सभी राजकीय व स्वयं सेवी छात्र व छात्रा शिक्षण संस्थाओं ने इसमें भाग लेकर प्रयोग पर्व के प्रयोग को सफल बनाया । प्रतिदिन प्रायः 8 से सायं 5 तक दर्शकों की भारी भीड़ ने हमारा उत्साह बढ़ाया । इस कार्यक्रम को प्रतिवर्ष आयोजित किया जावे तथा इसका क्षेत्र विस्तार हो इसके लिए विज्ञान की गतिविधियों से जुड़ी संस्थायें हमें सहयोग व सम्बल प्रदान करें तो प्रयोग पर्व प्रगति के सोपान पर चढ़ सकेगा ।

○○

विज्ञान परिषद् प्रयाग की वाराणसी शाखा से

विज्ञान दिवस (28 फरवरी) सम्पन्न

डॉ० श्रवण कुमार तिवारी

विज्ञान परिषद् की काशी हिन्दू विश्वविद्यालय शाखा के तत्वावधान में विज्ञान संकाय में 28 फरवरी को **विज्ञान दिवस** के अवसर पर राष्ट्र भाषा हिन्दी में "विज्ञान की भूमिका" विषय पर एक अत्यन्त रोचक एवं सामयिक व्याख्यान का का आयोजन किया गया। कार्यक्रम का आयोजन परिषद् के सचिव **डॉ० श्रवण कुमार तिवारी** ने किया और गणित के अवकाशप्राप्त प्रोफेसर डॉ० के० पी० सिंह जी ने इसकी अध्यक्षता की। इसमें विज्ञान संकाय के विभिन्न विभागों से अनेक अध्यापकों तथा छात्रों ने भाग लिया। अपने व्याख्यान में विद्वान व्याख्याता **प्रो० देवेन्द्र कुमार राव** ने वर्तमान वैज्ञानिक युग में हमारे चिंतन की सही दिशा की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा कि विज्ञान ने हमें सुख सुविधा एवं सुरक्षा के अनेक दुर्लभ साधन दिये हैं। किन्तु इन सुविधाओं का उपभोग मात्र ही विज्ञान क वास्तविक भूमिका नहीं हो सकती। विज्ञान के सिद्धान्तों, प्रयोगों तथा पद्धतियों की ओर ध्यान देने से यह स्पष्ट होगा कि इस विशाल विश्व में एकरूपता के ऐसे तत्व मौजूद हैं जिनकी ओर हमारा ध्यान प्रायः नहीं जाता है। विश्व के जीव-जन्तु, पेड़-पौधे, भूमि, पर्वत, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, नीहारिकायें आदि सब में कुछ एक ही प्रकार के मौलिक कण विद्यमान हैं। वैज्ञानिक धाराणाएँ धार्मिक वा राजनैतिक वादों और मत-मतान्तरों की तरह किसी वाद पर आधारित नहीं हैं। वे तो प्रयोगों और प्रेक्षणों पर आधारित हैं और उनमें कुछ मौलिक नियमों का अनुपालन होता है। प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्षों के अनुसार विज्ञान के सिद्धान्त बदलते भी रहते हैं। अतः मानव चिन्तनधारा में विज्ञान की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका यही है कि वह हमें प्रकृति के रहस्यों के सम्बन्ध में पूर्वाग्रहविहीन खोज बीन के लिए प्रेरित करती है। इस तरह विज्ञान हमें एक ऐसे व्यापकतम विश्वबन्धुत्व का संकेत देता है जिसमें केवल मानव मात्र ही नहीं वरन् अमीबा से लेकर सुपर नोवा तक एक ही वंश परम्परा के दर्शन किये जा सकते हैं।

यदि विज्ञान के किसी अध्वेता में इस प्रकार की चिन्तनधारा नहीं बनती है तो वह सही अर्थों में वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता है। साथ ही ऐसी चिन्तनधारा के अभाव में वैज्ञानिक उपलब्धियों के उपभोग की मानव-प्रतिस्पर्धा बढ़ती ही जायेगी और वह उसके अस्तित्व को अशान्त एवं भयग्रस्त बनाती रहेगी।

व्याख्यान के बाद **प्रो० के० पी० सिंह** ने अपनी अध्यक्षीय टिप्पणी में विश्व की व्यापकता तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तों की चर्चा करके उपर्युक्त दृष्टिकोण की पुष्टि की। अन्त में परिषद् के उपाध्यक्ष **प्रो० ब्रज रतन दास गुप्त** ने अध्यक्ष, व्याख्याता तथा समस्त उपस्थित लोगों को धन्यवाद ज्ञापित किया।

OO

विज्ञान परिषद् (प्रयाग) वाराणसी-शाखा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणी-221005

विज्ञान वार्ता

डॉ० अरुण आर्य

1. दस किलो का फूल : रेफ्लेसिया

यदि आपसे पूछा जाय कि आकार में सबसे बड़ा फूल कौन सा है तो आपका त्वरित जवाब होगा सूरज-मुखी या फिर शायद डहेलिया और यदि कहें कि वजन में सबसे अधिक कौन तो शायद आप कहेंगे गोभी । जी नहीं, गोभी एक पुष्प नहीं वरन सम्पूर्ण पुष्पक्रम है । साधारणतया 50-70 सेमी० (कभी-कभी 90 सेमी० से अधिक व्यास का) और 10 किलो वजन का पुष्प है **रेफ्लेसिया** (Rafflesia arnoldi) का । इसकी खोज 1818 में जावा के **ले० सर गवर्नर थामस स्टैमफोर्ड रेफ्लेस** और ख्याति प्राप्त प्रकृतिविद **डॉ० जोसेफ अर्नाल्ड** ने सुमात्रा (इण्डोनेसिया) के बेन्कूलेन जंगलों में की । इनकी स्मृति में प्रसिद्ध वनस्पतिविद् **राबर्ट ब्राउन** ने इस पौधे का नाम दिया **रेफ्लेसिया अर्नाल्डाई** । स्थानीय निवासी इसे क्रूबूत कहते हैं । डच वैज्ञानिक **ब्लूमे** ने इसे एक कवक बताया है । वस्तुतः यह एक पूर्ण परजीवी है जो पादप-जगत् में सबसे बड़े पुष्प उत्पन्न करता है । **रेफ्लेसिया**, रेफ्लेसियेसी अथवा साइटीनेसी (Cytinaceae) कुल का पौधा है, जो अंगूर कुल (Vitaceae) के दो पौधों—**सिसस** और **टेट्रास्टिगमा** की जड़ों पर पाया जाता है । पूरा पौधा मात्र छोटे से सूत्राकार हॉस्टोरियल तन्त्र और एक बड़े पुष्प का बना होता है । पौधे में पैरनकाइमेटस ऊतकों का बाहुल्य है, केवल थोड़े से भाग में पुष्प के नीचे दारु वाहिकायें (Xylem Vessels) पायी जाती हैं ।

पौधे में कली का विकास बहुत धीमी गति से होता है । 1.5 सेमी० आकार की कली 4 सेमी० तक पहुँचने में 188 दिन का समय लेती है । 4 सेमी० की कली पूरा पुष्प (34 सेमी०) बनने में अगले 310 दिन का समय लेती है । जावा के बोगोर नगर में स्थित वनस्पति उद्यान में इनको खिलते हुए देखा जा सकता है । इतने अधिक समय में विकसित पुष्प मात्र 2-3 दिन में ही मुरझा जाता है ।

इसमें दलपुंज 2 पंखुड़ियों का बना होता है जो ईंट के रंग का, गहरा भूरा या बैंगनी होता है । परिदलपुंज साधारण नहीं होता, क्योंकि इसमें डायफ्राम जुड़ा होता है । परिदलपुंज (Perianth) में जाइलम वाहिकायें (Uniseriate xylem strands) और फ्लोयम पाया जाता है । पुष्प के मध्य में एक प्लेट होती है, जिसमें नर अथवा मादा जननांग पाये जाते हैं ।

पुष्प में परागण के सम्बन्ध में मतभेद है । पहले यह कहा जाता था कि इसमें परागण हाथी द्वारा होता है । राबर्ट ब्राउन ने कहा कि फूलों में कैरीयान की सुगन्ध होती है और मक्खियाँ इसकी ओर आकर्षित होती हैं । लेकिन फूलों के पास इस प्रकार की महक एवं मक्खियाँ हर समय नहीं पायी गयीं । एक महक पेरियन्थ के सड़ने से अवश्य उत्पन्न होती है । **विन्कलर** ने 1927 में बताया कि फूलों में परागण, फूल के अन्दर बनी गुहा (Floral chamber) में पानी के सतह के ऊपर-नीचे होने से होता है ।

वरिष्ठ प्रवक्ता, वनस्पति विज्ञान, विज्ञान संकाय, म० स० राव विश्वविद्यालय, बड़ौदा, बड़ोदरा-390002 (गुजरात)

प्रकृति अपने विविध रूपों में हमारे सामने प्रकट होती है, रेफ्लेसिया की सम्पूर्ण संरचना एवं इसकी क्रिया विधि वैज्ञानिकों के लिए एक चुनौती है।

2. कैंसर उत्पन्न करने में सहायक : सेकेरिन

1879 से पूर्व मनुष्य द्वारा प्रयुक्त चीनी ही एकमात्र मीठा उत्पन्न करने वाला पदार्थ था। फिर **रैमसन** और **फॉलबर्ग** ने हापकिंस विश्वविद्यालय, बाल्टीमोर (अमेरिका) में आर्थो सल्फोबेन्जोइक इमाइड (ortho-sulpho-benzoic imide), जिसे अब सेकेरिन के नाम से जाना जाता है, की खोज की।

यह नया पदार्थ चीनी से 550 गुना अधिक मीठा होता है। आजकल इसका प्रचलन मृदु पेयों (soft drinks), मिठाइयों, टाफी-चाकलेटों, आइसक्रीमों में किया जाता है। मधुमेह के रोगियों के लिए तो यह वरदान ही है।

डॉ० आर० एम० हिक्स और उनके सहयोगियों ने पाया कि जब एक कैंसर उत्पन्न करने वाला पदार्थ एन-मिथाइल एन-नाइट्रोसोयरिया (N-methyl N-nitrosourea) बार-बार इन्जेक्शन द्वारा चूहों में भेजा गया तो उसने मूत्रकोष का कैंसर उत्पन्न किया। यही पदार्थ केवल एक बार में कैंसर उत्पन्न करने में असफल था। लेकिन जब सेकेरिन को खिलाया गया तो उसने कैंसर उत्पन्न किया। इससे यह सिद्ध होता है कि यह एक सहयोगी कैंसर उत्पादक (co-carcinogenic) पदार्थ है। डॉ० हिक्स और उनके सहयोगियों द्वारा अगले प्रयोगों में पाया गया कि सेकेरिन में 810 पी० पी० एम० ओ-टालुईन सल्फोनामाइड (O-toluine sulphonamide) अशुद्धता के रूप में पाया जाता है, जो कैंसर उत्पादन में सहायक है। इस सम्बन्ध में विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है।

3. दिल के पास ही क्यों ?

ज्यादातर औरतें अपने बच्चों को कन्धे के बायीं तरफ रखती है। यह प्राचीन कलाकृतियों से एवं मूर्तियों इत्यादि से भी ज्ञात होता है। केवल 20 प्रतिशत औरतें ही अपने शिशुओं को दायीं ओर लेती हैं। लोगों की यह धारणा है कि इस प्रकार लेने से उनका दाहिना हाथ काम के लिए खाली रहेगा। लेकिन बायें हाथ से काम करने वालों पर यह कारण सही नहीं लागू होता।

जवान औरतें साधारणतया वस्तुओं को पकड़ने में कोई चुनाव नहीं करतीं, चाहे वह कोई तकिया हो या खरीददारी करने का थैला। दक्षिणी कैलीफोर्निया के **डॉ० बेलैण्ड** और उनके सहयोगी **डॉ० स्परबर** ने अनेक प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया किया कि माँ एवं बच्चे में एक मातृ संवेदना (Maternal response) का उदय होता है, जो बाद में एक आदत में बदल जाता है।

डॉ० बेलैंड ने पाया कि जो मातायें पूर्ण विकसित शिशु को जन्म नहीं देतीं, शिशु को दायें या बायें लेने में कोई भेद नहीं करती। जबकि पूर्ण विकसित शिशु की माँयें अपने शिशु जन्म के तुरन्त बाद से जुड़ी रहती हैं। अधिक अध्ययन से ज्ञात हुआ कि मातृ-शिशु सम्बन्ध उत्पन्न करने में पहले 34 घण्टे अधिक महत्वपूर्ण हैं।

जैसा कि हम सब जानते हैं कि मानव सम्बन्ध एक दूसरे के समन्वय से जुड़े हुए हैं, केवल मातृ संवेदना (maternal response) ही एक मात्र कारण नहीं है। बच्चा जन्म से पूर्व माँ के दिल की धड़कन बराबर सुनता है। जन्म के बाद जब माँ गोद लेती है, तो संसार के कोलाहल से दूर बच्चा सुकून की नींद सोता है। ली साल्क ने अपने वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा पाया कि जब बच्चे को टेप रिकार्डर अधिक ध्वनि (72 धड़कन प्रति मिनट 85 डेसीबल्स की ध्वनि से) से सुनाया गया, तो बच्चा अधिक रोया और उसके औसत वजन-वृद्धि में भी कमी आयी।

●●

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक : गंगा को अविरल बहने दो

सम्पादक : योगेन्द्र, सफदर इमाम कादरी

प्रकाशक : गंगा मुक्ति आन्दोलन, गिरधारी साह, लेन, सूजागंज, भागलपुर

संस्करण : 1990

मूल्य ; तीस रुपये, पुस्तकालय संस्करण सत्तर रुपये

पृष्ठ : 136

पर्यावरण के विविध पहलुओं पर अनेक पुस्तकें निकल चुकी हैं। पर्यावरण की सुरक्षा के लिए किये जा रहे सरकारी और गैर सरकारी प्रयासों पर भी लिखा जाता रहा है। लेकिन पर्यावरण की सुरक्षा के लिए जनचेतना जाग्रत करके जनांदोलन खड़ा करने और विजय पाने पर लिखी गयी सम्भवतः यह पहली पुस्तक है।

लोकनायक जयप्रकाश नारायण द्वारा स्थापित संगठन 'छात्र युवा संघर्ष वाहिनी' और 'जनश्रमिक संघ' ने मिलकर जिस 'गंगा मुक्ति आंदोलन' का सूत्रपात किया उसकी शुरुआत 1982 में हुई। प्रारम्भ में आंदोलन का मुख्य मुद्दा गंगा में चल रही जल जमींदारी का विरोध करना था। बाद में आंदोलन में नये-नये विषयों का समावेश होता गया। जैसे उत्तर प्रदेश की तरह बिहार में भी मछली मारने की छूट, कपड़ा जाल पर कानूनी प्रतिबन्ध की माँग, गंगा से मछलियों के अण्डे जीरे एकत्र करने पर रोक की माँग, फरक्का बराज (बाँध) का विरोध, कहलगाँव स्थित सुपर थर्मल पावर का विरोध, जगदीशपुर में शराब फैक्ट्री का विरोध आदि। इस तरह 'गंगा को अविरल बहने दो' पुस्तक में दी गयी सामग्री में जल प्रदूषण के विविध पहलुओं पर सामग्री तो दी ही गयी है साथ ही साथ उन पहलुओं पर जनांदोलन कैसे विकसित हुआ, इसका भी विवरण प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर दिया गया है।

पुस्तक के तीन खण्ड हैं :

(1) लोग क्यों लड़ रहे हैं,
(2) संघर्ष से फैलती रोशनी, और
(3) दस्तावेज।

पहले खण्ड में 12 लेख संग्रहीत हैं। इन लेखों में गंगा प्रदूषण के लिए उत्तरदायी विविध पहलुओं पर व्यापक चर्चा की गयी है। अधिकांश लेख स्वयं आंदोलनकारियों की कलम से लिखे गये हैं। इन लेखों को पढ़ने का स्वाद ही कुछ और है, क्योंकि इनसे लेखक के संघर्ष से उपजे अनुभव का सुख प्राप्त होता है। इन लेखों में अधिकांश का संग्रह विविध अखबारों या पुस्तकों से किया गया है। **कपिल भट्टाचार्य** का लेख 'डी० वी० सी० फरक्का बराज और बाढ़' विशेष उल्लेखनीय है। भट्टाचार्य जी ने फरक्का बराज का विरोध उसी समय किया था जब इसके निर्माण का प्रस्ताव हुआ था। प्रसिद्ध अभियन्ता भट्टाचार्य को उनके विरोध के कारण ही नौकरी से हाथ धोना पड़ा था। श्री भट्टाचार्य ने फरक्का बराज की अनुपयोगिता के सम्बन्ध में जो भविष्यवाणियाँ की थीं, सब सच साबित हुईं।

पुस्तक के द्वितीय खण्ड में आंदोलनकारियों के वे खट्टे-मीठे अनुभव हैं, जो उन्हें आंदोलन संगठित करने के समय प्राप्त हुए थे। ये अनुभव उन लोगों के लिये विशेष उपयोगी साबित होंगे जो इस तरह के आंदोलनों को संगठित करने में लगे हुए हैं। दस्तावेज वाले खण्ड में 1982 से 1990 तक की सम्पूर्ण संघर्ष गाथा में आंदोलनकारियों द्वारा निकाले गये पर्चों, पम्फलेटों, फोल्डरों आदि को उसी रूप में छापकर गंगा मुक्ति आंदोलन की यात्रा को जीवन्त बनाने का प्रयास किया गया है।

पुस्तक में एक ही बात का बार-बार आना खटकता है। गंगा प्रदूषण पर कुछ अन्य वैज्ञानिकों ने भी काम किये हैं। उनके कार्यों का पुस्तक में समावेश करके इसे और भी प्रामाणिक बनाया जा सकता था।

पर्यावरण की सुरक्षा हेतु आंदोलन विकसित करने वाले लोगों के लिए यह पुस्तक एक आदर्श गाइड का काम कर सकती है।

—विजय जी
जवाहर इण्टर कालेज, जारी, इलाहाबाद

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक : वैज्ञानिक लघु कथाएँ
लेखक : डॉ० राजीव रंजन उपाध्याय
प्रकाशक : प्रतिभा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली-2
मूल्य : 50 रुपये
प्रथम संस्करण : 1989
पृष्ठ : 164

हिन्दी साहित्य में अब विज्ञान विषयक सामग्री काफी प्रकाशित हो रही है। लेकिन साहित्य की कहानी विधा में विज्ञान लेखन अभी भी शैशवावस्था में है। यद्यपि **जे० वी० नार्लीकर** जैसे प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने इस क्षेत्र में लेखन करके अच्छी शुरुआत की है। विज्ञान की लोकप्रिय पत्रिका 'विज्ञान प्रगति' भी आजकल अपने हर अंक में एक विज्ञान कथा देकर इस विधा को समृद्ध करने में सराहनीय प्रयास कर रही है।

लघुकथाएँ वास्तव में कहानी की ही संक्षिप्त रूप होती हैं। लेकिन इनकी संक्षिप्तता के कारण विषय वस्तु के साथ न तो अन्याय होता है और न इनकी रोचकता कम होती है। उल्टे लघु कथाएँ अपने व्यंग और आक्रामक शैली के कारण और भी रोचक हो जाती हैं। जहाँ तक विज्ञान के क्षेत्र में लघुकथाओं का सवाल है, ये लगभग नहीं के बराबर ही लिखी जा रही हैं। विज्ञान की पत्रिकाओं में भी वैज्ञानिक लघुकथाओं के कहीं दर्शन नहीं होते। इस दृष्टि से वैज्ञानिक लघुकथाओं पर एक संग्रह निकाल कर विद्वान लेखक ने सराहनीय कार्य किया है, जैसा कि प्रकाशक ने स्वयं लिखा है कि वैज्ञानिक लघु कथाओं पर यह पहला संग्रह है।

164 पृष्ठ की इस पुस्तक में कुल 131 लघु कथाओं में किसी न किसी वैज्ञानिक तथ्य के आधार पर प्राचीन मान्यताओं और पाखण्डों का भण्डाफोड़ किया गया है या उनमें छिपी वैज्ञानिकता को उजागर किया गया है। कुछ ऐसी कथाएँ भी जरूर हैं, जिनमें भावी वैज्ञानिक प्रगति के संकेत भी मिलते हैं।

ग्रहण, पानी में आग, मलिन गंगा, आदि में लेखक ने समाज में प्रचलित पाखण्ड पर प्रहार किया है। दातून, पपीता, दूध, सिन्दूर, गुग्गुल, मेथी, पान, नारियल, मछली, आलू, अशोकारिष्ट, मेढक की टाँग, गोभी, जामुन, प्याज, आदि को तो जबरन विज्ञान कथा का रूप दिया गया है। इन कहानियों में कुल मिलाकर इन खाद्य पदार्थों में उपस्थित पोषक तत्वों या औषधियों की जानकारी दी गयी है। दातून यदि आधुनिक टूथपेस्टों के बजाय ज्यादा अच्छी है, तो इसे सीधे-सीधे कहना पाठकों के अधिक हित में होगा। कहानी विधा का प्रयोग तो कठिन तथ्यों को आसान करने के लिये किया जाता है न कि आसान तथ्यों को और कठिन बनाने के लिए।

जो बातें आम जानकारी में हैं उन्हें बातचीत के माध्यम से प्रस्तुत कर देना विज्ञान कथा नहीं हो सकती। इस दृष्टि से लेखक की अनेक विज्ञान कथाएँ वास्तव में विज्ञान कथाएँ हैं ही नहीं। विज्ञान कथाएँ तो वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर बुनी हुई कल्पनाएँ होती हैं, जिनसे भविष्य में नये आविष्कारों की सम्भावना बलवती हो। इस दृष्टि से पुस्तक की बहुत कम लघु कथाओं को वास्तव में विज्ञान कथाएं कहा जा सकता है। टूटी हड्डी हुई जवान, हाथी के पंख, सूचना पिल्स, शिराओं में रोबोट, बनायेंगे दवा चूहे, खूनी का बाल, सिलिकान चिप्स, फूड इंस्पेक्टर चूहा, टेस्ट ट्यूब बेबी आदि कहानियाँ वैज्ञानिक तथ्यों के सहारे बुनी हुई हैं और इन तथ्यों के द्वारा भविष्य की काल्पनिक तस्वीर खींचने का प्रयास किया गया है। अतः इन लघु कथाओं को ही वैज्ञानिक कथाओं की श्रेणी में रखा जा सकता है।

विज्ञान कथाओं की कसौटी पर अनेक लघुकथाएँ भले ही खरी न उतरें, लेकिन इनमें प्रत्येक किसी न किसी वैज्ञानिक तथ्य से अवश्य परिचित करवाती है। इस दृष्टि से यह पुस्तक जनसाधारण के लिए उपयोगी है।

पुस्तक का आवरण बढ़िया है, छपाई साफ-सुथरी है।

पुस्तक के लेखक कैंसर क्षेत्र में विशेषज्ञ हैं। ऐसे लोगों द्वारा हिन्दी में, वह भी जनसाधारण के लिए, लिखना स्वागत योग्य कदम है।

—विजय जी

प्रदूषित पर्यावरण और आम विकास

दर्शनानन्द

पौष्टिक महत्व

भारतवर्ष में अनेक फल पैदा होते हैं, जिनमें आम सर्वश्रेष्ठ फल है। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो आम खाना न पसन्द करता हो। आम विटामिन-ए का एक अति प्रचुर स्रोत है। प्रति 100 ग्राम गूदे में 2743 मिलीग्राम विटामिन-ए की मात्रा विद्यमान रहती है। विटामिन-ए नेत्रों की ज्योति को बढ़ाने और सही रखने में बड़ा सहायक होता है। इसके अतिरिक्त इन गूदों में विटामिन-सी 31 मिलीग्राम, विटामिन बी-1 (थायमिन) 40, विटामिन बी-2 (राइबोफ्लैविन) 50, निकोटिनिक एसिड (नियासिन) 0-3, कैल्शियम 10·14, और फॉस्फोरस 16-20 मिलीग्राम तथा प्रोटीन 0-6 ग्राम, शर्करा 16.9 ग्राम और ऊष्मा शक्ति 50 कैलोरी पाई जाती है।

किस्में

आम चूसने वाले और काट कर खाने वाले—दो प्रकार के होते हैं। इस महत्वपूर्ण फल की हजारों किस्में हैं, जिनके अलग-अलग स्वाद और सुवास होते हैं। कोई बड़े तो कोई छोटे, कोई सुनहरे, कोई पीले तो कोई मीठे या खटमीठे।

अपने देश में सबसे अच्छी किस्म अल्फॉन्जो है जिसके बाद पेरी की गणना की जाती है। ये दोनों किस्में महाराष्ट्र की हैं। बंगाल की किस्म गोपाल भोग, मालदा, कृष्ण भोग, जरदालू, हिमसागर, दक्षिणी भारत की रोमानी, नीलम, मालगोवा, स्वर्ण रेखा, बंगलोरा (तोतापरी), बिहार की किस्म, गुलाब खास, मिठुआ, सुकुल, सिपिया, हिम सागर, कृष्ण भोग और उत्तरी भारत की किस्म बाम्बे ग्रीन और बाम्बे यलो प्रमुख प्रचलित किस्में हैं।

आम की किस्म "दशहरी" उत्तर प्रदेश की सर्वप्रिय व सर्वश्रेष्ठ किस्म है, जो विश्वविख्यात है। यह ख्याति लखनऊ जिले में मलीहाबाद के दशहरी नामक ग्राम से प्राप्त हुई। इसी प्रकार लखनऊ के ग्राम चौसा से वहां की विख्यात किस्म "समरबहिश्त चौसा" (खजरी) विकसित हुई। इनके अतिरिक्त लखनऊ की सफेदा मलीहाबाद और सफेदा लखनऊ, गोरखपुर की गौरजीत व कपुरी, वाराणसी की लंगड़ा बनारसी, मेरठ की रटौल उत्तर प्रदेश की प्रमुख व्यापारिक किस्में हैं। हुस्नेआरा, फजरी, ब्राइडऑफ रशा, सफ्दर पसंद, खासुलखास भी आम की अच्छी किस्में हैं।

भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान, नई दिल्ली द्वारा विकसित व हर साल फलने वाली दो किस्में—आम्रपाली (दशहरी × नीलम) और मल्लिका (नीलम × दशहरी) दिन प्रतिदिन ख्याति प्राप्त करती जा रही हैं। आम्र-

---

उपनिदेशक उद्यान, इलाहाबाद मण्डल (अवकाशप्राप्त), सी-67, गुरू तेग बहादुर नगर (करेली हाउसिंग स्कीम), इलाहाबाद-211016

पाली आम के पौधों की माँगें विशेष रूप से इसलिये और बढ़ रही है कि इसे "हाई डेन्सिटी ऑरचर्ड" प्रक्रिया के अन्तरगत केवल 2.5×2.5 मीटर (9×9 फीट) की दूरी पर लगा सकते हैं और पौधे भी बौने होते हैं। इनके एक हेक्टेयर में 1337 पौधे वर्गाकार प्रणाली से लगाये जा सकते हैं, जबकि षटकोंण प्रणाली से यह संख्या बढ़कर 1555 हो जाती है। आम्रपाली आम की गृह बाटिका में भी लगा सकते हैं।

फल संरक्षण

आम के पके फल से जैम, जेली, स्क्वास, चटनी, आम पापड़ व टॉफी निर्माण करते हैं। इनके कतरों की डिब्बाबन्दी भी की जाती है। कच्चे आम से नमकीन व मीठे अचार, चटनी शर्बत, पना तथा सुखा कर खटाई व आम चूर्ण तैयार करते हैं।

विदेणी मुद्रा अर्जन का स्रोत

आम अपने देश की एक ऐसी महत्वपूर्ण प्राकृतिक सम्पदा है जिसके निर्यात से विदेशी मुद्रा अर्जित करने की प्रबल सम्भावनायें हैं। महाराष्ट्र के अल्फॉन्जो और उत्तर प्रदेश के दशहरी आम हर वर्ष विदेशों को निर्यात किये जाते हैं। इन्हीं सारी गुणवत्ताओं के ही कारण आम को फलों का राजा कहा जाता है।

क्षेत्रफल व पैदावार

अपने देश में फलों के अंतर्गत कुल क्षेत्रफल का लगभग 44 प्रतिशत भाग (लगभग 11 लाख हेक्टेयर) केवल आम के ही अंतर्गत है। इसी का करीब 44 प्रतिशत ही भाग (लगभग 4,84,000 हेक्टेयर) केवल उत्तर प्रदेश में हैं। आम की कुल पैदावार देश में 111 लाख टन होती है। उत्तर प्रदेश में इसकी लगभग 31 प्रतिशत अर्थात् 34,41,000 टन पैदाबार होती है।

विस्तार

समुद्र तल से 1000 मीटर की ऊँचाई तक अपने देश के कोने-कोने में आम उगाया जाता है। इनमें क्रमानुसार उत्तर प्रदेश, बिहार, आन्ध्र प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, केरल, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, कर्नाटक, त्रिपुरा, पंजाब, असम, मेघालय, लक्ष्वदीप व अण्डमन, जम्मू व कश्मीर, हिमांचल प्रदेश, सिक्किम तथा राजस्थान प्रमुख हैं।

उत्तर प्रदेश में लखनऊ (मलीहाबाद), इलाहाबाद (कड़ा व सिराथू तथा चाका), प्रतापगढ़ (कुण्डा), फतेहपुर, कानपुर, फरूखाबाद (कायमगंज), अलीगढ़ (अतरौली व सासनी), सहारनपुर, मेरठ, बुलन्दशहर, गाजियाबाद, मुजफ्फरनगर, वाराणसी, गोरखपुर, देवरिया (पडरौना), फैजाबाद व अन्य अधिकांश जनपदों में आम के बाग स्थापित हैं।

कुछ क्षेत्र तो ऐसे हैं जिनमें आम के अतिरिक्त अमरूद और आंवला जैसे महत्वपूर्ण फलों के भी बहुत बड़े बड़े क्षेत्रों में लगातार उन्हीं फलों के बाग स्थापित हैं। जैसे इलाहाबाद के सुलेम सराय क्षेत्र में असरूद के और प्रतापगढ़ के गोंडे ग्राम तथा उसके आस-पास आंवले के बाग ही बाग दिखाई पड़ते हैं। इसी प्रकार ग्राम पटहटिया

कलां (प्रतापगढ़-वाराणसी सड़क पर) में श्री महाबल सिंह के उद्यान में आंवले की विशिष्ट किस्में मौजूद हैं, जिनकी प्रतापगढ़ जनपद में सर्वप्रथम लगभग 30 वर्ष पूर्व उत्तर प्रदेश उद्यान विभाग (उस समय कृषि विभाग का उद्यान अनुभाग) द्वारा आंवले की पौधशाला (नर्सरी) पंजीकृत की गई, जो यशवंत नर्सरी के नाम से जानी जाती है।

प्रदूषण का प्रभाव

इन प्राकृतिक महत्वपूर्ण सम्पदाओं की सुरक्षा करना अपना पुनीत कर्तव्य है, जिसे युद्धस्तर पर अभियान के रूप में चलाना चाहिये। परन्तु अपने देश का दुर्भाग्य है कि दिन प्रति दिन बढ़ती हुई जनसंख्या के दबाव से बाग-बगीचे कटते जा रहे हैं जिनमें आवासीय कॉलनियाँ बनाई जा रही हैं, जिससे निश्चय ही पर्यावरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है, जबकि स्वच्छ वातावरण के लिए बाग-बगीचों व पेड़-पौधों का रहना अत्यन्त आवश्यक है।

दूसरी ओर जो बाग-बगीचे बचे भी हैं वे प्रदूषित पर्यावरण से नष्ट होते जा रहे हैं। धूल धूसरित व दयनीय दशा में पड़ी सड़कों की हवा और वाहनों से उड़ती हुई गर्द तथा कारखानों व वाहनों के काले धुँये और कीड़ों मकोड़ों द्वारा छोड़े गये काले पदार्थ (फफूंदियां) आदि—ये सब वृक्षों की पत्तियों और फूलों-फलों पर अपनी तह जमाये जा रहे हैं, जिससे प्रकाशसंश्लेषण और श्वसन क्रिया में बाधा पड़ती है। फलतः अन्य कीड़े-मकोड़े और व्याधियां भी स्वतः आमंत्रित हो जाती हैं और पेड़-पौधों की स्वस्थ रूप से वढ़वार और फलों की पैदावार पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं। अधिकांश जनता बीड़ी-सिगरेट के धुंए और तम्बाकू की विषैली दुर्गन्ध हवा में तथा दूसरों के मुंह पर छोड़ने में निसंकोच व्यस्त रहती है। इन्हीं सभी कारणों से प्रदूषित वायु की अधिकता और प्राणवायु-ऑक्सीजन की कमी होती जा रही है।

इसी प्रकार आम जैसे महत्वपूर्ण व सर्वश्रेष्ठ फल के साथ ज्यादती हो रही है और यह है आम के बागों के आस-पास ईंटों के भट्टों का स्थापित रहना। ईंटों के इन भट्टों में जलते हुए कोयलों के धुंए में मौजूद कार्बन मोनो-ऑक्साइड, सल्फर डाइऑक्साइड और इथिलीन गैसें पर्यावरण को प्रदूषित कर रही हैं। इसके फलस्वरूप ये गैसें आम के विकास में बाधक हो रही हैं, क्योंकि ये आम की फसल के लिए अत्यन्त घातक हैं।

कोयलिया रोग व उसके लक्षण

आम की फसल के समय जब फलों की वृद्धि अप्रैल-मई में होती रहती है, उस समय ईंटों के भट्ठों के पास स्थित आम के बागों के फलों की शिखाएं जो नीचे की ओर लटकती रहती हैं (चोंच की ओर के भाग), काली पड़ जाती हैं। पहले वायुमण्डल में फैली ये गैसें वृद्धि करते हुए आम के कच्चे फलों की शिखाओं में प्रवेश करती हैं। इसके बाद शिखाओं पर हल्का सा दाग बनता है। फिर ये दाग पानी सोखे हुए जैसे -भूरे रंग के धब्बों में बदल जाते हैं। बाद में ये धब्बे धीरे-धीरे काले पड़ जाते हैं और फलों में सड़न तथा कभी-कभी फटांव भी पैदा हो जाते हैं।

रोग का प्रकोप हो जाने पर रोग ऊपर की ओर बढ़ता जाता है। अन्त में काले धब्बे छिलके व गूदे सहित सूख कर कड़े हो जाते हैं तथा सिकुड़ कर चपटे भी हो जाते हैं। प्रकोप अधिक भयंकर होने पर सूखे गूदे वाले भाग के पास से भीतर की गुठली का कुछ भाग बाहर को निकलआता है।

वास्तव में आम का यह रोग एक दैहिकी विकार या असन्तुलन है, जिसे 'ब्लैकटिप' या 'कोयलिया' रोग कहते हैं। यह 'काला-सिरा' नाम से भी जाना जाता है।

कोयलिया रोग से नुकसान

कोयलिया रोग के प्रकोप से फलों की बढ़वार भी रुक जाती है और परिपक्व होने के पूर्व ही पेड़ पर से गिर भी जाते हैं। ऐसा भी पाया गया है कि प्रभावित फलों की अपेक्षा ये प्रभावित आम कुछ पके से भी हो जाते हैं। परन्तु इन आमों का बाजार में कोई दाम नहीं मिलता।

प्रयोग एवं सर्वेक्षण

कुछ वैज्ञानिकों ने आम के मौसम में आम के बागों के आस-पास जहाँ ईंटों के भट्ठे नहीं थे वहां कोयले जला कर देखा तो फलों में यह विकार देखने में आया। इससे इस बात की पुष्टि हुई कि जलते हुए कोयले के धुँए से निकली हुई गैसें वास्तव में आम की फसल को क्षति पहुँचाती हैं।

डॉ० पी० के० सेन 'एक औद्यानिक वैज्ञानिक' के एक सर्वेक्षण के अनुसार ईंटों के भट्ठों से धुँए की गैसें जो वातावरण को प्रदूषित करती हैं उनके पास स्थित बागों में आम के फलों को क्षति पहुँचाती हैं। बिहार, बंगाल, पंजाब और उत्तर प्रदेश जैसे प्रदेशों में ये प्रकोप अधिक पाये गये, जबकि भट्ठों से दूर स्थित बागों में ये प्रकोप नहीं पाये गये।

यह भी ज्ञात हुआ कि फल जब 2½ सेमी० (एक इन्च) के हो जाते हैं उसी समय से ब्लैक टिप रोग का प्रकोप शुरू हो जाता है। ऐसा इसलिए ही होता है क्योंकि उस समय ईंटों के भट्ठे चालू रहते हैं। भट्ठे चालू रहने और आम की वृद्धि अर्थात् अप्रैल-मई की अवधि के बाद ये गैसें फलों में यह विकार नहीं पैदा करती हैं, बल्कि फल अपेक्षाकृत कुछ जल्दी ही पक जाते हैं।

कौन सी गैस आम के लिए अधिक हानिकारक है ?

वैसे तो स्पष्ट रूप से इस बात का पता नहीं चल पाया है कि कोयले के धुए की कौन सी गैस यह विकार अधिक उत्पन्न करती है, फिर भी रंजन (एस) एवं झा (वी० एन०) के अनुसार इतना अवश्य मालूम हुआ कि इन धुँओं की दो गैसें—इथिलीन और सल्फर डाइऑक्साइड विशेष रूप से फलों में यह विकार पैदा करती हैं।

धुँए में एथिलीन के 1 : 1000 के अनुपात से कोयलिया रोग के लक्षण दिखाई पड़े, परन्तु इथिलीन गैस का अनुपात कम होने पर फलों की श्वसन क्रिया में तेजी आती है। इससे फल में शर्करा की मात्रा अधिक हो जाती है और फल मुलायम पड़ जाते हैं।

पुन: कुछ वैज्ञानिकों ने पाया कि केवल सल्फर डाइऑक्साइड गैस का प्रभाव तथा इथिलीन गैस के साथ भी—दोनों ही दशाओं में फलों पर उसी प्रकार का प्रभाव पाया गया। बल्कि फलों की दशा अपेक्षाकृत कुछ और भी बिगड़ गई। आगे यह भी ज्ञात हुआ कि इन तीनों गैसों में सल्फर डाइऑक्साइड गैस सर्वाधिक क्षति पहुँचाती है।

दूरी का प्रभाव

ईंटों के भट्ठों से आम के बाग या वृक्ष कितनी दूरी पर स्थित है—इसका भी कोयलिया विकार के प्रकोप

से विशेष सम्बन्ध है। पहले हुए शोध कार्यों से पता चला था कि जो क्षेत्र बाग से 1½ किलोमीटर तक की दूरी के भीतर थे उनमें इस विकार का प्रकोप पाया गया, जबकि 500 से 700 मीटर तक की दूरी वाले स्थित बागों में इन गैसों का प्रभाव और भी अधिक रहा।

परन्तु अब यह ज्ञात हुआ कि ईंटों के भट्ठों से निकलने वाले धुँए की गैसों का प्रभाव स्थित बाग के 4-5 किमी० क्षेत्र के भीतर तक सबसे ज्यादा होता है। लेकिन अप्रैल से मई-जून तक के सूखे मौसम में यह क्षति 8 किमी० तक के फैलाव में होती हैं।

दिशा का प्रभाव

ईंटों के भट्ठों से निकलते धुँए किस दिशा को जाते हैं—इस पर भी रोग का प्रकोप और फैलाव निर्भर करता है। अगर हवा का रुख बाग की ओर है तो उस बाग के फल अधिक प्रभावित होंगे। आम तौर से जो बाग ईंटों के भट्ठों के पूर्वी या पश्चिमी भागों में स्थित रहते हैं, वे फल अधिक प्रभावित होते हैं। भट्ठों के उत्तरी और दक्षिणी भागों में स्थित बोनों में इन गैसों का प्रभाव कम होता है।

आम की किस्मों पर प्रभाव

कोयलिया विकार का प्रभाव कम या अधिक होना आम की किस्मों पर भी निर्भर करता है। प्रायः विख्यात किस्म "दशहरी" और "बम्बई" के फलों पर यह प्रकोप अधिक देखने को मिलता है।

वृक्षों की स्थिति

आम के वृक्षों पर इस विकार से प्रभावित फलों के बावजूद भी वृक्ष सुरक्षित रहते हैं। फिर भी लेखक द्वारा कुछ ऐसे आम और अमरूद के बाग व वृक्ष देखे गये जिनके बिल्कुल पास में ही ईंटों के भट्ठे स्थापित थे। ऐसी स्थिति में आम के फलों के रोग ग्रस्त (ब्लैक टिप) होने के साथ-साथ भूमि के भीतर के तेज ताप वृक्षों की जड़ों तक पहुँच गये। इस कारण आम व अमरूद के भी अधिकांश वृक्ष पूरे के पूरे सूख गये।

विकार का निदान

आम की फसल को कोयलिया रोग से बचाने के लिए विभिन्न वैज्ञानिकों द्वारा निम्नलिखित कार्यवाइयों की संस्तुतियाँ की गई हैं :

(1) भट्ठे की चिमनी ऊँची करना

आम के बागों के पास जहाँ ईंटों के भट्ठे हों उनकी चिमनी कम से कम 15 मीटर (50 फीट) ऊँची बनाई जायें।

(2) भट्ठे बन्द करा दिये जायें

ईंटों के जो भट्ठे आम के बागों के 8 किलोमीटर क्षेत्र के भीतर हों उन्हें या तो बिल्कुल बन्द ही करा दिया जाये या मार्च से लेकर आम के मौसम तक कार्यान्वित होने पर कानूनन प्रतिबंध लगाया जाये।

(3) नया भट्ठा स्थापित न होने दिया जाये

आम का बाग 8 किलोमीटर क्षेत्र के भीतर रहने पर ईंट का नया भट्ठा भी स्थापित करने की कानूनन अनुमति न दी जाये।

(4) आम के क्षेत्र से दूर ईंटों के भट्ठे स्थापित हों

ईंटों के भट्ठे स्थापित करने के लिए ऐसे स्थानों का ही चयन किया जाये जो आम उगाने के क्षेत्र न हों या आम के स्थापित बागों से 8 किलोमीटर से अधिक दूर हों।

(5) भट्ठों के क्षेत्रों में आम के बाग न लगाये जायें

जिन स्थानों पर अनुमति प्राप्त कर के ईंटों के भट्ठे स्थापित हों, उन क्षेत्रों में आम के बाग न लगाये जायें। इससे आम विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

(6) बाग समूहों को फल पट्टियां घोषित की जायें

आम व अन्य महत्वपूर्ण फलों के क्षेत्रों को उद्यान विभाग के माध्यम से शासन द्वारा फल पट्टियाँ घोषित की जायें! इसके अन्तरगत बागों की कटान करके कारखाने या आवासीय कॉलनियां नहीं बनाई जा सकेंगी और न ही ईंटों के भट्ठों से क्षति पहुँच सकेगी।

उदाहरणस्वरूप आम के उद्यानों को संरक्षण प्रदान करने की दृष्टि से लखनऊ के मलीहाबाद, माल व काकोरी क्षेत्रों के लिए उत्तर प्रदेश फलदार वृक्षों का सम्वर्धन एवं संरक्षण अधिष्ठान और आवासीय योजना विनियमन अध्यादेश प्रख्यापित किया जा चुका है।

इसी प्रकार इलाहाबाद में सुलेमसराय क्षेत्र तथा चायल विकास खण्ड के आस-पास के ग्रामों तथा मूरतगंज विकास खण्ड के तीन ग्रामों—कुल 59 ग्रामों के अमरूद उद्यान समूहों को भी उत्तर प्रदेश शासन की अधिसूचना सं० कृषि (4) अनुभाग सं० 6516/12-4-211-87, दिनांक लखनऊ 22 दिसम्बर 1987 द्वारा फल-पट्टी घोषित की जा चुकी है। इस प्रकार विश्वविख्यात इलाहाबादी अमरूदों के बागों की सुरक्षा हो सकेगी।

शासन द्वारा जनपद प्रतापगढ़ के गोंडे ग्राम के आस-पास के आंवला उद्यान समूहों को भी फलपट्टी घोषित किया गया।

प्रतापगढ़ के ही कुण्डा क्षेत्र के आम के उद्यान समूहों और फरुखाबाद के कायमगंज क्षेत्र के आम व अमरूद के उद्यान समूहों को तथा कानपुर में नवाबगंज से लेकर बिठूर तक अमरूद के बागों से भरी हुई पावन गंगा की तलहटी के क्षेत्रों को भी फल पट्टी घोषित किया जाना प्रस्तावित है। उत्तर प्रदेश के फतेहपुर जनपद के जमरांवा और मीतनपुर क्षेत्र और उनके आस-पास भुसावली (बसरइ डवार्फ) केलों के बहुत बड़े उद्यान समूह हैं जिनको सुरक्षित रखना भी आवश्यक है।

कायमगंज क्षेत्र के ईंटों के भट्ठों की समस्या बनी हुई है, जिसके कारण कोयलिया रोग से सारे आम नष्ट

हो जाते हैं। इलाहाबाद राजकीय उद्यान के खुसरू बाग के आम उद्यानों में भी फलों पर कोयलिया रोग का प्रकोप वर्ष 1991 के आम के मौसम में देखा गया।

(7) रासायनिक उपचार

कोयलिया रोग से आम की फसल को बचाने के लिए रासायनिक उपचार भी किये जा सकते हैं :

1. कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि पानी में 0.5 प्रतिशत सुहागा (बोरेक्स) या कॉस्टिक सोडा (सोडियम हाइड्रॉक्साइड) के घोल से, (i) बौर आने के समय, (ii) बौर आ जाने पर और (iii) फल लग जाने पर—तीन छिड़काव करना चाहिए।

2. एक अन्य संस्तुति के अनुसार फल लग जाने पर अप्रैल के अन्त एवं मई के आरम्भ में 0.5 प्रतिशत के एक प्रतिशत तक कॉस्टिक सोडा के घोल का 15-15 दिन पर कम से कम दो छिड़काव किया जाना चाहिये।

3. यह भी संदर्भित है कि एक किलोग्राम सुहागे को 100 लीटर पानी में (1 प्रतिशत घोल) मिला कर पहला छिड़काव फल मटर के बराबर हो जाने पर किया जाय। 15-15 दिन पर दो छिड़काव और किये जायें।

4. जो बाग ईंटों के भट्ठों से 8 किमी० की दूरी तक हों उनको कोयलिया रोग से बचाने के लिए 0.5 प्रतिशत सुहागा का पानी में घोल बनाकर, (i) अप्रैल के प्रथम सप्ताह में, (ii) 15 अप्रैल को और फिर (iii) 30 अप्रैल को छिड़काव करना चाहिए।

5. इन रासायनिक संस्तुतियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आम के जो बाग ईंटों के भट्ठों से 8 किलोमीटर क्षेत्र के भीतर लगे हों उनमें सुहागा या कॉस्टिक सोडा या वाशिंग सोडा का पानी में 0.5 से 1.0 प्रतिशत घोल बनाकर पहला छिड़काव मटर बराबर फल हो जाने पर और फिर 15-15 दिन पर दो छिड़काव और किया जाना चाहिए। एक वृक्ष के लिए 20 लीटर घोल की आवश्यकता होती है।

सुहागा प्रयोग किये जाने पर चिपकने वाले (स्टिकर) पदार्थ के रूप में कुछ साबुन भी घोल लेना चाहिए, जिससे कि दवा फलों पर चिपक कर अधिक प्रभावशाली हो सकें।

○○

पर्यावरण प्रदूषण रोकिए और मौत से बचिए

डॉ० एस० के० उत्तम

वर्तमान प्राकृतिक संसाधनों के असन्तुलित दोहन से, औद्योगिक प्रगति एवं विस्तार से हमारे लिए शुद्ध जल, शुद्ध वायु, शुद्ध मिट्टी का अभाव होता जा है। अतः पर्यावरण प्रदूषित होता जा रहा है। जीवन के लिए सुख-साधन देने वाली विज्ञान प्रौद्योगिकी उन्नत पर्यावरण को दिन प्रति दिन प्रदूषित कर जीवन के लिए अभिशाप सिद्ध हो रही है। इसका परिणाम केवल हम ही नहीं, अपितु वृक्ष, लता, वायु, पानी, जीव-जन्तु-सभी भुगत रहे हैं। हम प्रत्येक श्वास के साथ विष पी रहे हैं। अत: आज विज्ञान को ऐसी तकनीक के विकास की आवश्यकता है जो प्रकृति के निरुद्ध न होकर सहायक सिद्ध हों। यह बसुन्धरा मनुष्य, जीव-जन्तु, वनस्पति सबकी है। हम अपने छुद्र स्वार्थों को त्यागकर पर्यावरण की रक्षा में पूर्ण योगदान करें तभी यह जीवनदायिनी धरा सुरक्षित रह सकेगी। इसी में सबका कल्याण है।

पर्यावरण प्रदूषण रोकने के उपाय

वायु प्रदूषण की रोकथाम हेतु निम्न उपाय अपनाना चाहिए—

1. वायु प्रदूषण की रोकथाम हेतु ज्यादा धुंआ उत्पन्न करने वाले वाहनों का उपयोग सीमित करना चाहिये। इसके लिये यह कहना उचित होगा कि घरों में भी धुँआरहित चूल्हों का प्रयोग करना चाहिए।
2. कार्बनिक खादों का प्रयोग अधिक करना चाहिए।
3. कल-कारखानों को आबादी क्षेत्र से दूर रखा जाना चाहिए तथा हानिकारक विषैले पदार्थों को ठीक ढंग से उपचारित करने के बाद ही हवा में छोड़ा जाना चाहिये।
4. आज हर व्यक्ति का यह उत्तरदायित्व है कि वह अधिकाधिक संख्या में वृक्षों का रोपण तथा उनकी सुरक्षा कर इस पावन राष्ट्रीय कार्य में सहयोग करे। इसके लिए ग्राम सभाओं के अन्दर पड़ी भूमि, कृषि भूमि के अगल-बगल की खाली पड़ी भूमि, खेतों की मेड़ों, तालाबों, सड़कों, नहरों, रेल लाइनों तथा कुँओं के किनारे खाली पड़ी भूमि, पंचायत घरों के समीप तथा विद्यालयों आदि की भूमियों पर वृक्षारोपण किया जा सकता है। लोगों में वनों के प्रति भावनात्मक लगाव भी पैदा करना आवश्यक है ताकि वे वनों के मात्र शोषक न होकर पोषक भी बन सकें।

स्थान विशेष के लिए कुछ महत्वपूर्ण प्रजातियाँ निम्न हैं :

उष्ण क्षेत्र : बबूल, शीशम, महुआ, नीम, चिलबिल।

भूमि संरक्षण एवं जल प्रबन्ध विभाग, चं० शे० आजाद कृषि एवं प्रौ० वि० वि०, कानपुर-2

शुष्क क्षेत्र : कंजी, नीम, इमली, अमलतास, देशी झाउ, झाऊ, आँवला ।

जलमग्न क्षेत्र : बाँस, जारूल, यूकेलिप्टस, देशी झाऊ, झाऊ ।

कृषि वानिकी क्षेत्र : सूबबूल, बबूल, नीम, सिरस, सागौन, जामुन, यूकेलिप्टस, अर्जुन ।

पार्क व उपवन : अमलतास, कचनार, अशोक, आस्ट्रेलियन बबूल ।

बीहड़ जमीन : बबूल, शीशम, ढाक, बेर, नीम ।

कंकरीली पथरीली जमीन : विलायती बबूल, आस्ट्रेलियन बबूल ।

खड्ड नियन्त्रण : बबूल, शीशम, बकैन, खैर, बाँस, यूकेलिप्टस ।

नहर, रेलवे लाइन व सड़क के किनारे : शीशम, नीम, आम, बकेन, जामुन, अर्जुन, कंजी, अमलतास ।

बंजर भूमि के लिए : बबूल, कंजी, चिलबिल, महुआ ।

नदियों के किनारे : जामुन, अर्जुन, विलायती बबूल, शीशम ।

मैदानी क्षेत्र : विलायती झाऊ, जामुन, बेर, महुआ, लहसोड़ा, शहतूत ।

बुन्देलखन्ड क्षेत्र : बबूल, महुआ, ढाक, नीम, बाँस, विलायती बबूल ।

हिमालय क्षेत्र : चीड़, देवदार, सिल्वर फर, आँक ।

जल प्रदूषण की रोकथाम हेतु निम्न उपाय अपनाना चाहिये—

1. ग्रामीण क्षेत्रों में नदी, नालों, झीलों, तालावों के निकट मल-प्रवाह व कूड़ा-करकट न डालने की शिक्षा ग्रामीण जनता को देनी चाहिये ।
2. समय-समय पर सफाई की जाती रहे तथा पीने के पानी को उबाल कर प्रयोग में लाना चाहिये ।
3. वन्य जन्तुओं कीं उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये क्योंकि ये भी पर्यावरण के घटक हैं और इसे स्वच्छ रखने में इनकी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है । मछलियाँ, कछुआ व अन्य जलीय प्राणी तथा पक्षी बाज, सियार, गीदड़, सुअर आदि जलीय प्रदूषण का नियन्त्रण करते हैं ।
4. कल-कारखानों तथा रसायन उद्योग के द्वारा वाहित अपशिष्ट पदार्थों के विषैले प्रभाव को दूर करने के लिये उपचार संयन्त्र लगाने चाहिये ।
5. शौचालय की उचित व्यवस्था करके मल पदार्थों कों कार्बनिक खादों तथा ऊर्जा के रूप में प्रयोग करना चाहिये ।

मृदा-प्रदूषण रोकने के लिए निम्न उपाय अपनाना चाहिये—

1. समय-समय पर मृदा परीक्षण कराया जाये जिससे वस्तुस्थिति की सही जानकारी मिलती रहे ।
2. भूमि में अवशेष के रूप में रहने वाले कीटनाशी और शाकनाशी का कम प्रयोग किया जाये ।
3. रसायनिक उर्वरकों का प्रयोग सीमित मात्रा में किया जाये ।

4. उद्योगों से निकले हुए खराब पदार्थों को खेतों में कभी नहीं डालना चाहिये ।
5. शहरी कूड़े करकट से बिजली बनाने की कोशिश की जाये ।

ध्वनि प्रदूषण रोकने के लिये निम्न उपाय अपनाना चाहिये—

1. कारखानों एवं वाहनों में ध्वनि अवरोधक यन्त्र (साइलेंसर) लगाये जायें ।
2. जन संकुल शहरी क्षेत्रों में वाहनों का आवागमन रोका जाये ।
3. अनिवार्य स्थिति में ही वाहनों में हार्न का उपयोग किया जाये ।
4. पथ के दोनों ओर सघन वृक्ष लगाये जायें, वृक्ष ध्वनि व वायु प्रदूषण को नियन्त्रित करते हैं ।
5. रेडियो, टी० वी०, टेप, ध्वनिविस्तारक यन्त्रों का उपयोग सीमित हो एवं निर्धारित ध्वनि में सुना जाये ।

धूल प्रदूषण रोकने के लिये निम्न उपाय अपनाना चाहिये—

1. ऐसी कोशिश की जाये कि मशीनों से कटाई, छटाई या चिकनाहट करते समय पदार्थों के महीन कण वायु में न फैलने पायें ।
2. कारखानों में श्रमिकों को कार्य करते समय मुँह व नाक में स्वच्छ महीन कपड़ा तथा आँख में चश्मा लगाने की सख्त हिदायत देनी चाहिये ।

आइये हम सब लोग संकल्प लें कि अपने गाँव, जिला, प्रदेश व देश को हरा भरा बनाने के लिये प्रदूषण रोकने में तन, मन, धन से सम्मिलित होवें ताकि हम सब स्वच्छ पर्यावरण में साँस ले सकें ।

●●

हरित पौध गृह प्रभाव : विश्वव्यापी समस्या

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

यह निर्विवाद सत्य है कि यह धरती, जिस पर हम निवास कर रहे हैं, एक क्षीण गैसीय आवरण से ढँकी हुई है । यह गैसीय आवरण वायुमण्डल कहलाता है । मुख्यतः नाइट्रोजन और ऑक्सीजन से बने, इस वायुमण्डल में सूक्ष्म मात्रा में जल-वाष्प, कार्बन डाइऑक्साइड और कुछ अन्य गैसें भी शामिल हैं । पृथ्वी पर पर जीवन की रक्षा के लिए यह गैसीय आवरण अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि यह न केवल प्राणदायी ऑक्सीजन प्रदान करता है वरन् पृथ्वी को समुचित रूप से ऊष्मा भी प्रदान करता है तथा सूर्य से आने वाले जानलेवा विकिरण से हमारी रक्षा करता है । बिना इस वायुमण्डलीय आवरण के पृथ्वी एक निर्जीव, बर्फ की भाँति ठंडी जगह होगी ।

सम्पादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002 (उ० प्र०)

वायुमण्डल पृथ्वी को जीवों के रहने योग्य बनाये रखता है, क्योंकि इसके कुछ घटक पृथ्वी से परावर्तित ऊष्मा को शोषित कर लेते हैं और उसे वापस अन्तरिक्ष में जाने से रोकते हैं। ये गैसें (हरित पौध गृह गैसें) हरित पौध गृह (ग्रीन हाउस) की काँच की दीवारों के समान प्रकाश को अन्दर तो प्रवेश करने देती हैं, जिससे पृथ्वी की सतह गर्म हो जाय परन्तु परावर्तित होकर पृथ्वी से विकरित होने वाली ऊष्मा को शोषित कर लेती हैं। कुछ ऊष्मा शोषित करने वाली गैसें जैसे कार्बन डाइऑक्साइड और मीथेन का उत्पादन स्वतः प्राकृतिक रूप स और साथ ही मानव के क्रिया-कलापों से होता है जबकि कुछ अन्य जैसे कि क्लोरोफ्लोरोकार्बन्स (सी एफ सी C F Cs) का उत्पादन पूर्णतया मानव निर्मित है।

औद्योगिक क्रान्ति के पहले कार्बन डाइऑक्साइड और मीथेन का निर्माण अधिकाँशतः प्राकृतिक कारणों से होता था। तब सी एफ सी का मानव जाति को ज्ञान भी नहीं था। प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न गैसों का स्तर ही सीमित रहता था। फलस्वरूप सम्पूर्ण मानव इतिहास में पृथ्वी के वायुमण्डलीय आवरण ने औसत तापमान 13 डिग्री सेल्सियस बनाये रखा। परन्तु पिछले सौ वर्षों में कार्बन डाइऑक्साइड और मीथेन का स्तर धीरे-धीरे बढ़ता रहा है और इसका कारण है मानवीय क्रिया-कलाप। इनमें औद्योगिकीकरण और कृषि मुख्य हैं। पर्यावरणशास्त्री इस बढ़ते हुए स्तर से अत्यधिक चिन्तित हैं क्योंकि उनका मानना है कि यदि इस क्रिया को रोका नहीं गया तो अगले 50 वर्षों में अत्यन्त विनाशकारी परिणाम सामने जायेंगे। अतिवादी पृथ्वी के तापमान में 5 डिग्री सेल्सियस की वृद्धि की घोषणा कर रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप ध्रुवों की बर्फ पिघल जायेगी और फलतः महासागरों की सतह ऊपर उठेगी और दुनिया के तटीय प्रदेशों में बाढ़ तथा विश्व के अन्दरूनी प्रदेशों में सूखे की घटनायें बढ़ जायेंगी। लेकिन वैज्ञानिकों में अभी भी मतभेद है कि वास्तविक स्थिति क्या होगी? जैसे-जैसे नये आँकड़े प्राप्त हो रहे हैं, उनको कम्प्यूटर द्वारा विश्लेषित किया जा रहा है तथा कम्प्यूटर जनित अवधारणाओं का परिष्करण किया जा रहा है।

सारे संसार में हरित पौध गृह प्रभाव का अकेला सबसे बड़ा कारण कार्बन डाइक्ऑसाइड गैस है। जब कभी भी जीवाश्म ईंधन, लकड़ी या जैव मास (बायोमास) को जलाया जाता है, तो इस गैस का सिर्माण होता है। इसके अतिरिक्त कार्बनिक पदार्थों के प्राकृतिक विघटन और श्वसन जैसी प्रक्रिया से भी कार्बन डाइऑक्साइड बनती है। लेकिन बहुत सी ऐसी प्राकृतिक व्यवस्थायें हैं, जिनसे यह गैस वायुमण्डल से स्वतः ही विलगित होती रहती है। उदाहरण के लिए वर्षा द्वारा यह पानी में घुल कर नदियों, सागरों और झीलों में बह जाती है तथा पेड़-पौधे प्रकाश-संश्लेषण (फोटोसिन्थेसिस) की अभिक्रिया में इसका उपयोग कर लेते हैं। लेकिन ये प्रक्रियायें लगातार तेजी से बढ़ते हुए गैस के स्तर पर काबू पाने में असफल हैं। बड़े पैमाने पर जंगलों की कटाई वायुमण्डल में इस गैस के स्तर में बढ़ोत्तरी का सबसे बड़ा कारण है।

ऐसा अनुमान है कि सन् 1880 तक पृथ्वी के वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड का औसत स्तर 270 पी पी एम (270 पार्ट्स पर मिलियन या 270 भाग प्रति दस लाख) था। पिछले सौ वर्षों में धीरे-धीरे यह स्तर बढ़कर अब 350 पी पी एम हो गया है। यदि जीवाश्म ईंधनों को जलाने की दर बढ़ी नहीं और वर्तमान स्तर पर भी बनी रही, तो गैस का स्तर सन् 2075 तक बढ़कर 550 पी पी एम हो जाने का अनुमान है।

हरित पौध गृह प्रभाव उत्पन्न करने वाली तीन प्रमुख गैसों में से एक है कार्बन डाइऑक्साइड। दूसरी गैस जिसका स्तर चिंताजनक रूप से बढ़ रहा है वह है मीथेन। यहाँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात यह है कि

मीथेन में कार्बन डाइऑक्साइड के समान आयतन की तुलना में ऊष्मा संचित करने की 25 गुना अधिक क्षमता विद्यमान है। मीथेन का निर्माण मुख्यत: प्राकृतिक जैवीय अभिक्रियाओं द्वारा होता है। उदाहरण के लिए मवेशियों और जुगाली करने वाले जानवरों की आहार नली में जीवाणुओं (बैक्टीरिया) की क्रिया से, जलप्लावित धान के खेतों, दलदलों और कूड़े कचरे के ढेरों से। मीथेन गैस की पाइप लाइनों के जोड़ों या धरती की दरारों से इस प्राकृतिक गैस का रिसाव भी वायुमण्डल में मीथेन गैस के स्तर में वृद्धि करता रहता है।

वैसे वायुमण्डल से मीथेन गैस 6-8 वर्षों में स्वत: ही विघटित होकर नष्ट हो जाती है, किन्तु फिर भी, वायुमण्डल में इसकी सान्द्रता पृथ्वी पर मानव जनसंख्या बढ़ने के साथ बढ़ी है। एक अनुमान के अनुसार वायुमण्डल में मीथेन की वर्तमान मात्रा 1.7 पी पी एम है. पर यह 2 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रही है। यही वृद्धि दर वैज्ञानिकों के लिए गम्भीर चिंता का विषय है।

हरित पौध गृह प्रभाव उत्पन्न करने वाली तीसरी प्रमुख गैस कोई एक गैस न होकर संश्लेषित गैसों का समूह है जिन्हें हम क्लोरोफ्लोरोकार्बन्स या सी एफ सी के नाम से जानते हैं। इसमें लगभग 40 गैसे हैं। इन बहुउपयोगी औद्योगिक रसायनों का प्रयोग सर्वप्रथम 1960 के दशक में किया गया और तभी के इनका प्रयोग निर्बाध रूप से प्रशीतकों, स्वच्छ एरोसॉल प्रणोदक (प्रोपेलैन्ट्स), प्लास्टिक फोमिंग एजेन्टस आदि के रूप में होता रहा है। वैज्ञानिकों का ध्यान सर्वप्रथम 1970 के दशक में सी एफ सीज की ओर आकृष्ट हुआ जब वैज्ञानिक खोजों द्वारा यह तथ्य उभर कर सामने आया कि सी एफ सी गैसों का ओजोन पर्त पर विनाशकारी प्रभाव पड़ता है। ओजोन पर्त सूर्य की खतरनाक पराबैंगनी किरणों से हमारी सुरक्षा करती है। हरित पौध गृह गैस के रूप में सी एफ सीज, कार्बन डाइ ऑक्साइड की तुलना में गर्मी को रोकने में 10,000 गुना अधिक सक्षम हैं और तो और सी एफ सीज ऊपरी वायुमण्डल में दशकों तक सक्रिय बनी रहती है। वैसे वैज्ञानिक अनुसन्धानों से यह तथ्य ज्ञात हुआ है कि वर्तमान में सी एफ सीज का वायुमण्डल में स्तर अत्यन्त न्यून मात्र 630 भाग प्रति ट्रिलियन (ट्रिलियन$=10^{12}$) है, किन्तु चिन्तनीय तथ्य यह है कि यह मात्रा 5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से लगातार बढ़ती ही जा रही है।

हरित पौध गृह प्रभाव उत्पन्न करने वाली गैसों की कड़ी में नाइट्रस ऑक्साइड नामक एक अन्य गैस है, जिसकी मात्रा वायुमण्डल में पिछले कुछेक वर्षों में तेजी से बढ़ी है। कार्बन डाइऑक्साइड के साथ ही नाइट्रस ऑक्साइड भी कोयले, तेल और जैवमॉस (बायोमास) के दहन से उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त नाइट्रोजन आधार वाले उर्वरकों को खेतों की मिट्टी में डालने से भी यह गैस मुक्त होती है। वायुमण्डल में इसकी वर्तमान मात्रा 330 भाग प्रति बिलियन (बिलियन$=10^{9}$) है। यह वातावरण में प्रतिवर्ष 0.2 प्रतिशत की दर से बढ़ रही है।

इन आंकड़ों से लैस वैज्ञानिक हरित पौध गृह गैसों द्वारा धरती को गर्म करने वाले मिले जुले प्रभावों के अध्ययन में जुटे हुए हैं। किन्तु जो चौंकाने वाली बात है, वह यह कि उनके अध्ययनों के परिणाम एक जैसे नहीं हैं। कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार 2050 तक ताप में वृद्धि 3-5 डिग्री सेल्सियस होगी तो कुछ अन्य वैज्ञानिकों का मानना है कि वृद्धि 1.5-2.5 डिग्री सेल्सियस ही होगी। पर्यावरणविज्ञानी पिछले वर्षों में हुई ताप वृद्धि के विषय में भी एकमत नहीं हैं। पिछली एक शती में ताप वृद्धि 0.6-1.5 डिग्री सेल्सियस बताई गई है।

विश्व के अनेक देशों के वैज्ञानिकों के अध्ययनों में विभिन्नता आने के कारण, अब वैज्ञानिकों ने अपने परीक्षणों में कम्प्यूटरों की मदद लेना प्रारम्भ कर दिया है। अतएव अब आशा की जा सकती है कि आने वाले समय

में धरती का परिदृश्य कैसा होगा, इसकी भविष्यवाणी अधिक परिशुद्धता से की जा सकेगी। किन्तु कम्प्यूटर मॉडलों में एक कमी है। कम्प्यूटरों द्वारा मात्र वायुकण्डल पर ही ध्यान दिया गया है और कार्बन डाइऑक्साइड के बढ़ते स्तर के अध्ययनों में सागरों की उपेक्षा की गई है। अकेले सागर, वायुमण्डल की तुलना में 1000 गुना अधिक ताप का संग्रह किए हुए हैं। इसके अतिरिक्त इन कम्प्यूटर मॉडलों में जलवायु को प्रभावित करने वाले कारक यथा पर्वत, जैवमण्डल, बादल, ग्लेशियर भी शामिल नहीं किये गये हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में उपग्रहों द्वारा किये गये एक ताजे अध्ययन के अनुसार बादलों द्वारा पृथ्वी के जलवायु का शीतलीकरण सम्भवतः हरित पौध गृह प्रभाव द्वारा वायुमण्डल के गर्म होने का प्रति सन्तुलन है और सम्भवतः यही कारण है कि आज वैज्ञानिक धरती के विषय में एकमत नहीं हो पाये हैं। इसका परिणाम यह है कि अभी भी वे सटीक भविष्यवाणी कर सकने में अक्षम हैं। हाँ, इस सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता कि हरित पौध गृह प्रभाव के परिणाम विनाशकारी होंगे।

वायुमण्डल में हरित पौध गृह गैसों के और अधिक जमाव को रोकने के लिए अनेक उपाय सुझाये गये हैं—

(1) ऊर्जा के उत्पादन और इस्तेमाल को अधिक कार्यक्षम बनाना;

(2) कोयले, लकड़ी और तेल की जगह जहाँ तक सम्भव हो प्राकृतिक गैस का प्रयोग;

(3) ऊर्जा के ऐसे सुलभ स्रोतों का विकास जो कार्बन मुक्त हों, यथा सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा, हाइड्रोजन ऊर्जा और सम्भव हो तो नाभिकीय ऊर्जा;

(4) सी एफ सीज के उत्पादन और उपयोग पर शत प्रतिशत प्रतिबन्ध;

(5) जंगलों के कटाव पर रोक, पुनर्वनीकरण और सामाजिक वानिकी जैसी योजनाओं को प्रोत्साहन और गति प्रदान करना आदि।

वैसे कहने में ये उपाय आसान लग सकते हैं किन्तु इन्हें अमल में लाने में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हैं। अधिकांश विकासशील देश कोयले का उपयोग नहीं छोड़ सकते, क्योंकि ऐसे देशों में ऊर्जा का मुख्य स्रोत कोयला ही है। किन्तु भारत जैसे देश में बिजलीघरों की कार्यप्रणाली में समुचित सुधार करके कोयले के उपयोग में 50 प्रतिशत की कमी लायी जा सकती है। इसके अतिरिक्त तीसरी दुनिया के देश कृषि अपशिष्ट का उपयोग भी ईंधन के रूप में धड़ल्ले से करते हैं। जब तक ऊर्जा के अतिरिक्त साधन उपलब्ध न हों, कृषि अपषिष्टों का ईंधन के रूप में इस्तेमाल भला कैसे रोका जा सकता है? निधूम चूल्हों और गोबर गैस संयंत्रों का प्रयोग कार्बन डाइऑक्साइड गैस के उत्सर्जन में प्रभावी कमी नहीं ला सकता है।

दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया के अधिकतर विकासशील देशों में मवेशियों की विशाल संख्या है और मुख्य फसल है धान। इन दोनों से अत्यधिक मीथेन गैस बनती है। अतएव सी एफ सीज एकमात्र ऐसी गैसें हैं जिनका उत्पादन अविलम्ब रोकना श्रेयस्कर होगा। किन्तु विकासशील देशों द्वारा सी० एफ सी गैसों के उत्पादन और उपयोग को रोक देने से इस समस्या का हल क्या निकल आयेगा? उत्तर है नहीं। क्योंकि विकसित देशों द्वारा पहले ही वायुमण्डल में इतनी अधिक मात्रा में सी एफ सी गैसें उत्सर्जित की जा चुकी हैं कि दुष्परिणाम तो सारे संसार को

भोगने होंगे, चाहे वे तीसरी दुनिया के गरीब देश हों या विकसित देश। विश्व के मात्र 4 देश—संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ, ब्रेजिल और चीन—हरित पौध गृह गैसों के 50 प्रतिशत उत्सर्जन के लिए जिम्मेदार हैं। हरित पौध गृह प्रभाव विश्वव्यापी समस्या है और निदान भी सारे विश्व को मिल-जुल कर ही खोजने होंगे। किन्तु हरित पौध गृह प्रभाव के विश्वव्यापी परिणामों की सही-सही भविष्यवाणी करने के लिए अभी और अनुसन्धान की आवश्यकता है और सबसे बड़ी आवश्यकता है, मानव के विवेक की।

● ●

डॉ० ग्रीन हाउस : एक परिचय

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

आज हरित पौध गृह प्रभाव से धरती के तापमान में लगातार वृद्धि शोध पत्रिकाओं से निकल कर अखबार की सुर्खियों में है। 'हरित पौधगृह' या 'ग्रीन हाउस' शब्द अब जाना पहचाना सा लगता है। किन्तु बहुतों का मानना है कि यदि 1967 में रॉजर आर० रेवेल ने विश्व के तापमान में बढ़ोत्तरी के विषय में न लिखा होता तो लोगों को यह विश्वास ही नहीं होता कि पृथ्वी गर्म होती जा रही है। रॉजर रेवेल पहले ऐसे वैज्ञानिक हैं, जिन्होंने सारे संसार को इस दिशा में सोचने को विवश किया।

1957 में दो सागर विज्ञानियों—रेवेल और हैंन्स ई० सुवेस्स—ने एक शोधपत्र के माध्यम से यह विचार प्रकट किया कि आदमी वायुमण्डल में जितनी कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा विसर्जित कर रहा है, महासागर उसे शोषित नहीं कर पा रहे हैं। इन वैज्ञानिकों के अनुसार वायुमण्डल में विसर्जित कार्बन डाइऑक्साइड की आधी मात्रा वहीं पड़ी रहेगी। उन्होंने यह भी विचार प्रकट किया कि यदि मानव के क्रिया-कलापों द्वारा ऐसे ही वायुमण्डल में कार्बन डाई ऑक्साइड छोड़ी जाती रही तो आने वाले दशकों में इस गैस की मात्रा के स्तर में 20 से 40 प्रतिशत तक की वृद्धि हो सकती है।

वैसे उस समय रेवेल के विचारों को व्यापक मान्यता नहीं मिली। फिर भी रेवेल ने वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा का मापन कार्य जारी रखा और अपने विचारों की प्रामाणिकता सिद्ध करने में जुटे रहे। प्रतिवर्ष उन्हें कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि मिली और 1957 के बाद के 33 वर्षों में 11 प्रतिशत की वृद्धि मापी गयी। वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड की वर्तमान सान्द्रता 350 पी पी एम (350 भाग प्रति मिलियन या 350 भाग प्रति दस लाख) है।

6 फीट 4 इंच लम्बे कद के 82 वर्षीय रेवेल आज डॉ० ग्रीन हाउस के उपनाम (निकनेम) से विख्यात हैं। रेवेल एक सागर विज्ञानी, पर्यावरणविद्, जनसंख्या विशेषज्ञ और विकासशील देशों में विज्ञानदूत के नाम से जाने जाते हैं। लगभग 60 वर्ष पूर्व उन्होंने एलेन वी क्लार्क से विवाह किया था और पत्नी एलेन के साथ लाजोला स्थित

उसी भवन में आज भी निवास कर रहे हैं, जिसमें वे 50 वर्ष पूर्व पत्नी के साथ रहने गये थे। 1962 में वे कृषि विशेषज्ञ के रूप में पाकिस्तान गये थे। उनके सुझावों के फलस्वरूप 10 वर्ष के अन्दर ही पाकिस्तान की कृषि में आशातीत सुधार हुआ और प्रभावित क्षेत्रों में उत्पादन दो गुना हो गया।

भारतीय उपमहाद्वीप, एशिया और अफ्रीका में विकास सम्बन्धी परियोजनाओं में रेवेल की राय महत्वपूर्ण रही है। 1988 में उन्होंने अफ्रीका में भुखमरी के अध्ययन के लिए विज्ञानियों के एक दल को नेतृत्व भी प्रदान किया। अध्ययन के पश्चात् उनके विचार थे कि "कृषि प्रगति पथ पर अग्रसर होने के बजाय पीछे जा रही है" रेवेल का सुझाव है कि अफ्रीका में फसलोत्पादन में वृद्धि के लिए आधुनिक आनुवंशिकी और ऊतक संवर्धन विधि का प्रयोग आवश्यक है, विशेष रूप से मक्के की खेती के लिए।

रेवेल सूखे को एक गम्भीर समस्या मानते हैं। रेवेल को इस बात का क्षोभ है कि वैज्ञानिक अपने दायित्व का निर्वाह अच्छी तरह से नहीं कर रहे हैं। जहाँ तक रेवेल के स्वयं के प्रयासों का सम्बन्ध है, दिल की शल्यचिकित्सा के बावजूद उनमें किसी भी प्रकार की शिथिलता के संकेत नहीं हैं।

80 वर्ष से भी अधिक उनकी आयु है किन्तु आज भी वे सक्रिय हैं और तकनीकी, निर्धन देशों, सागर-नीतियों जैसे विषयों पर आयोजित संगोष्ठियों में अपने विचार व्यक्त करते रहते हैं। स्थानीय लोगों में रेवेल दम्पत्ति अत्यन्त लोकप्रिय हैं और कला संरक्षक के रूप में विख्यात हैं। यह पूछे जाने पर कि अपने जीवन काल में उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में किस प्रकार सफलता प्राप्त की, उनका छोटा सा सुझाव है—"भिन्न-भिन्न कार्य सिलसिलेवार करना चाहिए।"

OO

ग्रीन हाउस प्रभाव और बदलता मौसम

हरीश अग्रवाल

कहा जा रहा है कि "ग्रीन हाउस प्रभाव" के कारण पृथ्वी गरम हो रही है। इस प्रभाव का यह नाम स्वीडिश रसायनविद् स्वांते आरहीनियस ने 1896 में दिया था। उसने सिद्धान्त रखा था कि फासिल ईंधनों के जलाने से वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा बढ़ जायेगी और पृथ्वी गरम होने लगेगी। उसने गणना की थी कि यदि वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा दुगुनी हो गई तो पृथ्वी का तापमान 4.5 अंश सेल्सियस बढ़ जायेगा। आज की जाने वाली गणनाओं से यह संख्या पूरा मेल खाती है।

करोड़ों वर्षों से इस "ग्रीन हाउस प्रभाव" के कारण पृथ्वी पर जीवन पनपा है। जब किसी काँच के बने ग्रीन हाउस में सूर्य की किरणें प्रवेश करती हैं और उसे गरम कर देती हैं, उसकी दीवारें इस गरमी को बाहर की ठंडी

सम्पर्क सूत्र : डी-720, सरस्वती बिहार, दिल्ली-110034

हवा में जाने से रोक देती हैं। परिणामस्वरूप ग्रीन हाउस का तापमान बाहर के तापमान से बढ़ जाता है। ठीक इसी प्रकार ग्रीन हाउस प्रभाव हमारे ग्रह को अन्तरिक्ष के बहुत ठंडे तापमान की अपेक्षा गरम रखता है। वायुमण्डल में ग्रीन हाउस गैसों की थोड़ी मात्रा ही सूर्य की गरमी को पकड़ लेती है और भूमि, हवा व पानी को गरम करती है और जीवन के विभिन्न रूपों को पनपने में मदद करती है।

ग्रीन हाउस गैसों की सूर्य की गरमी को पकड़ने की क्षमता के कारण, यह गरमी निचले वायुमण्डल में काफी समय तक रहती है जिससे पृथ्वी, वनस्पति, नदियों, झीलों व समुद्रों से पानी के वाष्प बनने में मदद मिलती है। यही वाष्प वायुमण्डल की ठंडी ऊँचाइयों में उठती है। इससे बादल बनते हैं और वर्षा होती है।

औद्योगिक युग से पूर्व वायुमण्डल में प्राकृतिक रूप से विद्यमान ग्रीन हाउस गैसें सूर्य की गर्मी को ठीक मात्रा में जज्ब करती थीं। तब पृथ्वी का औसत तापमान 15 अंश सेल्सियस रहता था। अब आदमी द्वारा निर्मित गैसें निचले वायुमण्डल में ज्यादा से ज्यादा सूर्य की गर्मी जज्ब कर रही हैं और इसे अंतरिक्ष में जाने से रोक रही हैं। इसके परिणामस्वरूप पृथ्वी का तापमान सन् 2100 तक 2-5 अंश सेल्सियस बढ़ने का पूर्वानुमान लगाया गया है। यह तापमान उस समय तक बढ़ता रहेगा जब तक हम ग्रीन हाउस गैसों की निकासी नहीं रोकेंगे। वायुमण्डल में इनकी उपस्थिति एक बार फिर औद्योगिक पूर्व स्तर तक हो जानी चाहिए, तब जाकर तापमान वृद्धि रुकेगी।

हर वर्ष आदमी की गतिविधि के कारण 5.7 अरब टन कार्बन वायुमण्डल में घुलता है, जिसके साथ अन्य ग्रीन हाउस गैसें भी होती हैं। ये हैं—क्लोरोफ्लोरो कार्बन, मीथेन तथा नाइट्रसआक्साइड। कार्बन डाइऑक्साइड प्रमुख ग्रीन हाउस गैस है, जिसके कारण 55 प्रतिशत तापमान की वृद्धि होती है। इसके बाद क्लोरोफ्लोरोकार्बनों का नम्बर है, जो मुख्यत: रेफ्रीजेरेशन' एयर-कंडीशनिंग, झाग-युक्त पदार्थ तथा इंसुलेशन सामग्री उत्पादन तथा एयरोसोलों में इस्तेमाल होते हैं। इनसे 24 प्रतिशत तापमान वृद्धि होती है। मीथेन से 15 प्रतिशत तथा नाइट्रस ऑक्साइड से 7 प्रतिशत वृद्धि होती है।

ग्रीन हाउस गैसें वायुमण्डल में कई दशकों और यहाँ तक कि शताब्दियों तक रहती हैं। इस कारण यदि हम कल ही ग्रीन हाउस गैसों की निकासी बन्द कर दें, पृथ्वी फिर भी गरम होती रहेगी और जलवायु कम से कम एक शताब्दी तक बदलती रहेगी।

○○

विज्ञान वक्तव्य

गरमाती धरती : बदलता परिदृश्य

पिछले दिनों न्यूयार्क शहर के 'नासा' के अन्तरिक्ष विज्ञान से सम्बन्धित अध्ययन करने वाले गोडार्ड संस्थान के निदेशक, शीर्ष अमेरिकी मौसमविज्ञानी जेम्स ई० हानसेन ने एक बड़ी ही चौंकाने वाली बात कही है। हानसेन महोदय के अनुसार लगातार गर्माती धरती अस्थाई रूप से ठंडी हो रही है। जहाँ सारे संसार के वैज्ञानिक धरती के गर्म होने से होने वाली विभीषिका से चिंतित हैं, वहीं हानसेन की भविष्यवाणी लू के गर्म थपेड़ों के बीच शीतल बयार के झोंके की तरह है।

वैज्ञानिक हानसेन के अनुसार ऐसा पिछले वर्ष जून में फिलीपीन्स में आये पिनाटुबो ज्वालामुखी विस्फोट के कारण सम्भव हुआ है। वैसे इसे किसी भी दृष्टि से राहत की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि शीघ्र ही सम्भावित अम्लवर्षा के कारण धरती पुनः गर्माने लगेगी।

इतिहास साक्षी है कि 1815 में इण्डोनेशिया के ताम्बोरा में भीषण ज्वालामुखी विस्फोट में 300 मिलियन टन लावा और राख वातावरण में झोंक दी गई। इसी प्रकार इण्डोनेशिया के ही क्राकाताऊ में 1883 के ज्वालामुखी विस्फोट में 85 मिलियन टन और इस बार फिलीपीन्स में 25 मिलियन टन कचरा विस्फोट से निकला। पहले के दोनों ज्वालामुखी विस्फोटों के बाद यह महसूस किया गया था कि विस्फोट के परिणामस्वरूप धरती ठंडी हुई थी।

एक अनुमान के अनुसार धरती के गरमाने का सिलसिला पिछले वर्ष तभी टूट गया था जब पिनाटुबो विस्फोट के बाद गंधक के सूक्ष्मकणों के बादल आकाश में छा गये। गंधक के सूक्ष्मकणों की जलवाष्प से रासायनिक अभिक्रिया के फलस्वरूप सल्फ्यूरिक एसिड (गंधक का अम्ल) बनती है। आज वातावरण में सल्फ्यूरिक एसिड के इतनी अधिक नन्हीं बूंदे विद्यमान हैं जिनके कारण प्रकाश किरणों के धरती तक आने में 2 प्रतिशत की कमी आँकी गई है, क्योंकि अम्ल की नन्हीं बूंदों से टकराने के बाद प्रकाश की किरणें अन्तरिक्ष में परावर्तित हो जाती हैं।

एक वैज्ञानिक अनुमान के अनुसार धरती को ठंडी होने की प्रक्रिया गरमाने की अपेक्षा दो गुनी है। इसके कारण धरती नामक इस उपग्रह का ताप 1 डिग्री फारेनहाइट कम हो जायेगा और एक बार जब अम्लवर्षा हो चुकेगी तब यह धरती पुनः गरमाने लगेगी। गो कि धरती के विभिन्न भागों में ताप में अन्तर रहेगा फिर भी ताप में 1 डिग्री फारेनहाइट के गिरावट से धरती पुनः उसी ताप पर पहुँच जायेगी जिस पर वह पचास और साठ के दशक में थी।

आज सारे संसार के वैज्ञानिक एकमत हैं कि अगली शती में धरती के पर्यावरण में बड़े-बड़े परिवर्तन दिखेंगे। धरती का एक बड़ा क्षेत्र जलमग्न हो जायेगा। इसमें अनेक बड़े शहर भी सम्मिलित हैं। "किन्तु इसमें दो राय नहीं कि हम धरती पर हरे-भरे बन उगा कर सम्भावित महाविपत्ति से बच सकते हैं।"

प्रसिद्ध विकासवादी वैज्ञानिक चार्ल्स रॉबर्ट डार्विन की यह उक्ति आज झूठी सिद्ध होती प्रतीत है कि प्रकृति में जो बलशाली हैं, वे ही जीवित बचते हैं। इसे स्पेन्सर नामक वैज्ञानिक ने 'सर्वाइवल ऑव फिटेस्ट' (सर्वोत्तम की उत्तरजीविता) कहा था। इसका कारण यह है कि मानव आज स्वयं ही अपनी कब्र खोद रहा है। आज से 50 वर्षों बाद कूड़े-कचरे से भरी यह धरती निश्चित रूप से मनुष्य की चिन्ता का विषय होगी।

दस हजार वर्ष पूर्व धरती का ताप आज की अपेक्षा 5 डिग्री सेल्सियस कम था। दो डिग्री ताप का बढ़ना स्वाभाविक है किन्तु 5 डिग्री की वास्तविक बढ़ोत्तरी खतरे का संकेत देती है। एक गणना के अनुसार वर्ष 2050 तक वातावरण में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा आज की अपेक्षा दो गुनी हो जायेगी। इससे धरती का ताप और बढ़ेगा। यदि ऐसी ही स्थिति आने वाले 60 वर्षों तक बनी रहे तो महाद्वीपों का ताप 6 डिग्री और समुद्र तटों का 12 डिग्री सेल्सियस बढ़ जायेगा।

इस ताप के बढ़ने का मूल कारण वनों का कटना है और यदि धरती से वन इसी तरह लोप होते रहे तो धरती की हरीतिमा काली पड़ जायेगी और। तो और, लकड़ी, जलावन और कागज के लिये वृक्षों को बेरहमी से काटे जाने के कारण प्राणवायु ऑक्सीजन की भी कमी हो जायेगी।

अपने देश में भी पर्यावरण परिदृश्य इससे कुछ भिन्न नहीं है। वृक्षों की कटाई के कारण भारतीय पर्यावरण कि स्थिति काफी नाजुक हैं। 33 प्रतिशत अनुपात (मानव-वृक्ष अनुपात) घटकर 10-12 प्रतिशत हो गया है। किन्तु जापान ने आवश्यक अनुपात को सुरक्षित रखा है और यही कारण है कि जापान आज विश्व के सम्पन्न देशों में अग्रणी है। कटते वृक्षों को देखते हुए भारतीय पर्यावरणविद् सत्य के कितने निकट हैं जब वे कहते हैं कि हमारा भविष्य अंधकारमय है। इनके अनुसार इस धरती पर मानव सभ्यता को तीन चरणों में विभक्त कर सकते हैं। पहली वह सभ्यता जिसमें जंगलों का बोलबाला था, दूसरी जिसने जंगलों को पीछें छोड़ दिया और तीसरी जो जंगलों पर हावी हो गई। हम तीसरे चरण में प्रवेश कर चुके हैं। हमें अब और भी तेज दौड़ना होगा क्योंकि सभ्यता की छलांग लगाने से पहले हमने आगे-पीछे नहीं देखा।

यहाँ एक तथ्य पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है, और वह यह कि इंग्लैण्ड ताबूत या शव पेटियाँ बनाने के लिये मलेशिया और अन्य दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों से लकड़ी आयात करता है। एक शव पेटी बनाने में एक वृक्ष की लकड़ी इस्तेमाल हो जाती है। इसस मलेशिया और दूसरे दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों को आर्थिक लाभ ही हुआ पर किस कीमत पर? आज ये देश अनुभव कर रहे हैं कि ऐसा करके इन्होंने अपनी शव पेटियाँ तैयार कर लीं।

'हरित पौधगृह प्रभाव' और ओजोन पर्त का झीनी होना दो ऐसी पर्यावरणीय समस्यायें हैं, जो विश्व-व्यापी हैं और इनके समाधान भी विश्व के सभी देशों को मिल-जुल कर ढूंढने होंगे।

'नासा' प्रोजेक्ट के अन्तर्गत कार्य कर रहे वैज्ञानिकों ने बताया कि 1985 में अंटार्कटिक क्षेत्र के ऊपर ओजोन पर्त में 40 प्रतिशत की कमी पायी गई। इसका प्रभाव आस्ट्रेलिया पर यह पड़ा कि वहाँ दिसम्बर माह में मौसम समशीतोष्ण रहा। 11 दिसम्बर 1987 को आस्ट्रेलिया टी० वी० के चैनल-9 ने इसकी पुष्टि की। ओजोन पर्त के यहाँ पर झीनी होने के कारण पराबैंगनी किरणें आस्ट्रेलिया प्रायद्वपी में प्रवेश कर गई और इसका परिणाम यह हुआ कि यहाँ के निवासियों के शरीर में चर्म रोग की समस्या उत्पन्न हो गई।

आस्ट्रेलिया के लोगों में चर्म कैंसर आम बीमारी है जो दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है। जिन लोगों ने विश्व कप क्रिकेट टी वी पर देखा है, उन्होंने टेस्ट खिलाड़ियों को चेहरे पर विशेष प्रकार की क्रीम पोते हुए देखा होगा। ऐसा सूरज की खतरनाक किरणों के बचाव के लिये करते हैं। उत्तरी ध्रुव प्रदेश क्षेत्र की ओर से इसी प्रकार का खतरा संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोप के देशों के लिये भी सम्भावित है।

हरित पौधगृह प्रभाव के परिणामस्वरूप धरती के ताप के बढ़ने से सागर का स्तर ऊँचा उठ रहा है। समूचा बैंकाक शहर प्रतिवर्ष एक इंच नीचे धँस रहा है। इसी प्रकार मालदीव, लाउसिआना, फ्लोरिडा, इण्डोनेशिया और कलकत्ता का भी भाग्य इससे कुछ भिन्न नहीं है। यदि इसी प्रकार धरती गरमाती रही तो एक शती में (100 वर्षों में) इन देशों और नगरों का अस्तित्व सदा के लिये मिट जायेगा और तो और, नदियाँ भी सूख जायेंगी। सतलज और नील नदी के सूखने से कैसे बुरे परिणाम सामने आयेंगे, आज हम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं।

सम्भवतः खतरे की इसी चेतावनी को समझते हुए **सुन्दरलाल बहुगुणा और चण्डी प्रसाद भट्ट** जैसे समर्पित पर्यावरणविदों ने 1979 में 'चिपको आन्दोलन' प्रारम्भ किया। ऐसा मूक किन्तु उपयोगी मित्रों—वृक्षों-को बचाने के लिये किया गया।

160 देशों के लगभग 30,000 वैज्ञानिक राजनेता, स्वयंसेवी संस्थानों के कार्यकर्ता एवं आदिवासी क्षेत्रों के प्रतिनिधि ब्राजील में 3 जून से 14 जून तक चलने वाली 'पृथ्वी शिखर सम्मेलन' में भाग ले रहे हैं। आशाओं-आशंकाओं के बीच झूलते हुए सारे संसार के लोगों की आँखें 'पृथ्वी शिखर सम्मेलन' पर लगी हुई हैं। इस सम्मेलन में संसार की जैव सम्पदा (जैव विविधता या वायोडाइवर्सिटी) चर्चा का मुख्य विषय होगी। पेड़-पौधों, वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं कीं स्पीशीज के जीनों (Genes) को भविष्य के लिये कैसे सुरक्षित रखा जाय, यह सभी की रुचि का विषय है। इस सम्मेलन में विश्व कल्याण के लिये उठाये गये कदम निश्चित रूप से एक नये विश्व के निर्माण में प्रभावी भूमिका निभायेंगे। आशा है कि विकसित राष्ट्र अपने निजी स्वार्थों से ऊपर उठकर पृथ्वी को बचाने का निर्णय लेंगे। वे विकासशील एवं अविकसित देशों को न केवल उन्नत तकनीक मुफ्त देंगे, बल्कि आर्थिक सहायता भी देने का निर्णय लेंगे। स्मरण रखें यदि यह धरती नहीं बचेगी तो कोई नहीं बचेगा, चाहे आर्थिक एवं वैज्ञानिक रूप से कोई देश कितना ही विकसित क्यों न हो।

विज्ञान परिषद् में 5 जून को 'विश्व पर्यावरण दिवस' के अवसर पर "गरमाती धरती, बदलता परिदृश्य" विषय पर एक विचार-गोष्ठी हुई जिसमें एकमत से प्रतिभागियों ने अपने-अपने ढंग से पृथ्वी को बचाने का व्रत लिया। यदि सभी अपने दायित्व समझ जायें तो निश्चय ही यह धरती फिर से हरी-भरी, धनधान्य से परिपूर्ण हो जायेगी, इसमें किसी को भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं होना चाहिये।

चलते-चलते एक बात और। सुप्रसिद्ध हिन्दी विज्ञान लेखक श्री गुणाकर मुले को 'विज्ञान वैभव' पुरस्कार देकर सम्मानित किया गया है। श्री गुणाकर मुले जी से परिषद् का निकट का सम्बन्ध है। परिषद् पर उनका विशेष स्नेह, विशेष अनुकम्पा है। विज्ञान परिषद् परिवार की ओर से मुले जी को बहुत-बहुत बधाई।

○○

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1992

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।

(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।

(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।

(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।

(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1992 से दिसम्बर 1992 माह के बीच प्रकाशित हो।

(6) लेखक को साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।

(7) विज्ञान-परिषद् के सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।

(8) वर्ष 1992 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1993 है।

लेख निम्न पते पर भेजें—

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें ।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद वा रुचिकर हों ।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है । यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें ।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी ।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा । उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है ।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है । कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें ।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझाओं का स्वागत है ।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए । समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी ।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है । विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु०, चौथाई पृष्ठ 50.00; आवरण द्वितीय; तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु० ।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु०

वार्षिक 25 रु०

प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे, यह अंक : 5 रु०

प्रेषक : विज्ञान परिषद्

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

जुलाई 1992 अंक

मूल्य : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
जुलाई 1992; वर्ष 78 अंक 4

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7 ए बेली एवेन्यू
इलाहाबाद-211002

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

विश्व का बढ़ता तापमान और उसके सम्भावित परिणाम

प्रकाश तातेड़

ब्रह्माण्ड के अब तक ज्ञात ग्रहों में हमारी पृथ्वी एक मात्र जीवनधारिणी है जहाँ मानव सहित विविध जन्तुओं व पौधों का आवास है। ऊँचे हिम शिखर, हरी-भरी घाटियाँ, सघन वन, शीतल पवन, बहती नदियाँ, उमड़ते सागर और मनमोहक मौसम वाली हमारी सुरम्य धरती को स्वर्ग से श्रेष्ठ माना गया है। आज पृथ्वी का नैसर्गिक सौन्दर्य विनष्ट होता जा रहा है। औद्योगिक संस्थानों से निकले काले धुएं और विषैले अपशिष्ट, परमाणु भट्टियों के घातक विकिरण, बढ़ती आबादी का बोझ, अन्धाधुन्ध पेड़ों की कटाई, वाहनों का धुआँ, नालियों का गन्दा पानी, कचरे के ढेर, प्रदूषित जल स्रोत, पृथ्वी का बढ़ता ताप, ग्रीनहाउस प्रभाव, ओजोन मण्डल में छेद, कानफोड़ शोर, बदलता मौसम, लुप्त होती वन्यजीव जातियाँ, पृथ्वी के वर्तमान पर्यावरण के ये दुखद परिदृश्य पृथ्वी के भविष्य के प्रति आशंकित करते हैं। पृथ्वी के इस परिवर्तित स्वरूप के विषय में फ्रांसीसी लेखक रेने दे वातेब्रि का कथन बड़ा ही मार्मिक है—"जंगल मनुष्य के जन्म से पहले थे, रेगिस्तान मनुष्य के कारण बने।" अतः इन विषम परिस्थितियों का कारण मानव की महत्वाकांक्षा है जिससे विकसित हुई विज्ञान व प्रौद्योगिकी ने हमें प्रकृति को नियन्त्रित कर, दोहन करने की भोगवादी शिक्षा दी है। इसका दुष्परिणाम हुआ, आज पृथ्वी पर जीवन के अस्तित्व का भयावह संकट।

बिश्व का बढ़ता तापमान

23 जून, 1988 को अमेरिका के राष्ट्रीय उड्डयन तथा अन्तरिक्ष प्रशासन के डॉ० जेम्स हेनसेन ने अमेरिकी सीनेट के समक्ष यह घोषणा कर विश्व को चौंका दिया कि ग्रीनहाउस प्रभाव ने पृथ्वी के जलवायु को बदलना प्रारम्भ कर दिया है जिससे हिम शिखर पिघल जायेंगे, समुद्र की उत्ताल लहरें टापुओं व बस्तियों को जलमग्न कर देंगी, पृथ्वी पर एक ही ऋतु होगी—गर्मी की, जिससे झुलसने लगेंगे मानव, जन्तु और पेड़ पौधे। तब विश्व के बढ़ते तापमान में हमारी स्थिति होगी प्रेशरकुकर में रखे बैंगन की तरह, असहाय, निरुपाय।

पृथ्वी के बढ़ते तापमान की इस समस्या को गहराई से जानने के लिए हम पृथ्वी के अतीत पर दृष्टि डालें। पृथ्वी अपनी उत्पत्ति से ही परिवर्तनशील रही है। पृथ्वी कभी अग्नि पुंज रही तो कभी हिमाच्छादित। इस पर भौगोलिक व स्थलाकृति सम्बन्धी अनेक विशाल परिवर्तन हुए हैं। किन्तु वे सारे परिवर्तन धीमीं गति से हुए और पूरी तरह प्राकृतिक थे। आज जो परिवर्तन हो रहे हैं वे मानवजन्य हैं तथा वातावरण में असन्तुलन उत्पन्न करने वाले हैं।

पृथ्वी की सतह का ताप जलवायु का प्रमुख निर्देशक तत्व है। पृथ्वी को सूर्य से 5800 परम ताप पर विकिरण प्राप्त होते हैं जिसमें से लगभग 99.5 प्रतिशत विकिरण लघु तरंग दैर्ध्य के होते हैं। लगभग 30 प्रतिशत सूर्य के विकिरण बादल, गैसों, पृथ्वी तल, वायुमण्डलीय कणों आदि से परावर्तित होकर अन्तरिक्ष में बिखर जाते

व्याख्याता, जीव विज्ञान, राजकीय श्री वा० वि० सी० उच्च माध्य० विद्यालय, कांकरोली-313324 (राजस्थान)

हैं। प्रकाश का यह परावर्तित भाग पृथ्वी की स्थिति (Albedo) कहलाता है। सूर्य के विकिरण के शेष भाग को दिन के समय पृथ्वी अवशोषित कर गर्म हो जाती है। साथ ही पृथ्वी इस उष्मा का लगातार उत्सर्जन भी करती है। वायुमण्डल में विद्यमान कार्बन डाइऑक्साइड एवं जलवाष्प इस उष्मा के कुछ भाग को पुन: पृथ्वी की ओर परावर्तित कर देती है और कुछ भाग अन्तरिक्ष में चला जाता है। इससे दिन के तापमान में अधिक वृद्धि नहीं हो पाती। रात्रि के समय भी इन्हीं वायुमण्डलीय परतों के कारण पृथ्वी का ताप सन्तुलन बना रहता है। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के बाद हुए लगातार मशीनीकरण से वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा में काफी बढ़ोत्तरी हुई है। यह अधिक कार्बन डाइऑक्साइड अन्तरिक्ष में लौटाने वाली अवरक्त किरणों के अधिकांश को अवशोषित कर पुन: पृथ्वी पर भेज देती है। इसका परिणाम हुआ है—पृथ्वी के औसत तापमान में वृद्धि।

डॉ० हेनसेन ने बताया कि 1980 के दशक के पाँच वर्ष रिकार्ड स्तर पर सर्वाधिक गर्म रहे। गर्मियों की अपेक्षा सर्दियों में और भूमध्य रेखा की अपेक्षा ऊँची अक्षांश रेखाओं पर तापक्रम में वृद्धि अधिक रही। 1970 के दशक की तुलना में 1980 के दशक में पृथ्वी से दृष्टिगत सूर्य की चमक में कमी आई। कुछ अन्य वैज्ञानिकों का मत है कि पृथ्वी पहले की अपेक्षा अधिक तेजी से गर्म हो रही है। वर्ष 1960 की तुलना में वायुमण्डल में कार्बन डाइआक्साइड की मात्रा 25 प्रतिशत अधिक हो गई है। अगली शताब्दी के मध्य तक इस बढ़ोत्तरी के कारण विश्व के औसत तापमान में 1.5 से 4.5 डिग्री सेल्सियस की वृद्धि हो सकती है। इस ताप-वृद्धि से मौसम का व्यवहार बहुत बदल सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जलवायु में जो परिवर्तन कई हजार वर्षों में होना चाहिये था वह कुछ दशक में होने जा रहा है। पृथ्वी के जन्तु और पौधे इस आकस्मिक परिवर्तन को नहीं झेल पावेंगे और तब पृथ्वी पर होगा महाप्रलय सा विकराल दृश्य।

तापमान में वृद्धि के कारण

आइये विश्व के तापमान में हो रही इस अप्रत्याशित वृद्धि के कारणों की तलाश करें। वैज्ञानिकों ने तापवृद्धि के प्रमुख कारण को "ग्रीन हाउस प्रभाव" नाम दिया है। नाजुक पौधों को अत्यधिक धूप और सर्दी से बचाने के लिए काँच के घरों में रखा जाता है। इन्हें ग्रीन हाउस कहा जाता है। विश्व के सन्दर्भ में वायुमण्डल में कुछ गैसें पृथ्वी के चारों ओर आच्छादित होकर घेरा बना लेती हैं जिससे सूर्य का प्रकाश पृथ्वी पर आ तो जाता है किन्तु लौटती किरणें अन्तरिक्ष में जाने से रोक ली जाती हैं। इससे वायुमण्डल व पृथ्वी का ताप बढ़ जाता है। इसे ही ग्रीन हाउस प्रभाव कहा जाता है।

ग्रीन हाउस प्रभाव पैदा करने वाली प्रमुख गैसें कार्बन डाइऑक्साइड, मीथेन, क्लोरोफ्लोरोकार्बन, नाइट्रोजन ऑक्साइड तथा ओजोन हैं। इन गैसों की मात्रा में वृद्धि के कारण हैं—

(1) मशीनीकरण,

(2) वन विनाश, और

(3) जनसंख्या वृद्धि।

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप विश्व में मशीनीकरण हुआ, जिससे धुआं उगलने वाले कल कारखाने व वाहन बढ़े। इस धुएं में ग्रीन हाउस प्रभाव के लिए जिम्मेदार अधिकतर गैसें हैं। इन सबके कारण 1860 से 1987

तक कार्बन डाइऑक्साइड 25 प्रतिशत बढ़ी है तथा पिछले 30 वर्षों में यह गैस 10 प्रतिशत और बढ़ी है। ग्रीन हाउस प्रभाव उत्पन्न करने वाली क्लोरोफ्लोरोकार्बन गैस रेफ्रिजेरेटरों, एयरकण्डीशनरों, खुशबूदार स्प्रे आदि में काम आती है। यह वायुमण्डल में ओजोन परत को नष्ट करने के साथ ही वायुमण्डल का ताप भी बढ़ा रही है।

दूसरा मुख्य कारण तेजी से होता वन विनाश है। विभिन्न स्रोतों से उत्पन्न कार्बन डाइऑक्साइड को वृक्ष ही प्रकाश संश्लेषण की क्रिया में ग्रहण कर इसके दुष्प्रभाव को कम करते हैं किन्तु विडम्बना यह रही कि कल-कारखाने लगाने, नई बस्तियाँ व सड़कें बनाने तथा जीवन की अन्य सुविधाओं के लिए जंगलों का अनियन्त्रित रूप से सफाया कर दिया गया। वर्तमान समय में विश्व में प्रतिवर्ष 6 करोड़ हेक्टेयर भूमि से वनों की कटाई हो रही है। अकेले भारत में प्रतिवर्ष 12 लाख हेक्टेयर जंगल काटे जा रहे हैं। यही गति रही तो इस शताब्दी के अन्त तक कुल भूमि के मात्र 5 प्रतिशत भू-भाग पर ही वन शेष रहेंगे। इस व्यापक वन विनाश से कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा में दो तरफा वृद्धि हो रही हैं। एक तो कटे हुए पेंड़ कार्बन डाइऑक्साइड ग्रहण नहीं कर रहे हैं, तो दूसरी ओर कटे हुए पेड़ों की लकड़ी जलाने से यह गैस उत्पन्न हो रही हैं।

तीसरा मुख्य कारण तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या है। वर्तमान में दुनिया की आबादी प्रति सेकण्ड 3 व्यक्ति की दर से बढ़ रही है जो मानव जाति के इतिहास में एक कीर्तिमान है। संयुक्त राष्ट्र संघ के जनसंख्या कोष का नवीनतम अनुमान है कि सन् 2025 में विश्व की आबादी लगभग साढ़े आठ अरब होगी। जनसंख्या वृद्धि से वायुमण्डल में श्वसन द्वारा कार्बन डाइऑक्साइड छोड़ने वाले व्यक्ति उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं। धूम्रपान करने वाले करोड़ों लोग भी वायुमण्डल में कार्बन डॉइआक्साइड की वृद्धि करते हैं। प्रति व्यक्ति ईंधन का खर्च, कल कारखानों बस्तियों व वाहनों की संख्या में वृद्धि, प्रदूषण व गन्दगी में बढ़ोत्तरी जैसी बातें भी जनसंख्या वृद्धि से जुड़ी हुई है जो अन्ततोगत्वा ग्रीन हाउस प्रभाव को ही बढ़ाती हैं।

अनुमान है कि दहन एवं श्वसन क्रिया से प्रतिवर्ष लगभग 10 टन कार्बन डाइऑक्साइड वायुमण्डल में उत्सर्जित होती है। यह गैस भारी होती है जिससे पृथ्वी की सतह के समीप ही परत बनाकर ग्रीन हाउस प्रभाव उत्पन्न कर रही है। अन्य कारणों में नदियों के किनारे बने थर्मल पावर प्रोजेक्ट हैं जो नदी के जल का ताप निरन्तर बढ़ा रहे हैं जिससे जलीय जन्तुओं का जीवन संकट में पड़ा है। औद्योगिक संस्थानों में प्रयुक्त कोयले तथा तेल के दहन से बनी सल्फर आक्साइड, कार्बन के कण वायुमण्डल में धुंध का निर्माण करते हैं जो सूर्य के विकिरणों को लौटाने से रोकती है। इस प्रकार विभिन्न कारकों से पृथ्वी के औसत तापमान में 10 से० की वृद्धि हो चुकी है और संयुक्त राष्ट्र संघ के एक पूर्वानुमान के अनुसार 2100 तक पृथ्वी का तापमान 3° से० तक बढ़ जायेगा। यह बढ़ा हुआ तापमान पिछले एक लाख वर्षों में बढ़े तापमान से कहीं अधिक होगा।

ताप वृद्धि के सम्भावित परिणाम

कोलाराडो के राष्ट्रीय वायुमण्डलीय अनुसन्धान केन्द्र के जलवायु विशेषज्ञ स्टीफेन स्नाइडर 1970 के प्रारम्भ से ही ग्रीन हाउस प्रभाव के बारे में विश्व को सचेत करने के काम में लगे हुए हैं। वे कहते हैं कि इयिहास में यह पहला मौका है जबकि मनुष्य सम्पूर्ण विश्व का पर्याबरण-सन्तुलन नष्ट करने पर तुला हुआ है। तापवृद्धि के सम्भावित प्रभाव इस प्रकार हैं :

1. जल-प्लावन

यदि पृथ्वी का तापमान इसी गति से बढ़ता रहा तो साइबेरिया, पश्चिमी अंटार्कटिका के विशाल बर्फीले भू-भागों तथा आर्कटिक की बर्फ तेजी से पिघलना शुरू हो जायेगी जिससे विश्व का समुद्रतल 2 मीटर अधिक ऊँचा उठ जायेगा। समुद्री किनारे पर बसी विश्व की एक तिहाई जनसंख्या इससे बुरी तरह प्रभावित होगी। न्यूयार्क, पेरिस, लन्दन, शंघाई, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास के निवासियों को सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाना होगा। अमरीकी पत्रिका "वर्ल्ड वाच" के अनुसार मालदीव को अत्यधिक खतरा है।

2. मौसम में बदलाव

जून 1988 में हुए विश्व के 48 राष्ट्रों के वैज्ञानिकों के टोरन्टो सम्मेलन ने ग्रीन हाउस प्रभाव से पृथ्वी के मौसम में बदलाव पर अत्यधिक चिन्ता व्यक्त की। उनके अनुसार अत्यधिक गर्मी, सूखा, पानी की कमी, बर्फ का पिघलना आदि अप्राकृतिक घटनाओं से विश्व का मौसम बदलेगा जिसका प्रभाव जन्तुओं व पौधों के अलावा मानव स्वास्थ्य एवं सभ्यता पर भी पड़ेगा। पृथ्वी के गर्म होने से समुद्र की सतह से अधिक तेजी से वाष्पीकरण और अधिक बादल एवं फलस्वरूप अधिक वर्षा होने की सम्भावना बनेगी। भारत के मध्यवर्ती भू-भाग में वर्षा दो गुनी हो जायेगी। जबकि मध्य पश्चिम अमेरिका में ग्रीष्म ऋतु और भी गर्म हो जायेगी। तीन वर्ष पूर्व मालदीव द्वीप समूह तथा बांगला देश में आये भयंकर समुद्री तूफानों के क्रम बदलते मौसम के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

3. मानव स्वास्थ्य

तापमान वृद्धि से पृथ्वी के जलवायु में जो परिवर्तन होंगे उससे मानव स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर पड़ेगा। तापमान वृद्धि से खाद्य सामग्री एवं पानी की उपलब्धता में कमी आयेगी जिससे लाखों लोग पलायन करेंगे। जनसंख्या वृद्धि से नये रोग उत्पन्न होंगे।

ताप वृद्धि से होने वाले व्यापक प्रभावों का सही आकलन अभी भी शोध का विषय है तथापि इससे विश्व की भौगोलिक, सामाजिक, एवं आर्थिक स्थिति काफी गहराई तक प्रभावित होगी।

निवारण की दिशा में कदम

अब समय आ गया है कि हम विज्ञान और तकनीकी ज्ञान का लोक कल्याणकारी दृष्टि से उपयोग करें। इस दिशा में कुछ प्रयास भी प्रारम्भ हो चुके हैं। यूरोपीय बारह राष्ट्रों ने अक्टूबर 1988 में घोषणा की है कि नाइट्रोजन ऑक्साइड के विभिन्न प्रयोगों में आगामी दस वर्षों में 30 प्रतिशत की कटौती करेंगे। मांट्रियल कांग्रेस एवं टोरन्टो सम्मेलन में विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के अनेक वैज्ञानिकों ने हमारा ध्यान भावी भयावह स्थितियों की ओर आकृष्ट किया है। अमेरिका की सीनेट में सिनेटर स्टे फोर्ड ने 18 जुलाई 1988 को विश्व पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1988 प्रस्तुत किया जिसमें ग्रीन हाउस प्रभाव को समाप्त करने के लिए बाईस वर्षीय योजना बनाई गई है। इसमें विषैली गैसों के स्रोतों में क्रमशः कमी करने, ट्रॉपिकल वनों को कटने से रोकने तथा पेड़ उगाने के कार्यक्रम हैं। भूमण्डलीय उष्णता को कम करने में टोरन्टो सम्मेलन के वैज्ञानिकों द्वारा सुझाये गये ये उपाय भी सार्थक हैं।

1. औद्योगिक देश वर्ष 2005 तक कार्बन डाइऑक्साइड के निस्सरण में 20 प्रतिशत कमी करें।
2. कोयले के स्थान पर प्राकृतिक गैस व अन्य वैकल्पिक ऊर्जा स्रोतों का इस्तेमाल हो जिनमें कार्बन डाइ ऑक्साइड की मात्रा कम उत्पन्न हो।
3. सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा, भूतापीय ऊर्जा व सुरक्षित परमाणु ऊर्जा के संवर्धन हेतु और अधिक वित्तीय व्यवस्था की जाये।
4. वनों की कटाई बन्द कर वन लगाने पर ध्यान दिया जाये।
5. वर्ष 2000 तक क्लोरो फ्लोरो कार्बन के प्रयोग पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया जाये।

इस अपील का विश्व के अनेक देशों ने स्वागत किया और उसके अनुरूप कदम भी उठाये।

प्रकृति में भी इस दिशा में कुछ उपयोगी परिवर्तन हुए हैं। इस शताब्दी में उत्तरी अमेरिका, उत्तर पश्चिमी यूरोप व भारतीय उपमहाद्वीप के ऊपर बादलों के बनने में विशेष वृद्धि देखी गई है। ये बादल सूर्य की किरणों को अन्तरिक्ष में परावर्तित करने तथा तापमान वृद्धि दर को कम करने में सहायक होंगे। एक अनुमान यह भी है कि तापमान वृद्धि एवं बर्फ पिघलने से पृथ्वी के उत्तरी भू-भाग यानि टुण्ड्रा प्रदेश पर घास व पौधे उगेंगे जो कार्बन डाइ-ऑक्साइड का अवशोषण कर सकेंगे।

विश्व के तापमान को कम करने के लिए हमें हमारी वन सम्पदा को नष्ट होने से बचाना होगा तथा वृक्षारोपण पर जोर देना होगा क्योंकि वन कार्बन डाइऑक्साइड एवं नाइट्रोजन आक्साइड को ग्रहण करते हैं तथा संग्रहीत करते हैं। दूसरी ओर कल-कारखानों, स्वचालित वाहनों से निष्कासित धुएँ में कमी करनी होगी। ऊर्जा के वैकल्पिक, हानि रहित स्रोत विकसित करने होंगे। अन्त में जनसंख्या वृद्धि रोकना भी परमआवश्यक हैं क्योंकि जितनी ज्यादा जनसंख्या होगी उतना ही प्राकृतिक साधनों का शोषण होगा।

भावी पीढ़ियों के लिए पर्यावरण को सुरक्षित बचाने के लिए हमें जीवन शैली बदलनी होगी। उपभोग व अपशिष्ट को कम करना होगा। पुनः चक्रीकरण को बढ़ाना होगा। प्रौद्योगिकी का उपयोग सूझ-बूझ से करना होगा। इन सबसे बड़ी बात पर्यावरण संकट के सन्दर्भ में हमें विश्व को "वसुधैव कुटुम्बकम्" मानकर विचार करना होगा। एक कवि ने कहा है—'चारों ओर लकड़हारे हैं, फिर भी पेड़ कहाँ हारे हैं।' इन पंक्तियों से हम प्रेरणा ग्रहण करें और पर्यावरण संरक्षण के पुनीत यज्ञ में अपना योगदान करें।

●●

पर्यावरण और औद्योगिकीकरण

डॉ सुरेन्द्र नाथ श्रीवास्तव

मनुष्य प्रकृति का एक अभिन्न अंग है। अन्य जीव-जन्तुओं तथा पेड़-पौधों की भाँति उसके और प्रकृति के अन्तर्सम्बन्ध प्रारम्भ में अत्यन्त प्रगाढ़ थे। किन्तु अपनी बढ़ती हुई बुद्धि, लोभ तथा तकनीकी ज्ञान के कारण आज वह अपने और प्रकृति के बीच दूरी बढ़ाता चला जा रहा है। दरअसल मनुष्य एवम् प्रकृति के बीच की सन्निकटता पर पहला प्रहार तब हुआ जब उसने लगभग 50,000 वर्ष पूर्व अग्नि के उपयोग को जाना। विकास और तकनीक की दृष्टि से यह मानव इतिहास की महान उपलब्धि थी। उसने अग्नि का अस्त्र के रूप में प्रयोग करना प्रारम्भ किया। अब वह जंगल में आग लगा कर जानवरों के एक बड़े समूह को घेर सकता था। उसके जीवन शैली में भी भुने हुए पदार्थों की अधिकता होने लगी। लगभग 10,000 वर्ष पूर्व मनुष्य ने खेती-बारी का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त किया। अपने फसल उगाने के ज्ञान में वृद्धि के साथ-साथ उसने गाय-भैंस, भेड़ आदि मवेशियों को पालना प्रारम्भ किया। फलस्वरूप उसने जंगलों को काटकर खेती योग्य भूमि विकसित की। चारागाहों को बढ़ाने के लिए और अधिक वन काटे गये। यह मनुष्य और प्रकृति की सन्निकटता पर दूसरा प्रहार था। किन्तु ये दोनों प्रहार कुछ भी नहीं थे यदि हम लगभग 200 वर्ष पूर्व जायें जब मनुष्य ने उद्योग के क्षेत्र में कदम रखा। पहली औद्योगिक क्रान्ति का जन्म उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैण्ड में हुआ। मैनचेस्टर और लंकाशायर के कारखानों के बने वस्त्र विश्व पर छाने लगे। ज्ञान-विज्ञान एवम् तकनीकी प्रगति उन्नीसवीं शताब्दी में ऐसे स्तर पर पहुँच गयी कि बड़े पैमाने पर औद्योगिकीकरण होने लगा। आज हम अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में प्रयोग में आने वाली वस्तुओं—यथा कपड़ा, चमड़ा, शर्करा, कागज, इस्पात, रबर, प्लास्टिक, लकड़ी व प्लाइवुड जैसी अनेकानेक वस्तुओं के लिये उद्योगों पर आश्रित हैं। सच तो यह है कि वर्ष 1950 के बाद से मनुष्य ने मशीनों के सहयोग से ऐसी क्षमतायें विकसित की हैं जैसा कि उसने 1950 के पूर्व के पूरे इतिहास में नहीं किया था। दूसरे शब्दों में औद्योगिकीकरण के माध्यम से पृथ्वी और उसके पर्यावरण का स्वरूप बदलने का एक अभूतपूर्व शस्त्र मनुष्य के हाथ में था। यह प्रहार सबसे करारा था।

यह ठीक है कि आज प्रगति का दूसरा नाम औद्योगिकीकरण समझा जाता है, किन्तु इन उद्योगों को चलाने के लिए ऊर्जा की आवश्यकता होती है। कल-कारखानों को चलाने के लिए मनुष्य ने पृथ्वी के गर्भ में संचित—कोयला, तेल, पेट्रोलियम आदि को बेपनाह खर्च किया है। आखिर पृथ्वी के अन्दर इन पदार्थों की एक सीमा है। दूसरी ओर औद्योगिक कारखानों से निकली विषैली गैसें और अपशिष्ट पदार्थ, नदियों में छोड़ा जाने वाला वाहितमल, अच्छी पैदावार के लिए प्रयुक्त निषैले कीटनाशकों की बढ़ती मात्रा, मोटर-गाड़ियों और वायुयानों द्वारा निष्काषित धुंआँ और गैसें—सभी प्रकृति को असन्तुलित करते हैं और स्वयं मनुष्य के लिए जीना कठिन बनाते हैं। यह विडम्बना ही है कि अपने को सर्वश्रेष्ठ कहने वाला मनुष्य सीमित लाभ के लिए एक ओर तो उद्योगों को बढ़ाता जा रहा है और दूसरी ओर इसमें उपजे प्रदूषण से पर्यावरण को सतत हानि पहुँचा कर अपने अस्तित्व के लिए खतरा मोल ले रहा है।

वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद-211002

उद्योगों को सामान्यत: पर्यावरण के शत्रु के रूप में देखा जाता है। इसीलिये प्रत्येक समाज में दो वर्ग स्पष्ट रूप से दिखायी देते हैं—एक उद्योगपतियों और उनसे सम्बन्धित लोगों का तथा दूसरे पर्यावरण वैज्ञानिकों और चेतना जगाने वालों का। दरअसल औद्योगिकीकरण के साथ देश व समाज की अर्थव्यवस्था जुड़ी है। हमारे देश की औद्योगिकीकरण नीति तथा अर्थव्यवस्था में जहाँ एक ओर बड़े उद्योग स्थापित किये गये हैं, वहीं दूसरी ओर कुटीर उद्योगों को भी प्रश्रय मिला है। यथार्थ तो यह है कि पिछले दो दशकों में बड़े उद्योगों ने हम पर अपनी पकड़ बढ़ायी है जबकि कुटीर उद्योग बहुत पीछे छूट गये हैं। बड़े कल-कारखानों से उत्पन्न होने वाले प्रदूषण के खतरों से पर्यावरण-वादी अक्सर आगाह करते रहे हैं किन्तु उनकी आवाज नक्कारखाने में तूती जैसी है।

इस तथ्य से किसी को इन्कार नहीं है कि औद्योगिकीकरण होना चाहिये या कल-कारखानों में उत्पादन बढ़ा कर सबको आवश्यकता की वस्तुयें उपलब्ध करायी जानी चाहिये—पर प्रश्न यह है कि किस रूप में और कितना? क्या सुगन्धित स्प्रेयुक्त इत्र, रेफ्रीजरेटर तथा एयरकण्डीशनरों की संख्या बढ़ती रहनी चाहिये, भले ही उनमें प्रयोग किया जाने वाला रसायन—क्लोरोफ्लोरोकार्बन—पृथ्वी के चारों ओर फैले हुए ओजोन के रक्षा कवच को कमजोर कर रहा हो और हमारा अस्तित्व ही खतरे में हो? क्या कारखानों में कोयले एवम् पेट्रोलियम को सतत जलाते रहना चाहिये, भले ही वैज्ञानिक यह कहते रहें कि पृथ्वी का ईंधन समाप्त हो रहा है। वायुमण्डल में कार्बन-डाइऑक्साइड गैस की दर 4 प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ रही है और आने वाले समय में जीना ही मुश्किल हो जायेगा। बड़े औद्योगिक नगरों के वायुमण्डल में धुंये, सल्फर डाइऑक्साइड, नाइट्रोजन के ऑक्साइड तथा अन्य कण वहाँ रहने वाले लोगों के स्वास्थ्य पर निरन्तर प्रभाव डाल रहे हैं। कीटनाशी दवाओं और रासायनिक खादों का दुष्प्रभाव तो गाँवों के अपढ़ किसान भी अनुभव करने लगे हैं। आज हमारे चारों ओर का पर्यावरण—जल, मिट्टी, वायु, सागर, भोजन प्रदूषित हो चुका है।

आखिर इस समस्या का समाधान क्या है? समाधान है उद्योग और पर्यावरण के बीच तालमेल बिठाने का सत्प्रयास। किसी भी नये उद्योग को लगाने से पहले उसकी विभिन्न अवस्थाओं में पर्यावरण पर पड़ने वाले सम्भावित प्रभावों का विधिवत अध्ययन और सुझाव अनिवार्य है। इस दिशा में नीतियाँ सुस्पष्ट होनी चाहिये। वैसे तो प्रयत्न किये जा रहे हैं कि कारखानों से निकलने वाले विषैले अपसारी पदार्थों की मात्रा एवम् प्रगाढ़ता कम की जाय, उनसे प्राप्त होने वाले अपशिष्टों का पुनरुपयोग किया जाय अथवा ऊर्जा के अन्य वैकल्पिक स्रोत खोजे जायें—किन्तु प्रदूषण से उत्पन्न खतरों को देखते हुए ये प्रयास नगण्य हैं। इन सब प्रयासों से हटकर आज आवश्यकता है लोगों की मान-सिकता, उनके सोच को बदलने की। बड़े उद्योगों के संचालक अक्सर दूरदर्शन, रेडियो, पत्र-पत्रिकाओं तथा अन्य माध्यमों के लुभावने विज्ञापनों द्वारा मनुष्य के मन में एक कृत्रिम आवश्यकता जगाते हैं। परिणामस्वरूप चलने-फिरने चढ़ने-उतरने, बोलने-बतियाने, लिखने-पढ़ने, सीने और धोने, खाना बनाने—गरज की हर काम के लिए मशीन होनी चाहिए और जितनी ही अधिक मशीनों का मनुष्य उपयोग करे, उतना ही अधिक वह सभ्य कहलाये। दरअसल सभ्यता का मापदण्ड कुछ लोगों ने निश्चित कर रक्खा है। अन्य उनका अनुकरण करते हैं। आज सबसे बड़ी आव-श्यकता है जीवन जीने के लिए समग्र दर्शन की। औद्योगिक प्रगति रोकने की नहीं, बल्कि उसके पीछे काम करने वाली दूषित विचारधारा को बदलने की।

अतएव आज आवश्यकता है समन्वय की, प्रकृति के साथ सह अस्तित्व की, एक ऐसे नये सोच, नये दर्शन की जिसमें प्रकृति पर विजय नहीं वरन् मैत्रीपूर्ण व्यवहार की भावना हो।

●●

ओजोन की छतरी में छेद : विश्वव्यापी समस्या

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

आज न केवल पर्यावरणविद् वरन् सारे संसार के लोग प्रकृति के बिगड़ते सन्तुलन और पर्यावरण की नाज़ुक स्थिति को लेकर चिंतित हैं। किन्तु ओजोन की पर्त के झीनी होने के कारण विश्व के सामने जिस विनाशकारी आपदा के आने की आशंका उत्पन्न हो गई है, वैसा सम्भवतः मानव इतिहास में कभी नहीं हुआ था। स्वीडेन से प्रकाशित होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की पत्रिका 'एम्बायो' (AMBIO) का अक्टूबर 1990 अंक ओजोन समस्या को समर्पित एक विशेष अंक है।

इस अंक में पहली बार ओजोन पर्त पर एक साथ जितनी शोधपरक एवं प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध है, उतनी सम्भवतः अन्यत्र दुर्लभ है। इससे आने वाले समय के वास्तविक परिदृश्य का अनुमान होता है।

ओजोन ऑक्सीजन के तीन अणुओं से बनी एक गैस है। धरती नामक इस उपग्रह को, जिस पर हम समस्त पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं सहित निवास करते हैं, ओजोन चारों ओर से घेरे हुए हैं। ओजोन का यह घेरा या पर्त मानव सहित सभी जीवधारियों को सुरक्षा प्रदान करती है, सूर्य की घातक पराबैंगनी किरणों से। यह गैस सुरक्षा इस प्रकार प्रदान करती है कि इसमें 300 नैनोमीटर से कम यानी कम तरंग दैर्घ्य (वेव लेन्थ) वाले प्रकाश को अवशोषित करने की क्षमता विद्यमान होती है। इससे एक बात स्पष्ट है कि ओजोन पर्त के अभाव में सूर्य की खतरनाक परा-बैंगनी किरणें धरती पर पहुँच कर कहर बरपा कर सकती हैं।

हमारी धरती के ऊपर ध्रुवों पर 8 किलोमीटर तथा विषुवत् रेखा पर 17 किलोमीटर तक ऊँचाई का स्थान क्षोभमण्डल (ट्रोपोस्फीयर) के नाम के जाना जाता है। यह वायुमण्डल का सबसे निचला स्तर है। इसके ऊपर लगभग 50 किलोमीटर की ऊँचाई तक का वायुमण्डल समतापमण्डल (स्ट्रैटोस्फीयर) के रूप में पहचाना जाता है, जिसमें ओजोन गैस का विस्तार होता है। वैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया है कि यह सारी ओजोन गैस यदि धरती की सतह पर एकत्र हो जाय, तो जो ओजोन पर्तं हमें प्राप्त होगी वह मात्र 3 किलोमीटर मोटी होगी। किन्तु इसके पृथ्वी के समीप होने पर कितने खतरनाक परिणाम होंगे, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

ओजोन का निर्माण जीवनदायी गैस ऑक्सीजन पर पराबैंगनी किरणों के प्रहार से होता है। जब पराबैंगनी किरणें ऑक्सीजन के एक अणु पर प्रहार करती हैं तो ऑक्सीजन फोटॉन के प्रभाव से दो अतिसक्रिय भागों (परमाणुओं) में टूट जाता हैं। ये दोनों भाग जल्दी ही ऑक्सीजन के एक पूरे अणु से जुड़कर ओजोन बना देते हैं। ओजोन बनने की तीव्रता इस क्रिया की तीव्रता पर निर्भर है। यदि यह क्रिया तेजी से होगी, तो ओजोन भी तेजी से बनेगी। इस प्रकार पराबैंगनी किरणें पृथ्वी के जीवधारियों के लिए जीवन रक्षक और जीवन भक्षक दोनों भूमिकायें

सम्पादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002 (उ० प्र०)

निभाती हैं। वैसे ही जैसे जार्ज स्टीवेंसन की पुस्तक 'डॉ० जेकिल एण्ड मिस्टर हाइड' में एक व्यक्ति अच्छे और बुरे दोनों काम करता है। डॉ० जेकिल के रूप में अच्छे और मिस्टर हाइड के रूप में बुरे काम।

हम सभी जानते हैं कि उद्योग मानव सभ्यता के प्रतीक हैं। किन्तु अनेक उद्योगों से प्राप्त होने वाले रसायन ओजोन बनने की क्रिया की गति को धीमी करते हैं और साथ ही साथ ओजोन के अणुओं को तोड़ते हैं। ओजोन के अणुओं को तोड़ने वाले रसायनों को क्लोरोफ्लोरोकार्बन्स के नाम से पुकारते हैं। इन्हें संक्षेप में सी एफ सीज कहते हैं। ये रसायन लगभग 40 गैसों का एक समूह हैं। इनमें क्लोरीन, फ्लोरीन और ब्रोमीन मौजूद होता है।

जब क्लोरोफ्लोरोकार्बन गैसें वायुमण्डल में मुक्त होती हैं तो ओजोन पर्त के ऊपर, बहुत ऊपर पहुँच जाती हैं। वहाँ सूर्य की पराबैंगनी किरणों के प्रभाव से शक्तिशाली रसायनों में विघटित हो जाती हैं। ये रसायन, जिनमें क्लोरीन मुख्य हैं, जब ओजोन की निचली सतह तक पहुँच जाते हैं तो ओजोन के अणुओं को नष्ट कर देते हैं। जैसे-जैसे ओजोन के अणु नष्ट होते हैं, ओजोन पर्त की मोटाई कम होती जाती है। इसी कारण ओजोन की पर्त में ऐसे छेद बन जाते हैं, जहाँ से सूर्य की पराबैंगनी किरणें पृथ्वी तक पहुँच सकती हैं। एक अनुमान के अनुसार यदि ओजोन की सान्द्रता में 7 प्रतिशत की कमी हो जाय तो धरती पर पहुँचाने वाली पराबैंगनी किरणों की मात्रा में 15 प्रतिशत की वृद्धि हो जायेगी।

वैज्ञानिकों द्वारा पिछले 10-12 वर्षों के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव प्रदेशों (आर्कटिक और अन्टार्कटिका) में ओजोन की पर्त झीनी हुई है।

अन्टार्कटिका के आकाश में 1987 के अगस्त माह के अन्त और सितम्बर के प्रारम्भ में ओजोन की सान्द्रता में 50 प्रतिशत की गिरावट देखी गई थी। इससे कुछ समय पहले 1986 में सान्द्रता में यह कमी 40 प्रतिशत थी।

उपग्रह की मदद से जब वैज्ञानिकों ने उत्तरी ध्रुव के आकाश का चित्र लिया तो चित्र में अन्टार्कटिका के ऊपर आकाश में 5,000-12,000 किलोमीटर क्षेत्र के चारों तरफ एक गोल संरचना या वृत्त दिखा। यहाँ ओजोन की पर्त झीनी दिखी। आकाश के इस क्षेत्र को 'ओजोन छिद्र' का नाम दिया गया। ओजोन पर्त का धीरे-धीरे बढ़ता यही झीनापन हमें दे रहा है खतरे की चेतावनी और यही है चिन्ता का कारण।

ऐसा अनुमान है कि ओजोन पर्त के पतली होने के कारण जब पराबैंगनी किरणें धरती पर पहुँचेंगी तो इन किरणों के प्रभाव से हमारी त्वचा झुलस जायेगी, आँखों की रोशनी चली जायेगी, असमय शरीर पर झुर्रियाँ पड़ जायेंगी, समय से पहले बुढ़ापा आ जायेगा, त्वचा कैंसर आम बीमारी होगी, हरे पौधों की हरीतिमा नष्ट हो जायेगी, वनस्पतियाँ अपना भोजन नहीं बना सकेंगी, फसलों और अन्य पादपों के बीजों का अंकुरण देर से होगा। पादप हार्मोन नष्ट हो जायेंगे। पानी वाले पौधों में शैवाल अधिक प्रभावित होंगे। सागरों के पादप प्लेंक्टॉनों को खाने वाले क्रिल, क्रिलों को खाने वाली मछलियाँ, ह्वेल, सील, पेंग्विन और अन्य प्रकार के सागर पक्षी फिर भला कैसे जीवित बचेंगे ?

यही नहीं, जब ध्रुवों की बर्फ पिघलेगी तो समुद्र तटीय क्षेत्र और बन्दरगाह जलमग्न हो जायेंगे। निचले क्षेत्र बाढ़ की चपेट में होंगे और यह सब होगा धरती के ताप के बढ़ने के कारण। यह स्थिति कितनी भयावह और विनाशकारी होगी, इसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

किन्तु ऐसे लोगों की कमी नहीं जो आज भी अपने स्वार्थ की सिद्धि में लगे हुए हैं। इस धरती की सम्पदा का भरपूर दोहन कर रहे हैं। उनका ऐसा मानना है कि उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव प्रदेश तो दूर हैं, बहुत दूर। उन क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तन का भला हमारे ऊपर क्या प्रभाव पड़ेगा? परन्तु इस प्रकार सोचना तो स्वयं अपने आप को भ्रम में रखना है। ओजोन छिद्र का प्रभाव काफी दूर दराज़ के क्षेत्रों को निश्चय ही अपनी चपेट में ले लेगा। यही कारण है कि आज संसार भर के वैज्ञानिक और प्रबुद्धजन ओजोन की छतरी को लेकर न केवल चिंतित हैं, बल्कि जो क्षति हो चुकी है, उसकी भरपाई करने के प्रयासों में भी लगे हैं और इसी का परिणाम है क्लोरोफ्लोरोकार्बन्स की जगह ऐसे रसायनों की खोज, जो इनके विकल्प के रूप में इस्तेमाल किये जा सकें।

क्लोरोफ्लोरोकार्बन यौगिकों का उपयोग विकसित देशों द्वारा वातानुकूलन उपकरणों, पैकेजिंग उद्योग, इलेक्ट्रॉनिक्स उद्योग, बिजली पैदा करने, आग बुझाने के उपकरणों, दवाओं के निर्माण आदि में बहुलता से हो रहा है। इन यौगिकों में अनेक खूबियाँ होती हैं। इनमें आग नहीं लगती, विष नहीं फैलता, किसी अन्य रसायन से क्रिया नहीं करते। इस लिए इनके विकल्प के रूप में प्रयुक्त होने वाले रसायनों में ये खूबियाँ तो होनी ही चाहिये। साथ ही साथ एक खूबी और होनी चाहिये, वह यह हैं कि इनमें ओजोन को क्षति पहुँचाने का दुर्गुण नहीं होना चाहिये।

हम जानते हैं कि ओजोन को नष्ट करने में क्लोरीन की भूमिका महत्वपूर्ण। अतएव सी एफ सीज के विकल्पों में क्लोरीन का अनुपात क्या हो और वायुमण्डल में तरल यौगिक कितने समय तक सक्रिय बने रहते हैं यह जानना महत्वपूर्ण है। सी एफ सीज के विकल्प के रूप में जो रसायन इस्तेमाल किया जा सकता है, उसे वैज्ञानिकों ने खोज निकाला है। यह रसायन है हाइड्रोफ्लोरोकार्बन। इसे संक्षेप में एच एफ सी के नाम से पुकारते हैं। इसकी विशेषता है वायुमण्डल की ऊपरी सतह तक पहुँचते-पहुँचते स्वतः नष्ट हो जाना। इस प्रकार इससे ओजोन की पर्त को क्षति की कोई आशंका नहीं है।

किन्तु विकल्प की खोज एक बात है और उसका उपयोग दूसरी। सी एफ सी यौगिकों को इस्तेमाल करने वाले उद्योग पहले ही इन रसायनों पर इतना धन व्यय कर चुके हैं और इनका इतना अधिक उत्पादन और उपयोग हो रहा है कि प्रश्न यह है कि किस प्रकार इनके उत्पादन और उपयोग पर प्रतिबन्ध लगाया जाये?

विकसित देशों के पास तो तकनीकी है और धन भी, किन्तु भारत जैसे विकासशील देश जिनके पास न तो टेक्नोलॉजी है और न धन, वे क्या करें? भारत की विशाल जनसंख्या और तीसरी दुनिया के देशों पर भारत के प्रभाव को देखते हुए सी एफ सी सम्बन्धी नीतियों के निर्धारण में भारत की विशेष भूमिका है। भारत जो नीति निर्धारित करेगा उसका अनुसरण अन्य छोटे विकासशील देश करेंगे, इसमें कोई संशय नहीं होना चाहिये।

आज भारत 5000 टन सी एफ सीज का इस्तेमाल प्रतिवर्ष कर रहा है। भारत द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली सी एफ सीज की मात्रा प्रतिवर्ष प्रतिव्यक्ति 0.005 किलोग्राम है जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में यही मात्रा 1.2 किलोग्राम है।

भारत आठ लाख पचास हजार से दस लाख के बीच घरेलू उपयोग के रेफ्रीजरेटर प्रतिवर्ष बनाता है। 1988 में एक लाख रूम एयरकण्डीशनर्स तैयार किये गये। प्रत्येक में एक किलोग्राम फ्रीऑन (Freon) या सी एफ सी-1 2 प्रयुक्त हुई। प्रतिवर्ष अठारह हजार टन सी एफ सीज का निर्माण करने की क्षमता रखने वाले भारतीय कारखाने अभी माँग के अनुसार मात्र पाँच हजार टन का ही निर्माण करते हैं। किन्तु निकट भविष्य में ही यह माँग बढ़ कर इसके 25.000 टन होने की सम्भावना है।

विकसित देशों में प्रयुक्त होने वाली सी एफ सी गैसों की तुलना में भारत में प्रयुक्त होने वाली इसकी मात्रा नगण्य है। इसी कारण भारत के लिए मांट्रियल नीति से जुड़ने का कोई औचित्य नहीं था। इस सम्बन्ध में भारत की भूतपूर्व पर्यावरण और वन मंत्री श्रीमती मेनका गाँधी ने भारत की नीति स्पष्ट कर दी थी। उन्होंने स्वीकार किया कि सी एफ सी यौगिकों का इस्तेमाल रुकना चाहिए, पर साथ ही इस बात पर विशेष बल दिया कि वैकल्पिक तकनीक मुफ्त अथवा अत्यल्प मूल्य पर उपलब्ध होनी चाहिए। जिन देशों के पास वैकल्पिक तकनीक है, वे विकासशील देशों को बिना शर्त दें। जब तक ऐसा नहीं होगा, जब तक शक्ति-सम्पन्न देश आगे नहीं आयेंगे, तब तक ओज़ोन क्षय को नहीं रोका जा सकता।

अतएव संसार को ओजोन क्षय के दुष्परिणामों से बचाने के लिए शक्ति सम्पन्न देशों का आगे आना समय की पुकार है। इस सम्बन्ध में ब्राजील में 3-14 जून तक चलने वाले पृथ्वी शिखर सम्मेलन की भूमिका महत्व-पूर्ण होगी।

●●

सीमित एवं पर्यावरण अनुकूल उत्पादन : पर्यावरण सुरक्षा का मूल साधन

डॉ० कु० परवीन खान

कहते हैं, आवश्यकता अविष्कार को जननी है। अविष्कार विकास का जन्मदाता है और नित नई आवश्यकताओं को जन्म देती है बढ़ती हुई जनसंख्या। इस प्रकार जनसंख्या एवं विकास का एक गहरा सम्बन्ध है। जबकि विकास के नाम पर होने वाले अविष्कारों के दूषित परिणाम ही हमारे पर्यावरण को बिगाड़ रहे हैं।

वैसे तो विकास की कोई दो टूक परिभाषा देना बहुत कठिन है फिर भी मनुष्य के विकास की कहानी तब से शुरू होती है जब उसने गुफाओं से निकलकर झोपड़ी में रहना सीखा। शिकार की तलाश में भटकना छोड़ कर कृषि करना और पशुपालन सीखा। इक्के-दुक्के न रहकर समुदाय व समाज में रहना आरम्भ किया। जब समाज सुदृढ़

व्याख्याता रसायन विभाग, राजकीय महाविद्यालय, टोंक-304001 (राजस्थान)

हुआ तो सभ्यता ने जन्म लिया। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास हुआ एक आदम और एक हव्वा से बढ़ कर आज विश्व की आबादी लगभग 5800 मिलियन हो गयी। परन्तु मनुष्य की बुनियादी आवश्यकता अभी भी रोटी, कपड़ा और मकान ही है।

आज रोटी कपड़ा और मकान पैसे द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं और पैसा आता है रोजगार से। अधिक से अधिक लोगों को रोजगार उपलब्ध कराने एवं उनकी बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिए ही उन्नीसवीं शती में "औद्योगिक क्रान्ति" आई। जैसे-जैसे उद्योग-धंधे पहपे विज्ञान और तकनीकी का भी विकास हुआ तथा नये-नये, आवश्यक-अनावश्यक, हानिकारक-अहानिकारक उत्पादनों की विश्व में बाढ़ आ गयी।

"औद्योगिक क्रान्ति" से जहाँ जीवन स्तर को सुधारने एवं दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नये-नये उत्पादन बाजार में आये और लोगों को रोजगार भी मिला वहीं वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, भूमि प्रदूषण, शोर, ग्रीन-हाउस प्रभाव व ओजोन परत के नष्ट होने की प्रक्रिया भी शुरू हुई। इन समस्याओं से तो आज पृथ्वी के अस्तित्व को ही खतरा हो गया है।

पिछले चार दशकों से विश्वभर में लगभग 10 हजार रसायनिक पदार्थों का संश्लेषण किया जा रहा है जिनमें से लगभग 80 प्रतिशत उत्पादनों के प्रभावों के बारे में अभी कुछ जानकारी ही नहीं है परन्तु अधिकतर उत्पादन बनाने की प्रक्रिया में अथवा उनमें मौजूद किसी तत्व के कारण हमारा पर्यावरण प्रदूषित हो जाता है। इसलिए आवश्यक है कि केवल वही उत्पादन काम में लिए जायें जो पर्यावरण अनुकूल कच्चे पदार्थों एवं प्रक्रिया से ही बने हों।

फरवरी 1990 में तत्कालीन पर्यावरण मन्त्री श्रीमती मेनका गाँधी ने इसी आशय से ऐसी साधारण व दैनिक उपयोगी वस्तुओं पर "इको मार्क" लगाने का सुझाव दिया था। उन्होंने ऐसी वस्तुओं को 17 श्रेणियों में बाँटा था। जैसे—कीटनाशक, खाद्य पदार्थ, कपड़ा, दवाएँ, साबुन, डिटर्जेन्ट, प्लास्टिक, सी एफ सी युक्त ऐरोसोल, शराब, आयल पेंटस, बेट्रीपेक करने वाली सामग्री, एलोक्ट्रोनिक चीजें, कागज, शेम्पो, लिपस्टिक, टेलकम पाउडर आदि। यदि ऐसे पदार्थ बनाते समय उनमें प्रयुक्त ऐसे तत्व व प्रक्रियाएँ बदल दी जाएँ जिनसे पर्यावरण को हानि पहुँचती है तो पर्यावरण सुरक्षा के लिए एक बड़ी उपलब्धि होगी।

इस क्षेत्र में विश्वभर में बड़े पैमाने पर अनुसन्धान किये जा रहे हैं तथा कुछ सफलता भी मिली है।

केलिफोर्निया के स्टीबन गेरेट और उनके साथियों ने क्लोरोफ्लोरोकार्बन्स (सी एफ सीज) के स्थान पर ध्वनि तरंगों से चलने वाले फ्रिज का विकास किया है। एक जापानी तकनीक के अनुसार ऐसे भाप अवशोषण यन्त्र बनाये जा रहे हैं जिनमें सी एफ सीज के बजाय जल का शीतलक के रूप में प्रयोग किया जाता है। यदि यह यन्त्र प्रचलित हो जाये तो सी एफ सीज के उत्पादन में भारी कटौती होगी तथा "पृथ्वी के सुरक्षा कवज" ओजोन परत को नष्ट व पृथ्वी को गरम होने से बचाया जा सकेगा।

विभिन्न कीटनाशक एवं उर्वरक बनाते समय कार्बन डाइऑक्साइड, कार्बन मानोऑक्साइड, नाइट्रिक ऑक्साइड व सल्फर डाइऑक्साइड गैसें जो बाइप्रोडक्टस या सहउत्पादों के रूप में निकलती हैं, हमारे वायुमण्डल में

मिलकर उसे दूषित कर देती हैं। साथ ही इनके कारखानों से निकले विषैले जल के नदी-नालों में मिलने अथवा अम्लीय वर्षा के होने से जल प्रदूषण व भूमि प्रदूषण भी बढ़ता है, जिसका सीधा असर खेती, वन सम्पदा, पशु-पक्षी व हमारे स्वास्थ्य पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त किसी उत्पादन के रिसाव या प्रक्रिया में काम आने वाले तत्वों के वायुमण्डल में मिल जाने से कब कोई 'भोपाल काण्ड' या 'चर्नोबिल घटना' हो जाये कौन जाने। इसलिए पूर्ण सुरक्षा साधनों के साथ-साथ ऐसे कारखानों में ऐसी चिमनियाँ बनाई जाये जिनमें प्रेसिपिटेशन के द्वारा वायुप्रदूषण को कम किया जाये व दूषित पानी को या तो जल व खेतों आदि से दूर रखा जाये अथवा विभिन्न रासायनिक क्रियाओं द्वारा उसके हानिकारक प्रभाव को समाप्त किया जाये।

एक रिपोर्ट के अनुसार सुल्तानपुर (मध्य प्रदेश) में 'स्लेट-पेंसिल' बनाने के व्यवसाय में लगे अधिकांश खनिकों की आयु 40 वर्ष से अधिक नहीं होती व 10 में से 6 व्यक्ति जल्दी ही अपंग हो जाते हैं। इसका कारण है, जानलेवा "सिलीकोसिस" रोग जो खनिकों के शरीर में श्वास द्वारा जाने वाली धूल के कारण होता है। यदि पर्याप्त सावधानियों के साथ गैस मास्क व उपयुक्त उपकरणों का प्रयोग किया जाय व स्लेट-पेंसिल बनाने की प्रक्रिया को अधिक उन्नत बनाया जाय तो इस रोग से बचा जा सकता है।

बढ़ती हुई जनसंख्या का दबाव काफी हद तक ऊर्जा प्राप्त करने व दूसरे कार्यों के लिए लकड़ी पर भी बढ़ा है, जिससे लगभग 47500 हेक्टेयर वन प्रतिवर्ष नष्ट हो रहे हैं। लकड़ी के विकल्प के रूप में दिल्ली की एक फर्म ने फालतू समझ कर फेंक दी जाने वाली कपास के पेड़ों की डन्ठी से लकड़ी की तरह दिखने वाली सामग्री बनायी है। एक अनुमान के अनुसार ऐसी 1 करोड़ 30 लाख वर्गमीटर लकड़ी के उपयोग से लगभग 7 हजार हेक्टेयर वन सम्पदा को प्रतिवर्ष नष्ट होने से बचाया जा सकेगा।

इसी प्रकार जैसे-जैसे आबादी बढ़ रही है ऊर्जा के रूप में पेट्रोल व तेल का उपयोग भी बढ़ रहा है, जिससे सर्वाधिक पर्यावरण प्रदूषित होता है। ऊर्जा के ऐसे साधन ढूढ़ें जा रहे हैं जो पर्यावरण के लिए हानिकारक न हों। ऐसे इंजनों का विकास भी हो रहा है जिससे प्रदूषण कम से कम हो।

कृषि के क्षेत्र में रसायनिक कीटनाशकों के प्रयोग से जहाँ "हरित क्रान्ति" का सपना साकार हुआ है वहीं इसके पर्यावरणीय दुष्परिणाम भी जग जाहिर हैं। सन् 1974 में पौल डीबाक द्वारा लिखित पुस्तक "प्रकृतिक शत्रुओं से जैव नियन्त्रण" में "रसायन रहित कीट नियन्त्रण" का उल्लेख किया गया है, जिसका एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण है भारतीय "मैना" चिड़िया। यदि किसी खेत-खलियान पर लाल टिड्डियों का हमला हो तो किसी कीटनाशक के स्थान पर "मैना" उन्हें नष्ट करने के लिए काफी है। लगभग तीन सौ साल पहले सन् 1762 में भारतीय मैना को इसी उद्देश्य से मारिशस ने आयात भी किया था, जिसके उत्साहजनक परिणाम भी निकले।

जैव नियन्त्रण केन्द्र, बेंगलोर ने इस विषय पर गहन अनुसंधान कर अभी तक लगभग 30 प्रभावी पर-जीवियों और परभक्षियों की तलाश व विकास किया है। देखा गया है कि "नियोचैटीना" व "जाइगोग्रामा" प्रजाति के भ्रंग क्रमश: झीलों में पाये जाने वाले खरपतवार 'जलकुम्भी' व 'कांग्रेस घास' (पारथैनियम) को बिना किसी पर्यावरण प्रदूषण के नष्ट करने में सक्षम हैं।

इसी प्रकार कीटनाशकों के स्थान पर समन्वित कीट प्रबन्धन, कीट आक्रमण की नियमित निगरानी जैसे प्रदूषण रहित उपाय किये जाते हैं। यन्त्रों द्वारा चूहों को नष्ट किया जा सकता है। रसायनिक कीटनाशकों का प्रयोग ''स्काउटिंग विधि'' के द्वारा करने से इनके उपयोग में लगभग आधे की कमी की जा सकती है।

पर्यावरणविदों के लिये विश्व में बढ़ते हुए कचरे की मात्रा भी अब एक गम्भीर समस्या बन गयी है। क्योंकि प्रदूषण फैलाने में बहुत से उत्पादनों के अवशेषों उदाहरणार्थ—बच्चों के नेपकिन, सिरिंजे, प्लास्टिक से बनी विभिन्न वस्तुओं आदि का भी बड़ा योगदान है। ऐसे कचरे को नष्ट करना आसान नहीं होता तथा यह अधिक समय तक भी बने रहते हैं या नष्ट होने की प्रक्रिया में इनसे हानिकारक रसायन बनते हैं। यह रसायन मृदा व भूमिगत जल को दूषित करते हैं या गैसों के रूप में वायुमण्डल में घुल-मिल जाते हैं। जैसे-जैसे जनसंख्या में बढ़ोत्तरी हो रही है, विभिन्न उत्पादनों के प्रयोग से प्रदूषकों की मात्रा में भी वृद्धि हो रही है जबकि प्रतिव्यक्ति स्थान की कमी होती जा रही है। इसलिये पर्यावरण को नुकसान पहुँचाये बिना इस कचरे को ठिकाने लगाने के लिए युद्ध स्तर पर अनु-संधान एवं कानूनों के पालन की भी आवश्यकता है।

प्लास्टिक से जुड़े प्रदूषण से मुक्ति पाने के लिये वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में जुट गये हैं। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में जीवाणुओं द्वारा खेतों में प्लास्टिक की खेती की जा सकेगी। इस दिशा में इंग्लैण्ड की ''इम्पीरियल केमिकल इन्डस्ट्रीज'' के शोधकर्ताओं को विशेष सफलता भी मिली है। उन्होंने ''अल्कली जीन्स यूट्रोफ्स'' नामक जीवाणुओं से ''पॉलीहाइड्रोक्सी ब्यूटायरेट'' नामक प्लास्टिक का निर्माण किया जिससे डिब्बे व शीतल पेय की बोतलें बनायी जा सकती हैं। एक अन्य कम्पनी ने ऐसे जीवाणुओं का विकास किया हैं जिनके द्वारा संश्लेषित किये गये बहुलकों से 'पोलीप्रोपाइलीन' जैसे प्लास्टिक का उत्पादन किया जा सकता है। जीवाणुओं द्वारा निर्मित ऐसे प्लास्टिक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनकी निर्माण प्रक्रिया प्रदूषण रहित है एवं इनके कचरे को जीवाणुओं द्वारा विघटित कर इससे छुटकारा पाया जा सकता है।

इस प्रकार यदि हमें हमारे पर्यावरण को शुद्ध रखना है तो दूसरे उपायों के अतिरिक्त ऐसे अनेक उत्पादनों का त्याग करना ही होगा अथवा उनके स्थान पर ऐसे उत्पाद व तकनीकी का विकास करना होगा जो हमारे पर्यावरण के अनुकूल हों। इस दिशा में सरकार को भी ऐसे उपाय करने होंगे जिनसे पर्यावरण प्रतिकूल उत्पादनों में कमी की जा सके और उनके लिये जनसाधारण का मोह भंग हो।

○○

पारिस्थितिक संकट

डॉ० रवि शंकर पांडेय एवं मानवेन्द्र त्रिपाठी

विज्ञान और प्रौद्योगिकी की कोख से जिस नयी भोगवादी सभ्यता का जन्म हुआ है उसने जीवन और प्रकृति के प्रति मानव दृष्टिकोण में बुनियादी परिवर्तन कर दिया है। प्रकृति अब मानव समाज के लिए मात्र संसाधन बनकर रह गयी है और मानव उस संसाधन का स्वामी बन गया है। निस्संदेह, आज के वैज्ञानिक युग में भौतिक समृद्धि हुई है, परन्तु जितना अधिक औद्योगिकीकरण हुआ है उससे कहीं अधिक मात्रा में जल और वायु का प्रदूषण हुआ है। प्रदूषण आज की विकट मानवीय समस्या बन गयी है, जिसने सम्पूर्ण मानव जाति के अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। आज हम जिस तकनीकी मण्डल (Technosphere) में सांस ले रहे हैं, उसमें कितने दिन जीवित रह सकेंगे, कुछ कहा नहीं जा सकता। इस समस्या के समाधान के लिए हमें अपने अतीत और वर्तमान तथा पूर्व और पश्चिम के बीच समन्वय स्थापित करना होगा।

हमारे चारों ओर का वातावरण और परिवेश पर्यावरण कहलाता है। किन्तु पर्यावरण अत्यन्त व्यापक शब्द है और पर्यावरण का तात्पर्य उस समूची भौतिक एवं जैविक व्यवस्था से है जिसमें जीवधारी रहते हैं, बढ़ते हैं, पनपते हैं, और अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का विकास करते है। वातावरण का वह भाग जिसमें चट्टानें, रेत आदि हैं और जो पौधों के पोषण का कार्य करते हैं, स्थल मण्डल कहलाते हैं। वातावरण के उस हिस्से में जिसमें जल स्थित है, जलमण्डल कहते हैं। स्थल और जलमण्डल के ऊपर लगभग 200 मील तक आच्छादित विभिन्न मात्राओं में ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन डाइऑक्साइड आदि गैसों का आवरण गैसीय वातावरण कहलाता है। पृथ्वी का वह भाग जिसमें जीवधारी निवास करते हैं उसे जीवमण्डल कहते हैं। पर्यावरण प्रदूषण से तात्पर्य पर्यावरण की भौतिक, रसायनिक अथवा जैविक गुणवत्ता में प्राकृतिक अथवा मानवकृत अवांछित परिवर्तन से है। इन अवांछित परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी ऐसे ठोस, द्रव या गैसीय पदार्थ जो कि ऐसी सान्द्रता में विद्यमान है, जो पर्यावरण के लिए क्षतिकर हो सकते हैं या क्षतिकर होना संभाव्य है, पर्यावरण प्रदूषक कहलाते हैं।

पर्यावरण के विभिन्न घटकों एवं उन पर प्रदूषण के प्रभाव एवं अन्तरसम्बन्ध को चित्र-1 एवं चित्र-2 में प्रदर्शित किया गया है।

प्रकृति अपनी ओर से अपने सभी संघटकों का अनुपात उचित बनाये रखने की कोशिश करती है लेकिन मानव ने प्रकृति को छेड़कर उसकी मूल संरचना में और व्यवस्था में खलल डाली है। अँग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक और ईसाई धर्म के प्रचारक डीन इन्ज ने बहुत ही अर्थपूर्ण वाक्य कहा था—"प्रकृति के ऊपर अत्याचार करने पर वह अवश्य प्रतिशोध लेती है" (out raged nature has her own revenges)। यह कथन आज के पारिस्थितिक संकट के मूल कारण का बहुत ही प्रभावपूर्ण ढंग से विवेचना करता है। प्रकृति के विभिन्न उपादानों एवं प्रकृति के तथा मनुष्य के

प्राणि विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

बीच बिगड़े हुए सन्तुलन को ही "पारिस्थितिक संकट" का नाम दिया गया है और यह इतना भयावह है कि अँग्रेजी का शब्द "इकोसाइड" इसके लिए प्रयुक्त हुआ है जो स्वीसाइड (Suicide) से ध्वनिसाम्य रखता है ।
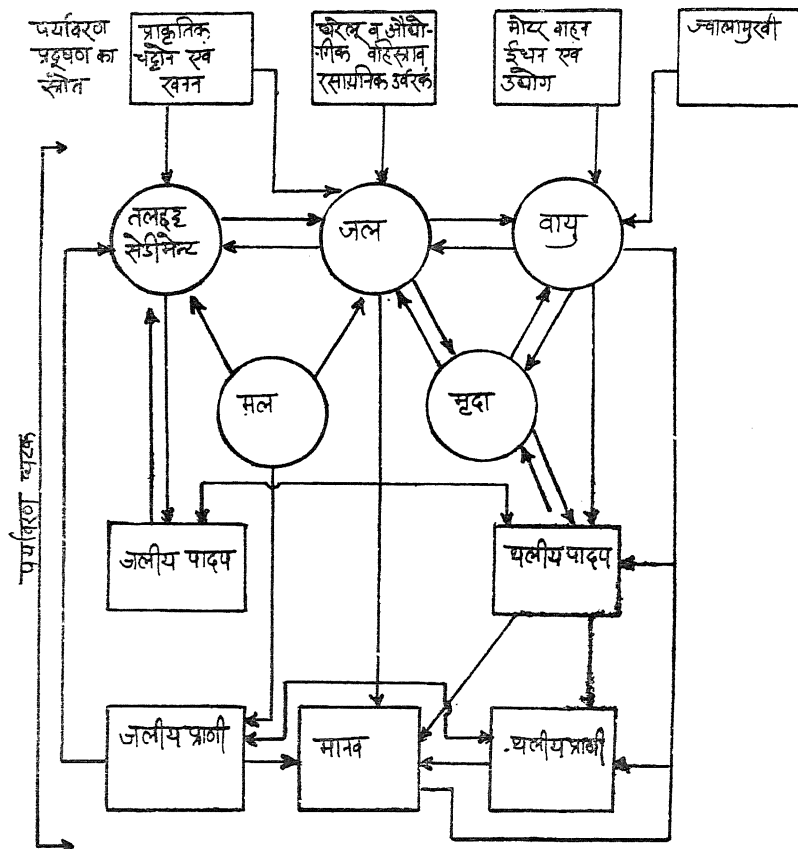
चित्र-1.

धड़ाधड़ जंगल कटते जा रहे हैं, पहाड़ों की पीठे नंगी होती जा रही है, बाढ़ें भूस्खलन की तबाही प्रतिवर्ष अपना विकराल रूप प्रदर्शित कर रही है । ईंधन खत्म होता जा रहा है । प्राकृतिक सम्पदा के भण्डारों ने चेतावनी दे दी है, वे प्रायः समाप्त हो चले हैं । धरती बंजर होती जा रही है, खेती योग्य भूमि कम होती जा रही है । जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ रही है । इतनी बड़ी जनसंख्या को भरपेट भोजन दे पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। विकास सुख सुविधा के लिए होता है न कि विनाश के लिए । मानव समाज मौत के कगार पर खड़ा है । कुछ भी भविष्यवाणी सम्भव नहीं है कि कब वर्तमान सभ्यता का अभिशाप—अर्थात प्रदूषण का जहर समाज को निगल जायेगा । तात्कालिक लाभ के लिए मानवने अविवेकपूर्ण ढंग से वनों को उजाड़ा, प्रकृति का दोहन किया, अन्धाधुन्ध रूप से उसे लूटा । वस्तुतः विकास वही है जिससे हम प्रकृति की मूल सम्पदा को बचा कर रखते हुए ब्याज से कार्य चलाते हैं । आने वाली पीढ़ियों की चिन्ता न करना उनके प्रति अनाचार है, अन्याय है और राष्ट्रपिता गाँधी जी की भाषा में हिंसा है।

धरती के रंगमंच पर अवतीर्ण होने वाले जीवों की सभी जातियों में मानव सबसे योग्य है, उसके पास विवेक है, तर्क की कसौटी है। अतएव विवेक का उपयोग करते हुए प्रकृति में सन्तुलन बनाये रखने का प्रयास अत्यावश्यक है।
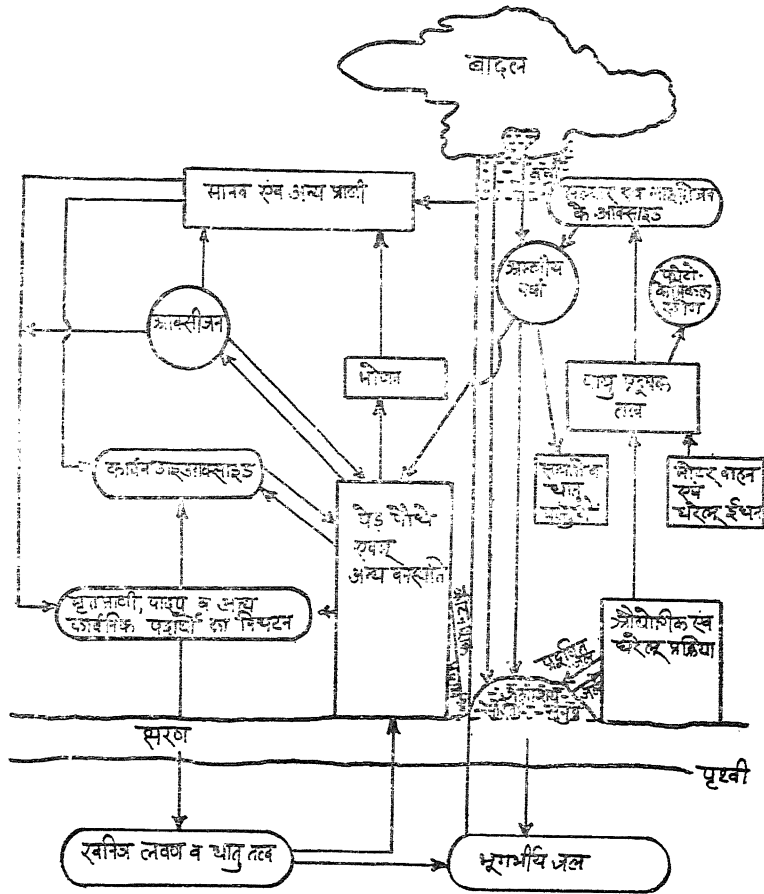
चित्र-2

पर्यावरण प्रदूषण के रूपों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) वायु प्रदूषण

(2) जल प्रदूषण

(3) मृदा प्रदूषण

(4) ध्वनि प्रदूषण

(5) रेडियोधर्मी प्रदूषण

पेट्रोलियम ईंधन (डीजल एवं पेट्रोल), खनिज ईंधन (कोयला), औद्योगिक सक्रियाएँ—प्रमुख स्रोतों द्वारा उत्सर्जित मुख्य वायु प्रदूषकों को सारणी-1 में दर्शाया गया है।

विभिन्न प्रकार के वायुप्रदूषकों के एक निश्चित मात्रा से अधिक होने पर वायु, जल, भूमि, वनस्पति, प्राणी एवं मानव के साथ-साथ पर्यावरण पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है। वायु में अवलम्बित कणीय पदार्थों के श्वास द्वारा फेफड़ों में पहुँचने से विभिन्न प्रकार की श्वास की बीमारियाँ यथा—खाँसी, दमा, इफाइमा तथा तपेदिक हो सकती हैं। यहीं नहीं, यदि इन कणीय पदार्थों में भारी धातु तत्व पॉलीसाइक्लिक ऐरोमेटिक हाइड्रोकार्बन सिलिका तथा ऐस्बेस्टस् जैसे कार्सिनोजेनिक एवं म्यूजेनिक तत्वों की उपस्थिति से सिलिकोसिस (फेफड़ों में पानी भरना), ऐस्बेस्टोसिस (सांस फूलना ज्वर रहना, भूख न लगना, वजन में कमी, चक्कर आना), टी० बी० तथा कैंसर रोग हो सकते हैं। इसके अलावा वायु में अवलम्बित कणीय पदार्थों की उपस्थिति से दृश्यमानता में कमी आती है।

सल्फर डाइऑक्साइड एवं नाइट्रोजन के ऑक्साइड फेफड़ों की बीमारियों के अलावा आँखों में जलन के लिए उत्तरदायी है। इन गैसों के वायुमण्डल में अधिक मात्रा में जमा होने से अम्लीय वर्षा का खतरा हो सकता है जिसके परिणामस्वरूप परागण क्रिया अवरुद्ध होने के कारण फसलों की उपज पर, संगमरमर तथा धातु से निर्मित वस्तुओं के क्षरण द्वारा प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

हाइड्रोजन तथा नाइट्रोजन के ऑक्साइड प्रकाश की उपस्थिति में धूमधुंध (Photo chemicalsmog) उत्पन्न करते हैं जिसके परिणामस्वरूप वायुमण्डल में दृश्यमानता में कमी के साथ-साथ वनस्पतियों पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है।

कार्बन मोनोऑक्साइड एक रंगहीन किन्तु अत्यन्त हानिकारक वायुप्रदूषक गैस है। इसके फलस्वरूप सिरदर्द, चक्कर आना, उल्टी, दम घुटना और अधिक मात्रा में विद्यमान होने पर मृत्यु भी हो सकती है। यह गैस ऑक्सीजन की अपेक्षा रुधिर की लाल रक्तकणिकाओं में उपस्थित हीमोग्लोबिन (Hb) से 200 गुना अधिक तेजी से क्रिया करके कार्बोक्सीहीमोग्लोबिन का निर्माण करती है जिससे शारीरिक क्रियाओं हेतु आवश्यक ऑक्सीजन न मिल पाने से मृत्यु निश्चित है।

क्लोरीन भी एक अत्यन्त विषैली गैस है जिससे फेफड़ों की बीमारियाँ तथा अधिक मात्रा में विद्यमान रहने पर मृत्यु सम्भव है।

सारणी 1

मुख्य वायु प्रदूषक	प्रमुख स्रोत
1. अवलम्वित कण, धुआं एवं धूल के कण	खनिज एवं पेट्रोलियम ईंधन, खनन एवं धातु कर्म सक्रियाएँ, कोक ओवन, हाटमिक्स संयंत्र, स्टील व फाउन्ड्रीज उद्योग, कार्बन ब्लैक, स्टोनक्रसिग सीमेन्ट उद्योग, तापीय विद्युत घर।
2. कार्बन मोनोऑक्साइड	खनिज एवं पेट्रोलियम ईंधन कोकओवन, हाटमिक्स प्लान्ट, स्टील व फाउन्ड्रीज, कचरा जलाना।

3.	सल्फर डाइऑक्साइड	खनिज (कोयला) व पेट्रोलियम ईंधन, गन्धक का तेजाब बनाने का का संयंत्र, तापीय विद्युतघर, पेपर व लुगदी उद्योग।
4.	नाइट्रोजन के ऑक्साइड	उच्च ताप पर ऑक्सीजन व नाइट्रोजन का दहन, खनिज एवं पेट्रोलियम ईंधन।
5.	हाइड्रोजन सल्फाइड	रेयान (कृत्रिम धागा) उद्योग, पेपर व लुगदी उद्योग, पेट्रोलियम शोधन।
6.	कार्बन डाइसल्फाइड	रेयान (कृत्रिम धागा), उद्योग पेपर व लुगदी उद्योग।
7.	मरेकप्टान	पेपर व लुगदी उद्योग।
8.	हाइड्रोजन क्लोराइड	नमक का तेजाब बनाना, कॉस्टिक सोडा संयंत्र।
9.	क्लोरीन	कॉस्टिक सोडा उद्योग, कीटनाशक उद्योग, पेपर एवं लुगदी उद्योग।
10.	फ्लोरीन व फ्लोराइड	रसायनिक उद्योग (फास्फेटयुक्त रा० उर्वरक)।
11.	हाइड्रोजन फ्लोराइड	इलेक्ट्रोप्लेटिंग।
12.	अमोनिया	रासायनिक उद्योग, (नाइट्रोजनयुक्त रा० उर्वरक), पेट्रोलियम उद्योग एवं शोधन।
13.	ऐलिफेटिक एवं ऐरोमेटिक हाइड्रोकार्बन तथा पॉलीसाइक्लिक ऐरोमेटिक हाइड्रोकार्बन (पी० ए० एच०)	पेट्रोलियम उद्योग एवं शोधन, खनिज एवं पेट्रोलियम ईंधन, वार्निश एवं रंग उद्योग, एल्युमिनियम उद्योग।
14.	स्टाइरीन	मोटर वाहन।
15.	सीसा	पेट्रोल चलित वाहन।
16.	परॉक्सीऐसीटल नाइट्रेट (पी० ए० एन०)	मोटर वाहनों द्वारा उत्सर्जित हाइड्रोकार्बन व नाइट्रोजन के ऑक्साइड की प्रकाश की किरणों की उपस्थिति में हुई रसायनिक क्रियाओं द्वारा।
17.	पालीक्लोरीनेटेड बाइफिनाइल (पी० सी० बी०)	कचरा दहन, खनिज एवं पेट्रोलियम ईंधन।
18.	कीटनाशक पदार्थ (डी० डी० टी०, बी० एच० सी० मेलासिथयान पेराथियान मिथाइल आइसोसाइनेट (मिक)	कीटनाशक उद्योग।
19.	भारी धातुयें (लोहा, जस्ता, निकिल, तांबा, सीसा, क्रोमियम, आर्सेनिक, कैडमियम)	खनन एवं धातुकर्म संक्रियाएं, इलेक्ट्रोप्लेटिंग तापीय विद्युत् उत्पादन।
20.	सिलिका	स्टोन क्रशिंग, स्लेट एवं पेंसिल उद्योग।

21. ऐस्वेस्टस — ऐस्बेस्टस उद्योग।

22. जिक ऑक्साइड एवं ऐन्टीमनी — दियासलाई उद्योग।

23. मर्करी (पारद) — कॉस्टिक सोडा, रसायनिक उद्योग, दवाई उद्योग।

फ्लोरीन या फ्लोराइड द्वारा "फ्लोरोसिस" नामक बीमारी होती है। इस रोग में दाँतों तथा हड्डियों का क्षरण होने लगता है। कुछ भारी तत्व (जैसे—कैडमियम सीसा, मर्करी, आर्सेनिक) आदि शरीर पर विषैले प्रभाव डालते हैं जो कि जोड़ों के दर्द, गुर्दे (वृक्क) हृदय, मस्तिष्क तथा तंत्रिका तंत्र की बीमारियों के लिए उत्तरदायी है। सीसे (Pb) से शरीर की बिटामिन B-12 को अवशोषित करने की क्षमता कम हो जाती है। जिंक ऑक्साइड के द्वारा फेफड़ों के रोगों की सम्भावना रहती है।

ऐन्टीमनी द्वारा गले की खराश, बेहोशी आँखों में जलन आदि उत्पन्न होती है। क्रोमियम के द्वारा चर्म-रोग तथा फेफड़ों का कैंसर, नाक, कान, गले की बीमारियाँ हो सकती हैं। कीटनाशक पदार्थों द्वारा चर्म रोग, फेफड़ों, पेट, हृदयरोग तथा स्नायुतंत्र के विकार हो सकते हैं। कीटनाशक रसायनों का पारिस्थितिक तंत्र में प्रवेश मार्ग तथा मानव शरीर को प्रभावित करने वाले कारकों को चित्र-3 में दर्शाया गया है।
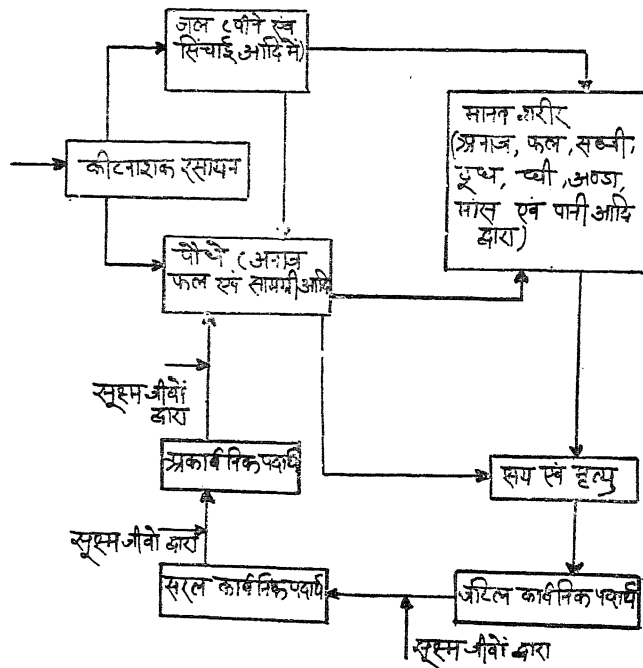
चित्र-3

कीटनाशक रसायनों के बहुआयामी और व्यापक क्षेत्र को समझने के लिए इसके वर्गीकरण एवं रसायनिक गुणधर्म की जानकारी अत्यावश्यक है। रसायनिक संरचना एवं प्रयोग क्षेत्र के आधार पर इसका अलग-अलग वर्गीकरण कर सकते हैं। रसायनिक दृष्टिकोण से क्लोरीनयुक्त हाइड्रोकार्बन तथा कार्बनिक फास्फेट, दो वर्गों के, मुख्यतया कीट-नाशक रसायन होते हैं। भूमिका के आधार पर इन्हें कीटनाशक (Insecticide), खरपतवार नाशक (Herbicide), कवकनाशक (Fungicide) और धूमक (Furmigant) आदि वर्गों में विभाजित किया गया है। संरचना की दृष्टि से सामान्यतया कीट रसायनों में कार्बन का ढाँचा तथा मुख्य सक्रिय भाग (Functional group) विद्यमान रहता है। जटिल रसायनिक संरचना के कारण कीटनाशकों का प्रकृति में अपघटित न होना या अधिक समय में आंशिक अपघटन होना ही जीवों पर हानिकारक प्रभाव का आधार है।

बहुधा कीटनाशक रसायन इतने अधिक विषैले होते हैं कि इनकी उपस्थिति में सूक्ष्मजीवों की मृत्यु हो जाती है। ऐसे रसायनों पर पर्यावरणीय कारकों जैसे—ताप, प्रकाश एवं विभिन्न रसायनिक क्रियाओं का प्रभाव बहुत कम होता है। अगर प्रभाव पड़ता भी है तो उनसे उत्पन्न होने वाले पदार्थ भी विषैले होते हैं जो कि जैविक कारकों के लिए हानिकारक हैं। ऐसे सूक्ष्मजीव (Micro organism) जो प्रतिरोधक शक्ति रखते हैं तथा एन्जाइम की उप-स्थिति में मुख्य सक्रिय रसायनिक भाग को पहले निष्क्रिय करते हैं तथा धीरे-धीरे जटिल कार्बन कड़ी को सरल कार्बन कड़ी में परिवर्तित करने की क्षमता रखने हैं, वही विषैले रसायनों का सामना कर सकते हैं। कभी-कभी एन्जाइम की कमी या अनुपस्थिति के कारण यह कार्य अधूरा रह जाता है तथा हानिकारक प्रभाव की प्रबल सम्भावना विद्यमान रहती है।

पारिस्थितिक तंत्र में कीटनाशक रसायनों का प्रवेश मुख्य रूय से पौधों एवं जल द्वारा होता है। वहाँ ये कोशिकाओं में एकत्रित होकर जैवरसायनिक क्रियाओं को प्रभावित करके विभिन्न बीमारियों को उत्पन्न करते हैं। भोपाल गैस त्रासदी के लिए उत्तरदायी मिथाइल आइसो साइनेट (मिक) के व्यापक प्रभाव का रूप अभी भी देखा जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप हजारों व्यक्ति काल कवलित हो गये और अधिकतर लोगों में आँखों, फेफड़ों की बीमारियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, यहाँ तक कि गर्भस्थ शिशुओं पर भी विशेष प्रभाव देखे जा रहे हैं।

वायु में अवलम्बित महीन कोयला युक्त धूल के कणों द्वारा न्यूमोनियोकोसिस (काला फेफड़ा) कपास के रेशों की धूल द्वारा विसिनोसिस (ब्राउन फेफड़ा) तथा महीन व कृतिम धागों की रेशों द्वारा सिलिकोसिस तथा तपेदिक जैसी घातक बीमारियाँ हो सकती हैं।

क्लोरोफ्लोरोकार्बन्स (CFCs), जिनका उपयोग रेफ्रीजेरेटरों-एयरकंडीशनरों आदि में शीतलक के रूप में किया जाता है, के लगातार वायुमण्डल में मिलने से वायुमण्डल के ओजोन स्तर में विशेष कमी आ रही है जो वैज्ञानिकों के लिये विशेष चिन्ता का विषय बना हुआ है। यदि ओजोन की मात्रा में 1% की कमी हो जाय तो पृथ्वी पर पहुँचने वाली पराबैंगनी किरणों की मात्रा में 3% की वृद्धि हो जायेगी जिसके फलस्वरूप आँखों के ट्यूमर व त्वचा रोगों में 2% तथा त्वचा कैंसर में 5% की वृद्धि हो जायेगी। इसके अतिरिक्त पैदावार कम होंने के साथ-साथ भूमि की उपजाऊ शक्ति भी कम हो जायेगी। इसी के परिणामस्वरूप उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों पर जमी बर्फ पिघल जाने से समुद्रों के जलस्तर में लगभग 25 सेमी० से 1.5 मीटर तक वृद्धि हो जायेगी जिसके फलस्वरूप निकटवर्ती नगरों व द्वीपों के डूबने का खतरा उत्पन्न हो जायेगा। उदाहरणार्थ—भारत वर्ष में CFCs प्रति व्यक्ति वार्षिक खपत केवल 10

ग्राम है जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में 3000 ग्राम है। वर्तमान में तीन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा 90% वितरण CFCs का किया जा रहा है। मॉन्ट्रियल (कनाडा) की बैठक में यह निश्चय किया गया है कि क्लोरोफ्लोरो-कार्बन की खपत को सन् 1999 तक 50% कम कर दिया जाय। ओजोन के स्तर में कमी के लिए वायुयान के धुयें, जेटविमान और राकेट द्वारा छोड़े गये धुयें भी उत्तरदायी हैं।

वायु प्रदूषण के कारण पृथ्वी के ताप में भी वृद्धि हो रही है और इसका कारण है ग्रीनहाउस इफेक्ट या 'हरित पौध गृह प्रभाव'। अन्धाधुन्ध वनोन्मूलन के फलस्वरूप प्रकाशसंश्लेषण की क्रिया में कमी आती जा रही है जिसके फलस्वरूप कार्बन डाइऑक्साइड की सान्द्रता वातावरण में लगातार बढ़ रही है।

सारणी 2

	जलप्रदूषक तत्व	स्रोत
1.	निलम्बितकण घुलनशील व अघुलनशील अकार्बनिक तथा कार्बनिक पदार्थ, गँदलापन	जल प्रयोग में लाने वाले लगभग सभी उद्योग।
2.	सोडियम एवं पोटेशियम	कॉस्टिक सोडा उद्योग, चट्टानों का क्षरण।
3.	कैल्शियम एवं मैग्नीशियम सल्फेट	रसायनिक उर्वरक व अन्य उद्योग, कीटनाशक उद्योग, कॉस्टिक सोडा।
4.	क्लोराइड	कॉस्टिक सोडा उद्योग, वस्त्र उद्योग, रंजक (Bleaching Powdcr) उद्योग।
5.	सल्फाइड	पेट्रोलियम रसायन व शोधन, संयुक्त ऊनी मिल, चमड़ा उद्योग।
6.	फॉस्फेट	फॉस्फेटयुक्त रसायनिक उर्वरक, धातुकर्म इलेक्ट्रोप्लेटिंग (विद्युत् लेपन), कीटनाशक व दवाई उद्योग।
7.	नाइट्रेट, नाइट्राइट व नाइट्रोजन	कोकओवन, पेट्रोलियम, कीटनाशक रसायनिक उद्योग।
8.	यूरिया	यूरिया उर्वरक उद्योग।
9.	सिलिनियम	तापीय विद्युत् उत्पादन।
10.	बोरॉन	चर्म उद्योग।
11.	लिग्निन	पेपर व लुग्दी उद्योग।
12.	टेनिन	पेपर व चर्म उद्योग।
13.	रंग व रंजक	वस्त्र, चर्म, खाद्य संसाधन व शीतल पेय उद्योग।
14.	अम्लीय पदार्थ	सल्फ्यूरिक, हाइड्रोक्लोरिक व नाइट्रिक अम्ल।
15.	क्षारीय पदार्थ	कॉस्टिक सोडा व अन्य रसायनिक उद्योग।

वायुप्रदूषक शीतकाल में वायु वेग के प्रभाव, ताप व घनत्व के कारण वायुमण्डल में कुछ ऊँचाई से वापस नीचे आ जाते हैं जिससे उनका केवल वायुमण्डल में निचले हिस्से में एक निश्चित क्षेत्र में ही फैलाव हो जाता है। इस स्थिति को उलट गया—इनवर्जन—की संज्ञा दी जाती है जिसके फलस्वरूप निचले वायुमण्डलीय वातावरण में वायु प्रदूषण का प्रकोप और अधिक दुष्प्रभाव डालता है।

जल प्रदूषण का प्रमुख स्रोत है—घरेलू मल-मूत्र, औद्योगिक वहिस्राव, फसलों एवं खेतों में प्रयुक्त उर्वरक एवं कीटनाशक पदार्थ। घरेलू मल एवं गन्दे जल में उपस्थित मुख्य प्रदूषक, फॉस्फेट, नाइट्रोजन, नाइट्रेट, निलम्बित कण, घुलनशील तथा अघुलनशील ठोस पदार्थ, फीनोल डिटर्जेन्ट्स, तेल एवं ग्रीस तथा कुछ भारी धातु तत्व हैं। मुख्य जलप्रदूषकों को सारणी-2 में प्रदर्शित किया गया है।

जल में उपस्थित गन्दगी ही उसको उपयोग के अनुपयुक्त बनाती है। यह गन्दगी पानी में अघुलनशील कार्बनिक-अकार्बनिक पदार्थों के कारण हो सकती है। ये रसायनिक पदार्थ जल में घुलित ऑक्सीजन का उपयोग अपने ऑक्सीकरण तथा विघटन की क्रिया में करके जल में आवश्यक ऑक्सीजन की मात्रा को कम कर देते हैं। जिससे कुल रसायनिक ऑक्सीजन माँग (पानी में उपस्थित कार्बनिक या अकार्बनिक पदार्थों के रसायनिक ऑक्सीकरण के लिए आवश्यक ऑक्सीजन की खपत) तथा जीव रसायनिक ऑक्सीजन माँग (जल में उपस्थित जीवोपयोगी कार्बनिक पदार्थों का जीव रसायनिक ऑक्सीकरण में कुल ऑक्सीजन की खपत) में वृद्धि होने के कारण जल में उपस्थित जलीय

पादप व प्राणियों के लिए आवश्यक आक्सीजन की मात्रा में कमी हो जाती है तथा जलीय प्राणियों की मृत्यु भी हो सकती है। इसके अलावा इनका प्रभाव पानी के स्वाद, गन्ध, रंग एवं अम्लीयता तथा क्षारीयता के साथ-साथ कठोरता पर भी पड़ता है। जल में उपस्थित कैल्शियम एवं मैग्नीशियम के क्लोराइड व सल्फेट लवण कठोरता के लिए उत्तरदायी हैं। परिणामस्वरूप जल स्नान करने व कपड़े आदि साफ करने के अनुपयुक्त हो जाता है। इन लवणों से युक्त जल का उपयोग वायलर आदि पर भी दुष्प्रभाव डालता है। मैग्नीशियम तथा सल्फेट की उपस्थिति से आतों में जलन पैदा हो सकती है। नाइट्रेट की उपस्थिति से बच्चों में मीथेमोग्लोबिनेमिया नामक बीमारी हो सकती है। कैडमियम द्वारा इटाई-इटाई रोग हो सकता है। सोडियम, पोटेशियम, वोरॉन, क्लोराइड एवं सल्फेट आदि का भूमि में अनुपात बिगड़ जाने से उर्वरा शक्ति पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। तेल एवं ग्रीस की उपस्थिति से जल के ऊपरी सतह पर एक परत बन जाने के कारण सूर्य का प्रकाश पानी की निचली सतहों तक ठीक प्रकार से नहीं पहुँच पाता है जिससे जलीय पादपों की प्रकाशसंश्लेषण क्रियाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

कभी-कभी जल में उपस्थित पोषक तत्वों जैसे—नाइट्रोजन तथा फॉस्फेट की मात्रा अधिक हो जाने पर अधिक मात्रा में शैवाल तथा अन्य जलीय पादपों का उत्पादन प्राकृतिक सन्तुलन में अवरोध उत्पन्न कर देता है। इस स्थिति को बहुलीकरण कहते हैं।

जल में नाइट्रेट की मात्रा अधिक होने के कारण नाइट्रेट का एक भाग आतों में पहुँचकर नाइट्रोसोएमीन में परिवर्तित होकर पेट का कैंसर उत्पन्न कर सकता है। इसी प्रकार पारदीय प्रदूषण से मछुआरों में मीनामाता रोग की भीषणता प्रमुख उदाहरणों में से एक है।

आयनीकरण विकिरण ऊर्जा का प्रमुख स्रोत है। इसका हानिकारक प्रभाव साइनाइड्स आदि से 1000 लाख गुना ज्यादा होता है। रेडियोऐक्टिव प्रदूषण का खतरा मुख्य रूप से आणविक युद्ध व आणविक हथियार के परीक्षण में निहित होता है। समस्या की गम्भीरता को इस तथ्य से आँका जा सकता है कि प्लूटोनियम की अर्द्धआयु (Half life) 24, 360 वर्ष है और इस प्रकार इसके हानिकारक प्रभाव कई वर्षों तक उपस्थित रह सकते हैं। थोड़े समय का भी उद्भासन (Exposure) जीवों में कई पीढ़ियों तथा स्थाई आनुवंशिक परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है।

मानव शरीर में भ्रूण और गर्भाशय आयनीकरण सर्वाधिक प्रभावित होते हैं। कोशिका विभाजन के समय कोशिकाओं में विकिरण ग्राह्यता सर्वाधिक होती है और यही कारण है कि कम उम्र के लोगों में विकिरण से उत्पन्न कैंसर पैदा करने वाले रसायनों के प्रति अधिक संवेदनशीलता होती है।

अनेक प्रकार के वाहनों, लाउडस्पीकर कारखानों के साइरन तथा मशीनों से ध्वनि प्रदूषण होता है। ध्वनि की लहरें जीवधारियों की उपापचय क्रियाओं को प्रभावित करती हैं। अधिक तेज ध्वनि से मनुष्य की सुनने की शक्ति का ह्रास हो जाता है, नींद ठीक प्रकार से नहीं आती जिससे नाड़ी संस्थान सम्बन्धी एवं नींद न आने के रोग उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी पागलपन का रोग उत्पन्न हो जाता है।

पर्यावरण का मसला अब सिर्फ प्रदूषित नदियों, उजड़ते जंगलों और औद्योगिक शहरों तक ही सीमित नहीं रह गया है। इस समय सम्पूर्ण पृथ्वी ही पर्यावरणवादियों की चिन्ता का विषय बन गयी है। इसी वर्ष जून माह में ब्राजील में स्थित रियोडिजिनेरो में होने वाला 'पृथ्वी शिखर सम्मेलन' इस तथ्य की गम्भीरता को व्यक्त करता है कि पर्यावरण का मसला कितना गम्भीर है। संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वाधान में होने वाली इस बैठक में हजारों पर्यावरणविदों, वैज्ञानिकों के भाग लेने की सम्भावना है। इस बैठक की उपयुक्तता का पता इस तथ्य से भी लगता है कि कौजूदा समय में वायुमण्डल में कार्बनडाइऑक्साइड की जो मात्रा है, वह 18वीं सदी की तुलना में 25% ज्यादा है। पूरे विश्व की उत्सुकता इस बैठक के प्रति है परन्तु कुछ विकासशील देशों को आशंका है कि इस बैठक के माध्यम से अमेरिका तथा कुछेक अन्य विकसित देश तृतीय विश्व के देशों के लिए ऐसे प्रतिमान निर्धारित कर सकते हैं जो उनकी विकास योअनाओं और औद्योगिक प्रगति में गतिरोध उत्पन्न कर सकते हैं। इस सम्मेलन में टेक्नोलॉजी (तकनीकी) और ऋण की उपलब्धता को पर्यावरण से जोड़े जाने की चर्चा है। इस बैठक में जैविक विविधता के अलावा आनुवंशिक संसाधनों के विषय पर भी चर्चायें होंगीं।

इससे पहले कि पर्यावरण प्रदूषण रूपी दानव मानव अस्तित्व को समाप्त कर दे. हमें पर्यानरण को प्रदूषण-मुक्त करने के उपायों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा।

○○

परिषद् का पृष्ठ

विज्ञान परिषद् की बैलाडीला शाखा से

(1) वर्ष भर का लेखा जोखा

परिषद् शाखा के तत्वाधान में वर्ष 1991 में निम्न संगोष्ठियाँ एवं क्रिया कलाप किये गये, बिवरण इस प्रकार है :

1. 14 मार्च 1991 को शाखा का गठन।
2. 10 अप्रैल 91 को कार्यकारिणी समिति के पदाधिकारियों का चुनाव।
3. 6 मई 1991 को मुख्य चिकित्साधिकारी डॉ० देशदीपक, परियोजना अस्पताल द्वारा 'मस्तिष्क ज्वर' पर अभिभाषण।
4. 21 जुलाई 91 को जलजन्य रोग पर 'स्वास्थ्य बुलेटिन' का सघन प्रसारण।
5. 5 अगस्त 91 को वरिष्ठ प्रबंधक (औद्योगिक), कम्प्यूटर विभाग के श्री ए० पी० नेटके द्वारा 'कम्प्यूटर के इतिहास एवं दैनिक जीवन में अहं भूमिका' पर व्याख्यान।
6. 24 अगस्त 91 को विज्ञान स्मारिका 'जिज्ञासा' हेतु मुख्य संपादक, संपादक मण्डल एवं वृक्षारोपण समिति का गठन।
7. 3 सितम्बर 91 को ध्वनि प्रदूषण पर लघु विज्ञान की फिल्म का प्रदर्शन एवं मुख्य चिकित्साधिकारी द्वारा व्याख्यान।
8. 7 अक्टूबर 91 को वन्य जीव संरक्षण पर लघु विज्ञान फिल्म का प्रदर्शन एवं पशु चिकित्साधिकारी डॉ० एस० एन० पाण्डेय, म० प्र० शासन, किरन्दुल द्वारा अभिभाषण।
9. डॉ० अम्बेडकर जन्म शताब्दी समारोह के अवसर पर 31 अक्टूबर को अन्तर्विद्यालयीन विज्ञान एवं निबन्ध प्रतियोगिता का आयोजन एवं पुरस्कार वितरण।
10. डॉ० अम्बेडकर जन्म शताव्दी समारोह के अवसर पर 11 नवम्बर को अन्तर्विद्यालयीन विज्ञान क्विज प्रतियोगिता का आयोजन एवं पुरस्कार वितरण।
11. 19 नवम्बर को राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम, भारत सरकार, नई दिल्ली के सह निदेशक डॉ० एस० के० चावज द्वारा मलेरिया पर सेमिनार।
12. 22 दिसम्बर 1991 को रामानुजन जन्मोत्सव, 'राष्ट्रीय विज्ञान दिवस' (28 फरवरी) विज्ञान वाद-विवाद एवं अन्य कार्यक्रम।

आशावान हूँ कि नये सभ्यों को पंजीकृत कर लेगें एवं नवीनीकरण करके सम्बन्धित पत्रिका सभ्यों को प्रेषित करेंगे।

—प्रस्तुति : ओम प्रकाश गुप्ता, सचिव, विज्ञान परिषद् की बैलाडीला शाखा

(2) विज्ञान परिषद् की बैलाडीला शाखा से

गत 6 मई 1991 को, बस्तर में व्याप्त महामारी 'मस्तिष्क ज्वर' पर परिषद् शाखा बेलाडीला द्वारा एक व्याख्यान का आयोजन किया गया।

आयोजन की अध्यक्षता **डॉ० एस० एम० आर० नायडू** ने की। प्रारम्भ में शाखा परिषद् के प्रधान मन्त्री **श्री ओम प्रकाश गुप्ता** ने विज्ञान परिषद्, प्रयाग के परिचय एवं इतिहास की संक्षिप्त चर्चा करते हुए अपने शाखा परिषद् के उद्देश्य एवं भावी कार्यक्रमों पर प्रकाश डाला।

तदनन्तर बेलाडीला लोह अयस्क परियोजना अस्पताल के मुख्य चिकित्साधिकारी **डॉ० देश दीपक** ने मस्तिष्क ज्वर पर अत्यन्त रोचक एवं ज्ञानवर्धक व्याख्यान दिया। उन्होंने कहा कि नागरिकों में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध न होने के कारण सम्पूर्ण बस्तर में 500 व्यक्तियों की मृत्यु हो चुकी है।

रोग के प्रारम्भिक लक्षण के बारे में चर्चा करते हुए उन्होंने बताया कि रोगी को प्रारम्भ में सर्दी लगकर ज्वर (104°), जोड़ों में दर्द, खाँसी, जुकाम, भयंकर सिर दर्द, मस्तिष्क में उलझन, याददाश्त कमजोर रहना, गले व गर्दन में जकड़न हो जाता है। मुँह के अन्दर एवं चेहरे पर लाल चकत्ते निकल आते हैं।

यह रोग छुआछूत का रोग है अर्थात् यह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में वायु द्वारा नाक, गले के माध्यम से शरीर में पहुँच जाता है।

इसके उपचार के बारे में चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि इस महामारी से बचने के लिए सल्फोडायजिन, पेनिसिलीन (24 लाख यूनिट प्रतिदिन), एन्फिसिलीन (12 ग्राम प्रतिदिन) औषधियां रोगी को लेना आवश्यक है। यदि इसका उपचार सही समय पर कर लिया जाय तो 15% रोगी ठीक हो जाते हैं।

उन्होंने आगे बताया कि यह रोग 1-2 वर्ष के बच्चों में अधिक पाया जाता है। यह रोग सर्दियों में फरवरी-मार्च महीने में एवं शरद् ऋतु में सितम्बर-अक्टूबर में फैलता है।

अन्त में **डॉ० नायडू** ने अपने अध्यक्षीय भाषण में परिषद् के सभ्यों को प्रेरित किया कि बैलाडीला के नागरिकों में इस रोग के प्रति जागरूकता उत्पन्न करें एवं कहीं किसी नागरिक में रोग के लक्षण दिखाई दें तो अस्पताल लाकर डॉक्टर के समक्ष प्रस्तुत करें एवं उचित उपचार के लिए रोगी को सलाह भी दें।

प्रो० एच० के० गजेन्द्र ने आयोजन की सफलता पर उपस्थित नागरिकों एवं सभ्यों को सहयोग के लिए धन्यवाद ज्ञापित किया।

(3) सम्भावित स्रोतों के आधार पर परिषद् के भावी कार्यक्रमों को कार्य क्षेत्र में परिणत हेतु गोष्ठी

15 जुलाई 1991, दिन सोमवार को स्थानीय अरविन्द महाविद्यालय में परिषद् की बैठक सम्पन्न हुई।

शाखा परिषद् के प्रधान मन्त्री **श्री ओम प्रकाश गुप्ता** ने सम्भावित स्रोतों के आधार पर परिषद् के भावी कार्यक्रमों जैसे वैज्ञानिक फिल्मों का प्रदर्शन, विज्ञान नाटक, छात्रों में विज्ञान लेखन प्रतियोगिता, कवि गोष्ठी, वैज्ञानिक लेखों का प्रकाशन, पर्यावरण संरक्षण हेतु वृक्षारोपण कार्यक्रम, आधुनिक युग में कम्प्यूटर की भूमिका, एवं व्याख्यान-माला पर विस्तारपूर्वक चर्चा की। परिषद् के सभी सभ्यों द्वारा प्रत्येक विषय पर विचार-विमर्श किया गया।

सभा के अध्यक्ष **डॉ० एस० एम० आर० नायडू** ने कार्यक्रमों की प्रासंगिकता के सम्बन्ध में अपने विचार रखे।

अन्त में सभा के संचालक श्री पी० एम० मैथ्यूज द्वारा परिषद् के सभी सभ्यों को धन्यवाद ज्ञापित किया गया।

—प्रस्तुति : डॉ० लाल चन्द्र राजपूत

○○

विज्ञान परिषद् की वाराणसी शाखा से

डॉ० श्रवण कुमार तिवारी

विज्ञान परिषद् वाराणसी शाखा की वर्ष 1992-93 की वार्षिक बैठक दिनांक 14.5.92 पूर्वाह्न 11.00 बजे, विज्ञान संकाय के भौतिकी विभाग में, **प्रो० महाराज नारायण मेहरोत्रा** की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। बैठक में परिषद् के 14 सदस्य उपस्थित रहे। कार्यवाही का विवरण नीचे दिया जा रहा :

1. आरम्भ में अध्यक्ष महोदय ने उपस्थित सदस्यों का स्वागत करते हुए उन्हें हिन्दी में विज्ञान लेखन एवं प्रचार-प्रसार के लिए उद्बोधित किया। उन्होंने परिषद् आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए सदस्यों की संख्या बढ़ाने का आग्रह किया।

2, तदनन्तर, अध्यक्ष की अनुमति से परिषद् के सचिव **डॉ० श्रवण कुमार तिवारी** ने परिषद् की गत वर्ष की गतिविधियों का विवरण प्रस्तुत किया और बताया कि इस समय परिषद् में बीस आजीवन तथा आठ वार्षिक सदस्य हैं। इसके बाद उन्होंने अध्यक्ष महोदय से आग्रह किया कि आगामी वर्ष के लिये परिषद् की कार्यकारिणी के सदस्यों तथा पदाधिकारियों का चुनाव कर दिया जाना चाहिए।

3. चुनाव प्रक्रिया प्रारम्भ करते हुए अध्यक्ष महोदय ने कहा कि मैं गत कई वर्षों से परिषद् का अध्यक्ष हूँ, अब मैं विश्वविद्यालय से अवकाश भी ग्रहण कर चुका हूँ अत: मेरा सुझाव है कि अब नये लोग आगे आयें और परिषद् को सक्रियता प्रदान करें। मैं अपनी ओर से विज्ञान परिषद् की वाराणसी शाखा के अध्यक्ष पद के लिए विज्ञान संकाय के प्रमुख **प्रो० देवेन्द्र कुमार राय** का तथा उपाध्यक्ष पद के लिए भू-भौतिकी विभाग के **प्रो० ब्रज रत्न दास गुप्त** का नाम प्रस्तावित करता हूँ।

उपस्थित सदस्यों ने करतल ध्वनि से सर्वसम्मति से इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। तदनन्तर अध्यक्ष जी ने कहा कि सचिव का कार्य **डॉ० श्रवण कुमार तिवारी** पूर्ववत करते रहें पर मेरा सुझाव है कि इस पद का नाम 'प्रधान सचिव' रखा जाय और तिवारी जी की सहायता के लिये एक/दो सहायक सचिव के पद बनायें जायँ।

अध्यक्ष जी के सुझाव पर सर्वसम्मति से निम्नलिखित दो सहायक सचिवों का चयन किया गया :

(1) डॉ० ब्रह्मेश्वर मिश्र, चिकित्सा विज्ञान संस्थान

(2) डॉ० रामायण त्रिपाठी, कमच्छा कम्प्लेक्स (शेष पृष्ठ 32 पर)

सचिव, विज्ञान परिषद् प्रयाग, वाराणसी शाखा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-211005

विज्ञान परिषद् की बैलाडीला शाखा से

ओम प्रकाश गुप्ता

दिनांक 30.3.92 को शाखा परिषद् के कार्यकारिणी सदस्यों का चुनाव हुआ जो निम्नवत् है :

1. सभापति

डॉ० देश दीपक, मुख्य चिकित्साधिकारी, बैलाडीला लौह अयस्क परियोजना, किरन्दुल-बस्तर, (म० प्र०) 494556

2. उपसभापति

   1. श्री बी० रामचन्द्रन, मुख्य खनन अभियन्ता (सुरक्षा एवं परिशिक्षण), बैलाडीला लौह अयस्क परियोजना, किरन्दुल, बस्तर (म० प्र०)-944556
   2. श्री एच० के० एस० गजेन्द्र, प्राध्यापक, शा० अरविन्द महाविद्यालय, किरन्दुल

3. प्रधानमन्त्री

श्री पी० एस० मैथ्यूज, व्याख्याता, शासकीय कन्या उ० मा० विद्यालय, विद्यानगर, किरन्दुल, बस्तर (म० प्र०) 494556

4. संयुक्त मन्त्री

श्री ओम प्रकाश गुप्ता, टीजीटी, बैं० लौ० अयस्क परियोजना, सी० से० स्कूल, किरन्दुल,बिस्तर (म०प्र०) 494556

5. कोषाध्यक्ष

डॉ० लालचन्द्र राजपूत,प्राध्यापक, शा० अरविन्द महाविद्यालय, किरन्दुल, बस्तर (म० प्र०)-494556

परामर्श समिति

1. डॉ० एस० एन० अग्रवाल, सर्जन
2. श्री आर० एन० शुक्ला, राजभाषा अधिकारी
3. श्री प्यारे लाल वर्मा, प्राध्यापक
4. श्री एस० बेन्जामिन, शिक्षक
5. श्री बी० पी० साहू, शिक्षक
6. श्री पी० गोपाल कृष्णन (कार्मिक अधिकारी)
7. श्री ए० सारथी (शाखा प्रबन्धक, भारतीय स्टेट बैंक, किरन्दुल)

विज्ञान वार्ता

डॉ० अरुण आर्य

(1) कुछ तथ्य सूरज के बारे में

सुबह पूर्व से निकलता हुआ आग का गोला अर्थात् सूर्य को कौन नहीं जानता, लेकिन क्या आप जानते हैं कि सूर्य पृथ्वी से 150×10^6 कि० मी० की दूरी पर है ? सूर्य पृथ्वी से 3,30,000 गुना भारी है। सूर्य का अर्धव्यास पृथ्वी के अर्धव्यास से 109 गुना है (7×10^8 मी०)। सूर्य की एक किरण एक मिनट में 11160000 कि० मी० यात्रा करती है। सूर्य के प्रकाश को पृथ्वी तक पहुँचने में 8 मिनट 20 सेकेन्ड का समय लगता है। सूर्य का द्रव्यमान 2×10^{30} कि० ग्राम हैं। सूर्य लगभग 10^{26} जूल प्रति से० ऊर्जा छोड़ता है। सूर्य में हाइड्रोजन की मात्रा इतनी अधिक है कि सूर्य 30 अरब लाख वर्ष तक ऊर्जा दे सकता है। सूर्य प्रति सेकेन्ड एक ट्रिलियन पाउन्ड हाइड्रोजन उपयोग में लाता है। सूर्य की बाहरी पर्त फोटोस्फीयर और भीतर की क्रोमोस्फीयर कहलाती है। फोटोस्फीयर का तापमान 6000 के० तथा लाल रंग के क्रोमोस्फीयर का 32,400 के० और भीतरी कोरोना का तापमान 2,700,000 केलविन है। कोरोना को हम केवल सूर्य ग्रहण के समय देख सकते हैं। सूर्य बिन्दु (सन स्पॉट्स) कुछ काले धब्बे हैं जो हमें सतह पर दिखाई देते हैं। वे गहरे रंग के हैं क्योंकि वे ठन्डे हैं (उनका तापमान लगभग 1500 के० है)। अप्रैल 1974 में नापे गये ऐसे धब्बे का आकार 181300 लाख वर्ग किलोमीटर था, जो कि सूर्य की दिखाई देने वाली सतह का 0.7 प्रतिशत था। इन धब्बों की आयु कुछ घन्टों से कुछ सप्ताह तक हो सकती है। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर एक चक्कर लगाने में 365.25 दिन लगती है।

(2) निष्क्रिय धूम्रपान

विश्व स्वास्थ्य संगठन के एक सर्वेक्षण के अनुसार 1990 के वर्तमान दशक में हर साल तीस लाख लोग धूम्रपान की वजह से असमय ही मौत के मुंह में चले जायेंगे। संगठन ने धूम्रपान न करने वाले लोगों के स्वास्थ्य के प्रति व निष्क्रय धूम्रपान से होने वाले नुकसान के प्रति गहरी चिन्ता जाहिर की है। धूम्रपान न करने वालों का यह मौलिक हक है कि वे अपने फेफड़ों को किसी और के शौक व तफरीह का निशाना न बनने दें।

सदस्य देशों को विश्व स्वास्थ्य संघगठन ने हिदायत दी है कि वे अपने-अपने राष्ट्रों में ऐसे सख्त इन्तजाम करें जिससे लोग बसों, रेलगाड़ियों व अन्य आम स्थानों पर धूम्रपान न कर सकें। धूम्रपान करने के लिए रेलगाड़ियों और पार्कों में अलग से कक्ष बनाकर इसकी व्यवस्था की जा सकती है।

लोगों को इस बात के लिए भी शिक्षित किया जाना चाहिये कि वे निजी वाहनों व अपने घर की चार दिवारियों व बन्द आवासों में धूम्रपान न करें। निष्क्रिय धूम्रपान उनके परिवार के लिए, परिजनों व बालकों के लिए उतना ही घातक है जितना कि उनके अपने लिए (सक्रिय) धूम्रपान।

प्रवक्ता वनस्पति विज्ञान विभाग, विज्ञान संकाय, म० स० राव विश्वविद्यालय, बड़ोदरा-390002

(3) मेंढक की टाँग

'नेचर' ('Nature') पत्रिका के 355 वें अंक में प्रकाशित शोधपत्र के अनुसार उत्कल विश्वविद्यालय, भुवनेश्वर के डॉ० पी० मोहन्ती हेजमाडी, एस० के० दत्ता और पी० महापात्र ने विटामिन ए के प्रयोग से टैडपोल की पूंछ द्वारा मेढक की टांग बनाने में सफलता प्राप्त की है।

'विटामिन ए' के प्रयोग से 30 से 70 प्रतिशत मेढक के बच्चे मर गये। लेकिन जो बाकी बचे उनके पूँछ की वृद्धि में कमी हुई, परन्तु टांगों का समुचित विकास हुआ। जहां टैडपोल में दो टाँगें होनी चाहिये, सात टाँगें तक विकसित हुईं। चूंकि विदेशों में मेढक की टांग बड़े रुचि के साथ खाई जाती है इसलिए यह खोज मेंढक की टाँग निर्यातकों लिए वरदान सिद्ध होगी।

(4) सेल लीक क्यों करता है ?

सामान्य ट्रांजिस्टर या टार्च में प्रयुक्त होने वाला सूखा सेल वस्तुतः विकसित लेकलासे सेल है। इसमें एक जस्ते का पात्र होता है, जिसके मध्य कार्बन की छड़ होती है जो मैंगनीज डाइऑक्साइड और कार्बन के अमोनियम क्लोराइड पेस्ट से चारों ओर से ढँका रहता है। इन रसोयनों के प्रभाव से विद्युत् उत्पन्न होती है।

रसायनिक प्रक्रिया के फलस्वरूप जस्ते का कवर बहुत पतला हो जाता है और अधिक दिनों तक रखने में टूट भी जाता है। पेस्ट भी अम्लीय होने के कारण जस्ते को गलाता है और पेस्ट लीक होने लगता है, जो बैटरी और ट्रांजिस्टर को खराब करता है।

लीक प्रूफ सेलों में एक विशेष आवरण होता है। यह पोलीइथाइलीन या क्राफ्ट कागज, जो कि सेल्यूलोज ऐसीटेट से कोटेड होता है, से लगा हैाता हैं। यह लीक होने वाले पदार्थ को बाहर नहीं आने देता है।

○○

विज्ञान वक्तव्य

पत्रिका की नीति में परिवर्तन

प्रिय पाठकगण !

पिछले कई माह के अंकों के समय से न निकल सकने के बाद आपके हाथों में पत्रिका का जुलाई **1992** अंक समय से दे पाने का मुझे सन्तोष है और आपको भी होना ही चाहिये।

इस अंक के माध्यम से आपसे विशेष बात करनी है और वह यह कि आगे से पत्रिका की नीति में परिवर्तन करने का निर्णय लिया गया है। पिछले 6-7 वर्षों में हम पर्यावरण सम्बन्धी ढेरों सामग्री प्रकाशित कर चुके हैं, अनेक स्थानीय एवं अखिल भारतीय स्तर की संगोष्ठियाँ और कार्यशालायें भी आयोजित कर चुके हैं, और पर्यावरण विज्ञान के क्षेत्र में जो कार्य विज्ञान परिषद् कर चुकी है उससे निश्चय ही जनमानस में पर्यावरण के प्रति किसी सीमा तक ही सही, जागरूकता जाग्रत हुई है। विज्ञान परिषद् के पास पर्यावरण के अतिरिक्त भी विज्ञान की बहुत सी शाखायें हैं जिन पर स्तरीय साहित्य उपलब्ध करना अभी भी शेष है। अतएव अब हमने यह निर्णय किया है कि पर्यावरण से सम्बन्धित सामग्री नहीं प्रकाशित करेंगे। लेखकों से निवेदन है कि अब वे हमें पर्यावरण पर लेख न भेजें। इसका एक और भी कारण है। आज विज्ञान से सम्बन्धित लगभग सभी पत्र-पत्रिकायें पर्यावरण पर लेख प्रकाशित करती हैं। भारत सरकार 'पर्यावरण' नाम से एक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन नियमित रूप से कर रही है। 'आविष्कार', 'विज्ञान प्रगति', 'खेती', 'विज्ञान गरिमा सिन्धु' 'विज्ञान गंगा', 'हरियाणा साइंस बुलेटिन', 'वैज्ञानिक' आदि पत्रिकाओं में पर्यावरण से सम्बन्धित प्रचुर साहित्य देखने को मिलता रहता है। 'नवभारत टाइम्स', 'आज', 'दैनिक जागरण', 'स्वतन्त्र चेतना', 'जनमोर्चा' जैसे दैनिक समाचारपत्रों में भी पर्यावरण पर लेख प्रकाशित होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त प्रतियोगी परीक्षा सम्बन्धी मासिक पत्रिकाओं में भी पर्यावरण विज्ञान से सम्बन्धित लेख प्राय: हर माह छपते रहते हैं। इसलिए अब 'विज्ञान' पत्रिका अपना ध्यान विज्ञान के अन्य विषयों की ओर मोड़ रही है।

विज्ञान नित्य प्रति प्रगति के नये सोपान पर चढ़ रहा हैं। जैव प्रौद्योगिकी, आनुवंशिक अभियांत्रिकी, अन्तरिक्ष विज्ञान, सागर विज्ञान, पादप एवं पशु की नस्लों में ब्रीडिंग द्वारा सुधार, चिकित्सा के क्षेत्र में जो नई-नई खोजें हो रही हैं, जनमानस तक इन्हें भी पहुँचाना आवश्यक है। अतएव लेखकों से निवेदन है कि वे उपरोक्त विषयों पर नई जानकारियों से परिपूर्ण लेख भेजने का अनुग्रह करें।

मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि हमें सदैव की भांति लेखकों का सहयोग यथावत मिलता रहेगा।

'गोरख प्रसाद विज्ञान लेखन पुरस्कार' एवं 'ह्विटेकर पुरस्कार' के विजेताओं के नाम अभी घोषित नहीं हो सके हैं, इसका हमें खेद है। अगले अंक में शायद उपरोक्त दोनों पुरस्कारों के विजेताओं के नाम घोषित कर दिये जायेंगे।

'विज्ञान परिषद् प्रयाग' की दिल्ली शाखा, रोहतक शाखा, वाराणसी शाखा और बैलाडीला शाखा से जो समाचार मिले हैं, वे उत्साह-वर्धक हैं। उपरोक्त शाखाओं से जुड़े व्यक्ति निश्चय ही बधाई के पात्र हैं। इस प्रकार की निःस्वार्थ सेवा प्रशंसनीय है, अनुकरणीय है।

इलाहाबाद भीषण गर्मी की चपेट में है। पानी और बिजली की कटौती से प्रेस परेशान हैं। छपाई के कार्य में व्यवधान उत्पन्न होना स्वाभाविक है। हम स्वयं भी "विज्ञान" पत्रिका के मुख पृष्ठ, छपाई और पृष्ठ संख्या में सुधार की आवश्यकता एक लम्बे समय से महसूस करते आ रहे हैं। किन्तु बढ़ती मँहगाई और परिषद् के अति सीमित साधन हमारा सारा उत्साह ठंडा कर देते हैं। फिर भी हम न तो निराश हैं और न ही हतोत्साहित। धीमी गति ने ही सही, गंतव्य पर तो हमें पहुँचना ही है। शायद समय लगे, पर हमारे अन्दर धैर्य का अभाव नहीं और हम अच्छे समय के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

1913 से अब तक विज्ञान की अनेक संस्थायें बनी और टूटीं भी। विज्ञान परिषद्, 'विज्ञान' पत्रिका और 'अनुसन्धान पत्रिका' यदि अभी भी जीवित हैं तो इनके पीछे कोई न कोई शक्ति, कोई प्रेरणा अवश्य होगी और यह ताकत, यह शक्ति, यह प्रेरणा विज्ञान परिषद् का परिवार है।

विज्ञान परिषद् को अभी आगे, बहुत आगे जाना है। इसमें आपके सहयोग, आपके आशीर्वाद, आपकी शुभकामनाओं की अपेक्षा है। परिषद् की प्रगति में यही हमारा संबल, हमारा अवलम्ब है। शेष फिर।

आपका
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

●●

(पृष्ठ 27 का शेष)

इसके बाद कार्यकारिणी के लिए निम्नलिखित सदस्यों का सर्वसम्मति से चुनाव किया गया :

(1) प्रो० भरत राय, वनस्पति विज्ञान विभाग
(2) प्रो० बी० के० दुबे, कृषि संस्थान
(3) डॉ० दीपनारायण त्रिपाठी, भौतिकी विभाग
(4) डॉ० बाँके बिहारी श्रीवास्तव, प्रौद्योगिकी संस्थान
(5) डॉ० नवल किशोर साही, कमच्छा कॉलेज
(6) डॉ० श्रीमती स्वाती सिनहा (विचाराधीन), महिला महाविद्यालय

सदस्यों ने समस्त चुनाव प्रक्रिया का सर्वसम्मति से अनुमोदन किया। अन्त में प्रधान सचिव डॉ० श्रवण कुमार तिवारी ने पुराने पदाधिकारियों को हार्दिक धन्यवाद दिया तथा नये चुने गये पदाधिकारियों का स्वागत किया। अध्यक्ष महोदय ने अपनी शुभकामनायें व्यक्त कीं।

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1992

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।

(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।

(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।

(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।

(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1992 से दिसम्बर 1992 माह के बीच प्रकाशित हो।

(6) लेखक को साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।

(7) विज्ञान-परिषद् के सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।

(8) वर्ष 1992 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1993 है।

लेख निम्न पते पर भेजें—

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद वा रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन की प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझाओं का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु०, चौथाई पृष्ठ 50.00; आवरण द्वितीय; तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे,

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

विज्ञान

अगस्त 1992 अंक
मूल्य : 2 रु० 50 पैसे
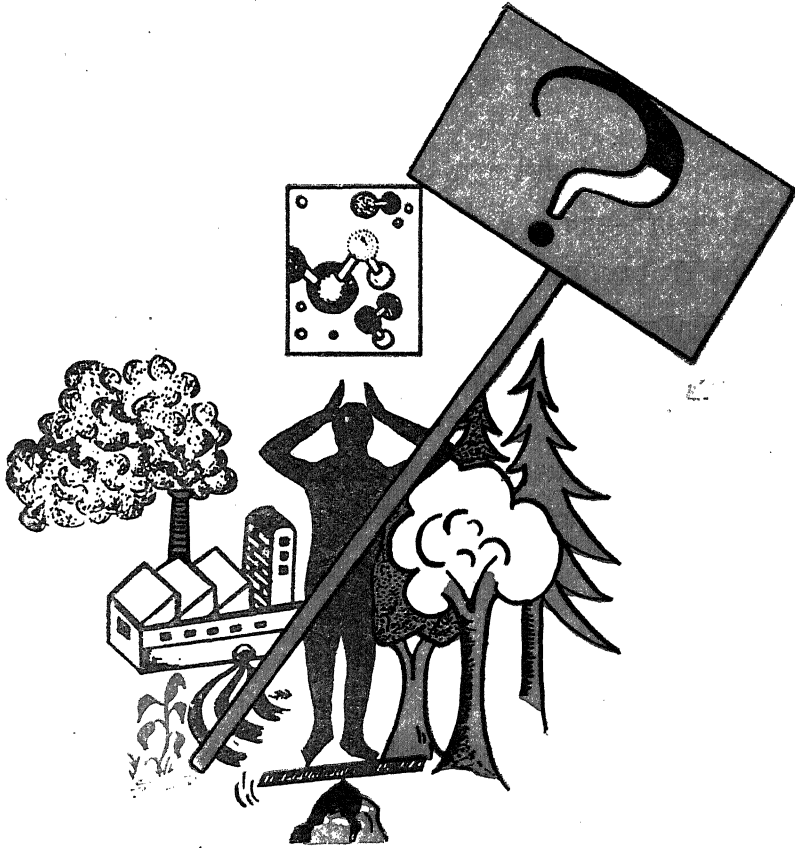
विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915

अगस्त 1992; वर्ष 78 अंक 5

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु०

वार्षिक : 25 रु०

एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7 ए बेली एवेन्यू
इलाहाबाद-211002

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

हिन्दी काव्य में वर्षा का वैज्ञानिक वर्णन

दिनेश दत्त शर्मा 'वत्स'

मनोभावनी वर्षाऋतु कवियों के लिए सदैव प्रेरणाप्रद रही है। जहाँ कवियों ने मनोहर मेघों और वर्षा की फुहारों के वर्णन में अपनी कल्पना के घोड़े खुलकर दौड़ाये हैं, नाना प्रकार के अलंकारों, उपमाओं से उन्हें विभूषित किया है, वहीं स्थान-स्थान पर उनकी विज्ञान सम्मत उत्पत्ति की व्याख्या करने में भी नहीं चूके हैं। सूर्य की गरमी से पृथ्वी पर स्थित जल वाष्प रूप में परिणत होकर आकाश में पहुँच मेघों के रूप में स्थित हो जाता है, इस तथ्य का निरूपण करते हुए गोस्वामी तुलसी दास जी एक स्थल पर कहते हैं—

सोइ जल अनल अनिल संघाता।
होइ जलद जग जीवन दाता।।

अधिक ऊँचाई पर स्थित मेघों से वर्षा नहीं होती। वर्षा तब ही होती है, जब उनकी दूरी पृथ्वी से अपेक्षाकृत कम हो जाती है। इस वैज्ञानिक तथ्य का निरूपण करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं—

वरषहिं जलद भूमि नियराये,
जथा नवहिं बुधि विद्या पाये।

ये मन लुभावने मेघ, वाष्प मात्र हैं, इस तथ्य से श्री सुमित्रा नन्दन पंत तो इतने अधिक प्रभावित प्रतीत होते हैं कि स्थान-स्थान पर उन्होंने "वाष्प" शब्द को मेघों के पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किया है। निम्न उदाहरण उल्लेखनीय है—

वसुधा के सागर से
उठता जो वाष्प भार
बरसता न वसुधा पर
बन उर्वर वृष्टि धार
सार्थक होता ?

(स्वर्ण-धूलि, सार्थकता, पृष्ठ 89)

यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि कवि ने इस वृष्टिधार को "उर्वर" शब्द से विभूषित किया है, जो निसंदेह एक वैज्ञानिक सत्य है। आकाश में विद्युत् चमकने के क्षण, वायु के ऑक्सीजन और नाइट्रोजन से संयोग कर नाइट्रिक ऑक्साइड बनाता है। यह यौगिक वर्षा जल में घुल कर नाइट्रस एसिड में परिवर्तित हो, पृथ्वीं पर पहुँच कर,

---

डिप्टी प्रोजेक्ट मैनेजर, माया फूड्स एण्ड वनस्पति लि० द्वारा मित्र प्रकाशन, 281 मुट्ठीगंज, इलाहाबाद

विभिन्न लवणों से संयोग द्वारा उत्तम प्राकृतिक खाद बनाता है। इस सन्दर्भ से एक अप्रसिद्ध कवि की निम्न पंक्तियां भी पठनीय हैं—

उठी उदधि के अतल गर्भ से,
छा अम्बर को चहुँ ओर से,
भिगो रही वसुधा का वल्कल,
नाइट्रस अम्ल मिले नीर से।

वाष्प रूप मेघ जैसे-जैसे ऊपर उठता है, कम दबाव के कारण, उसमें प्रसार आ जाता है। इस प्रकार के लिए कार्य-ऊर्जा व्यय होने के कारण, उसका ताप कम हो जाता है। कम ताप पर वाष्प रूप जल, द्रव रूप बूंद में परिणत हो जाता है। श्री सुमित्रा नन्दन पन्त ने इस तथ्य का अति सुन्दर वर्णन अपने काव्य ग्रंथ 'स्वर्णोदय, पृष्ठ-123 पर किया है—

तरुण जीवन का वाष्प प्रसार,
तथ्य बूँदों में आज गलित,
व्यक्तिगत जीवन का वैराग्य
हो रहा उर में शनैः उदित।

श्री हरुबंश राय 'बच्चन' आशावादी कवि हैं। पीड़ा, दर्द, अंतर-ज्वाला, उरदाह, एवं घाव यह सब जीवन में मिलता है लेकिन इन्हीं से जीवन में प्रकाश, सतरंगीपन, अमृत और फूलों का उद्भव होता है। प्रकृति की ऐसी परस्पर विरोधी क्रियाओं को देखकर आशा को बल मिलता है। उसमें से एक क्रिया है—वर्षा और इन्द्र धनुष का उद्भव। समुद्र के खारे पानी से निर्मित बादल, अमृत समान जल बरसाता है। सागर और बादल में स्थित एक ही पानी के ये दो विरोधी गुण, बच्चन जी को बहुत भाये हैं। अपने काव्य ग्रंथों में स्थान-स्थान पर इस उपमा का सहारा लेकर उन्होंने मनोबल को ऊँचा उठाने वाली रचनायें प्रस्तुत की हैं। एक उदाहरण देखिये—

दिनकर का उर दाह धरा पर,
सतरंगी किरणें बिखराता,
जलधर खारा आँसू पीकर,
अमृत पृथ्वी पर बरसाता।

["मेरे अन्तर की ज्वाला तुम घर-घर दीप शिखा बन जाओ", पृष्ठ-134, प्रणय पत्रिका, बच्चन, राज्यपाल एण्ड संस, दिल्ली]

खारा पीड़ा जनक होता है। समुद्र खारा होता है, लेकिन उससे उत्पन्न बादल उस खारे पानी को मधुर बना देता है। इसी तरह पीड़ा से उद्भव उन्माद का बदरा मन-गगन पर छा जाता है तो मीठे गीतों का जन्म होता है। उपर्युक्त पुस्तक से ही एक और उदाहरण देखिये—

खारे को बादल ने भी मधुर बनाया,
मेरे मन का उन्माद गगन बदराया।
(पृष्ठ-62, उपरोक्त)

यत्र-तत्र हिन्दी कवियों ने अपने वैज्ञानिक बोध का प्रयोग कर उपमाओं और अलंकारों में वस्तुगत यथार्थता का सम्पुट भर दिया है। कालिदास का 'मेघदूत' एक अप्रतिम कृति है। उस समय के प्रामाणिक ऋतु विज्ञान के अनुसार उसमें तथ्यात्मक वर्णन किया गया है। वर्णन में वैज्ञानिकता होने के कारण उसकी प्रेषणीयता अद्भुत है। तब ही तो, कविवर बच्चन को भी उसे पढ़ते-पढ़ते जो प्रतिक्रिया होती है वह तथ्यात्मक है। उन्हें अनुभव होता है कि जैसे मेघ की संरचना जल, वाष्प से हुई है, वैसा ही उनका भी शरीर है। इस सन्दर्भ में उनके द्वारा लिखित निम्न रचना उद्धृत की जाती है—

'मेघ' जिस-जिस काल पढ़ता
मैं स्वयं बन मेघ जाता।
भूल जाता अस्थि मज्जा-
मांसयुक्त शरीर हूँ मैं
भासता बस धूमसंयुत
ज्योति-सलिल समीर हूँ मैं।

['मेघदूत के प्रति, पृष्ठ 102-103, मधुकलश, भारती भण्डार' लीडर प्रेस, इलाहाबाद]

○○

ये किसी से कम नहीं।

उदय ठाकुर

प्रकृति का नियम कभी-कभी बड़ा ही विचित्र होता है। रोज-रोज खुले आकाश के नीचे दौड़ते बच्चों को क्या मालूम कि कब बीमार हो जायें और स्वस्थ होने के बजाय विकलांग। लेकिन यह विकलांगता प्रतिभाशालियों और लगनशीलों को विचलित नहीं कर सकती है। जहाँ आदमी मामूली बीमारी होने पर निराश और दुःखी हो जाता है, उखड़ी-उखड़ी बातें करने लगता है; एक स्वस्थ व्यक्ति में बीमारी से, तकलीफों से लड़ने की जो आत्मशक्ति होनी चाहिए वह उसमें नहीं होती, जबकि विकलांग या बाद में अकस्मात या बीमारी के कारण हुए विकलांग व्यक्ति का आत्म-विश्वास, जिन्दगी से संघर्ष करने और समाज को नया आविष्कार देने का माद्दा निश्चय ही सराहनीय व प्ररणादायक होता है। ऐसे ही चार विकलांगों की गाथायें प्रस्तुत हैं, जिन्होंने इस अभिशाप के बावजूद अपनी प्रतिभा के बल पर विश्व में प्रमुख स्थान प्राप्त किये हैं।

हालैंड में जन्मे और जन्म से ही बोलने और सुनने की शक्ति से वंचित जॉन गुडरिक का जन्म 1765 में हुआ था। जॉन गुडरिक एक अच्छे और धनी परिवार से सम्बन्ध रखते थे। उस समय मूक-बधिर बच्चों को शिक्षा देने का कोई स्कूल हालैंड में नहीं था। इसलिए गुडरिक को इंग्लैंड के मूक-बधिर स्कूल में शिक्षा के लिए भेजा गया।

प्रधानाचार्य, पवित्रधाम, रोटरी स्कूल फॉर डेफ, रामबाग रोड, अम्बाला छावनी-133001

जॉन गुडरिक मूक-बधिर होने के बावजूद भी बड़ा प्रतिभाशाली और खोजी प्रवृत्ति का छात्र था। उसे हर नयी वस्तु का पता लगाने में आनन्द आता था। घटना 1784 की है। तरुण जॉन गुडरिक उत्तरी आकाश में सैफियस नक्षत्र मंडल के डेल्टा तारे का कई रातों तक बड़ी गहराई से अवलोकन करता रहा। अन्त में उसने पहचाना कि उस तारे की कांति नियमित रूप से घटती बढ़ती रहती है। प्रति पांच दिन और करीब नौ घंटे बाद उस तारे की कांति 3.7 पर पहुँच कर फिर 4.3 पर उतर आती थी। तारों के बारे में यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण नई खोज थी।

जॉन गुडरिक ने आकाश में और भी ऐसे कई तारे खोजे जिनकी कांति सैफियस मंडल के डेल्टा तारे की तरह घटती-बढ़ती रहती है। इसलिए उन्हें सैफाइड या सैफियरी चर कहते हैं। पिछले करीब दो सौ वर्षों में आकाश गंगा में और दूर की अन्य मंदाकिनियों में अनेकानेक सैफियरी चर खोजे गये हैं जिन चर कांति तारों का आवृत्ति काल सुस्थिर रहता है।

जॉन गुडरिक की इस खोज को आधार बनाकर बाद के वर्षों में आने वाले खगोलविदों ने अनेक महत्वपूर्ण खोजें कीं। गुडरिक द्वारा पता लगाया गया तारा रोज रात नौ बजे लघु सप्तऋषि तारों के पास देखा जा सकता है।

इस प्रतिभाशाली खगोलविद् का केवल इक्कीस वर्ष की छोटी आयु में 1786 में निधन हो गया।

प्रोफेसर सर स्टीफेन हाकिंग जो अनेक वर्षों से चलने-फिरने में असमर्थ हैं और पहियेदार कुर्सी पर बैठे-बैठे ही सारा काम करते हैं, यहाँ तक कि बात करने के लिए उन्हें कम्प्यूटर का सहारा लेना पड़ता है, वे न लिख पाते हैं और न अपने आप खा-पी सकते हैं। शारीरिक दृष्टि से इतना कष्ट भोगते हुए भी पिछले पच्चीस वर्षों से प्रोफेसर हाकिंग ने खगोल-भौतिकी के क्षेत्र में में किये गये अनुसंधान कार्य को सरल शैली में एक किताब के रूप में इतनी अच्छी तरह लिख डाला है कि विज्ञान से बाहर के व्यक्ति भी सारी दुनिया में ब्रह्मांड, काल विवर और कुछ काल्पनिक समय के बारे में उनकी विख्यात धारणाओं को भलीभाँति समझ सकते हैं।

'ए ब्रीफ हिस्ट्री ऑव टाइम' लिखने में प्रोफेसर हाकिंग को पूरे पाँच साल लगे और 1988 में कई हफ्तों तक यह किताब ब्रिटेन और अमेरिका के किताबों की अधिक बिक्री वाली सूची में शामिल रही। उनकी किताब का सारी दुनिया पर इतना गहरा असर पड़ा है कि सन् 1989 में इस किताब को स्पेन का 'प्रिंस ऑव एस्टूरिया पुरस्कार' दिया गया, जो विश्व में सद्भाव के प्रसार के लिए दिया जाता है। ब्रिटेन की महारानी के जन्म दिन पर भी हाकिंग को सम्मानित किया गया है।

अपने इस ग्रंथ में प्रोफेसर हाकिंग ने इस ब्रह्मांड का जिन वैज्ञानिक नियमों से नियंत्रण होता है, उनको समझाने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि 'मुझे पूरा विश्वास था कि यह धरती, चांद और सितारे किस तरह काम करते हैं, इस बारे में जानना तो सभी चाहते हैं, लेकिन वैज्ञानिक ग्रंथों में दिये हुये गणित के समीकरण किसी की समझ में नहीं आते।

4 जनवरी 1809 को फ्रांस के कुप्रे नामक स्थान में **लुई ब्रेल** का जन्म हुआ था। लुई ब्रेल के पिता सायमन रेने ब्रेल घोड़े की जीन बनाने का काम करते थे। सायमन रेने ब्रेल मध्यम आय वाले परिवार के थे इसलिए परिवार की आवश्यकता को देखते हुए उन्होंने सन् 1814 में लुई ब्रेल, जब मात्र पांच वर्ष का नन्हा बालक था, को

अपने साथ काम पर लगा लिया। एक दिन पिता के साथ काम करते हुए एक चाकू की नोक आँख में लग जाने से लुई एक आँख से ज्योतिहीन हो गया। धीरे-धीरे दूसरी आँख की ज्योति भी चली गई।

15 फरवरी 1819 में लुई ब्रेल ने 'रायल इन्स्टीट्यूट फॉर ब्लाइंड' में शिक्षा हेतु प्रवेश लिया और प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री पादरी वेलेन्टाइन से शिक्षा ग्रहण की। सन् 1821 में एक सेवा निवृत कैप्टेन चार्ल्स बार्बर ने सैनिकों के लिए अँधेरे में उपयोग करने के लिए एक लिपि बनाई। लुई ब्रेल ने कैप्टेन चार्ल्स बार्बर से भेंट की और लिपि को अधिक सुगम बनाने के लिए अपने सुझाव दिये। तब लुई की उम्र बारह साल की थी। इसके बाद लिपि को परिपूर्ण बनाने में लुई ने आठ वर्ष तक अथक प्रयास किया और 1829 में छः बिन्दुओं वाली लिपि बनाने में सफलता प्राप्त कर ली। आज दुनिया भर के दृष्टिहीन जिस लिपि के द्वारा शिक्षा ग्रहण करते हैं, वह यही लिपि है और उसके नाम से ही 'ब्रेल लिपि' के नाम से जानी जाती है। ब्रेल लिपि की सबसे बड़ी दुखद बात यह रही कि लुई ब्रेल के जीवन काल में उसे मान्यता नहीं मिल पाई। उस समय के शिक्षाशास्त्री इसे मात्र एक कल्पना की उड़ान समझते रहे। 6 जनवरी 1852 को लुई ब्रेल की 43 वर्ष की अल्प आयु में मृत्यु हो गई। मृत्यु के सौ साल पूरे होने पर 20 जून 1952 को उनके गृह ग्राम कुप्रे से उनके अवशेष निकाल कर उन्हें पुनः राष्ट्रीय सम्मान के साथ दफन किया गया।

भारत के पासुमलई तमिलनाडु में जन्म से ही नेत्रहीन ए० कलानिधि आठ वर्ष की आयु में पिरुनेवल्ली की अंधशाला में शिक्षा ग्रहण करने आये। उन्होंने पाँचवीं में पढ़ते समय अपने भतीजे के पालने के दोनों तरफ विद्युत्-चुम्बक को रखकर उसे स्वतः झूला झुलाने का कमाल कर सभी को चकित कर दिया था।

मद्रास के प्रेसीडेंसी कॉलेज से राजनीति विज्ञान में एम० ए० करने के बाद कलानिधि ने मद्रास लॉ कॉलेज से विधि में उपाधि प्राप्त की। कॉलेज में कभी भी विज्ञान न पढ़ने वाले कलानिधि की इच्छा वकील बनने की थी लेकिन किस्मत ने उन्हें विज्ञान का आविष्कारक बना दिया।

सन् 1982 में उन्होंने किसी भी विद्युत् उपकरण को चालू या बन्द करने के लिए एक यांत्रिक उपकरण का आविष्कार किया था। 1987 में उन्होंने स्वचलित डेडी इगेनमेंट अनाउन्सर कम विजुअल टाईमर का आविष्कार किया। 1987 से 1989 के दौरान उन्होंने पम्प सेट लॉजिक कन्ट्रोलर बनाया। हाल ही में उन्होंने एक नियन्त्रक उपकरण का आविष्कार किया है। यह उपकरण उन्होंने तमिलनाडु स्थित कम्पनी आडलर्स के आदेश पर बनाया है। इससे सुरक्षाकर्मियों की सतर्कता पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। अब आडलर्स कम्पनी इस उपकरण को व्यावसायिक रूप से बाजार में प्रस्तुत कर रही है।

इन उपकरणों के अलावा कलानिधि ने नेत्रहीनों के लिए विद्युत् संवेदन सर्किटयुक्त एक श्यामपट्ट का निर्माण किया है। इसकी सहायता से उपयोगकर्ता श्यामपट्ट पर लिख सकता है। इससे नेत्रहीनों को विभिन्न भाषाओं के वर्णाक्षर पहचानने में मदद मिलती है। उन्होंने पम्पसेंट लॉजिक कन्ट्रोलर का आविष्कार भी किया। इस उपकरण को इण्डियन बैंक ने प्रायोजित किया।

यह सब कलानिधि कैसे कर पाते हैं? इसके बारे में वे कहते हैं कि वह श्रवणशक्ति के बल पर विज्ञान की पढ़ाई करते हैं। लोगों के पास जाकर पुर्जे के बारे में जानते हैं और सर्किट तैयार करते हैं।

कलानिधि को राष्ट्रीय पुरस्कार से अलंकृत किया जा चुका है। इस समय वे ठक्कर बाबा विद्यालय में रहते हुए अनुसन्धान में जुटे हुए हैं।

○○

जलजन्य रोग और उनका उपचार

डॉ० देश दीपक

मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी सभी के लिये जल अत्यन्त आवश्यक है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भोजन की तुलना में हमारे लिये जल ज्यादा जरूरी है। वैज्ञानिक ढंग से विचार करें तो पता चलता है कि हमारे शरीर में लगभग 2/3 भाग पानी है। हमें जीवित बनाये रखने के लिये ऑक्सीजन के बाद दूसरी महत्वपूर्ण चीज यदि कोई है, तो वह जल ही है। हमारे शरीर की चर्बी घट सकती है और आधे से अधिक मात्रा में प्रोटीन की कमी को भी शरीर सह सकता है किन्तु शरीर में केवल 20% पानी समाप्त होने पर खतरा पैदा हो जाता है। यहाँ तक कि इसके अभाव में मृत्यु भी हो सकती है।

जल का ग्रहण

हमारा शरीर दो तरह से जल ग्रहण करता है, एक तो हमारे उपलब्ध जल-स्रोतों से पानी पीने द्वारा, दूसरे खाने की वस्तुओं—जैसे फल, साग, सब्जी आदि के द्वारा शरीर में पानी पहुँचता है। इसके अलावा शरीर में कार्बोहाइड्रेट व वसा, प्रोटीन की रासायनिक अभिक्रिया होती है। इससे भी पानी बनता है। रक्त व शरीर के आवश्यक तरल पदार्थ के निर्माण के लिये और विभिन्न रासासनिक अभिक्रियाओं के लिये जल आवश्यक है। जल हमारे शरीर का तापमान बनाये रखता है। शरीर में पौष्टिक तत्वों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने का कार्य जल ही करता है। इसी प्रकार अनावश्यक सामग्री को मल द्वारा बाहर निकालता है। आम तौर से एक व्यक्ति उतना ही जल ग्रहण करता है जितनी मात्रा में वह बाहर निकालता है।

शुद्ध जल

हमारे यहाँ जल के स्रोत हैं जैसे नदी, तालाब, पोखर, कुआँ, बावली, ट्यूबबेल, बोरबेल आदि। पीने तथा नहाने-धोने का पानी कीटाणुरहित और शुद्ध होना चाहिये। आमतौर से अशुद्ध पानी के उपयोग से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं जिनमें मुख्यतः हैजा, पीलिया, आंत्रशोथ, टाइफाइड, आँख के रोग, त्वचा के रोग, खुजली आदि होते हैं। ये बीमारियाँ संक्रामक भी होती हैं। परिणामस्वरूप एक से दूसरे व्यक्ति का रोगी होना बहुत आसान है।

हैजा

हैजा गन्दगी और गन्दे खान-पान से फैलने वाला एक संक्रामक रोग है। यह आंतों का गम्भीर रोग है। इसके कीटाणु बड़े सूक्ष्म होते हैं। ये रोगी के मल और उल्टियों में बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। इसके लक्षण प्रगट होने के कुछ ही घण्टों बाद ही रोगी की स्थिति गम्भीर हो जाती है। इसका छूत दूषित मिश्रित दूध, दूषित उंगलियों, कपड़े और मक्खियों द्वारा फैलता है।

मुख्य चिकित्साधिकारी, बैलाडीला आयरन ओर प्रोजेक्ट, किरन्दुल, बस्तर, मध्य प्रदेश

इस रोग में बार-बार दस्त आता है, जो चावल के माड़ की तरह का होता है। उल्टियाँ भी बहुत अधिक तथा पानी की तरह होती हैं। उल्टी से रोगी के शरीर में पानी की बहुत कमी हो जाती है जिससे रोगी बहुत कमजोर हो जाता है। आँखे अन्दर की ओर धँस जाती हैं, और नाड़ी की गति मंद पड़ जाती है। शीघ्र ही इलाज की सुविध न मिलने पर लगभग 36 से 40 घण्टों में रोगी की मृत्यु हो सकती है।

आंत्रशोथ

आंत्रशोथ भी पानी के सेवन से फैलने वाला रोग है। जब पानी गन्दा हो जाता है तो उसमें अनेक प्रकार के कीटाणु जन्म लेने लगते हैं। इस प्रकार कीटाणुयुक्त पानी जब उपयोग में लाया जाता है तो उससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। आंत्रशोथ की बीमारी एकाएक उल्टी और दस्त लगने से प्रारम्भ होती है, जिसमें इसकी मात्रा कभी-कभी इतनी बढ़ जाती है कि शरीर का पानी लगभग निकल जाता है। रक्तचाप गिर जाता और समुचित उपचार के अभाव में रोगी की नाड़ी एकदम कमजोर पड़ जाती है। शरीर पर झुर्रियाँ पड़ने लगती हैं। पेशाब में रुकावट और पिण्डलियों की मांसपेशियों में ऐंठन होती है। अधिक गम्भीर होने की स्थिति में रोगी की मृत्यु की भी सम्भावना होती है। इसलिये आंत्रशोथ के रोगियों को तुरन्त उपचार के लिये शासकीय अस्पताल में ले जाना चाहिए। इस रोग से बचाव का सबसे उपयुक्त तरीका सदा शुद्ध जल का सेवन है।

पीलिया

पीलिया रोग जिगर को प्रभावित करने वाला रोग है। आमतौर से यह रोग अशुद्ध जल के सेवन से होता है। इस रोग में जिगर में सूजन अथवा इसकी रक्त नलिकाओं में रक्त की रुकावटें आ जाती हैं। गम्भीर स्थिति में रोगी की आँख अथवा कभी-कभी त्वचा पीली पड़ जाती है। इसके विषाणु छूत लगने के बाद रोगी के मल में सप्ताहों, महीनों तक निकलते रहते हैं। जहाँ पानी के स्रोत दूषित होते हैं, वहाँ यह बीमारी महामारी का रूप धारण कर लेती है। पीलिया के संक्रामक होने के पहले सुस्ती आना, जी मिचलाना, भूख न लगना, चिड़चिड़ापन, चमड़ी में सूखापन होना आदि इसके प्रारम्भिक लक्षण हैं। इसके बाद शरीर पीला नजर आता है। नाखून, आँख आदि पीली पड़ जाती है। इस रोग से मस्तिष्क में सूजन भी आ जाती है। कई मामलों में तो रोगी को बचाया भी नहीं जा सकता है।

यह रोग संक्रामक रोग है अतः पास-पड़ोस में अथवा घर में होने पर तत्काल डॉक्टर से सम्पर्क करना चाहिए। डाक्टर द्वारा सुझाव दिये गये इलाज-परहेज का पूरी तरह से पालन करना चाहिए।

यह रोग भी जलवाही रोग है अतः सुरक्षित और शुद्ध जल का ही सेवन करना चाहिए। जहाँ अरक्षित जल-स्रोत की शंका हो वहाँ पानी को उबालकर और छानकर पीना चाहिए।

टाइफाइड

टाइफाइड एक संक्रामक रोग है जो एक तरह के कीटाणुओं द्वारा होता है ये रोगी के मल-मूत्र या किसी अन्य तरीके से भोजन एवं पीने के पानी द्वारा अन्य व्यक्ति के शरीर में पहुंचकर रोगग्रस्त करते हैं। टाइफाइड या मोतीझरा ज्वर एक मियादी बुखार होता है। यह बुखार चौबीसों घंटा बना रहता है। यह आँतों एवं लीवर को अधिक प्रभावित करता है। तीव्र ज्वर होने के कारण यह मस्तिष्क ज्वर में पीरवर्तित हो सकता है तथा कभी-कभी आँतों में छेद होने

के कारण इसके रोगी को बचाना असम्भव हो सकता है। इस रोग से बचाव का तरीका पीने के पानी का स्वच्छ होना परम आवश्यक है।

पोलियो

पोलियो छोटे बच्चों की एक खतरनाक बीमारी है, जो दो साल से पाँच साल तक के बच्चों को अधिक होती है। इसमें लकवा से मृत्यु तक की सम्भावना होती है। पोलियो एक संक्रामक बीमारी है, जो विषाणु द्वारा उत्पन्न होती है। इसके विषाणु गन्दे पानी, दूध, खाने की वस्तुओं आदि के साथ पेट में पहुँचकर बच्चे को रोगग्रस्त कर देते हैं। इसे बीमारी के प्रसार का मुख्य कारण खाने-पीने की वस्तुयें हैं। पोलियो के विषाणुओं के शरीर में प्रवेश करने के 7 से 70 दिन बाद इसके लक्षण दिखाई देते हैं जिसमें शुरू में मामूली बुखार, गले में खरास, पेट में दर्द, पतले दस्त आदि लगते हैं। इसके बाद शरीर, गर्दन या पीठ में दर्द, बेचैनी तथा अंग संचालन मे असमर्थता दिखाई देने लगती है। पोलियो का अधिकतर प्रभाव पैर में देखा जाता है।

पोलियो का प्रभावकारी उपाय पोलियो वैक्सीन है जो 3 माह से लेकर 5 वर्ष तक की अवस्था तक के बच्चों में बहुत प्रभावी होता है। बच्चों को शुद्ध जल का सेवन करायें। जिस पानी की शुद्धता में शंका हो उसे उबालकर पिलायें। फल, साग-सब्जी को स्वच्छ करने के बाद ही बच्चों को खिलावें। उन्हें दूध आदि को उबालकर दें। सुरक्षित शौचालय का प्रयोग करायें। बच्चों के खान-पान की शुद्धता पर विशेष ध्यान दें।

अतिसार या डायरिया

अतिसार या डायरिया बच्चों की आम बीमारियों में से एक है। पाँच वर्ष से कम आयु के बच्चे इसके ज्यादा शिकार होते हैं। डायरिया का रोग दूषित पानी तथा भोजन के द्वारा फैलता है। जब बच्चा पहले से ही कमजोर हो और उसे उल्टी के साथ दस्त लग रहें हों तब यह स्थिति बहुत गम्भीर हो जाती है। बारम्बार पतले दस्त लगने से बच्चे की आँखें धँस जाती हैं और साँस तेजी से चलने लगती है। ऐसी स्थिति में बच्चे का उपचार पहले से ही प्रारम्भ कर देना चाहिए। उपचार के लिए ओ० आर० एस० पाउडर जो सभी दवा की दूकानों पर उपलब्ध होता है, का घोल बनाकर बच्चे को पिलाना चाहिए। शुद्ध खान-पान डायरिया रोग से बचने का कारगर उपाय है।

खुजली तथा त्वचा रोग

खुजली तथा त्वचा रोग ऐसी बीमारी है जो बच्चों से लेकर बड़ों तक किसी को भी हो सकती है। यह शरीर के किसी भी अंग में हो सकती है, किन्तु खुजली अधिकतर जोड़, बाहों तथा गुप्तांगों पर होती है। ये रोग गन्दे पानी को पीने तथा नहाने आदि से होते हैं। यह एक परजीवी द्वारा होता है। इस रोग की रोकथाम के लिए शुद्ध जल का सेवन और शुद्ध जल से स्नान करना आवश्यक है। बिस्तर, चादर, तौलिया आदि भी स्वच्छ जल में धुले होने चाहिए अन्यथा इनके अशुद्ध पानी में धुले होने से भी अनेक चर्म रोग हो सकते हैं।

नारू रोग

नारू रोग धागे जैसे कीट से होने वाला रोग है। इसका कीट शरीर में परिपक्व होकर त्वचा को छेद कर भ्रूण छोड़ने के लिये बाहर निकलता है। इसका कीट प्राय: शरीर के उस अंग से निकलना पसन्द करता है जिसका

सम्पर्क पानी के साथ अक्सर होता है। यह रोग उन इलाकों में अधिक होता है जहाँ पर लोग पीने का पानी झील, बावली, तालाबों से ग्रहण करते हैं। कीट निकलने के पहले बने 'फफोले' वाले व्यक्ति जब किसी बावली या तालाब तलैया में पानी पीने, लाने या नहाने-धोने के लिये जाते हैं, तो नारू रोग के भ्रूण उसमें मिल जाते हैं। इस प्रकार इस दूषित जल के सेवन से नारू रोग का संक्रमण हो जाता है। नारू रोग झील, ताल, तलैये या बावली के दूषित जल के सेवन से उत्पन्न होता है अतः पानी उबालकर, स्वच्छ करने के बाद ही उपयोग करना चाहिए।

नेत्र रोग

अधिकांश नेत्र रोगों जैसे आँखों का दुखना या आँखों का आना (कंजंक्टीवाइटिस, ट्रेकोमा) आदि का प्रसार अशुद्ध जल से होता है। ये रोग वायरस के कारण उत्पन्न होते हैं जो अत्यन्त संक्रामक होते हैं। इस रोग में पलकों की भीतरी सतह लाल हो जाती है। इसी तरह ट्रेकोमा के रोग में छूत लगने से पलकों की भीतरी सतह में सूजन और लाली छा जाती है और इस पर साबूदाने के आकार के छोटे-छोटे दाने पड़ जाते हैं। इस रोग का अविलम्ब इलाज कराना चाहिये अन्यथा अंधत्व भी हो सकता है।

पेचिस

पेचिश का रोग भी आँतों का रोग है। बारम्बार दस्त आना या कभी-कभी दस्त में खून का आना इसका सामान्य लक्षण है। इस रोग के कीटाणु लोगों के खान-पान द्वारा शरीर में प्रवेश करते हैं। दूषित जल या दूध में दूषित जल के मिश्रण से यह रोग उत्पन्न होता है। गन्दे नाली के पानी के सीधे उपयोग तथा उससे उत्पन्न खाद्य सामग्री और अन्य वस्तुओं से भी इस रोग का संक्रमण हो सकता है।

स्वच्छ जल

आमतौर से कहा जाता है कि प्रत्येक चार रोगियों में से एक रोगी दूषित जल के कारण रोगग्रस्त होता है। हमारे जल प्राप्त करने के साधनों में कुछ का जल तो शुद्ध होता है जैसे गहरे कुँये, नदी, नहर, झरना आदि तथा कुछ साधन जैसे बावली, तालाब, तलैये, कच्चे कुँये, पोखरे आदि का जल अशुद्ध होता है, जो स्वास्थ्य के लिए अहितकर तथा रोग उत्पन्न करने वाले होता है।

पानी को स्वच्छ कैसे करें ?

पानी को स्वच्छ करने के लिए निम्नलिखित सर्वमान्य तरीके हैं जिनके द्वारा पानी को स्वच्छ किया जा सकता है।

छानना

पीने के पानी को कपड़े से छानकर स्वच्छ किया जा सकता है।

उबालना

अशुद्ध पानी को उबालने से उसके सभी कीटाणु मर जाते हैं और पानी शुद्ध हो जाता है। पानी को स्वच्छ करने के लिए उबालना एक कारगर तरीका है। ठण्डा होने के बाद इसका उपयोग करना चाहिये।

रासायनिक तरीका

कुँये के पानी को कीटाणुरहित करने के लिये ब्लीचिंग पाउडर का उपयोग प्रभावी तरीका है। इसी प्रकार घर के पीने के पानी को शुद्ध करने के लिये क्लोरीन की गोलियाँ डालकर स्वच्छ किया जा सकता है।

स्वच्छ जल के सेवन से संक्रामक रोगों से आसानी से बचा जा सकता है। सदा स्वस्थ रहने के लिये स्वच्छ जल का उपयोग परम आवश्यक है। ●●

प्रकृति और मानव

ओम प्रकाश गुप्ता

धरती तू सज-धज कर अपने
किस प्रिय को चली रिझाने को ?
वृक्षों के कोयल की लाली
निज होठों पर भरपूर भरे ।
मतवाली पवनों से हिल-भिल
ये पेड़ झूमते हरे-भरे ।
नभ की लाली से माँग सजा
अनुराग प्रिया का पाने को ।
मन के उद्‌गार मचलते हैं
नदियों की चपल तरंगों से
परिधान चमकते दिखते हैं
झिलमिल तारों के बिम्बों से ।
सरितायें कल-कल करतीं ज्यों,
सागर में चली समाने को ।
हिमगिरि के उद्ध तुंग शिखर
चल रहे चूमने गगन नील
तपते, पछताते, अश्रु बहाते,
पिघल-पिघल बन रहे झील ।
नद-निर्झर-सागर-सरितायें,
अमृत जल से सरसाने को ।

लो धरा-गगन का सेतु बना,
सतरंगी इन्द्रधनुष चमका ।
छम-छम बूंदों की स्वर लहरी
मन उपवन हरषाया महका ।
यूँ प्रकृति नटी नवरूप धरे,
जय दुंदुभि चली बजाने को ।
झूमती प्रकृति, पर कुटिल मनुज
कृत्रिम वैभव को जकड़ रहे ।
धरती को मनमाना चूसें,
इस एक नीति को पकड़ रहे ।
नित चूनर धानी फाड़ रहे,
'उन्नत कर रहे जमाने को ।'
घन-घुमड़-घुमड़ कर बोल रहे,
मत धरती पर यूँ जहर घोल ।
मोती बदलो मत कौड़ी से,
अपना भविष्य लो जरा तौल ।
क्यूँ अंतरिक्ष तक झपट रहे,
ज्यादा से ज्यादा पाने को ?

००

एच० एस० सी० एल/11/18, अध्यापक कॉलोनी, किरन्दुल, बस्तर, मध्य प्रदेश, पिन-494556

धड़कते दिल पर विज्ञान की नजर

राजेन्द्र कुमार राय

भागती, दौड़ती जिंदगी, बढ़ता तनाव, प्रदूषण और कई अच्छी बुरी आदतों के कारण आज स्वास्थ्य की परेशानियाँ बढ़ती जा रही हैं। तनाव और चिन्ता हमारे जीवन का अंग बन गये हैं और इनसे उपजे हैं अनेक रोग। आस-पास के माहौल, खान-पान के बदलते स्तर और हमारे रहन-सहन ने सबसे अधिक प्रभावित किया है तो हमारे दिल को। इसलिये दिल सम्बन्धी बीमारियों की संख्या भी दिन व दिन बढ़ती जा रही है। दुनिया भर का ध्यान इस ओर खींचने के बाद विश्व स्वास्थ्य दिवस (7 अप्रैल) पर "दिल" को मुख्य विषय के रूप में चुना गया है।

चाहे कवि की कविता में हो या रोमांस में यहाँ तक कि डॉक्टरी हिसाब से भी दिल शरीर का सबसे महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। दिल के सभी रहस्य उसकी निरन्तर होती धड़कन में समाये रहते हैं और यह मांसल पिंड छाती के बीच में स्थिर रहता है। शरीर में इसका काम है दो अलग-अलग संचार व्यवस्था में रक्त को प्रवाहित करना। पहला दिल द्वारा रक्त संचार शरीर की विभिन्न धमनियों में किया जाता है। रक्त संचार से विभिन्न अंगों और कोषों को ऑक्सीजन और उनकी खुराक पहुँचाती है। फिर रक्त शिराओं के माध्यम से दिल तक पहुँच जाता है। तब तक रक्त की सारी ऑक्सीजन को शरीर के विभिन्न अंग काम में ले चुके होते हैं, और अन्त में दूषित रक्त शिराओं द्वारा दिल में वापस आ जाता है। फिर दिल रक्त को दूसरे संस्थानों में प्रसारित करता है।

दिल की तुलना एक बैंक कर्मचारी से की जा सकती है जो लाखों का लेन-देन तो करता है, लेकिन निर्भर उसे अपनी तनख्वाह पर रहना पड़ता है। यह चौबीसों घण्टे रक्त से भरा तो रहता है लेकिन इसे ऊर्जा मिलती है दो छोटी धमनियों से जिन्हें कारोनरी आर्ट्रीज कहते हैं।

एक वर्ष में दिल छः लाख पचास हजार गैलन रक्त प्रसारित करता है। यह रक्त संचार शरीर में बारह हजार मील के रक्त मार्गों में होता है। यह बारह घण्टे में इतनी ऊर्जा का इस्तेमाल करता है जो पैंसठ टन वजन को हवा में एक फुट ऊँचा उठाने के लिए पर्याप्त होती है।

आज जहाँ प्रदूषण दिन ब दिन बढ़ता ही जा रहा है और जिन्दगी की रफ्तार भी तेज होती जा रही है, दिल तथा उससे सम्बन्धित रोगों का अनुपात भी बढ़ता जा रहा है। दिल के जाँच पड़ताल के साधनों में पिछले दशकों में चमत्कारिक प्रगति हुई है। आज हम न केवल हृदय के सम्पूर्ण रोगों की जाँच कर सकते हैं, बल्कि एक तरह से अपनी आँखों से हर चीज को देख सकते हैं।

एक ओर समूची दुनिया में हृदय आघात (दिल का दौरा) की घटनायें बढ़ती जा रही हैं तो दूसरी तरफ आधुनिक चिकित्सा के कारण लोगों की औसत उम्र भी बढ़ती जा रही है। असाध्य समझी जाने वाली कई बीमारियों

से भी अब लोग बच जाते हैं लेकिन दिल के दौरे का खतरा बना ही रहता है। अब दिल के रोग के प्रति लोगों में सतर्कता आई है और नई तकनीकों से इसकी जाँच और निदान आसान ही नहीं सटीक भी हो गया है।

धमनियों में रक्त के दौरे में किसी भी तरह की बाधा का अर्थ है दिल की मांसपेशियों का रक्त से वंचित होना। ऐसे कई कारण हैं जो दिल के दौरे का कारण बन जाते हैं। धमनियों में होने वाली एक बीमारी है एंथरो-स्लेरोसिस। इस रोग में धमनियों की अन्दरूनी परतें फूल जाती हैं। सबसे बड़ी बात है कि जब तक कि यह बाधा धमनियों में 70 प्रतिशत हानि नहीं पहुँचा देती तब तक इसका कोई लक्षण नहीं दिखाई देता है। उच्च रक्त चाप, वजन बढ़ना, मधुमेह, मधुपान तथा धूम्रपान इस रोग में रक्त में चर्बी के तत्वों को बढ़ा देते हैं। मानसिक तनाव, गठिया और अन्य व्यक्तिगत कारण भी दिल के दौरे को बढ़ावा देते हैं।

लक्षण

छाती में तकलीफ, छाती के बीच में आमतौर पर दर्द का उभरना, यह दर्द दोनों हाथों तक पहुँच सकता है। इससे गर्दन पीठ आदि में भी 50 प्रतिशत तक हानि पहुँच सकती है। कई लोगों में अलग तरह की तकलीफें तो होती हैं लेकिन दर्द नहीं होता और इसलिये लोग भ्रमवश गैस, अपचन, रीढ़ हड्डी में दर्द आदि की परेशानी समझ बैठते हैं। लक्षणों का विविध रूप रोगी और उसके परिवार को भ्रमित कर देता है और वे आराम पाने के लिए अन्य तरीके ढूँढने लगते हैं। कुछ सामान्य लक्षण हैं अधिक धड़कन, दिल डूबना, छाती में दर्द, चक्कर आना, उल्टियाँ आना, सांस लेने में तकलीफ आदि।

निरन्तर चिन्ता और तनाव होने से अधिवृक्क ग्रंथि से अधिक एड्रिनलीन और कार्टिसॉल उत्पन्न होता है, जो कि धमनियों में संकुचन, उच्चरक्तचाप और दिल की अतिव्यस्तता बढ़ाने में सहायक होता है।

आज विश्व भर में दिल के रोगों के उपचार के लिए नई-नई मशीनें और पद्धतियाँ काम में लायी जा रही हैं। प्रमुख हैं कलर डापलर इकोकार्डियोग्राफी मशीन, कोरोनरी एंजियोप्लास्टी, वाल्वोप्लास्टी और मैग्नेटिक रेजोनेंस इमेजिंग आदि।

पिछले वर्ष दिसम्बर (1991) में नई दिल्ली में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया था। इसमें देश-विदेश के सौ से ज्यादा हृदय रोग विशेषज्ञों ने भाग लिया। विशेषज्ञों की राय थी कि उच्चरक्तचाप दिल के दौरे का एक प्रमुख कारण है। अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान के प्रसिद्ध हृदय रोग विशेषज्ञ प्रोफेसर एच० एस० बशीर की राय थी कि उच्चरक्तचाप की बीमारी पर काबू पाने के लिए दवा सेवन से बचने का प्रयास करना चाहिये, क्योंकि इस दवा के साइड इफेक्ट काफी अधिक होते हैं। प्रोफेसर बशीर के अनुसार मोटापा कम करके तथा शराब, धूम्रपान, तम्बाकू का इस्तेमाल छोड़ कर उच्चरक्तचाप से बचा जा सकता है। इसके अलावा मानसिक तनाव से मुक्त रहना चाहिये और शाकाहारी भोजन को प्राथमिकता देनी चाहिये। ऐसे उपायों के जरिये उच्चरक्तचाप के 40 से 50 प्रतिशत मरीजों को सामान्य स्थिति में लाया जा सकता है।

प्रो० बशीर के अनुसार उच्चरक्तचाप की बीमारी से बचने के लिए पोटेशियमयुक्त नमक फायदेमन्द रहता है किन्तु सोडियमयुक्त नमक का उपयोग कम करना चाहिये। रक्तचाप (ब्लड प्रेशर) की बीमारी से बचने के लिए शारीरिक व्यायाम भी काफी फायदेमन्द रहता है। अध्ययनों के दौरान यह पाया गया है कि धावकों और आउट-

डोर खेल-खेलने वाले खिलाड़ियों में रक्तचाप की बीमारी कम होती है, क्योंकि उनका पर्याप्त शारीरिक व्यायाम हो जाता है।

दिल को कम रक्त मिलने को एन्जाइना कहते हैं। यदि एन्जाइना काफी देर तक हो तो यह कभी भी दिल का दौरा साबित हो सकता है। एन्जाइना के दर्द को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक अस्थाई एन्जाइना और दूसरा वेरिएन्ट एन्जाइना। इस तरह की बीमारी में अचानक दिल की धमनियाँ सिकुड़ जाती हैं और उससे रक्त संचार में बाधा उत्पन्न होती है। सामान्य होने पर रक्त संचार फिर सुचारु रूप से होने लगता है। इसके विपरीत दिल की धमनियों में अचानक सिकुड़न पैदा होती है। वे सामान्य होती हैं। इन सामान्य धमनियों में अचानक सिकुड़न क्यों आती हैं, इस बात का अभी तक पता नहीं लगाया जा सका है। वेरियेन्ट एन्जाइना का दर्द एक साथ 3-4 बार होता है और कई दिनों तक ठीक उसी समय होता है। यदि ऐंजियोग्राफी करने पर धमनियों में ऊबड़-खाबड़ नजर आता है तो बाई पास सर्जरी यानि शल्यक्रिया की जाती है। शल्यचिकित्सा का हृदय रोगों में उपयोग बहुत पुराना नहीं है। बाई पास सर्जरी दिल के रोगियों के लिए वरदान साबित हुई है। प्रमुख धमनियों के प्रारम्भिक भाग में आई रुकावट को बाई पास सर्जरी से ठीक किया जा सकता है। बाई पास सर्जरी कुछ विशेष विकारों में काफी फायदेमन्द पाई गई है जैसे प्रोक्सीमल लेफ्ट एंटीरियर डिसेंडिंग आर्टरी (बाई आगे की उत्तराल धमनी) में रुकावट या एन्जाइना का वह दर्द जो दवाइयों से ठीक नहीं होता है या फिर दिल का दौरा पड़ने के बाद उसका एक भाग फूल जाये।

कोरोनरी एंजियोप्लास्टी पद्धति द्वारा नस माध्यम से एक नली हृदय की धमनियों में पहुँचाई जाती है। इस नली पर एक गुब्बारा लगा होता है। नली डालते वक्त गुब्बारा चिपका हुआ होता है। टेलीविजन पर्दे पर इस नली के पथ का अध्ययन करते हुए उसे इस तरह से रुकावट के स्थान पर ले जाया जाता है कि गुब्बारा ठीक रुकावट वाली जगह पर आ जाये। अब इस गुब्बारे को फुला दिया जाता है। इससे रुकावट खुल जाती है। फिर नली को बाहर निकाल दिया जाता है। इस विधि के कई फायदे हैं। जैसे कम खर्च, शल्यक्रिया की आवश्यकता नहीं, संक्रमण का खतरा नहीं रहता और अस्पताल में काफी कम समय तक रहना पड़ता है। लेकिन यह पद्धति सभी रोगियों के लिए उपयोग में नहीं लाई जा सकती है।

दिल के दौरे के तत्कालिक निदान में ई सी जी और रक्त के विशेष परीक्षणों के अलावा आजकल एक खास किस्म के कैमरे का भी उपयोग किया जा रहा है। "मूगा टेस्ट" नामक इस परीक्षण में एक गामा कैमरा द्वारा दिल की न्यूक्लियर स्कैनिंग करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दिल का कितना बड़ा भाग क्षतिग्रस्त हुआ है। नष्ट हुई दिल की मांस-पेशियाँ गामा कैमरे की सहायता से पहचानी जा सकती हैं।

विशेषज्ञों ने पाया है कि दिल के दौरे के तुरन्त बाद दिल की सबसे अधिक क्षति कोरोनरी धमनियों में रक्त के थक्के जम जाने से होती है। रक्त का थक्का यदि धमनी के ऊपरी भाग में जमता है तो दिल का दौरा काफी गम्भीर होता है, क्योंकि धमनियों के ऊपरी भाग में ही रक्त का प्रवाह ज्यादा होता है निचले भाग में रक्त का प्रवाह कम होता है। अतः निचले भाग में या धमनी के आखिरी हिस्से में रक्त का थक्का जमने पर दिल का दौरा उतना गम्भीर नहीं होता।

रक्त के थक्कों को दूर करना चिकित्सा विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों के कारण अब सम्भव हो गया है। इन थक्कों को समाप्त करने के लिए अस्सी के दशक में अमेरिका में दो इंजेक्शनों (दवाओं) का विकास किया गया जिन्हें "स्ट्रेप्टोकिनास" और "यूरोकिनास" कहा जाता है। दिल के रोगियों के लिए ये दवायें एक वरदान साबित हुई हैं। हृदय चिकित्सा विज्ञान में यह पद्धति "थ्रोम्बोसाइटिक थेरेपी" के नाम से जानी जाती है। इसके उपचार के बाद यह पाया गया है कि दिल के मरीज को दौरा पड़ने के बाद तीन से चार वर्ष तक किसी प्रकार की दिल सम्बन्धी कोई तकलीफ नहीं हुई।

बीस साल पहले जब डॉ० सी० बर्नार्ड ने पहला सफल दिल का प्रत्यारोपण किया था तब यह कहना काफी कठिन था कि भविष्य में यह कितना आसान होगा, क्योंकि डॉ० बर्नार्ड का पहला दिल प्रत्यारोपित रोगी केवल 18 दिन बाद ही न्यूमोनिया से मर गया था। लेकिन आज विकसित देशों में दिल के प्रत्यारोपण के मामलों की संख्या कई हजार है। केवल अमेरिका में 1700 दिल प्रतिवर्ष प्रत्यारोपित किये जाते हैं। इसमें सफलता का प्रतिशत 98 है। आज तमाम खोजों के बाद भी अंगों के संरक्षण की सीमाएं हैं। दिल निकाले जाने के 12 से 14 घण्टे के अन्दर ही प्रत्यारोपित किया जा सकता है। इसके बाद यह बेकार हो जाता हैं।

दिल का दौरा और पुनर्वास

दिल के दौरे के बाद जिन्दगी बेकार, अनुपयोगी और निरर्थक होती है, यह धारणा अब तेजी से बदली है। ठीक होने के बाद रोगी फिर अपने काम में लग सकते हैं। हृदय की मांसपेशियों में आई खराबी भी अन्य रोगों की तरह ठीक हो सकती है।

दिल के रोगियों के लिये पुनर्वास काफी महत्वपूर्ण होता है। डॉक्टरों द्वारा स्थापित पुनर्स्थापना का लक्ष्य का अर्थ होता है—रोगी को पुनः काम करने योग्य बनाना, मानसिक चिन्ता दूर करना और सामान्य जीवन जीने के काबिल बनाना। अक्सर दिल के दौरे के बाद रोगी को मानसिक चिन्ता और डर सताने लगते हैं और सामान्य जीवन जीने के लिए ऐसी आशंकाओं को दूर करना आवश्यक है।

पुनर्स्थापना के तीन प्रमुख चरण हैं। पहले चरण में अक्षम होने या अचानक मौत का डर रोगी के मन से निकालना आवश्यक होता है साथ ही दिल पर पड़ने वाले किसी भी तरह के दबाव को भी दूर करने का प्रयास किया जाता है। यही वह समय होता है जब मानसिक रूप से रोगी को स्वस्थ किया जाता है।

रोगी को पूर्णतः निरोग करने की शुरुआत दूसरे चरण में होती है। इसमें रोगी बिस्तर से बाहर आता है और वह धीरे-धीरे कुछ सीढ़ियाँ भी चढ़ सकता है और अन्त में वह घर आ जाता हैं। चिकित्सक का पूरा प्रयास यही रहता है कि रोगी फिर से समाज का एक स्वस्थ और सक्रिय नागरिक बने। उसमें फिर से आत्मविश्वास जागे, काम के प्रति उत्साह बढ़े और वह अपनी क्षमता के प्रति आश्वस्त हो। तीसरे चरण में रोगी को शारीरिक और मानसिक रूप से पूर्ण स्वस्थ बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

(सम्प्रेषण)

●●

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक का नाम : आलू की खेती

लेखक : श्री दर्शनानन्द

प्रकाशक : ग्राम विकास प्रकाशन, कमिश्नर कम्पाउण्ड कालोनी, इलाहाबाद

पृष्ठ : 101

मूल्य : 16 रुपये

समीक्ष्य पुस्तक भारतीय किसानों तथा ग्रामीण कार्यकर्त्ताओं के लिए अति उपयोगी कृषि साहित्य है और साथ ही साथ प्राथमिक स्तर के कृषि के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। हिन्दी में इस प्रकार की पुस्तकों का अभी भी बहुत अभाव है। यह पुस्तक काफी हद तक इस कमी को पूरा करती है। वर्तमान पुस्तक में आलू की खेती के विविध आयामों की सम्पूर्ण जानकारी दी गयी है। इसमें आलू के सफल उत्पादन में प्रयुक्त की जाने वाली अत्याधुनिक तकनीकों की सरलतम व्याख्या दी हुई है। आलू का महत्व, आलू से मिलने वाले पोषक पदार्थों की जानकारी; आलू की फसल का विस्तार, उपज, उपयुक्त जलवायु तथा मिट्टी सम्बन्धी जानकारी, आलू की क्षेत्रीय तथा उन्नत किस्में, खेत की तैयारी, खाद तथा विभिन्न शस्य क्रियाओं का वर्णन, आलू के रोग, रोगों से बचाव एवं उपचार सम्बन्धी जानकारियाँ आदि इस पुस्तक में उपलब्ध हैं। किसानों के लिए आलू के बीजों के उत्पादन की तकनीक तथा आलू से सम्बन्धित विभिन्न घरेलू उद्योगों की जानकारी भी लेखक ने व्यवस्थित ढंग से सरलतम भाषा में प्रस्तुत की है। आलू के साथ-साथ लेखक ने अन्य सब्जियों की खेती तथा हरी सब्जियों की खेती का भी उल्लेख किया है। वैसे पुस्तक में यदि चित्रों पर कुछ और ध्यान दिया गया होता तो और भी अच्छा होता। पुस्तक की भाषा सरल एवं सुग्राह्य है। लेखक चूंकि स्वयं उद्यान विज्ञान के एक अनुभवी विशेषज्ञ हैं अतएव उन्होंने आलू की खेती के दौरान आने वाली प्रत्येक समस्या को दृष्टि में रखकर पुस्तक का प्रणयन किया है। इस सफल प्रयास के लिए लेखक एवं प्रकाशक दोनों को साधुवाद।

—डॉ० अशोक कुमार गुप्ता

विभागाध्यक्ष, मृदा रसायन विभाग, एग्रीकल्चर इंस्टीट्यूट, नैनी, इलाहाबाद

धर्म और विज्ञान

स्वामी आत्मानन्द

[प्रस्तुत आलेख 'विवेक शिखा' पत्रिका के वर्ष 11, अंक 3, मार्च 1992 अंक से उद्धृत किया गया है। यह आलेख मूलरूप से **स्वामी आत्मानन्द जी महाराज** द्वारा **'धर्म और विज्ञान'** विषय पर दिया गया व्याख्यान है। इस व्याख्यान का टेप रेकार्ड से अनुलेखन 'विवेक शिखा' के **सम्पादक डॉ० केदारनाथ लाभ** और **सम्पादन स्वामी निखिलात्मानन्द जी महाराज**, अध्यक्ष, **रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद** ने किया है। श्रीमत् स्वामी आत्मानन्द जी महाराज 12 नवम्बर 1988 को ब्रह्मलीन हुए थे। हम 'विवेक शिखा' पत्रिका, डॉ० केदार नाथ लाभ, स्वामी निखिलात्मानन्द जी महाराज के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं और स्वामी आत्मानन्द जी महाराज को श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

—सम्पादक]

आज प्रातःकाल "धर्म और विज्ञान" चिन्तन का विषय रखा गया है। अध्यक्ष महोदय ने अपने प्रस्तावित भाषण में इन दोनों विषयों की ओर संकेत किया है और कहा कि प्राचीन भारत में धर्म और विज्ञान में विरोध नहीं था। यह भी उन्होंने कहा है कि पुराकाल में भारत में विज्ञान के क्षेत्र में प्रभूत उन्नति देखी जाती हैं। यह बिलकुल सही बात है। 12वीं शताब्दी तक हम यही बात पाते हैं कि भारत हर क्षेत्र में अग्रणी था। यहाँ तक कि जिसको हम **न्यूटन** के द्वारा आविष्कृत 'गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त' कहते हैं, वह भी न्यूटन से पाँच सौ साल पहले भारत के मनीषी, **भाष्कराचार्य**, के द्वारा उद्घाटित हुआ था। **ब्रह्मगुप्त, वराहमिहिर और भास्कराचार्य**—ये गणित और विज्ञान के क्षेत्र के बड़े मनीषी रहे हैं। भाष्कराचार्य 12वीं शताब्दी में हुए थे। उनका 'लीलावती बीजगणित' अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उन्होंने जो कुछ भी चिन्तन किया, लिखा और आविष्कृत किया, वह सारा का सारा 'सिद्धान्तशिरोमणि' ग्रन्थ में हमें प्राप्त होता है। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के द्वारा यह ग्रन्थ तीन जिल्दों में अँग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ है। जब हम उसे पढ़ते हैं, तब दिखाई देता है कि आज से आठ सौ साल पहले विज्ञान के क्षेत्र में भारत ने कितनी उन्नति की थी। भास्कराचार्य एक स्थान पर गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

आकृष्टिशक्तिश्च महीतया यत्
खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्तया।
आकृष्यते तत् पततीव भाति
समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे॥

—अर्थात् यह पृथ्वी अपनी आकर्षण-शक्ति से आकाश में स्थित पदार्थों को सतत अपने केन्द्र की ओर खींच रही है। उसका यह जो आकर्षण करना है, वही ऐसा लगता है कि पदार्थ नीचे गिर सा रहा है। जहाँ सब कुछ सब ओर समान है, वहाँ पर कौन किसमें गिरे?

तत्कालीन सचिव, रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, मध्यप्रदेश

अब इससे बढ़कर गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की क्या व्याख्या हो सकती हैं ? हम पढ़ते हैं कि न्यूटन ने 17वीं शताब्दी में इस सिद्धान्त को आविष्कृत किया, पर 'सिद्धान्तशिरोमणि' ग्रन्थ बतलाता है कि भास्कराचार्य ने न्यूटन से 500 साल पहले ही इसे खोज लिया था। फिर, 'चलन कलन' (Differential Calculus) के मूल सूत्र भी हमें 'सिद्धान्तशिरोमणि' में प्राप्त होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यदि हमने उन सूत्रों को लेकर 'चलन-कलन' विद्या का विकास किया होता, तो चलनकलन (Differential Calculus) की भारतीय परिपाटी हमारे पास होती, जो आज की पश्चिमी परिपाटी से भिन्न होती।

जो हो, भारत में इन विद्याओं का बहुत विकास हुआ था। जहाँ धर्म भी विकसित था और विज्ञान भी। भारत में धर्म और विज्ञान को लेकर कोई झगड़ा नहीं था, क्योंकि धर्म हमारे भीतर हमारे रक्त में, हमारे नस-नस में व्याप्त था और कहीं ऐसा नहीं लगता था कि विज्ञान और धर्म में टकराव है।

यह जो हम धर्म और विज्ञान में झगड़े की बात सुनते हैं, वह यूरोप की देन है। आप जानते हैं कि जब विज्ञान की रोशनी यूरोप में फैली, तब वहाँ प्रचलित ईसाई धर्म के नेताओं में खलबली शुरू हो गयी और उन्होंने नारा दिया—Riligion is in danger (धर्म खतरे में है)। कारण यह है कि विज्ञान किसी बात को किसी के कहने मात्र से मान नहीं लेता। उसकी प्रणाली परीक्षण की है। कोई कितना भी बड़ा वैज्ञानिक क्यों न हो, उसके मात्र यह कहने से कि मैंने अमुक प्रयोग सिद्ध किया है, दूसरे वैज्ञानिक उसे मानेंगे नहीं, जब तक कि वे स्वयं उसे अपने तई सिद्ध करके नहीं देख लेते। किन्तु धर्म के क्षेत्र में सामान्यतः हमारी मान्यता यह है कि धर्म मानने पर जोर देता है; कहता है कि धर्मग्रन्थ में ऐसा लिखा है, इसलिए तुम्हें इसे मान लेना चाहिए। इस प्रकार धर्म और विज्ञान दोनों की प्रणालियाँ अलग-अलग है। धर्म की प्रणाली विश्वास की है, जबकि विज्ञान की प्रणाली प्रयोग की। अब चूंकि ये दोनों प्रणालियाँ भिन्न हैं, इसलिए हमें लगता है कि धर्म और विज्ञान में विरोध हो सकता है और यूरोप में यह विरोध हुआ भी। किन्तु भारत में पुराकाल में, अभी की बात छोड़ दीजिए, धर्म की प्रणाली भी प्रयोगात्मक थी। हम लोग धर्म के क्षेत्र में विश्वास इसलिए नहीं करते थे कि किसी मनीषी ने कहा है, अपितु हम उसे अपने जीवन में उतारने की चेष्टा करते थे, अपने जीवन की प्रयोगशाला में उसे सिद्ध करने का प्रयत्न करते थे, और जब वह सिद्ध हो जाता, तब उस पर विश्वास करते थे। इसीलिए हम भारत में देखते हैं कि धर्म इतना जाग्रत बना रहा।

जब तक धर्म के क्षेत्र में भी प्रयोग न हो, तब तक वह केवल अंधविश्वास और कुसंस्कार का स्तूप मात्र बना रहेगा, जैसा कि आज हमें दिखाई देता है। एक काल ऐसा आया, जब हमने धर्म के क्षेत्र में प्रयोग करना बन्द कर दिया, हमने केवल बातों को मानना शुरू कर दिया। इससे हमारे देश में सारी गड़बड़ी शुरू हो गई। जब तक कोई प्रवाह बहता रहता है, जब तक उसका जल स्वच्छ निर्मल होता है, प्राणदायी होता है। पर यदि उसका बहना बन्द हो जाय, तो भले ही ऐसा लगेगा कि जल बहुत इकट्ठा हो गया, पर उस इकट्ठे जल में धीरे-धीरे सड़ांध पैदा होने लगेगी और वह लोगों के लिए हानिकारक हो जायेगा। इसी प्रकार जब तक चिन्तन का प्रवाह बहता रहता है, तब तक वह प्राणवन्त रहता है, पर जब मानने की परम्परा आ जाती है, जब कहा जाता है कि विश्वास कर लो, तब मानो हम चिन्तन-प्रवाह को रुद्ध कर देते हैं, चिन्तन के दरवाजे बन्द कर देते हैं, हम जो देखते हैं उस पर कोई प्रश्नवाचक चिन्ह नहीं लगाते, केलल स्वीकार कर लेते हैं। आज इसी प्रकार का स्वीकरण हमारे वैचारिक जीवन में सड़ांध पैदा कर रहा है। भारत में यह जो जो 700-800 साल का गुलामी का काल रहा है, वह चिन्तन के क्षेत्र में सड़ांध का काल रहा है। फलस्वरूप धर्म के क्षेत्र में जो तेजस्विता होनी चाहिए थी, वह नहीं हो पायी।

आज विज्ञान इतना तेजस्वी क्यों है ?—यह प्रश्न हमारे मन में उठता है। आज विज्ञान का हर अंग पुष्ट है। कारण यह है कि उसके हर अंग में रिसर्च चली हुई है, खोज चली हुई है, गवेषणा चली हुई है, अनुसंधान चला हुआ है। विज्ञान का कोई भी छोटा सा अंग ले लें, वहाँ पर सतत अनुसंधान की प्रक्रिया चली है। इस अनुसंधान के बल पर विज्ञान का वह अंग पुष्ट बना रहता है। मान लीजिए विज्ञान के एक क्षेत्र में किसी वैज्ञानिक ने घोषणा कर दी कि मैंने अमुक तत्व प्राप्त किया है, तो क्या दूसरा वैज्ञानिक उसे मान लेगा ? जब तक वह उसे परीक्षण से अपने तई सिद्ध नहीं कर लेगा, तब तक विश्वास नहीं करेगा। अब यह जो दूसरे वैज्ञानिक ने उसे परीक्षण से सिद्ध कर लिया यह मानो उस अंग का पोषण हो गया। तो, विज्ञान का हर अंग आज परीक्षणों और प्रयोगों के कारण पुष्ट है, किन्तु खेद की बात है कि धर्म का अंग पुष्ट नहीं हो पा रहा है, क्योंकि वहाँ पर अनुसंधान की प्रक्रिया बन्द हो गयी है।

आज से आठ सौ साल पहले हमारे यहाँ धर्म के क्षेत्र में भी मानने की यह परम्परा नहीं थी। हम कहते थे, ठीक है मनु ने कहा है, हम इस पर विचार करेंगे। आखिर मनु ने तो बहुत सी बातें कहीं हैं। हम मनु की सभी बातें तो नहीं मानते हैं। आज जब 'मनुस्मृति' पढ़ते हैं तो देखते हैं कि मनु ने 'नियोग-प्रथा' की वकालत की है। आज क्या नियोग-प्रथा समाज में विद्यमान है ? हमने ही उस प्रथा को निकालकर फेंक दिया है। यदि 'मनुस्मृति' को आज भी हम कारगर मानते हैं, तो उसमें जो कुछ लिखा है, उसमें काट-छाँट क्यों करते हैं ? हमें जो अपने अनुकूल लगता है, उसे तो ग्रहण कर लें और जो अनुकूल नहीं है, उसे त्याग दें—यह तो किसी ग्रन्थ को स्वीकार करने का तरीका नहीं है। नियोग-प्रथा तो मैंने एक उदाहरण के रूप में आपके समक्ष रखा। तो, यदि हमने मनु महाराज की कुछ बातों को स्वीकार किया और कुछ को नहीं, तो यह 'मनुस्मृति' का स्वीकरण नहीं है। यह वैज्ञानिक तर्क है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य जिस समय चिन्तनशील मनीषी या जिस समय वह धर्म के क्षेत्र में भी सतत अनुसंधान करता था, उस समय हमारा धर्म प्राणवन्त बना हुआ था। तब भारत में धर्म और विज्ञान में कोई विरोध नहीं था।

दोनों का यह विरोध तो यूरोप से आयातित है। वह पश्चिम की देन है। वहाँ दोनों में जमकर लड़ाई हुई। हम गैलीलियो की कथा पढ़ते हैं। उसने अपनी खोज के बल पर यह आविष्कार किया कि पृथ्वी सूरज के चारों ओर घूमती है, जबकि ईसाई धर्मग्रन्थ 'बाइबिल' में यह लिखा है कि सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा करता है। बस क्या था, धर्म के नेताओं ने जाकर सम्राट के पास शिकायत की कि गैलीलियो धर्मद्रोही है। गैलीलियो के अपराध पर विचार करने के लिए राजसभा बुलायी गयी। गैलीलियो को हाजिर होने का हुक्म दिया गया। उसके मित्रों ने कहा—"देखो, ये जो धर्मध्वजी लोग हैं ये बड़े जालिम हैं। अपने को धार्मिक नेता तो कहते हैं, पर हैं बड़े दुष्ट, बड़े कट्टर। वे तुम्हें प्राणदण्ड देने की माँग करेंगे। तुम सोच विचार से काम लेना।"

गैलीलियो ने संकेत ले लिया। राजदरबार में उस पर अभियोग लगाया गया कि यह धर्मद्रोही है। राजा ने उससे कहा, "तुम धर्म का द्रोह करते हो ?" गैलीलियो बोला, "मैंने भला कब धर्म द्रोह किया है ?"

"तुम तो ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित करते हो जो धर्म के सिद्धान्त के खिलाफ है।"—राजा ने शिकायत की।

"मैं आपकी बात समझ नहीं पाया, सम्राट।"—गैलीलियो ने उत्तर में कहा।

"क्यों, तुम यह सिद्धान्त बताते हो न कि पृथ्वी सूरज के चारों ओर घूमती है ? और यह तो धर्म का द्रोह करना है, क्योंकि धर्म की पुस्तक में लिखा है कि सूरज पृथ्वी की परिक्रमा करता है। बोलो, तुम्हें कुछ कहना है ?"

"आप जो कहना चाहें, वही मेरा भी कहना है। आप से उल्टी बात मैं कैसे कह सकता हूँ ?"—गैलीलियो बोला।

"तो तुम जानते हो कि सूरज ही पृथ्वी के चारों ओर घूमता है ?" सम्राट ने पूछा।

गैलीलियो ने कहा, "जैसा आप कहें, वह मानने के लिए मैं बाध्य हूँ।"

"तो ठीक है, तुम इस दस्तावेज पर दस्तखत कर दो।" राजा ने हुक्म दिया।

और गैलीलियो ने हस्ताक्षर कर दिये। उसमें लिखा था—"मैं, अमुक का पुत्र गैलीलियो, आज अमुक तिथि की यह घोषणा करता हूँ कि सूरज ही पृथ्वी के चारों ओर परिक्रमा करता है और जो मैं कहा करता था कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है, वह सही नहीं है।"

गैलीलियो प्राणदण्ड से छूट गया। उसके विरोधियों ने उस पर व्यंग्य वाण चलाये—"क्यों, बहुत शेखी मारते थे न। अब क्या हुआ ? आखिर तुमने धर्म के द्वारा घोषित सिद्धान्त पर ही हस्ताक्षर कर दिये न।" गैलीलियो बोला, "मेरे हस्ताक्षर करने से क्या होता है ? क्या उससे पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करना बन्द कर देगी ? होगा तो वही जो सत्य है, मेरे हस्ताक्षर करने से क्या आता-जाता है ?" उसके विरोधियों ने यह बात भी राजा के पास पहुँचा दी और गैलीलियो को प्राणदण्ड दिया गया। यहाँ से धर्म और विज्ञान की तकरार शुरू होती है।

होता यह है कि जब कोई धर्म तर्कशून्य हो जाता है, तो वह कट्टर संकीर्ण हो जाता है और वैज्ञानिक दृष्टि का तिरस्कार करता है। वैज्ञानिक दृष्टि व्यक्ति या सम्प्रदाय-निरपेक्ष होती है। वह हमारे समक्ष सार्वभौम सत्य का उद्घाटन करती है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि ने धर्मपुस्तक में लिखी किसी बात को काटा, तो यह नहीं मान लेना चाहिए कि विज्ञान धर्म का विरोध कर रहा है। हमें विज्ञान की उस दृष्टि को समझने की चेष्टा करनी चाहिए। जिस धर्म में विचार, चिन्तन, अनुसंधान, गवेषणा और अनुभूति को महत्व दिया जाता है, वह कभी भी विज्ञान की प्रणाली से विरोध नहीं करेगा। वेदान्त एक ऐसा ही धर्म है, वह वैज्ञानिक प्रक्रिया का सामना करने में समर्थ है। यही कारण कि विश्व के सभी देशों के विचारशील लोग वेदान्त में भविष्य की आशा देख पा रहे हैं, क्योंकि वेदान्त के सिद्धान्त वैज्ञानिक मापदण्ड पर खरे उतर रहे हैं और विश्व की इस अनबूझ पहेली को बूझने के लिए महत्वपूर्ण सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि जैसे विज्ञान सत्य की खोज है, वेदान्त भी वैसे ही सत्य की खोज ही है। पर हाँ, दोनों की प्रणालियां भिन्न हैं। विज्ञान बाहर से, इन्द्रिय ग्राह्य जगत् में सत्य की खोज करता है, जबकि वेदान्त भीतर से, मन के भीतर उस सत्य को पाने का प्रयास करता है। पहले भारत के ऋषियों ने भी सत्य को बाहर खोजने की बहुत कोशिशें कीं, पर सत्य मिला नहीं। हाँ, इस प्रयास में विज्ञान की अनेक विधाओं का आविष्कार अवश्य हो गया। तब ऋषियों ने भीतर सत्य की खोज शुरू की। उन्होंने देखा कि बहिर्मुखी होने से, इन्द्रियों को बाहर को ओर ले जाने से सत्य मिलता नहीं है, इसलिए वे इन्द्रियों को भीतर की ओर ले गये। इस प्रणाली का सुन्दर वर्णन हमें 'कठोपनिषद्' (2/1/1) में मिलता है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्
पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।।

'स्वयम्भू (परमात्मा) ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर हिंसित कर दिया है, इसलिए जीव बाहर की ओर (वाह्य विषयों को) देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। पर कोई धीर पुरुष था, जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियों को (बाहर जाने से) रोक कर प्रत्यगात्मा को देख लिया।

इस एक श्लोक में साधना और सिद्धि के सभी सूत्र दे दिये गये हैं। यह आत्मानुशीलन की प्रणाली है। इन्द्रियाँ स्वभाव से बाहर की ओर जाती हैं (पराक्) और वह सत्य भीतर गया हुआ ('प्रत्यक्') है। अतएव सत्य का साक्षात्कार करने के लिए इन्द्रियों को भीतर की ओर मोड़ना होगा। सत्य के साक्षात्कार से क्या होगा? अमरत्व प्राप्त होगा। यह भारत की प्रणाली रही। इसीलिए हमारे देश में धर्म और विज्ञान में झगड़ा नहीं हुआ, क्योंकि हमारे मनीषियों ने दोनों में टकराव का कोई कारण नहीं देखा। उन्होंने अनुभव किया कि एक सर्वव्यापी सर्वानुस्यूत शाश्वत सत्ता है, जिसे अनन्त नियमों का पुंज कहा जा सकता है। बुद्ध ने इसे 'धम्म' (धर्म, LAW) कहकर पुकारा। जब यह अनन्त नियमपुंज अपने को बाह्य संसार के धरातल पर अभिव्यक्त करता है, ये विज्ञान के नियम कहलाते हैं और इन्हें विज्ञान की प्रणाली से जाना जाता है और जब वही नियमपुंज अपने को मानसिक संसार के धरातल पर अभिव्यक्त करता है, तो वे अध्यात्म के नियम कहलाते हैं और उन्हें जिस प्रणाली के द्वारा जाना जाता है, उसे धर्म या अध्यात्म की प्रणाली कहते हैं। इस प्रकार हमारे चिन्तकों और मनीषियों ने इन दोनों प्रणालियों में कोई विरोध न देखा, अपितु दोनों को एक दूसरे का परिपूरक माना।

पर पश्चिमी देशों के साथ यह बात नहीं थी। वहाँ धर्म के क्षेत्र में स्वतन्त्र और उन्मुक्त चिन्तन का स्थान नहीं था, इसलिए विज्ञान को वहाँ पर धर्म का वैरी माना जाने लगा। बात यह है कि धर्म ईश्वर को मानने पर जोर देता है और विज्ञान ऐसी किसी सत्ता को मानने के लिए तैयार नहीं है, जो परीक्षण से सिद्ध न होती हो। पहले तो वहाँ धर्म विज्ञान पर हावी था, जैसा कि गैलीलियो के साथ हुए व्यवहार से हम समझ सकते हैं, पर धीरे-धीरे विज्ञान शक्ति संचित करता गया, उसके अनुयायियों की संख्या बढ़ती गयी और फिर वह समय भी आया, जब विज्ञान पूरी तरह धर्म पर हावी हो गया। आज सर्वत्र विज्ञान का ही बोल बाला है। पश्चिमी देशों में धर्म की आवाज अरण्य रोदन के समान है। तथापि वहाँ भी लोग, चोटी के बहुत से वैज्ञानिक लोग वेदान्त में भविष्य की आशा देखते हैं, विज्ञान में या अपने यहाँ प्रचलित धर्म में नहीं है। इसका क्या कारण है? कारण यह कि वेदान्त किसी सम्प्रदाय का धर्म नहीं है, वह मानव मात्र का धर्म है, वेदान्त विज्ञान की प्रक्रिया को खण्डित नहीं करता, बल्कि अपनी पुष्टि के लिए भी वैज्ञानिक प्रक्रिया को समर्थन देता है, वह मानव जीवन की उन गम्भीर समस्याओं को सुलझाने में सार्थक पहल करता है जहाँ विज्ञान घुटने टेक देता है। वेदान्त के सम्बन्ध में सुविख्यात प्राच्यविद्या के पारंगत विद्वान मैक्समूलर का कथन माननीय है। वे अपने 'वेदान्त फिलॉसफी' नामक ग्रन्थ में (पृ० 5) कहते हैं—

"शॉपेनहावर ने यह जो कहा है कि दुनिया में उपनिषदों के अध्ययन के अलावा और कोई अध्ययन नहीं है, जो वैसा उपादेय और उस प्रकार उदात्त हो, वह मेरे जीवन की सान्त्वना रहा है और मृत्यु की भी सान्त्वना रहेगा—

उनके इस कथन को यदि किसी समर्थन की आवश्यकता हो, तो मैं अपने सारे जीवन भर जो विभिन्न दर्शनों और बहुतेरे धर्मों के अध्ययन में लगा रहा और उससे मुझे जो अनुभव हुए उन अनुभवों के बल पर मैं बड़ी खुशी से यह समर्थन दे सकता हूँ।"

जैसा हमने कहा कि पाश्चात्य देशों में विज्ञान धर्म पर हावी हो गया। 18वीं शताब्दी में विज्ञान पूरी तरह धर्म पर अपना अधिकार जमा चुका था। 17वीं शताब्दी में न्यूटन आये। उन्होंने बहुत सी खोजें की। उन्होंने विभिन्न गुणों का पता लगाया। यही नहीं, ग्रहों के बीच आपस में दूरी कितनी है तथा उनकी गति क्या है, यह सब उन्होंने पेश की। इसके कारण वैज्ञानिक ऐसा सोचने लगे कि बस अब ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं। वैसे न्यूटन स्वयं आस्तिक थे। ईश्वर और धर्म में उनकी आस्था थी किन्तु बाद के जो वैज्ञानिक आये वे घोर नास्तिक थे। उन्होंने ईश्वर की सत्ता पूरी तरह नकार दी। उन्होंने ऐसा माना कि हम दुनिया को गणित के समीकरण में बांधकर रख सकते हैं। वह निश्चितवाद का युग (Deterministic age) था। वैज्ञानिक तब यही मानता था कि हम संसार में घटने वाली किसी भी घटना को गणित के फार्मूलों में बाँधकर रख सकते हैं। इस पर पहला प्रहार तब होता है जब हिजनबर्ग नाम के वैज्ञानिक अपने अनिश्चितवाद के सिद्धान्त (Principle of indeterminamcy) का प्रतिपादन करते हैं और तब विज्ञान के क्षेत्र में एक तहलका सा मच जाता है। इसके बाद विज्ञान का स्वर कुछ नम्र होने लगता है।

जब हम विज्ञान के इतिहास का अवलोकन करते हैं तो देखते हैं कि विज्ञान की परम्परा आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुई थी। वैज्ञानिकों ने पदार्थ को लेकर तोड़ना प्रारम्भ किया और उसे तब तक तोड़ा जब तक उसे और विभाजित करना सम्भव नहीं हुआ। इसका उन्होंने अणु (Molecule) नाम दिया। उन्होंने सोच लिया कि तत्व (Element) की इससे छोटी इकाई और हो नहीं सकती। पर उनकी यह धारणा खण्डित होती है। लगभग 400 से 470 वर्ष ईस्वी पूर्व ल्यूसिप्स तथा उनके शिष्य डिमोक्रिटस आते हैं और ये अणु का विभाजन कर यह सिद्ध करते हैं कि अणु अविभाज्य नहीं वरन् प्रत्येक अणु एक अथवा कई परमाणुओं से बना है तथा परमाणुओं के बीच में खाली स्थान है। प्रत्येक परमाणु ठोस है तथा यह तत्व (Element) का अविभाज्य अंग है। पदार्थ में परिवर्तन उसके अन्दर निहित परमाणुओं की गति अथवा स्थिति में हुए परिवर्तन के फलस्वरूप होती है। सारा दृश्यमान जगत् परमाणुओं से बना है तथा संसार में परमाणुओं की संख्या निश्चित है। प्रकृति का एक शाश्वत, सर्वव्यापी, विश्वजनीन सिद्धान्त ही परमाणुओं की गति को संचालित करता है। प्राणियों में हम जो चेतना पाते हैं वह भी परमाणुओं के आकस्मिक संघात के फलस्वरूप है। मनुष्य चूंकि प्रकृति का एक अंश है अतः वह भी उन्हीं नियमों द्वारा संचालित होता है।

न्यूटन ने 1687 में अपने ग्रन्थ 'प्रिंसिपिया, (Principia) तथा 1704 में 'आप्टिक्स' (Optics) में न्यूनाधिक इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। पर उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार किया। उनके अनुसार ईश्वर ने परमाणुओं की सृष्टि की तथा उनमें शक्ति का संचार किया जिसके फलस्वरूप जगत् की अभिव्यक्ति हुई। न्यूटन के अनुसार ये परमाणु इस प्रकार संघटित होते हैं कि उससे चेतना का उदय होता है। चेतना का विकास बाद की अवस्था है तथा मनुष्य इस विकास का परिणाम है। अतः मनुष्य इन नियमों के द्वारा आबद्ध है। उसकी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं, वह मात्र एक गुलाम है।

बाद के जो वैज्ञानिक आते हैं वे ईश्वर के अस्तित्व को पूरी तरह नकार देते हैं। उनके अनुसार जगत् की जो भी प्रक्रिया घट रही है वह परमाणुओं के संघात के फलस्वरूप है तथा यह कार्य-कारण श्रृंखला के द्वारा परिचालित हो रही है जिसमें ईश्वर का कोई स्थान नहीं। यह परमाणु सिद्धान्त ही 'Mechanical Theory of Universe' के नाम से जाना जाता है। संसार की सृष्टि में चेतना (Conciousness) को कोई स्थान है क्योंकि चेतना तो स्वयं 'यांत्रिक प्रक्रिया' (Mechanical process) का परिणाम है। इस सिद्धान्त ने वैज्ञानिकों को बड़ा उद्धत बना दिया।

पर इस सिद्धान्त को भी 18वीं सदी के अन्त में गहरी चोट लगी जब 1891 में **थॉम्सन**, ने कैथोड रेज का आविष्कार किया। इसके माध्यम से उन्होंने सिद्ध किया कि परमाणु भी ठोस नहीं वरन वह इलेक्ट्रॉन (Electron) तथा प्रोटॉन (Proton) जैसे ऋणात्मक और धनात्मक विद्युत् कणों से युक्त हैं तथा न केवल परमाणु को नष्ट ही किया जा सकता है वरन् नये परमाणु की सृष्टि भी की जा सकती है। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में **लार्ड रदरफोर्ड** ने इसी सिद्धान्त के आधार पर सीसे के परमाणु (Lead atom) से स्वर्ण परमाणु (Gold atom) बनाने में सफलता अर्जित की।

इस तरह पिछले 2500 वर्षों से चला आ रहा यह सिद्धान्त कि परमाणु अविभाज्य (indestructible) है, ध्वस्त हो जाता है। यह सिद्ध होता है कि परमाणु को 'इलेक्ट्रॉन' और 'प्रोटॉन' में विभाजित किया जा सकता है तथा यह संसार जड़ भौतिक परमाणुओं का खेल नहीं किन्तु यह विद्युत् तरंगों की उपज है जो कि जड़ नहीं। इसे 'Electrical Theory of matter' के नाम से जाना गया।

यहाँ से मानो इलेक्ट्रॉनिक एज की शुरुआत होती है तथा अब वैज्ञानिक यह जानने का प्रयास करते हैं कि जिस प्रकार molecule (अणु) के भीतर atom (परमाणु) छिपा या उसी प्रकार इसके भीतर क्या छिपा है। वैज्ञानिकों में हिजनवर्ग सामने आते हैं और वे इस अनुसंधान को आगे बढ़ाते हैं। उसमें वे बड़ी दिक्कत महसूस करते हैं। दिक्कत यह कि इलेक्ट्रॉन बड़ी तेजी से भागता है, उसमें बड़ी गति है। हिजनबर्ग के मन में आया कि जब तक हम इलेक्ट्रॉन को पकड़ नहीं लेते हैं तब तक कैसे जान सकते हैं कि उसके भीतर क्या छिपा है? उन्होंने इलेक्ट्रॉन को पकड़ने की कोशिश की। अब किसी गतिशील वस्तु को पकड़ने का उपाय क्या है? उसके लिए दो बातों को जानना होगा। एक यह कि वह वस्तु कितनी गति से भाग रही हैं तथा दूसरा यह कि वह किस दिशा में भाग रही है। यदि मुझे दिशा और गति दोनों का ज्ञान हो जाय तो बहुत सम्भव है कि मैं उस वस्तु को पकड़ने की चेष्टा कर सकता हूँ। तो हिजनबर्ग ने यह जानने की चेष्टा की कि इलेक्ट्रॉन किस दिशा में भागता है और किस गति से भागता है इस प्रयास में वह दुर्घटना घटती है जिससे हिजनबर्ग को एक नया सिद्धान्त घोषित करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, जिसका नाम है—'Heisenberg's indeterminancy Principle' (हिजनबर्ग के अनिश्चितवाद का सिद्धान्त)। वह क्या था? वे देखते हैं कि जब वे इलेक्ट्रॉन की गति को पकड़ने की चेष्टा करते हैं तो उसकी गति लुप्त हो जाती है और दिशा बनी रहती है और जब दिशा को पकड़ने का प्रयास करते हैं तो दिशा लुप्त हो जाती है और गति बनी रहती है। यह बड़ी विचित्र बात है जो इलेक्ट्रॉन के साथ आती हैं। वे कुछ समझ नहीं पाते हैं कि आखिर इलेक्ट्रॉन इस तरह behave (कार्य) क्यों करता है। फिर वे देखते हैं कि कभी इलेक्ट्रॉन particle (कण) के समान behave (कार्य) करता है तो कभी wave (तरंग के समान), कभी उसका गुण कणात्मक होता है तो कभी तरंगात्मक।

ऐसा क्यों होता है, यह समझाने में वे असमर्थ होते हैं। इसलिए वे उसका नाम देते हैं wavicle। तो पहली बार विज्ञान के क्षेत्र में casual relation (कार्य कारण नियम), जिसको हम 'निमित्त' कहते हैं, खण्डित होता है। इससे विज्ञान के क्षेत्र में बड़ी खलबली मचती है। फिर बड़े-बड़े वैज्ञानिक आये जेम्सजोन्स, मैक्सप्लांक, आइन्स्टीन आदि, जिन्होंने इस खण्डित कार्य-कारण की कड़ी को जोड़ने का प्रयास किया, पर वह आज तक जुड़ नहीं पायी। हिजनबर्ग द्वारा घोषित अनिश्चितवाद का सिद्धान्त अभी तक कायम है। तो यह आज के विज्ञान की स्थिति है। जब से यह दुर्घटना घटी है जब से विज्ञान के क्षेत्र में नरमाई आयी है। उसका औद्धत्य चला गया है। जो वैज्ञानिक कहता था कि मैं सारी दुनिया को गणित के आँकड़े में बाँधकर रख दूँगा, आज वह यह कहने का साहस नहीं कर पा रहा है। आज के चोटी के वैज्ञानिक, जिनमें आइंस्टीन भी शामिल हैं, उस सत्ता में विश्वास करते हैं जिसे हम ईश्वर कहकर पुकारते हैं। वह एक अवान्तर विषय है। पर मैं केवल यही बताना चाहता था कि आज के चोटी के वैज्ञानिक,ईश्वर और विज्ञान की परम्परा में विरोध नहीं देख रहे हैं। पर वे इतना मानते हैं कि जो ईसाई धर्म की प्रक्रिया है उसके माध्यम से वैज्ञानिक प्रक्रियाओं को नहीं समझा जा सकता है। साथ ही वे वेदान्त का हवाला देना नहीं भूलते हैं। जैसे यदि आप एडिंगटन, जेम्सजीन्स, मॅक्समॅप्लाँक तथा श्राँडिजर आदि के पुस्तकों को पढ़ें तो उसमें वेदान्त और पातंजलि के योग सूत्र का हवाला पायेंगे।

हिजनबर्ग के 'अनिश्चितवाद के सिद्धान्त' का आविष्कार होने के बाद आस्टीन ने General Theory of Relativity' तथा 'Special Theory of Relativity' के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। बाद में पत्रकारों ने उनसे पूछा, आपने जो Relativity के सिद्धान्त निकाले हैं, वह कार्य-कारण सिद्धान्त की टूटी हुई कड़ी को समझाने के प्रयास में निकाले हैं न?" आइंस्टीन ने कहा, "हाँ, मेरी चेष्टा तो यही रही है कि विज्ञान के क्षेत्र में जो कड़ी टूट गयी है, उसे समझाने का प्रयास करूँ। पर मुश्किल है कि वह कड़ी सुलझ नहीं पा रही है।" तात्पर्य यह कि न्यूटन के आने के पूर्व वैज्ञानिकों की जो स्थिति थी, एक अनजान, अदृश्य जगत् में परिभ्रमण की, जहाँ उन्हें कुछ नहीं सूझ पा रहा था, वैसी ही स्थित वे आइंस्टीन के आने के बाद अनुभव करने लगे। एक ने अँग्रेजी में एक सुन्दर couplet लिखा—

Nature and nature's law lay hid in night,
God said let Newton be and all was light.
But not for long, the Devil howling 'HO',
'Let Einstein be' restored the stalusquo.

—अर्थात् प्रकृति और प्रकृति के नियम रात्रि के अन्धकार में छिपे हुए थे। ईश्वर ने कहा कि न्यूटन आ जाय और सब कुछ प्रकाश से भर गया। पर अधिक समय बीता नहीं कि 'शैतान' चिल्ला उठा कि वह आइंस्टीन को ले आया है तथा इससे स्थिति पुनः यथावत हो गयी।

आइंस्टीन का तात्पर्य यह है कि सत्य को विज्ञान के बीच रहकर जानना कठिन है, क्योंकि किसी भी तत्व को जानने का जो साधन है वह है हमारा मन। यह प्राथमिक औजार है जिसके सहारे हम जो ज्ञातव्य है, उसे जानते हैं। पर मन की अपनी ही सीमा है। मन के तीन उपादान है—Time, space and causation अर्थात् देश, काल और निमित्त। इसका तात्पर्य यह है कि मन इन तीन उपादानों को लाँघ नहीं सकता। मन देश के परे जाकर, काल

के परे जाकर तथा कार्य-कारण नियम के परे जाकर विचार नहीं कर सकता। हिजनबर्ग ने जब इलेक्ट्रॉन के पीछे का सत्य जानना चाहा तो देखा कि वहाँ पर कार्य-कारण की परम्परा टूट गयी, और यदि हम इसे मन के द्वारा जानना चाहें कि कार्य-कारण नियम के परे क्या है तो यह कैसे जान सकते हैं? जो मन कार्य-कारण के नियम के घेरे में रहकर काम करता है उसके द्वारा हम उसे कैसे जान सकते हैं जो कार्य-कारण के नियम के परे है और यदि हमें इस मन के द्वारा जानने का आग्रह ही है तब तो हमें अपने मन को ही लाँघना होगा। इसलिए आइंस्टीन अन्त में कहते हैं—

Thus the physics of 20th century sees to be admitted to the door of metaphysics.

अर्थात् 20वीं शताब्दी का भौतिक विज्ञान, अध्यात्म विज्ञान के कक्ष में प्रवेश पाना चाहता है। यह आइंस्टीन की दृष्टि है।

मैं एक किताब का बहुत हवाला दिया हूँ, वह है Lincon Barnnet द्वारा लिखित 'The Universe and Dr Einstein'। इस पुस्तक में उन्होंने विज्ञान के क्षेत्र में शुरू से लेकर जो-जो खोजें हुई हैं उनका वर्णन करते हुए लिखा कि आइंस्टीन ने क्या-क्या चीजें दीं तथा कहाँ पर आकर (विज्ञान की) गाड़ी रुक गयी और अगर सत्य का साक्षात्कार करना है तो हमें क्या करना होगा। वे लिखते हैं—

"There is no mystery of the physical world which does not point to a mystery beyond itself. All high roads of intellect, all by ways of theory and conjecture lead ultimately to an abyss that human ingenuity can never span."

अर्थात्, "भौतिक जगत् में ऐसा कोई रहस्य नहीं है जो अपने से परे अन्य रहस्य की ओर इंगित न करता हो। बुद्धि के विस्तृत मार्ग तथा सिद्धान्त और सम्भावनाओं के समस्त रास्ते अन्ततोगत्वा ऐसे अतल गर्त में ले जाते हैं जिसे मानवीय योग्यता माप नहीं सकती।"

लिकन बार्नेट कहते हैं कि आज विज्ञान के क्षेत्र में समस्याओं का अम्बार खड़ा हो गया है। हम एक समस्या को सुलझाने जाते हैं तो उस प्रयास में कई नयीं समस्यायें आ जाती हैं। अतः इन समस्याओं के सुलझाने के लिए मूलभूत समस्या को हल करना होगा। वह मूल समस्या क्या है? लिकन बार्नेट लिखते हैं—

"Man is his own greatest mystey. He does not understand the vast veiled universe into which he has been cast for the reason that he does not understand himself, least of all does he understand his noblest and most mysterious quality; the ability to transcend himself and perceive himself in the act of perception.

अर्थात् "मनुष्य ही अपना सबसे बड़ा रहस्य है। वह इस विशाल पटावृत जगत् को, जिसमें कि वह ढकेल दिया गया है, जानने में इसलिए असमर्थ हैं क्योंकि वह अपने आप को नहीं जानता है और तो और अपने आप को लाँघकर सही मापने में अपने अन्दर दृष्टिपात करने का उसके भीतर जो सामर्थ्य तथा उदात्ततम तथा अत्यन्त रहस्यमय गुण है, उसके बारे में भी उसकी समझ बहुत कम है।"

मनुष्य अपने आप को लाँघ जाय और लाँघकर अपने को देखे—यह विज्ञान की भाषा नहीं, यह तो दर्शन और अध्यात्म की भाषा है। तो आज वैज्ञानिकों का चिन्तन जिस दिशा में जा रहा है, वेदान्त का चिन्तन भी ठीक

इसी प्रकार का है। जिस उपाय से मनुष्य अपने आप को लाँघने में समर्थ होता है उसे कहते हैं—ध्यान योग। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में एक बहुत सुन्दर बात कही गयी है। वहाँ एक 'ब्रह्म संगोष्ठी' में विचार किया जाता है कि यह संसार क्या है? कहाँ से उत्पन्न हुआ है? यह ब्रह्म क्या है? यही सब चिन्तन चला हुआ है। तीसरे मन्त्र में ब्रह्म को जानने का उपाय बताते हुए कहा गया—

ते ध्यान योगानुगता अपश्यन्।

उन्होंने उस ब्रह्म तत्व को देखा, उसका साक्षात्कार किया जो देश काल निमित्त से परे है। कैसे साक्षाकार किया? ध्यान योग के सहारे। अब यह ध्यान योग क्या है, इसे समझना चाहिए। सामान्यतः ध्यानयोग कहने से हमको लगता है—मन की एकाग्रता। पर यह ठीक अर्थ नहीं। मन की एकाग्रता तो वैसे भी हो जाती है। जैसे यदि मुझे किसी विषय में रुचि है तो मन उसमें सहज ही एकाग्र हो जायेगा। अगर मुझे शतरंज खेलने में रुचि है तो खेलते समय मन एकाग्र हो जायेगा। एक चित्रकार जब चित्रकारी करता है तो उसके सारे मन, प्राण सब चित्रकारी में डूब जाते हैं। तभी वह बढ़िया चित्र बनाने में समर्थ होता है। एक सितार वादक जैसे रविशंकर जब सितार बजाते हैं तब कितने एकाग्र हो जाते हैं। ऐसा लगता है जैसे वे ध्यान में, समाधि में चले गये हों। मानो उन्होंने मन के समस्त अंगों को दुनिया के विचारों से हटाकर उस वादन में लगा दिया, केन्द्रित कर दिया। तात्पर्य यह कि मनुष्य का मन अपनी पसंद के विषयों में एकाग्र हो जाता है। पर यह ध्यान योग नहीं है। जब हम अपनी पसन्द के विषयों पर मन को एकाग्र करते हैं। मन को मन के ऊपर ही एकाग्र करने का अर्थ क्या?—यह कि आज हमारा मन है बड़ा भोथड़ा क्योकि उसके अग्र इधर से उधर भागते हैं। उसमें penetrating power (भेदन शक्ति) नहीं है। पर जिस समय हम मन के अग्रों को समेटते हैं तो उसमें भेदन शक्ति आ जाती है और जब उसे मन के ऊपर ही एकाग्र करते हैं तो वह मन की परतों को छेदते हुए मन की गहराइयों में उतरने लगता है। उससे हमें अनुभूतियाँ होती हैं जिसे हम योगज अनुभूतियाँ कहते हैं। जैसे एक लौकिक उदाहरण लें—सामान्य जो आलोक की किरण है उसमें penetrating power नहीं है। पर यदि इसी किरण की Frequency बढ़ा दी जाय अथवा wavelength घटा दी जाय तो यह X-Ray (एक्सरे) बन जाती है और तब यह कपड़े और चमड़े आदि को भेदती हुई शरीर के भीतर तक प्रवेश कर जाती है। Deep X-Ray Therapy के पीछे यही सिद्धान्त कार्य करता है। इसी प्रकार यह जो हवा है उसमें सामान्य अवस्था में कोई दबाव अथवा असर नहीं दीखता है पर ज़ब इसी हवा को compress कर दिया जाता है तब वह कठोर से कठोर चट्टानों को भी काट देती है। Air-compressor के पीछे हम इसी सिद्धान्त को कार्यरत पाते हैं। उसी प्रकार मन में भी अपने आप को देखने की ताकत है और यह ताकत तब प्रकट होती है जब हम मन को मन के ही ऊपर एकाग्र करते हैं। तब एक ऐसी स्थिति आती है जब मन मानों अपने को छलांग मारकर पार कर जाता है और तब लिंकन बार्नेट की भाषा में 'मनुष्य के अपने को लाँघकर अपने भीतर देखने की बात' पूरी तरह चरितार्थ होती है। 'माण्डुक्य उपनिषद्' में कहा गया है—'प्रपन्चोपशमं शान्त शिवमद्वैतं चतुर्थ मन्यते स आत्मा स विज्ञेयः।' वही आत्मा में अवस्थित होने की अवस्था है। वह चौथी अवस्था है। उसको 'तुरीय' कहा गया है। उसे ही 'अमनी मन' की अवस्था भी कहते हैं जिसमें मन अपनी सीमा को पारकर देश, काल और निमित्त के परे चला जाता है। तात्पर्य यह—जो बातें आइंस्टीन ने कहीं; लिंकन बार्नेट ने कही वह तो भारत में कई हजार वर्ष पूर्व कही जा चुकी हैं। यह हमारे वेदान्त-धर्म की परम्परा है जहाँ यह बताया गया है कि सत्य का साक्षात्कार होगा। हमने कभी विज्ञान की तौहीनी नहीं की वरन् विज्ञान को धर्म के सहायक तथा परिपूरक के रूप में लिया और जब तक

भारत में हम धर्म और विज्ञान को साथ लेकर चलते रहे तब तक हमने धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में तथा विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति की। पर जबसे भारत गुलाम हुआ तबसे हमारा मन संकीर्ण हो गया। हमने अपने मन के सारे दरवाजे बंद कर दिये इसीलिए धर्म के क्षेत्र में अन्धविश्वास और कुसंस्कार पनपा तथा हमारे जीवन में गिरावट आयी। आज जो धर्म की स्थिति देख रहे हैं, जो केवल क्रिया अनुष्ठानों तथा मत मतान्तर तक सीमित है, वह यथार्थ धर्म नहीं है। यथार्थ धर्म तो वेदान्त है जो डंके की चोट पर सत्य के रहस्य के उद्घाटन की घोषणा करता है तथा जो विज्ञान के साथ कदम से कदम मिलाकर चलता है तथा उसे परिपूर्णता प्रदान करता है।

●●

['विवेक शिखा' से साभार]

जैव विविधता : संरक्षण जरूरी

डॉ० दिनेश मणि

भारतीय ब्रह्मशास्त्र के अनुसार जीवित प्राणियों की 84 लाख 'योनियाँ' हैं। लगभग 20 वर्ष पहले जीव-विज्ञानियों ने सोचा कि यह संख्या काफी अधिक है। उन्होंने 15 लाख जातियों का वर्णन किया था। कुल संख्या 50 लाख से कम ही अनुमानित की गयी, परन्तु जब उन्होंने आर्द्र-शीत जंगलों में सावधानीपूर्वक देखना प्रारम्भ किया तो उन्होंने एक घाटी से दूसरी घाटी में विभिन्न वृक्षों की विभिन्न जातियाँ तथा एक ही वृक्ष में लगने वाले विभिन्न कीड़ों की विभिन्न जातियाँ पायीं। कुल जातियों की कुल संख्या इस समय 5 करोड़ आँकी गयी है तथा प्रत्येक जाति की संख्या हजारों विभिन्न जीनों (Genes) का दसवाँ भाग ही है।

जैव विविधता से तात्पर्य विभिन्न किस्म के जीवन-तन्त्र, जीव, आनुवंशिक सामग्री से है, जिनके साथ हम इस दुनिया में रहते आये हैं और रह रहे हैं। यहाँ एक महत्वपूर्ण बात यह है कि जैव विविधता के अन्तर्गत केवल जंगली या प्राकृतिक जीवों को ही शामिल नहीं किया गया है अपितु पालतू प्रजातियाँ (फसलें, पालतू पशु) एवं आनुवंशिक सामग्री (जैसे जीन) भी सम्मिलित हैं।

विभिन्न जीवों, उनके प्राकृतिक निवासों तथा आनुवंशिक विविधता की समाप्ति आज तीव्र दर से हो रही है। एक प्रजाति के प्रतिदिन से लेकर प्रति घण्टे की दर से नष्ट होने के अनुमान लगाये गये हैं। इस गति से तो अगले दो-तीन दशकों में दुनिया की प्रजातियों का दसवाँ हिस्सा नष्ट हो चुका होगा। जंगली जातियों के साथ ही साथ कई पालतू जीव-जातियाँ भी तेजी से नष्ट होती जा रही हैं।

हमारे देश में वनस्पतियों की लगभग 2,000 जातियों के लुप्त होने का खतरा है। इनमें से लगभग 200 लुप्त होने के कगार पर खड़ी हैं, कुछ लुप्त भी हो चुकी हैं। अन्य देशों में भी यह संकट मँडरा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति संरक्षण संघ (आई० यू० सी० एन०) के अनुसार दुनिया भर की लगभग 10% (यानी 25,000) वनस्पतियाँ लुप्तप्राय हैं।

संयुक्त मन्त्री, विज्ञान परिषद् प्रयाग, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

वनस्पतियों के अतिरिक्त वन्यजीवों का अस्तित्व भी खतरे में है। भारत में ऐसे जानवरों की सूची में 100 से अधिक जानवर हैं जिनका जीवन खतरे में है। इनमें से प्रमुख है—बाघ। इसके अतिरिक्त अन्य ऐसे प्रमुख प्राणी हैं—चिंकारा, कस्तूरी मृग, बर्फीला चीता, मगर, घड़ियाल, सारस (काली गर्दन वाला), महान भारतीय सारंग या हुकना (ग्रेट इण्डियन बस्टर्ड), बाज (फैल्कन), सफेद पंख वाली वुड डक आदि। ये सारे जन्तु अपनी विशेषताओं के कारण शिकारियों के प्रिय रहे हैं। अत्यधिक शिकार के कारण बाघ का जीवन भी खतरे में पड़ गया है। पिछले कुछ सालों में इनकी संख्या इतनी कम हो गयी कि सरकार को इनके शिकार पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा। भारतवर्ष में बाघों की संख्या 1930 में करीब 40,000 थी और समस्त एशियाई देशों में इनकी संख्या 1 लाख के करीब थी। लेकिन विशेषज्ञों का अनुमान है कि अब 5000 से ज्यादा बाघ नहीं है। भारत में तो 2000 से भी कम हैं जबकि सन् 1967 में इनकी अनुमानित संख्या 3,500 थी।

वनस्पतियाँ तथा वन्यजीव किसी भी राष्ट्र के सबसे महत्वपूर्ण संसाधन होते हैं। यह कैसी विडम्बना है कि हम इसकी हिफाजत करने में पूरी तरह से असफल रहे हैं और वास्तव में अभी तक हम जैव विविधता से पूरी तरह परिचित ही नहीं हो पाये हैं।

इन वनस्पतियों तथा जीवों की हिफाजत के अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास कोई नयी बात नहीं है। पर्यावरण के सम्बन्ध में डेढ़ सौ से ज्यादा द्विपक्षीय, बहुपक्षीय या विश्व-व्यापी संधियाँ मौजूद हैं। इनमें से कई में कुछ हद तक जैव विविधता के पहलुओं पर विचार किया गया है। इस परिप्रेक्ष्य में पहली संधि सन् 1933 में हुई थी, परन्तु इनमें से अधिकांश संधियाँ क्षेत्र विशेष से सम्बन्धित रही हैं और एक ज्यादा व्यापक एवं समग्र संधि की आवश्यकता महसूस की जा रही है। इस तरह की विश्व-संधि की चर्चायें कई अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर शुरू हुईं, उदाहरण के लिए 1980 के दशक के मध्य राष्ट्र संघ पर्यावरण कार्यक्रम, में यह मुद्दा उठा। इस कार्यक्रम ने सन् 1988 में जैव विविधता सम्बन्धी तदर्थ विशेषज्ञ समिति का गठन किया। इस समिति की रिपोर्ट के आधार पर कानूनी व तकनीकी विशेषज्ञों के एक तदर्थ कार्यकारी समूह को इस सम्बन्ध में एक कानूनी दस्तावेज तैयार करने का काम सौंपा गया। 1991 में इस समूह का नाम "सरकारों की विचार समिति" कर दिया गया। इस समिति में विभिन्न देशों की सरकारों के प्रतिनिधि शामिल हैं। इस समिति की चार बैठकों में संधि के मसौदे पर विचार-विमर्श हो चुके हैं। समिति की पाँचवीं व अन्तिम बैठक मई में नैरोबी में हुई। इसी के बाद रियो डि जिनेरियो (ब्राजील) में इस संधि पर हस्ताक्षर किये गये।

जैव विविधता के संरक्षण की दिशा में "जीन बैंकों" की स्थापना की जा रही है। भारत में राष्ट्रीय पौध आनुवंशिक संसाधन ब्यूरो (एन० बी० पी० जी० आर०) के अन्तर्गत ऐसे प्रयास किये जा रहे हैं। जीन संरक्षण के लिए ऊतक संवर्ध (टिशू कल्चर) तकनीक का भी सहारा लिया जा रहा है। इसके अन्तर्गत वनस्पतियों के विभाज्य ऊतक का बहुत कम तापमान (—196° सेंटीग्रेड) पर संग्रह किया जाता है। वैज्ञानिकों का मानना है कि अगर कभी परमाणु युद्ध ने धरती पर प्रलय जैसी स्थिति उत्पन्न कर दी तो मानव सभ्यता को फिर से पनपाने में ये "जीन बैंक" ही काम आयेंगे।

●●

पृथ्वी बचाइए

डॉ० सतीश कुमार शर्मा

आदिम पृथ्वी ने अपनी यात्रा एक आग के तपते गोले के रूप में जीवन-शून्य अवस्था में प्रारम्भ की और करोड़ों वर्षों तक भौतिक परिस्थितियों के अनुकूल होने का इन्तजार करती रही ताकि वह जीवन का उद्भव कर सके। अपने पर वनस्पति और प्राणियों को पनपा सके !! पृथ्वी ने बहुत बड़ा युग जीव-विहीन अवस्था का देखा है, जिसे हम प्राग्जैविक महाकल्प (Azoic Era) कहते हैं। इस महाकल्प की समाप्ति पर कैम्ब्रियन-पूर्व महाकल्प प्रारम्भ हुआ और आज से लगभग 20 खरब वर्ष पूर्व इसी महाकल्प में जीवन का प्रथम उद्भव हुआ। आने वाले करोड़ों वर्षों तक क्रमशः सरल से जटिल प्रकार की वनस्पतियों तथा प्राणियों का जन्म होता रहा। उत्तरोत्तर आने वाला जटिल प्रकार का जीवन पूर्ववर्ती सरल प्रकार के जीवन को प्रतिस्थापित करने की प्रतियोगिता करता रहा। इस प्रतियोगिता में असंख्य पूर्ववर्ती जीव विलुप्त होते रहे। उनमें से अनेकानेक आज जीवाश्मों के रूप में पृथ्वी में दबे पड़े हैं।

विकास की अनन्त लम्बी यात्रा को पार करने पर ही पृथ्वी अपने वर्तमान रूप में आई है और तब जाकर ही वह जीवन के उच्चतम् स्तर—स्तनधारी प्राणियों तथा आवृतबीजी पौधों को अपने पर पैदा कर सकी है। जीने लायक वातावरण, सजीवों, आवासों व सम्पदाओं की इतनी विविधता को पृथ्वी पर उत्पन्न होने में करोड़ों साल लगे।

पृथ्वी पर यों तो कितनी ही प्रजातियों का अवतरण हुआ है लेकिन उन सबमें श्रेष्ठ प्रजाति साबित हुई—मानव !! मानव ने अपने विलक्षण शारीरिक अनुकूलन एवं बौद्धिक क्षमता से अपने आपको शीर्ष पर स्थापित कर लिया। आज वह प्रकृति पर विजय के सपने देखने लगा है तथा प्राकृतिक शक्तियों की अनदेखी करने लगा है। प्रकृति विजय के अभियान में मनुष्य ने वह सब भी किया है जो स्वयं उसके अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह लगा रहा है। पर्यावरण विज्ञान मनुष्य की एक ऐसी ही कारगुजारी है।

यो तो पर्यावरण विनाश की नींव आदिम मनुष्य ने उसी दिन रख दी थी जिस दिन उसने आग का आविष्कार किया था। लेकिन ईंधन का सिर्फ मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु न्यूनतम उपयोग होने के कारण बहुत कम अपशिष्ट उत्पन्न होते थे, जिन्हें प्रकृति आसानी से निस्तारित कर देती थी। परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ अन्धाधुन्ध मशीनी करण, औद्योगिकीकरण, विपुल मात्रा में जीवाश्म ईंधनों का दहन, विशाल से विशालतर होती मनुष्य आबादी, अविवेकपूर्ण ढंग से वनों व वन्यप्राणियों की बर्बादी, सुरक्षित तत्वों को विषैले रसायनिक पदार्थों में बदल कर पर्यावरण में उड़ेलने का उपक्रम, परमाणु ऊर्जा रियक्टरों से निकला अपशिष्ट, युद्धों में प्रदूषकों का हथियार के रूप में उपयोग, आदि ने पृथ्वी के वातावरण को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया। कार्बन डाइ ऑक्साइड, मीथेन, नाइट्रस-ऑक्साइड आदि ग्रीन हाउस गैसों तथा क्लोरोफ्लोरोकार्बनों (सीएफसीज) ने पर्यावरण को गम्भीर हानि

आर्बोरीकल्चरिष्ट, विश्ववानिकी वृक्ष उद्यान, झालाना डूंगरी, जयपुर-302004

पहुँचाई है। पूर्वोत्तर औद्योगिक काल में यानी 1880 से पूर्व कार्बन डाइऑक्साइड गैस की मात्रा वातावरण में 280 पी॰ पी॰ एम॰ थी वह अब बढ़ कर 350 पी॰ पी॰ एम॰ हो गई। मीथेन गैस का स्तर सौ साल पूर्व जहाँ 0.79 पी॰ पी॰ एम॰ था वहाँ आज दुगने से ज्यादा लगभग 1.717 पी॰ पी॰ एम॰ हो गया। इन गैसों के बढ़ते जमाव से न केवल पृथ्वी के ताप में वृद्धि हो रही है अपितु धरती का पूरा मौसम-चक्र बदलता जा रहा है। ताप की बढ़ोत्तरी से ध्रुवों पर बर्फ रूप में भण्डारित पानी पिघल कर समुद्रों में आ रहा है तथा समुद्री जलस्तर को बढ़ा रहा है। यदि यही सिलसिला जारी रहा तो एक दिन संसार के समुद्र तटीय प्रदेश तथा कम ऊँचाई वाले असंख्य समुद्री द्वीप जल-समाधि ले लेंगे। वस्तुतः एक कारक में हुआ परिवर्तन कड़ी दर कड़ी कितने ही कारकों को कितने ही स्तरों पर प्रभावित करता है। विडम्बना तो यह है कि मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने में जितना प्रदूषण होता है उससे कहीं ज्यादा उसके एशो-आराम तथा ऐश्वर्य प्रदर्शन की सामग्री जुटाने में होता है।

बिगड़ती पर्यावरणीय परिस्थितियाँ, गड़बड़ाते मौसम-चक्र, घटती जैव विविधता आदि से मानव अस्तित्व पर ही लगते प्रश्नचिन्हों से चिन्तित मानव समाज को राहत दिलाने के लिए 4 से 10 जून 1972 को नार्वे के शहर स्टाकहोम में पर्यावरण सम्बन्धी सम्मेलन हुआ। तभी से पर्यावरण चेतना को जगाये रखने के लिए प्रतिवर्ष संसार में 5 जून को 'विश्व पर्यावरण दिवस' मनाया जाता है। अनेक उपायों के बावजूद भी पर्यावरण संरक्षण का कोई ठोस नतीजा नहीं निकला तथा यह आवश्यकता महसूस की गई कि संसार का हर राष्ट्र, हर राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक जब तक पर्यावरण के मसले को गम्भीरत से नहीं लेंगे पृथ्वी पर जीवन को बचाना कठिन हो जायेगा। अतः स्टाकहोम से प्रारम्भ हुई यात्रा के 20 साल बाद पुनः ब्राजील के शहर रियो-दि-जिनेरो में 3 से 14 जून 1992 तक प्रथम बार "पृथ्वी शिखर सम्मेलन" आयोजित हुआ। इसमें 185 देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में प्रदूषण मुक्त पृथ्वी हेतु सहयोगी देशों ने विचार विमर्श किया साथ ही जलवायु परिवर्तन को रोकने, जैव विविधता को बनाये रखने सम्बन्धी समझौते हुए। कुछ विकसित देशों के प्रतिनिधियों ने इस सम्मेलन में मानवीय दृष्टिकोण दिखाने का सिर्फ ढोंग रचा जबकि वे यहाँ भी राजनैतिक गोटियाँ सेंकते रहे एवं 'दादागीरी' का प्रदर्शन करते रहे। स्वयंसेवी संगठनों को राज-नेताओं से ज्यादा आशा न थी अतः उन्होंने रियो-दि-जिनेरो में एक समानान्तर सम्मेलन ही आयोजित कर डाला।

वास्तव में अमेरिका जैसे विकसित देश पर्यावरण जैसे मुद्दों पर भी मनमानी चलाना चाहते हैं। इन देशों ने पर्यावरण की कीमत पर अपना विकास किया तथा उसे प्रदूषित कर अपने कृत्य को नकारने लगे, बल्कि इसका दोष गरीब विकासशील देशों के मत्थे मँढ़ने लगे। इन देशों ने अपनी भूमि की प्राकृतिक सम्पदाओं को बचा कर रखा तथा दूसरे गरीब देशों की भूमि पर विद्यमान सम्पदाओं को विपुल मात्रा में कौड़ियों के मोल खरीदा। दूसरों के संसाधनों पर विकास करने की यह कुत्सित चाल शताब्दियों से जारी है। जिस तेजी से पाश्चात्य देशों ने तृतीय विश्व के प्राकृतिक संसाधनों की लूट-पाट की तथा औद्योगिक प्रदूषण को चर्म सीमा पर पहुँचाया उसी तेजी से पर्यावरण बिगड़ने लगा। जैसे-जैसे इस प्रकरण में लोगों की जानकारी बढ़ने लगी विकसित देशों ने मनमाने ढँग से प्राकृतिक संसाधनों के दोहन पर रोक-थाम का राग अलापना शुरू कर दिया। अपना विकास कर चुकने के बाद ये देश आज गरीब विकास-शील देशों को यह कह कर विकास से वंचित रखना चाह रहे हैं कि यदि आप प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करेंगे तो पर्यावरण खराब हो जायेगा। यदि वे गरीब देशों को पर्यावरण सुरक्षा के नाम पर अपने संसाधनों का उपयोग नहीं करने देना चाहते तो उन्हें उचि क्षतिपूर्ति देकर उनके विकास में भागीदार बनना चाहिये ताकि जो अपराध वे कर चुके हैं उससे उन्हें कुछ मुक्ति मिल सके।

वास्तव में पृथ्वी सुरक्षा का मसला मनुष्य को विलुप्त होने से बचाने का मसला है अतः भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न सरकारी व गैर सरकारी संस्थायें अपने-अपने तरीके से प्रकृति संरक्षण के कार्यों में लगी हैं। यहाँ तक कि संयुक्त राष्ट्र संघ की एक इकाई यू०एन०ई०पी० (United Nations Environmental Programme) भी इस कार्य में जुटी हुई है। "मैन एण्ड बायोस्फीयर" (MAB) कार्यक्रम के तहत विश्व के प्रारूपिक आवासों को मूल रूप में संरक्षित किया जा रहा है। "बायोडाइवर्सिटी प्रोजेक्ट" के अन्तर्गत विश्व के विभिन्न जैव-भौगोलिक क्षेत्रों में विद्यमान जैविक विविधता तथा आवासीय विविधता को बरकरार रखने का कार्य प्रारम्भ हो गया है। आई० यू० सी० एन० (International Union for Conservation of Nature and Natural Resources) विलुप्तीकरण के खतरों से घिर चुकी वनस्पतियों एवं प्राणि जातियों के सर्वे एवं संरक्षण उपायों में व्यस्त है। सी० आई० टी० ई० एस० (C I T E S) के तहत जैविक उत्पादों के व्यापार पर अंकुश लगाने की कोशिश की जा रही है। रामसर समझौते के प्रावधानों की पालना में विश्व के नम आवासों (Wetlands) तथा जलीय पक्षियों की सुरक्षा का कार्य किया जा रहा है। हाल ही में करांची में आयोजित नम क्षेत्र संरक्षण अधिवेशन में पुनः नम क्षेत्रों की सुरक्षा के महत्व को दोहराया गया है।

इस पृथ्वी पर जो कुछ है वह हम सबका है। इसी भावना से विश्व महत्व के आवासों की सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए उन्हें "विश्व धरोहर" करार दे दिया है। अनेक दुर्लभ हो चले वन्य-प्राणियों की सुरक्षा हेतु कई परियोजनायें प्रारम्भ हो चुकी हैं। बाघ, सिंह, हाथी, व्हेल, सिंहपुच्छ बंदर, लाल पाण्डा, साइबेरियन सारस, चिंपैंजी, कन्डोर आदि प्राणियों की सुरक्षा हेतु व्यापक प्रयास जारी है। वृष्टिवनों (Rain Forests) को बचाने की जोरदार मुहिम जारी है। नदियों तथा अन्य जलस्रोतों की सफाई व सुरक्षा का भाव पनपने लगा है।

निसन्देह पृथ्वी के पर्यावरण एवं उसके निवासी पौधों और प्राणियों को बचाने की आवश्यकता अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर रेखांकित हो चुकी है तथापि बर्बादी जारी है। मौसम बदल रहा है। ओजोन परत का विनाश हो रहा है। प्राणियों तथा वनस्पतियों के विलुप्तीकरण से जीनकोष खाली होता जा रहा है। आणविक ताप एवं शोर प्रदूषण रुकने का नाम नहीं ले रहे हैं। जनसंख्या इस तेजी से बढ़ रही है कि सारे प्रयास चौपट होते नजर आ रहे हैं। क्या ऐसे हालतों में सीमित प्रयासों से पृथ्वी बच जायेगी ?... यदि हम संकल्प लें तो सब सम्भव है। हमें 'विकास सहित विनाश' की तरफ नहीं अपने आप को 'विनाश रहित विकास' की तरफ मोड़ना होगा। जनसंख्या नियन्त्रण को बहुत गम्भीरता से लेना होगा। सरकारी आदेश एवं प्रेरणा का इन्तजार किये बगैर वन सुरक्षा एवं वनारोपण को एक धर्म की तरह अपनाना होगा। कृषि तकनीकों का पुर्नमूल्यांकन कर कम ऊर्जा खपत वाली प्रदूषण रहित तकनीकों को बढ़ावा देना होगा। विश्वजनीन चिन्तन कर स्थानीय स्तर पर (Think Globaly, Act Locally) कार्य करना होगा। भौतिकवादी सभ्यता से मोह छोड़ कर प्राचीन धार्मिक सभ्यताओं के आदर्शों का पालन करना पड़ेगा। शिक्षा का प्रसार निचले तबके तक करना पड़ेगा। आवश्यकता एवं आपूर्ति को इस तरह प्रबंधित करना पड़ेगा कि मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। संग्रह, ऐश्वर्य प्रदर्शन की मानवीय कमजोरी को त्यागना होगा। यदि हम सब यह कर सके तो इस पृथ्वी को कोई नहीं मिटा सकता। कोई मनुष्य जाति को नहीं मिटा सकता !! आइये हम अपने कर्तव्य का पालन करने में आज ही इसी क्षण से जुट जायें।

OO

विज्ञान वक्तव्य

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय वैज्ञानिक अनुसन्धानों का मूल्यांकन

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित 'डॉ० गोरख प्रसाद स्मृति व्याख्यानमाला, की कड़ी में इस वर्ष जोधपुर विश्वविद्यालय के प्रो० रमेश चन्द्र कपूर द्वारा वृहस्पतिवार दिनांक 30 जुलाई को 'स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय वैज्ञानिक अनुसन्धानों का मूल्यांकन' विषय पर भाषण प्रस्तुत किया गया।

प्रो० आर० सी० कपूर ने सर्वप्रथम डॉ० गोरख प्रसाद की पुण्यस्मृति को श्रद्धांजलि अर्पित की और उनके पाण्डित्य और उच्चतम मानवीय गुणों और शैक्षिक गुणों की प्रशंसा करते हुए कहा कि डॉ० गोरख प्रसाद एक आदर्श गुरु थे।

विषय को आगे बढ़ाते हुए प्रो० कपूर ने बताया कि शिल्प, औषध विज्ञान, धातुकर्म रसायन और गणित की उच्चस्तरीय परम्परा से सिद्ध है कि प्राचीन भारत में विज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान था। दशमलव और शून्य की संकल्पना से भारत ने सभ्यता के विकास में उल्लेखनीय योगदान दिया।

मुस्लिम आक्रमणों के बाद मध्यकाल में इस परम्परा में बाधा आयी और उधर यूरोप में उस समय न्यूटन, केप्लर, डार्विन, हम्बोल्ट, फैराडे और लेवाजिये जैसे महान वैज्ञानिकों के अनुसन्धानों के कारण क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे थे। इसी कारण आधुनिक वैज्ञानिक परम्परा भारत में अंग्रेजों के आगमन के साथ आयी और लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व सुस्थापित हुई।

स्वतन्त्रता से पूर्व स्थापित विश्वविद्यालयों में कुछ उच्च कोटि के विश्वविख्यात वैज्ञानिक अनुसन्धान हुए। यद्यपि उस काल में शोध कार्य के लिए विशेष अनुदान की योजना नहीं थी तथापि अत्यन्त विपरीत परिस्थितियों में भी भारत में रामन, रामानुजन, जगदीश चन्द्र बोस, सत्येन्द्र नाथ बोस, मेघनाद साहा, कृष्णन, गणेश प्रसाद, बीरबल साहनी, कर्मनारायण बहल, प्रफुल्ल चन्द्र राय और होमी जहाँगीर भाभा जैसे उत्कृष्ट स्तर के वैज्ञानिक उभरे।

प्रो० कपूर ने बताया कि पिछले चालीस वर्षों में भारत में विज्ञान और तकनीकी का एक आधार बन चुका है। इस समय देश में लगभग दो सौ विश्वविद्यालय व अन्य संस्थान तथा तीस लाख सक्रिय वैज्ञानिक व इंजीनियर हैं। लगभग तेरह सौ वैज्ञानिक अनुसन्धान संस्थान, सरकारी व गैरसरकारी प्रक्रमों द्वारा चलाये जा रहे है जहाँ शोध व विकास से सम्बन्धित कार्यविधियाँ निरन्तर चल रही हैं।

उन्होंने आगे कहा कि अनुसन्धानों के मूल्यांकन के लिए यह आवश्यक है कि इन्हें दो स्तरों पर अलग करके देखा जाये। एक तो इन अनुसन्धानों का देश की आर्थिक वृद्धि पर प्रभाव और दूसरे मूलभूत अनुसन्धानों की गुणवत्ता।

आर्थिक वृद्धि की दृष्टि से अनुसन्धान कार्यों का भारत के कृषि उत्पादन पर अनुकूल प्रभाव पड़ा है। इण्डियन काउन्सिल ऑव एग्रीकल्चरल रिसर्च की प्रयोगशालाओं में हुए शोधकार्यों के फलस्वरूप प्रारम्भ में खाद्य अभाव वाला हमारा देश अब आत्मनिर्भर होने के साथ ही कुछ पदार्थों का निर्यात भी कर रहा है।

होमी जहाँगीर, भाभा के निर्देशन में स्थापित परमाणु ऊर्जा संस्थान द्वारा विद्युत् उत्पादन के क्षेत्र में उत्तम प्रगति अर्जित की गयी है और आज भारत विश्व के उन आठ देशों में है जो ईंधन को पुन: चक्रित कर सकते हैं। दूसरी ओर भारत ने अन्तरिक्ष विज्ञान और तकनीकी में विक्रम साराभाई के निर्देशन में सराहनीय प्रगति की है।

रसायन के क्षेत्र में उत्कृष्ट और परिष्कृत कार्बनिक यौगिकों के उत्पादन में भी हमने समुचित सफलता पायी है, यद्यपि पेट्रोरसायन, प्लास्टिक, उर्वरक, एण्टीबायोटिक्स, कृत्रिम रेशे आदि क्षेत्रों में हमारी उपलब्धियाँ नगण्य रहीं।

इस कार्यक्रम में प्रो० कपूर ने स्पष्ट किया कि ये उपलब्धियाँ मुख्यतया उन क्षेत्रों में रहीं जहाँ मूलभूत अनुसन्धान की आवश्यकता नहीं थी बल्कि ज्ञात तकनीकों के विकास और प्रयोग द्वारा उन्हें स्वदेशी परिस्थितियों के अनुसार ढालने के जरूरत थी। निष्कर्ष यह कि पिछले पैंतालीस वर्षों में मूलभूत अनुसन्धानों पर आधारित नये उत्पाद या तकनीक के निर्माण में हमें सफलता नहीं के बराबर ही मिली।

मूलभूत अनुसन्धानों की बात को आगे बढ़ाते हुए डॉ० कपूर ने कहा कि किसी भी राष्ट्र की पहचान उसके उच्चस्तरीय शोधों द्वारा होती है। किन्तु देश में प्रतिवर्ष बीस हजार से अधिक शोधपत्रों के प्रकाशन के बावजूद भी न तो कोई ऐसी युगान्तरकारी खोज सामने आयी, जिससे कोई क्रांतिकारी सैद्धान्तिक परिवर्तन सामने आया हो और न हमारे किसी वैज्ञानिक को अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अपने अनुसन्धान के लिए पुरस्कृत किया गया। हमारे वैज्ञानिकों के शोधपत्रों का उल्लेख भी अपने विषय में बहुत कम ही किया जाता है।

शोधकार्यों की गुणवत्ता घटने के कारणों की व्याख्या करते हुए उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय तुलना में अपने देश के वैज्ञानिकों को कम सुविधायें, कम पारिश्रमिक, नौकरशाही, शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक कमियों, स्तरीय शोधयंत्रों के अति ऊँचे मूल्यों को उत्तरदायी ठहराया। इस सम्बन्ध में उन्होंने शोध में द्रुतगति लाने के लिए यांत्रिक औद्योगिकी के विकास पर बल दिया।

अपने भाषण का समापन करते हुए प्रो० कपूर ने शोध के स्तर को उठाने के लिए अपने सुझाव देते हुए यह कहा कि सीमित साधनों वाले अपने देश में आवश्यक है कि शोध के क्षेत्रों का चयन सोच-समझकर किया जाय। उन्होंने कहा कि सांश्लेषिक रसायनों पर शोध में हम विकसित देशों के बराबर नहीं ठहर सकते, पर प्रचुर वनस्पति विविधता के कारण वनस्पति अनुसन्धानों में हम उनसे बाजी मार सकते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने सरकारी नीतियों में भी आवश्यक बदलाव की जरूरत पर बल दिया।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० आर० सी० मेहरोत्रा ने इस सभा की अध्यक्षता की। उन्होंने डॉ० आर० सी० कपूर के अपने विषम में पाण्डित्य और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति ,की चर्चा की। डॉ० मेहरोत्रा ने हिन्दी के विषय में अपना व्यक्तिगत मत प्रकट करते हुए दृढ़ता के साथ कहा कि पठन-पाठन का माध्यम हिन्दी न कर पाने के कारण ही हमारे देश में ज्ञान की उपलब्धियाँ उत्कृष्ट नहीं हो पायी हैं। डॉ० मेहरोत्रा ने आगे कहा कि विज्ञान परिषद् सन् 1915 से बराबर मासिक पत्रिका 'विज्ञान' और सैकड़ों पुस्तकों के प्रकाशन द्वारा हिन्दी और वैज्ञानिक ज्ञान को जन साधारण तक पहुँचा रही है। उन्होंने कहा कि आत्मप्रशंसा और विज्ञापन से दूर विज्ञान परिषद् जैसी संस्थाओं के प्रति सरकारी तंत्र द्वारा दी गयी सहायता राष्ट्रीय प्रश्रय में स्थापित किसी संस्था या केन्द्र से हजारों गुना अधिक उपयोगी और लक्ष्यपूरक सिद्ध होगी।

समारोह का अन्त विज्ञान परिषद् द्वारा प्रदत्त 'व्हिटेकर पुरस्कारों' की घोषणा से हुआ। वर्ष 1990 के लिए वाराणसी के डॉ० श्रवण कुमार तिवारी और बस्ती के श्री राघवेन्द्र कृष्ण प्रताप तथा वर्ष 1991 के लिए जोधपुर के प्रो० रमेश चन्द्र कपूर तथा दिल्ली के डॉ० जगदीप सक्सेना को पुरस्कृत किया गया।

सभा का संचालन प्रो० शिवगोपाल मिश्र और धन्यवाद ज्ञापन प्रो० हनुमान प्रसाद तिवारी ने किया। इस अवसर पर विश्वविद्यालय के अनेक आचार्यों के अतिरिक्त अनेक गण्यमान व्यक्ति उपस्थित थे।

●●

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय

विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1992

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।

(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।

(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।

(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।

(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1992 से दिसम्बर 1992 माह के बीच प्रकाशित हो।

(6) लेखक को साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।

(7) विज्ञान-परिषद् के सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।

(8) वर्ष 1992 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1993 है।

लेख निम्न पते पर भेजें—

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद वा रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझाओं का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियां भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु०, चौथाई पृष्ठ 50.00; आवरण द्वितीय; तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे,

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

विज्ञान

सितम्बर 1992 अंक
मूल्य : 2 रु० 50 पैसे
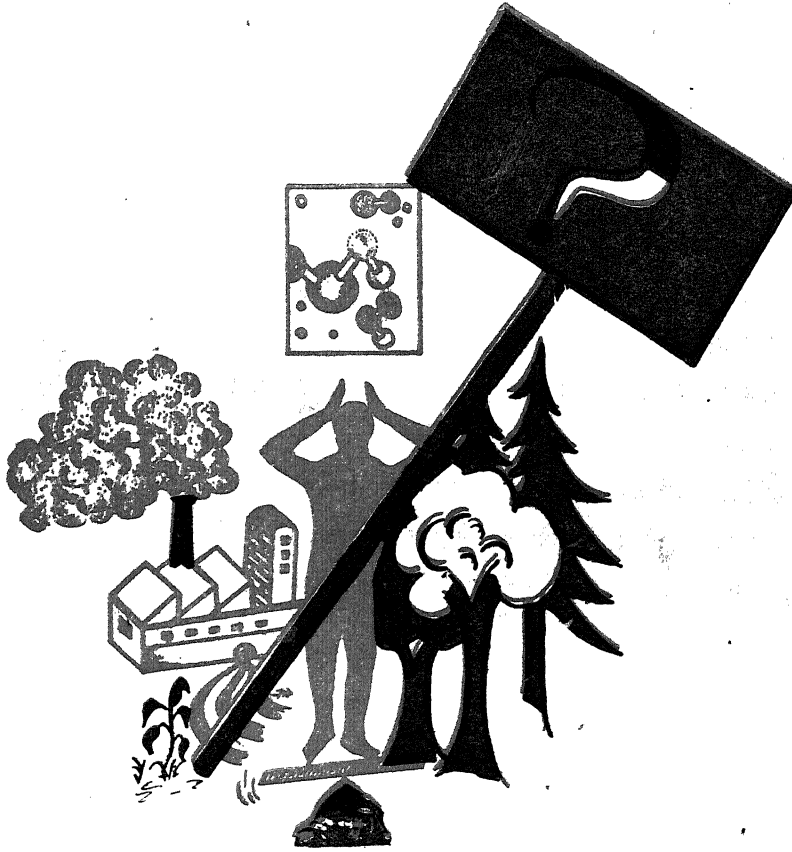
विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915

सितम्बर 1992; वर्ष 78 अंक 6

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु०

वार्षिक : 25 रु०

एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7 ए बेली एवेन्यू
इलाहाबाद-211002

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

विज्ञान परिषद् प्रयाग के संस्थापक : प्रो० राम दास गौड़

डॉ० दिनेश मणि

प्रो० रामदास गौड़ हिन्दी भाषा के माध्यम से विज्ञान का प्रचार एवं प्रसार करने वाली देश की सर्वप्रथम वैज्ञानिक संस्था "विज्ञान परिषद्" (संस्थापित 1913) के4 जन्मदाताओं—डॉ०गंगानाथ झा, प्रो० सालिग राम भार्गव, मौलाना वहीदुद्दीन और रामदास गौड़—में से एक थे। प्रो० रामदास गौड़ आजीवन विज्ञान साहित्य का सृजन करते रहे। अपने शिष्यों एवं अन्य लोगों को विज्ञान लेखों को लिखने के लिए आपने सदैव प्रोत्साहित किया। वैज्ञानिक शिक्षा और उसके प्रचार की आवश्यकता को महसूस करके आपने प्रयाग की "विज्ञान परिषद्" द्वारा 1915 विधिवत् 'विज्ञान' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ कराया। आपको 'विज्ञान' पत्रिका के 1933-37 तक सम्पादक रहने का गौरव प्राप्त है।

आपने अनेक नये-नये लेखकों को हिन्दी में विज्ञान लेख लिखने के लिए प्रेरित किया। आपके ही प्रयत्न से 'विज्ञान' में अनेक विषयों पर सुबोध, रोचक, सचित्र एवं शिक्षाप्रद सैकड़ों लेख प्रकाशित हुए हैं। वास्तव में 'विज्ञान' की ही प्रेरणा के फलस्वरूप आज हम हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अन्य सामयिक लेखों के साथ वैज्ञानिक लेखों को भी प्रकाशित होते देखते हैं।

प्रो० रामदास गौड़ ने तमाम आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद भी हिन्दी की सेवा की तथा विज्ञान को लोकप्रिय बनाने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी। आपने अपने अथक परिश्रम और अदम्य उत्साह तथा अपनी असाधारण विद्वता से मृत-प्राय 'विज्ञान' में फिर से स्फूर्ति संचार किया। आपने विभिन्न लोकोपयोगी विषयों पर उत्कृष्ट लेखों का सृजन किया। आपने "विज्ञान" का एक महत्वपूर्ण विशेषांक "उद्योग-व्यवसायांक" प्रकाशित किया, जो कि बहुत ही लोकप्रिय एवं उपयोगी सिद्ध हुआ। कई विशेषांकों के लिए लेखकों से लेख न मिल पाने की स्थिति में आप स्वयं ही लेख लिख कर अंक की सामग्री पूरी करते थे। विज्ञान के लिए अवैतनिक काम करते हुए आप हिन्दी के किसी भी अच्छे वेतनभोगी सम्पादक से कहीं अधिक उसकी देख-रेख और परिश्रम करते थे।

प्रो० रामदास गौड़ अत्यधिक भावुक थे। सन् 1921-23 के 'असहयोग आन्दोलन' ने आपको काफी प्रभावित किया और आपने विज्ञान विभाग की प्रोफेसरी छोड़ दी। आप प्रयाग के सबसे बड़े कॉलेज के प्रोफेसर थे, जो बाद में विश्वविद्यालय बन गया, हालांकि आपका बाद का जीवन बहुत ही परेशानियों के बीच गुजरा। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय ने उन्हें सादर आमन्त्रित करके विज्ञान विभाग सौंप दिया, किन्तु बाद में कुछ अपरिहार्य कारणों से आपने वहाँ की नौकरी छोड़ दी।

गौड़ जी की विद्वता असाधारण थी। आपको 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन', प्रयाग की ओर से "विज्ञान हस्तामलक" नामक पुस्तक के लिए 1200/-रु० का 'मंगला प्रसाद पुरस्कार' प्राप्त हुआ था। इस पुस्तक के अतिरिक्त

संयुक्त मन्त्री, विज्ञान परिषद् प्रयाग, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

गौड़ जी ने "भारी भ्रम", "वैज्ञानिक अद्वैतवाद", "विज्ञान प्रवेशिका", बालकों को राष्ट्रीय शिक्षा देने के लिए "बालपोथियाँ" (आठ खण्डों में) "रामचरित मानस की भूमिका", "यूरोप का इतिहास", "हिन्दुत्व" आदि कई महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की थी। उर्दू-फारसी तो आपकी भाषा थी ही। इसके अतिरिक्त आप संस्कृत, अँग्रेजी, मराठी, गुजराती, बंगला तथा तेलुगु के भी अधिकारी विद्वान थे। "रामायण" के तो आप प्रकाण्ड पंडित थे।

'रामायण' के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी गौड़ जी की प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी। आप जैसी असाधारण प्रतिभा रखने वाले व्यक्ति कम ही देखने को मिलते हैं। एम० बी० हिल की प्रसिद्ध पाठ्यपुस्तकें हिन्दी में गौड़ जी ने ही लिखी थीं। आयुर्विज्ञान पर भी आपने एक पुस्तक की रचना की थी। बड़े-बड़े प्रसिद्ध लेखकों की हिन्दी रचनाओं का आप परिमार्जन एवं संशोधन करते थे।

गौड़ जी की एक विशेषता थी कि आप लेखों को प्राप्त करके शान्त नहीं बैठते थे। वह सदैव उन्हें बहुत अच्छी तरह से सम्पादित करते थे और सजाते थे। हिन्दी के बहुत से पत्रों में वैज्ञानिक लेख तो प्रकाशित होते हैं पर उनका गौड़ जी के समान शायद ही कोई सम्पादन करता हो! इस सम्बन्ध में आपका कहना था, "मैं लेखों को सजाना अपना कर्तव्य समझता हूँ।" वैज्ञानिक लेखों को सजाना सहज नहीं है। आमतौर से सम्पादक परिश्रम से भागते हैं और इसीलिए ज्यों का त्यों प्रकाशित कर देते हैं।

यह कैसी विडम्बना है कि इतने प्रकाण्ड विद्वान होते हुए भी गौड़ जी का सम्पूर्ण जीवन आर्थिक कठिनाइयों से जूझते हुए व्यतीत हुआ। गौड़ जी ने बाल्य-काल में ही गरीबी का साक्षात्कार कर लिया था। विद्यार्थी-जीवन में 2/- मासिक शुल्क देना भी उनके लिए कभी-कभी दुर्लभ हो जाता था और एक बार तो आठ मास तक आप फीस न दे सके थे। परन्तु आपको काशी के 'सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज' में पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इस कॉलेज के प्रिंसपल थे—सुप्रसिद्ध विद्वान **डॉ० आर्थर रिचर्डसन**। हिन्दू कॉलेज नया था। यह कॉलेज विशेष रूप से गरीब छात्रों के लिये ही खोला गया था।

इस प्रकार काशी के हिन्दू कॉलेज से एफ० ए० (इण्टर) पास करने के बाद आपने प्रयाग के 'म्योर सेन्ट्रल कॉलेज, से बी० ए० किया और बाद में विज्ञान में प्राइवेट एम० ए०। बी० ए० के बाद आप कुछ दिन 'कायस्थ पाठशाला' में रसायन के अध्यापक रहे और संवत् 1963 में म्योर सेन्ट्रल कॉलेज में, जो उन दिनों सरकारी कॉलेज था, आप रसायन विभाग में डिमांस्ट्रेटर हो गये। बाद में रसायन-शास्त्र में एम० ए० की परीक्षा पास की। आप बड़े स्वतन्त्र प्रकृति के व्यक्ति थे। इसलिये वहाँ के अफसरों से आपकी न पटी। अधिकारियों के कोपभाजन का एक प्रमुख कारण आपका उत्कट हिन्दी प्रेम था। उस जमाने में हिन्दी सम्बन्धी कुछ काम करना भी राजनीतिक काम समझा जाता था। फलस्वरूप 11 साल तक नौकरी करने के बाद संवत् 1975 में आपने सरकारी नौकरी छोड़ दी और 'हिन्दू विश्वविद्यालय' में चले गये। वहाँ आप विज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हुए। शीघ्र ही 'असहयोग आन्दोलन' शुरू होने के सिलसिले में आपको जेल जाना पड़ा। वहाँ से आने के बाद आपने कुछ समय गुरुकुल कांगड़ी में और बाद में 'काशी विद्यापीठ' में काम किया। परन्तु अन्ततः आपको अपनी स्वच्छन्दता के कारण पुस्तक-लेखन को ही जीविका चलाने का साधन बनाना पड़ा। गौड़ जी की यह विशेषता थी कि आप विषम परिस्थितियों में भी सदा प्रसन्न रहते थे।

गौड़ जी विज्ञान के विद्वान होते हुए भी परलोक विद्या और प्रेत विद्या में भी विश्वास रखते थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने का भी प्रयत्न किया था। उनकी भूत-प्रेत विद्या की हिमायत से लोग उनकी निन्दा भी करने लगे थे। उनके कुछ मित्रों ने इस बात की ओर उनका ध्यान भी आकर्षित किया था, पर उन्हें इसकी कोई चिन्ता नहीं थी। उनका कहना था—"मैं जिस बात में विश्वास करता हूँ, उसे कहने में संकोच नहीं करता, चाहे जमाना कुछ भी कहे।"

देश के उत्थान के लिए आपने क्या कुछ नहीं किया? अपने लगे-लगाये धंधे तक को छोड़ दिया और मृत्युपर्यन्त अपने स्वदेश सेवा व्रत का पालन किया। 'असहयोग आन्दोलन' के पश्चात् आप सदैव खद्दर धारण करते थे और सूत कातने का नियम बना लिया था। आपके सादे रहन-सहन से आपकी विद्वता का अनुमान लगाना कठिन था।

भाद्रपद शुक्ल 7, रविवार 12 सितम्बर सन् 1937 की रात्रि में दस बजे तक आप लेख लिखते रहे। अचानक साढ़े बारह बजे रात्रि को आपकी तबियत खराब हुई और देहान्त हो गया। इस समय आपकी आयु 56 वर्ष थी। बीमारी के नाम पर आपको **बेरी-बेरी** नाम की साधारण सी बीमारी हुई थी। आपके असमय मृत्यु की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। आपकी मृत्यु से हिन्दी-जगत् को अपूरणीय क्षति पहुँची। हिन्दी विज्ञान लेखन को गहरा आघात लगा। किन्तु गौड़ जी उन विशिष्ट व्यक्तियों की श्रेणी में हैं जो अपने कृतित्व में अमर हो गये हैं। 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' संस्था आपका जीवित स्मारक है।

○○

'कोल्डड्रिन्क्स' और 'रेडीमेड फूड' : याने बीमारी की खुली छूट

विजय जी

अनेक प्रकार की जलवायु और भौगोलिक विविधता के कारण खाद्य पदार्थों की जितनी किस्में हमारे देश में उपलब्ध हैं उतनी दुनिया के बहुत कम देशों में मिलती हैं। हमारे पूर्वजों को वनस्पतियों की बहुत ज्यादा जानकारी थी। यहाँ का आयुर्वेद दुनिया की प्राचीनतम् चिकित्सा-पद्धति है जो वानस्पतिक औषधियों पर ही आधारित है। यही कारण है कि हमारे यहाँ खान-पान के बेहतरीन तरीके विकसित हुए। किस मौसम में कौन सा खाद्य कैसे खाना चाहिए, यह हर आदमी जानता था। यह अलग बात है कि प्राकृतिक सन्तुलन बिगड़ने से ये चीजें अब शुद्ध रूप में उपलब्ध नहीं हो पा रही हैं। आधुनिकता आज हमारे जीवन में रच-बस गई है। 'कोल्डड्रिंक्स' और 'रेडीमेड फूड' तो हमारे जीवन की आवश्यकता बन चुके हैं।

जिन देशों में कोल्डड्रिंक्स और रेडीमेड खाद्य बहुतायत से उपयोग में लाये जाते हैं उनकी परिस्थितियाँ हमारे देश से भिन्न हैं। औद्योगिकीकरण और शहरीकरण के कारण पश्चिम में परम्परागत वनों और वनस्पतियों की कमी हुई है। वहाँ भारत जैसी वानस्पतिक विविधतायें भी नहीं हैं। कई देश ऐसे भी हैं जहाँ वर्ष के कई महीनों में जमीन बर्फ से ढँकी रहती है, जिससे वहाँ के निवासियों को पहले से ही परिरक्षित फलों और सब्जियों पर गुजारा

जवाहर इण्टर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद-212106 (उ० प्र०)

करना पड़ता है। आधुनिक औद्योगिक संस्कृति ने भी इस तरह के खान-पान को काफी बढ़ावा दिया। औद्योगिकीकरण के चलते माल का उत्पादन बहुत ज्यादा हो जाता है। माल को खपाने के लिए विज्ञापन का सहारा लिया जाता है। ये विज्ञापन इतने आक्रामक, भड़काऊ होते हैं तथा इन्हें इतना ज्यादा दिखाया जाता है कि उपभोक्ता को निकम्मी चीजें भी जरूरी लगने लगती हैं। वैज्ञानिक विकास के बाद जब खाद्य परिरक्षण के नये-नये रसायन खोजे गये, कृत्रिम रंग तथा कृत्रिम चीनी का आविष्कार हुआ तो व्यापारिक कम्पनियों को अपना व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर फैलाने में बड़ी सुविधा हुई। भारत का आम शहरी उपभोक्ता आज जब इन कृत्रिम खान-पान के तरीकों का गुलाम हो गया है तो इन कम्पनियों के पाँव अब गाँवों की ओर बढ़ रहे हैं।

आजकल गर्मी का मौसम है। बाजारों में शीतल पेयों की बहार है। सोडावाटर और फ्रूट जूस के रूप में बिकने वाले ये पेय बड़ी तेजी से गाँव तक पहुँचने लगे हैं। शुरू में इन पेयों का स्वाद चाहे अजीब लगे लेकिन शीघ्र ही यह जीभ को भा जाता है। फिर तो लोग खुद ब खुद इन पेयों के दीवाने हो जाते हैं। विज्ञापनों की होड़ से तो इनके सेवन करने वालों का और भी प्रोत्साहन होता है। इनका उपयोग आधुनिक होने का प्रतीक समझा जाता है।

लेकिन इन बोतलबन्द पेयों की असलियत से कम ही लोग परिचित हैं। सोडावाटर की खोज प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रीस्टले ने की थी। उन्होंने कार्बन डाइऑक्साइड को पानी में घोलने के बाद इसमें एक अजीब स्वाद महसूस किया था। कुछ फेरबदल के बाद आज भी सोडावाटर इसी तरह बनाया जाता है। बड़े-बड़े स्वचालित यन्त्रयुक्त कारखानों में उच्च दाब पर कार्बनडाइऑक्साइड को जल में घोलकर यह बनाया जाता है। इसी में अन्य कुछ रसायन मिलाकर स्वाद और सुगन्ध पैदा की जाती है। मिठास के लिये सैक्रीन या अन्य कृत्रिम मीठे पदार्थों का उपयोग किया जाता है। इसी तरह कृत्रिम रंगों के उपयोग से पेय को रंग-बिरंगा रूप दिया जाता है जिन बोतलों में फलों का रस (फ्रूट जूस) बेंचने का दावा किया जाता है वह भी कुछ ऐसा ही है। इन बोतलों में या तो फलों का जूस होता ही नहीं या बहुत कम मात्रा में होता है। लेकिन विभिन्न रसायनों की सहायता से पेय का रंग, सुगन्ध और स्वाद असली जूस जैसा बना दिया जाता है।

रेडीमेड फूड या झटपट खाद्य भी हमारे देश में बड़ी तेजी से लोकप्रिय हो रहे हैं। नूडल्स, बर्गर, पेंटीज, पनीर, चाइनीज फूड, सैण्डविच, आलू के चिप्स, नमकीन पापकार्न, टमाटर व अन्य फलों के जैम, जेली, सॉस, आइस्क्रीम आदि खाद्य बड़ी तेजी से भारतीय समाज में अपना स्थान बनाते जा रहे हैं। अपने देश में पारम्परिक रेडीमेड फूड जैसे डोसा, इडली, चाट, छोले-भठूरे, कचालू, पराठा, कबाब तंदूरी, समोसा, कचौरी, मिठाइयाँ, चटनी आदि लोकप्रिय हैं। ये पारम्परिक रेडीमेड खाद्य यद्यपि पश्चिम के रेडीमेड खाद्य से अच्छे होते हैं लेकिन ये सभी हमारे पारम्परिक भोजन का स्थान कभी ग्रहण नहीं कर सकते।

रेडीमेड खाद्य का प्रचलन पहली बार अमेरिका के कैलीफोर्निया शहर में मैक्डोनाल्ड ब्रदर्स के रेस्तरां में शुरू हुआ था। सस्ते दाम, रंगों में लुभावने, स्वाद की दृष्टि से जायकेदार और समय की दृष्टि से बचत वाले ये खाद्य तेजी से लोकप्रिय हुए। जैसे-जैसे औद्योगिकीकरण, शहरीकरण की रफ्तार बढ़ी रेडीमेड खाद्यों का व्यापार तेजी से बढ़ा। नमकीन, बिस्कुट, चाकलेट, जैम, जेली जैसी चीजें तो घर-घर उपयोग में लायी जाने लगीं।

इस तरह के खाद्यों के प्रचलन बढ़ने के साथ-साथ इनके कुप्रभाव भी प्रकट होने लगे। फलतः चिकित्सा वैज्ञानिकों ने इनका विधिवत अध्ययन भी करना शुरू किया। सभी तरह के झटपट खाद्यों में सेचुरेटेड वसा, अन-

सेचुरेटेड वसा व कोलेस्ट्रॉल नामक यौगिक जरूरत से ज्यादा होते हैं। इनके कारण शरीर में गैस, अपच, उच्च रक्त चाप, मोटापा, दिल का दौरा, बड़ी आँतों का कैंसर होने की सम्भावना बढ़ जाती है। झटपट खाद्यों में रेशेदार पदार्थ बिलकुल नहीं होते, जिससे ये खाद्य आँतों में देर तक पड़े रहकर सड़ते हैं तथा शरीर में बीमारियाँ उत्पन्न करते हैं। आँतों का कैंसर भी होने का डर बढ़ जाता है। इन पदार्थों में कैलोरी की मात्रा अधिक होने से व्यक्ति मोटापे का शिकार हो जाता है। मोटापा स्वयं भी अनेक बीमारियों की जड़ है। चूँकि ये पदार्थ काफी समय तक परिरक्षित रखे जाते हैं, जिससे इनमें अनेक प्रदूषित भी हो जाते हैं। इससे पेचिश व मियादी बुखार जैसी बीमारियों का खतरा बढ़ जाता है।

अधिकांश शीतल पेय, जूस, कोला, कॉफी, मिल्क शेक, आइस्क्रीम एवं पेस्ट्री भूख को कम करने के साथ-साथ शरीर में शर्करा की मात्रा को अस्त-व्यस्त कर देते हैं। इससे न्यूरोसिस, माइग्रेन, नींद न आना, एलर्जी, थकान, डिप्रेशन व आत्महत्या की प्रवृत्ति जैसी बीमारियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। झटपट खाद्यों व कोल्डड्रिंक्स में विभिन्न प्रकार के रंग व 'फ्लेवर एसेंस' का प्रयोग किया जाता है। ये पदार्थ स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त हानिकारक पाये गये हैं। 'अमरंत' नामक लाल रंग से कैंसर होने का डर होता है। पेंसिल-4 आर नामक रंग से खून की कमी हो जाती है। इसी तरह कोलतार से बनाया जाने वाला मेटानील नामक रंग भी हानिकारक सिद्ध हुआ है। मेटानील का उपयोग भारत में आम है जबकि अनेक पश्चिमी देशों में इस पर सख्त पाबंदी है। इसके अलावा रेडीमेड खाद्यों को तरोताजा बनाये रखने के लिये अनेक परिरक्षक (प्रिजर्वर्स) मिलाये जाते हैं। इनका भी स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है।

आजकल शीतल पेयों और झटपट खाद्यों में सैक्रीन का काफी उपयोग किया जा रहा है। शोधों से पता चला है कि सैक्रीन में कुछ ऐसे पदार्थ पाये जाते हैं जिनसे कैंसर हो सकता है। इसीलिये अमेरिका सहित अन्य अनेक देशों में सैक्रीन पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। अमेरिका में सैक्रीन युक्त खाद्य पदार्थों के डिब्बों पर सैक्रीन और उसके दुष्प्रभाव सम्बन्धी चेतावनी लिखना जरूरी है। भारत में भी बोतल या डिब्बे पर कृत्रिम मीठे का नाम लिखना जरूरी बताया गया है। लेकिन किसी भी बोतल या खाद्य के डिब्बे पर ऐसी कोई सूचना नहीं लिखी जाती।

भारतीय परिवेश में रेडीमेड खाद्य उपयुक्त नहीं हैं। ठण्डे मुल्कों में ये बिना खराब हुए लम्बे समय तक सुरक्षित रखे जा सकते हैं जबकि हमारी जलवायु में ऐसा सम्भव नहीं। यहाँ के लिये तो यहाँ के परम्परागत पेय एवं खाद्य ही सर्वोत्तम हैं। गर्मी के मौसम में परम्परागत रूप से हमारे देश में नींबू, बेल, फालसा और आम के शर्बत उपयोग में आते थे। लस्सी और ठण्डई जैसी चीजों का उपयोग भी होता रहा है। खनिजों, बिटामिनों एवं अन्य पोषक पदार्थों से भरपूर इन पेयों की बराबरी दुनिया का कोई भी शीतल पेय नहीं कर सकता। इसी तरह नाश्ते के रूप हमारे यहाँ, दूध दही एवं इनसे बनी चीजें, फल आदि परम्परागत रूप से उपयोग किये जाते रहे हैं। लेकिन रेडीमेड खाद्यों के हमले के आगे ये चीजें टिक नहीं पा रही हैं।

रेडीमेड खाद्यों और शीतल पेयों के विश्वव्यापी व्यापार का दारोमदार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा प्रचारित विज्ञापनों को है। विज्ञापन वह कला है जिससे खराब वस्तु को भी अच्छा कहकर उपभोक्ताओं के गले मढ़ा जा सकता है। दूरदर्शन के पर्दे पर बड़े-बड़े फिल्मी नायक-नायिकाओं के द्वारा प्रस्तुत इन विज्ञापनों के झाँसे में फँसकर आम उपभोक्ता अपनी जेब तो खाली करता ही है, अपना स्वास्थ्य भी गँवाता है।

●●

रोग पहचान की नयी तकनीक

रणबीर सिंह

रोग पहचान की पारम्परिक पद्धति में मरीज के रक्त, मूत्र या मल या शरीर के किसी अन्य हिस्से से निकाले गये द्रव्य की थोड़ी-सी मात्रा को नमूने के तौर पर परीक्षण के लिए सुरक्षित रख लिया जाता है। इस नमूने में रोग कारकों को ढूँढा जाता है। अक्सर ही इन नमूनों के प्रदूषित होने के अवसर पैदा होते रहते हैं। प्रदूषित होने पर परीक्षण के नतीजे ठीक नहीं आते और रोग निदान में देरी होने या गम्भीर भूलें होने की सम्भावनाएँ पैदा हो जाती हैं। इससे रोग के उपचार में गड़बड़ हो जाती है। मरीज की जान भी जा सकती है। परीक्षण के नमूनो की जाँच के लिये माइक्रोस्कोप और अनेक रसायनों का सहारा लिया जाता है। चूँकि पूरी जाँच में एक या कई दिन लग जाते हैं, इसलिये अक्सर मरीज को दोबारा अस्पताल आने के लिए कह दिया जाता है। दूर-दराज के मरीजों को इससे बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है। हो सकता है इस दौरान मर्ज और बढ़ जाये। परन्तु नई तकनीकों (इम्यूनोडायग्नोस्टिक) के आ जाने से अब मरीज और डाक्टरों के बीच की यह अड़चन समाप्त हो गयी है। हमारे देश में तो इन तकनीकों का प्रचलन होने में अभी और वक्त लगेगा परन्तु पश्चिम के विकसित देशों में इम्यूनोडायग्नोस्टिक तकनीकों का प्रचलन काफी समय से हो रहा है। इसीलिए इन देशों के लोग स्वयं ही इम्यूनोडायग्नोसिस कर लेते हैं।

इम्यूनोडायग्नोस्टिक तकनीकों के किट या पिटारियाँ उन देशों में दवा बेचने वाली दुकानों से आसानी से मिल जाती हैं। इन किटों का प्रयोग आसान है। किटों के साथ मिलने वाला साहित्य या पर्ची और डाक्टर से मशवरा करके इम्यूनोडायग्नोस्टिक किट का सही प्रयोग और नतीजों की जाँच करना सीखा जा सकता है। यूरोप और अमेरिका के बाजारों में इस वक्त बहुराष्ट्रीय दवा निर्माता एवं वितरक कम्पनियों के 100 से भी ज्यादा इम्यूनोडायग्नोस्टिक किट उपलब्ध हैं। भारत में इस समय डायबिटीज के रोगियों के लिए डायबिटीज डिपस्टिक्स ही उपलब्ध हैं। हाँ, एड्स का किट जरूर उपलब्ध है लेकिन अत्यधिक जोखिम को देखते हुए यह अभी सरकारी अस्पतालों में ही उपलब्ध किया गया है। पिछले साल लखनऊ के सेण्ट्रल ड्रग रिसर्च इंस्टीट्यूट ने भी एक "फाइला टेस्ट" नामक रेपिड डायग्नास्टिक किट विकसित किया था। इस किट का विकास फाइलेरिया संक्रमण की तुरन्त पहचान के लिए फील्ड वर्करों के लिये किया गया था।

इम्यूनोडायग्नोस्टिक तकनीकों का आधार है "मोनोक्लोनल एंटीबॉडीज"। मानव को रोगी बनाने वाले सूक्ष्मजीवाणुओं को सतह पर कुछ ऐसी प्रतिजनें अर्थात एंटीजन होती हैं जिन्हें निष्क्रिय करने के लिए हमारे शरीर का रोग प्रतिरक्षा प्रणाली कई तरह की एंटीबॉडीज का निर्माण करने में समर्थ है। लाखों किस्म के प्रतिपिण्ड बनाने की कला में यह प्रणाली दक्ष है। प्रतिपिण्ड बनाने का काम बी-लिंफोसाइट कोशिकाएँ करती हैं। रक्त की ये श्वेत कोशिकाएँ एक प्रतिजन को नष्ट या निष्क्रिय करने के लिये एक ही प्रकार की एंटीबॉडी का निर्माण करती हैं। प्रतिपिंडों की यह भिन्नता अभी तक वैज्ञानिकों के लिये एक पहेली बनी हुई है। परन्तु इन प्रतिपिण्डों को अत्यन्त शुद्ध रूप

में प्राप्त करने और इन्हें एक ही किस्म के प्रतिजन के प्रति सक्रिय करने की तकनीकों का विकास अब हो चुका है। "एंटीजन स्पेसिफिक एंटीबॉडीज" के निर्माण से चिकित्साशोध और रोग निदान में एक नई क्रांति का सूत्रपात हुआ है। इस नई क्रांति का आधार मोनोक्लोनल एंटीबॉडीज ही हैं।

सन् 1960 से पहले मोनोक्लोनल एंटीबॉडीज के बारे में कोई सोच भी नहीं सकता था। उन दिनों अर्जेन्टीना निवासी एक वैज्ञानिक कैंसर मिलस्टाइन ने ऐसा ही सोचा था। तब मिलस्टाइन इंगलैंड में रहकर शोधकार्य कर रहे थे। बाद में उनके साथ एक अन्य स्विस-जर्मन वैज्ञानिक जार्ज कोहलर भी आ मिले। इन दोनों ने "मोनो-क्लोनल एंटीबॉडीज" को बड़ी मात्रा में तैयार करने की तकनीक विकसित की। सन् 1975 में विकसित की गई इसी तकनीक से आज दुनिया भर में मोनोक्लोनल एंटीबॉडीज तैयार की जा रही हैं। मोनोक्लोनल एंटीबॉडीज की खोज के कारण कैंसर और जार्ज कोहलर को सन् 1984 में 'नोबेल पुरस्कार' देकर सम्मानित किया गया था।

मोनोक्लोनल एंटीबॉडीज को कई तरह से इस्तेमाल किया जा सकता है। इनका सबसे बड़ा उपयोग रोग की पहचान करने में है। अलग रोग की पहचान करने के लिये अलग तरह की मोनोक्लोनल एंटीबॉडीज का इस्तेमाल करना पड़ता है। जब भी कोई बिषाणु या जीवाणु शरीर में घुस कर रोग पैदा करता है जो हमारे शरीर की रक्षा-पंक्ति एंटीबॉडीज का निर्माण करती है। ये एंटीबॉडीज रक्त में घूमती रहती हैं। शरीर से रक्त की एक बूंद निकाल कर एंटीबॉडीज और एंटीजन की पहचान की जाती है। रक्त में मौजूद विषाणु या जीवाणु की प्रतिजनों से मोनो-क्लोनल एंटीबॉडीज चिपक जाती हैं। मोनोक्लोनल एंटीबॉडीज एक सुरक्षित रासायनिक घोल में रहती है। प्रतिपिंडों से जब प्रतिजन चिपक जाती हैं तो इस घोल में एक विशेष रसायन की कुछ बूंदे छोड़ दी जाती हैं। यह रसायन विषाणु या जीवाणु की प्रोटीन के साथ प्रतिपिंडों की उपस्थिति में घोल का रंग बदल देता है। यदि घोल का रंग एक खास तरह का हो गया है तो समझना चाहिये कि संक्रमण है। ऐसे नतीजे को "पाजिटिव" कहा जाता है। अगर रंग नहीं बदलता तो समझना चाहिये नतीजा "निगेटिव" है और व्यक्ति संक्रमण से बचा हुआ है। लेकिन इस जाँच में "फाल्स पाजिटिव" और "फाल्स निगेटिव" नतीजों से सावधान रहना पड़ता है।

मोनोक्लोनल एंटीबॉडीज का अन्य उपयोग रेडियोलेबलिंग करने के बाद होता है। औषधि-चिकित्सा के अलावा इनका नैदानिक महत्व काफी है। मोनोक्लोनल एंटीबॉडीज को रेडियो आइसोटोप से बाँधा जाता है। रेडियो आइसोटोप, जैसे इंडियम-III मानव शरीर के लिये सुरक्षित होते हैं और कुछ समय बाद खुद ही मूत्र और मल आदि के जरिये शरीर से बाहर निकल जाते हैं। कैंसर और शरीर के भीतर किसी अंग की कुछ कोशिकाओं, उत्तकों और मांसपेशियों के मृत हो जाने का पता इन रेडियोलेबल्ड मोनोक्लोनल एंटीबॉडीज से लगाया जाता है। कैंसर कोशिकाओं के खास प्रतिजनों से जाकर ये एंटीबॉडीज चिपक जाती हैं। इसी प्रकार दिल की मृत मांसपेशियों से भी जाकर ये चिपक जाती हैं। ऐसे स्थानों की सही निशान-देही करने और नुकसान की सीमा जानने के लिये एक ऐसा कैमरा उपयोग किया जाता है जिसमें लगी फिल्म को रेडियोआइसोटोप से निकलने वाला विकिरण एक्सपोज कर देता है। इस फिल्म को डेवलप करके रोग निदान किया जाता है।

स्वास्थ्य के बाजार में "मोनोक्लोनल एंटीबॉडीज" को लेकर अरबो रुपये का व्यापार करने की भरपूर गुंजाइश है। भारत में इस समय न तो निजी और न ही सरकारी क्षेत्र में मोनोक्लोनल एंटीबॉडीज को बड़े पैमाने पर बाजार में बेचने के लिये बनाया जा रहा है, हाँ, शोध प्रयोगशालाओं में केवल शोध के लिए कुछ मोनोक्लोनल

एंटीबॉडीज बनायी भी जा रहीं हैं और आयात भी की जा रही हैं। पिछले दिनों भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद् के पूर्व महानिदेशक डॉक्टर औतार सिंह पेंटल ने इन एंटीबॉडीज को बनाने के लिए एक अलग शोध संस्थान खोलने के बारे में कहा था। वैसे यह गतिविधि अब बायोटेक्नोलॉजी के क्षेत्र में है। भारत सरकार का बायोटेक्नोलॉजी विभाग इम्यूनोडायग्नोस्टिक किट्स के अनुसंधान और विकास के प्रति बहुत पहले से जागरूक है और कुछ नीतियों पर अमल करके निर्माण स्तर पहुँचने में कामयाबी हासिल हुई है। खासकर रोग प्रतिरक्षण विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली ने पिछले वर्ष एक गर्भ-जाँच किट का सफल प्रदर्शन किया था।

अभी यह योजना आगे नहीं बढ़ पायी है। योजना यह थी कि भिन्न-भिन्न रोगों की पहचान के लिए मोनो-क्लोनल एंटीबॉडीज तैयार की जायें। फिर इनसे इ म्यूनोडायग्नास्टिक किट तैयार करने की तकनीकी भारतीय दवा निर्माता कम्पनियों को उपलब्ध की जायेगी ताकि डाक्टरों और व्यक्तियों को ये आसानी से बाजार में मिल सकें। इनका बड़े पैमाने पर निर्यात करके हम काफी विदेशी मुद्रा कमा सकते हैं। पर ... काश ! ऐसा जल्दी नहीं हो पायेगा। जब होगा तब तक विदेशी, भारतीय बाजार में पसर चुके होंगे और हम उन पर अपनी परम्परिक निर्भरता का निर्वाह और भी निष्ठा से कर रहे होंगे।

○○

['सम्प्रेषण' से साभार]

छोटा सा घर हो कंक्रीट की छाँव में

कुलदीप शर्मा

बढ़ती जनसंख्या ने सबसे अधिक चोट किया है तो जमीन पर। इस जमीन पर सबसे कीमती चीज क्या है? तो शायद जमीन। इस धरती पर एक अदद छत का सपना आज भी करोड़ों लोगों का है। देश की पिछली जनगणना बताती है कि जहाँ एक ओर आबादी में विकास की दर तीव्र होती गई वहीं मकानों के विकास की दर एकदम कम होती गई। गुजरे दशक में आबादी विकास की दर 25 प्रतिशत रही जबकि मकान विकास की दर मात्र 18.5 प्रतिशत। एक सरकारी अनुमान के अनुसार देश में तीन करोड़ मकानों की कमी है। इसी कमी को पूरा करने के लिए सरकारी और सहकारी स्तर पर जी तोड़ कोशिश की जा रही है। इसलिये जहाँ एक ओर लगभग हर शहर में विकास प्राधिकरण स्थापित किया गया है जो आवासों का निर्माण और आवंटन करता है, वहीं कस्बाई क्षेत्रों में आपसी खरीद-फरोख्त होती है। वैसे स्थिति इतनी विस्फोटक है कि शहरों के पास बसे गाँवों को, उनके खेतों को आवास के लिए उपयोग किया जा रहा है। जंगलों पर भी चोट इसी समस्या के कारण हो रही है और खड़े हो रहे हैं कंक्रीट के जंगल।

आवास की समस्या से निपटने के लिए सरकार को आर्थिक, तकनीकी तथा सम्बन्धित मुद्दों से जुड़ कर चलना होगा। आम आदमी के लिए तो घर की बात वाकई सपना हो गई है और अगर सोच भी ले तो जेब पर हाथ

श्री शर्मा जाने-माने विज्ञान लेखक हैं और भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के प्रकाशनों के सम्पादक हैं।

रख कर कम से कम पैसे की सोचता है। मकान की लागत कम करने के लिए सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा है उसमें प्रयुक्त सामग्री की कीमत । सर्वेक्षण बताते हैं कि मकान की कुल लागत का 75 प्रतिशत उसमें प्रयुक्त अच्छी सामग्री में ही चला जाता है । शहरों तथा ग्रामीण दोनों ही क्षेत्रों में कम लागत के मकान तैयार करने की योजनाएँ और तकनीकें उपलब्ध हैं । जैसे 1952 तथा 1954 में सरकार द्वारा कमजोर तथा कम आय वर्ग के लोगों के लिए सस्ते दामों पर आवास उपलब्ध कराने की योजना तैयार की गई थी। दिल्ली में 'इन्दिरा आवास योजना' भी इसी का एक हिस्सा है ।

कम लागत के मकान तैयार करने में दिल्ली स्थित "राष्ट्रीय भवन निर्माण संगठन" (एन० बी० ओ०) ने मंत्रालय की योजनाओं के तहत मकानों के लिये सस्ती तकनीक और डिजाइनें तैयार की है । ये मकान मैदानी, पहाड़ी, बाढ़ प्रभावित, अधिक बर्फ वाले आदि क्षेत्रों के लिए वहाँ की समस्याओं को ध्यान में रखकर तैयार किये गये हैं। इनमें सरिया, सीमेन्ट, ईंट आदि का प्रयोग न कर क्षेत्र विशेष में पायी जाने वाली सामग्री का प्रयोग किया जाता है। जैसे नारियल के रेशे की नालीदार स्लेट सहित बाँस या लकड़ी की चौखट वगैरह ।

इस दिशा में ग्रामीण क्षेत्रों के लिये अग्निरोधी छप्पर काफी लोकप्रिय हुआ है । ग्रामीण क्षेत्रों में आमतौर पर घास-फूस या पत्ते की सामग्री से तैयार छप्पर जरा सी आग पकड़ते ही स्वाह हो जाते हैं । मगर इसे नये रूप में प्रयोग किया गया है ।

इसी प्रकार "केन्द्रीय भवन अनुसंधान संस्थान" ने अच्छी किस्म की टाईल्स का विकास किया है, जिससे छत अधिक मजबूत और बारिश तथा ओलों की मार से बचाने वाली तैयार होती है । सबसे बड़ी बात तो यह है कि सीमेण्ट और इस्पात का खर्चा बचता है । संस्थान द्वारा नारियल के रेशे की नालीदार चादरें तैयार की गई हैं, जो छत के लिये बेहद उपयुक्त हैं । खासकर वे क्षेत्र जहाँ नारियल अच्छी मात्रा में उपलब्ध हैं । यह तकनीक सस्ती, मजबूत और कारगर साबित हो रही है । ऐसी छतें न तो चटकती हैं और न ही इनमें जंग लगने का खतरा ही रहता है । चूंकि नारियल के रेशे ताप के अच्छे वाहक नहीं हैं इसलिए ये छतें गर्म भी नहीं होती हैं ।

इसी दिशा में एक और अनोखी सफलता हाथ लगी है, वह है ऐस्फाल्टिक की नालीदार चादरें । ये चादरें कागज की कतरने, नारियल के रेशे, बेकार जूट जैसे व्यर्थ पदार्थों से तैयार की जाती हैं । इस चादर की विशेषता यह हैं कि इनमें जंग नहीं लगती और साथ ही बरसात में टपकती भी नहीं है । इसके अलावा अन्य छतों की तुलना में ये चादरें आग से अधिक सुरक्षित, लचीली और भार में हल्की होती हैं । कीड़े-मकोड़े भी इन पर अपना प्रभाव नहीं छोड़ पाते हैं ।

ढलानदार छत या छप्पर के अलावा सपाट छतें भी नये और सस्ते रूप में तैयार की गयी हैं । इसमें लकड़ियों की कड़ियों से तैयार की गई सपाट छतें उन क्षेत्रों के लिए काफी उपयोगी पाई गई है जहाँ अधिक संख्या में घने वन हैं । वहाँ अच्छी किस्म के पेड़ों से लकड़ियों के तख्ते तैयार किये जाते हैं । इन तख्तों को प्रयोग से पहले उपचारित किया जाता है ताकि इन पर वर्षा और आग का असर न पड़े । इसका दोहरा लाभ होता है—एक तो सुरक्षा, दूसरा ताप नियन्त्रण ।

इसी दिशा में इस्पात की छत सहित ईंट की छत भी तैयार की गई हैं। इसके लिए दो बातें महत्व रखती हैं। एक तो ईंटें अच्छी मजबूत होनी चाहिये, दूसरे इस्पात जंग खाने वाला न हो। इससे बचने के लिए इस्पात पर पेंट भी किया जा सकता है।

राजस्थान के बहुत से क्षेत्रों में जहाँ पत्थर भारी मात्रा में पाया जाता है वहाँ मात्र पत्थर को स्लैब द्वारा छत तैयार करने के सफल प्रयोग भी किये गये हैं। इन छतों की बनावट सपाट होती है। इसके लिए उनकी चौड़ाई को ध्यान में रखते हुए 1.5 मीटर से 3.6 मीटर लम्बे तथा 0.27 मीटर से 0.6 मीटर चौड़े पत्थरों के स्लैबों को प्रयोग में लाया जा सकता है। एक विशेष बात यह है कि पत्थर के स्लैबों को सीधे दीवारों की टेक दे दी जाती है और छत के लिए मध्य टेक या कड़ियों का प्रयोग नहीं किया जाता। इसके अलावा कंक्रीट और अन्य मजबूत पदार्थों से एक साँचे से छत तैयार की जाती है। इन पर लागत भी कम आती है।

इस प्रकार की छतों और छप्परों की औसतन लागत 8 रुपये प्रति वर्ग मीटर से लेकर 20 रुपये प्रति वर्ग-मीटर तक आती है। यह लागत उपयुक्त सामग्री की स्थानीय उपलब्धता के आधार पर घट-बढ़ भी सकती है। इस प्रकार से देखा जाये तो ये छतें अब तक की प्रयुक्त छतों से बेहद सस्ती हैं और मजबूती में उनके बराबर ही हैं। मकान की दीवारें हों, फर्श हो या फिर छत सबके निर्माण की इकाई है ईंट। आज ईंट की कीमत काफी बढ़ चुकी है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए "राष्ट्रीय भवन निर्माण संगठन" ने व्यर्थ जाने वाली राख से ईंट तैयार की हैं। इसमें कुछ मात्रा सीमेन्ट और कुछ चिपकने वाले पदार्थ की रहती है जो एक तरह से सीमेन्ट को मजबूती प्रदान करती है। यह ईंट देखने में भी काफी खूबसूरत है। यदि सीधे ही इस प्रकार की ईंटों की चिनाई कर दी जाये तो भी मकान में खूबसूरती आ जाती है। एक ईंट का भार आधा किलो से भी ज्यादा है जो मकान को पुख्ता करने में विशेष रूप से सहायक होता है।

आमतौर पर आकार के लिए 19 से० मी०×9 से० मी० ×9 से० मी० का माप है, परन्तु ये ईंटें छोटी तथा बड़ी भी तैयार की जा सकती हैं। राख से निर्मित ईंटों के मकान ताप नियन्त्रण की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण पाये गये हैं।

इसके अलावा कीमत तथा समय की बचत के लिए कंक्रीट की पूर्व निर्मित दीवारें भी तैयार करने में सफलता पायी गयी है। बड़े-बड़े साँचों में कंक्रीट जमा कर दीवारें तैयर कर ली जाती हैं, जिन्हें आकार के अनुसार नट-बोल्ट की सहायता से कस कर खड़ा कर दिया जाता है। 'हुडको' तथा 'राष्ट्रीय भवन निर्माण संगठन' द्वारा इस प्रकार के भवन कई स्थानों पर तैयार किये गये हैं। इसी प्रकार फर्श निर्माण के लिये भी सस्ती व सरल तकनीकें तैयार की गई हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में नमी तथा आग सहने वाली लकड़ी से मजबूत फर्श तैयार किये जाते हैं। यह कीड़ों-मकोड़ों से सुरक्षित होती हैं और अधिक भार सहने में भी सक्षम होती हैं।

'केन्द्रीय भवन अनुसंधान संस्थान' रुड़की द्वारा फर्श में प्रयुक्त की जाने वाली टाईल्स का एक नया और सफल प्रयोग किया गया है। संस्थान द्वारा अधिक भार सह सकने वाले मैग्नीसियम आक्सीक्लोराइड व सीमेन्ट द्वारा निर्मित टाइल्स तैयार की गई है। कम भार और कम मोटाई वाली ये टाईल्स मजबूती में बेमिसाल हैं। जहां एक ओर आम प्रयुक्त सीमेन्ट की टाईल्स पानी के छिड़काव के साथ मजबूती लेने में 15-20 दिन का समय लेती हैं, वहीं ये

मात्र दो दिन में हवा में मजबूती ले लेती हैं और बन जाने के एक हफ्ते के अन्दर प्रयोग की जा सकती हैं। इस प्रकार से कच्चे माल में 40 प्रतिशत तक की बचत हो जाती है। इन पर तेल, पेंट या अन्य पेट्रोलियम उत्पादों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इसके अलावा और भी ऐसे सस्ते व आसान तरीकों पर शोध-कार्य जारी है जो मकान की कीमत घटाने में मददगार हों साथ ही मजबूती भी प्रदान करें। इसके लिए निदेशक, राष्ट्रीय भवन निर्माण संगठन, दिल्ली तथा निदेशक, केन्द्रीय भवन अनुसंधान संस्थान, रुड़की से सम्पर्क किया जा सकता है।

['सम्प्रेषण' से साभार]

●●

सूक्ष्म मशीनों से बनेगी एक नई दुनिया

राजेन्द्र कुमार राय

आजकल सूक्ष्म मशीनें और प्रौद्योगिकी को बड़े पैमाने पर लाने की तैयारी अन्तिम चरण में चल रही है। यह एक बहुत बड़ी वैज्ञानिक क्रान्ति के प्रारम्भिक परिणाम है। इस नई सूक्ष्म प्रौद्योगिकी के कुछ करिश्में देखे। अनिद्रा की परेशानी होने पर एक व्यक्ति डॉक्टर द्वारा बताई गोलियाँ खाता है। लेकिन यह दवा नहीं है बल्कि छोटी-छोटी मशीनें हैं। यह मशीनें उस व्यक्ति के शरीर के अन्दर गति करती हैं। दरअसल यह उस व्यक्ति के बेल्ट पर लगे रिसीवर पर उसके शरीर के तापमान का बराबर रिकार्ड भेज रही है, जो चिकित्सकों को उसके शरीर के स्पंदन लय का अध्ययन करने में काफी सहायक होता है।

इस सूक्ष्मप्रौद्योगिकी का एक और चमत्कार देखें। एलेन तेज गति अपनी कार को चला रही है और एक दूसरे तेज गति से भागते वाहन से टकरा जाती है। लेकिन वह सकुशल बच जाती है, क्योंकि ज्योंहि वाहन टकराने को थे कि एक संवेदी माइक्रोमशीन ने झटके से उसके कार के एयर बैग को सक्रिय कर दिया, इससे एलेन की जान बच गई। यह माइक्रोमशीन इतनी छोटी है कि आँख से दिखाई भी न दे। यह एक सत्य घटना है। यह माइक्रोमशीन शीघ्र ही बड़े पैमाने पर उपयोग में लायी जा सकेगी। ये सूक्ष्म मशीनें एक पिन के सिरे पर तीन-चार एक साथ समा सकती है।

ये सूक्ष्म मशीनें उस विज्ञान का हिस्सा है जहाँ नाप की इकाई "माइक्रोमीटर" है। माइक्रोमीटर, मीटर का दस लाखवाँ भाग होता है। हमारे बालों की औसत चौड़ाई 70 से 100 माइक्रोमीटर होती है। इस अजनबी माइक्रो विश्व के खोजकर्ता सूक्ष्म मशीनें बनाने के नये-नये रास्ते खोज रहे हैं। कुछ धातुएँ जो आमतौर से काफी कठोर होती हैं, सूक्ष्म स्तर (माइको पैमाने) पर नर्म और कमजोर हो जाती हैं। लेकिन कुछ अन्य धातुएँ जो वास्तव में नाजुक होती हैं, इस माइक्रो संसार में काफी शक्तिशाली तथा कठोर हो जाती हैं, जैसे कि सिलिकान यांत्रिक विज्ञान में सिलिकान इतना मजबूत होता है, जितना कि इस्पात की कुछ विशेष किस्में।

मई 1988 में सर्वप्रथम कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के दो स्नातकों यू-चाँग ताई और लाँग-शेंग फ्रान को सूक्ष्मता की दुनिया में एक गौरवशाली उपलब्धि हासिल हुई। इन दोनों ने 0.1 मिलीमीटर (तीन इंच का हजारवाँ भाग) से भी छोटे एक उपकरण के वोल्टेज का बटन दबाकर एक इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्काप द्वारा एक सूक्ष्म वैद्युत् मोटर कार को घूमते देखा। यह मोटर एक कम्यूटर चिप की तरह बनाई गई थी। इस तकनीक में, कागज जैसा महीन

सिलिकॉन का एक 10 सेन्टीमीटर लम्बा एक टुकड़ा "सिलिकॉन डाइऑक्साइड" (कांच) में बन्द कर दिया जाता है। इसके बाद उस पर प्रकाश-प्रतिरोधी का लेपन किया जाता है। यह एक तरह प्लास्टिक होता है और प्रकाश के सम्पर्क में आते ही सूक्ष्म खण्डों में टूट जाता है। फिर इन सूक्ष्म खंडों को एक विशेष रसायन में घुलाया जाता है, जिसके कारण सिलिकान के टुकड़े पर सर्किट उभर आता है। इस प्रक्रिया को कई बार दोहरा कर चिप पर परस्पर सम्बद्ध सर्किट की परत दर परत बनायी जाती है। हर परत लगभग दो सौ चिप तक रख सकती है और हर चिप सौ से अधिक माइक्रो मशीनें वहन कर सकती है।

इस नई सूक्ष्म तकनीक का व्यवहारिक उपयोग क्या होगा ? सम्भवत एक दशक के अन्दर ही डॉक्टर ऐसे माइक्रोस्कोपिक उपकरण का इस्तेमाल कर सकेंगे जिससे भारी शल्यचिकित्सा को, बिना चीर-फाड़ के ही किया जा सकेगा और इस दशक के मध्य तक आप विकसित देशों में ऐसी कार खरीद सकेंगे जिसमें माइक्रोमशीन वाले संवेदी उपकरण लगे होंगे जो अपने आप ही टायरों में हवा का दबाव तथा झटका सहने वाले उपकरण की जाँच करेंगे। मौसम और बदलती परिस्थितियों का भी यह कार सामना कर सकेगी। इसमें एक माइक्रोमशीन कार के बोर्ड पर लगे माइक्रोकम्प्यूटर को लगातार तापमान तथा आर्द्रता में बदलाव के अनुसार इंजन को संयोजित करने के लिए तैयार कर सकता है।

बाजारों में जल्द ही माइक्रो संवेदी घड़ियाँ उपलब्ध होंगी। यह घड़ियाँ हृदय गति, रक्तचाप, नब्ज और शरीर का तापमान बताया करेंगी और साथ ही किसी वस्तु की ऊँचाई या पानी के नीचे की गहराई भी इनसे मापा जा सकेगा। "नैनो-टेक्नोलॉजी" (अति सूक्ष्म प्रौद्योगिकी) के इस विश्व में कुछ विचार अभी कल्पना में है तो कुछ वास्तविकता में बदले जा चुके हैं। सम्भवत: "नैनो-टेक्नोलॉजी शब्द का इस्तेमाल सर्वप्रथम एरिक ड्रेक्सलर ने 1986 में प्रकाशित अपनी एक पुस्तक "इंजिन्स ऑव क्रिएशन" में किया था। नैनो लम्बाई के माप की इकाई के एक करोड़वें अंश को कहते हैं। वैसे ग्रीस भाषा में इसका अर्थ होता है—"नन्हा" मासाचुसेट्स इंस्टीट्यूट ऑव टेक्नोलॉजी" के माइक्रोरोबोट प्रयोगशाला के संस्थापक आर० ब्रुक्स का विचार ऐसे माइक्रोरोबोट बनाने का है जो तेज तथा सस्ते हों और बिना मानव सहायता के काम करने में सक्षम हों।

कैम्ब्रिज के मासाचुसेट्स इंस्टीट्यूट ऑव टेक्नोलॉजी ने कीट जैसे रोबोट बनाये हैं जो काफी सस्ते हैं और जब एक टूट-फूट जाये तो आप दूसरा ले सकते हैं। जल्द ही विकसित देशों में ऐसे डाक टिकट मिला करेंगे, जिन पर लगे सूक्ष्म माइक्रोसेंसर से रक्तचाप को नापा जा सकेगा।

एक कहावत है कि हम पहले औजार बनाते हैं फिर औजार हमें बनाने लगते हैं। वास्तव में जब किसी नये आविष्कार या औजार को समाज में स्थापित किया जाता है तो वह प्रयोगशाला से उठकर समाज में आ जाता है। जैसे कोई बड़ी परियोजना या पंचवर्षीय योजना हमारे रहन-सहन को प्रभावित करती है वैसे ही कोई प्रौद्योगिकी भी हमारी पूरी व्यवस्था को प्रभावित करती है। इस प्रौद्योगिकी का असर हमारे खान-पान, रहन-सहन, रोजगार यहाँ तक कि बच्चों के भविष्य पर भी पड़ता है और शायद नये सूक्ष्म उपकरण तथा प्रौद्योगिकी हमारी जीवन पद्धति को आश्चर्यजनक रूप से बदल दे।

['सम्प्रेषण' से साभार]

○○

मापकों के आधार

डॉ० राम कुमार तिवारी

मानव जगत् में आर्थिक क्रिया कलाप हो या वैज्ञानिक कार्यकलाप हों, माप की आवश्यकता पड़ती ही है। प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी रूप में वस्तु की लम्बाई, वस्तुओं का वजन तथा समय की लम्बाई को मापने की आवश्यकता पड़ती ही है। बिना इसके अब मानव जीवन व्यवस्थित नहीं रह सकता है।

प्रचलित माप की इकाइयों में, विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में जो अलग-अलग प्रकार की इकाइयाँ पायी जाती हैं उसे क्षेत्रीय माप प्रणाली कहा जाता है। जैसे चीन में यांग प्रचलित है, रूस में पैल्टज, जापान में सून और ली आदि। इन क्षेत्रिय इकाइयों का सम्बन्ध एक दूसरे देश से नहीं है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कठिनाइयाँ आने लगतीं हैं। इन्हीं कठिनाइयों को दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय माप प्रणाली का आविष्कार वैज्ञानिकों को करना पड़ा।

प्रस्तुत लेख में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि लम्बाई, समय या भार मापन के लिए निश्चित की गई मापकों के लिए आधार किसे माना गया है। वस्तुतः ये आधार नये-नये खोजों के अनुसार बदलते रहे हैं। समय भार और लम्बाई इन तीनों मापकों में से सबसे पहले सम्भवतः 'समय मापक' की खोज हुई होगी तत्पश्चात् इसी के अनुसार लम्बाई एवं भार आदि मापकों की खोज की गयी होगी। यहाँ सर्व प्रथम समय मापक के आधारों की चर्चा करेंगे फिर लम्बाई एवं भार मापन के आधारों की व्याख्या की जायगी।

समय मापन के आधार

समय के मापन की छोटी इकाई के रूप में "सेकेण्ड" शब्द का प्रयोग होता है। यह शब्द 'सेन्टीमीटर' से काफी पुराना है। अतः स्पष्ट है कि समय समय मापक का प्रादुर्भाव पहले की लम्बाई मापक का बाद में खोज की गयी। विद्वानों के बीच समय मापन के आधार के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं था। सबों ने प्राकृतिक आधार 'दिन और रात' को ही सर्वसम्मति से एक "समय-इकाई" के रूप में स्वीकार किया। 'दिन और रात' से सम्बन्धित है सूर्य। दोपहर के समय किसी छड़ी की छाया सूर्य की किरणों के द्वारा जिस स्थान पर बनती है पुनः उस छाया को उसी स्थान पर आने में जितना समय लगता है उसे एक दिन-रात या समय की एक बड़ी इकाई माना गया है। समय के इस अन्तराल को घंटा मिनट सेकेण्ड में बांट दिया गया। दिन व रात का विभाजन अति प्राचीन काल में ही किया जा चुका था। बेबीलोन सभ्यता काल में ही दिन को 12 भागों में विभाजित करने का प्रमाण मिलता है। मिश्र की प्राचीन पद्धति में दिन-रात की 24 घण्टों का माना गया था, ऐसा उल्लेख मिलता है। यद्यपि 60 मिनट का घण्टा और 60 सेकेण्ड का मिनट का प्रचलन बाद में हुआ किन्तु इसे भी बेबीलोन सभ्यता की देन कही जाती है।

प्राचीन काल में तथा हाल के कुछ वर्षों पूर्व तक सूर्य छड़ी और जल छड़ी का भी प्रचलन था। सूर्य छड़ी

क्वार्टर न० 6, बी० एस० कॉलेज कैम्पस, लोहरदगा, वाराणसी-835302

में किसी छड़ी की छाया का एक पूर्ण चक्र दिन-रात कहा जाता था। इस पूर्ण चक्र में लगे समय के अन्तराल का चौबीसवाँ भाग एक घण्टा कहा जाता था। इसी प्रकार जल छड़ी के सम्बन्ध में कहा गया है कि छः पल ताम्बें का एक ऐसा बर्तन बनाया जाय जिसमें एक प्रस्थ जल अँट सके। ऐसे पात्र को चार माशे सोने की चार अंगुल लम्बी सुई बनाकर उक्त पात्र के पेंदे में छेद कर दें। अब इस पात्र को जल में छोड़ देने पर पेंदे के छेद से जितने समय में एक प्रस्थ जल भर जाय और वह पात्र जल में डूब जाय उतने समय को एक "नाडिका" या 'दण्ड' कहते हैं। यह भी समय मापक का सुन्दर आधार है किन्तु है बहुत जटिल। आगे की इकाई इस प्रकार है—छः दण्ड का एक प्रहर तथा चार-चार प्रहर का एक दिन और रात अर्थात् एक प्रहर का तीसरा भाग एक घण्टा माना जाता है।

प्राचीन भारतीय पद्धति

समय माप की प्राचीन पद्धति भारतीय ग्रंथो में मिलती है। उस काल में भी विद्वानों से प्राकृतिक आधार ही चुना था। कहा गया है कि सूक्ष्मतम अंश को परमाणु कहते हैं। दो 'परमाणुओं' को मिलाकर 'अणु' बनता है और तीन अणुओं से 'त्रसरेणु' बनता है। ऐसे तीन त्रसरेणु को पार करने में सूर्य की किरणों को जितना समय लगता है उसे 'त्रुटि' कहा गया है। सौ 'त्रुटि' का एक 'वेध'; तीन वेध का एक 'लव'; तीन 'लव' का एक 'निमेष' और तीन निमेष को एक 'क्षण' कहते हैं। पाँच क्षण की एक 'काष्ठा'; पन्द्रह काष्ठा का एक 'लघु' और पन्द्रह लघु का एक 'दण्ड' होता है (दण्ड माप की विधि पूर्व में भी बताया गया है)। छः दण्ड का एक 'प्रहर' और आठ प्रहर का एक दिन-रात; पन्द्रह दिन-रात का एक 'पक्ष'; दो पक्ष का एक 'मास'; बारह मास का एक 'वर्ष' होता है। ये सभी माप की छोटी इकाइयाँ हैं। किन्तु समय की बड़ी इकाइयों के सम्बन्ध में भी कहा गया है जिसमें दिव्य अहोरात्र, दिव्य मास, दिव्य वर्ष, युग, दिव्य युग, महायुग, महादिव्ययुग आते हैं। एक महादिव्य युग 864,000,000 वर्ष के बराबर होता है। उपरोक्त माप की व्याख्या तो की गयी किन्तु त्रसरेणु को पार करने में सूर्य किरणों को जो समय लगेगा उसे कैसे मापा जायगा, यह समस्या जटिल है।

आजकल समय मापन के लिये एटोमिक घंटी बन गयी है जिसमें सेकेण्ड के दस लाखवें हिस्से को भी मापा जा सकता है। इसी घड़ी की इजाद के बाद से यह जानना सम्भव हो सका है कि पृथ्वी 100 वर्षों में 1-2 मिली सेकेण्ड धीमी गति से चलती है। इस एटोमिक घड़ी में सेकेण्ड के समय का आधार परमाणुओं की कम्पनावृति को माना गया है। सीजिय-133 के परमाणुओं की कम्पनावृति जब 9, 192, 631, 770 बार होती है तो उस आवृति में लगे समय अन्तराल को सेकेण्ड माना गया है।

लम्बाई मापन का आधार

प्रारम्भ में इंच, फुट की लम्बाई निर्धारण का आधार मानव शरीर के विभिन्न अंगों को ही बनाया गया था। केहुनी से अंगुली का छोर तक 'हाथ' कहा जाता था। अंगूठे की चौड़ाई को 'इंच' बराबर माना गया था तथा 'फूट' पैर को कहते हैं इसीलिये एड़ी से अंगूठे की लम्बाई 'फूट' कहलाया। यद्यपि माप के ये आधार काफी सुविधा-जनक थे एवं सुलभ प्रतीत हुए किन्तु प्रत्येक व्यक्ति में इसकी भिन्नता के कारण माप की इस इकाई का प्रचालन धीरे-धीरे कम होता चला गया। सत्रहवीं शदाब्दी के ठीक उत्तरार्द्ध में वैज्ञानिकों का ध्यान एक ऐसे प्राकृतिक आधार की खोज करने लगा जो बिलकुल स्थायी हो। क्योंकि इस समय तक व्यापार का प्रसार, यातायात आदि काफी विकसित होने लगे थे तथा रोजमर्रे की क्रिया कलापों में बाधाएँ आने लगी थीं।

1664 में क्रिश्चियन ह्यूगेन ने प्राकृतिक आधार बनाया पेन्डुलम के दोलन काल को (इस समय तक मापक का विकास हो चुका था, पेन्डुलम आदि बन चुके थे) जिसे सेकेण्ड कहा जाता था। इस दोलन की काल में पेण्डुलम जितनी दूरी तक झूलती थी उसे एक इकाई माना। किन्तु यह मान्यता अधिक दिनों तक नहीं चल सकी। 1771 में एक अन्य विचार प्रतिपादित हुआ कि कोई भी स्वतन्त्र गिरती हुई वस्तु एक सेकेण्ड में जितनी दूरी तय करेगी उसे लम्बाई की एक इकाई मानेंगे। यह विचार काफी दिनों तक मान्य रहा किन्तु फ्रांस की महान क्रांति में विलीन हो गयी। इसके बाद से ही किलोग्राम और मीटर पद्धति का जन्म हुआ।

1790 में फ्रांस एसेम्बली ने उद्भट गणितज्ञों और भौतिकशास्त्रियों की एक सभा बुलाया जिसमें उन लोगों से माप की कोई साश्वत इकाई निर्धारण का आग्रह किया गया। कमिटी ने पहले से उपलब्ध लम्बाई के विभिन्न इकाइयों को भुलाकर प्राकृतिक आधार के रूप में पृथ्वी की परिधि को स्वीकारा। इसमें परिवर्तन होने की कोई सम्भावना नहीं है। पृथ्वी की परिधि कितनी लम्बी है इसका पता एलेक्जेन्ड्रिया के पुस्तकालयाध्यक्ष एराटोस्थेनिज ने 276-196 *B.* C. में ही मालूम कर लिया था। उसके माप की इकाई थी 'स्टेडिया'। यह एक स्थानीय इकाई की माप की। उसने पृथ्वी की परिधि को 252 000 स्टेडिया बताया था। (यह आज का 40,000 कि० मी० के लगभग है)। इसी आधार पर फ्रांस का वैज्ञानिक परिषद् सम्पूर्ण पृथ्वी की परिधि के एक-चौथाई (quadrant) का 1/10 मिलियन भाग को एक इकाई के रूप में स्वीकार किया। सर्वसम्मति से इस इकाई का नाम मीटर (METRE) रखा गया। 1799 तक इस इकाई को प्रबल समर्थन मिला तब इस लम्बाई के बराबर एक पीतल का छड़ बनाकर स्थायी आधार के रूप में फ्रांस के 'अर्कीइव' में रखा गया। इसके बाद भी इस इकाई पर 1870, 1872 और 1875 के अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में इसकी लम्बाई पर तर्क-वितर्क होता रहा और अन्ततः यह निर्णय हुआ कि मीटर का एक हजारवाँ भाग—मिलीमीटर, दस लाखवाँ भाग—माइक्रोन और एक सौवाँ भाग सेन्टीमीटर के रूप में जाना जायेगा।

आजकल आधुनिक माप प्रणाली में एटोमिक समय के तर्ज पर ही प्रकाश की तरंग दैर्ध्य (wave length) को ही आधार मान लिया गया है। क्रिप्टन 86 गैस को एक नली में भर कर विद्युत् विसर्जन करने से नारंगी-लाल प्रकाश निकलता है। इसी प्रकाश की तरंग दैर्ध्य (wave length) को आधार माना गया है। बताया जाता है कि 15°C तथा 760 मि० मी० पारा दाब पर क्रिप्टन 86 की नारंगी प्रकाश की तरंग दैर्ध्य की लम्बाई 1650763.73 होती है इसी लम्बाई को एक मीटर माना गया है।

भार मापक के आधार

भार एक बल है जो किसी वस्तु का पृथ्वी द्वारा आकर्षित करने से उत्पन्न होता है। अर्थात् किसी वस्तु का भार उस वस्तु के पिण्ड स्वरूप का परिणाम नहीं है बल्कि उसमें पृथ्वी के आकर्षण बल का भी सहयोग रहता है। यह प्रमाणित तब होता है जब किसी वस्तु को चन्द्रमा पर ले जाया जाय। वहाँ पृथ्वी की तुलना में वजन छः गुणा कम हो जाता है। पृथ्वी पर भी इसकी आकार-प्रकार के कारण प्रत्येक आक्षांश में वजन में अन्तर उत्पन्न होता है। इसका कारण है गुरुत्वाकर्षण बल में अन्तर होना। ध्रुवीय क्षेत्रों में विषुवतीय क्षेत्रों की तुलना में 0.5 प्रतिशत वजन बढ़ जाती है। किन्तु चाहे ध्रुव हो या विषुवतीय क्षेत्र या चन्द्रमा एक वस्तु का वजन दूसरे की तुलना में सदा एक ही रहता है। अगर तराजू के पलड़े पर दोनों ओर का बराबर वजन ध्रुवीय क्षेत्रों में रखो या विषुवतीय क्षेत्रों में रखो या चन्द्रमा पर रखो, हमेशा बराबर ही रहेगा। अतः वजन की इकाई मापक किसी वस्तु या पिण्ड द्वारा निश्चित किया

जाना ही श्रेयस्कर उपाय समझा गया क्योंकि उस वस्तु पर जिसे हम इकाई मानेंगे हर हालत में, किसी भी गुरुत्व की स्थिति में समान इकाई बनी रहेगी। उदाहरण के रूप में ऐसे समझा जा सकता है कि एक तराजू पर एक ओर एक किलोग्राम का वाट है तथा दूसरी ओर उतनी ही वजन का कोई अन्य पदार्थ तो दोनों की चन्द्रमा पर या कहीं भी ले जाँय सदा बराबर रहेंगे। यहाँ स्पष्ट यह करना है कि भार मापन का आधार किसे माना गया।

जिस प्रकार 1799, 1872, 1875 के अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में लम्बाई का आधार कोई प्राकृतिक वस्तु को ही चुना गया उसी प्रकार भार मापन का आधार भी प्राकृतिक ही ढूँढा जाना उचित समझा और निर्णय लिया जल को आधार माना जाय। निर्णय हुआ एक घन डेसीमीटर जल का वजन 4° से० ग्रे० में जितना होगा उसी के बराबर वजन का कोई धातु ही किलोग्राम होगा। बाद में कई कठिनाइयाँ उपस्थित होने लगीं यथा किस प्रकार का जल होगा—रासायनिक दृष्टि से शुद्ध, श्रावित या दो बार का श्रावित आदि। इसी प्रकार वजन हवा की उपस्थिति या अनुपस्थिति में लेना होगा। खारा या मीठा जल लेना होगा। तब कांग्रेस के सभी वैज्ञानिकों ने सर्वसम्मति से एक निश्चित द्रव्यमान के धातु पिण्ड को किलोग्राम घोषित कर दिया। आगे बताया कि उस किलोग्राम का हजारवाँ तथा दस लाखवाँ भाग क्रमशः ग्राम और मिलीग्राम कहलायेगा। इसी आधार पर ग्यारहवाँ जेनरल कांग्रेस (माप-तौल) ने अन्तर्राष्ट्रीय यूनिट का निर्धारण किया जिसमें किलोग्राम (पिण्ड) और किलोग्राम (शक्ति) क्रमशः Kg और Kgf. आदि निर्धारित किया गया। शक्ति का माप आज भी उतना प्रचलित नहीं हो पाया है क्योंकि लोग हार्स पावर कह बैठते हैं किन्तु आधुनिक प्रणाली किलोवाट शायद भूल जाते हैं।

1960 के बाद इन्टरनेशनल सिस्टम ऑव यूनिट जिसको संक्षेप में एस० आई० सिस्टम कहते हैं, यह फ्रेंच भाषा का "ली सिस्टम इन्टरनेशनल डी यूनिट्स" से लिया गया है। 1960 में पूरे विश्व ने इसे मान्यता दी और अब इसकी इकाइयाँ प्रचलित हो चली हैं। एस० आई० सिस्टम के मुख्य आधार सात हैं—लम्बाई का मीटर, द्रव्यमान का किलोग्राम, समय का सेकेण्ड, ज्योतीय तीव्रता का कैंडेला, उष्मा गतिक ताप का केल्विन, विद्युतधारा का एम्पीयर और मोल का मोल है।

●●

रेडियोधर्मी अवशेषों का प्रबन्धन एवं भंडारण

डॉ० वीरेन्द्र कुमार सिन्हा

नाभिकीय अवशेष, औद्योगिक तथा घरेलू अपशिष्टों से कुछ भिन्न होता है। इससे अदृश्य विकिरण पुंज निकलते रहते हैं, जिससे होने वाली प्रदूषण की जानकारी केवल खास यंत्रों से ही प्राप्त की जा सकती है, जबकि अन्य अपशिष्टों से होने वाले प्रदूषण का आभास उनके गंध, स्वाद, रंग एवं भौतिक अवस्था से हो सकता है। विकिरण के दुष्परिणाम तो केवल आने वाली पीढ़ियों पर ही दृष्टिगत होते हैं अतएव रेडियोधर्मी अवशेष प्रबंधन एवं भंडारण का कार्यक्रम बहुत सोच-समझ कर बनाया जाता है। रेडियोधर्मी अवशेष हर उस क्रिया में उत्पन्न होता है जहाँ रेडियोधर्मी पदार्थों का उपयोग किया जाता है। परन्तु इसका मुख्य स्रोत नाभिकीय-ईंधन-चक्र है। इस चक्र के प्रथम चरण में रेडियोधर्मी पदार्थ अपशिष्ट के रूप में उत्पन्न होते हैं। कुछ अपशिष्ट पदार्थों की रेडियोधर्मिता कम, कुछ की मध्यम तथा कुछ की बहुत ही अधिक होती है। प्रबंधन के दृष्टिकोण से भी, इनको, रेडियोधर्मिता के आधार पर, तीन मुख्य वर्गों में विभाजित किया गया—निम्न, मध्यम एवं उच्च स्तरीय अवशेष। रेडियोधर्मी अवशेष तीनों मौलिक अवस्थाओं ठोस, द्रव एवं गैस में प्राप्त होते हैं। इनमें द्रव अवस्था सबसे महत्वपूर्ण है क्योंकि ईंधन-चक्र में पाये जाने वाली रेडियोधर्मिता का 11 प्रतिशत भाग द्रव अवस्था में ही होता है। रेडियोधर्मी अवशेष से छुटकारा पाने के दो विकल्प हैं। एक तो इसे सांद्रित करके नियन्त्रित रूप से एकत्रित करके सुरक्षित रख दिया जाये या फिर इसकी सांद्रता को प्रभावहीन सीमा तक घटा कर पर्यावरण में छोड़ दिया जाये। कहने को तो यह विकल्प सरल प्रतीत होता है, परन्तु परमाणु उद्योग के सन्दर्भ में निर्णय लेते हुए कई पहलुओं पर विचार करने की आवश्यकता होती है—विकिरण के दुष्परिणामों से बचाव तथा सांद्रित पदार्थों को लम्बे समय तक सुरक्षित तथा नियंत्रित रखने का व्यय। कुछ कम आयु वाले अवशेष पदार्थों की रेडियोधर्मिता स्वतः कुछ समय के पश्चात् कम हो जाती है और इस प्रकार के अपशिष्ट पदार्थों की रेडियोधर्मिता कम हो जाने पर इन्हें बिना खतरे के वातावरण में छोड़ा जा सकता है। इसके लिए बड़ी-बड़ी भंडार-टंकियों का उपयोग किया जाता है। रेडियोधर्मी द्रव-अपशिष्ट इन टंकियों में भर कर तब तक रख दिये जाते हैं जब तक रेडियोधर्मिता कम होकर प्रभावहीन नहीं हो जाती। मुख्यतः लम्बी आयु वाले रेडियो आइसोटोप अपशिष्ट की रेडियोधर्मिता का कारण होते हैं। यह ध्यान में रखते हुए प्रबंधन कार्यक्रमों का मुख्य लक्ष्य, अपशिष्ट की रेडियोधर्मिता को सांद्रित करके सुरक्षित रखना तथा कम से कम रेडियोधर्मी पदार्थों को पर्यावरण में छोड़ना है। इस संबंध में 'नगण्य विसर्जन' के लक्ष्य को प्राप्त करने के प्रयास रहते हैं और इस दिशा में अधिक प्रभावकारी तकनीक के विकास का प्रयास किया जा रहा है। आयन-विनिमय द्वारा कुछ विशेष रेडियोधर्मी नाभिकों को अलग करते हैं। इसके लिए प्राकृतिक पदार्थ जैसे वर्मा क्यूलाइट तथा बेंटोनाइट क्ले आदि का उपयोग किया जाता है। यह तकनीक विशेषरूप से लम्बी आयु वाले रेडियोधर्मी Cs (सीजियम) तथा Sr (स्ट्रांशियम) के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। इसके अतिरिक्त कृत्रिम कार्बनिक आयन विनिमयक भी उपयोग में लाये जाते हैं। इसकी विशेषता यह है कि इसको पुनर्जनन कर दुबारा उपयोग में लाया जा सकता है। प्राकृतिक पदार्थ जैसे वर्मा क्यूलाइट का उपयोग एक बार

रसायन विभाग, सी० एम० पी० महाविद्यालय, इलाहाबाद-211002

किया जा सकता है। परन्तु सांद्रित हुई रेडियोधर्मिता इसमें सुरक्षित रूप से काफी लम्बे समय तक भंडारित रह सकती है।

मध्यम स्तर के अपशिष्ट का उपचार मुख्यत: सांद्रित कर के ठोस पदार्थ में बदलना रहता है। इस क्रिया में अवशेष को कोलतार के साथ मिला कर गर्म किया जाता है। वाष्पीकरण के द्वारा अपशिष्ट सांद्रित होता है तथा कोलतार के साथ मिल जाता है। ठंडा होने पर यह ठोस अवस्था में आ जाता है और इस प्रकार से प्राप्त ठोस पदार्थ ड्रम में भर कर निपटान के लिये पक्के गड्ढों में डाल दिया जाता है। वहाँ लम्बे समय तक सुरक्षित रहता है। मध्यम स्तर के कुछ सांद्रित पदार्थों को ठोस बनाने के लिए सीमेण्ट का भी प्रयोग किया जाता है।

उच्चस्तरीय अवशेषों का उपचार, भंडारण तथा निपटाण एक जटिल समस्या है। इनकी रेडियोधर्मिता का अनुमान इससे लगाया जा सकता हैं कि इनसे निकलने वाले विकिरण से ऊष्मा पैदा होती है और यह क्षय ऊष्मा उसमें बनी रहने दी जाये तो अपशिष्ट द्रव स्वत: उबलने लगता है। इस प्रकार अपशिष्टों के प्रबंधन में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि ऊष्मा आवश्यकता से अधिक एकत्रित न हो। इसलिए भंडारण तथा रख-रखाव करते समय इनको ठंडा रखने की विशेष व्यवस्था की जाती है। इसके अतिरिक्त उपचार क्रियायें तथा रख-रखाव कार्य काफी दूर से नियन्त्रित किये जाते हैं। यह बहुत ही कठिन तथा जटिल क्रिया है। हमारे वैज्ञानिकों ने आवश्यक सुदूर नियन्त्रण यन्त्रों का विकास करके यह सम्भव कर लिया है। आज सर्वसामान्य धारणा यह है कि इन अपशिष्ट पदार्थों को द्रव के रूप में लम्बे समय तक रखने के स्थान पर इनका ठोस अवस्था में भंडारण करना अधिक सुरक्षित रहेगा। इस उद्देश्य से इनकी ठोसीकरण विधि विकसित की गई है तथा संबंधित संयंत्र भी स्थापित कर लिया गया है। बहुत से देशों में अब भी उच्चस्तरीय अपशिष्ट का द्रव के रूप में स्टील की टंकियों में भंडारण होता है, जिन्हें द्रव अपशिष्ट भंडारण टंकिया भी कहते हैं। ऐसा करना एक अस्थाई प्रबंधन ही कहा जा सकता है। हमारे देश में जो ठोसीकरण की विधि विकसित की गई है, उसे कांचन स्थिरीकरण कहा जाता है। इस विधि में सर्वप्रथम अपशिष्ट को वाष्पीकरण के द्वारा नियन्त्रित किया जाता है, तत्पश्चात् काँच बनाने के लिए जिन रासायनिकों की आवश्यकता होती है उन्हें सांद्रित अपशिष्ट के साथ मिला कर एक विशेष विद्युत्-भट्टी में रख कर 1100°C के तापमान तक गर्म किया जाता है और इस प्रकार बने ठोस काँचीकृत अवशेष को स्टील के धारकों में भरकर बन्द कर कर दिया जाता है। उच्चस्तरीय अवशेष के काँचीकरण से बने ठोस का तुरन्त निपटान नहीं किया जा सकता। इसे लगभग 20 वर्षों तक सुरक्षित तथा नियंत्रित भंडार-कक्ष में रखते हैं, जिससे उसकी क्षयउष्मा तथा रेडियोधर्मिता कम हो जाती है। इस उद्देश्य के लिये ठोस पदार्थ को विशेष कक्ष में रखा जाता है, जिससे ठोस की ऊष्मा निकलने की व्यवस्था, हवा के नियन्त्रित संचार के द्वारा की जाती है।

लगभग 20 वर्षों के सुरक्षित भंडारण के बाद उच्चस्तरीय ठोस अपशिष्ट के निपटान की समस्या रह जाती है। इसे अन्तिम निपटान के लिए धरती के अन्दर गहराई में स्थित चट्टानों में खदान बना कर अपशिष्ट का निपटान करने की योजना है। इस सम्बन्ध में सही जगह का चयन तथा अन्य शोधन कार्य किये जा रहे हैं।

निम्न तथा मध्यम स्तरीय ठोस रेडियोधर्मी अपशिष्टों का उपचार उनका आयतन कम करने तथा इससे प्राप्त होने वाले सांद्रित पदार्थों को ठोस बनाने तक ही सीमित है। आयतन या तो दबाव की विधि से अथवा भस्मीकरण की विधि से कम किया जाता है। इसके लिए प्रेस तथा इंसीनिकेटर का प्रयोग किया जाता है। इन क्रियाओं से

प्राप्त सांद्रित ठोस अपशिष्ट को धरती में विशेष प्रकार के गड्ढों में सुरक्षित रख दिया जाता है। ये गड्ढे या तो कच्चे होते हैं या सीमेण्ट-कांक्रीट से बनाये जाते हैं। इनका उपयोग अपशिष्टों की रेडियोधर्मिता पर निर्भर रहता है। इसके अन्तर्गत एक और प्रणाली, जिसे 'टाइल टोल' कहते हैं, का भी प्रयोग किया जाता है। इस विधि में कांक्रीट पाइपों को धरती के अन्दर गाड़ दिया जाता है और ठोस अपशिष्ट इसमें भरकर इसको बन्द कर दिया जाता है। इसकी गहराई लगभग 5 मीटर होती है। इस स्थिति में अपशिष्ट सुरक्षित रहता है। जिस क्षेत्र में इसका निर्माण करना होता है उस क्षेत्र की पहले से पूर्ण जानकारी प्राप्त कर ली जाती है। उदाहरणतः ठोसीकरण अवयव प्रथम बाधा का काम करता है तथा धारक दूसरी बाधा का। धरती में बने विशेष गड्ढे एक और बाधा का काम करते हैं।

अन्त में यह कहना उचित होगा कि रेडियोधर्मी अवशेषों का भंडारण ऊपर वर्णित विधियों के द्वारा भविष्य में किसी प्रकार के खतरों को उत्पन्न नहीं करेंगे।

●●

पुस्तक समीक्षा

संसार के महान गणितज्ञ

लेखक : गुणाकार मुले

प्रकाशक : राजकमल

प्रकाशन : नई दिल्ली

प्रथम संस्करण : फरवरी 1992

पृष्ठ संख्या : 423

मूल्य : 250 रुपये

गणित अत्यन्त प्राचीन विद्या है। इसके संवर्धन में विश्वभर के न जाने कितने साधकों का योगदान है। अतः यदि कोई इन नामों में से सर्वश्रेष्ठ गणितज्ञों का चुनाव करने चले तो विषम परिस्थिति उत्पन्न हो जावेगी। केवल वही व्यक्ति सही चुनाव कर सकता है जिसने गणित का भली भाँति अध्ययन किया हो, जिसकी गणित के इतिहास में रुचि रही हो और जो निष्पक्ष हो।

गुणाकर मुले जी ने गणितज्ञों की दीर्घ सूची में से 39 ऐसे गणितज्ञों को ढूँढ निकाला है जिनका गणित के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान है। इन गणितज्ञों के चुनाव में उन्होंने चाहे जो भी मानदण्ड अपनाया हो किन्तु उनकी

निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण दृष्टि को दाद देना पड़ेगा कि देश तथा काल की सीमाओं को लाँघकर उन्होंने गणित के सागर से गणितज्ञ रत्नों को खोज निकालने का जो कार्य किया है वह अप्रतिम है और हिन्दी के विज्ञान साहित्य में उनका यह योगदान सर्वथा श्लाघनीय है।

इस पुस्तक की एक अन्य बड़ी विशेषता है स्त्री गणितज्ञों (इनकी संख्या सात है) का भी समावेश। यद्यपि 39 गणितज्ञों में पाँच गणितज्ञ भारत के हैं किन्तु स्त्रियों में कोई भी भारतीय नहीं है।

इस पुस्तक की सामग्री किसी धमाके के साथ वैज्ञानिक जगत् में नहीं आयी। जैसा कि लेखक ने लिखा है इसमें से 28 गणितज्ञों की जीवनियाँ 'विज्ञान प्रगति' में 1987 ई० से लगातार प्रकाशित होती रही हैं। मुले जी ने इन्हें न केवल पुस्तकाकार रूप दिया है अपितु पुस्तक रूप देने के पूर्व उनमें जो न्यूनताएँ थीं उन्हें पूरा करने के लिए काफी श्रम किया है। उन्होंने जहाँ से भी तत्सम्बद्ध जानकारी मिली है उसे प्राप्त करके प्रत्येक जीवनी के अन्त में "सन्दर्भ तथा टिप्पणियाँ" शीर्षक से अतिरिक्त सामग्री के रूप में जोड़ दिया है। उन्होंने जिन-जिन स्रोतों से जीवन चरित विषयक विवरण प्राप्त किये हैं उसका भी अंकन "सहायक ग्रंथ" शीर्षक से दिया है। इतना ही नहीं, पाठकों की सुविधा के लिए परिशिष्ट में एक बार फिर से सहायक ग्रंथों की सूची दी है जिसमें संस्कृत के 20, मराठी के 2, हिन्दी के 21 ग्रन्थों के साथ ही 91 अँग्रेजी ग्रन्थ अंकित हैं। स्पष्ट है कि अँग्रेजी में गणित के इतिहास तथा गणितज्ञों के विषय में प्रचुर पुस्तकें हैं। हिन्दी में यद्यपि 21 ग्रन्थों की सूची हैं किन्तु इनमें से 12 ग्रंथ तो स्वयं मुले जी द्वारा लिखित हैं। स्पष्ट है कि हिन्दी में गणितज्ञों के विषय में एक प्रामाणिक ग्रंथ लिखे जाने की आवश्यकता थी और हर्ष का विषय है कि गुणाकर मुले की यह कृति उसकी पूर्ति करती है। सम्भवतः यह पहली हिन्दी कृति है जो विदेशी पुस्तकों से टक्कर ले सकती है और इसके पाठक इस हीन भावना से ग्रस्त नहीं होंगे कि राष्ट्र भाषा हिन्दी में प्रामाणिक ग्रंथ नहीं हैं। अन्य हिन्दी पुस्तकों से इसकी विशिष्टता एवं प्रामाणिकता इस दृष्टि से है कि इसमें प्रत्येक कथन का सन्दर्भ दिया गया है और जानबूझ कर रोचकता बढ़ाने से अपने को लेखक ने दूर रखा है। उदाहरणार्थ, सामान्यतः न्यूटन की जीवनी में उसकी बिल्ली द्वारा मचाये गये अग्निकाण्ड से उसकी पुस्तक की पाण्डुलिपि के भस्म होने का उल्लेख मुले जी ने नहीं किया। इसी तरह उन्होंने "पेड़ से गिरने वाले सेब" को देखकर किसी सिद्धान्त की सूझ आने की बात नहीं लिखी।

मुले जी ने अपने इस ग्रंथ के माध्यम से जो महत्वपूर्ण बातें कहनी चाही हैं उनमें से प्रायः यह विचार प्रमुख हैं कि प्रायः 35-36 वर्ष की आयु तक ही कोई महत्वपूर्ण खोज की जा सकती है। यह हमारे युवक छात्रों के लिए अतीव प्रेरणाप्रद है। गरीबी ज्ञान के मार्ग में बाधक तो है किन्तु संकल्प तथा कठोर परिश्रम से उत्तमोत्तम खोजें की जा सकती हैं। इतना ही नहीं, आँखें न रहने पर भी, या कि वृद्धावस्था प्राप्त होने पर भी किसी अध्ययन को जारी रखा जा सकता है। जिन गणितज्ञों की चर्चा इस ग्रंथ में है, उनमें से बहुतों ने अल्पायु में ही प्रतिभा का प्रदर्शन किया, बहुतों को अल्पायु मिली और बहुतों में अपने कार्य को संसार के समक्ष प्रस्तुत करने में संकोच था किन्तु उनके हितैषियों ने उन्हें प्रेरित किया अथवा स्वयं उस कार्य का प्रकाशन किया। गणित की साधना कठिन तपस्या है। भारत के ऋषियों-मुनियों जैसा जीवन बिताने वाले अनेकानेक गणितज्ञों के जीवन चरित्र पढ़कर श्रद्धा से हमारा सिर झुक जाता है।

शायद गुणाकर मुले जी ने इस ग्रंथ में गणितज्ञों का जो मूल्यांकन किया है, वह अन्यों के मूल्यांकन का अनुगामी या पिष्ठपेषण प्रतीत नहीं होता। वे स्पष्टवादी लगते हैं और साथ ही अपने ज्ञान के आधार पर जैसा अनुभव

किया है उसी को सपाट भाषा में लिखते हैं—दो टूक बयानी करते हैं। शायद यह मुले ज ´ के अहं को प्रकट करने वाला माना जाय किन्तु ऐसा है नहीं। वे रामानुजम की प्रतिभा के कायल हैं अतएव उनका उल्लेख करना—बड़े से बड़े गणितज्ञ से तुलना करते हुए—भूलते नहीं। यह उनका राष्ट्र प्रेम नहीं है। इसी तरह पाँच भारतीय गणितज्ञों का समावेश जानबूझ कर नहीं अपितु उनकी प्रतिभा, उनके योगदान के पूर्वापर पर विचार करते हुए किया गया है। अपनी समतापरक दृष्टि के कारण ही वे महिला गणितज्ञों को भी भुला नहीं पाये। अपनी इन बातों की पुष्टि के लिए यहाँ पर न्यूटन की जीवनी से कुछ बातें उद्धृत की जा रही हैं—

"यदि आदिकाल से लेकर आज तक के संसार के महानतम वैज्ञानिक का नाम लेना पड़े तो हमें न्यूटन और आइंस्टाइन में से ही एक का चुनाव करना होगा।" (पृष्ठ 149)

"मगर उन आविष्कारों को दुनिया के सामने रखने में उन्होंने कोई दिलचस्पी नहीं दिखलायी। वे अपने आविष्कारों को निजी सम्पत्ति समझते थे।" (पृष्ठ 156)

"मगर उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम तीस वर्षों में कुछ नया नहीं खोजा। उलटे घटिया कलहों में उलझे रहे।"

"न्यूटन ने गणितीय अनुसंधानों में जितना समय खर्च किया उससे कहीं अधिक समय उन्होंने धर्मशास्त्र के अध्ययन और कीमिया के प्रयोगों में खर्च किया।" (पृष्ठ 157)

"न्यूटन ने निश्चय ही एक महामानव का मस्तिष्क पाया था मगर उनके व्यक्तित्व को पुरुषोत्तम या अनुकरणीय नहीं कहा जा सकता।" (पृष्ठ 157)

पुस्तक में ऐसे अनेक वाक्य एवं उपयोगी बातें पढ़ने को मिलती हैं।

पुस्तक में गणितज्ञों के चित्र, उनके आवास स्थानों या उनके प्रतिद्वन्द्वियों या प्रोत्साहन प्रदाताओं के अनेक चित्र हिन्दी के पाठकों के लिए सर्वथा नवीन हैं।

पुस्तक के पढ़ने से लगता है कि भाषा और शैली का चुनाव लेखक के दीर्घकालीन लेखन-अनुभव का परिणाम है। इतना ही नहीं पुस्तक में छापे की त्रुटियाँ भी इसीलिए शून्य के बराबर हैं क्योंकि मुले जी अपनी रचनाओं का प्रूफ स्वयं देखते हैं और इसका ध्यान रखते हैं कि पुस्तक में कोई त्रुटि न रहे। न ही उसका कोई वाक्य बदला जाय।

(केवल कुछ त्रुटियाँ मेरी दृष्टि में आयी हैं जिनमें पृष्ठ 224 पर 1804 के स्थान पर 1904 की तिथि छपी है तथा पृष्ठ 290 पर 1912 के स्थान पर 1812 छप गया है)।

लेखक को बधाइयाँ। पुस्तक अत्यन्त उपयोगी एवं संग्रहणीय है और वैज्ञानिक इतिहास की श्रृंखला में महत्व-पूर्ण कड़ी का काम करेगी।

—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

OO

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक : रसायन विज्ञान कोश
लेखक : डॉ० शिवगोपाल मिश्र
प्रकाशक : सत्साहित्य प्रकाशन, 205-बी,
चावड़ी बाजार, दिल्ली-110006
प्रथम संस्करण : 1991
मूल्य : दो सौ पचास रुपये
पृष्ठ : 320

प्रोफेसर शिवगोपाल मिश्र द्वारा निर्मित "रसायन विज्ञान कोश" हिन्दी में ऐसा प्रथम प्रयास है, जिसमें रसायन विज्ञान विषयक सूचनाओं का सुनियोजित ढंग से संग्रह किया गया है। सामग्री तीन खण्डों में विभाजित की गई है। यह पाठकों के लिए सुविधाजनक होगी। परिभाषाएँ संक्षिप्त परन्तु सटीक हैं। प्रयत्यक्ष है कि लेखक ने अपने सारगर्भित ज्ञान का समुचित उपयोग किया है। स्थान-स्थान पर दिये चित्रों से पुस्तक की रोचकता बढ़ी है। प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के चित्र दिये गये हैं। उनकी संक्षिप्त जीवनी देना और उचित होता।

कुछ महत्वपूर्ण विषयों की परिभाषाओं के अतिरिक्त उनकी व्याख्या भी देनी चाहिए थी जैसे कि जी० एल० सी०, तथा जी० एस० सी० आदि। कैथोड को ऋणात्मक इलेक्ट्रोड कहना (पृष्ठ 47) उचित नहीं है। उसको उपचयन से सम्बन्धित रखना चाहिये। परिशिष्ट में दिये तत्वों की विद्युत् वाहक बल श्रेणियों की तालिका में दिये पोटेंशियलों के चिन्हों को मान्य परम्परा के अनुसार ही देना चाहिये। पृष्ठ 46 पर अँग्रेजी में केकुले की अक्षरी में त्रुटि ज्ञात होती है। आशा है कि अगले संस्करण में इन पर ध्यान दिया जायेगा तथा कुछ अधिक विषयों पर सूचनाओं को सम्मिलित किया जायेगा।

पुस्तक रसायन के विद्यार्थियों, अध्यापकों तथा कार्यकर्ताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

—डॉ० रमेशचन्द्र कपूर
ए 4/8 रेजिडेन्सी रोड, जोधपुर (राजस्थान)-342001

● ●

उच्च तकनालाजी अब रसोईघर में

डॉ० मनमोहन बाला

आज जब विज्ञान की प्रगति हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित कर रही है, तो भला हमारी भारतीय रसोई इससे वंचित कैसे रह सकती थी ! माइक्रौवेव ऑवेन अर्थात् सूक्ष्म तरंगों की अँगीठी इस दिशा में एक ऐसा धमाकेदार कदम है, जिसने भोजन पकाने की विधि में एक क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया है। निश्चय ही यह उच्च तकनोलॉजी का हमारी भारतीय रसोई में रखा, यह पहला कदम सूचक है हमारे रसोईघर में एक मूलभूत परिवर्तन का, जो कि अब निकट भविष्ल में ही होने वाला है।

मॉइक्रोवेव क्या है ?

आखिर यह माइक्रोवेव है क्या और इसका रसोईघर में क्या काम है ? इसके लिए थोड़ी इलेक्ट्रॉनिकी जानना आवश्यक है। अनेक प्रकार की विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें समस्त विश्व में व्याप्त हैं, जिनकी लम्बाई का विस्तार 30 किलोमीटर से भी अधिक से लेकर 1 मिलीमीटर के दस हजारवें भाग तक है। बहुत लम्बी विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों को हम ध्वनि कहते हैं और बहुत छोटी विद्युत्-तरंगों को प्रकाश कहते हैं। पर इनके बीच में विभिन्न लम्बाई वाली ऐसी विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें भी विद्यमान हैं, जिन्हें हम न सुन सकते हैं, न देख सकते हैं, पर जो अनेक प्रकार से हमें लाभ भी पहुँचा सकती हैं और हानि भी। जैसा कि नाम से ही विदित है, माइक्रोवेव तरंगें सूक्ष्म विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें हैं। इन तरंगों की आवृत्ति (फ्रीक्वेंसी) अति उच्च (लगभग 2500 मेगा हर्ट्ज) होती है, और इन्हें 'मेग्नाट्रॉन' नामक एक इलेक्ट्रॉनिकी ट्यूब से उत्पन्न किया जाता हैं। इन किरणों की विशेषता यह होती है कि ये धातु के अलावा प्रत्येक पदार्थ में से सरलतापूर्वक पार हो जाती हैं। धातु से टकराने पर ये किरणें ताप की भाँति धातु में संचालित हो जाने के स्थान पर प्रकाश की भाँति प्रतिबिम्बित हो जाती हैं और इन प्रतिबिम्बित किरणों को एक स्थान पर केन्द्रित किया जा सकता है। इन किरणों की एक और विशेषता होती है कि ये नमी की ओर बहुत तीव्र गति से आर्कषित होती हैं और उस नमी (जल) को परमाणुओं अथवा कणों में विभाजित कर उन परमाणुओं को पदार्थ के भीतर ही तीव्रगति से चलायमान कर देती हैं, जिससे उन परमाणुओं का आपस में घर्षण होने लगता है। इस घर्षण जो घर्षण-ताप उत्पन्न होता है वह उस पदार्थ को पका देता है। इस सिद्धान्त पर ही माइक्रोवेव ऑवेन बना है। इसमें जिस स्थान पर प्रतिबिम्बित किरणें केन्द्रित होती हैं, उस स्थान पर पकाये जाने वाले खाद्य पदार्थ को एक बर्तन में रखकर घर्षण ताप द्वारा ही पका लिया जाता है।

इस प्रकार माइक्रोवेव विधि तथा रूढ़िगत निधि से भोजन पकाने में मूल अन्तर यह है कि माक्रोवेव द्वारा पदार्थ से उत्पन्न आंतरिक ताप द्वारा ही भोजन पक जाता है, जबकि रूढ़िगत विधि में बाह्य ताप का प्रयोग किया जाता है।

डी-705, पूर्वाशा, मयूर विहार, दिल्ली-110091

रूढ़िगत विधि से भोजन पकाने के लिए हम पकाये जाने वाले पदार्थ को एक धातु के बर्तन बने में पानी के बीच में रख देते हैं। फिर उस बर्तन को बाहरी ताप द्वारा गर्म करते हैं। यह बाह्य ताप विद्युत् हीटर अथवा गैस, लकड़ी या कोयले को जला कर प्राप्त किया जा सकता है। बर्तन धातु का बना होने के कारण ताप का सुचालक होता है। इसलिए यह ताप सारे बर्तन को गर्म करने लगता है। बर्तन का यह ताप उसमें रखे हुए पानी में स्थानान्तरित हो जाता है और फिर यह गर्म पानी पकाये जाने वाले पदार्थ की नमी को गर्मी प्रदान करता है, जिससे भोजन पकने लगता है।

इसके विपरीत माइक्रोवेव विधि से भोजन पकाने में पानी की कोई आवश्यकता नहीं होती है और मैग्नेट्रॉन द्वारा उत्पादित किरणें या तो सीधे ही पकाये जाने वाले पदार्थ पर पड़ती हैं या फिर माइक्रोवेव ऑवेन की धातु की दीवारों से प्रतिबिम्बित होकर उस खाद्य पदार्थ तक पहुँचती हैं। इस विधि में खाद्य पदार्थ सीधा गर्मी नहीं पाता है बल्कि अपनी ही आन्तरिक गर्मी से पक जाता है।

माइक्रोवेव ऑवेन
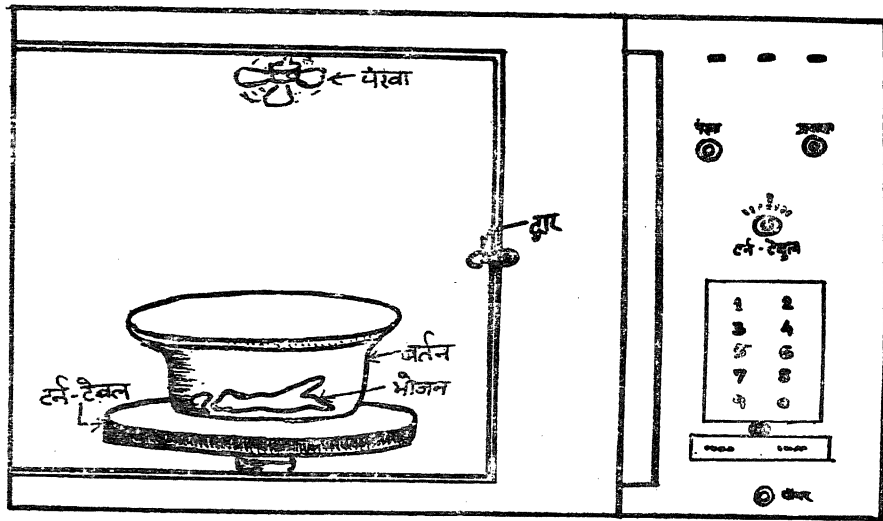
माइक्रोवेव ऑवेन की बनावट एवं संक्रिया

रसोईघर में प्रयोग आने वाले माइक्रोवेव ऑवेन प्राय: देखने में एक टेलीविजन सेट जैसे दिखते हैं, जिन्हें किसी मेज पर सुविधापूर्वक रखा जा सकता है। इनकी निर्गम शक्ति (आउट पुट पॉवर) प्राय: 700 वाट तक होती है, जिसे ऑवेन के सामने लगे एक घूमने वाले (रेग्यूलेटिंग) स्विच द्वारा शून्य से 700 वाट तक नियंत्रित किया जा सकता है। कौन सा खाद्य पदार्थ कितने वाट पर कितनी देर तक उच्च तथा/अथवा निम्न ताप पर कितने समय में पक जायेगा, यह ऑवेन के साथ मिली निर्देश-पुस्तिका से देखकर ऑवेन पर लगे स्विचों से नियंत्रित किया जा सकता है। आउट पुट पॉवर रेग्यूलेटिंग स्विच के साथ ही ऑवेन के सामने जो और स्विच लगे होते हैं उनमें प्रमुख हैं पावर

ऑन/ऑफ स्विच, टाइमर स्विच, लाइट स्विच, फैन स्विच तथा टर्न टेबल रोटेशन स्विच। पॉवर ऑन/ऑफ स्विच से ऑवेन को चालू या बन्द किया जा सकता है। टाइमर स्विच द्वारा निश्चित समय तक उच्च अथवा निम्न ताप दिये जाने वाली घड़ी को नियंत्रित किया जाता है। लाइट तथा फैन स्विचों द्वारा ऑवेन के भीतर लगे बल्ब तथा पंखे को चलाया या बंद किया जाता है। टर्न टेबुल रोटेशन स्विच ऑवेन के अन्दर लगी एक घूमने वाली छोटी गोल मेज नियंत्रण करता है। पकाये जाने वाले पदार्थ को किसी बर्तन में रख कर इसी टर्न टेबुल पर रख कर पकाया जाता हैं। इसको घुमाया इसलिए जाता है कि भोजन हर तरफ से भली प्रकार से पक जाए।

माइक्रोवेव ऑवेन की सारी क्रियाएं उच्चतम तकनोलॉजी की एक देन माइक्रोप्रॉसेसर द्वारा संचालित होती हैं, जो उस ऑवेन को स्व-चालित बना देता है। इसलिए माइक्रोवेव ऑवेन का उपयोग कोई भी गृहणी बहुत सरलता-पूर्वक कर सकती है।

माइक्रोवेव ऑवेन में प्रयोग किये जाने वाले बर्तन धातु के अलावा किसी भी अन्य पदार्थ के बने हुए हो सकते हैं। धातु के बर्तनों का प्रयोग इसलिए नहीं किया जा सकता हैं क्योंकि इन बर्तनों के बाहर के धरातल पर गिरने वाली माइक्रोवेव किरणें बर्तन में रखे भोजन के पदार्थ तक पहुँचने के स्थान पर धरातल से ही प्रतिबिम्बित होकर वापस लौट जाएँगी। धातु के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ के बर्तनों का प्रयोग इसलिए किया जा सकता है, क्योंकि धातु के अलावा हर अन्य पदार्थ को माइक्रोवेव किरणें सरलतापूर्वक पार कर सकती हैं और भोजन के पदार्थ तक पहुँच सकती हैं। इस विधि से पकाया गया खाद्य-पदार्थ तो गर्म हो जाता है पर जिस बर्तन में यह पकाया जाता है वह ठण्डा ही रहता है, क्योंकि इस विधि में बाहर से कोई ताप नहीं दिया जा रहा है। अपितु भोजन खाद्य-पदार्थ के आंतरिक ताप से ही पक रहा है।

माइक्रोवेव विधि से भोजन पकाने के लाभ

माइक्रोवेव विधि से भोजन बहुत अल्प समय में ही पक जाता है, क्योंकि इसमें किसी बर्तन अथवा पानी को गर्म करने में समय व्यतीत नहीं करना पड़ता है। इस प्रकार केवल समय की ही नहीं अपितु ईंधन की बचत भी होती है जिससे धन की बचत भी होती है। खाना कितने समय में पकेगा यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि पकाये जाने वाले पदार्थ की मात्रा कितनी है। निश्चय ही खाद्य-पदार्थ की मात्रा कम होने पर समय की बहुत अधिक बचत होती है। आजकल बड़े नगरों में, विशेषकर ऐसे घरों में जहाँ लगभग प्रत्येक प्राणी अपने-अपने कार्य से घर से बाहर जाता है, अपना दिन का भोजन अलग-अलग समय पर करता हैं। या तो सारा भोजन एक साथ पका कर उसे बार-बार गर्म करके खाया जाये अन्यथा बार-बार थोड़ा-थोड़ा करके पकाया जाये। रूढ़िगत ढँग से ऐसा करने पर बहुत समय तथा ईंधन लगता है, पर माइक्रोवेव विधि से ऐसा करने पर समय तथा ईंधन दोनों की ही बहुत बचत होती है। इसी प्रकार रेफ्रिजरेटर में रखे ठण्डे भोजन को भी माइक्रोवेव विधि से बहुत ही अल्प समय में गर्म किया जा सकता है और ईंधन भी कम लगता है जबकि रूढ़िगत ढँग से अत्यधिक समय तथा ईंधन लगता है।

माइक्रोवेव विधि द्वारा किसी भी खाद्य-पदार्थ को उसके स्वाभाविक रंग रूप व आकार में अथवा आव-श्यकतानुसार किसी अन्य आकार में पकाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, गोभी के फूल अथवा मछली को पूरा का पूरा साबूत ही उसके स्वाभाविक आकार में भली प्रकार पकाया जा सकता है। इस प्रकार से पके भोजन के विटामिन

तथा अन्य पोषक तत्व अधिक से अधिक सुरक्षित रहते हैं। माइक्रोवेव ऑवेन में पका हुआ भोजन क्योंकि अपना स्वाभाविक रंग भी सुरक्षित रखता हैं इसलिए कुछ लोगों को यह खाना देखने में अस्वाभाविक अथवा कच्चा प्रतीत हो सकता है। उदाहरण के लिए पके हुए मांस का रंग भी कच्चे मांस जैसा ही होने के कारण इसे खाने में कुछ दुविधा सी प्रतीत हो सकती है। डबलरोटी के टुकड़े सिक जाने पर भी सफेद ही दिखेंगे, भूरे नहीं, भले ही वे खाने में कुरकुरे हों। इस अस्वाभाविकता को दूर करने के लिए इस ऑवेन के साथ ही अब एक भूरा करने वाला उपकरण (ब्राउनिंग अटैचमेंट) भी मिलने लगा है। इस उपकरण के प्रयोग से खाद्य-पदार्थ का स्वाभाविक रंग बदला जा सकता है ताकि देखने में पका हुआ भोजन कच्चे भोजन से अलग सा लगे।

क्या माइक्रोवेव विधि से पका भोजन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है ?

कुछ व्यक्तियों की धारणा है कि एक्सकिरण (एक्स-रे) की भाँति ही माइक्रोवेव किरणें भी मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं और उसे नपुंसक भी बना सकती हैं परन्तु यह केवल एक भ्रामक धारणा ही है। एक्स-रे में परमाणुओं तथा अणुओं को भी विभाजित करने की क्षमता होती है जिसे आयनाइजेशन कहते हैं। इससे जैविक कोशिकाएँ भी विभाजित हो जाती हैं, जिसके कारण उत्पत्ति सम्बन्धी समस्यायें हो सकती हैं। इसके विपरीत घर में उपयोग करने वाली माइक्रोवेव ऑवेन की किरणें जैविक पदार्थों को केवल परमाणुओं के स्तर तक ही विभाजित कर पाती हैं। इसलिए जैविक कोशिकाओं के अपने स्वाभाविक गुण वैसे ही बने रहते हैं और उपयोगकर्ता को कोई हानि नहीं पहुँचती है।

हाँ, यह अवश्य है कि अति उच्च शक्ति की माइक्रोवेव किरणें यदि एक लम्बे समय तक किसी पदार्थ पर पड़ती रहें तो उनके जैविक कोशिकाओं को भी विभाजित कर सकती हैं। परन्तु माइक्रोवेव ऑवेन में प्रयोग की जाने वाली किरणें निम्न शक्ति की ही होती हैं तथा इनका लगातार प्रयोग भी बहुत अल्प समय तक हीं किया जाता है। इसलिए माइक्रोवेव ऑवेन का प्रयोग तनिक भी हानिकारक नहीं है।

माइक्रोवेव ऑवेन उत्पादकों को कानून के अनुसार यह सुनिश्चित करना पड़ता है कि उनकी अंगीठियों में प्रयोग किये जाने वाले मैग्नेट्रॉन अधिक शक्ति की माइक्रोवेव किरणें उत्पन्न न करें। इसके अतिरिक्त उन्हें सुरक्षा हेतु यह भी सुनिश्चिन करना पड़ता है कि उपयोग करते समय यदि ऑवेन का द्वार तनिक भी खुला रह जाये तो वह चालू न की जा सके तथा यदि किसी कारणवश उपयोग करते समय यह द्वार खुल जाये तो ऑवेन काम करना तुरन्त वन्द कर दे।

इस प्रकार इन सब उपायों से यह सुनिश्चित कर लिया जाता है कि माइक्रोवेव ऑवेन के कुप्रभाव उपभोक्ता के शरीर पर विल्कुल न पड़ सकें ताकि उन्हें किसी भी प्रकार की हानि का अंदेशा न हो।

कुछ आवश्यक बातें

माइक्रोवेव ऑवेन को उपयोग करते समय निम्नलिखित निर्देशों का ध्यान रखने से न केवल ईंधन, धन तथा समय की बचत होगी अपितु पौष्टिक आहार भी खाने को मिलेगा तथा ऑवेन भी सुचारू ढंग से काम करता रहेगा :

- माइक्रोवेव ऑवेन का उपयोग करने से पहले उसके साथ दी गई निर्देश-पुस्तिका तथा पाक् विधि पुस्तिका ठीक से पढ़ कर निर्देश के अनुसार ही कार्य करें।

(शेष पृष्ठ 35 पर)

रेशमी वस्त्र घर पर ही धोयें

श्रीमती अनुराधा श्रीवास्तव

जी हाँ, है ना काम की बात। आज की दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ती इस मँहगाई का सामना तो करना ही है। फिर क्यों न हम कुछ सूझ-बूझ से काम लें। सिल्क की साड़ी जिसकी बाजार में धुलाई, उफ रोंगटे खड़े हो जाते हैं और जब धुल कर घर आती है तो पता चलता है कि दाग तो वैसे ही रह गये। कितना बुरा लगता है उस समय। फिर क्यों न सिल्क की साड़ी घर पर ही धो ली जाय? आपके पति भी खुश हो जायेगें और धुलाई देखकर आप भी खुश हुए बिना नहीं रह सकेंगी। तो आइये मेरे साथ, मैं अपने अनुभव आपके साथ बाँटती हूँ। आप भी आजमा के देखिये। कुछ मुश्किल नहीं है। सिर्फ जरूरत है कुछ रसायनों (केमिकल्स) की। ये रसायन एक बार खरीदने के बाद, बाद में हमेशा आपके काम आते ही रहेगें।

सामग्री

एम्ब्रोन केमिकल, हाइड्रोसल्फेड, एसिटिक एसिड व कोई भी सर्फ। यदि आपकी साड़ी बिल्कुल साफ है, सिर्फ धब्बे ही पड़े हैं, तो उसके लिए सिर्फ एम्ब्रोन केमिकल की ही जरूरत पड़ेगी। दाग लगे स्थान को किसी कटोरी पर मढ़ लीजिए। अब रूई को एम्ब्रोन केमिकल में भिगोकर, सिर्फ दाग लगे स्थानों पर लगा दीजिए। केमिकल लगाने के 10 मिनट बाद उन स्थानों को गीले कपड़े से पोंछ दीजिये। धब्बा किसी का भी हो, गायब हो जायेगा।

अब हम आते हैं कि सिल्क साड़ी की पूरी धुलाई की प्रक्रिया पर। सिल्क साड़ी को धोने से पहले फाल पर लगी मिट्टी को ब्रुश से साफ कर लेना चाहिए। इसके लिए फाल की तरफ से ही ब्रुश लगाना चाहिए। अब दाग लगे स्थान को उपरोक्त प्रक्रिया से साफ कर डालें। यानी दाग लगे स्थान पर एम्ब्रोन केमिकल लगाकर 10 मिनट तक पड़ा रहने दीजिए। अब आप यह देखेंगी कि आपकी साड़ी यदि रंग-बिरंगी है या एक साथ आप कई साड़ियाँ धोने जा रही हैं और आपको उनमें से किसी का भी रंग छूटने का शक है, तो सबसे पहले आप आधी बाल्टी पानी में दो चम्मच हाइड्रोसल्फेड डाल दें। अब साड़ियों को 10 मिनट के लिए भिगो दें। 10 मिनट बाद इस पानी से साड़ी बाहर निकाल लें। अब रंग छूटने का डर नहीं है। यदि आपकी साड़ी एक रंग की है या रंग छूटने का डर नहीं है तो यह प्रक्रिया करने की जरूरत नहीं हैं। आप दाग-धब्बे छुड़ाने के बाद आधी बाल्टी पानी लीजिए। उसमें 3 चम्मच ऐसिटिक एसिड डालें। ध्यान रहें एसिटिक एसिड 60% का हो। एसिटिक एसिड डले पानी में सिल्क की साड़ी को 10 मिनट के लिए भिगो दें। 10 मिनट बाद उसमें एक चम्मच कोई भी डिटरजेन्ट डाल दें। अब हल्के हाथों से दबा-दबा कर बाल्टी में ही मैल साफ कर लें। बाल्टी से साड़ी निकाल कर साफ पानी में साड़ी का सर्फ धो लें। अब आधी बाल्टी पानी में एक चम्मच एसिटिक एसिड डालकर, उसमें साड़ी को अन्तिम रूप से धो लें। ध्यान रहे साड़ी को निचोड़ेंगे नहीं। अब साड़ी को स्टार्च देंगे। सिल्क की साड़ी के लिए आरारोट का स्टार्च सबसे उपयुक्त होता है। स्टार्च देने के बाद तह लगाकर साड़ी को तौलिए में लपेट दीजिए या फिर छाया में फैला दीजिए। साड़ी हल्की गीली ही रहे तभी प्रेस कर लीजिए। आप उसकी चमक और सफाई देखकर दंग रह जायेंगी। है न उपयोगी सुझाव, और किफायती भी!

द्वारा डॉ० वी० के० श्रीवास्तव, 4/5 डाली बाग कॉलोनी, लखनऊ-226001

○○

स्नोहाइड्रोलॉजी : जल समस्या का निदान

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

'स्नो' (Snow) या तुहिन जल का ठोस रूप है, जो वातावरण में मणिभीकृत हो जाता है और धरती पर गिरने के बाद लगभग तेईस प्रतिशत (23%) भाग को स्थाई अथवा अल्पकालिक रूप से ढँक लेता है।

हिमपात ध्रुवों की ओर 35° अक्षांश उत्तर और दक्षिण समुद्र के स्तर पर होता है। महाद्वीपों के पश्चिमी समुद्रतटीय क्षेत्रों में आमतौर से हिमपात अपेक्षाकृत ऊँचे अक्षांशों पर होते हैं, किन्तु विषुवत् रेखा के समीप हिमपात मूलरूप से पर्वतीय क्षेत्रों में लगभग 4,900 मीटर (16,000 फीट) या इससे अधिक ऊँची जगहों में होता है।

हिमाच्छादन का प्रभाव जलवायु, पेड़-पौधों, जीव-जन्तुओं और मानव जीवन पर निश्चित रूप से पड़ता है। सौर विकिरण के परावर्तन में वृद्धि और धरती से ताप के चालन में व्यतिकरण से मौसम में ठण्डक का प्रवेश हो जाता है। एक ओर जहाँ निम्नताप चालन निम्नतम शीत ताप के प्रभाव से नन्हें पादपों की रक्षा करता है, वहीं, दूसरी ओर वसन्त में तुहिन के विलम्ब से लोप होने के कारण पादपों की वृद्धि देर से होती है। वसन्त ऋतु में तुहिन पिघलती है, तो यह जल बहकर नदियों में पहुँचता है और तब यही जल सिंचाई तथा अन्य कार्यों में हमारे उपयोग में आता है।

तुहिन मणिभों के आकार-प्रकार तापक्रम और उपलब्ध जलवाष्प पर निर्भर करते हैं। —40° सेन्टीग्रेड (—40° फारेनहाइट) से ऊपर तापक्रम पर बर्फ के मणिभ नन्हें धूलिकण अथवा रासायनिक पदार्थों के चारों ओर बनते हैं। धूलिकण और रासायनिक पदार्थ हवा में तैरते रहते हैं। किन्तु निम्नताप पर तुहिन के मणिभ सीधे जलवाष्प से भी बन जाते हैं। यदि हवा में नमी है तो मणिभ तेजी से वृद्धि करते हैं। इनमें शाखायें निकल आती हैं, गुच्छे से बन जाते हैं। इन्हें हिमतूल अथवा स्नोफ्लेक कहते हैं। मणिभ षटकोणीय पैटर्न के भी होते हैं। ये अक्सर संरचना में जटिल किन्तु देखने में सुदर्शन होते हैं।

कई बसन्त और ग्रीष्म ऋतुयें झेलने के उाद तुहिन, 'बर्फ' (Ice) में बदल जाता है। होता यह है कि ऊपरी स्नो के दाब के कारण नीचे की स्नो बर्फ में बदल जाती है। यह बर्फ मात्रा में तब तक बढ़ती जाती है जब तक दाब इतना अधिक नहीं हो जाता कि नीचे का भाग आगे और नीचे की ओर हिमजिह्वा (snow tongue) के रूप में ढकेल नहीं दिया जाता। प्रतिदिन कुछ सेन्टीमीटर या इंच की गति से आगे बढ़ने वाली बर्फ की नदी हिमानी या 'ग्लेशियर' (Glacier) कहलाती है। इस प्रकार ग्लेशियरों का जन्म बर्फ के मरुस्थलों में होता है। यह नदी की भाँति घाटी में नीचे की ओर अपने आप रास्ता बनाते हुए खिसकती है, किन्तु अत्यन्त मंद गति से। सहायक ग्लैशियर मुख्य ग्लैशियर से उसी प्रकार आकर मिलते हैं, जिस प्रकार नाले नदियों में आकर मिलते हैं। ग्लैशियर अत्यन्त धीमी गति से नीचे

सम्पादक 'विज्ञान' मासिक, विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

की ओर तब तक बहते हैं जब तक वे अपेक्षाकृत उष्ण क्षेत्र में नहीं प्रवेश कर जाते। ऐसे क्षेत्रों में पहुँचने के बाद ग्लैशियर पिघलकर तेज बहती जलधारा में बदलकर नदी का रूप धारण कर लेते हैं।

उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव प्रदेशों ने बड़े-बड़े हिमखण्ड टूट-टूटकर अलग हो जाते हैं और हिमशैलों (Ice burgs) के रूप में सागर में तैरते रहते हैं। इन हिमशैलों के 10 भागों में से 9 भाग तो सागर में जल की सतह के नीचे छिपे रहते हैं, और मात्र एक भाग ऊपर दिखाई पड़ता है।

शीतोष्ण ग्लैशियर वास्तव में एक कुण्ड है, जिसे द्रव और ठोस दोनों अवस्थाओं में अवक्षेपण का लाभ मिलता है। इस अवक्षेपण का बड़ा अंश संग्रहीत हो जाता है, जो बाद में अत्यन्त कम हानि के साथ मुक्त कर दिया जाता है। इस कुण्ड या जलाशय की जल-वैज्ञानिक-विशेषतायें जटिल हैं, क्योंकि वर्ष भर इसके भौतिक गुणों में परिवर्तन होते रहते हैं।

वसंत के अंत में ग्लैशियर गलनांक पर मोटे स्नोपैक से ढँके रहते हैं। पिघला जल ठोस स्नो में नीचे जल मार्ग (चैनल) में पहुँच जाता है। ग्रीष्म में स्नोपैक पतला या झीना हो जाता है और जलमार्ग अधिक स्पष्ट, बर्फ नग्न दिखती है। जल तेजी से ग्लैशियर मार्ग से आगे बढ़ जाता है। शीत ऋतु में स्नो एकत्र होकर जम जाता है। इस दशा में बर्फ की सतह पर पानी का बहाव समाप्त हो जाता है और इस जमी सतह पर वर्षा जल के गिरने के बाद वर्षा जल भी पुन: जमकर बर्फ में परिवर्तित हो जाता है और हिमकुण्ड में मिल जाता है।

सौर विकिरण ग्लैशियर के पिघलने के लिए ताप का प्रमुख स्रोत है। ग्रीष्म में जून के माह में ग्लैशियर अत्यधिक पिघलते हैं। ग्रीष्म के मध्य में सौर विकिरण की प्रचण्डता कम हो जाती है, फिर भी, शोषित सौर विकिरण बर्फ को और भी गलाती है। मध्य ग्रीष्म और ग्रीष्म के अन्त में गुनगुनी वायु भी बर्फ को गलाने में सहायक होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जलवाष्प से स्नो, स्नो से ग्लैशियर, ग्लैशियर से बर्फ, बर्फ से जल और जल से जल वाष्प तथा पुन: जल वाष्प से स्नो बनने का क्रम चलता रहता है और ये प्रक्रियायें जलवायु, को प्रभावित करती हैं।

संसार में जल की कमी नहीं है। सागरों में विपुल जलराशि है, किन्तु खारेपन के कारण वह पीने योग्य नहीं है। धरती का एक चौथाई से कुछ ही कम भाग हिमाच्छादित है। इस विपुल जलराशि का उपयोग पेयजल, सिंचाई जल और अन्य कार्यों में सफलतापूर्वक किया जा सकता है। विज्ञान की वह शाखा जिसके अन्तर्गत हम स्नो, ग्लैशियर, बर्फ और जल का अध्ययन करते हैं, स्नोहाइड्रोलॉजी या तुहिन-जल-विज्ञान कहलाती है। स्नोहाइड्रोलॉजी जल की समस्या के समाधान में सहायक है।

एक अनुमान के अनुसार विश्व के सम्पूर्ण ताजे पानी का 70% दक्षिणी ध्रुव प्रदेश के हिमखण्डों के रूप में छिपा हुआ है। कभी-कभी तो हिमशैलों की लम्बाई 80 किलोमीटर से भी अधिक होती है। अंटार्कटिका के एक बड़े हिमशैल से राजस्थान के रेतीले प्रदेश में कई वर्षों तक जल की आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है।

विश्व में पाई जाने वाली बर्फ का 90% अंटार्कटिका में ही पाया जाता है। महाद्वीप के सागरों में प्रतिवर्ष 1.4 ट्रिलियन टन बर्फ सागर में पिघलती रहती है। अनेक वैज्ञानिकों का मत है कि अंटार्कटिका महासागर से हिम-शैलों को चिली, आस्ट्रेलिया, कैलिफोर्निया, सऊदी अरब और विश्व के दूसरे शुष्क प्रदेशों में ले जाना सम्भव है।

एक अनुमान के अनुसार 85 मिलियन टन भार वाले एक हिमशैल को हिन्द महासागर के मार्ग से आठ हजार किलोमीटर दूर ले जाकर पानी बनाने में प्रति घन मीटर पर व्यय मात्र 53 अमेरिकी सेण्ट आयेगा। आज सऊदी अरब को पानी का खारापन दूर करने के लिए प्रतिघनमीटर 79 सेण्ट खर्च करना पड़ता है।

खाड़ी युद्ध के दौरान तेल के कुँओं में लगाई गई आग और हजारों टन बारूद वातावरण में झोंके जाने के फलस्वरूप खाड़ी क्षेत्र तो क्या हमारे देश के कश्मीर प्रदेश में 'ब्लैक स्नो' या काली तुहिन की वर्षा भी हुई थी। इसके पिघलकर पेयजल में मिल जाने के परिणामस्वरूप लोगों के शरीर में छाले पड़ गये। कुछ लोग तो श्वास और चमड़ी के अन्य रोगों के चपेट में भी आ गये। इस प्रकार तुहिन-जल-विज्ञान या स्नोहाइड्रालोजी विषय का अध्ययन निश्चित रूप से मानवता के हित में होगा।

●●

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक : रसायन शिक्षा पर विचार

लेखक : डॉ० नील रत्न धर

प्रकाशक : उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,
राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन हिन्दी भवन,
महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ-226001

संस्करण : 1990

मूल्य ; 27 रुपये

पृष्ठ : 198

"इस पुस्तक में मैंने अपने विद्यार्थी जीवन से लेकर 82 वर्ष की आयु तक के अनुभवों को क्रमबद्ध किया है। ये अनुभव मधुर तथा तिक्त होने के साथ-साथ सत्य हैं। मैंने अपने जीवन में कभी कोई समझौता नहीं किया। कठिन परिश्रम और ईमानदारी मेरे जीवन के दृढ़ स्तम्भ रहे हैं, जिनके सहारे मैंने देश-विदेश में प्रचुर सम्मान अर्जित किया है। मुझे इसका गर्व है कि मैं अपने देश का इस समय सबसे वयोवृद्ध रसायनज्ञ हूँ और संसार में शायद कोई ऐसा वैज्ञानिक नहीं है, जिसने मेरे बराबर शोधछात्रों को प्रशिक्षित किया हो।"

पुस्तक की भूमिका में अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त वैज्ञानिक डॉ० नील रत्न धर के ये शब्द वास्तव में पुस्तक की प्रकृति को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त हैं। लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं कि यह पुस्तक मात्र डॉ० धर की आत्मकथा है। आत्मकथा से कहीं ज्यादा यह पुस्तक रसायनशास्त्र के पिछले 200 वर्षों के इतिहास पर प्रकाश डालती है। आधुनिक रसायन के विकास में यूरोप के वैज्ञानिकों की भूमिका ही सर्वोपरि रही है। सौभाग्य से डॉ० धर ने लन्दन और पेरिस दोनों जगह रहकर शोध कार्य किया। इस बीच वे यूरोप के चोटी के रसायनज्ञों के सम्पर्क में आये और अपनी प्रतिभा विकसित की।

डॉ० धर की सबसे महत्वपूर्ण खोज 'फोटोकेमिकल नाइट्रोजन फिक्सेसन' थी। इस खोज पर उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली। स्वीडेन के वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशालों में शोध करके उन्हीं परिणामों पर पहुँचे जहाँ डॉ० धर पहुँचे थे। इसी शोध पर डॉ० धर का नाम 'नोबेल पुरस्कार' के लिए प्रस्तावित किया गया था। दुर्भाग्य से डॉ० धर को यह पुरस्कार नहीं मिल सका। लेकिन डॉ० धर 1937 और 1944 की 'नोबेल पुरस्कार चयन समिति' के सदस्य बनाये गये थे।

पुस्तक में कुल 198 पृष्ठ तथा 19 अध्याय हैं। पुस्तक के कई अध्याय तो यूरोप में रसायन विज्ञान के विकास पर लिखे गये हैं। यही नहीं, महान वैज्ञानिकों जैसे लेवोजियर, गेलुसाक, ए० जे० लीबेल, जी० डर्बेन, वोहलर, पॉश्चर, बर्केलॉट, आरहेनियस, ग्रिगनार्ड, मेरी क्यूरी आदि का उल्लेख करते हुए उनकी खोजों और उनकी शिक्षा परम्परा का भी वर्णन किया है।

डॉ० धर ने 66 वर्ष का लम्बा शैक्षणिक जीवन इलाहाबाद में बिताया। इस दरम्यान वे पहले म्योर सेण्ट्रल कॉलेज, फिर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष और अन्त में शीलाधर मृत्तिका शोध संस्थान में अवैतनिक निदेशक रहे। इसी बीच प्रोफेसर धर के निर्देशन में भारत में अनेक ख्याति प्राप्त रसायनज्ञों ने जन्म लिया। यूरोप ही नहीं, अपितु भारत में भी रसायन विज्ञान के आधुनिक विकास पर यह पुस्तक बहुत महत्वपूर्ण जानकारी देती है।

पुस्तक की साज-सज्जा और छपाई आकर्षक है। आजकल की मँहगाई के हिसाब से दाम भी ज्यादा नहीं है। रसायन विज्ञान के छात्रों, प्राध्यापकों, शोध छात्रों, विज्ञान लेखकों और जागरूक पाठकों को यह किताब अवश्य पढ़नी चाहिए। पुस्तक के प्रकाशन के लिए 'उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान' को विशेष बधाई।

—विजय
जवाहर इण्टर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद

●●

विज्ञान परिषद् की बैलाडीला शाखा से

ओम प्रकाश गुप्ता

(1) 'मस्तिष्क ज्वर' पर व्याख्यान का आयोजन

गत 6 मई 1991 को सायं 7=00 बजे बैलाडीला लौह अयस्क परियोजना अस्पताल के मुख्य चिकित्साधिकारी माननीय **डॉ० देशदीपक जी** ने सम्पूर्ण बस्तर जिले में व्याप्त 'मस्तिष्क ज्वर' पर अत्यन्त रोचक एवं ज्ञान वर्धक व्याख्यान दिया।

इस आयोजन की अध्यक्षता डॉ० **एस० एम० आर० नायडू**, प्राचार्य, अरविन्द महाविद्यालय (रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर) ने की।

डॉ० देशदीपक ने बताया कि सम्पूर्ण बस्तर में आंत्रशोथ, मस्तिष्क ज्वर महामारी के रूप में व्याप्त हैं। अब तक 500 व्यक्तियों की मृत्यु हो चुकी है।

अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि मेनिनजाइटिस का मतलब मस्तिष्कावरण झिल्ली या मेनिनजेस में सूजन आना है। इसके कारण मस्तिष्क में प्रमस्तिष्क द्रव अधिक मात्रा में एकत्र हो जाता है, जिसके कारण दाब बढ़ जाता है। फलस्वरूप सूजी हुई मस्तिष्कावरण में खिंचाव उत्पन्न होता है, सिर दर्द बढ़ता जाता है।

उन्होंने आगे बताया कि यह रोग **मेनिनगो कोकल मेनिनजाइटिस, मेनिनगो कोकाई** नामक बैक्टीरिया से उत्पन्न होता है। इस बैक्टीरिया से मस्तिष्कावरण में मवाद भर जाता है। इस रोग से गले में बैक्टीरिया पैदा हो जाते हैं। यह रोग ऐड्रिनल ग्रंथि में रक्तस्राव से सम्बद्ध है, जिसके कारण एड्रिनल ग्रंथि फट जाती है।

रोग के लक्षण पर प्रकाश डालते हुए बताया कि इसमें गला खराब होना, हल्का बुखार होना, शरीर में लाल रंग के दाने उभर आना, भयंकर सिर दर्द, दिमाग में उलझन, याददाश्त कमजोर हो जाता है। रोगी के सम्पर्क में आने पर रोगी के खाँसने, छींकने तथा नमी के कणों के साथ बैक्टीरिया वायु में फैल जाते हैं। हमारे देश में यह रोग बहुत अधिक होता है क्योंकि हमारे देश की जलवायु समशीतोष्ण है। उचित सफाई की व्यवस्था का अभाव, गरीबी, अज्ञानता आदि बहुत-सी बीमारियों के कारण हैं।

उन्होंने, इस रोग से निपटने के लिये कुछ दवाओं जैसे—सल्फोडायजीन, पेनिसिलीन (24 लाख यूनिटि प्रतिदिन), एम्फिसिलीन (12 ग्राम प्रतिदिन) औषधियाँ लेना आवश्यक बताया। इस रोग को फैलने से रोकने के लिए रोगी के कमरे तथा उसके सामान को साफ और अलग रखना चाहिए।

रोग के संक्रमण-अवधि के बारे में चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि यह मुख्यत: वर्ष के गर्म दिनों में किशोरों को होता है। इसे प्राय: समर ग्रिप (गर्मी का चंगुल) कहते हैं। यदि इसका उपचार सही समय पर कर लिया जाय तो 95% रोगी ठीक हो जाते हैं।

डॉ० नायडू ने अपने अध्यक्षीय भाषण में परिषद् के सभ्यों को आगाह किया कि अपने क्षेत्र के आस-पास के व्यक्तियों में ऐसे लक्षण पायें तो उनको तुरन्त बचाव के उपाय सुझायें एवं अस्पताल जाने के लिये प्रेरित कर उचित चिकित्सा की सलाह दें।

अन्त में प्रो० एच० के० एस० गजेन्द्र ने सभा के मुख्य अतिथि, सदस्यों एवं अन्य आमन्त्रित नागरिकों को आयोजन की सफलता के लिये धन्यवाद दिया।

(2) 'कम्प्यूटर के इतिहास एवं दैनिक जीवन में इसकी अहं भूमिका' पर व्याख्यान

गत 5 अगस्त 1991 को सायं 7=00 बजे बैलाडीला लौह अयस्क परियोजना विक्षेप क्रमांक 14 के वरिष्ठ औद्योगिक प्रबन्धक श्री ए० पी० नेटके जी ने 'कम्प्यूटर के इतिहास एवं दैनिक जीवन में इसकी अहं भूमिका' पर अत्यन्त रोचक एवं ज्ञानवर्धक व्याख्यान दिया।

इस आयोजन की अध्यक्षता श्री आर० सी० त्रिवेदी, प्राचार्य, बी० आई० ओ० पी० सीनियर सेकेण्डरी स्कूल ने की।

माननीय श्री ए० पी० नेटके जी ने बताया 'गैलीलियो और न्यूटन के पश्चात् एक तीसरी क्रांति है कम्प्यूटर क्रान्ति अर्थात् गणना का विज्ञान जो प्रयोगशाला में नहीं किया जाता'।

कम्प्यूटर के इतिहास पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि कम्प्यूटर की शुरुआत का सम्बन्ध मनुष्य के उस प्रयास से सम्बन्धित है जिसके द्वारा उसने गणना की विधि को सुगम बनाया। पुराना इतिहास बताता है कि गणना छड़ियों या अंगुलियों के माध्यम से रेत की सतह पर की जाती थी। यह अबाक्स (ABACUS) कहलाता था। अबाक्स में समानान्तर तारे लकड़ी के तख्ते पर लगाई जाती थी और उनमें मनकों को डाला जाता था। अबाक्स को पुरातन काल का कम्प्यूटर कहा जाता है।

कम्प्यूटर के विकास-क्रम पर चर्चा करते हुए उन्होंने नेपियर छड़, पास्कल कैलकुलेटर, अन्तर इंजन (Difference Engine), एनियॉक (ENIAC)—Electronic Numerical Integrator and Calculator) की विस्तृत जानकारी दी।

उन्होंने आगे कहा कि कम्प्यूटर का प्रादुर्भाव 1940 और 1950 के मध्य हुआ। 1948 में तीन अमेरिकी वैज्ञानिक, बार्डीन, ब्रेट्टन और शॉकले ने एक यन्त्र का आविष्कार किया जो ट्रांजिस्टर की तरह जाना जाता है। यह सभी प्रकार की गणनाओं का हल कर लेता था। इसमें सबसे बड़ी कमी यह थी कि यह आकार में काफी बड़ा था। इस कमी को दूर करने के लिये कम्प्यूटर का विकास किया गया। यह सिलिकन के छोटे-छोटे टुकड़ों से बनाया जाता है इसलिये इसे 'सिलिकॉन चिप्स' भी कहते हैं।

कम्प्यूटर की भूमिका एवं महत्व पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि 'एक कल का वयस्क जो न तो कम्प्यूटर को जानता है, न ही इसकी समझ है और न ही इसका उपयोग कर सकता है, वह विकसित देशों की विकासशील तकनीशियनों का मुकाबला नहीं कर सकता।

कम्प्यूटर की उपयोगिता इतनी तीव्र गति से विस्तृत हो रही है कि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

आयोजन के प्रारम्भ में परिषद् शाखा के प्रधानमंत्री श्री ओमप्रकाश गुप्ता ने परिषद् के कार्यक्रम और उद्देश्य के बारे में गणमान्य नागरिकों को जानकारी दी। व्याख्यान के आयोजन की सफलता पर गणमान्य नागरिकों, मुख्य अतिथि का आभार प्रो० एच० के० एस० गजेन्द्र जी ने व्यक्त किया।

प्रस्तुति : पी०एम० मैश्यूज

(3) 'ध्वनि प्रदूषण' पर लघुफिल्म का आयोजन

गत 3 सितम्बर 91 को सायं 7—00 बैलाडीला लौह अयस्क परियोजना अस्पताल के मुख्य चिकित्साधिकारी डॉ० देशदीपक जी ने 'ध्वनि प्रदूषण' पर एक वीडियो लघु फिल्म का प्रदर्शन किया एवं इस प्रदूषण के प्रति सचेत रहने के लिए इसके कुप्रभावों पर एक व्याख्यान भी दिया।

उन्होंने बताया कि संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट के अनुसार 'ध्वनि शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक दोनों ही दृष्टियों से व्यक्तियों को प्रभावित करती है, रक्तचाप व हृदय गति को बढ़ाती है तथा प्रायः इसके परिणाम से तनाव, झक्कीपन, डर आदि पैदा हो जाते हैं।

बम्बई के डॉ० वाई० टी० ओकेका के अनुसार, अत्यधिक शोर शारीरिक, मानसिक और अव्यावहारिक गड़बड़ी पैदा करता है। 88 डेसीबेल से अधिक का शोर व्यक्ति को बहरा बना सकता है। शोर के कारण व्यक्ति का मस्तिष्क अस्थिर हो जाता है तथा वह उच्च रक्तचाप का रोगी बन सकता है।

उन्होंने आगे बताया कि लम्बे समय तक तीव्र ध्वनि से होने वाली श्रवण शक्ति का ह्रास जहाँ पूरे बहरेपन में परिणित हो सकता है वहीं अल्सर, सिरदर्द, पेट की खराबी, अनिद्रा आदि बीमारियों का कारण भी हो सकता है।

शोर के कारण हमारी धमनियाँ सिकुड़ जाती हैं, हृदय धीमी गति से काम करने लगता है और गुर्दों पर प्रतिकूल असर पड़ता है। शोर के कारण कोलेस्ट्रोल बढ़ जाता है जिससे रक्त शिराओं में हमेशा के लिये खिंचाव हो जाता है और दिल का दौरा पड़ने की आशंका पैदा हो जाती है।

उन्होंने ध्वनि प्रदूषण के कुप्रभाव की आगे चर्चा करते यह बताया कि वैज्ञानिक स्तर पर जो अनुसन्धान हुए हैं उनसे यह अनुभव किया जाने लगा है कि शोर एक अदृश्य प्रदूषण है जो धुँयें की तरह मनुष्य के स्वास्थ्य पर घातक प्रभाव डालकर उसे धीरे-धीरे मृत्यु की ओर धकेल रहा है। शोर की तेजी हर दस वर्ष में दुगुनी होती जा रही है। यदि शोर की यही गति रही तो आगामी 20-30 वर्षों में नगरों एवं महानगरों में बहरे लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या हो जायगी।

परियोजना में कार्यरत कर्मचारियों को शोर प्रदूषण से बचने के लिए उन्होंने 'इयर मफ' और 'इयर प्लग' की उपयुक्तता बताई और इसका भली भाँति उपयोग करने के लिये कहा।

अन्त में श्रीमती जी० ओ० हरिचन्द्र ने मुख्य अतिथि एवं उपस्थित गणमान्य नागरिकों को आयोजन की सफलता के लिये सहयोग देने हेतु धन्यवाद दिया।

प्रस्तुति : ओमप्रकाश गुप्ता

(4) **वन्य जीव संरक्षण पर विज्ञान फिल्म का प्रदर्शन एवं अभिभाषण**

7 अक्टूबर 91 को 'वन्य जीव संरक्षण' विषय पर विज्ञान फिल्म का प्रदर्शन किया गया। तत्पश्चात् मुख्य अतिथि डॉ० एस० एन० पाण्डेय, पशु चिकित्सक, मध्यप्रदेश शासन ने 'वन एवं वन्य जीवों के संरक्षण के महत्व पर प्रकाश डालते हुए बताया कि जब तक इस प्रकार के गोष्ठियों एवं अभिभाषणों की आवश्यकता होती रहेगी। उन्होंने कहा कि किसी भी जीव प्रजाति को काफी लम्बे समय तक पृथ्वी पर अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये स्थान विशेष की बदलती जलवायु तथा पर्यावरण के परिवर्तन के अनुरूप अपने को ढालना पड़ता है क्योंकि ऐसा न करने पर जीव प्रजाति अन्ततः विलुप्त हो जाती है।

प्रदूषित पर्यावरण के अलावा अन्य कारण भी वन्य जीवों के वंश-नाश अथवा विलोपीकरण के लिये उत्तरदायी हैं जिसमें प्रमुख हैं अनियन्त्रित एवं निष्प्रयोजित शिकार, खेती का विस्तार तथा वनों का विनाश। उन्होंने वनों एवं वन्य जीवों पर और अधिक अनुसन्धान करने पर बल दिया। अभिभाषण में चिपको, एपिको जैसे आन्दोलनों की सार्थकता पर प्रकाश डाला। इसके अतिरिक्त विलोपीकरण के कगार पर खड़ी जीव जातियों की 'रेड डाटा बुक' में उल्लिखित अनुसूचियों की चर्चा की !

इस अभिभाषण एवं फिल्म प्रदर्शन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि सभी नागरिकों, गणमान्य अधिकारियों ने उत्साहित होकर भाग लिया। नगर के विद्यालयीन छात्र-छात्राओं ने सम्बन्धित विज्ञान फिल्म का आनन्द लिया एवं समझा कि वन्य जीव संरक्षण की अत्यधिक आवश्यकता है।

सभा का समापन प्रो० एच० के० गजेन्द्र, उपाध्यक्ष के धन्यवाद ज्ञापन से हुआ।

—प्रस्तुति : ओम प्रकाश गुप्ता

●●

(पृष्ठ 26 का शेष)

- जब माइक्रोवेव ऑवेन का द्वार खुला ही तब उसको चालू करने की चेष्टा न करें।
- जब माइक्रोवेव ऑवेन कार्य कर रहा हो उस समय उसका द्वार खोलने की चेष्टा न करें।
- भोजन में नमक तथा भोजन को स्वादिष्ट बनाने वाले अन्य मसाले भोजन पक जाने के बाद मिलायें।
- ठण्डे मक्खन, चॉकलेट आदि पदार्थों को कुछ समय में ही निकाल लें अन्यथा वे पिघल कर बहने लगेंगे।
- भोजन गर्म करने के समय को कम करने के लिए कागज के कप आदि प्रयोग में लायें।
- धातु के बर्तनों को प्रयोग में न लायें।
- डीप फ्राई करने की चेष्टा न करें क्योंकि माइक्रोवेव ऑवेन में तेल का तापक्रम नियंत्रित करना कठिन है।
- अंडों को उनके खोल में न पकायें, टूट जायेंगे।
- बंद बोतलों, डिब्बों आदि को इसमें न गर्म करें, फूट जायेंगे।
- मद्य (एल्कोहॉल) आधारित पदार्थों को न गर्म करें, आग लग जायेगी।

○○

कहिये प्रोफेसर साहब, मजे में हैं ?

उत्तर प्रदेश सरकार के भूतपूर्व गृह मंत्री, शिक्षा मंत्री, स्वतन्त्रता सेनानी, कांग्रेस के तपे-तपाये नेता **चौधरी नौनिहाल सिंह** का गत 18 अगस्त को 70 वर्ष की अवस्था में निधन हो गया। 'काली प्रसाद ट्रस्ट' के अध्यक्ष के रूप में चौधरी साहब ने शिक्षा के क्षेत्र में अद्वितीय सेवा की है। किसी सहायता की आशा से उनके पास जाने वाला व्यक्ति शायद ही कभी निराश लौटा हो।

ऊँची कद-काठी, गोरा सुदर्शन चेहरा, बड़ी मूछें और रोबीले व्यक्तित्व के धनी चौधरी नौनिहाल सिंह सही मायने में 'नौनिहाल' थे। वे बड़े ही सहज भाव से लोगों का दु:ख-दर्द सुनते थे और सदैव मदद करने को तत्पर रहते थे। सम्भवत: अपने इसी गुण के कारण वे लोगों के दिलों पर 'राज' करते थे। हम अध्यापकों में से जहाँ भी, जब भी कोई सामने पड़ जाता तो उनकी जानी-पहचानी आत्मीय आवाज सुनने को मिलती थी—"कहिये प्रोफेसर साहब, मजे में हैं ?" अब यह आवाज कभी सुनने को नहीं मिलेगी। अब तो इस आवाज की मात्र स्मृति शेष है। प्रोफेसर कहना अध्यापकों के प्रति सम्मान-प्रदर्शन का उनका निराला अंदाज था।

चौधरी साहब का पार्थिव शरीर पवित्र अग्नि में विलीन हो गया है, किन्तु अपने कृतित्व में वे सदैव जीवित रहेंगे।

O O O

चौधरी नौनिहाल सिंह के निधन के 5 दिन पूर्व देश के एक लब्धप्रतिष्ठ वनस्पतिविज्ञानी, शिक्षाशास्त्री और इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वनस्पति विभाग के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष **डॉ० ब्रह्म स्वरूप मेहरोत्रा** का निधन हो गया। वे पिछले कुछेक महीनों से 'ब्रेन ट्यूमर' से पीड़ित थे। इसके पूर्व वे शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ थे। 66 वर्षीय डॉ० मेहरोत्रा कुमायूँ विश्वविद्यालय के कुलपति (वी० सी०) भी रह चुके थे। वे एक कुशल आचार्य, समर्पित शोधकर्त्ता और ख्यातिप्राप्त लेखक थे। 'फंजाई' और 'बैक्टीरिया' पर उनके द्वारा लिखी पुस्तकें अध्यापकों और विद्यार्थियों में अति लोकप्रिय थीं। अपने मृदु स्वभाव से वे सभी का मन जीत लेते थे। प्रोफेसर मेहरोत्रा अब हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु उनका हँसता-मुस्कराता चेहरा सदैव प्रेरणा-स्रोत बना रहेगा।

चौधरी नौनिहाल सिंह और आचार्य मेहरोत्रा को विज्ञान परिषद् परिवार की भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित है।

O O O

दु:ख की इन्हीं घड़ियों के बीच भारतीय विज्ञान की एक उपलब्धि भी उभर कर सामने आयी—**'पृथ्वी'** नामक प्रक्षेपास्त्र का आठवाँ सफल प्रक्षेपण।

मध्यम दूरी व जमीन से जमीन पर वार करने वाले **'पृथ्वी'** प्रक्षेपास्त्र का 18 अगस्त को सुबह बालासोर के निकट चाँदीपुर अस्थायी परीक्षण रेंज आई० टी० आर० से सफल प्रक्षेपण किया गया। इस प्रक्षेपास्त्र में 250 किलो का भार वहन करने और 250 किलोमीटर तक वार करने की क्षमता विद्यमान है। किन्तु यदि भार 250 किलो के स्थान पर बढ़ाकर 1000 किलो कर दिया जाये, तो भी यह 150 किलोमीटर की दूरी तक वार कर सकता है। इस प्रक्षेपास्त्र के अगले वर्ष सेना में शामिल किए जाने की पूरी सम्भावना है। ऐसी आशा व्यक्त की गई है कि 'भारत डाइनमिक लिमिटेड' अगले साल से इसके सुधरे डिजाइन का निर्माण प्रारम्भ कर देगी।

● ●

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1992

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।

(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।

(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।

(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।

(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1992 से दिसम्बर 1992 माह के बीच प्रकाशित हो।

(6) लेखक को साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।

(7) विज्ञान-परिषद् के सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।

(8) वर्ष 1992 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1993 है।

लेख निम्न पते पर भेजें—

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें ।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद वा रुचिकर हों ।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है । यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें ।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी ।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा । उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है ।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है । कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें ।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझाओं का स्वागत है ।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए । समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी ।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है । विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु०, चौथाई पृष्ठ 50.00; आवरण द्वितीय; तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु० ।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० **व्यक्तिगत** : 500 रु० **संस्थागत**
त्रिवार्षिक : 60 रु० : **वार्षिक** 25 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे,

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

अक्टूबर 1992 अंक
मूल्य : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान परिषद, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915

अक्टूबर 1992; वर्ष 78 अंक 7

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु०

वार्षिक : 25 रु०

एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7 ए बेली एवेन्यू
इलाहाबाद-211002

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

राष्ट्र के विकास में वैज्ञानिक सोच की भूमिका

श्रीमती मंजुलिका लक्ष्मी

बीसवीं शती के इस अंतिम दशक में, जब विज्ञान का वर्चस्व सर्वतोसिद्ध हो चुका है, तब इस विषय पर विवाद करना मेरी दृष्टि में व्यर्थ ही है, कि विज्ञान की भूमिका किसी भी देश की प्रगतिशील संरचना में गुणात्मक है या नकारात्मक। दुर्बुद्धिजन्य उद्देश्यों के लिए यदि प्रयोग न किया जाये, तो विज्ञान का योगदान हर दृष्टि से विकास के लिए धनात्मक ही सिद्ध होगा, यह एक निर्विवाद सत्य है। प्रश्न यह है कि राष्ट्र के विकास में वैज्ञानिक चिंतन लाभकारी भूमिका कैसे निभा सकता है।

हमारे धर्मप्राण देश भारत में विज्ञान या वैज्ञानिक चिंतन, प्राचीन काल में धर्म के समानान्तर सामाजिक विकास का सोपान बनता रहा, भले ही धर्म विचारों के यथावत मानने पर जोर देता रहा और विज्ञान परीक्षण और तर्क की कसौटी पर खरे उतरे विचारों को ही अपनाता रहा। फिर भी, यह बाह्य विरोधाभास होते हुए भी दोनों विरोधी नहीं रहे। सच्चे धर्म का स्वरूप भी, और यहाँ मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि कर्मकाण्ड नहीं, सदा वैज्ञानिक आधारों पर ही गढ़ा गया है। ज्यों-ज्यों भौतिक रहस्यों पर से पर्दा हट रहा है, धर्मग्रन्थों में कहे अनेक वक्तव्यों की पुष्टि स्वतः होती जाती है।

हमारे प्राचीन मनीषी **ब्रह्मगुप्त, वराहमिहिर** और **भास्कराचार्य** के वैज्ञानिक और गणितीय सिद्धांत देश के विकास की रीढ़ हैं यह अवश्य दुःख का विषय है कि आगे चलकर, यूरोपीय प्रभाव से, हमारा स्वतन्त्र वैज्ञानिक चिंतन अवरुद्ध होने लगा और भौतिक विकास और प्रौद्योगिक उपलब्धियों को ही विज्ञान का पर्याय माना जाने लगा।

स्वतन्त्रता के पश्चात् हमारे देश में वैज्ञनिक सोच को गति देने का कार्य तत्कालीन प्रधानमंत्री की वैज्ञानिक नीति के निर्माण से प्रारम्भ हुआ। 1952 में इस नीति की घोषणा से गुलामी की मार से आई जड़ता को उतार फेंकने की शुरुआत हुई। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में प्रतिवर्ष भारतीय विज्ञान कांग्रेस के अधिवेशन और उसमें प्रतिवर्ष स्वदेशी संदर्भ में लोककल्याण के किसी केन्द्रीय विषय पर चर्चा और कार्यवाही की परम्परा से इस कार्य को बहुत बल मिला।

इसके पूर्व वैज्ञानिक चिंतन द्वारा देश के विकास को समृद्ध करने का कार्य कुछ नई-पुरानी वैज्ञानिक समितियाँ भी, अपनी-अपनी सीमाओं में ही सही, पर सार्थक ढंग से करती आ रही थीं। इनमें पिछली शताब्दियों की रायल सोसाइटी, रायल एग्रीकल्चरल सोसाइटी, इण्डियन इंजीनियरिंग सोसाइटी, और बाम्बे टेक्सटाइल एण्ड इंजीनियरिंग एसोसिएशन की भूमिकाएँ महत्वपूर्ण रहीं। इस शताब्दी की समितियों में एसोसिएशन फॉर कल्टीवेशन ऑव साइंस, इण्डियन बोटैनिकल सोसाइटी, इण्डियन मैथमेटिकल सोसाइटी, इंस्टीट्यूशन ऑव इंजीनियर्स, इण्डियन एकेडेमी ऑव साइंसेज, इण्डियन फिजिकल सोसाइटी और विज्ञान परिषद् प्रयाग जैसी प्रतिष्ठित समितियों ने विशेषज्ञों

5 ई/4 स्टाफ क्वार्टर्स, लिटिल रोड, जार्ज टाउन इलाहाबाद-2

को अपने-अपने क्षेत्र की शैक्षिक समस्याओं पर विचार-विमर्श करने और उनके समुचित समाधान के लिए प्रेरित करने को एक मंच दिया। इन समितियों की भूमिकाएँ इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इन समितियों ने सामान्य विचार-विमर्श के अतिरिक्त अपने-अपने क्षेत्रों में सक्रिय शोध करने के भी उचित अवसर जुटाये। इन समितियों के समृद्ध और अधुनातन पुस्तकालयों, सामयिक परिसंवादों और विचार-गोष्ठियों ने जहाँ विज्ञान के विशिष्ट स्वरूप की ओर विशुद्ध अनुसंधानों को दिशा दी, वहीं विज्ञान की सामान्य रुचि की पत्रिकाओं ने विज्ञान के जनसाधारण में प्रचार-प्रसार को सुलभ किया। इस प्रकार देश की सामाजिक चिंतन की धारा को ये वैज्ञानिक समितियाँ प्रभावित करती रही हैं।

भारतीय समाज की विसंगतियाँ यथा गरीबी, अशिक्षा और अंधविश्वासों को देखते हुए वैज्ञानिक सोच की प्रासंगिकता और भी अनिवार्य जान पड़ती है।

शिक्षा के क्षेत्र में यदि हम वैज्ञानिकता की बात करें तो ऐसा लगता है कि अभी मील का पत्थर हमसे बहुत दूर है। नई शिक्षा नीतियों की बात तो दस-पाँच वर्षों पर दोहराई जाती ही रहती है, पर सच्चाई मात्र इतनी है कि हमारी शिक्षा, वैचारिकता, मौलिकता को कुण्ठित करके सुने-सुनाये, रटे-रटाये को यथावत पुनः कागज पर उतार देने का प्रयास मात्र है। हम न तो प्राथमिक स्तर पर, न उच्च शिक्षा के स्तर पर—कहीं भी स्वतंत्र चिंतन या तार्किक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित नहीं करते। इस स्थिति में यहाँ वैज्ञानिक सोच के आरोपण की आवश्यकता तीव्रतम है। विद्यार्थी में निष्ठापूर्वक किताबी ज्ञान को दोहराने की जगह स्वयं सोचकर तर्कों के प्रमाण के सहारे किसी प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने की उसकी कितनी क्षमता है, इस आधार पर उसका मूल्यांकन करना और उसकी यह क्षमता विकसित करने का प्रयत्न करना, उसमें जिज्ञासा की भावना को बढ़ावा देने की नीति अपनाना आवश्यक है।

हमारे देश की अनेक विज्ञान प्रयोगशालाओं और विश्वविद्यालयों में विश्व स्तर का शोध कार्य हो रहा है। अब समय और वैज्ञानिकता का तकाजा यह है कि इन अनुसंधानों का सीधा लाभ अपने देश को गरीब जनता तक पहुँच सके। इसके लिये ऐसी तकनीकी का विकास आवश्यक है, जो क्षेत्र विशेष की निजी आवश्यकताओं के अनुरूप हो। जैसा कि श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने कहा—'कोई तकनीकी कितनी भी आधुनिक और कितनी भी लाभदायी क्यों न हो, उसे स्थानीय संस्कृति और प्रतिभा के अनुसार ढालना पड़ेगा ताकि परम्पराओं में सुव्यवस्थित ढंग से नवीनता आ सके।'

पाठ्यक्रम के वर्तमान वैज्ञानिक खोजों की उपलब्धियों के अतिरिक्त उन बातों का समावेश आवश्यक है, जो विद्यार्थी को बताती चलें कि विज्ञान का अर्थ क्या है उसकी प्रगति की दिशा क्या है और वर्तमान वैज्ञानिक चिंतनधारा मानव समाज को किधर ले जाने वाली है। यह देश के सामान्य जन को देश की संरचनात्मक प्रक्रिया से सकारात्मक रूप से जोड़ने में बहुत सहायक होगा।

ज्ञान अथवा विज्ञान चूँकि निरन्तर परिवर्तनशील प्रक्रिया है अतः वैज्ञानिकता का पोषण एक गतिशील जीवित समाज की संरचना के लिए विशेष रूप से लाभकारी है। अन्यथा रूढ़ियों और अंधविश्वासों के जाल में जकड़ा समाज सड़ने लगता है। अतः नये को जाँच-परखकर, उसकी सार्थकता को समझकर उसे अपना लेना और अप्रासंगिक हो गये पुराने को केंचुल की भाँति त्याग देने की क्षमता विकसित कर लेना विकास को गति देना है।

अब तक हम वैज्ञानिक सोच या चिंतन की बात करते रहे हैं, वैज्ञानिक उपलब्धियों की भूमिका की दृष्टि से देखें तो हम पायेंगे कि वैज्ञानिकता या वैज्ञानिक शोधों से उत्पन्न उपलब्धियों, तकनीकों ने देश की प्रगति को तीव्र करने का जो कार्य किया है, वह अभूतपूर्व है। प्रौद्योगिकी, चिकित्सा, अंतरिक्ष विज्ञान, मौसम अनुसंधान, रसायन और सबसे बढ़कर कृषि के क्षेत्र में विज्ञान का योगदान इतना गुणात्मक रहा है, जिसकी तुलना में पिछली कई सदियों की सम्मिलित वैज्ञानिक प्रगति भी कम प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए कृषि के क्षेत्र में कुछ दशकों पहले खाद्यान्न के लिए दूसरे देशों का मुँह देखने वाला भारत आज स्वयं समर्थ है और इसका श्रेय विज्ञान की सहायता प्राप्त उन्नतबीजों, संशोधित कृषि उपकरणों, कीटनाशकों और दूसरी लाभकारी तकनीकों को जाता है। पर यहीं रुककर यह सोचने की भी आवश्यकता है कि अधिक से अधिक फसल लेने की दौड़ में रासायनिक खादों और कीटनाशकों के के अंधाधुंध उपयोग से निरन्तर अपनी स्वाभाविक गुणवत्ता से क्षीण होती जा रही भूमि के संवर्धन के लिए क्या करना उचित है ? वैज्ञानिकतापूर्ण विचार प्रणाली पर चलने का अर्थ यही है कि हम साधन या उद्देश्य दोनों के अच्छे-बुरे सभी पहलुओं पर सर्वतोन्मुखी विचार करके निर्णय लेने का प्रयास करें।

वर्तमान के लिए प्रासंगिक दृष्टिकोण यही है कि देश में उत्कृष्ट वैज्ञानिक प्रतिभा उपलब्ध है और उसका उचित उपयोग होना चाहिये। इसके लिए स्वयं वैज्ञानिकों को अपने गगनचुंबी मीनारों से नीचे उतर कर आम आदमी के सम्पर्क में आना और उसकी दृष्टि के समानान्तर नजर साधकर देखना पड़ेगा। जेनेटिक इंजीनियरिंग, बायो-टेक्नॉलोजी और इलेक्ट्रॉनिक्स के विकास आम आदमी के जीवन को किसी न किसी रूप में प्रभावित करते ही हैं अतः इन क्षेत्रों में शोधों की दिशा ऐसी होनी आवश्यक है जो लोकहित में हो। साथ ही एक और तथ्य को नजर-अंदाज करना उचित नहीं होगा, वह है कुछ वैज्ञानिक शोधों का वैधानिक पक्ष। उदाहरण के लिए भ्रूण-परीक्षण तकनीक के सर्वसुलभ होने के दुष्परिणामों से आज हम लोग अनजान नहीं हैं। अविकसित व्याधिग्रस्त भ्रूण के विषय में समय रहते पता लगाकर उसे समाप्त करने या उसकी उचित चिकित्सीय व्यवस्था करने की लोकोपयोगी तकनीक को आज हमारी सामाजिक कुरीति के दबाव ने कन्या भ्रूणों की निमर्म हत्या की दुष्प्रवृत्ति में बदल डाला है। इस प्रकार के दुरुपयोग चेतावनी देते हैं और इसका अर्थ यह है कि हमें इस प्रगति पर आवश्यकतानुसार अंकुश लगाने की जरूरत है, पर इसे बाधित करने की कदापि नहीं है।

आज हमने वैज्ञानिक क्षेत्रों में निश्चित रूप से प्रगति की है, इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता। जैसा कि पहले ही कहा गया—बायोटेक्नॉलोजी, कृषि तकनीक, रसायन, चिकित्सा, अंतरिक्ष विज्ञान जैसे क्षेत्रों में हमने आशातीत सफलताएँ प्राप्त की है। दूर संचार उपग्रहों की सहायता से देश की संचार व्यवस्था में क्रांतिकारी बदलाव आया है। दूरदर्शन द्वारा सामाजिक गठन पर पड़ने वाले प्रभाव विवादास्पद हो सकते हैं पर सूचनाप्रद त्वरित माध्यम के रूप में उसकी भूमिका अद्वितीय रही है।

दूर संवेदन की उपलब्धियों ने मौसम विज्ञान और कृषि के लिए लाभप्रद अग्रिम सूचनायें उपलब्ध कराकर कृषकों की भारी सहायता की है। आज भारतीय वैज्ञानिक अंटार्कटिका तक अपनी योग्यता के झंडे गाड़ चुके हैं। पिछले लगभग एक दशक से हर साल जाने वाले अंटार्कटिका अभियान दल के वैज्ञानिक सदस्य अब तक तो वहाँ एक स्थायी वैज्ञानिक अनुसंधान केन्द्र भी स्थापित कर चुके हैं।

पर्यावरण प्रदूषण की विकट समस्या जो आज सारे विश्व को ग्रस्त किए हुए हैं, अपने देश में भी कम भयानक नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टि के प्रभाव में हम अपनी प्राकृतिक सम्पदाओं का अनवरत शोषण कर रहे हैं और प्रकृति को पुनर्स्थापन का अवसर दिये बिना ही उस पर अत्याचार किये जाते हैं। इस सम्बन्ध में भी सोच-समझकर विज्ञान सम्मत तरीके से कदम उठाने की आवश्यकता है, जिससे हम धसकते पहाड़ों पर बाँध बनाकर वहाँ के जन-जीवन को जोखिम में डालने तथा हरे-भरे मैदानों को नदियों की जलधारें मोड़कर अनन्त जलाशयों में बदल डालने की एकांगी नीतियों से बच सकें।

आशय स्पष्ट है—विज्ञान ने हमें बाँध बनाने की तकनीक तो उपलब्ध करा दी है, पर उसके दूरगामी परिणामों का आकलन करके जब हम सही स्थानों का चुनाव करेंगे, तभी वह हमारा वैज्ञानिकतापूर्ण दृष्टिकोण होगा।

इस प्रकार हमारी सरकारी नीतियाँ, हमारे दैनन्दिनी कार्य और हमारी वृहत्तम योजनायें, जब **क्या, क्यों और कैसे** की कसौटी पर कसी जाकर अपनाई जायेंगी, तभी वह वैज्ञानिक चिंतन हमारे देश की प्रगति में अपना पूर्ण गुणात्मक योगदान दे सकेगा।

●●

रहस्यों से घिरी अंतरिक्ष की धूल

डॉ० जगदीप सक्सेना

एक हवाई जहाज अट्ठारह हजार मीटर से ज्यादा ऊँचाई पर उड़ रहा था। इसके ऊपर विशाल 'प्लेटें, लगी थी, जिन पर तेल चुपड़ा हुआ था। बता सकते हैं क्यों? ताकि अंतरिक्ष से गिरने वाली धूल इस पर चिपक सके और इसकी जाँच-पड़ताल की जा सके। यह अनोखा बंदोबस्त अमेरिका के डॉन ब्राउनली नामक वैज्ञानिक ने किया था इससे जो धूल के कण पकड़ में आये उनका आकार आमतौर पर दस माइक्रोमीटर था। माइक्रोमीटर का मतलब मिलीमीटर का हजारवां हिस्सा। इन धूल कणों में सिलिकेट के साथ और भी कई पदार्थ थे।

कुछ इस तरह के प्रयोगों से और कुछ ठोस वैज्ञानिक तर्कों के सहारे, हमने अंतरिक्ष के धूल कणों के बारे मे काफी कुछ जान लिया है। इनका औसत आकार वह नहीं है जो ब्राउनली के प्रयोगों से पता लगा है। ये आमतौर पर कुछ माइक्रोमीटर से कम आकर के पाये गये हैं। इनकी आकृति गोल नहीं है। ये कुछ लंबे से हैं—अपनी चौड़ाई से कोई तीन गुना लंबे। पर जमीन के धूल कणों की तरह अंतरिक्ष में इनकी तादाद ज्यादा नहीं है। कहीं-कहीं कई सौ घन मीटर जगह में भी केवल एक धूल का कण मौजूद होता है। पर तारों के प्रकाश पर इनका प्रभाव काफी पड़ता है। कारण कि तारों के बीच दूरियाँ बेहद ज्यादा हैं, जिससे प्रकाश के रास्ते में सैकड़ों धूल कण आते हैं। इस कारण तारों का चमकीलापन घट जाता है।

वैज्ञानिकों ने हिसाब-किताब लगाकर बताया है कि अगर कोई तारा हमसे तीन हजार प्रकाश वर्ष दूर हो तो हमें उसकी आधी चमक ही नजर आयेगी। एक प्रकाश वर्ष के मतलब लगभग 95,000,000,000,00 किलोमीटर। इसी तरह हर तीन हजार प्रकाश वर्ष पर चमक आधी होती जाती है। यानी तीस हजार प्रकाश वर्ष से ज्यादा दूरी पर मौजूद तारों से हम तक कभी कोई रोशनी नहीं आएगी। इन्ही धूल कणों की बदौलत। धूल कणों का यह असर हमें वैसे तो बड़ा नागवार गुजरता है, पर वैज्ञानिकों के लिए है बड़े काम का। क्योंकि वैज्ञानिकों ने इसी के सहारे धूल कणों के कई रहस्य जाने हैं।

तीसरे दशक में ही स्वीडन के खगोल विज्ञानी रॉबर्ट ट्रम्पलर ने बताया था कि धूल कण तारों की चमक को घटाने के अलावा, इसे हल्का लाल रंग भी प्रदान करते हैं। इसी वजह से जब सूरज आसमान में नीचे होता है तो लाल दिखाई देता है। यानी धूल कण कम लंबाई वाली नीली तरंगों को ज्यादा सोखते हैं। इसलिए इनका आकार लाल तरंगों की लंबाई (0.7 माइक्रोमीटर) से कम होना चाहिए। बाद में यही साबित हुआ। इसके लंबेपन का पता भी इनसे गुजरने वाले प्रकाश के कारण ही लगा। वैज्ञानिकों ने देखा कि धूल से होकर आने वाला प्रकाश ध्रुवीकरण (पोलेराइजेशन) प्रदर्शित करता है। गोल कण ऐसा नहीं कर सकते।

अब सवाल आया इनमें मौजूद तत्वों या पदार्थों का। वैज्ञानिकों ने प्रयोगशाला में देखा कि सिलिकेट (विभिन्न धातुओं के साथ सिलिकन और ऑक्सीजन के यौगिक) उसी लंबाई की तरंगें सोखते है, जैसी धूल कण। यानी धूल कणों में सिलिकेट जरूर होंगे। इस खोज पर कोई आश्चर्य नहीं हुआ। कारण कि ब्रह्मांड में आक्सीजन और सिलिकन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। साथ ही वैज्ञानिकों ने इनमें कार्बन, नाइट्रोजन और हाइड्रोजन की मौजूदगी का अनुमान भी लगाया। उल्लेखनीय है कि यही तत्व मिलकर जीवन के लिए जरूरी अणु (अमीनो अम्ल आदि) बनाते हैं। कार्बन की मौजूदगी धूल कणों द्वारा पराबैंगनी प्रकाश को सोखने के कारण भी पता लगती है। कार्बन के इन कणों का आकार 0.01 माइक्रोमीटर पाया गया है। पर अंतरिक्ष की धूल में इनकी तादाद बहुत कम देखी गई है।

नीदरलैंड की लीडेन यूनिवर्सिटी के वैज्ञानिक मेयो ग्रीनबर्ग ने धूल कणों की रचना जानने के लिए काफी प्रयोग किये हैं। उनके अनुसार धूल कणों पर पीले रंग का चिपचिपा जैविक पदार्थ लिपटा रहता है। साथ ही ऊपर की ओर हल्की सी बर्फ (यानी जमा पानी) लगी रहती है। ऐसा खासतौर पर उन धूल कणों में होता है, जो घने बादल के रूप में रहते हैं। रचना के आधार पर ब्रिटिश खगोल विज्ञानी फ्रेड हॉयल और चंद्र विक्रमसिंह ने अटकल लगाई है कि ये धूल कण और कुछ नहीं वरन् हिमीकृत जीवाणु और विषाणु हैं। इन्हें धरती समेत अनेक ग्रहों पर जीवन का स्रोत माना जाता है। कुछ अन्य वैज्ञानिक भी इस अटकल को सच मानते हैं।

धूल कणों की असलियत जानने के लिए सन् 1986 में दो रूसी और एक न्यरोपीय अंतरिक्ष यानी हैली कॉमेट के शिरोभाग से होकर गुजरे। धूल कणों की जाँच-पड़ताल से तीन तरह के कण सामने आये। कुछ केवल सिलिकेट से बने थे तो कुछ में सिलिकेट के साथ जैविक अणु भी मौजूद थे। तीसरे और सबसे रहस्मय थे वे धूल कण, जो केवल जैविक अणुओं से बने थे। इन्हें वैज्ञानिकों ने 'सी० एच० ओ० एन' कण यानी कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन और नाइट्रोजन कण का नाम दिया। पर इनकी रचना के बारे में अभी बहुत कुछ जानना बाकी है। इसके लिए एक बड़ी योजना बनायी गयी है।

सन् 2000 के आस-पास एक ऐसा अंतरिक्ष यान छोड़ा जाएगा, जो क्षुद्रग्रह (ऐस्टेरायड) और धूमकेतु दोनों से ही उठने वाली धूल का अध्ययन करेगा। यह यान क्षुद्रग्रह से गुजरता हुआ धूमकेतु के साथ हो लेगा और फिर लगातार इसके साथ रहेगा। साथ-साथ इनसे निकलने वाली गैसों और धूल की जाँच-पड़ताल भी होती रहेगी। एक ऐसा यान भी छोड़ा जाएगा, जो धूमकेतु के केन्द्र से धूल का नमूना लेकर जांच करेगा।

सवाल उठता है वैज्ञानिकों को अंतरिक्ष की धूल में इतनी दिलचस्पी क्यों है? कारण कि इसी धूल में हमारे सौर मंडल की उत्पति का रहस्य छिपा है। और संभवत: धरती पर जीवन की उत्पति का भी खगोल विज्ञानी तारों और ग्रहों की उत्पति बेहद बड़े और घने धूल (या गैस) के बादलों में ऐसे बादलों में गैस आपस में क्रिया करके कई अणु बनाती हैं, जैसे हाइड्रोजन, फार्मल्हाइड और इथेनॉल आदि। यह धूल इतनी घनी होती है कि इसके कई छोटे-छोटे पिंड अपने ही गुरुत्वाकर्षण के कारण एक-दूसरे में विलीन हो जाते हैं। और इस तरह जन्म लेता है एक तारा इससे चारों ओर मौजूद धूल जगह-जगह संघनित होकर कई ग्रह बना सकती है। कहते हैं हमारे सौर-मंडल में अंतरिक्ष के धूल कणों की मौजूदगी ना के बराबर है।

पर सूरज को घेरे हुए धूल का एक छल्ला या चक्र अभी भी मौजूद है। यह सूरज के काफी पास है, बुध ग्रह से भी पास। इसका पता सन् 1983 में जापानी वैज्ञानिकों ने लगाया था इन धूल कणों का तापमान एक हजार डिग्री सेल्सियस पाया गया है। कुछ कारणों से सूरज इस धूल को हमेशा सौर मंडल से बाहर धकेलने की कोशिश करता रहता है। पर धूल है कि बराबर बनी रहती है। कारण? हमारे सौर मंडल में लगातार अंतरिक्ष की धूल आती रहती है। इसके कई कारण हैं।

अंतरिक्ष में धूल बनाने का काम जल्दी ही बुझने वाले तारे करते हैं। तारों के केन्द्र में लगातार होने वाली कुछ परमाण्विक क्रियाओं के कारण हाइड्रोजन और हीलियम कुछ जटिल तत्व बनाते हैं, जैसे सिलिकन, कार्बन, आक्सीजन आदि। जब तारा बुझने वाला होता तो वह फैलता है। इसका आकार सौ गुना बढ़ जाता। ऐसी अवस्था में गैसों का प्रवाह तारे के केन्द्र में बने तत्वों को तारे की सतह पर ला देता है। यहाँ तापमान तीन हजार डिग्री सेल्सियस से भी कम होता है। नतीजन गैसें ठोस का रूप ले लेती हैं—धूल कक्ष बनते हैं, जो अंत में अंतरिक्ष में विलीन हो जाते हैं।

धूल कण बनाने वाले तारे दो तरह के होते हैं। एक तो वे जिनमें कार्बन ज्यादा होता है, और दूसरे वे जिनमें आक्सीजन की अधिकता होती हैं। 'कार्बन तारे' कार्बन के विभिन्न रूपों के कणों को जन्म देते हैं। जबकि आक्सीजन तारों' की आक्सीजन, सिलिकन और अन्य धातुओं से क्रिया करके सिलिकेट तथा अन्य यौगिक बनाती है। ब्रह्मांड में आक्सीजन तारों, की तादाद 'कार्बन तारों की तुलना में दस गुना ज्यादा है। यही कारण है कि धूल कणों में सिलिकेट सबसे ज्यादा होता है।

क्षुद्रग्रहों के आपस में टकराने और धूमकेतुओं के 'मलबे' से भी काफी तादाद में अंतरिक्ष की धूल बनती है। जब दोक्षुद्रग्रह आपस में टकराते हैं तो इनके बहुत से टुकड़े अंतरिक्ष में इधर-उधर छिटक जाते है और उल्काओं का निर्माण करते हैं। इन्ही की वजह से चमकीला, आग जैसा उल्कापात होता है। धरती तक आते-आते ये पूरी तरह से जल जाते हैं। इसलिए इनकी मदद से अंतरिक्ष की धूल के बारे में ज्यादा नहीं जाना जा सकता। फिर भी कोशिश जारी है।

वैज्ञानिकों की राय में एक खास तरह की उल्का इस काम में मदद कर सकती है। इन्हे 'कार्बोनीफेरस कॉन्ड्राइट' कहते हैं। ये ऐसे क्षुद्रग्रहों का हिस्सा होती हैं, जिनका सतह की रचना में अभी तक कोई खास फर्क नहीं आया है। पर उल्का से मूल धूल के कणों को छांटना एक सिरदर्द भरा काम है। इसके लिए काफी भौतिक और रासायनिक जांच-पड़ताल करनी पड़ती है। पर वैज्ञानिकों कड़ी मेहनत करके ऐसी उल्काओं से मूल धूल के ढेरों कण बरामद किये हैं। इनकी जांच-पड़ताल का काम जारी है।

उम्मीद हैं कि जल्दी ही अंतरिक्ष के धूल कणों की असलियत हमारे सामने होगी। तभी अंतरिक्ष की बहुत सी अनसुलझी गुत्थियाँ भी सुलझेंगी। **(सम्प्रेषण)**

●●

विलुप्त होता कस्तूरी हिरन

डॉ अमरेन्द्र

भारतीय वन्य जीवन संसार में सर्वाधिक संपन्न है। संसार के हजारों पर्यटक प्रतिवर्ष वन्य जीवन का आनन्द लेने और इस बारे में जानकारी लेने हेतु आते हैं। वातावरण में बढ़ती जनसंख्या से मनुष्य जंगलों को काटकर अपने जीविकोपार्जन के लिए या तो खाद्यान्न उगाने, आवास या कल कारखानों को लगाने के लिए वन् भूमि को अधिग्रहीत कर रहा है। इस कारण जिस भारत में कभी 68 प्रतिशत भाग वनों से ढका था वहाँ आजकल 22.9 प्रतिशत ही वन क्षेत्र हैं। प्रतिवर्ष अनेकोनेक जानवर फर, खाल, सींग, दाँत और मांस के लिए मार दिये जाते हैं। वनों की कटाई भी अनेक पशु-पक्षियों के लिए नष्ट होने में सहायक सिद्ध हुई है।

हिरन या मृग कुछ वर्षों पूर्व भारत के हर हिस्से में पाये जाते थे, लेकिन अब ये सुन्दर मनमोहक प्राणी उत्तर प्रदेश, हिमांचल प्रदेश जम्मू एवं काश्मीर एवं सिक्किम के पहाड़ी भागों में पाये जाते हैं।

हिरन को जन्तु-जगत के स्तनधारी वर्ग में आरटीयोडेक्टाइला उपवर्ग के ट्रेगुलीना अतिवर्ग में रखा गया है। ये समसंख्या खुर वाले शाकाहारी स्तनधारी प्राणी होते हैं, जिनकी निम्न प्रजातियाँ हैं—धब्बेदार हिरन, कस्तूरी हिरन बारहसिंगा, पाढ़ा, थामिन हिरन, हरिण, रक्त हिरन, तथा मुजंक हिरन।

अपनी सुन्दरता में प्रसिद्ध थामिन हिरन मणिपुर राज्य में ज्यादातर पाये जाते थे, लेकिन अब ये हिरन उसी राज्य में 'सी' श्रेणी में रख दिये गये है। अर्थात् ये प्राणी विलुप्त अवस्था की ओर बढ़ रहे हैं। बर्मा एवं दक्षिण-पूर्व एशिया के थामिन हिरन मणिपुर हिरन के समान थे जो अब विलुप्त अवस्था की ओर बढ़ रहे हैं। ये रंग में गहरा भूरा या काले रंग का होते हैं, जो पहाड़ी इलाके तथा घने जंगलों में नहीं रहना चाहते, बल्कि मैदानी क्षेत्रों में रहना प्रसन्द करते हैं, अब ये थामिन हिरन मणिपुर में लोगटक झील में कम संख्या में रह गये हैं।

विभागाध्यक्ष, प्राणी विज्ञान विभाग, सरस्वती महाविद्यालय, हाथरस-204101

हरिण तथा मुजंक हिरन भी भारत के सुरक्षित जंगलों में थोड़ी ही संख्या में अपने शत्रुओं से बचते हुये रह रहे हैं। ये भारत, मलेशिया, चीन तथा जापान के घने पहाड़ी जंगली में 6000 फीट को ऊँचाई पर पाये जाते हैं तथा ये दो फीट ऊँचे होते हैं तथा इसका रंग भूरा तथा चेहरे पर काले धागे की रेखा के समान होता है। इसके सींग 3 इंच लम्बे तथा शाखित होते हैं। ये हमेशा जोड़े में रहते हैं और दिनचर होते हैं। ये अपने मुँह से कुत्ते के समान आवाज निकालते हैं इसीलिए इन्हें बार्किंग हिरन या कुत्ते के समान भौंकने वाला हिरन कहते हैं। ये प्रत्येक ऋतु में जनन करते हैं तथा मादा हिरन एक साथ धब्बेदार एक या दो बच्चे उत्पन्न हैं।

हिरन के शत्रु बाघ चीता तथा मांसाहारी वर्ग के स्तनधारी होते हैं और इन सबसे बड़ा शत्रु हैं मनुष्य।

धब्बेदार हिरन या चीत्तल (एक्सीस-एक्सीस) श्रीलंका तथा भारत के मैदानी क्षेत्रों में एवं पहाड़ियों पर 400 फीट की ऊँचाई पर पाया जाता है। यह असम, पंजाब तथा राजस्थान में नहीं पाया जाता है। ये उन जंगलों पर बहुतायत में मिलते हैं, जहाँ पर पानी तथा घास चरने के लिए प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। ये 2.5 से 3 फीट ऊँचे होते हैं। धब्बेदार हिरन का रंग भूरा तथा पीठ पर काली रेखा एवं शरीर पर धब्बे पाये जाते हैं। इसका सिर तथा पूँछ लम्बी होती है। नर हिरन में सींग 34 इंच लम्बे होते हैं, जिससे 3 या 4 शाखाएँ निकली होती हैं। ये सींग हर साल टूट जाते हैं, और उनकी जगह पर नये सींग निकल आते हैं। मादा धब्बेदार हिरन एकसाथ दो बच्चों को जन्म देती है।

हिरनों में सबसे बहुमूल्य प्रजाति कस्तूरी हिरन होती है, जो दिन प्रति दिन दुर्लभ होती जा रही है। इसके पेट में पाया जाने वाला एक महत्वपूर्ण पदार्थ ही इसके विनाश का कारण है। ये केन्द्रीय एशिया, दक्षिण पूर्ण एशिया, तथा हिमालय की ऊँची पहाड़ियों (8000 से 12000 फीट) पर पाये जाते हैं। यह स्लेटी या भूरा रंग का शर्मीला, तथा मायावी हिरन होता है, जिसे मारने के बाद पेट से कस्तूरी निकाली जाती है। कस्तूरी हिरन के अगले पैर बड़े तथा पिछले पैर छोटे होते हैं। इनमें कोई सींग नहीं पाये जाते हैं तथा चेहरे पर कोई ग्रन्थि नहीं पायी जाती है। इसकी पूँछ बिल्कुल छोटी तथा शरीर का पृष्ठ भारी बड़े बालों से ढके होते हैं। नर कस्तूरी हिरन से 3 इंच लम्बा, ऊपरी जबड़े से केनाइन दाँत, नीचे की ओर निकले होते हैं, लड़ने का कार्य करते हैं। नर से पिछले जाँघ पर कापूडल ग्रन्थि पाये जाते हैं, जो पूँछ के अधर भाग पर खुलते हैं और विशेष गंध वाले स्राव से मादा हिरन को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। कस्तूरी मृग में ही केवल पित्ताशय पाये जाते हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार कस्तूरी हिरन एक हिरन हैं जिसके सींग, तथा चेहरे पर ग्रन्थियां नहीं पायी जाती हैं। इसके मांस तथा कस्तूरी की माँग अन्तर्राट्रीय बाजार में ज्यादा हैं। इसकी खाल महकती है तथा ये प्रसाधान एवं दवाइयों को प्रयोग में लायी जाती है। इन्हीं सब कारणों से भारत सरकार ने कस्तूरी मृग को 'सी' श्रेणी में रख दिया है।

पहाड़ी कस्तूरी मृग 65 से 87 से० मी० लम्बा, 20 इंच ऊँचा तथा 8 से 15 किलोग्राम भार वाला जन्तु हैं, जिसके बाल गर्मियों में गहरे बादामी रंग तथा जाड़ों में गहरे स्लेटी रंग के हो जाते हैं। यह एक रात्रिचर प्राणी हैं, जो शाकाहारी भोजन के लिए रात्रि में बाहर निकलता है।

प्रौढ़ नर कस्तूरी मृग में, नाभि तथा जनन अंग के बीच, एक गढ्ढे में कस्तूरी पायी जाती है। ये कस्तूरी प्रकृति की देन है, जो मादा मृग को अपने तरफ आकर्षित करने या सुगंध देने के लिए होती है। प्रत्येक नर मृग में,

15 से 20 ग्राम तक कस्तूरी पायी जाती है, जो जनन काल में बहुत ही तेज सुगन्ध देती है। मृग को मारने के पश्चात् शिकारी गढ्ढ़े से कस्तूरीं निकाल लेते हैं औह् उसे धूप में सुखा देते हैं। ताजा कस्तूरी भूरे रंग की अर्ध-ठोस तथा तैलीय होती है तथा सूखने के बाद दानेदार पाउडर के समान हो जाता है, जो पानी तथा एल्कोहॉल में घुलनशील होती है। इसकी खासियत उत्तेजक तथा उदेष्टरोधी होती है।

एक कस्तूरी मृग पहाड़ी गाँवो में 3000 से 7000 रुपये तक विकती है। आजकल कस्तूरी का भाव अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में 80000 रुपये से 10,0000 रुपये तक प्रति किलोग्राम यू० एस० डॉलर है, जिससे कि शिकारी धन के लालच में. हिमालय के बर्फीले क्षेत्रों में, ज्यादा से ज्यादा कस्तूरी मृग को, एक साथ मार देते हैं।

किन्तु धीरे-धीरे लोगों में पर्यावरण के प्रति दिलचस्पी बढ़ रही है तथा जन-जागरण के प्रयासों से लोग वन्य जीवन के महत्व को समझने लगे हैं। यह शुभ लक्षण है।

OO
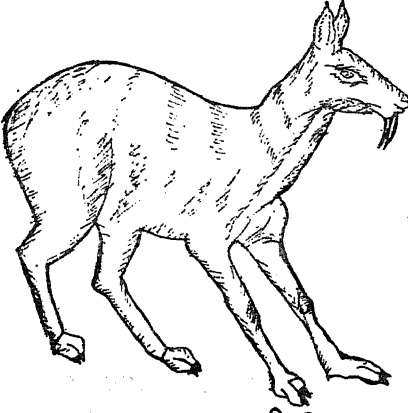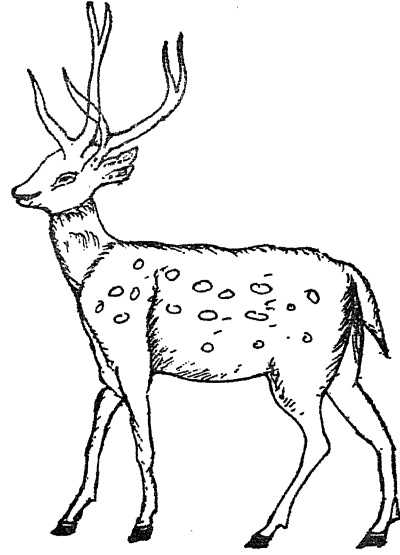
समुद्रीय उत्खनन : खनिजों का विपुल भंडार

सुनील दत्त तिवारी एवं पवन कुमार

समुद्र ने हमेशा से मानव की कल्पना, संस्कृति और भाग्य को प्रभावित किया है। समुद्र धरती के लगभग 71 प्रतिशत भाग को घेरे हुए है, जो लगभग 510 लाख वर्ग किलोमीटर है। यह तो सर्वविदित है कि समुद्रों से बड़ी मात्रा में मछलियाँ पकड़ी जाती हैं। यह व्यवसाय बहुत से देशों के आर्थिक तन्त्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। खाद्य एवं कृषि संगठन (Food and Agricultural Organisation) के अनुसार पूरे विश्व में समुद्र से प्रतिवर्ष 24 मिलियन टन के लगभग मछलियाँ पकड़ी जाती हैं, जिनमें से आधी मात्र एशियाई क्षेत्र से है।

आज भोजन के अलावा मनुष्य समुद्र से अन्य और लाभ भी प्राप्त करने लगा है। पीने का पानी, दवायें, रसायनों, उर्वरकों और अन्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु मानव ने अब समुद्र पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है।

यद्यपि समुद्री जल से नमक की प्राप्ति तो बहुत पहले से की जाती रही है, परन्तु रसायनों और खनिजों की प्राप्ति की खोज अभी नयी ही है। सर्वप्रथम एच० एम० एस० चैलेन्जर (H. M. S. Challenger) नामक एक ब्रिटिश जलपोत ने सन् 1873-76 के दौरान समुद्र के गहरे हिस्सों में विद्यमान खनिजों का पता लगाया था। उसके बाद समुद्र के गर्भ में किये खनिजों की प्राप्ति की सम्भावनाओं को ज्ञात करने हेतु अनेक अभियान विभिन्न जलयानों द्वारा चलाये गये, जो विशेषरूप से इसी उद्देश्य के लिए बनाये गये थे। इन्हीं खोजों के चलते समुद्र से पेट्रोलियम जैसे खनिज पदार्थों की प्राप्ति भी सम्भव हो सकी है।

एच० एम० एस० चैलेन्जर द्वारा समुद्र के गहरे हिस्से में धातुओं के एक नये स्रोत की खोज की गई है, जो अनियन्त्रित आकार के पिण्डों के रूप में होते हैं। जान मुरे (John Murray) नामक वैज्ञानिक ने इन पिण्डों को ग्रन्थिका (Nodule) नाम दिया है। इन ग्रन्थिकाओं के एकत्रीकरण से धातुओं और खनिजों से सम्बन्धित हमारी बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है। ये ग्रन्थिकायें कान्टीनेन्टल शेल्फों के सतह और निचले हिस्से में बहुतायत से पाये जाते हैं। समुद्री किनारों में पानी के अन्दर भारी खनिज, नोबेल धातुएँ और इसी तरह के अवसाद पाये जाते हैं। रासायनिक और जैविक क्रियाओं के फलस्वरूप, पानी की अलग-अलग गहराइयों पर फॉस्फोराइट, ग्लाइकोनाइट (पोटैशियम, आयरन और एल्युमिनियम के हाइड्रेटेड सिलिकेट्स) और अन्य खनिज पाये जाते हैं।

दो अन्य प्रकार के खनिज अवसाद इन कान्टीनेन्टल शेल्फ के अन्दर पाये जाते हैं। सबसे पहले ये खनिज समुद्री वातावरण में ही बने थे, परन्तु अब जमीन पर भी पाये जाते हैं। फॉस्फेट और कुछ लौह अयस्क इसी श्रेणी में आते हैं। दूसरी श्रेणी में वो खनिज हैं, जो समुद्री वातावरण में तो नहीं बने हैं परन्तु कान्टीनेन्टल शेल्फ में कुछ गहराई पर उपस्थित हैं।

शोध छात्र, शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

शेल्फों से प्राप्त बालू और कंकड़ में मुख्य रूप से क्वार्ट्ज होता है, परन्तु अन्य खनिज, बहुधात्विक चट्टानें भी पायी जाती हैं।

समुद्र की आन्तरिक सतह पर फॉस्फेट ग्रन्थिकाओं, गोलियों (Pellets) और क्ले के आकार में जमा होता है। ये समुद्र में 30 से 400 मीटर की गहराई तक पाये जाते हैं। फॉस्फेटिक खनिजों में मुख्य रूप से फॉस्फोराइट हैं, जिन्हें क्लोरएपेटाइट या फ्रेंकोलाइट कहते हैं। इनमें साधारणतया 15-20 प्रतिशत तक फॉस्फोरस, P_2O_5 के रूप में होता है तथा अच्छी किस्मों में इसकी मात्रा 30 प्रतिशत तक हो सकती है। फॉस्फेट की इन ग्रन्थिकाओं का व्यास कई सेमी० तक हो सकता है तथा इनकी बाहरी सतह अनियमित आकार की होती है। शार्क मछलियों के दाँत या अन्य जीवाश्मीय अवशेष इन ग्रन्थिकाओं के केन्द्रक के रूप में होते हैं।

ये फॉस्फेट ग्रन्थिकायें सबसे पहले चैलेन्जर अभियान (1873-76) में एक वैज्ञानिक द्वारा दक्षिण अफ्रीका के समुद्री क्षेत्र में खोजे गये थे। इसके बाद अन्य जगहों पर भी खोज की गई। अब कई स्थानों जैसे जापान, अर्जेन्टाइना, संयुक्त राज्य अमेरिका का उत्तरी समुद्री किनारा तथा उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी समुद्री किनारे और संसार के अन्य जगहों पर भी ये फॉस्फेटिक ग्रन्थिकायें पायी जाती हैं। भारत में ये अंडमान द्वीप समूह के आस-पास तथा केरल के समुद्री किनारों के जल में भी पाये गये हैं। सम्पूर्ण पृथ्वी की सतह में 36 बिलियन टन फॉस्फेटिक खनिज हैं, जिनमें 85 प्रतिशत समुद्रीय मूल के हैं।

इन ग्रन्थिकाओं की उत्पत्ति कैसे हुई, इस बारे में अभी पूर्ण जानकारी नहीं है फिर भी, कुछ सिद्धान्त माने गये हैं। ज्वालामुखीय क्रियायें, ठण्डे पानी की धारायें और जैविक उत्पाद इन ग्रन्थिकाओं के निर्माण के मुख्य कारक हैं।

इसके अलावा समुद्री उत्खनन के द्वारा न केवल फॉस्फेट ग्रन्थिका बल्कि अन्य खनिज भी पाये जाते हैं जैसे—पेट्रोलियम—जो अनेक अन्य प्रकार के उत्पादनों—पेट्रोल, कैरोसिन, डीजल आदि। इसके अलावा प्राकृतिक गैसें, गन्धक आदि भी पाये गये हैं। इन खनिजों का हमारे लिए बहुत महत्व है। भारत में समुद्री उत्खनन की शुरुआत सन् 1963 में खम्भात की खाड़ी में नर्मदा नदी के मुहाने पर की गयी। इसके अलावा कच्छ की खाड़ी, समुद्रतटीय केरल, मन्नार की खाड़ी, कोरोमण्डल तट आदि क्षेत्रों में की उत्खनन किया गया।

समुद्री उत्खनन से प्राप्त खनिजों में निकिल, कोबाल्ट, मैंगनीज, कॉपर तथा आयरन प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त फेरोमैंगनीज ऑक्साइड और मोनाजाइट जैसे महत्वपूर्ण खनिज भी प्राप्त होते हैं। फेरोमैंगनीज ग्रंथिकाओं (Ferromanganese Nodules) में मुख्यतः मैंगनीज और आयरन होता है साथ ही कॉपर, निकिल तथा कोबाल्ट धातुओ की भी कुछ मात्रा इनमें विद्यमान होती है। यह फेरोमैंगनीज नोड्यूल अधिकांशतः आलू की तरह गोल आकार के होते हैं, जिनका व्यास 0·5 सेमी० से 25 सेमी० तक होता है। इनका औसत आकार 3 सेमी० है। इन ग्रंथिकाओं का रंग काला या कत्थई भूरा (Tan) होता है। काला रंग रंग मैंगनीज डाइऑक्साइड की अधिकता के कारण तथा भूरा रंग फेरिक ऑक्साइड की अधिकता के कारण होता है। कुछ फैरोमैंगनीज ग्रंथिकायें 2 लाख वर्ष तक के पुराने होते हैं। इन ग्रंथिकाओं की औसत वृद्धि दर 5 मिलीमीटर प्रति दस लाख वर्ष है। एक वैज्ञानिक पैटरसन (Pettersson) की 1943 की रिपोर्ट के अनुसार यह वृद्धि दर 1 मिमी० प्रति एक हजार वर्ष हैं।

प्रशान्तीय मैंगनीज ग्रन्थिकाओं (Manganese Nodules) में पायी जाने वालीं विद्यमान धातुयें

तत्व	प्रतिशत भार (शुष्क भार के आधार पर)
Mn	24.2
Fe	14
Si	9.9
Al	2 9
Na	2.9
Ca	1.9
Mg	1.7
Ni	0.99
Ti	0.67
Cu	0.53
Co	0.35
Pb	0.09
V	0.054
Mo	0.052
Zn	0.047
Y	0.016

मोनाजाइट में जोकि केरल और तमिलनाडु के समुद्री किनारे से उत्खनित किया जाता है, थोरियम और यूरेनियम जैसे महत्वपूर्ण तत्व पाये जाते हैं। प्रतिवर्ष अपने देश में 7000 टन मोनाजाइट का उत्पादन समुद्री उत्खनन से हो रहा है, जिसमें से 5000 टन तमिलनाडु, 1500 टन उड़ीसा तथा 500 टन केरल द्वारा उत्पादित होता है। भारत में समुद्री उत्खनन से कुछ अन्य पदार्थ जैसे—कोयला, प्राकृतिक तेल एवं गैस भी प्राप्त किये जा रहे हैं। जहाँ तक कोयले का सवाल है वह स्काटलैण्ड (जापान के तकनीकी सहयोग से) के अलावा कोई अन्य देश समुद्री उत्खनन से नहीं प्राप्त कर सका है। जबकि प्राकृतिक तेल एवं गैस विश्व के कई देशों तथा भारत में बाम्बे हाई (175 किमी दक्षिणी पश्चिमी बाम्बे) से 1981 से लगातार उत्पादित किये जा रहे है।

हाल ही में सेन्ट्रल साल्ट एण्ड मैरीन केमिकल्स रिसर्च इंस्टीट्यूट भावनगर ने समुद्री पानी से शोनाइट (Schoenite) उत्पादन की एक विधि विकसित की है। यह शोनाइट पोटैशियम और मैग्नीशियम का मिश्रित लवण है।

उपरोक्त सूचनाओं से स्पष्ट है कि समुद्रीय उत्खनन कार्यक्रमों में विस्तार करके हम खनिजों, तेल तथा प्राकृतिक गैस की आपूर्ति आसानी से कर सकते हैं। अतः आवश्यक है कि हमारी सरकार अपनी नीतियों द्वारा ऐसे कार्यों को बढ़ावा देने की कोशिश करे जिससे हम खनिजों एवं तेल के मामले में आत्मनिर्भर हों, समृद्ध हों।

●●

तनु फिल्म जगत् में एक नई क्रान्ति : हीरे की संरचना वाली तनु फिल्म

नकुल पाराशर

आज के इस इलेक्ट्रॉनिक्स के युग में बड़े इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों में उष्मा कुण्डों का विशेष स्थान है। इन उष्मा कुण्डों का आकार कई उपकरणों के लिए बड़ा एवं बनाने की लागत, दोनों स्थान एवं आर्थिक दृष्टि से काफी मँहगा पड़ता है। बड़े-बड़े उष्मा कुण्डों की इस त्रुटि को दूर करने की दृष्टि से तनु फिलम (परत) उष्मा कुण्डों का विकास हुआ, किन्तु इस दिशा में कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। इस कारण वैज्ञानिकों ने तनु फिलम जगत् के लिए वैकल्पिक पदार्थों की खोज की। इस संदर्भ में पिछले दशक में किये गये विभिन्न प्रयोगों से हीरे की संरचना वाली तनु फिलमों के निर्माण में वैज्ञानिकों को जो सफलता प्राप्त हुई है, उसने तनु फिल्म जगत में एक नई क्रान्ति पैदा की है।

हीरा वास्तव में कार्बन के दो प्रमुख वर्ग्रों में से एक हैं। तनु फिल्मों के जगत् में हीरे सदृश संरचना वाली तनु फिल्मों की अपनी विशिष्ट उपयोगिता है। विशेष कठोरता, रासायनिक संतृप्तता, ऊँची वैद्युत् प्रतिरोधता, श्रेष्ठ प्रकाशीय पारदर्शिता तथा उच्च तापीय चालकता आदि प्रौद्योगिकीय महत्व के गुणों के कारण इन फिल्मों ने पिछले दशक के पूर्वार्द्ध से वैज्ञानिकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। विश्व की मानी हुई डेढ़ दर्जन से अधिक तनु फिल्म प्रयोगशालाएँ हीरे सदृश संरचना वाली तनु फिल्में तैयार करने की दिशा में अनुसंधान कार्य में जुटी हुई हैं। वैज्ञानिकों के इस आकर्षण का मुख्य कारण प्रतिरक्षा, औद्योगिक एवं व्यापारिक क्षेत्र में इस प्रकार की तनु फिल्मों के उपयोग की नई विशिष्ट आवश्यकताओं का उत्पन्न होना है। विशेषकर सैन्य क्षेत्र के अनुप्रयोगों में थल, जल तथा वायु तीनों में टिकाऊ, कठोर एवं मजबूत तनु परतों से आरोपित सतहों की आवश्यकता होती है, जो हर प्रकार के वातावरण में अपनी कार्यक्षमता बनाये रखें। फ्रांस की शोध रिपोर्टों के आधार पर यह पुष्ट हो जाता है कि जैसे ढाई सौ मीटर प्रति सेकेण्ड की गति से उड़ रहे वायुयान के सामने वाली चालक खिड़की पर लगे अवरक्त इमेजर पर पड़ी, एक मि० मी० व्यास की एक जल की बूँद से समस्त इमेजर चकनाचूर हो गया। ऐसी अवस्था में सतह को धूल मिट्टी से हुए घर्षण के बाद भी चिकना रख उसकी प्रकाशीय क्षमता बनाये रखने में हीरे सदृश तनु फिल्में बहुपयोगी सिद्ध हुई हैं। इसके अतिरिक्त सौर सेलों की कार्यक्षमता को भी बढ़ाने में उक्त फिल्मों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। सिलिकॉन एवं गैलियम आर्सेनाइड के सौर सेलों पर इन फिल्मों के आरोपण से न केवल यांत्रिक सुरक्षा की पूर्ति होती है, वरन् अधिक प्रकाश के अवशोषण एवं उसके फलस्वरूप हो रहे उष्मा चालन में वृद्धि होती है। इसके व्यास सौर सेलो के निर्माण में लगने वाली लागत में कमी तथा कार्य क्षमता में अभूतपूर्व वृद्धि उल्लेखनीय है।

हड्डी एवं जोड़ों के प्रत्यारोपण में भी इन फिलमों का धीरे-धीरे पदार्पण हो रहा है।

चुम्बकीय ध्वनि रिकार्डिग में इनका प्रयोग आरम्भ हो चुका है, किन्तु इतने विशाल अनुप्रयोगात्मक परिसर का विस्तार अभी किया जाना बाकी है।

भौतिकी विभाग, दिल्ली इंजीनियरिंग कॉलेज, दिल्ली-6

हीरे सदृश संरचना वाली तनु फिल्मों की संरचनात्मक विशिष्टतायें

तनु फिल्मों के गुणात्मक अध्ययन के समय पारदर्शिता को पहला स्थान दिया जाता रहा है। विशुद्ध हीरा सबसे अधिक पारदर्शी पदार्थ है। इसकी पारदर्शिता की सीमा सौ नैनोमीटर से एक हजार माइक्रोमीटर के तरंगदैर्ध्य तक की है। एक उत्तम हीरे की संरचना वाली तनु फिल्म के लिए जिसका अवशोषण एक प्रतिशत से भी कम है, उसके लिए यह तरंगदैर्ध्य की सीमा दो माइक्रोमीटर से पन्द्रह माइक्रोमीटर रिकार्ड की गई है।

दृश्य वर्णक्रम में यह फिल्में भूरी दिखाई देती है ; जिससे यह स्पष्ट होता है कि प्रकाश का अवशोषण नीले रंग की तरफ बढ़ने पर होता है।

वर्णक्रम के विभिन्न अवयवों में उक्त फिल्म का अध्ययन करने पर यह पाया गया कि छः सौ नैनोमीटर के तरंगदैर्ध्य के पास रिकार्ड किये गये आरेख में विसंगति पाई गई है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इन फिल्मों की संरचना अमणिभ है और हीरे के साथ अन्य कार्बनिक वम्रो का फिल्मों में उपस्थित होना दर्शाता है।

हीरे की जटिल संरचना के कारण तनु फिल्म की आन्तरिक संरचना कार्बन की भाँति होती है, जिससे संरचनात्मक अध्ययन और भी जटिल हो जाता हैं। उक्त फिल्मों की पारदर्शिता के कारणों का संरचना की दृष्टि से समझना कठिन तो लगता है, परन्तु इससे कुल फिल्म की आन्तरिक स्थिति जैसे बन्धों की संख्या तथा प्रकृति दोनों का खुला सा ब्यौरा प्राप्त हो जाता है। आयन की सही ऊर्जा तरंग हेतु आवश्यक तापमान तथा ऊर्जा का होना एवं फिल्म रोपण के दौरान हाइड्रोजन की सही मात्रा में रासायनिक वाष्प का पाया जाना फिल्म की संरचना की सरल विवेचना के लिये प्रमुख एवं आवश्यक कारक है।

इसके अतिरिक्त रोपण पद्धति के द्वारा अशुद्धि घनत्व भी मापा जा सकता है। इस मापन से अन्य गैसों तथा अन्य अशुद्धियों के बारे में भी पता चलता है।

हीरे सदृश तनु फिल्म के अपवर्तनांक का परिसर 1.8 से 2.3 तक रिकार्ड किया गया है जो कि विशुद्ध हीरे के अपवर्तनांक जो कि 2.4 के काफी करीब है। इस अपवर्तनांक परिसर को हीरें के अपवर्तनांक तक ठीक केन्द्रित करने प्रयत्न किये जा रहे हैं। उक्त फिल्मों की उच्च प्रकाशीय उपयोगिता की नई जानकारी जरमेनियम तथा सिलिकन की सतहों पर आरोपित करने पर ज्ञात हुई है। इन उच्च अपवर्तनांकों वाले पदार्थों से गुजरने वाला प्रकाश करीब-करीब पूर्ण परावर्तित होता है। प्रकाश के अभियांत्रिक अनुप्रयोगों में अवरक्त दर्पणों व इमेजर्स पर धूल और मिट्टी से होने वाले घर्षण के कारण सतहों की उच्च कोटि पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए विस्तृत तरंग-दैर्ध्य परिसर के प्रयोग में लाये जा रहे साधारण अपरावर्तनीय तनु फिल्म से आरोपित जरमेनियम की कार्य क्षमता काफी घट जाती हैं तथा धूल-मिट्टी वाले वातावरण बहुत कम प्रभावी होती है। सतत शोध प्रयत्नों से यह पाया गया है कि हीरे सदृश तनु फिल्म से उक्त अवरक्त इमेजर साधारण तनु फिल्म से आरोपित इमेजर की तुलना में दस गुना अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। इसलिये अब रक्षा उपकरणों में हीरे सदृश तनु फिल्मों के प्रयोग पर अधिक बल दिया जाने लगा है।

अवरक्त वर्णक्रम में उच्च पारदर्शिता के साथ अन्य ऑक्साइडों की अपेक्षा हीरे की संरचना वाली तनु फिल्में अधिक कठोर तथा कम घर्षणांक की होती हैं। प्रकाशीय तथा यांत्रिक इन दोनों वर्गों के अनुप्रयोगों में उच्च घर्षण अवरोधक क्षमता पहली आवश्यकता होती है।

उच्च तापीय चालकता एवं उच्च वैद्युत प्रतिरोधकता इन तनु फिल्मों की अन्य विशिष्टतायें हैं। इसी कारण से इन फिल्मों का अनुप्रयोगात्मक क्षेत्र इलेक्ट्रॉनिक्स तक फैल गया है। इनका प्रयोग उच्च शक्ति वाले अर्ध-चालकों में विसंवाहक परत के रूप में होता है। नासा नामक विश्वविख्यात अमेरिकी शोध संस्थान में किये गये अनुसंधानों से बड़े-बड़े उष्मा कुण्डों का स्थान अब यह तनु परतें ले रही हैं।

इन फिल्मों की चिकनाई के अध्ययन से पाया गया है कि 633 नैनोमीटर तरंगदैर्घ्य वाली विक्षेपित प्रकाश की किरण को जब 0.3 माइक्रोमीटर मोटी फिल्म पर डाला गया, तो उक्त फिल्म की चिकनाई पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। स्कैनिंग इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी से 35000× से भी अधिक बारीकियों के अध्ययन के उपरान्त भी इन फिल्मों की सतह चिकनी ही पाई गई।

हीरे की तनु फिल्मों के निर्माण की तकनीकें

हीरे की तनु फिल्मों के निर्माण हेतु किये गये शोध कार्य से अब तक बारह से अधिक तकनीकें विकसित हो गई हैं। वर्तमान में जिन रोपण प्रक्रियाओं को प्रयोग में लिया जा रहा है, उनमें आयन अभिहनन, आयन अभ्र की सहायता से रासायनिक वाष्प रोपण, रेडियो आवृत्ति में विक्षेपित आयन पद्धति प्रमुख हैं। वास्तव में इन विधियों तथा अन्य सभी विधियों में उत्तेजित आयनों का रोपण किये जाने वाली सतह पर विस्फोटाभर्षण किया जाता है जिससे कुछ समय बाद एक तनु फिल्म सतह पर आरोपित हो जाती है। इन रोपण प्रक्रियाओं में रोपण दर एक दो अंगस्ट्रॉम प्रति सेकण्ड रिकार्ड की गई है।

यह दर आज की तनु फिल्म प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में काफी कम है। इसके अतिरिक्त प्रचलित रोपण तकनीकों में कुछ न कुछ अवांछित अशुद्धियों के कारण त्रुटियाँ प्रकाश में आई हैं। इन त्रुटियों में अनावश्यक मात्रा में हाइड्रोजन हो सकती है, जो विशेषकर मीथेन द्वारा इस फिल्म के निर्माण में शेष रहती है और अवांछित यौगिक बना कर उद्देश्य में बाधा डाल सकती है। उदाहरण के लिए हीरे के स्थान पर ग्रैफाइट आदि के घटक सामने आ सकते हैं। इन अवांछित यौगिकों के कारण पैदा हो रही अशुद्धियों के निराकरण हेतु लगातार प्रयोग किये जा रहे हैं और इस दिशा में अब तक आंशिक सफलता भी प्राप्त हुई है।

प्रकाशीय कोशिकाओं को जोड़ने के लिये विकसित निर्वात में सील बन्द करने की समस्या के निराकरण में आयन अभ्र का प्रयोग किया जाता है। असतलीय रैखिक क्षेत्रों पर आयन कणों के बराबर पड़ने से यह निर्वात में सील बन्द करने का कार्य और सुगम हो जाता है। इन कार्बनिक फिल्मों के इन कोशिकाओं पर रोपण से जहाँ इस रासायनिक संतृप्ता का दोहरा लाभ प्राप्त होता है वहीं एक समान एवं अधिक पकड़ के कारण इसका अनुप्रयोगात्मक क्षेत्र और भी व्यापक हो जाता है।

OO

नींद का विज्ञान

राजीव गुप्ता

कुछ लोग जल्दी सोओ, जल्दी जागो में विश्वास करते हैं, तो कुछ देर से सोने और देर से जागने में। खैर ये तो आदत की बात है। पर असल बात यह है कि नींद पूरी होनी चाहिए। दिन भर शरीर के साथ आपने जो भी ज्यादती की है, उससे निपटने और अगले दिन की भागम भाग के लिए चुस्त बने रहने के लिए गहरी ही नहीं, हल्की नींद भी जरूरी है। नींद के बारे में आँखें खोलने वाले तथ्य प्रस्तुत हैं, इस ललित विज्ञान सम्बन्धी रचना में।

वर्तमान 'गिनेस बुक आफ वर्ल्ड रिकार्ड्स' में शायद आपने कैलिफोर्निया, अमेरिका के राबर्ट मैकडोनाल्ड का नाम पढ़ा होगा, जिसने 18 दिन 21 घंटे और 40 मिनट तक लगातार जागते रहने का विश्व रिकार्ड कायम कियाँ है। सुनने में तो यह आश्चर्यजनक लगता है, परन्तु अक्सर लोग यह बात नहीं जानते कि हम न केवल आँखें खुली रखकर भी नींद ले सकते हैं, बल्कि हमें इस बात का पता तक नहीं चलता।

कई लोगों को आपने यह भी कहते सुना होगा कि "भई, मैं सारी रात सो नहीं पाया। बस, करवटें ही बदलता रहा।" यदि आप इन सज्जन की नींद की गहराई में जायेंगे तो पायेंगे कि वे रात में आधे घंटे से ज्यादा नहीं जागे थे। अध्ययनों द्वारा ज्ञात हुआ है कि जब आप रात को गलती से जाग जाते हैं, तो समय बहुत ही धीरे-धीरे गुजरता प्रतीत होता है। इसी कारण हमें लगता है कि हम सारी रात जागते रहे।

आखिर, आदमी सोता ही क्यों है? उसके लिए कितने घंटे सोना जरूरी है? अगर न सोये तो क्या होगा? और नींद का मानव-स्वास्थ्य पर क्या असर पड़ता है? कुल मिलाकर यदि नींद का विज्ञान बहुत रहस्यमय है, जिसे सुलझाने की कोशिश में वैज्ञानिक समाज काफी समय से जुटा हुआ है।

नवजात शिशु 16 से 24 घंटे तक सोता रहता है। बच्चे जैसे-जैसे बड़े होते जाते हैं, उनकी नींद की आवश्यकता कम होती चली जाती है। अमेरिका शोधकर्ताओं के अनुसार, 16 वर्षीय किशोर करीब 10 घंटे और विश्वविद्यालय के छात्र औसत 8 घंटे की नींद लेते हैं। कुछ विद्यार्थी तो अपनी पढ़ाई की आवश्यकतानुसार कम या ज्यादा सोते हैं।

अधेड़ होते-होते नींद की खुराक भी कम होती चली जाती है, यानी कि 45 से 60 साल के लोग लगभग 6 घंटे ही सो पाते हैं। कई बुजुर्गों को तो 4 घंटे से ज्यादा नींद ही नहीं आती।

दरअसल, होता यह है कि हम लोग दो प्रकार की नींद लेते हैं। एक होती है हल्की और दूसरी गहरी

नींद, जिसमें आदमी खर्राटे लेता हुआ सोता है। आदमी का मस्तिष्क ही कुछ ऐसा बना है, जो नींद में भी जागता है, चाहे वह अर्ध-चेतन अवस्था में रहे या आरम्भिक रूप से चेतन। वैज्ञानिकों ने सोते हुए व्यक्तियों के मस्तिष्क की विद्युत् गतिविधियों के ग्राफ (ई० ई० जी० या इलेक्ट्रोएन्सेफैलोग्राफ) द्वारा निद्रा की विभिन्न अवस्थाओं का पता लगाया है।

नींद पर की गई खोजों से पता चला है कि हम 5 अवस्थाओं वाली नींद लेते हैं, जिसमें 4 गहरी और एक हल्की नींद होती है। हल्की नींद में बन्द पलकों के नीचे भी हमारी पुतलियां हरकत करती रहती हैं, जबकि गहरी नींद के दौरान पुतलियां नहीं हिलती-डुलती।

जैसे-जैसे नींद गहरी होती जाती है, मस्तिष्क की तरंगें धीमी और निरन्तर एक-सी गति के लिए बहती रहती हैं, और सोने वाला आदमी चुपचाप लेटकर हौले-हौले और लगातार सांस लेने लगता है। इसी अवस्था में खर्राटों का जन्म होता है। इस प्रकार एक के बाद दूसरी फिर तीसरी और अन्त में चौथी अवस्था तक गहरी नींद का साम्राज्य कायम रहता है। चौथी या सबसे गहरी निद्रावस्था में दिमाग की विद्युत्-तरंगें न्यूनतम हरकत करती हैं। चौथी, यानी कि सबसे गहरी नींद के बाद यह चक्र उल्टा चलने लगता है और प्रथम अवस्था पर लौट जाने के बाद सोया हुआ व्यक्ति पांचवी अवस्था में पहुँच जाता है। इस अवस्था में हम मात्र 5 से 15 मिनट की हल्की नींद लेते हैं।

यह निद्रा-चक्र 4-5 बार दोहराया जाता है, जिसमें गहरी नींद धीरे-धीरे घटती जाती है और हल्की नींद का समय बढ़ता रहता है। एक आदमी अपनी 8 घंटे की कुल नींद में 2 घंटे की हल्की और 6 घंटे की गहरी नींद ले लेता है।

नींद की सभी गुत्थियां सुलझाने में तो बड़ा समय लगेगा। फिलहाल, ये देखें कि हमें सपने क्यूँ आते हैं। प्रयोगों से सिद्ध हुआ है कि हमारे दिमाग को हर रात सपनों का एक न्यूनतम राशन चाहिए और यह भी कि हमारे स्वास्थ्य के लिए गहरी नींद की कम और हल्की नींद की बेहद जरूरत है। उदाहरण के लिए एक प्रयोग में कुछ लोगों को आधी रात तक "हल्की" नींद से वंचित रखा, जिससे वे बाकी बची रात में खोई नींद का अभाव पूरा करने लगे। देखा गया कि कई ऐसे लोग जो जागते में ख्वाब या सोते में सपने भी नहीं देखते थे, वे भी "हल्की" नींद के अभाव में दिन में भी सपने देखने लगे।

निष्कर्ष यह निकला कि हल्की नींद की खुराक लेने से ही हम पागल होने से बचे रहते हैं। एक अन्य प्रयोग के दौरान यह भी देखा गया है कि पूरी नींद बीमारियों से लड़ने की शरीर की प्रतिरोधक-क्षमता बरकरार रहती है। ठीक तरह न सो पाने से हमारा स्नायु-तंत्र भलीभांति कार्य नहीं करता और सपनों की प्रक्रिया इसे सुचारू रूप से कायम रखने और प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने में मददगार साबित हुई है।

यह तो समझ में आया कि हल्की नींद और उस दौरान आने वाले सपने मानव.स्वास्थ्य के लिए हितकारी हैं, परन्तु हल्की नींद तो कुल नींद का मात्र चौथाई भाग है। इंसान को बाकी तीन-चौथाई समय में इतनी गहरी नींद लेने की क्या आवश्यकता है? आपको मालूम होगा कि ब्रिटेन की भूतपूर्व प्रधानमन्त्री **श्रीमती मार्गेट थ्रैचर** केवल 4 घंटे ही सोती रही हैं और तिस पर भी तरोताजा महसूस करती हैं। तो साहब, यह बताइये कि दुनिया भर के बाकी लोग अपनी एक-तिहाई जिंदगी बिस्तरे पर खर्राटे भरते हुए क्यों बर्बाद कर रहे हैं?

(इस्वा फीचर)

●●

मुश्किल है बचना मक्खी से

प्रदीप कुमार

आपको यह जानकर ताज्जुब होगा कि हत्याओं के हजारों मामलों में मक्खियाँ अदालत और पुलिस की मदद कर चुकीं हैं। होता यह है कि मक्खियाँ लाश की ओर आकर्षित होती हैं। अगर लाश पर घाव हैं तो वहीं डेरा जमाकर खाती-पीती हैं और अंडे भी देती हैं। अलग-अलग इलाकों में अलग-अलग किस्म की मक्खियाँ होती हैं। इसलिये अगर एक जगह की लाश किसी दूसरी जगह पहुँच जाये तो भी लार्वा बता देते हैं कि लाश कहां की है और लार्वा की आयु या अवस्था से लाश के पुरानेपन का अंदाज लगाया जा सकता है। कीट विशेषज्ञों का मानना है कि सामान्य मक्खियों और लाश पर दिये गये अंडों से पैदा मक्खियों के बीच भी अन्तर होता है। उन्हें पहचान कर भी सुराग लगाया जा सकता है।

यह करामाती मक्खी तब से धरती पर है, जब हत्यायें नहीं होती थीं। आदमी ही नहीं था तो हत्यायें होती कहां से। शुरुआत में मक्खी के दो जोड़ी पंख होते थे। करोड़ों साल के विकास के दौरान मक्खी के पिछले एक जोड़ी पंख गायब हो गये इनकी जगह ली दो छोटे मुगदर जैसे अंगों ने। उड़ान के दौरान ये 'पिस्टन' जैसा काम करते हैं। मक्खी के अगले एक जोड़ी पंख और ये 'पिस्टन' एक ही लय में फड़फड़ाते हैं। पर 'पिस्टनों' की दिशा विपरीत होती है। इससे मक्खी की उड़ान ज्यादा कुशल और टिकाऊ बन जाती है।

मक्खी की उड़ान को कुशल बनाने में इसके शरीर के बाहरी ढांचे का भारी योगदान है। काइटिन और प्रोटीन से बना यह ढांचा बेहद लोचदार होता है। अगर एक बार मक्खी ने पंख फड़फड़ा दिये तो चार बार यह अपने आप ऊपर-नीचे होता रहता है। यानी मक्खी पेशियों को केवल हर पांचवी फड़फड़ाहट के लिए काम करना पड़ता है। यही वजह है कि मक्खी एक सेकंड में दो सौ बार पंख फड़फड़ा लेती है। बेहद कुशल कही जाने वाली चिड़िया 'हमिंग बर्ड' भी इसकी तुलना में केवल एक-तिहाई बार ही पंख फड़फड़ा पाती है। इसके बावजूद मक्खी की उड़ान को तेज उड़ान नहीं कहा जा सकता। कारण यह एक घंटे में ज्यादा से ज्यादा आठ किलोमीटर का फासला तय कर पाती है।

मक्खी उड़ने में सुस्त भले ही हो पर फुर्तीलेपन में इसका कोई सानी नहीं। खासतौर में मुसीबत के वक्त। अगर हम इसे पकड़ना चाहें तो यह दुगनी रफ्तार से भागती है। इसकी सहज क्रियायें (रिफ्लेक्स एक्शनस) हमसे कई गुना तेज है। हम हाथ उठायेंगे भी नहीं कि यह भाग खड़ी होगी। कभी अद्भुत कलाबाजी खाकर तो कभी चक्करदार उड़ान भर के। इसकी कलाबाजियां किसी भी कुशल 'एक्रोबैट' को चमत्कृत कर सकती है। यह कई बार कुदरती नियमों को भी ताक में रख देती है।

द्वारा डी-720, सरस्वती विहार, दिल्ली-110034

मक्खी उड़ते-उड़ते कमरे की छत (सीलिंग) पर बैठ जाती है। ऐसा लगता है जैसे यह उल्टी लटकी हो। ऐसा करने के लिये मक्खी अपने अगले पैर आगे की ओर सीधे ऊपर कर लेती है और फिर छत पर समकोण बनाती हुई उतरती है। इसके पैरों में सतह से चिपकने वाले 'पैड' लगे होते हैं। इनके सहारे टिकी मक्खी धीरे से अपना पूरा शरीर ऊपर खींच लेती है और फिर इसी दशा में (यानी उल्टी अवस्था में) आराम से मटरगश्ती करती है।

इतनी कुशल उड़ान और करतबों के लिये उतने ही कुशल नियन्त्रण अंगों का होना भी जरूरी है। हवा के बहाव की दिशा को दिमाग में दर्ज करने के लिये कुदरत ने मक्खी के सिर पर दो 'एन्टीना' लगाये हैं। जैसे ही हवा के बहाव की दिशा बदलती हैं, मक्खी सचेत हो जाती है और अपनी उड़ान में उपयुक्त बदलाव लाती है। आपको जानकर ताज्जुब होगा कि मक्खी के 'एन्टीना' सूंघने का काम भी करते हैं। मक्खी इन्हीं की मदद से अपने भोजन की ओर उड़ती है। कहते हैं मक्खी के सिर पर मौजूद तीन छोटी-छोटी आँखें भी उड़ान में मदद करती हैं। इन्हें 'ऑसिलाई' कहते हैं। देखने के लिये दो बड़ी आँखों का इस्तेमाल किया जाता है। इतनी बड़ी कि सिर पर आँख ही आँख दिखाई देती है।

मक्खी की इन विशाल आंखों को संयुक्त आंख (कंपाउंड आई) कहा जाता है। कारण कि हर आंख कोई चार हजार लेंसों से मिलकर बनती है और हर लेंस एक अलग दिशा में 'फोकस' करता है। इस तरह मक्खी के दिमाग में अपने आस-पास का पूरा चित्र उभरता है। इन्हीं हजारों लेंसों की वजह से मक्खी का दिमाग बड़ी तेजी से दृश्यों को दर्ज करता है। यह एक सेकंड में दो सौ से ज्यादा दृश्य देख सकती है। जबकि हमारा दिमाग एक सेकंड में केवल **24** दृश्य दर्ज कर सकता है।

विशाल आंखों की वजह से मक्खी को आस-पास का दृश्य तो पूरा दिखाई देता है, पर इनकी मदद से यह अपना भोजन नहीं ढूंढ पाती। भोजन ढूंढने के लिये मक्खी को सूंघने वाले 'एंटीना' पर भरोसा करना पड़ता है। रात भर कोने में दुबके रहने के बाद सुबह मक्खी को तेज भूख लगती है। सबसे पहले यह अपने को साफ करती है। फिर हवा में भोजन की महक सूंघने के लिए उड़ पड़ती है। जैसे ही महक मिलती है यह उस ओर उड़ लेती है। ध्यान रहे यह महक हमारे लिये तेज बदबू हो सकती है। भोजन के आस-पास पहुँचने पर यह उतर लेती है और तेज-तेज चलने लगती है। भोजन को चखने का काम मक्खी के पैर करते हैं। इसके पैरों की नोक पर 'स्वाद कलिकाएं' मौजूद होती हैं। ठीक वैसे ही जैसे हमारी जीभ होती है। इससे मक्खी को पता लगता है कि भोजन नमकीन है या खट्टा। कड़वा है या मीठा। चिपचिपा है या द्रव या फिर ठोस।

एक बार भोजन की पहचान हो जाने पर बाकी का काम काफी आसान है। मक्खी के 'एंटीना के नीचे से एक 'ट्यूब' जैसी संरचना बाहर निकलती है। इसे 'रोस्ट्रम' कहते हैं। मक्खी इसी से अपना भोजन चूसती है। मादा मक्खी एक बार में सौ से ज्यादा अंडे देती है। अंडे देने के लिये इसे गंदी जगह तलाशनी पड़ती है, जैसे पशुओं या मानव का मल, सड़े हुए खाद्य पदार्थ वगैरह। अंडों से एक दिन से भी कम समय में 'मैगट' या 'लावा' बाहर आ जाते हैं। एक जोड़ा मक्खी कितनी संतान पैदा कर सकती है ? वैज्ञानिकों ने इस कठिन सवाल का हल खोजा है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक कार्ल वान फिश के अनुसार चार पीढ़ियों की तादाद सवा करोड़ से ज्यादा होगी। पर मक्खियों की इतनी तादाद भी हमारे लिये कम सिर दर्द नहीं।

मक्खी का गंदी जगहों पर रहना और गंदी चीजों को खाना ही हमारे लिये खासी समस्या बन गया है। मक्खी के अपने शरीर में कोई रोग पैदा करने वाला कीटाणु या जर्म नहीं पनपता। पर गंदगी से ऐसे ढेरों जर्म पनपते हैं। जब मक्खी मजे से गँदगी का रसास्वादन कर रही होती है तो ये जर्म उसके पैरों से चिपक जाते हैं। फिर जब यही मक्खी हमारे खाद्य पदार्थों पर बैठती है तो ये जर्म वहाँ छूट जाते हैं। इस तरह ये हमारे शरीर में पहुँचकर कई रोग पैदा करते हैं। पेचिश डायरिया समेत पेट के कई रोगों के जर्म मक्खी के जरिये ही हम तक पहुँचते हैं। माना जाता है हैजा और तपेदिक के जर्म भी मक्खी ही फैलाती हैं।

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान डीडीटी की खोज होने पर लगा कि अब मक्खियों का सफाया हो जायेगा। 1945-47 के दौरान लगभग पूरी दुनिया ने करोड़ों टन डीडीटी इस्तेमाल किया। पर 1947 में ही दुनिया के कुछ हिस्सों से एक चौंकाने वाली खबर आई—अब मक्खियां डीडीटी से नहीं मरतीं। 1948 में दुनिया के हर कोने से यही खबर थी। वैज्ञानिकों ने बताया कि मक्खियों ने डीडीटी के विरुद्ध प्रतिरोधी क्षमता विकसित कर ली है। एक बार फिर कई नये पुराने कीटनाशकों पर जोर आजमाईश शुरू हो गई। सालों बाद वैज्ञानिकों ने फैसला सुनाया कि मक्खी पर विजय पाना लगभग असंभव है। यह हर रसायन के विरुद्ध प्रतिरोधी क्षमता विकसित कर लेगी। यह कड़वा सच आज भी अपनी जगह बरकरार है।

हाँ, इतना जरूर है कि घरों के अन्दर खाद्य पदार्थों को मक्खियों के हमले से बचाना मुमकिन है। इसके लिए खिड़कियों-दरवाजों पर महीन जाली लगाई जा सकती है मक्खियों को चिपका लेने वाले 'फ्लाई पेपर' भी बाजार में मिलते हैं। आजकल कुछ खास किरणें फैलाने वाली ट्यूब लाइट भी बनी है। मक्खियां इन किरणों के घेरे में कदम नहीं रखतीं। भोजनालयों के लिए यह एक आदर्श बंदोबस्त है। (सम्प्रेषण)

●●

अधिक पानी पीकर बुढ़ापा रोकिए

राजेन्द्र प्रसाद

विभिन्न वैज्ञानिकों का मत है कि कुछ विशिष्ट खाद्यों और पोषक तत्वों का नियमित रूप से ही उपभोग करके आप वृद्धावस्था के लवणों को कम ही नहीं कर सकते, बल्कि रोक भी सकते हैं। इसमें जल का अपना एक विशेष महत्व है।

प्राचीन काल में हमारे ऋषि-मुनियों ने अपने अनुभवों के आधार पर सिद्ध किया था कि मानव शरीर पाँच तत्वों—पृथ्वी, आकाश, वायु, जल एवं अग्नि से मिलकर बना है। जिसका उल्लेख अनेक प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है यथा—'क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा'। आधुनिक काल के वैज्ञानिकों ने अपने गहन प्रयोगों से सिद्ध किया है कि हमारे शरीर का दो तिहाई भाग जल है। शेष ठोस वस्तु तथा कुछ भाग वायु है।

सभी जानते हैं कि हम जल के बिना जीवित नहीं रह सकते। जल एक अनमोल वस्तु है। यह मानव जीवन के लिए उतना ही आवश्यक है। जितनी वायु। जो जल हम पीते हैं, वह भोजन के साथ मिलकर पेट में भोजन को घोल देता है और उसे पचाने में सहायता देता है। पिया हुआ जल भोजन के साथ मिलकर रक्त में होकर सारे शरीर में फैल जाता है। हमारे रक्त में पांच भाग में लगभग चार भाग जल का है। वह निरन्तर खर्च होता रहता है। शरीर में खून के साथ रहकर जल का जो भाग दूषित तथा हमारे शरीर के लिए अनुपयोगी हो जाता है, उसका कुछ भाग पसीना बनकर और शेष भाग मूत्र बनकर निकल जाता है। सामान्यत: एक आदमी दिन भर में दस से पन्द्रह लीटर तक पानी विभिन्न रूपों में पी जाता है।

सामान्यत: बीस वर्ष से अधिक आयु के व्यक्तियों की त्वचा को प्राकृतिक रूप से आर्द्रता प्रदान करने वाली पसीने एवं तेल की अधिकांश ग्रन्थियाँ बन्द हो जाती है। त्वचा का ऊपरी सतह भी पतली हो जाती है। इसलिए त्वचा नमी नहीं बनाये रख पाती। वैसे भी हम मूत्र तथा पसीने के रूप में प्रतिदिन जो जल शरीर से निकल जाने देते हैं, उसकी पूर्ति के लिए यदि हम पर्याप्त पानी नहीं पीते तो शरीर अपनी जल सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति के लिए त्वचा की कोशिकाओं सहित सभी कोशिकाओं से जल खींचना शुरू कर देता है।

परिणामस्वरूप हमारी त्वचा और भी शुष्क एवं जीर्ण हो जाती है। इस शुष्कता को यदि कम करना चाहते हैं तो बड़े गिलास से दस से पन्द्रह गिलास नक पानी प्रतिदिन हमें पीना चाहिए, ताकि बुढ़ापा जल्दी न आये।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि जल की रोजमर्रा की खुराक में चाय, काफी एवं शीतल पेयों आदि जैसे पदार्थ को शामिल नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि इन पदार्थों में कैफीन जैसा तत्व मिला होता है। जो मूत्रवर्धक होते हैं। त्वचा से जल के क्षय की दृष्टि से भी ये तत्व मद्य सा ही काम करती है। (सम्प्रेषण)

OO

राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण के लिए समर्पित भारत जन विज्ञान जत्था-92

देश में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों चाहे जैविक हों या अजैविक उनके बेहतर उपयोग एवं संवर्धन की दिशा में विगत 4 दशकों से हम नित नवीन विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के द्वारा निरन्तर सादृश उत्पादन रोजमर्रा की उपयोगी वस्तुओं का औद्योगिक उत्पादन के साथ-साथ स्वास्थ्य, स्वच्छ पेयजल, ऊर्जा, पर्यावरण तथा आवास के सुलभ उपाय खोजने में दिनों दिन कामयाबी हासिल कर रहे हैं। इतना सब कुछ होते हुए भी हमारे देश में निरक्षरता, स्वच्छ पेयजल, कुपोषण गरीबी व बेरोजगारी आदि समस्यायें अपना मुँह फैलाये हैं। जिनके निराकरण के लिए हर नागरिक को अपनी दैनिक जिन्दगी में विज्ञान को जोड़ना आवश्यक है क्योंकि गरीबी, अशिक्षा व बढ़ती हुई जनसंख्या समाज में व्याप्त असमानता, अन्ध विश्वास व रूढ़वादिता ही जीवन के समग्र विकास में मूल अवरोध बनी हुई है। इन कुरीतियों का पर्दाफाश जन जागृति एवं वैज्ञानिक आधार पर महत्व की जानकारी देकर किया जा सकता है। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद् (विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग, भारत सरकार) ने राष्ट्रीय स्तर पर भारत जन विज्ञान जत्था-92 के नाम से एक जन आन्दोलन चलाने का प्रण किया है। इस आन्दोलन को मूर्त रूप देने के लिये प्रसिद्ध अन्तरिक्ष वैज्ञानिक प्रो० यशपाल की अध्यक्षता में राष्ट्रीय आयोजन समिति का गठन किया जा चुका है। जिसको मूल उद्देश्य एवं गतिविधियों में शत-प्रतिशत भागीदारी अपनाने हेतु उत्तर प्रदेश में राज्य आयोजन समिति गठित की गई है। जिसमें विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग, उत्तर प्रदेश शासन व उसके आधीन कार्यरत स्वायत्तशासी संस्था विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी परिषद्, उ० प्र०, लखनऊ के नेतृत्व तथा उत्प्रेरण में प्रदेश की स्वयं सेवी संगठनों व संस्थाओं के सहयोग से प्रदेश के 13 मण्डलों में जत्था कार्यक्रम के सफल संचालन हेतु मण्डल संयोजकों का चयन किया जा चुका है। जिनकी निगरानी एवं सेवा समर्पण में सम्बन्धित क्षेत्रीय स्वयं सेवी संगठन व शिक्षण संस्थायें अपनी स्थानीय समस्याओं जैसे स्वास्थ्य, पोषण, स्वच्छता, स्वच्छ-पेयजल, जलमल विकास, आवास, बेरोजगारी, सामाजिक असमानता रूढ़वादिता व अंधविश्वास आदि मुद्दों से जुड़ी सूचनाओं का संकलन करने तथा उसके निदान हेतु जनजागरूकता के साथ वैज्ञानिक लोक प्रियता तथा वातावरण स्थापित कर रही हैं। जिनका आधार सरल विज्ञान साहित्य का वितरण, वैज्ञानिक आधार से जुड़े माडलों का प्रदर्शन, जन चेतना, लोक गीत, नृत्य, वाद-विवाद, प्रहसन, चुटकुले, निबन्ध लेखन, छात्र-छात्राओं में ज्ञान विज्ञान प्रतियोगिताओं के माध्यम से विज्ञान के महत्व को जन-जन तक पहुंचाने का प्रयास कर रही है। वर्ष 1987 व 1990 में भी राष्ट्रीय स्तर पर भारत जन जत्था तथा भारत ज्ञान विज्ञान जत्था कार्यक्रम का आयोजन किया जा चुका है। जिसमें अपनाये गये विषयों जैसे स्वास्थ्य, सफाई, साक्षरता, गरीबी उन्मूलन के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता व शान्ति अभियान से राष्ट्र के विकास में काफी गति मिली। इस स्वावलम्बी व वैज्ञानिक जन प्रेरणा व चेतना जुड़ा भारत जन विभाग जत्था 92 का वास्तविक स्वरूप आगामी 2 अक्टूबर 1992 से 7 नवम्बर, 1992 (गाँधी जयन्ती से रमन जयन्ती दिवस) तक सम्पूर्ण भारत में हर राज्यों की भाँति उत्तर प्रदेश में भी प्रादेशिक स्तर पर तीन दिवसीय आयोजित होने वाली कार्यशाला, संगोष्ठी सम्मेलन प्रदर्शनी आदि के आयोजन की सफलता से सिद्ध होगा। जत्था के सम्बन्ध में अपनायी जाने वाली भविष्य की रणनीति तथा उसका मार्ग तय किया जायेगा तथा जिला स्तरीय गठित समितियों द्वारा किये

गये साफ्टवियर का मूल्यांकन किया जायेगा। प्रदेश के 10,000 गाँवों को इस आन्दोलन की सक्रियता में लाया जायेगा। इसके लिए राज्य आयोजन समिति द्वारा व्यापक तैयारियाँ की जा रही हैं।

राष्ट्र के विकास से जुड़ी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की उपलब्धियों व शोध परिणामों को जनसामान्य खासकर ग्रामीण जनता तक पहुँचाने व लाभ प्राप्त करने में मात्र सरकारी व गैर सरकारी संस्थाओं की भागीदारी तब तक पर्याप्त नहीं होगी जब तक समाज का हर व्यक्ति, वर्ग तथा रचनात्मक सोच वाला बुद्धि जीवी अपनी प्रतिभा, साहस व मानवीय दृष्टिकोण का सद्पयोग करने हेतु आगे कदम नहीं बढ़ाता है क्योंकि सहयोग व सहभागिता के बिना समाज में व्याप्त असमानता, रूढ़वादिता तथा अंधविश्वास की परम्परा खत्म नहीं हो सकती है जो अपनी आत्म-निर्भरता, के साथ सुख समृद्धि व दीर्घ जीवन के सिवा स्वप्न को साकार बनाने के साथ-साथ देश के भविष्य को एक नयी दिशा दे सकते हैं।

आह्वान

अपने समाज के नवनिर्माण व कायाकल्प के लिए इस साहसिक विशाल जन आन्दोलन में शामिल होने के लिये समाज में स्वाभिमान व आत्मनिर्भरता के साथ जीने का हक रखने वाला हर नागरिक इस राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिये समर्पित भारत का जन विज्ञान जत्था-92 जैसे विशाल जन आन्दोलन में अपनी रचनात्मक भागीदारी के लिए अमन्त्रित है।

अधिक जानकारी एवं बहुमूल्य सुझाओं के लिए निम्न पते पर सम्पर्क करें :

निवेदक

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी परिषद्, उत्तर प्रदेश,
बी-144, सेक्टर-सी, महानगर,
लखनऊ-226006

अध्यक्ष

राज्य आयोजन समिति, उत्तर प्रदेश
10/524, राम भवन,
विधान सभा मार्ग, हुसैनगंज,
लखनऊ-226001

○○

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक का नाम : गाँव के कचरे के नये उपयोग

लेखक : डॉ० शिव गोपाल मिश्र एवं डॉ० अजय सिंह

प्रकाशक : राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद्,
विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग, भारत सरकार,
नई दिल्ली एवं नरेन्द्र देव कृषि एवं प्रौद्योगिक
विश्वविद्यालय, नरेन्द्रनगर (कुमारगंज) फैजाबाद

प्रथम संस्करण : 1991

मूल्य : 20 रुपये मात्र

राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद्, भारत सरकार नई दिल्ली के पूर्ण समर्थन से ग्रामोपयोगी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी प्रसार साहित्य परियोजना के अन्तर्गत प्रकाशित यह पुस्तक कृषि सम्बन्धी विभिन्न अपशिष्टों/व्यर्थ पदार्थों के उपयोग से सम्बन्धित रोचक एवं महत्वपूर्ण जानकारी से युक्त है। पुस्तक के प्रथम अध्याय में गाँव के कचरे के प्रमुख स्रोतों, प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है। विभिन्न फसलों से प्रतिवर्ष प्राप्त होने वाले कचरे की मात्रा से सम्बन्धित महत्वपूर्ण आँकड़ों का भी समावेश इस अध्याय में किया गया है। कृषि अपशिष्टों के अतिरिक्त पशु आधारित कचरे तथा मानव आधारित सामुदायिक कचरे के प्रकारों का वर्णन भी किया गया है। पुस्तक के दूसरे अध्याय में गाँव के कचरे से विविध प्रकार के उत्पादनों यथा कम्पोस्ट-उत्पादन, एल्कोहॉल-उत्पादन, बायोगैस-उत्पादन कागज-उत्पादन, पौष्टिक-चारा-उत्पादन तथा तेल-उत्पादन का विवरण दिया गया है। पुस्तक में जगह-जगह रेखाचित्रों के माध्यम से विषयवस्तु को सुग्राह्य बना दिया गया है। तीसरे अध्याय में धान के कचरे (पुआल, भूसी) से तैयार होने वाले विभिन्न उत्पादों यथा ईंट, ईंधन, सिलिका, सक्रिय कोयला, तेल, बिस्कुट आदि पदार्थों से सम्बन्धित आश्चर्य-जनक एवं रोचक सामग्री दी गयी है। चौथे अध्याय में मक्का के कचरे के उपयोग के विषय में यह बताया गया है कि इसकी गिल्ली से कोयला बनाया जा सकता है। इसकी राख से टमाटर, बैंगन, और भिण्डी के रोग-नियन्त्रण में सफलता मिली है। पशुओं को घरेलू हानिकर कीटों से बचाने हेतु भी मक्के की राख काफी उपयोगी साबित हुई है। रसोई के बर्तनों की सफाई हेतु, मकानों के ईंट और पत्थर बनाने हेतु, मकानों की काई नष्ट करने हेतु तथा कपड़ों की धुलाई एवं धब्बे छुटाने हेतु भी इसकी राख का घोल बनाकर छिड़काव करने से सफलता प्राप्त हुई है। पाँचवें अध्याय में कपासके कचरे के विविध उपयोग—बिनौले की खली और आटा जैसी सामग्री तैयार करने से सम्बन्धित जानकारी

दी गयी है। छठें अध्याय में आम की गुठलियों से वसा, स्टार्च तथा छिलके से पेक्टिन तैयार करने के विषय में बताया गया है। सातवें अध्याय में बताया गया है कि नारियल के तनों, पत्तियों से छप्पर तथा इसकी जटाओं से चटाइयाँ, सोफे, गद्दे आदि तैयार किये जा सकते हैं। आठवें अध्याय में फलों एवं सब्जियों (यथा सेब, अंगूर, अमरूद, नारंगी, नींबू, टमाटर, मटर आदि) के व्यर्थ बीजों के नये उपयोगों से सम्बन्धित जानकारी दी गयी है। नवें अध्याय में हरी वनस्पति आधारित कचरों से प्रोटीन प्राप्त करने तथा कम्पोस्ट तैयार करने की विधियाँ दी गयी हैं। बायोगैस संयन्त्र के विषय में भी इस अध्याय में जानकारी दी गयी है। दसवें अध्याय में नीम के कचरे के विविध उपयोगों तथा इसके औषध गुणों के बारे में बताया गया है। ग्यारहवें अध्याय में अन्य कृषि कचरों के नये उपयोग तथा बारहवें अध्याय में प्राणीजन्य कचरे के प्रमुख उपयोगों के विषय में बताया गया है। कुल मिलाकर 88 पृष्ठों की इस पुस्तक में जो भी जानकारी दी गयी है वह बड़ी सारगर्भित, रोचक एवं सुग्राह्य है। इस पुस्तक में प्रूफ से सम्बन्धित गलतियाँ कुछ अधिक ही हैं, इससे पुस्तक की छवि पर आँच आयी है। फिर भी, पुस्तक अपने आप में अच्छी ही कही जायेगी। लेखकद्वय एवं प्रकाशक सभी साधुवाद के पात्र हैं।

—डॉ० दिनेश मणि
संयुक्त मन्त्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद-211002

नदियों में बह रहे जहर का कहर

राजेन्द्र कुमार राय

पिछले दिनों केन्द्रीय जल प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड के वैज्ञानिकों ने दिल्ली में यमुना नदी के पानी की जाँच की। पाया कि मनुष्य तो क्या अब यमुना का पानी जानवरों के पीने लायक भी नहीं रहा। इसके एक सौ मिलिलीटर पानी यानी एक चाय के कप जितने पानी में दस लाख जीवाणु पाये गये। तरह-तरह के रोग पैदा करने में सक्षम इन जीवाणुओं से समृद्ध इस जल के स्नान तक में उपयोग कर लेने भर से कई तरह के विकट चर्म रोग सकते हैं।

यमुना ही क्यों देश की सारी नदियों का यही हाल है। सारे देश के पापों को कथित रूप से धोने वाली गंगा वास्तव में तो पापों को ढो रही है। इसके किनारे बसे 1500 उद्योगों ने अपना जहरीला पानी उसमें मिला दिया हैं और यह सिलसिला लगातार जारी है। यमुना के किनारे लगे उद्योग इस नदी में साठ डिग्री सेल्सियस गरम पानी छोड़ने का काम मुस्तैदी से कर रहे हैं। यही हाल देश भर की नदियों का है। इस जहरीले पानी से मछलियाँ मरने लगी हैं। अप्रैल 1984 में लखनऊ के पास गोमती में गन्दगी भर जाने से हजारों मछलियाँ खत्म हो गई। आज मछलियाँ मर रही हैं तो क्या कल हम मरेंगे ?

अपनी चौदह सौ किलोमीटर लम्बी यात्रा में यमुना शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में मानवीय सभ्यता के विकास की देन के रूप में ग्यारह हजार क्विन्टल कचरा लेकर संगम (इलाहाबाद) पहुंचती है। इसमें प्रतिदिन 2461 क्विन्टल कचरा राजधानी दिल्ली में ही गिराया जाता है। जबकि दिल्ली से पहले के पूरे 450 किलोमीटर के क्षेत्र में 3069 क्विन्टल कचरा गिराया जाता है। दिल्ली में तो यमुना गटर का रूप ले चुकी है। वजीराबाद बाँध और जैतपुर के बीच पच्चीस किलोमीटर के हिस्से में प्रतिदिन 21 करोड़ गैलन गन्दगी बहा दी जाती है। दिल्ली में रोजाना मल-जल सहित 35 करोड़ गैलन गन्दगी एकत्र होती है, जिसमें से 21 करोड़ गैलन पन्द्रह बड़े नालों के जरिये यमुना में डाल दी जाती है। केवल चौदह करोड़ गैलन गन्दा पानी ही जल शोधन संयन्त्रों के द्वारा साफ कर खेती के इस्तेमाल में लाया जाता है।

दक्षिण की प्रसिद्ध नदी कावेरी के बहुत बड़े हिस्से में जलजीवन समाप्त होने लगा है। जलजीवों की बहुत सी प्रजातियाँ अब उनमें खत्म हो गई हैं। कर्नाटक की एक और नदी तुंगभद्रा पर भी ख़तरे के बादल मँडराने लगे हैं। बंगलौर के पास पानी का रंग काफी की तरह काला पड़ने लगा है। यही हाल कपिला, जीजारी, पैरियार, चालियार, कालू, दामोदर, लूनी और बांदी का भी है और जब ये नदियाँ अपना प्रदूषित जल लेकर समुद्र में मिलती हैं तो वहाँ भी व्यापक असर पड़ता हैं और सारा वातावरण संक्रामक बन जाता है।

एक औद्योगिक शहर मोदी नगर के हवा पानी तक में जहर घुल चुका है। वहाँ चार दर्जन से ज्यादा छोटे-बड़े कारखाने दिन रात हवा पानी को गंदा कर रहे हैं। स्टील, साबुन, चीनी, शराब, सिंथेटिक धागा, कागज, गैस

सम्पर्क सूत्र : डी-720, सरस्वती बिहार, दिल्ली-110034

तथा टायर वगैरह बनाने वाले इन उद्योगों के कचरों ने वहाँ की जमीन के नीचे तक का पानी खराब कर दिया है और प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड दर्शक बना देख रहा है।

ऐसी बात नहीं है कि हमारे माहौल पर प्रदूषण के नियन्त्रण हेतु कानून नहीं बनाये जाते हैं। पानी का प्रदूषण रोकने के लिये सर्वप्रथम 1974 में ही एक कानून बनाया गया था। उसके बाद इसमें कई परिवर्तन किये गये। बात पर्यावरण अदालतों तक पहुँची। प्रदूषण की रोकथाम के लिए कठोर कानून भी सामने लाये गये, लेकिन यह कैंसर की तरह बढ़ता ही रहा हैं।

आज हमारे समाज का सच यह हो गया है कि पर्यावरण को बचाने के लिए नये-नये कानून बनाये जा रहे हैं, लेकिन विकास की धारणाएँ और उन धारणाओं को पालने-पोसने वाली इस जीवन शैली में कानून महत्वपूर्ण होकर रह जाते हैं और तो और इस समस्या के समाधान के लिये जो हल सुझाये या दिखाये जाते हैं, वे कुछ दिन बाद स्वयं एक नई समस्या बन कर सामने खड़े हो जाते हैं।

यमुना के प्रदूषण को रोकने के लिये आज से चार वर्ष पूर्व एक उच्चस्तरीय समिति बनाई गई थी। इसने कई सुझावों के साथ एक रिपोर्ट तैयार की थी जिसे बाद में अनुमोदन के लिये 'शहरी विकास मन्त्रालय' को भेजा गया था। मन्त्रालय ने समिति के सुझावों को गम्भीरती से नहीं लिया। लिहाजा यमुना में बढ़ रहे प्रदूषण को रोकने के लिये प्रभावी ढँग से कुछ भी नहीं किया जा सका। राजधानी में जब सरकार और केन्द्रीय प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड की नाक के नीचे दिल्ली की यह स्थिति है तब देश के और दूसरे शहरों की क्या स्थिति होगी?

गंगा उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल से होकर बहती है। इसके थाले में 692 छोटे-बड़े शहर बसे हैं। सरकारी आकलन के अनुसार गंगा का तीन चौथाई पानी इन नगरों की गंदगी के कारण प्रदूषित हुआ है। गंगा सफाई अभियान के अन्तर्गत मात्र एक लाख से ऊपर आबादी वाले 27 नगरों को लिया गया और शेष नगरों को छोड़ दिया गया। वाराणसी में जून 14, 1986 को फ्रांस की सीन नदी का पानी गंगा में मिलाकर जिस नाटकीयता के साथ गंगा कार्य योजना की शुरुआत की गई थी, वह एक अनबुझ पहेली बन कर ही रह गई, क्योंकि गंगा का प्रदूषण तो ही रहा।

केन्द्रीय जल आयोग ने अपनी एक रिपोर्ट में कहा है कि अगर शीघ्र असरदार कदम नहीं उठाये गये तो भविष्य में देश को जल प्रदूषण के साथ पीने के पानी की समस्या से भी जूझना होगा। रिपोर्ट में कहा गया हैं कि बढ़ते जल प्रदूषण को रोकने के लिए फौरन कुछ नहीं किया तो घरों में पीने का पानी मिलना भी कठिन हो जायेगा। आयोग का मानना है कि केवल कानूत बनाना ही काफी नहीं हैं, इसे ईमानदारी से लागू भी किया जाना चाहिये। लोगों को सचेत किया जाना चाहिये कि पर्यावरण को साफ रखने में उनकी क्या भूमिका है? अगर नदियों में इसी तरह जहर मिलता रहा तो इसकी कितनी बड़ी कीमत समाज को चुकानी पड़ सकती है इसका अनुमान तक लगा पाना अभी कठिन है।

●●

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय सुहृद !

'विज्ञान' का अक्टूबर अंक विलम्ब से छप पाया । प्रेस की कठिनाई थी । आप सभी को जो असुविधा हुई उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ । इधर 2-3 अंक संभवतः अनियमित रहें । आर्थिक सीमाओं के कारण हम छपाई की अच्छी व्यवस्था करने में असमर्थ हैं । आप से भी बात-चीत का सिलसिला टूट-सा गया ।

आपको स्मरण होगा कि भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर के आर्थिक सहयोग से सितम्बर 1989 में विज्ञान परिषद् प्रयाग में 6-11 और 11-16 आयु वर्ग के बच्चों के लिए हिन्दी विज्ञान लेखकों की एक6 दिवसीय कार्यशाला का आयोजन हुआ था । इस में प्रतिभागियों ने जो आलेख प्रस्तुत किये थे, उन्हें मैसूर भेज दिया गया था । अक्टूबर में भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर आलेखों को पुस्तकाकार प्रकाशन के लिए, आलेखों के चुनाव, सम्पादन और प्रेस कापी तैयार करने के लिए 8 दिनों के लिए डॉ० शिवगोपाल मिश्र और मुझे मैसूर बुलाया था । आप सभी को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि भारतीय भाषा संस्थान ने उनके प्रकाशन का दायित्व स्वीकार कर लिया है ।

नवम्बर माह में 4-6 भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र ट्राम्बे, बम्बई में संचार माध्यमों के लिए विज्ञान लेखन प्रशिक्षण कार्यशाला का आयोजन, भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर के सहयोग से हुआ है । परिषद से इस कार्य शाला में भाग लेने मैं और परिषद् के संयुक्त मंत्री डॉ० मुरारी मोहन वर्मा जा रहे हैं । इस प्रकार विज्ञान परिषद् अन्य परिषदों और संस्थानों के न केवल संपर्क में है, वरन् उन्हें आम जनता तक विज्ञान के प्रकाश को ले जाने में सहयोग भी कर रहा है ।

स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती जी परिषद् कैम्पस में स्थित कुटिया 'ऋतंभरा' में ही रह रहे हैं । दिनों दिन उनका स्वास्थ्य गिरता जा रहा है । स्वामी जी का स्वास्थ्य हम सभी के लिए चिंता का विषय है ।

विज्ञान परिषद् प्रयाग की एक शाखा अब जोधपुर में भी खुल गई है । 33 सदस्य हो चुके हैं और सदस्य संख्या बढ़ने की भी आशा ह । इस शाखा के खुलने से विज्ञान परिषद् का कार्य क्षेत्र पहले से अधिक व्यापक हो गया है ।

इधर पत्रिका के स्तर को सुधारने का हमारा प्रयास फलीभूत नहीं हो पा रहा है । एक निवेदन है । कृपया पर्यावरण पर आलेखन भेजें । हम पहले ही काफी साहित्य प्रकाशित कर चुके हैं । विज्ञान कवितायें भी हमें न भेजें । हमें खेद के साथ कहना पड़ रहा है, कि इस दिशा में किया गया प्रयोग भी सफल नहीं रहा, क्योंकि हमें स्तरीय कविताएँ नहीं मिल पाईं । किन्तु आपके सामयिक विषयों पर विचारोत्तेजक और चिंतनपरक लेखों का पत्रिका स्वागत करेगी ।

एक बार पुनः क्षमा याचना सहित ।

आपका
प्रेम चन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय

विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1992

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।

(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।

(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।

(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।

(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1992 से दिसम्बर 1992 माह के बीच प्रकाशित हो।

(6) लेखक को साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।

(7) विज्ञान-परिषद् के सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।

(8) वर्ष 1992 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1993 है।

लेख निम्न पते पर भेजें—

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद वा रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझाओं का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु०, चौथाई पृष्ठ 50.00; आवरण द्वितीय; तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे,

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

नवम्बर 1992 अंक
मूल्य : 2 रु० 50 पैसे

पादप रोग विज्ञान पर विशेष सामग्री

इण्डियन फाइटोपैथोलाजिकल सोसाइटी
मध्य–पूर्वी मण्डलीय सम्मेलन

एवं

मानव सेवा में सूक्ष्म जीवों का प्रबंधन
संगोष्ठी

19-21 नवम्बर 1992

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915

नवम्बर 1992; वर्ष 78 अंक 8

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु०

वार्षिक : 25 रु०

एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7 ए बेली एवेन्यू
इलाहाबाद-211002

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

अपनी बात

प्रयागराज नगर के प्रबुद्धजनों, जीवविज्ञानियों और विशेष रूप से पादपरोग विज्ञानियों के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग में 19-21 नवम्बर 1992 तक "मानव सेवा में सूक्ष्मजीवों का प्रबंधन" विषय पर एक त्रिदिवसीय संगोष्ठी का आयोजन एक ऐसा दुर्लभ अवसर है, जो बार-बार नहीं आता।

यह संगोष्ठी 'भारतीय पादप रोग विज्ञान सोसाइटी' (इण्डियन फाइटो पैथोलॉजिकल सोसायटी) के मध्य-पूर्वी मण्डल (मिड ईस्टर्न जोन) की मण्डलीय सभा के अवसर पर आयोजित की गई है। इसके लिए विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर डी० डी० नौटियाल बधाई के पात्र हैं। डा० नौटियाल इस संगोष्ठी के अध्यक्ष हैं। अभी पिछले वर्ष प्रोफेसर नौटियाल ने प्रसिद्ध वनस्पतिविज्ञानी डॉ० बीरबल साहनी की जन्मशती के अवसर पर एक भव्य आयोजन सफलतापूर्वक सम्पन्न कराया था।

वर्तमान संगोष्ठी को वनस्पति विभाग में करवाने का श्रेय लब्धप्रतिष्ठ पादपरोगविज्ञानी एवं कवक विज्ञानी डा० सुधीर चन्द्र को है जो इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वनस्पति विभाग में प्रोफेसर नौटियाल के वरिष्ठतम सहयोगी हैं। डा० सुधीर जो 'इण्डियन फाइटोपैथोलाजिकल सोसाइटी' के मध्य-पूर्वी मण्डल के सभापति एवं इस संगोष्ठी के संयोजक हैं। जो लोग डा० सुधीर चन्द्र के बहुआयामी व्यक्तित्व से परिचित हैं उन्हें यह पूर्ण विश्वास है कि सहयोगियों, मित्रों और विद्यार्थियों में 'डा० चन्द्रा' के नाम से लोकप्रिय डा० सुधीर चन्द्र इस संगोष्ठी को अत्यन्त ही सुचारू रूप से सम्पन्न करायेंगे।

संगोष्ठी के मुख्य विषय हैं—1. माइक्रोब्स इन एग्रीकल्चर एण्ड एग्रोफारेस्ट्री, एवं 2. माइक्रोब्स इन मेडिसिन, इण्डस्ट्री एण्ड बायोटेक्नालोजी।

वनस्पति संसार का कवक समूह साधारणतया तो दूसरों की शक्ति पर ही अपना पोषण करता है पर उनमें भी कुछ ऐसे परजीवी हैं जो अपने अन्नदाता के साथ सहजीवी की तरह व्यवहार करते हैं और अपने पोषण के बदले उन्हें ऐसे पोषक तत्व उपलब्ध कराते हैं जिनके बगैर उनके अन्नदाता का बढ़ना, फूलना-फलना कठिन होता है। ऐसे कवकों का उपयोग मुख्यतया बंजर और क्षारीय भूमि को उर्वरा बनाने हेतु किया जा सकता है। कवकों का यह समूह **वेसिकुलर आर्बसकुलर माइकोराइजा** फंजाई या **वैम कवक** कहलाता है और उनके उपयोग की यह तकनीक **माइकोराइजा तकनीक** कहलाती है। इसमें वृक्ष के बीज और कवक का एक साथ भूमिरोपण किया जाता है और जब जड़ें फूटती हैं तो उस प्रक्रिया में कवक अपना कुछ भाग जड़ों के अन्दर प्रविष्ट करा देता है। पौधे का भाग बनकर कवक अपना भोजन तो प्राप्त करता ही है पर बदले में पौधे को भी महत्वपूर्ण पोषक तत्व प्रदान करता है। यह तकनीक पानी की कमी वाले शुष्क और क्षारीय भूमि के लिए उपयोगी है। रासायनिक खाद का प्रयोग न होने के कारण यह पर्यावरण की दृष्टि से सुरक्षित और सस्ती भी है। साथ ही स्थानीय जलवायु में सुधार के साथ-साथ ईंधन और पशु चारे के लिए भी लाभप्रद है। उपजाऊ भूमि में भी वैम कवकों की वृद्धि करके पेड़ों को अतिरिक्त पोषण देने और उन्हें अधिक स्वस्थ बनाने का लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के वनस्पति विभाग के डा० के० जी० मुकर्जी दिल्ली के पास के एक बंजर क्षेत्र में सफल परीक्षण कर चुके हैं। डा० सुधीर चन्द्र ने भी वैम कवक पर उल्लेखनीय शोध किए हैं और इसी तरह के सफल परीक्षणों में अपने सहयोगियों के साथ लगे हुए हैं।

अतः संगोष्ठी का विषय क्षेत्र व्यापक है। आशा की जाती है कि पादप रोग विज्ञानी इस संगोष्ठी में न केवल पादप रोग विज्ञानी इस संगोष्ठी में न केवल पादप रोग विज्ञान से सम्बन्धित शुद्ध शोधों की चर्चा करेंगे, बल्कि आदमी के लिए उपयोगी खाद्यान्नों, सब्जियों, फलों आदि को रोग ग्रस्त करने वाले कवकों, जीवाणुओं और विषाणु के नियंत्रण पर विचार-विमर्श करेंगे और भुखमरी और कुपोषण को दूर करने के उपाय भी सुझायेंगे।

आज विश्व के सामने सबसे बड़ी समस्या भोजन की समस्या है। विशेष रूप से तीसरी दुनिया के देशों के सामने तो बढ़ती आबादी ने विकराल समस्या उपस्थित कर दी है। आशा ही नहीं विश्वास है कि पादप रोग विज्ञानी इस समस्या को गंभीरता से लेंगे क्योंकि पादप रोगों से प्रतिवर्ष कृषि को बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ रही है। अतएव पादप रोग विज्ञानी इस दिशा में किये गये शोधों की समीक्षा करेंगे, उनका मूल्यांकन करेंगे और दिशा निर्देश देंगे। यदि वे इस मंच के माध्यम से ऐसा कर पाये तो यह संगोष्ठी निश्चित रूप से सफल होगी और एक यादगार बन जायेगी।

इस अंक की सामग्री का संकलन एवं संयोजन अत्यन्त कम समय में किया गया है। इसी बीच मैं स्वयं 15 दिनों तक मैसूर, 4 दिनों तक गोरखपुर और फिर 10 दिनों तक बम्बई रहा। इसलिए मैं अंक की कमियों के लिए अपने आपको दोषी पाता हूँ। किन्तु इसमें यदि कुछ अच्छा साहित्य दिख रहा है तो उसका सारा श्रेय लेखकों को है। मुझे डा० सुधीर चन्द्र, डा० पी० के० खरे एवं डा० कु० एच० के० केहरी का पूरा सहयोग मिला है। मैं 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' के उपसभापति प्रो० पूर्णचन्द्र गुप्ता, प्रधानमंत्री प्रो० हनुमान प्रसाद तिवारी, पूर्व प्रधानमंत्री डा० शिवगोपाल मिश्र, डा० राम सुरंजन धर दुबे, संयुक्त मंत्री श्री राजेश केसरी, डा० मुरारी मोहन वर्मा और कार्यालय प्रभारी श्री चन्द्रभान सिंह का भी आभारी हूँ, जिनके सहयोग के बिना इस अंक को प्रस्तुत कर पाना कठिन होता।

मैं संगोष्ठी की सफलता की मंगल कामना करता हूँ।

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मानव सेवा में रत सूक्ष्म जीव : अखिल भारतीय गोष्ठी—एक पूर्वावलोकन

डॉ० सुधीर चन्द्र

वैज्ञानिकों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि पृथ्वी पर सबसे पहले सूक्ष्मजीवों का ही प्रादुर्भाव हुआ है। संभवतः इसीलिये बाद में विकसित हुए सभी जीवधारियों से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध आज भी बरकरार है तथा इन सूक्ष्म परन्तु महान संसाधन की अनदेखी करना सम्भव नहीं है। सरलतम माने जाने वाले ये जीव वास्तव में विकास शृंखला के सबसे योग्य सदस्य हैं। ये ऐसी स्थितियों में रह सकते हैं, जिनमें उच्चतम प्राणियों के लिये रहना सम्भवतः कठिन हो। इसके इसी गुण के कारण बहुत पहले से ही इन्हें एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं विविध क्षमता वाले संसाधन के रूप में मान्यता मिली हुई है। सूक्ष्मजीवों के संसार में जीवाणुओं के अतिरिक्त अन्य कई महत्वपूर्ण सदस्य हैं जिनमें कवक और शैवाल मुख्य हैं।

सूक्ष्मजीव वैज्ञानिकों का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत है। वे सूक्ष्मजीवों के क्रिया-कलापों को समझने का प्रयत्न करते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य यह होता है कि किस प्रकार सूक्ष्मजीवों की क्षमताओं का उपयोग मानवजाति की भलाई के लिये किया जा सके। अपने इस उद्देश्य को पूरा करने में उन्हें अपेक्षित सफलता भी मिली है। मानव स्वास्थ्य के क्षेत्र में आज जो भी उन्नति हुई है उसमें सूक्ष्मजीवों का बहुत बड़ा योगदान है। उस समय की कल्पना कीजिए जब प्रतिजैविक पदार्थों का आविष्कार नहीं हुआ था। वे रोग जिन पर आज सरलता से काबू पा लिया जाता है, लाखों करोड़ों लोगों की जानें ले लिया करते थे। कृषि और वन क्षेत्रों के विकास में भी सूक्ष्मजीवों की अहं भूमिका है। भूमि की उर्वरता बढ़ाने एवं उसे कायम रखने में सूक्ष्मजीवों का महत्वपूर्ण योगदान है। इनकी अनुपस्थिति में पेड़ पौधों की कल्पना ही नहीं जा की सकती। बहुत से खाद्य पदार्थों, मुख्यतया दुग्ध-उत्पादों का उत्पादन सूक्ष्मजीवों की ही कृपा पर निर्भर है। विभिन्न प्रकार के बेकरी उत्पाद तथा विविध प्रकार की शराबें हमें सूक्ष्मजीव ही उपलब्ध कराते हैं। सिरका, विभिन्न प्रकार के कार्बनिक अम्ल एवं बहुत से अन्य रसायनों का निर्माण भी सूक्ष्मजीवों की सहायता से किया जाता है।

आज हमारे जीवन की मूलभूत आवश्यकता ऊर्जा है। हमारे वाहन तथा विविध प्रकार के उद्योग-धंधे सभी ऊर्जा पर निर्भर हैं। इस क्षेत्र में भी सूक्ष्मजीव पीछे नहीं हैं। प्राकृतिक गैस और पेट्रोलियम उद्योग में भी सूक्ष्मजीवों की महत्वपूर्ण भूमिका है और इन उद्योगों से उनका घनिष्ट सम्बन्ध है। उद्योग प्रक्रमों में सूक्ष्मजीवों के महत्व को देखते हुए आज जैवयांत्रिकी के क्षेत्र में उच्च स्तर का कार्य हो रहा है और यह सूक्ष्मजीव विज्ञान की एक महत्वपूर्ण शाखा के रूप में विकसित हो रही है।

संयोजक गोष्ठी एवं अध्यक्ष, इण्डियन फाइटोपैथोलॉजिकल सोसाइटी, मध्यपूर्वी क्षेत्र

इसमें दो राय नहीं है कि मानव जीवन से सूक्ष्मजीवों का बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध है। इनके अनेकानेक महत्वपूर्ण योगदान को देखते हुए यह बहुत आवश्यक है कि उन पर शोध कार्य निरन्तर चलता रहे तथा उनके क्रियाकलापों के विषय में हमारे ज्ञान में निरन्तर वृद्धि होती रहे। महान फ्रांसीसी वैज्ञानिक ने, जो सूक्ष्मजीव विज्ञान के संस्थापको में से एक थे, सूक्ष्मजीवों के महत्व को देखते हुए कहा है कि अतिसूक्ष्म की भूमिका अत्यन्त विशाल एवं सीमाहीन है।

सूक्ष्मजीवों के सर्वांगीण महत्व को देखते हुए ही "मैनेजमेन्ट ऑव माइक्रोब्स इन सर्विस ऑव मैनकाइंड" शीर्षक से इस अखिल भारतीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया है। इस संगोष्ठी का मुख्य उद्देश्य देश के विख्यात सूक्ष्मजीव वैज्ञानिकों को एक ऐसा अवसर प्रदान करना है, जिसमें वे सूक्ष्मजीवों के क्रियाकलापों के विभिन्न आयामों पर हो रहे शोधकार्यों पर विचार-विमर्श कर सकें तथा देश की आज की आवश्यकताओं को दखते हुए इस प्रकार के शोधकार्यों के लिये एक निश्चित दिशा प्रदान कर सकें। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इन्डियन फाइटोपैथोलॉजिकल सोसाइटी के मध्यपूर्वी क्षेत्र के सदस्यों के वार्षिक सम्मेलन पर आयोजित इस संगोष्ठी में आमंत्रित अनुभवी वैज्ञानिकों के विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों से सभी लाभान्वित होंगे। आशा है कि विचारों के आदान-प्रदान से कुछ ऐसे तथ्य सामने आयेंगे, जिनकी सहायता से भविष्य में इन महत्वपूर्ण संसाधनों का उपयोग मानवजाति की सेवा के लिये और अधिक कुशलता से किया जा सकेगा। ●

इण्डियन फाइटोपैथोलॉजिकल सोसाइटी : उद्देश्य एवं क्रियाकलाप

डॉ० एच० के० केहरी

स्वतंत्रता से पूर्व भारत में पादपरोग वैज्ञानिकों की संख्या बहुत कम थी। पादपरोग विज्ञान को वनस्पति विज्ञान के एक घटक का ही स्थान प्राप्त था, उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं था। कवक विज्ञान एवं पादपरोग विज्ञान सम्बन्धी शोधों पर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता था हालांकि उस समय के पादपरोग वैज्ञानिकों को आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास था कि ऐसी स्थिति बहुत दिनों तक नहीं चल पायेगी। यह सोचकर कि पादपरोग विज्ञान को देश में अपनी अपेक्षित भूमिका निभानी चाहिये तथा इसे एक अलग तथा स्वतंत्र विषय के रूप में मान्यता मिलनी चाहिये, उस समय के वैज्ञानिकों को एक ऐसे संघ बनाने की आवश्यकता महसूस हुई जो कि पादपरोग विज्ञान संबंधी अध्ययनों एवं शोधों को बढ़ावा तथा सही निर्देश दे सके। इसी सोच के फलस्वरूप विश्वविख्यात कवकविज्ञानी स्वर्गीय **डॉ० बी० बी० मुंदकुर** आगे आये और इस कार्य में लग गये। उन्होंने देश के कोने-कोने से कवक विज्ञानियों तथा पादपरोग विज्ञानियों को निमंत्रित किया तथा 28 फरवरी 1947 को इण्डियन एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, नई दिल्ली (पूर्व इम्पीरियल एग्रीकल्चरल इन्स्टीट्यूट) में एक सभा का आयोजन किया। **प्रोफेसर एस० आर० बोस** की अध्यक्षता में हुई इस सभा में सर्वसम्मति से "इण्डियन फाइटोपैथोलॉजिक सोसाइटी" आरम्भ करने का निर्णय लिया

सहसंयोजक गोष्ठी एवं कार्यकारिणी सदस्य, इण्डियन फाइटोपैथोलाजिकल सोसाइटी

गया । सोसाइटी का संविधान बनाने एवं एक नई पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ करने के लिए एक उपसमिति का गठन किया गया जिसमें **श्री जे० एफ० दस्तूर** को अध्यक्ष, **डॉ० बी० बी० मुन्दकुर** को संयोजक तथा **डा० एस० आर० बोस, डा० बी० एन० उप्पल, डा० ए० सत्तार** तथा **डा० आर० एस० वासुदेव** को सदस्य के रूप में मनोनीत किया गया। डॉ० बी० बी० मुन्दकुर से प्रार्थना की गयी वे उस समय तक जब तक की सोसाइटी के नये पदाधिकारियों का चुनाव नहीं हो जाता और सोसाइटी के संविधान को सभी सदस्यों की स्वीकृति नहीं मिल जाती, सोसाइटी के सचिव और कोषाध्यक्ष के रूप में कार्य करें ।

156 सदस्यों वाली सोसाइटी की पहली वार्षिक आम सभा में जो कि 2 जनवरी 1948 में आयोजित हुई संविधान को सर्वसम्मति से स्वीकृति प्रदान की गयी । संविधान में सोसाइटी के निम्नलिखित उद्देश्य सम्मिलित किये गये :

1. देश में कवक विज्ञान एवं पादपरोग विज्ञान के उद्देश्यों को आगे बढ़ाना ।

2. कवक विज्ञान एवं पादपरोग विज्ञान के ज्ञान को प्रसारित करना ।

3. कवक विज्ञान एवं पादपरोग विज्ञान सम्बन्धी अध्ययनों एवं शोधों को आगे ले जाना तथा बढ़ावा देना ।

4. भारत तथा विदेशों में, सदस्यों / अन्य वैज्ञानिकों के बीच घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने के अवसर प्रदान करना ।

अस्तित्व में आने के बाद से ही सोसाइटी लगातार उन्नति करती गयी । आज इसके कुल 1621 सदस्य हैं जिनमें से लगभग 100 विदेशी हैं । देश-विदेश के लगभग 400 पुस्तकालय सोसाइटी की शोध पत्रिका "इण्डियन फाइटोपैथालॉजी" के नियमित ग्राहक हैं । विगत वर्षों से सोसाइटी अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने क्रिया-कलापों में लगातार वृद्धि करती गयी है ।

इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए कि कवक विज्ञान एवं पादपरोग विज्ञान सम्बन्धी शोध पत्रों का प्रकाशन सुविधा से हो सके सोसाइटी ने **"इण्डियन फाइटोपैथालाजी"** नामक शोध पत्रिका का प्रकाशन सन् 1948 से आरम्भ किया । आरम्भ में प्रति वर्ष इसके दो अंक प्रकाशित किये जाते थे । सन् 1961 से अंकों की संख्या चार कर दी गयी है तथा प्रयत्न हो रहा है कि इसे बढ़ाकर छः कर दिया जाये जिससे कि शोध पत्रों का प्रकाशन और शीघ्रता से किया जा सके । कभी-कभी पत्रिका में विख्यात वैज्ञानिकों के आमंत्रित लेखों को भी सम्मिलित किया जाता है । **"इण्डियन फाइटोपैथालाजी"** को पूरे विश्व में एक उच्चस्तरीय शोध पत्रिका के रूप में मान्यता मिली हुई है ।

सोसाइटी के क्रिया कलापों का संचालन करने के लिये एक कार्यकारिणी परिषद् का गठन किया जाता है । इसमें अध्यक्ष, सचिव, सहसचिव, कोषाध्यक्ष, प्रधान संपादक तथा देश के सात विभिन्न क्षेत्रों से चुने गये क्षेत्राध्यक्ष एवं कार्यकारिणी सदस्य होते हैं । इन सभी का चुनाव प्रतिवर्ष सोसाइटी की आम सभा में किया जाता है । सचिव, कोषाध्यक्ष एवं प्रधान संपादक की कार्यवधि तीन वर्ष की होती है, परन्तु अन्य सदस्य केवल एक वर्ष के लिए चुने जाते हैं । सामान्यतः कार्यकारिणी परिषद् की प्रतिवर्ष दो सभायें आयोजित की जाती हैं तथा वर्ष में एक बार सोसाइटी की आम सभा का आयोजन होता है ।

सोसाइटी की वार्षिक आम सभा में संगोष्ठी एवं व्याख्यानों के माध्यम से देश की विभिन्न पादपरोग विज्ञान सम्बन्धी समस्याओं और उनके निदान पर विस्तार से चर्चा होती है तथा साथ ही वैज्ञानिक अपने शोध-पत्र भी प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुत किये गये शोध-पत्रों के संक्षेप **''इण्डियन फाइटोपैथोलाजी''** में प्रकाशित भी किये जाते हैं। वार्षिक आम सभा के अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों के अध्यक्ष भी अपने क्षेत्र के सदस्यों की वार्षिक सभायें आयोजित करते हैं। इनमें भी शोध-पत्र प्रस्तुत किये जाते हैं तथा संगोष्ठियों एवं व्याख्यानों के माध्यम से पादपरोग विज्ञान सम्बन्धी विषयों पर विचार विमर्श होता है। अपने संस्थापक **स्वर्गीय डा० बी० बी० मुन्दकुर** को श्रद्धांजलि अर्पित करने हेतु सोसाइटी प्रतिवर्ष अपनी आम सभा में मुन्दकुर व्याख्यान आयोजित करती है जिसके लिये देश के किसी विख्यात वैज्ञानिक को व्याख्यान देने का गौरव प्रदान किया जाता है। इसी प्रकार इस अवसर पर दो अन्य व्याख्यानों : जीरसान्निधि तथा पावगी व्याख्यान भी आयोजित किये जाते हैं। ये व्याख्यान भी ऐसे वैज्ञानिकों द्वारा दिये जाते हैं जिन्होंने कवक विज्ञान एवं पादपरोग विज्ञान सम्बन्धी क्षेत्रों में मान्यता प्राप्त की हो। तरुण वैज्ञानिकों को प्रोत्साहित करने के लिए 40 वर्षों से कम आयु के सदस्यों के लिए एक प्रतियोगिता भी आयोजित की जाती है, जिसमें सबसे अच्छा शोध-पत्र प्रस्तुत करने वाले वैज्ञानिक को **'नरसिंहमन पारितोषिक'** से सम्मानित किया जाता है।

सोसाइटी उच्चकोटि के वैज्ञानिकों को 'फेलो' के रूप में मान्यता देती है। फेलो का चयन प्रतिवर्ष किया जाता है तथा आज तक लगभग 400 फेलो का चयन हो चुका हैं। समय-समय पर सोसाइटी विश्वविख्यात पादपरोग वैज्ञानिकों को गौरव प्रदान करने के लिए उन्हें 'मानद फेलो' की उपाधि से सम्मानित करती है। आज तक देश के **डा० एस० एन० दास गुप्ता, डा० आर० एस० वासुदेव, डा० आर० एन० टंडन, डा० बी० एल० चोना, डा० आर० प्रसाद, डा० टी० एस० सदासिवन** तथा विदेश के **डा० जे० सी० वाकर, डा० जे० जी० हावफाल** तथा **डा० टी० फुकुसी,** सहित लगभग 11 वैज्ञानिकों को यह सम्मान प्राप्त हो चुका है।

कवक विज्ञान एवं पादपरोग विज्ञान के अध्ययन के स्तर को सुधारने के लिए सोसाइटी ने महत्वपूर्ण रोगों की रंगीन पारदर्शियाँ निर्मित करने का निश्चय किया है। कई रोगों की पारदर्शियाँ वितरित भी की जा चुकी हैं। पादपरोग विज्ञान सम्बन्धी शोध विधियाँ एवं इसी प्रकार की अन्य पुस्तकों के प्रकाशन की योजना पर कार्य चल रहा है।

शोध-कार्यों को सही एवं निश्चित दिशा देने का प्रयास भी हो रहा है। इस योजना के अन्तर्गत पादपरोग विज्ञान सम्बन्धी समस्याओं के निदान हेतु वैज्ञानिकों की उपसमितियों का गठन किया गया है। ये अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सतत् प्रयास कर रही हैं।

समय-समय पर सोसाइटी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की संगोष्ठियों का आयोजन भी करती है। आज तक इस प्रकार की कई गोष्ठियाँ सफलतापूर्वक आयोजित की जा चुकी हैं। इस वर्ष भी एक अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी का आयोजन किया जा रहा है। इन्डियन फाइटोपैथोलॉजिकल सोसाइटी अर्न्तराष्ट्रीय स्तर पर पादपरोग विज्ञान सम्बन्धी विषयों पर विचारों के आदान-प्रदान हेतु 'इन्टरनेशनल सोसाइटी आव प्लान्ट पैथालाजी' तथा अन्य इसी प्रकार की संस्थाओं से अपना सम्बन्ध बनाये हुए है।

सूक्ष्मजीवों के सहजीवी संबंध

डॉ० राका खन्ना

विकास की शृंखला में सूक्ष्मजीवों को जीवन की आद्यतम इकाई के रूप में माना जाता है। जहाँ एक ओर संसार के उच्चतम प्राणी, मनुष्य का शत्रुतापूर्ण रवैया हमें आघात पहुँचाता है, वहीं इन सरल, आद्यतम प्राणियों का मित्रतापूर्ण रवैया हमें आश्चर्यचकित कर देता है। करोड़ों वर्षों की अपनी लम्बी यात्रा की अवधि में इन जीवों को अनेकानेक कठिनाइयों एवं प्रतिकूल दशाओं का सामना करना पड़ा होगा। सम्भवतः इसीलिए अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु इन्होंने अपनी ही जाति के अथवा अन्य जाति के प्राणियों से विविध प्रकार के सम्बन्धों का विकास किया होगा। ऐसे सभी सम्बन्धों को जिनमें दो भिन्न प्राणी एक साथ मिलकर जीवन यापन करते हैं **'सहजीवन'** कहा जाता है। अधिकांश सहजीवी सम्बन्धों का मूल आधार भोजन होता है। माना जाता है कि ऐसे सभी सम्बन्धों में दोनों सहभागी एक दूसरे के साथ रहते हुए एक दूसरे के लिए पूर्णतया लाभदायक होते हैं परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। दो जीवों के बीच किसी भी प्रकार की सहभागिता को सहजीवन के अन्तर्गत माना जा सकता है।

सहभागियों के आपसी सम्बन्धों के आधार पर सहजीवन के कई रूप हो सकते हैं, जिनमें से सहोपकारिता, सहभोजिता, विरोध, परिजीविता, परभक्षिता एवं दासता प्रमुख हैं।

सहोपकारिता

इस प्रकार के सहजीवन में दोनों सहभागी एक दूसरे के पूरक होते हैं तथा एक दूसरे को लाभ पहुँचाते हुए अपना जीवन यापन करते हैं। बहुत से सूक्ष्मजीवों के आपसी सम्बन्ध इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त सूक्ष्मजीवों, पादपों, कीटों तथा पशुओं के बीच पाये जाने वाले अनेकों सम्बन्धों को भी इस श्रेणी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। लाइकेन, माइकोराइजा आदि इस प्रकार के सहजीवन के अच्छे उदाहरण हैं।

लाइकेन

प्रकृति में कवक व शैवाल दोनों ही सूक्ष्मजीव स्वतंत्र रूप से जीवन यापन करने में समक्ष हैं लेकिन दोनों का सहजीवी सम्बन्ध एक भिन्न प्रकार के पादप का निर्माण करता है। प्रकृति में लाइकेन-अपने आप में स्वतंत्र पादप के रूप में मिलता है जो कवक व शैवाल से भिन्न होते हुए भी वस्तुतः इन दोनों का संगम है। लाइकेन की संरचना में दोनों सहभागियों की उपस्थिति स्पष्ट देखी जा सकती है। माना जाता है कि इस सहजीवी सम्बन्ध में कवक घटक अपने सहभागी शैवाल को आश्रय प्रदान करता है और बदले में उससे अपना भोजन प्राप्त करता है। कुछ वैज्ञानिकों का मानना है कि लाइकेन में कवक और शैवाल का सम्बन्ध मालिक और दास जैसा है और इसे सहोपकारिता के अन्तर्गत रखना अनुचित है।

वनस्पति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

माइकोराइजा

पौधों की जड़ों तथा कवकों के बीच पाये जाने वाले सहजीवी सम्बन्धों के विषय में जानकारी देने का श्रेय जर्मन वैज्ञानिक **फैन्क** को जाता है। उन्होंने ही सर्वप्रथम बतलाया कि मृदा में पाये जाने वाले कुछ कवक पौधों की जड़ों से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं तथा उनसे अपने भोजन की आपूर्ति करते हैं। कवकों के इस सम्बन्ध से पौधों को भी लाभ मिलता है क्योंकि कवकों के मृदा में फैले तंतु जल एवं खनिज पदार्थों का अवशोषण करके जड़ों तक पहुँचाते हैं तथा इस प्रकार उनके अपेक्षित कार्यों में उनकी सहायता करते हैं। फैन्क ने ही इस प्रकार के सहोपकारिता सम्बन्धों को **माइकोराइजा** नाम दिया। माइकोराइजा बनाने वाले कवकों के तन्तुओं की स्थिति के आधार पर ही माइकोराइजा को दो श्रेणियों बाह्यमाइकोराइजा और अंतःमाइकोराइजा में विभाजित किया गया है। बाह्यमाइकोराइजा में सहजीवी कवक जड़ों के चारों ओर एक कवच-सी रचना बनाता है और इसके तंतु जड़ों की बाहरी परतों तक ही सीमित रहते हैं। दूसरी ओर अतः माइकोराइजा जड़ों के भीतर एक विस्तृत कवक जाल बनाता है तथा विभिन्न प्रकार की रचनाएँ उत्पन्न करता है।

विभिन्न जातियों के वृक्षों विशेष रूप से वन्य वृक्षों की जड़ों में बाह्यमाइकोराइजा पाया जाता है। इस प्रकार के माइकोराइजा के निर्माण में मुख्य रूप से कवकों की उच्चतर जातियों सदस्य ही योगदान करते हैं। आज ऐसे कवकों का महत्व बहुत बढ़ गया है तथा पुनःवनरोपण में इनका उपयोग व्यावसायिक स्तर पर हो रहा है। रोपने से पहले वृक्षों की पौद को इनकी सहायता से माइकोराइजामय बना देने से वृक्ष सुचारू रूप से वृद्धि करते हैं तथा उनका जीवित रहना सुनिश्चित हो जाता है।

अंतःमाइकोराइजा तीन प्रकार के होते हैं जिनमें से एक विशेष प्रकार के माइकोराइजा 'वेसीकुलर आरबस-कुलर माइकोराइजा' का महत्व आजकल बहुत बढ़ गया है। निम्नतर कवकों के एक कुल एन्डोगोनेसी के सदस्य ही इस प्रकार का माइकोराइजा बनाते हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर सभी प्रकार के पेड़-पौधों में तथा सभी प्रकार को दशाओं में जड़ों के भीतर दो विशिष्ट रचनाएँ, आरबसकूल तथा वेसीकिल बनती हैं तथा इनकी सहायता से पेड़-पौधे जल, फास्फोरस तथा कुछ अन्य पोषक भली-भाँति अवशोषित कर पाते हैं। विभिन्न प्रकार की फसलों एवं फलवृक्षों की वृद्धि और उत्पादकता बढ़ाने के लिये इनके उपयोग की संस्तुति की जा रही है।

राइजोबियम

लेगूमिनोसी कुल के पौधों और **राइजोबियम** नामक जीवाणु का सहजीवी सम्बन्ध सहोपकारिता का सबसे अच्छा उदाहरण है। **राइजोबियम** पौधों की जड़ों में आश्रय पाता है तथा उनसे भोजन प्राप्त करता है। चूंकि इस जीवाणु में नाइट्रोजन के स्थिरीकरण करने की क्षमता पायी जाती है, यह अपने सहभागी पौधों की नाइट्रोजन आपूर्ति करता है और इस प्रकार दोनों ही सहभागी एक दूसरे से लाभान्वित होते हैं। आज लगभग सभी दलहनी फसलों के बीजों को बोने से पहले उपयुक्त **राइजोबियम** से संसाधन किया जाता है, जिससे कि फसलों को समुचित नाइट्रोजन मिल सके और वे उचित उत्पादन दे सकें।

नीलहरित शैवाल

हालांकि नीलहरित शैवाल स्वपोषित सूक्ष्मजीव हैं, फिर भी ये अन्य पौधों के साथ सहजीवी सम्बन्ध स्थापित करते हैं। शैवालों की ऐसी ही कुछ जातियाँ **साइकस** की जड़ों में पायी जाती हैं। शैवालयुक्त जड़ों को उनके

आकार के कारण 'कोरल जड़' कहा जाता है तथा इस प्रकार की जड़ों में अलग से एक शैवाल क्षेत्र होता है जिसमें शैवाल वास करते हैं। नीलहरित शैवाल भी नाइट्रोजन का स्थिरीकरण करने की क्षमता रखते हैं अतः इनकी उपस्थिति में सहभागी पौधे को समुचित मात्रा में नाइट्रोजन मिलती रहती है। संभवतः ये पौधे इन शैवालों को एक सुरक्षित आश्रय प्रदान करते हैं।

कीटों एवं पशुओं से सम्बन्ध

बहुत से कीट व पशु अपने भोजन के लिये पौधों पर निर्भर रहते हैं लेकिन कुछ पदार्थों का पाचन इनके सामर्थ्य के बाहर होता है। ऐसे पदार्थों को पचाने के लिए इन्हें सूक्ष्मजीवों का सहारा लेना पड़ता है। ऐसे सूक्ष्मजीव इनके शरीर के भीतर अंतःसहजीवी के रूप में रहते हैं तथा अपने एन्जाइमों की सहायता से अपचनीय पदार्थों का विघटन करके उन्हें पचनीय बना देते हैं। इस सहजीवी सम्बन्ध में दोनों सहभागी अपने जीवन यापन के लिये एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं अतः इसे 'सहोपकारिता' के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

सहभोजिता

मनुष्यों व पशुओं का उन सूक्ष्मजीवों से सम्बन्ध जो कि उनकी आतों में पाये जाते हैं, सहभोजिता का एक उपयुक्त उदाहरण है। ये सूक्ष्मजीव कुछ ऐसे पदार्थ निर्मित करते हैं जिनका उनके लिये कोई उपयोग नहीं होता परन्तु वे उनके सहभागियों के लिये अत्यन्त लाभदायक होते हैं। ऐसे सभी सहजीवी सम्बन्ध जिसमें एक सहभागी ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करता है जिससे वह तो अप्रभावित रहता है, परन्तु उसका दूसरा सहभागी उनसे लाभान्वित होता है, सहभोजिता के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

विरोध

सहजीवन की उस स्थिति को जिसमें एक सूक्ष्मजीव अन्य सूक्ष्मजीवों की वृद्धि अवरुद्ध कर देता है, विरोध कहते हैं। इस प्रकार का विरोध मृदा में पाये जाने वाले सूक्ष्मजीवों में बहुतायत से मिलता है। रूसी वैज्ञानिक मेटच्नीयफाक (1845-1916) ने इस दिशा में बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया है। विगत वर्षों में विरोध प्रदर्शित करने वाले सूक्ष्मजीवों का महत्व बहुत बढ़ गया है। पादपरोगों के नियंत्रण में जिन रासायनिक पदार्थों का उपयोग किया जाता है उनसे वातावरण के प्रदूषित होने की संभावना रहती है। इसीलिये आज इनका महत्व कम हो रहा है और इनके स्थान पर जैविक नियंत्रण को बढ़ावा दिया जा रहा है। ऐसे सूक्ष्मजीवों की तेजी से खोज हो रही है, जो पौधों के रोगजनकों पर प्रतिकूल प्रभाव डाल कर उनके रोगों का नियंत्रण कर सकें।

परजीविता

परजीविता भी सहजीवन का ही एक रूप है। ऐसे सम्बन्ध में एक सहभागी अपने लाभ के लिये दूसरे सहभागी को हानि पहुँचाता है। लाभ पाने वाले सहभागी को 'परजीवी' तथा हानि सहने वाले सहभागी को 'परपोषी' कहते हैं। बहुत से सूक्ष्मजीव अपने भोजन के लिए पौधों के साथ इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं और अपने क्रिया-कलापों द्वारा उनके आकारिकी एवं कार्यिकी में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन लाकर उन्हें रोगग्रस्त कर देते हैं। ऐसी स्थिति में जब वे केवल जीवित कोशिकाओं से अपना भोजन प्राप्त करने में सक्षम होते हैं, उन्हें 'अविकल्पी परजीवी' कहते हैं। जीवित कोशिकाओं तथा मृत कोशिकाओं दोनों से ही अपना भोजन प्राप्त करने की क्षमता रखने वाले परजीवियों को विकल्पी परजीवी कहते हैं।

परभक्षिता

कुछ सूक्ष्मजीव अन्य सूक्ष्मजीवों को भोजन की तरह उपयोग में लाते हैं और इसीलिये उनसे सम्बन्ध स्थापित करते हैं। ऐसे सम्बन्ध परभक्षिता की श्रेणी में रखे जाते हैं। कुछ 'प्रोटोजोआ' अपने भोजन के लिये जीवाणुओं, शैवालों तथा अन्य प्रोटोजोआ पर आश्रित होते हैं। इसी प्रकार कुछ कवक अपना भोजन प्रोटोजोआ तथा गोलकृमियों से प्राप्त करते हैं। जैविक नियंत्रण के क्षेत्र में परभक्षी सूक्ष्मजीवों का भी अत्यधिक महत्व है। ऐसे सूक्ष्मजीवों की सहायता से कुछ पादप रोगों के नियंत्रण में सफलता मिल चुकी है।

दासता

वास्तव में दासता के अन्तर्गत आने वाले सहजीवी सम्बन्ध भी एक प्रकार की सहोपकारिता का ही रूप हैं। दासता में भी दोनों सहभागी एक दूसरे से लाभान्वित होते हैं, परन्तु एक सहभागी दूसरे से अधिक प्रभावशाली होता है। कुछ लोगों का मत है कि लाइकेनों में कवक और शैवाल का सम्बन्ध सहोपकारिता नहीं वरन् दासता प्रदर्शित करता है। कहा जाता है कि दोनों घटक एक दूसरे को लाभ तो पहुँचाते हैं, परन्तु शैवाल की अपेक्षा कवक अधिक प्रबल सहभागी होता है।

सहजीवन के उपरोक्त उदाहरणों से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि सरल होते हुए भी सूक्ष्मजीव अपनी आवश्यकतायें पूरी करने के लिये प्राणी जगत के अन्य सदस्यों से किस प्रकार के अनोखे सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। अधिकांश सहजीवी सम्बन्धों में सूक्ष्मजीव एक विशिष्ट सामंजस्य प्रदर्शित करते हैं। विगत कई दशकों में सहजीवी सम्बन्धों पर काफी अनुसंधान हुए हैं। इन अनुसंधानों के परिणामों से प्रेरणा लेकर ही वैज्ञानिकों ने ऐसी अनेक विधियाँ विकसित की हैं, जिनसे मानवजाति का कल्याण हो रहा है अतः आज भी सहजीवी सम्बन्धों पर शोध करना आवश्यक है और यह वैज्ञानिकों के लिये एक चुनौती है।

●

वीए माइकोराइजा : एक क्रान्तिकारी जैविक संसाधन

डॉ० एच० के० केहरी एवं डॉ० सुधीर चन्द्र

सूक्ष्मजीवों को पृथ्वी की आद्यतम इकाई माना जाता है। अपनी करोड़ों वर्षों की लम्बी यात्रा में जहाँ एक ओर इस इकाई ने अनेकों नये-नये प्राणियों का विकास किया वहीं दूसरी ओर इसी के कारण अनेक जातियाँ लुप्त हुई। विकास की लम्बी अवधि में हुए बड़े-बड़े क्रान्तिकारी परिवर्तनों के बावजूद, अपने कुछ विशिष्ट गुणों के कारण सूक्ष्मजीव अपना अस्तित्व आज तक बनाये रहे। सम्पूर्ण जैविक तन्त्र में इनकी अहं भूमिका है, इन्हीं के कारण जैव सन्तुलन बना हुआ है तथा इनकी अनुपस्थिति में सम्भवतः पृथ्वी का अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाये।

अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए सूक्ष्मजीवों ने अन्य जीवों के साथ विविध प्रकार के सम्बन्ध विकसित किये जिससे कि उनकी आवश्यकताएँ सुचारू रूप से पूरी होती रहें। जहाँ एक ओर उन्होंने शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध विकसित किये और विभिन्न प्रकार के पौधों और पशुओं को आक्रमित करने और रोग उत्पन्न करने की क्षमता का विकास किया वहीं दूसरी ओर उन्होंने मित्रतापूर्ण सहजीवी सम्बन्ध भी विकसित किये। लाइकेन सहजीवी सम्बन्धों एवं सहअस्तित्व का सबसे अनोखा उदाहरण है। इसमें दो अलग प्रकार के सूक्ष्मजीव : शैवाल और कवक गठबन्धन करके मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाते हैं और एक दूसरे की सहायता करते हैं। लेग्यूमिनोसी कुल के पौधों की जड़ों में रहने वाला जीवाणु राइजोबियम भी एक सहजीवी जीवन जीता है। यह अपना भोजन जड़ों से प्राप्त करता है लेकिन अच्छे मित्र की भाँति बदले में पौधों को नाइट्रोजन प्रदान करता है।

आज प्रकृति में अनेक प्रकार के सहजीवी सम्बन्ध मिलते हैं। कुछ कवक पौधों की जड़ों से सहजीवी सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इन सम्बन्धों में पौधे अपने द्वारा बनाये भोजन में कवकों को साझीदार बनाते हैं तथा बदले में कवक उनको विभिन्न प्रकार से सहायता करते हैं। जिनमें से सबसे प्रमुख यह है कि कवक अपने तंतुओं के द्वारा भूमि से विभिन्न प्रकार के खनिज पदार्थों एवं जल का अवशोषण करके उन्हें पौधों को उपलब्ध कराते हैं और इस प्रकार वे पौधों की जड़ों की क्षमता को बढ़ाते हैं। इस प्रकार के सहजीवी सम्बन्धों को माइकोराइजा कहा जाता है। आज माइकोराइजा बनाने वाले कवकों का महत्व बहुत बढ़ गया है क्योंकि अब यह सिद्ध हो चुका है कि इनके द्वारा पौधों की वृद्धि और उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है।

कवकों की पौधों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्धों की बात सर्वप्रथम सन् 1842 में विटाडिनी नामक वैज्ञानिक ने बताई लेकिन इस प्रकार के सम्बन्धों को "माइकोराइजा" नाम 1885 में फ्रैंक नामक वैज्ञानिक ने दिया। आज से बीस-पच्चीस साल पहले तक वैज्ञानिकों ने इस प्रकार के सम्बन्धों पर बहुत ध्यान नहीं दिया लेकिन हाल के अनुसंधानों ने पूरी तरह सिद्ध कर दिया कि इस भागीदारी में कवक कार्बोहाइड्रेट की अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताएँ पौधों से पूरी करता है तथा बदले में यह उनकी जड़ों की सहायता करता है, जिससे की वे अधिक सुचारू रूप से भूमि से जल एवं पोषक तत्वों का अवशोषण कर सकें।

माइकोराइजा को मुख्य रूप से दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है : बाह्यमाइकोराइजा और अन्तः माइकोराइजा। बाह्यमाइकोराइजा पौधों की जड़ों पर तो बनता है परन्तु सहजीवी कवक जड़ों के बहुत भीतर प्रवेश

वनस्पति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

न करके उनके बाहर ही एक कवच-सी रचना बना लेता है। बाह्यमाइकोराईजा मुख्यतया वृक्षों की जड़ों पर बनते हैं तथा प्राय: उच्च वर्गों के कवकों (मुख्यत: बैसीडियोमाइसिटीज) द्वारा बनाये जाते हैं। आज ऐसे कई हजार वृक्ष खोजे जा चुके हैं जिनमें इस प्रकार का माइकोराइजा बनता है। साथ ही कवकों की पाँच हजार से अधिक ऐसी जातियाँ खोजी जा चुकी हैं, जो इस प्रकार का सहजीवी सम्बन्ध बनाने में सक्षम हैं। इनमें से कुछ जातियों का प्रयोग तो व्यावसायिक स्तर पर किया जाने लगा है। जंगली क्षेत्रों, बंजरों एवं प्रतिकूल दशाओं वाले क्षेत्रों में वृक्षों की नयी पौध लगाने के पहले, उनकी जड़ों पर सक्षम कवकों का टीका संरोपित कर दिया जाता है जिसके फलस्वरूप उनमें बाह्यमाइकोराइजा विकसित हो जाता है जो उनकी वृद्धि और उत्पादकता बढ़ाने में सहायता करता है।

अन्त:माइकोराइजा बनाने वाले कवक जड़ों से बड़ा प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। उनके तन्तु जड़ों के काफी भीतर प्रवेश कर जाते हैं तथा विभिन्न प्रकार की रचनाएँ बनाकर अपना कार्य सम्पादित करते हैं। अन्त:माइकोराइजा तीन प्रकार के होते हैं: **आर्किडों** में पाये जाने वाले अन्त:माइकोराइजा को **आरकिडेसियस** कहते हैं। दूसरे प्रकार के अन्त:माइकोराइजा को **एरिकेसियस** कहते हैं। ये दोनों प्रकार के माइकोराइजा बहुत सीमित पौधों में पाये जाते हैं। तीसरे प्रकार के अन्त:माइकोराइजा को **वेसीकुलर आरबसकुलर माइकोराइजा** (वीए माइकोराइजा) कहते हैं। ये अधिकांश पादप जातियों में पाये जाते हैं। कुछ अपवादों को छोड़ कर अब तक ये लगभग सभी कुल के पौधों में देखे जा चुके हैं। ऐसा अनुमान है कि यह माइकोराइजा विश्व के लगभग नब्बे प्रतिशत पेड़-पौधों में पाया जाता है।

कवकों की कुछ विशिष्ट जातियाँ ही वीए माइकोराइजा बनाने में सक्षम हैं। ये सभी जाइगोमाइसिटीज के एन्डोगोनेसी कुल के गिने चुने वंशों जैसे की **ग्लोमस, जाइगोस्पोरा, एकॉलोस्पोरा, स्क्लेरोसिस्ट्रिस, एन्ट्रोफास्पोरा** आदि के अन्तर्गत आते हैं। पिछले बीस वर्षों में इन वंशों की अनेकों जातियाँ खोजी गयी हैं और देखा गया है कि ये सभी प्रकार की फसलों, सभी प्रकार के भौगोलिक एवं जलवायु सम्बन्धी क्षेत्रों के एकवर्षीय व बहुवर्षीय पौधों के साथ सहजीवी सम्बन्ध बनाते हैं। जहाँ एक ओर इनका संबंध जलीय पौधों के साथ देखा गया है तो दूसरी ओर रेगिस्तानी पौधों से भी इनका संबंध पाया गया है। इन कवकों का पूरा जीवन-चक्र ज्ञात नहीं है, लेकिन इनके द्वारा उत्पन्न कुछ विशिष्ट संरचनाओं के द्वारा इन्हें पहचाना जाता है। इनके जीवाणु हर प्रकार की जलवायु और हर प्रकार कीं मृदा में पाये गये हैं। ये बीजाणु अंकुरण करके अंकुरण नलिका बनाते हैं जो जड़ों का भेद कर भीतर पहुँच जाती है। जड़ों के भीतर अंतरकोशिकीय कवकतन्तुओं का जाल बनता है, जो दो प्रकार की संरचनायें बनाते हैं: अंतरकोशिकीय वेसीकिल और अंतराकोशिकीय आरबसकूल। वेसिकिलों को संग्राहक अंगों के रूप में मान्यता दी गयी है जबकि आरबसकूलों को चूषकांग माना जाता है और ऐसा समझा जाता है कि इन्हीं के द्वारा कवकों और पौधों के बीच पोषक का आदान-प्रदान होता है। वेसिकिल विभिन्न प्रकार के होते हैं परन्तु आरबसकूल सदैव द्विशाखित तन्तुओं के गुच्छे के रूप में मिलता है। जड़ों के बाहर भी कवकतन्तुओं का जाल बनता है जिस पर बीजाणुओं का निर्माण होता है।

वीए माइकोराइजा बनाने वाले कवक अपना जीवन अविकल्पी परजीवी के रूप में बिताते हैं। आज तक इन्हें संश्लेषित माध्यमों पर संवर्धित करने में कोई सफलता नहीं मिली है। इनमें जाति विशेष के लिये कोई विशिष्टता नहीं देखी गयी है तथा ये किसी भी पौधे से संबंध बना सकते हैं। हाँ, उनमें संबंधों की कितनी प्रगाढ़ता हो, इसमें भिन्नता हो सकती है। अब यह पूरी तरह सिद्ध हो चुका है कि जिन पौधों की जड़ों से ये कवक संबंध बनाते हैं उनसे ये उनके द्वारा निर्मित कार्बोहाइड्रेट में से एक अंश प्राप्त करते हैं।

पौधे अपने सभी पोषक तत्व मृदा से अवशोषित करते हैं। इनमें से कुछ तत्व जैसे फॉस्फोरस अपनी धीमी गति के कारण जड़ों तक उस शीघ्रता से नहीं पहुँच पाते जिस शीघ्रता से जड़ें उनको अवशोषित करती हैं। इसके फलस्वरूप जड़ों के आसपास इनकी कमी बनी रहती है और पौधे इनको उस मात्रा में नहीं प्राप्त कर पाते जितनी उन्हें आवश्यकता होती है और इसका प्रभाव उनकी वृद्धि और उत्पादकता पर भी पड़ता है। उन मृदाओं में जहाँ इन तत्वों की वास्तविक कमी होती है वहाँ यह समस्या और भी बढ़ जाती है। इस समस्या का निदान ऐसे तत्वों की मृदा में बाहरी आपूर्ति से ही सम्भव है। लेकिन वीए माइकोराइजा की उपस्थिति में इस समस्या का निदान स्वतः हो जाता है। मृदा में दूर-दूर तक फैले कवकतंतु इन तत्वों को अवशोषित करके जड़ों में पहुँचा देते हैं और इस प्रकार पौधों की इन तत्वों की आवश्यकता पूरी हो जाती है और वे अपनी वृद्धि और उत्पादन सामान्य रूप से कर पाते हैं।

विभिन्न प्रकार के प्रयोगों द्वारा अब यह सिद्ध हो चुका है कि वीए माइकोराइजा बनाने वाले उपयुक्त एवं सक्षम कवकों का मनचाहे पौधों के साथ सम्बन्ध स्थापित कराकर उन्हें इस योग्य बनाया जा सकता है कि वे अपनी फास्फोरस की आवश्यकता पूरी कर सकें और बिना किसी अवरोध के अपनी वृद्धि एवं उत्पादन कर सकें। देखा गया है कि नवनिर्मित माइकोराइजा न केवल फास्फोरस वरन् जल एवं अन्य पोषक तत्वों जैसे जिंक व कापर के अवशोषण में भी पौधे की सहायता करता है। सम्भवतः अच्छे पोषण के कारण माइकोराइजामय पौधों की अन्य क्षमतायें भी बढ़ जाती है। **राइजोबियम, एजाटाबेक्टर, एजोस्पाइरिलम** जैसे जीवाणुओं के कारण ही पौधों की नाइट्रोजन आवश्यकता पूरी होती है। माइकोराइजामय पौधे इन जीवाणुओं की क्षमताओं का पूरा लाभ उठाते हैं तथा उनकी न केवल फास्फोरस वरन् नाइट्रोजन आपूर्ति में भी सुधार आ जाता है। अनेक प्रयोगों ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि माइकोराइजामय होने पर पोधा की रोगजनकों से प्रतिरोध करने की क्षमता भी बढ़ जाती है। हालाँकि इसके कारणों के विषय में वैज्ञानिक एकमत नहीं हैं फिर भी यह निश्चित है कि पौधों की इस क्षमता का उपयोग रोग-नियन्त्रण में सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

पौधों के लिए वीए माइकोराइजा की उपादेयता पूर्णतया सिद्ध हो चुकी है। विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के पौधों के रख-रखाव में एक प्रमुख संसाधन के रूप में इनका उपयोग आरम्भ हो चुका है। कृषि के क्षेत्र में आज अच्छा उत्पादन पूरी तरह से उर्वरकों पर निर्भर है, लेकिन उनके मूल्य एवं उनसे होने वाली हानियों को देखते हुए उनकी ओर झुकाव कम हो रहा है। ऐसे समय में वीए माइकोराइजा का महत्व स्वतः बढ़ जाता है। पूर्ण आशा है कि भविष्य में ये रासायनिक उर्वरकों का स्थान ले लेंगे।

आज पूरे विश्व में बढ़ती हुई जनसंख्या की मूलभूत आवश्यकताओं की आपूर्ति की चिन्ता हो रही है। इसी चिन्ता के फलस्वरूप कम उपजाऊ एवं बंजर भूमि को भी प्रयोग में लेने का अभियान चलाया जा रहा है। वनों के लुप्त होने के कारण पुनःवनरोपण कार्यक्रम भी चलाये जा रहे हैं। अपने गुणों के कारण इन सभी प्रयासों में वीए माइकोराइजा एक अहं भूमिका निभा सकता है। यह निश्चित है कि सभी प्रकार की प्रतिकूल दशाओं में माइकोराइजामय पौधे अधिक सक्षम सिद्ध होंगे।

व्यावसायिक स्तर पर वीए माइकोराइजा के प्रयोग में सबसे बड़ी अड़चन यह है कि अथक प्रयासों के बावजूद आज भी संश्लेषित माध्यमों पर इसका संवर्धन सम्भव नहीं हो सका है। वीए माइकोराइजा बनाने वाले कवकों का संरोप तैयार करने के लिए उन्हें कुछ विशेष पौधों पर नियन्त्रित दशाओं में गमलों में संवर्धित करना पड़ता

है। यह विधि काफी कठिन है और इसमें काफी समय लगता है। वीए माइकोराइजा जैसे अमूल्य और क्रान्तिकारी संसाधन मिल जाने से पूरी आशा है कि विश्व गरीबी, प्रदूषण एवं जनसंख्या वृद्धि जैसे विकराल राक्षसों से सामना कर पाने में समक्ष हो पायेगा हालाँकि यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम कितनी शीघ्रता से वीए माइकोराइजा बनाने वाले कवकों के संवर्धन की एक सस्ती विधि विकसित कर पाते हैं। ●

एक नयी भूमिका में होमियोपैथी : पादप रोगों का नियंत्रण

डॉ० के० के० खन्ना

मानव रोगों के निदान में होमियोपैथी औषधियाँ क्या कुछ कमाल कर सकती हैं, यह सर्वविदित है। बहुत ही असाध्य रोगों के निदान में भी इनसे सफलता मिल चुकी है। कभी-कभी तो इनकी सफलता से चिकित्सक भी आश्चर्यचकित हो जाते हैं। हालाँकि होमियोपैथी जैसी पद्धति का कुछ उल्लेख 300-400 वर्ष ई० पू० के हिप्पोक्रेट्स एवं उनके सहयोगियों के आलेखों में मिलता है, परन्तु 'होमियोपैथी' नाम देने का श्रेय सैमुअल हेनीमेन (1755-1843) को दिया जाता है। उन्होंने ही इस पद्धति को वैज्ञानिक आधार देकर प्रचलित किया तथा मानव रोगों के निदान में इसकी भूमिका की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करवाया।

रोगनिदान की होमियोपैथी पद्धति मुख्य रूप से इस परिकल्पना पर आधारित है कि जो पदार्थ मानव शरीर में विकार उत्पन्न करते हैं उन्हीं की अतिसूक्ष्म मात्रा से उस विकार का निदान हो सकता है। होमियोपैथिक औषधियाँ इसी मूलभूत सिद्धान्त के आधार पर बनायी जाती हैं। देखा जाता है कि एक विशेष पदार्थ स्वस्थ्य मानव शरीर में किसी प्रकार के लक्षण उत्पन्न करता है। उस पदार्थ से होमियोपैथी औषधि बनायी जाती है और इसे उन लक्षणों वाले विकार के निदान के लिये प्रयोग में लाया जाता है। होमियोपैथी औषधियाँ किसी भी पदार्थ को एक निश्चित मात्रा में एल्कोहॉल में घोल कर बनायी जाती हैं। इस प्रारम्भिक घोल (मदर टिन्कचर) से ही अति तनु घोल बनाये जाते हैं तथा उन्हें औषधि के रूप में प्रयोग किया जाता है। माना जाता है कि तनुता बढ़ने के साथ-साथ इन औषधियों की क्षमता (पोटेंसी) भी बढ़ती जाती है।

पिछले कुछ दशकों से पहले होमियोपैथी औषधियों का उपयोग केवल मनुष्यों के रोगों के निदान तक ही सीमित था। लेकिन आज यह माना जाने लगा है कि इनका उपयोग पशुओं और पौधों के रोगों के निदान के लिये भी किया जा सकता है। विभिन्न देशों के अनेक वैज्ञानिकों ने पिछले कुछ वर्षों में इस दिशा में काफी अनुसंधान किये हैं। उनके प्रयोगों से यह पूर्णतया सिद्ध हो चुका है कि होमियोपैथी औषधियों में पशुओं और पौधों के रोगों का निदान करने की भी क्षमता है।

आज पौधों के रोगों के निदान के लिये जिन रसायनों का उपयोग किया जाता है वे अत्यन्त विषैले होते हैं। ऐसे रसायन न केवल महंगे हैं वरन् ये वातावरण को भी प्रदूषित करते हैं। इनके इन्हीं अवगुणों के कारण अब पौधों के रोगों के निदान के लिये अन्य विधियों की ओर ध्यान दिया जा रहा है। जहाँ एक ओर होमियोपैथी औष-

बोटेनिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, मध्य क्षेत्र, इलाहाबाद-211002

धियाँ सस्ती हैं वहीं दूसरी ओर इनसे वातावरण के प्रदूषित होने का कोई खतरा नहीं है। इस दृष्टि से पादप रोगों के निदान के क्षेत्र में इनका भविष्य बहुत उज्जवल है।

होमियोपैथी औषधियों का पादपरोगों के लिये सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय **आइदिरिस** को जाता है, जिन्होंने अपने प्रयोगों के आधार पर 1967 में बताया कि पपीते के पौधे में जलभराव के कारण होने वाले विकारों का निदान **नेट्रम सल्फ्यूरिकम** 30 नामक औषधि से किया जा सकता है। साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि **नेट्रम म्यूरेटिकम** 30 आम के फलों को समयपूर्व गिरने से बचाती है तथा **काली म्यूरेटिकम** 12 उनके आकार में वृद्धि करती है। हालांकि **आइदिरिस** के प्रयोगों की विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है, फिर भी उनके प्रयोगों ने एक नयी सम्भावना की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया।

संभवतः आइदिरिस के प्रयोगों से प्रेरित होकर लखनऊ विश्वविद्यालय के **वर्मा तथा उनके सहयोगियों** ने तम्बाकू के मोजेक रोग पर विस्तार से प्रयोग किया तथा इस बात की सम्भावना प्रकट की कि होमियोपैथी औषधियों का प्रयोग पौधों के विषाणुजनित रोगों के निदान के लिये किया जा सकता है। अपने प्रयोगों से उन्हें पता चला कि **कार्बोविजेटेबिलिस, चिमाफिला, चीनोपोडियम,** एवं **सीड्रॉन** जैसी होमियोपैथी औषधियाँ **तम्बाकू मोजेक विषाणु** के गुणन को रोक देती हैं। लगभग इसी प्रकार के प्रयोग गोरखपुर विश्वविद्यालय के **भार्गव व उनके सहयोगियों** ने भी किये तथा पपीते के विषाण्विक रोग पर किये गये अनुसंधानों के आधार पर यह मत प्रकट किया कि पादपरोगों के निदान में होमियोपैथी औषधियाँ कारगर सिद्ध हो सकती हैं।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के **चन्द्र और उनके सहयोगियों** ने पौधों के कवकजनित रोगों की ओर ध्यान दिया। उनके प्रयोगों ने यह पूर्णतया सिद्ध कर दिया कि होमियोपैथी औषधियाँ रोगजनक कवकों के बीजाणुओं के अंकुरण में अवरोध उत्पन्न कर सकती हैं। इन प्रयोगों से प्रेरणा लेकर बहुत से अन्य वैज्ञानिकों ने भी ऐसी होमियोपैथी औषधियों का पता लगाया जो पौधों के रोगजनक कवकों पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं।

होमियोपैथी औषधियों के इन गुणों के पता लगने से इस बात की सम्भावना को बल मिला कि इनको पौधों के रोगों के निदान के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है। बहुत से वैज्ञानिकों ने इस दिशा में अनेक प्रयोग किये और इन औषधियों के द्वारा पौधों के कवकजनित रोगों पर नियंत्रण पाने में सफलता पायी। **खन्ना** और **चन्द्र** ने कई महत्वपूर्ण फलों के कवकजनित विगलन रोगों पर विस्तार से काम किया और बताया कि इन रोगों को होमियोपैथी औषधियों की सहायता के नियंत्रित किया जा सकता है। **पेस्टेलोशिया साइडाई** द्वारा उत्पन्न अमरूद के फलों के बिगलन को नियंत्रित करने में **काली आयोडेटम** 87 तथा **आरसीनिकम एल्बम** 181 अत्यन्त प्रभावी पायी गयीं। इसी प्रकार **फ्यूजेरियम रोजियम** द्वारा उत्पन्न टमाटर और केले के फलों के विगलन को नियंत्रित करने में **काली आयोडेटम** 149 अत्यन्त प्रभावी पायी गयी। आम व सेब के फलों के कवकजनित विगलनों के निदान के लिये क्रमशः **लाइकोपोडियम क्लेवेटम** 199 और **अश्वगंध** 200 औषधियों का प्रयोग अत्यन्त सफल रहा।

विगलन रोगों के साथ-साथ कुछ अन्य रोगों पर भी इन औषधियों के परीक्षण किये गये हैं। 'पर्ण अंगमारी' नामक रोग गेहूँ का एक प्रमुख रोग है। **काली आयोडेटम** 200 नामक औषधि इस रोग के रोगजनक **आल्टरनेरिया आल्टरनेटा** पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। पाया गया कि इस औषधि का प्रयोग करके इस रोग पर नियंत्रण पाया जा सकता है। पौधों के कुछ रोगों के लिये बीजोढ़ रोगजनक उत्तरदायी होते हैं। ऐसे रोगों पर नियंत्रण पाने के लिए बीजों को रोगजनकों से मुक्त कराना आवश्यक होता है। गेहूँ के बीजोढ़ कवकों पर किये गये प्रयोगों से पता चला

कि होमियोपैथी औषधियों की सहायता से बीजों को रोगजनकों से मुक्त कराया जा सकता है। इन प्रयोगों के परिणामों से इस बात की सम्भावना बनती है कि ये औषधियाँ बीजोढ़ रोगजनकों द्वारा उत्पन्न रोगों के नियंत्रण में भी प्रभावी हो सकती है।

देश-विदेश की विभिन्न प्रयोगशालाओं में इन औषधियों पर आज भी अन्वेषण चल रहे हैं। पादप रोगों के निदान में इनकी क्षमताओं के विषय में अब कोई दुविधा नहीं है। कई प्रयोगशालाओं में वैज्ञानिक अब इस बात का पता लगाने में लगे हैं कि ये औषधियाँ किस क्रियाविधि से अपना कार्य करती हैं। रोगजनक कवकों के बीजाणुओं पर किये गये कुछ प्रयोगों से पता चला है कि उनके अंकुरण के समय होने वाली कई महत्वपूर्ण क्रियाओं जैसे कि श्वसन, नाइट्रोजन उपापचय तथा कला पारगम्यता पर प्रभाव डालती हैं। सम्भवतः इसी प्रभाव के कारण बीजाणुओं का अंकुरण अवरुद्ध हो जाता है।

होमियोपैथी औषधियों की इस नयी भूमिका का अपेक्षित स्वागत हो रहा है, फिर भी, व्यावसायिक स्तर पर इनका प्रचलन अभी आरम्भ नहीं हुआ है। पादप रोगों के निदान में इन पर अब तक जितने भी परीक्षण हुए हैं उनमें से अधिकांश प्रयोगशालाओं तक ही सीमित रहे हैं। जब तक इनकी क्षमताओं की पुष्टि बड़े स्तर पर नहीं हो जाती, इनका आम प्रचलन में आना सम्भव नहीं हो सकेगा। हाँ अब तक के अनुसंधानों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पादप रोगों के नियंत्रण के क्षेत्र में इनका भविष्य उज्जवल है। ●

पादप रोग वैज्ञानिकों का सामाजिक उत्तरदायित्व

प्रो० एम० पी० श्रीवास्तव

देश की बढ़ती हुई जनसंख्या की मूलभूत आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिये सतत प्रयास हो रहे हैं। अनाज उत्पादन के क्षेत्र में भी हमने पर्याप्त प्रगति की है। इस शताब्दी के अंत तक हमारी जनसंख्या लगभग 100 करोड़ हो जायेगी। इसके लिये देश को 225 करोड़ टन अनाज की आवश्यकता होगी। इस बात को ध्यान में रखते हुए पादप रोग वैज्ञानिकों का उत्तरदायित्व भी बहुत अधिक बढ़ जाता है। उन्हें फसलों पर होने वाले रोगों पर काबू पाना होगा, जिससे कि रोगों द्वारा होने वाली क्षति को रोका जा सके। समाज के प्रति अपने इस उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिये पादपरोग वैज्ञानिकों को नियंत्रण विधियों में सुधार लाने के साथ-साथ पादप रोग विज्ञान के आधारभूत घटकों जैसे कि अध्ययन, शोध एवं प्रसार पर भी पुनर्विचार करना होगा।

अध्ययन

आज हमारा पादपरोग विज्ञान का अध्ययन व अध्यापन प्रयोगशालाओं तक ही सीमित है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। हमें कृषकों और उनकी रोग सम्बन्धी समस्याओं से अवगत होने का प्रयत्न करना होगा।

[प्रस्तुत आलेख हरियाणा एग्रीकल्चरल विश्वविद्याल द्वारा इन्डियन फाइटोपैथोलॉजिकल सोसाइटी (उत्तर क्षेत्र) के वार्षिक सम्मेलन (4 दिसम्बर 1989) में दिये गये अध्यक्षीय भाषण पर आधारित है।—सम्पादक]

कभी-कभी पौधों पर एक साथ जैविक व अजैविक कारकों का प्रकोप देखा जाता है। ऐसी स्थिति में विभिन्न रोगों का पहचानना और उनका निदान करना वास्तव में कठिन हो जाता है। पादपरोग विज्ञान के अध्ययन अध्यापन में इस ओर विशेष ध्यान देना होगा। पादपरोग वैज्ञानिकों को रोगों का सही पहचान करने और उनका निदान करने का पूरा ज्ञान होना चाहिये। पादपरोग विज्ञान के व्यावहारिक ज्ञान के लिये हमें स्नातकोत्तर स्तर की शिक्षा में आमूल परिवर्तन लाना होगा। स्नातकोत्तर विद्यार्थियों के लिये तीन वर्ष का कार्यक्रम होना चाहिये। कार्यक्रम के प्रथम दो वर्षों में उन्हें पादपरोगों के विषय में शिक्षा मिलनी चाहिये लेकिन तीसरे वर्ष का कार्यक्रम इस प्रकार का होना चाहिये जिससे कि उन्हें कृषकों व उनकी समस्याओं को समझने का अवसर मिल सके। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत इस बात का भी प्रयत्न होना चाहिये कि इन विद्यार्थियों को पादपरोग विज्ञान सम्बन्धी कार्यों में रत सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं के क्रिया कलापों का भी ज्ञान प्राप्त हो सके।

शोधकार्य

अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिये पादपरोग वैज्ञानिकों को अपने शोधकार्यों की दिशा में भी परिवर्तन लाना होगा। देश के विभिन्न प्रदेशों को अपनी प्राथमिकताएँ निर्धारित करनी होंगी। इन पर उस प्रदेश के वैज्ञानिकों को अधिक ध्यान देना होगा। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष समस्यायें पूरे देश की हैं। उन्हें इनके साथ भी जुड़ना होगा। आम, अमरूद और कपास से सम्बन्धित कुछ ऐसी समस्यायें हैं जिनके समाधान के लिये पादपरोग वैज्ञानिकों को कुछ दूसरे विषय के वैज्ञानिकों की सहायता लेना होगा। पादपरोगों के नियंत्रण में प्रयुक्त किये जाने वाले रसायन अत्यन्त महंगे हैं। साथ ही इनसे वायु, मृदा और जल के प्रदूषित होने का खतरा होता है। ऐसी स्थिति में पादपरोग वैज्ञानिकों को रोग नियंत्रण की अन्य सस्ती व हानिरहित विधियों का विकास करना होगा। जैव नियंत्रण के क्षेत्र में किये गये कार्यों से इस बात की पूरी सम्भावना बनती है कि भविष्य में ऐसी विधियाँ सामने आ सकती हैं। हाँ, इसके लिये पादपरोग वैज्ञानिकों को अथक परिश्रम करना होगा। पादपरोगों का सीधा सम्बन्ध जलवायु से है। उनकी तीव्रता बहुत कुछ जलवायु पर निर्भर करती है। जलवायु की पूर्व जानकारी होने पर कुछ ऐसी सावधानियाँ बरती जा सकती हैं जिससे कि रोग अधिक तीव्र रूप धारण न कर सके। आज इस बात की पूरी आवश्यकता है कि कृषकों को जलवायु की पूर्व जानकारी उपलब्ध करायी जाये जिससे कि वे समय रहते अपनी फसलों को रोगों के प्रकोप से बचा सकें। पादपरोग वैज्ञानिकों एवं सरकार को इस दिशा में भी काफी कुछ करना है।

प्रसार कार्यक्रम

पादपरोग वैज्ञानिकों के अनुसंधानों के आधार पर की गयी विभिन्न संस्तुतियों को कृषकों तक पहुँचाने के लिये उपयुक्त प्रसार कार्यक्रमों की आवश्यकता पड़ती है। इन प्रसार कार्यक्रमों को बनाने के लिये बहुत विस्तृत ज्ञान एवं सूझ-बूझ की आवश्यकता होती है। प्रसार कार्यक्रमों में संलग्न लोगों को इस बात की पूरी ट्रैनिंग मिलनी चाहिये कि वे किस प्रकार से कृषकों से सम्बन्ध स्थापित करें, किस प्रकार से उनकी समस्याओं को समझें और किस प्रकार से उनका हल ढूढें। उनमें इस बात की क्षमता होनी चाहिये कि वे ऐसे हलों को अपनाने के लिये कृषकों को प्रेरित कर सकें। प्रभावकारी नियंत्रण विधियों की सफलता रोगों के सही पहचान पर निर्भर करती है। इसके लिये यह आवश्यक है कि ग्रामीण क्षेत्रों में छोटी-छोटी प्रयोगशालायें स्थापित की जायें। यह कार्य वाहनों पर स्थापित प्रयोगशालाओं से और अच्छी तरह से सम्पादित हो सकता है। ●

पादप रोग विज्ञान का विकास : भारतीय सन्दर्भ में

डॉ० सुरेन्द्र नाथ श्रीवास्तव

पौधों पर लगने वाले रोगों से हम सभी परिचित हैं। गेहूँ पर लगने वाली गेरुई हो या जौ की बालियों को आघात पहुँचाने वाले कण्ड, अरहर की फसल में लगने वाला झुलसा रोग हो अथवा आलू की अंगमारी—हम इनसे अपरिचित नहीं हैं। इन रोगों तथा रोग कारक जीवों का अध्ययन, उनके कारण तथा निवारण के उपाय ही पादप रोग विज्ञान के विषय हैं। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में जहाँ जीवन मुख्यतः कृषि तथा कृषि उत्पादनों पर आश्रित हो, रोगों से फसलों की सुरक्षा संभवतः सर्वाधिक महत्व का विषय है। आज जबकि अपने देश में अनेक कृषि विश्वविद्यालय हैं, पादप रोग विज्ञान में अनेक पीएच० डी० निकलते हैं, केन्द्रीय संस्था इण्डियन काउन्सिल फार एग्रीकल्चरल रिसर्च (आई० सी० ए० आर०) की ओर से अनेक रिसर्च प्रोजेक्ट कार्य कर रहे हैं, मुख्य फसलों के रोग निवारण तथा उत्पादन पर अत्यधिक ध्यान दिया जा रहा है, ऐसा लगता है कि सब कुछ प्रारम्भ ऐसा ही था। किन्तु यह सत्य के विपरीत है।

अपने देश में, पादप रोग विज्ञान के विकास की, जैसा कि अध्ययन के प्रत्येक क्षेत्र में होता है, लम्बी शृंखला है। इस विज्ञान की भी अपनी एक कहानी है। समय-समय पर प्रस्तुत होने वाले शोध के नये आयामों, मानव जीवन की आवश्यकताओं तथा रोगकारक जीवों की आक्रमण-प्रत्याक्रमण नीतियों ने पादप रोग वैज्ञानिक के समक्ष सदैव चुनौती उपस्थित की है। प्रस्तुत लेख में इन्हीं परिवर्तनों की विभिन्न चरणों तथा घटनाओं से प्रभावित पादप रोग विज्ञान के इतिहास के उत्तार-चढ़ाव की तथा पादप वैज्ञानिकों के प्रयत्नों की चर्चा की गयी है।

उत्पत्ति के प्रारम्भिक वर्षों में पादप रोग विज्ञान अपने देश में, जैसा कि स्वाभाविक है, कुछ बिखरा-बिखरा सा था। यदि इस समय सीमा को 45 पूर्व का समय कहें और देखें तो यह स्पष्ट होगा कि उस समय यह विज्ञान कुछ विश्वविद्यालयों में वनस्पति शास्त्र में स्नातकोत्तर कक्षाओं का अंग मात्र हुआ करता था। अध्यापन एवं शोध कार्य में प्रमुखता व बल कवकों के वर्गीकरण, फिजियालोजी अथवा कोशिका विज्ञान को दी जाती थी, न कि उनसे उत्पन्न होने वाले पादप रोगों पर! हाँ, कुछ विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर कक्षाओं के अंतिम वर्ष में यह विषय 'स्पेशल पेपर' के रूप में पढ़ाया जाता था। विश्वविद्यालयों की अपनी समस्यायें भी थीं। वहाँ खुले में प्रयोग करने के लिये खेत नहीं थे, अधिकांश शोध प्रयोगशालाओं तक ही सीमित रह जाते थे। फिर साधनों की भी सीमायें थीं। इस दौरान, विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त नई दिल्ली में स्थित इण्डियन एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट (आई० ए० आर० आई०) के कवक विज्ञान एवं पादप रोग विज्ञान विभाग में कुछ विशेष ट्रेनिंग की सुविधायें थीं। वहाँ चलने वाले इस द्वि-वर्षीय स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम को पास करने पर एसोशियेटशिप का डिप्लोमा प्रदान किया जाता था। उस समय भी पूरे देश से मुश्किल से दो ही चार लोग पादप रोग विज्ञान में ट्रेनिंग कर पाते थे। कुल मिलाकर 45 पूर्व के समयकाल में खंडों में बँटे और प्रयोगशालाओं में सीमित इस अध्ययन का अधिक लाभ कृषकों तक नहीं पहुँचा।

धीरे-धीरे समय बदला। विश्व के अन्य विकसित देशों में पादप रोग विज्ञान के विकास का प्रभाव यह हुआ कि हमारे देश में भी इसे वनस्पति शास्त्र के घेरे से निकालकर स्वतंत्र मान्यता दी जाने लगी। आने वाले डेढ़-दो

रीडर, वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कालेज, इलाहाबाद-211002

दशकों में पादप रोग विज्ञान के अध्यापन तथा शोध करने की दिशा में बहुत प्रगति हुई। सन् 1945 में कानपुर के गवर्नमेन्ट एग्रीकल्चरल कालेज ने पहला कदम बढ़ाया और पादप रोग विज्ञान में स्नातकोत्तर (कृषि) की डिग्री प्रारम्भ की। सच तो यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भोजन तथा अन्न की आवश्यकता ने कृषि अध्ययन तथा अनुसंधान के ढाँचे में आधारभूत परिवर्तन करने के लिये सोचने पर मजबूर कर दिया। परिणामस्वरूप देश में अनेक कृषि विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालय खोले गये ताकि वे स्वतंत्र रूप से अपने कार्यक्रमों को नियोजित कर सकें। पहला कृषि विश्वविद्यालय उत्तर प्रदेश में सन् 1960 में खोला गया। आज देश में लगभग दो दर्जन विश्वविद्यालय हैं जिनमें पादप रोग विज्ञान पर विधिवत शोध कार्य हो रहा है।

वास्तव में पादप रोग विज्ञान भी वह शास्त्रीय विज्ञान तो रहा नहीं, उसके अन्दर से अनेक आयाम फूटे जो शाखाओं के रूप में पल्लवित तथा पुष्पित हो रहे हैं। पहले तो स्नातकोत्तर कक्षाओं में पादप रोग विज्ञान के छात्र को मुख्यतः कवक जनित रोग तथा कुछ जीवाणुजनित अथवा विषाणुजनित रोगों का अध्ययन करना पड़ता था, किन्तु आज संयोजित पाठ्यक्रमों के माध्यम से एपिडेमियोलाजी, भविष्यवाणी तथा हानि निर्धारण, मृदा पादप रोगों के अर्न्तसंबंधों की जैव रासायनिकी, बीज पादप रोग विज्ञान, निमैटोलाजी, कवक नाशियों का रासायनिक अध्ययन आदि अनेक विषयों के माध्यम से ज्ञान का विस्तार हो रहा है।

अन्न की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुये भारत सरकार ने विशिष्ट ट्रेनिंग के लिये काफी संख्या में कृषि वैज्ञानिकों को विदेशों में ट्रेनिंग के लिये भेजा। स्वाभाविक था कि इस योजना में अनेक पादप रोग विज्ञानी भी गये। इस ट्रेनिंग प्रोग्राम का लाभ यह हुआ कि अनेक ऐसे वैज्ञानिकों को, जो जीवाणुजनित अथवा विषाणुजनित रोगों में कार्य करना चाहते थे अवसर मिला। वैसे कवक जनित रोगों की तुलना में जीवाणुजनित और विषाणुजनित रोगों पर उतना ध्यान नहीं दिया गया, जितना दिया जाना चाहिए था।

जहाँ एक ओर कृषि विश्वविद्यालयों की स्थापना हो रही थी, वहीं दूसरी ओर नयी रणनीति के तहत देश में एक विशाल कृषि उत्पादकता प्रोग्राम प्रारंभ किया गया। इस प्रोग्राम के अन्तर्गत पाँच प्रमुख फसलों की अधिक उपजाऊ प्रजातियों को बहुत वृहद पैमाने पर बोया गया। ये फसलें थीं—गेहूँ, चावल, ज्वार, मक्का और बाजरा। एकदम से ऐसा लगा कि कृषि के क्षेत्र में और विशेष रूप से अन्न उपजाने के मामले में हमारा देश छलांग लगा गया। किन्तु शीघ्र ही यह स्पष्ट होने लगा कि अधिक अन्न उपजाने वाली इन प्रजातियों में रोग लगने की संभावना अधिक है। उदाहरण के लिये, भारत में जब धान की बौनी जातियों का रोपण किया गया तो उनमें 'लीफशीथ ब्लाइट रोग' लगने लगा। इस रोग का अपने देश में पहले अता-पता ही नहीं था। इसी प्रकार बाजरे की नयी संकर जाति में 'डाउनी मिल्ड्यू' तथा 'अर्गट रोग' फैलने लगा। कहने का अर्थ यह है कि उत्पादकता बढ़ाने के लिये कितना ही प्रयास कृषि के अन्य क्षेत्रों में क्यों न किया जाय, पादप रोग वैज्ञानिक की आवश्यकता हर हाल में महसूस की जाती है। इन नये रोगों की चुनौती कृषि विश्वविद्यालयों के शोधकर्ताओं ने स्वीकार की, और समस्या का समाधान निकाला। हाँ, यह अनिवार्य है कि पादप रोग वैज्ञानिक को अपने साथ पादप ब्रीडिंग वैज्ञानिकों को लेना पड़ेगा, तभी समस्या का मूलभूत निराकरण संभव है।

कृषि को और अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये किये जाने वाले सभी उपायों में पादप रोगों की समस्या एक महत्वपूर्ण विषय है। विभिन्न क्षेत्रों के कृषि वैज्ञानिकों के समन्वय के साथ आई. सी. ए. आर. 'आल इण्डिया

कोआर्डिनेटेड क्राप इम्प्रूवमेन्ट प्रोग्राम' के अन्तर्गत देश के सभी भागों में वहाँ की फसलों की प्रोन्नति में सराहनीय कार्य किया। इन प्रोग्रामों का एक लाभ तो यह हुआ कि वैज्ञानिकों को बड़े परिणाम और पैमाने में रोग प्रतिरोधक वाले 'जर्म प्लास्म' को छाँटने और 'टेस्ट' करने की सुविधा मिली, और दूसरा यह कि कवक नाशक रसायनों का भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में छिड़के जाने से उत्पन्न होने वाले प्रभावों के आकलन में सुविधा हुई। आज देश में भोज्यान्न फसलों, वाणिज्य फसलों, औषधीय तथा सुगन्ध देने वाले पौधों, सजावटी पौधों, चारा देने वाली फसलों आदि अनेकानेक वर्ग के पौधों पर अनुसंधान कार्य चल रहे हैं।

वास्तव में कृषि संबंधी अनुसंधानों का उपयोग दिन प्रतिदिन के कृषक जीवन में कैसे किया जाय, इसके लिये सन् 1916 में प्लान्ट प्रोटेक्शन, क्वैरेन्टाइन तथा स्टोरेज के निदेशालय की स्थापना हुई। प्रारम्भ में तो निदेशालय का कार्य खेतों को टिड्डियों आदि से होने वाले हानियों से बचाना था, किन्तु धीरे-धीरे इसके क्षेत्र का विस्तार हुआ और आज इसके माध्यम से राज्य तथा केन्द्र सरकारों को कीटनाशक दवाइयों आदि से संबंधित अनेक तकनीकी सलाहें दी जाती हैं। निदेशालय पहले की अपेक्षा काफी बड़ा भी हो गया है। इनके अनेक 'क्वैरेन्टाइन स्टेशन' बन्दरगाहों और मुख्य नगरों में स्थित हैं।

उपरोक्त वर्णित सारे अभियान अपनी जगह उपयुक्त हैं किन्तु ये सभी प्रयास अलग-थलग पड़े होते यदि 'इण्डियन फाइटोपैथोलाजिकल सोसायटी' की स्थापना न हुयी होती। इण्डियन फाइटोपैथोलाजिकल सोसायटी, जिसका प्रारम्भ सन् 1947 में मात्र 20 सदस्यों से हुआ था, आज एक विशाल संस्था के रूप में जानी जाती है। पिछले वर्ष सन् 1991 में सदस्यों की संख्या लगभग 1800 तक थी जिसमें 103 सदस्य विदेशों के हैं। सदस्यता के आधार पर यह अमेरिकन और जापानी सोसायटी के बाद विश्व के तीसरे क्रम में रखी जाती है। इस संस्था के द्वारा निकाली जाने वाली शोध पत्रिका, **इण्डियन फाइटोपैथोलॉजी** ने देश के सभी पादप रोग वैज्ञानिकों को एक सूत्र में पिरोने का कार्य किया है। आज इस संस्था का कार्यभार इतना अधिक बढ़ गया है कि कार्य कुशलता व उचित संचालन के लिये देश को सात 'जोन' (मण्डलों) में बाँट दिया गया है।

विगत 45 वर्षों में पादप रोग विज्ञान ने बहुत अधिक प्रगति की है। इसमें सोसायटी का अत्यन्त महत्वपूर्ण हाथ है। आज मानव जीवन से सीधे सम्बन्ध रखने वाले इस विज्ञान के पास धन है, शोध की सुविधायें हैं, जन-संचार माध्यमों द्वारा तथा सीधे खेत-खलिहानों तक प्रयोग करने तथा प्रतिफल देने के मार्ग हैं—किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह सब विस्तार मात्र परिमाणात्मक ही तो नहीं हो रहा है? उसमें गुणात्मकता की कमी तो नहीं आ रही है, कितने प्रतिशत शोध कार्यों की पुनरावृत्ति होती रहती है, और कितनों में मौलिकता है? आज आवश्यकता है ईमानदारी से शोधकार्यों के सही मूल्यांकन की।

अब यह स्पष्ट हो चला है कि रोगकारक जीवों और पौधों के बीच एक घटक महत्वपूर्ण है और वह है—वातावरण। कैसे इन तीनों के बीच समन्वय किया जाये कि पौधों को रोगी होने से बचाया जा सके? इस नये परिप्रेक्ष्य में पुराने कार्यों की पुनः समीक्षा करनी होगी और पूरे कृषि प्रबन्ध (Agicultural Management) में, नयी पृष्ठभूमि में, पादप रोग वैज्ञानिक को योगदान देना होगा।

इसी प्रकार आजकल 'माइकोराइजा' अर्थात् पौधों की जड़ों, भूमिगत तनों (राइजोम) या अन्य भूमिगत भागों से सम्बद्ध कवक पादपरोग विज्ञानियों के बीच विशेष चर्चा का विषय है। इन कवकों में बी ए एम

(V A M—Vesicular Arbuscular Mycorrhiza) ने विशेष रूप से वैज्ञानिकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। जैव-खाद के रूप में, बंजर भूमि को सुधारने में इनका प्रयोग किया जा रहा है। किन्तु एक बात का खतरा सदैव बना रहता है। कहीं ऐसा तो नहीं कि पादप रोग वैज्ञानिक फैशन बदलने के साथ-साथ नये फैशन में अपने को मात्र इसलिये ढालता है कि यही जमाने का चलन है ? यदि ऐसा है तो इसका सही मूल्यांकन कौन करेगा ?

एक अंतिम, किन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वे संस्थान या व्यक्ति या अधिकारी जो प्रयोगशालाओं की खोजों को कृषकों तक पहुँचाने के लिये नियुक्त किये गये हैं, किस हद तक अपने कार्य को निभा पाये हैं ? मेरे इस प्रश्न के उत्तर में हो सकता है कि आँकड़ों के ढेर लग जायें, किन्तु आँकड़ों की गणना सत्य के समक्ष फीकी पड़ती दिखायी देती है।

बहरहाल, लेख के प्रारम्भिक भागों को पढ़ने से लगेगा कि पादप रोग विज्ञान ने बढ़ते-बढ़ते भारत को अपने क्षेत्र में स्वर्ग बना दिया है, और कुछ अर्थों में यह बात सही भी है, किन्तु इस आत्म प्रवंचना में भ्रमित होने से पहले ही वस्तुस्थिति का सही निरीक्षण करना आवश्यक है और एक सच्चे पादपरोग विज्ञानी का वास्तव में यही उद्देश्य भी होना चाहिए। ●

भारत में पादप रोग विज्ञान सोसइटी के जनक : डॉ० मुंदकुर

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

डॉ० बालचन्द्र भवानी शंकर मुंदकुर उन विरले भारतीय वनस्पति विज्ञानियों में से एक हैं, जिन्हें भारत में पादप रोग विज्ञान को एक प्रतिष्ठित विज्ञान के रूप में स्थापित करने का गौरव है। डॉ० मुंदकुर के नाम से तो मैं तभी से परिचित था जब मैं बी. एस-सी. का विद्यार्थी था। किन्तु उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से गहरा परिचय उस समय हुआ जब एम. एस-सी. अन्तिम वर्ष में मैंने प्लांट पैथोलाजी स्पेशल पेपर के रूप में अध्ययन के लिए चुना।

मेरे गुरु प्रोफेसर कामेश्वर सहाय भार्गव, जो गोरखपुर विश्वविद्यालय के वनस्पति विभाग के संस्थापक विभागाध्यक्ष थे, उनसे अनेक अवसरों पर प्रोफेसर मुंदकुर के विषय में सुनने का सौभाग्य मिला।

प्रोफेसर मुंदकुर की कार्यस्थली मुख्य रूप से भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान (I A R I) और पूना विश्वविद्यालय का वनस्पति विज्ञान विभाग रही। अपने कार्यकारी जीवन के अंतिम वर्षों में उन्होंने पूना विश्वविद्यालय में वनस्पति विज्ञान की शिक्षा को मूर्तरूप प्रदान किया।

प्रोफेसर मुंदकुर एक महामानव, आदर्श शिक्षक और समर्पित अनुसन्धानकर्ता थे। बुरे स्वास्थ्य के बावजूद आजीवन उन्होंने जिस लगन, जिस तपस्या से कार्य किया, वह प्रशंसनीय तो है ही, अनुकरणीय भी है। कर्म को वे 'पूजा' से कम नहीं मानते थे। किसी भी बात को घुमा-फिराकर कहने के वे आदी नहीं थे। बिना किसी लाग लपट के वे सीधी-सच्ची बात कहते थे और इसी कारण कभी-कभी दूसरों को चोट भी पहुँचती थी, पर अंदर से वे

रीडर, वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कालेज, इलाहाबाद-211002

नारियल की भाँति मुलायम थे। उनसे बात करने में आनन्द आता था, क्योंकि उनकी बात में हास्य-विनोद का पुट होता था।

प्रोफेसर मुंदकुर को 'किताबी कीड़ा' कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। किन्तु प्रखर प्रतिभा के धनी होने के कारण उनकी स्मरण शक्ति तेज थी। लगातार अस्वस्थ रहने और अत्यधिक कार्य के दबाव के कारण कभी-कभार उनके व्यवहार में चिड़चिड़ापन झलकता था, पर वे दिल के साफ व्यक्ति थे। किसी के प्रति कटुता का भाव नहीं रखते थे।

प्रोफेसर मुंदकुर के जीवन का अधिकांश समय कवकों के संग्रह, वर्गीकरण और उनके सही नाम पता करने में बीता। उन्होंने अपने इर्द-गिर्द कवकों के अध्ययन का केन्द्र स्थापित कर रखा था। उनके शोध पत्रों की संख्या अत्यधिक थी। वे सारे विश्व में जाने जाते थे और आवश्यकता पड़ने पर सदैव दूसरे कवकविज्ञानियों की मदद करते रहते थे।

डॉ० मुंदकुर से पहले पौधों पर रोग उत्पन्न करने वाले कवकों का अध्ययन प्रगति पथ पर तो था, किन्तु एकांगी था। कवकों के जीवन-चक्र, पोषण आवश्यकताओं, सही पहचान और दूसरे पक्षों पर ध्यान दिया जाने लगा, यह डॉ० मुंदकुर का ही प्रभाव था। पहले ऐसा समझा जाता था कि कवक हानिकर ही होते हैं, किन्तु उनके उपयोगों की जानकारी डॉ० मुंदकुर ने दी। कवकों के प्रतिजैविकों (एण्टीबायोटिक्स) के रूप में उपयोग, पादपों की वृद्धि में सहायक होना, किण्वन उद्योग में उपयोग, खाद मिट्टी (ह्यूमस) तैयार करने, और कुछ अन्य कवकों के विनाशकारी गुण को रोकने में कवकों की महत्वपूर्ण भूमिका है।

प्रो० मुंदकुर ने भारत के कवकों **यथा अस्टिलैजिनेल्स, यूरेडिनेल्स, सिनकिट्रियम, फाइलोस्टिक्टा, पेस्टे-लोजिया** पर उल्लेखनीय शोधकार्य किया है।

बटलर और **बिस्बी** ने 1931 में 'फंजाई ऑव इण्डिया' (भारत के कवक) नाम से एक मोनोग्राफ की रचना की, जिसमें कवकों की 2,351 प्रजातियाँ सम्मिलित थीं, किन्तु इसमें **मिक्सोमाइसिटीज** शामिल नहीं किए गए। 1938 में मुंदकुर ने सप्लीमेंट लिख कर इस कमी को पूरा कर दिया। इस प्रकार कवकों की प्रजातियों की संख्या 2,351 से बढ़कर 2875 हो गई। इसमें 90 प्रजातियाँ **मिक्सोमाइसिटीज** की थीं। आज तो पहचाने गए कवकों की संख्या बढ़ती ही जा रही है।

प्रोफेसर मुंदकुर ने अपने संग्रह से अनेक कवक प्रजातियों को देश-विदेश के वैज्ञानिकों के लिए उपलब्ध भी किया। इससे उनका सम्पर्क क्षेत्र व्यापक हो गया। अपने मित्रों की सहायता से डॉ० मुंदकुर ने "इण्डियन फाइटो-पैथोलॉजिकल सोसाइटी" नामक संस्था को जन्म दिया, स्थापित कर दिया। वे इस बात के लिए सदैव तत्पर और चिंतित रहते थे कि इस सोसाइटी द्वारा प्रकाशित जर्नल (शोध पत्रिका) उच्च स्तर की हो।

वे अपने विद्यार्थियों और सहकर्मियों की जमकर खिंचाई भी करते थे, यदि उनके काम में किसी प्रकार की ढिलाई पाते थे किन्तु अच्छे काम की उन्होंने सदैव प्रशंसा की। वास्तव में वे चाहते थे कि उनके सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्ति उन्हीं की तरह लगन से कार्य करें। गोकि उनका व्यक्तित्व महान था फिर भी वे अपने विद्यार्थियों और सहकर्मियों को बराबर का दर्जा देते थे। यह उनका बड़प्पन था। विद्यार्थियों को स्वतन्त्र चिंतन के लिए प्रेरित करते थे।

इस छोटे लेख में न तो मेरी मंशा है और न ही क्षमता जो मैं प्रो० मुंदकुर के कार्य को ढंग से प्रस्तुत करूँ। प्रो० मुंदकुर अपने कृतित्व में अमर हैं। मैं इस कवक विज्ञानी, पादप रोग विज्ञानी और सबसे बढ़कर महामानव की स्मृति को इस अवसर पर नमन करता हूँ, शत-शत वन्दन करता हूँ।

प्रसिद्ध भारतीय पादप रोग विज्ञानी

भारत में पादप रोग विज्ञान में शोध की स्वस्थ परम्परा रही है। अनेक भारतीय पादप रोग विज्ञानियों ने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित करने के साथ ही भारत में पादप रोग विज्ञान को नींव को मजबूती प्रदान की है। कुछेक पादपरोग विज्ञानियों के विषय में यहाँ थोड़ी जानकारी दी जा रही है। इनके अतिरिक्त भी अनेक लब्धप्रतिष्ठ पादप रोग विज्ञानी हैं। इस लेख में मात्र सात के विषय में संक्षेप में लिखा जा रहा है, जिनके नाम से मेडल स्थापित किए गए हैं।

1. प्रो. जे. एच मित्तर

प्रो. जे. एच. मित्तर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग के संस्थापक अध्यक्ष (1919-1941) थे। भारत में इस विभाग का पादप विज्ञान का केन्द्र बनाने का श्रेय आपको ही है। डा० मित्तर का कवक विज्ञान और पादप रोग विज्ञान के प्रति विशेष लगाव था और उन्होंने इन्हीं से सम्बन्धित विषयों पर अनेक शोधपत्र प्रकाशित किए। उन्होंने इलाहाबाद और नैनीताल के कवकों और कवक रोगों का विस्तृत अध्ययन किया और अनेक नयी कवक प्रजातियों की खोज की और उनका ब्योरा प्रकाशित किया। अपने जीवन काल में प्रो० मित्तर अनेक शैक्षणिक एवं वैज्ञानिक संस्थाओं से जुड़े रहे और उनके उल्लेखनीय कार्यों के लिए उन्हें अनेक अवसरों पर सम्मानित किया गया।

2. प्रो. एस. एन. दास गुप्ता

प्रो. एस. एन. दास गुप्ता का शैक्षणिक जीवन अत्यन्त उज्जवल था। वे लखनऊ विश्वविद्यालय में 1934 में रीडर और पुनः 1949 में अध्यक्ष बने। उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय में पादप रोग विज्ञान, विषाणु विज्ञान, सूक्ष्म जैविकी के अध्ययन का विख्यात केन्द्र स्थापित किया। डा० दास गुप्ता ने कवकों के खारीपन, कवकों की पोषण आवश्यकताएँ, मैंगोनेक्रासिस, कुपोषण से आम में उत्पन्न रोग, जलीय कवक, मेडिकल माइकालोजी जैसे विषयों पर विशेष उल्लेखनीय कार्य किया है। इण्डियन फाइटो पैथोलाजिकल सोसाइटी ने उन्हें 1971 में अपना मानद सदस्य चुना।

3. प्रो. एम. एस. पावगी

प्रो. एम. एस. पावगी, डा. बी. बी. मुंदकुर अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक के विद्यार्थी थे। अपने गुरु की भाँति उन्होंने भी भारत में कवक विज्ञान और पादप रोग विज्ञान की नींव को मजबूत किया। उन्होंने काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी में कवक विज्ञान और पादप रोग विज्ञान का केन्द्र स्थापित किया। अस्टिलैजनी समूह के कवकों पर किया गया उनका शोध विश्वविख्यात है। वे भारतीय फाइटोपैथोलाजिकल सोसाइटी और देश-विदेश की अन्य अनेक वैज्ञानिक संस्थाओं से जुड़े थे। उन्हें अपने जीवन काल में अनेक पुरस्कार एवं सम्मान प्राप्त हुए। 1978 में उन्हें 'मुंदकुर स्मृति व्याख्यान पुरस्कार' देकर सम्मानित किया गया।

4. प्रो. आर. के. सक्सेना

पेरिस से डी. एस-सी. की डिग्री लेकर **डा. सक्सेना** इलाहाबाद विश्वविद्यालय में आ गए। कवक विज्ञान और पादप रोग विज्ञान में उनकी गहरी रुचि थी। उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग से 1959 में अध्यक्ष के रूप में अवकाश ग्रहण किया। डा० सक्सेना ने कुछ कवकों के माइटोकाण्ड्रिया और जलीय एवं मृदीय कवकों पर उल्लेखनीय शोध किया। वे देश-विदेश की अनेक वैज्ञानिक संस्थाओं के सदस्य रहे। 1969 में उन्हें भारतीय फाइटोपैथोलाजिक सोसाइटी ने सभापति चुनकर सम्मानित किया।

5. प्रो. एस. बी. सक्सेना

प्रो. सक्सेना ने अपना अध्यापकीय जीवन ग्वालियर से प्रारम्भ किया और 1948 में सागर विश्वविद्यालय आ गए, जहाँ वे 1978 तक कार्यरत रहे। सागर शीघ्र ही मृदीय कवक शोध का केन्द्र बन गया। स्वायल फंजाई (मृदीय कवकों) पर आप अधिकारी विद्वान माने जाते थे। उन्होंने अपने गुरु **डा० आर. के. सक्सेना** के सम्मान में एक नये कवक का नाम **सक्सेनिया वैसिफार्मिस** (Saxenaea vasiformis) रखा। वे देश-विदेश की अनेक वैज्ञानिक संस्थाओं के सदस्य थे और 1975 में भारतीय फाइटोपैथोलाजिकल सोसाइटी ने इन्हें सभापति चुना।

6. प्रो० आर. एन. टण्डन

प्रो० आर. एन. टण्डन ने लण्दन से डाक्टरेट की डिग्री ली थी। आप 1927 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रवक्ता नियुक्त हुए और 1965 में वनस्पति विभागाध्यक्ष की हैसियत से अवकाश ग्रहण किया। प्रो० टण्डन की ट्रेनिंग **प्रो० मित्तर** और **प्रो० डब्लू ब्राउन** द्वारा हुई। अपने कुशल नेतृत्व और शोध क्षमता के बूते पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग में कवक विज्ञान और पादप रोग विज्ञान का एक उच्चस्तरीय शोध केन्द्र स्थापित किया। आपने कवकों के पोषण लीफ-स्पाट रोग, और कोल्डस्टोरेज में रखे फलों के कवक रोगों पर जो शोध कार्य किया है, वह सारे संसार में सराहा गया है। आपको देश-विदेश की अनेक शोध संस्थाओं ने पुरस्कृत एवं सम्मानित किया। 1966 में आप इण्डियन फाइटोपैथोलाजिक सोसाइटी के सभापति और 1973 में इसी सोसाइटी से मानद सदस्य (आनरेरी फेलो) चुने गए।

7. प्रो० टी. एस. सदासिवन

प्रो० सदासिवन ने देश-विदेश की अनेक उपाधियाँ प्राप्त कीं। आपने अपना वैज्ञानिक जीवन पश्चिमी पाकिस्तान में (1941-1944) माइक्रोबायोलोजिस्ट के रूप में प्रारम्भ किया। 1944-1973 तक आप मद्रास विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग में वनस्पति विज्ञान में एडवांस्ड स्टडी के केन्द्र के निदेशक रहे। इन तीन दशकों के दौरान आपने पादप रोग विज्ञान, विशेष रूप से मृदीय कवकों द्वारा पादपों पर उत्पन्न किए जाने वाले रोगों के अध्ययन का एक उच्चस्तरीय शोध केन्द्र स्थापित किया। 1962-63 में आपको "शांति स्वरूप भटनागर मेमोरियल अवार्ड फार बायोलोजिकल साइन्सेज" श्रृंखला का प्रथम पुरस्कार पाने का गौरव प्राप्त हुआ। इसके बाद 1963 में "बीरबल साहनी मेडल" और 1973 में इण्डियन नेशनल साइन्स एकेडेमी का "सुन्दरलाल होरा मेडल" प्राप्त किया।

196- में आप इण्डियन फाइटोपैथोलाजिक सोसाइटी के सभापति चुने गए और इसी सोसाइटी के जर्नल "इण्डियन फाइटोपैथोलाजी" के अनेक वर्षों तक सम्पादक रहे। शोधपत्रों के अतिरिक्त अपने अनेक मोनोग्राफों की रचना की है और सम्पादन किया है। 'इण्टरनेशनल ट्रीटाइज' में आपके अनेक समीक्षात्मक आलेख प्रकाशित हुए हैं। ●

Presidential Addresses–IPS

1970 Entomogenous fungi and possibility of their use for biological control of insect pests in India ...M.J. Narasimhan

1971. Progress in the study of parasitism by *Rhizoctonia* ...H.K. Saksena

1972. Bacterial blight of rice ......D.N. Srivastava

1973. The Aphyllophorales in India ...K.S. Thind

1974. Control of rice diseases in India ...S.Y. Padmanabham

1975. Sugarcane Mosaic Retrospect and Prospects ...K.S. Bhargava

1976. Recent contributions towards epidemiology of wheat pests in India ... L.M. Joshi

1977. *Phytophthora parsitica* the scourge of pan (*Piper bettle*) L. ...S.B. Saksena

1978. Diseases of oilseed crops future plans and strategy for control under small holdings ...J. S. Chohan

1979. Variability, physioligic specialization and genetics of pathogenicity in graminicolous *Helminthosporia* affecting cereal crops A.P. Misra

1980. Managing the plant pathogens ...G. Rangaswami

1981. Training and research in plant pathology an appraisal ...R.S. Singh

1982. Prospects of mushroom cultivation in India ...R.L. Munjal

1983. Disease resistance in potato in India ...B.B. Nagaich

1984. Plant virology in India—past, present and future ...V.V. Chenulu

1985. Fungi, plant diseases and people ...M.M. Payak

1986. Chemicals for the control of plant diseases in India—an overview ...R.K. Grover

1987. Indian plant pathology—2000 A.D. ...Y.L. Nene

1988. Disease of pulse crops—an overview ...J.S. Grewal

1989. Phytobacteriology in India—Past, present and future prospects ...J.N. Chand

1990. Nematode micro-organism interactions—an appraisal ...Gopal Swarup

1991. The status of *Phytophthora* researches in our country ...R.S. Mehrotra

1992. Importance of edible mushrooms in Indian diet and factors responsible for low production of cultivated mushrooms ...H.S. Sohi

●●

Mundkur Memorial Lectures

1970. Certain problems of post-harvest diseases of fruits and Vegetables
...R.N. Tandon, Allahabad

1972. Yeasts and yeast phases of fungi pathogenic to humans, animals and plants
.. M.J. Thirumalachar, Pune.

1973. Seed pathology in relation to plant quarantine and seed industry of India
...S.P. Raychaudhuri, New Delhi.

1974. Some experiences as a plant pathologist ...R. Prasada, New Delhi.

1975. A lecture in memory of Professor Bhalchandra Bhavanishankar Mundkur.
...R.S. Vasudeva, New Delhi.

1976. Expanding horizon of microbial aerobiology ...S. Sinha, Agra.

1977. Reminiscences and observations on growth of plant Pathology in India.
...H.K. Saksena, Kanpur.

1978. Some notable contributions to studies in mycology ...M.S. Pavgi, Varanasi.

1979. Antibiotics in plant disease control-An overview of trends and needs
...M.R.S. Iyengar.

1980. Red rot of sugarcane and sugar industry—A review
...B.L. Chova, New Delhi.

1981. Certain biotic factors influencing pathogenicity in nematodes
...Abrar M. Khan, Aligarh.

1982. Green revolution--Its impact on plant diseases with special reference to cereals and millets ...H.C. Govindu, Banglore.

1986. Fungal toxins-their dimensions and definitions. ...K.S. Bilgrami, Bhagalpur.

1987. Education and training of a plant virologist ...K.S. Bhargava, Gorakhpur.

1988. Soil-plant-microbe inter-relationslip G. Rangaswami, Madras.

1989. Recent trends of researches in graminicolocus *Heluinthosporia* ...A.P. Misra.

1991. Biology of whitefly transmitted geminiviruses in India Anupam Verma, New Delhi.

1992. Emerging problems in Plant Bacteriology ...J.P. Verma, New Delhi.

M.S. Pavgi Lecture

1990. Plant Virology in developing countries ...D.V.R. Reddy.

1991. Biocontrol of Soil-borne fungal pathogens : Current status, future prospects and potential limitations ...A.N. Mukhopadhyay, Pantnagar

1992. Management of insect-pests and nematodes of sugarcane by microbes ...V.P. Agnihotri, Lucknow

Jeerasannidhi Award Lecture

1982. Discourse on aquatic phycomycetes of India ...S.N. Das-Gupta, Lucknow

1986. Opportunities for research on diseases of pulse crops ...Y.L. Nene, ICRISAT, Hyderabad.

1987. An outlook of nematology in India ...Gopal swarup, New Delhi

1988. Mushroom culture in India-Recent research findings ...H.S. Sohi, Shimla

1989. Plant virus replication ...Hari Om Agarwal, Shimla

1990. Entomogenous fungi in India and management of insect pests ...G.P. Agarwal, Jabalpur

1991. Chytricls status, study prospects and constraints ...Ram Dayal, Varanasi

1992. Vesicular-arbuscular mycorrhiza: Dimensions of its application ... Sudhir Chandra, Allahabad.

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय

विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1992

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।

(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।

(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।

(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।

(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1992 से दिसम्बर 1992 माह के बीच प्रकाशित हो।

(6) लेखक को साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।

(7) विज्ञान-परिषद् के सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।

(8) वर्ष 1992 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1993 है।

लेख निम्न पते पर भेजें—

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें ।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद वा रुचिकर हों ।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है । यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें ।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी ।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा । उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है ।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है । कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें ।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझाओं का स्वागत है ।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए । समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी ।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है । विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु०, चौथाई पृष्ठ 50.00; आवरण द्वितीय; तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु० ।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे,

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

विज्ञान

दिसम्बर 1992 अंक
जनवरी 1993 अंक
मूल्य : 5 रु०
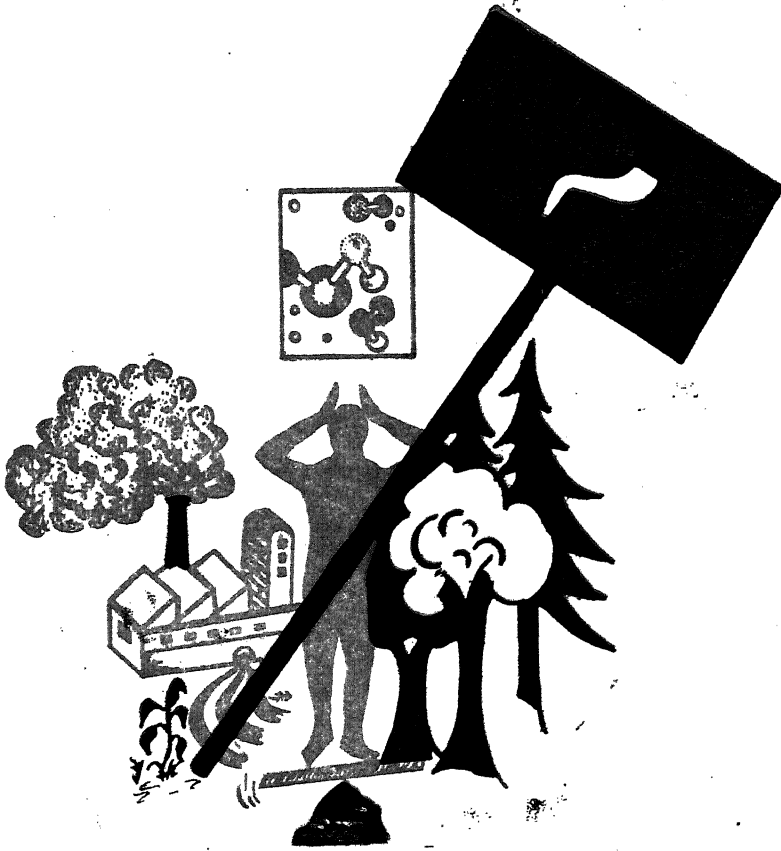
विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
दिसम्बर 1992-जनवरी 1993; वर्ष 78 अंक 9 एवं 10

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे
इस अंक का मूल्य : 5 रु०

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7 ए बेली एवेन्यू
इलाहाबाद-211002

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

कार्बनिक रसायन और रंजक

योगेन्द्र बहादुर सिंह 'सागर मीरजापुरी'

जीवधारियों से उत्पन्न हुए पदार्थों का अध्ययन विज्ञान की जिस शाखा के अन्तर्गत किया जाता है, उसे कार्बनिक रसायन कहते हैं। कार्बनिक पदार्थों के प्रायः निश्चित रंग होते हैं जो निश्चित वर्गों के यौगिकों की विशेषता होती है। कार्बनिक रसायन में रंजकों की दुनिया बड़ी ही रंगीन है। रंजक यानी वे पदार्थ जो अपनी मजबूत और बुलन्द रंगमिजाजी के साथ वस्त्रों से चिपकते हैं तथा प्रकाश, जल एवम् धुलाई के पदार्थों का इन पर कोई असर नहीं पड़ता। आइये, कार्बनिक रंगों की दुनिया का एक नजारा हम भी लें। हर रंगीन कार्बनिक पदार्थ रंजक नहीं, रंजक का प्रमुख गुण यह है कि वह वस्त्रों के साथ खूब दृढ़तापूर्वक चिपके और छूटे नहीं। परन्तु यह गुण हर रंगीन पदार्थ में हो, यह आवश्यक नहीं। जैसे कि, पिक्रिक अम्ल पीला रंजक है। यह वस्त्रों के साथ चिपक जाता है, जबकि ट्राईनाइट्रोटॉलूईन पीला होते हुए भी रंजक नहीं है।

अनेक रंजक खाये भी जा सकते हैं। ऐनिलीन यलो, बटर यलो तथा रोज एनिलीन आदि ऐसे रंजक हैं, जिन्हें खाया जा सकता है। ये ऐजो रंजक हैं। इन्हें वसा तथा पनीर के रंजन के लिए उपयोग में लाते हैं। इसे प्राप्त करने के लिए एनिलीन के साथ डाइएजोकृत एनिलीन का युग्मन करते हैं। मक्खन तथा तेलों के रंजन के लिए बटर यलो का इस्तेमाल होता है। इसे बनाने के लिए डाइऐजोकृत एनिलीन को डाइमेथिल-एनिलीन के साथ युग्मित करते हैं। खाद्य पदार्थों को रंगने के लिए रोज एनिलीन का खूब उपयोग होता है। यह ट्राइफेनिलमीथेन समूह का प्रमुख रंजक है। इसे बनाने के लिए एनिलोन (एक अणु), ओ-टालूडीन (एक अणु) तथा पी-टालूडीन (एक अणु) के मिश्रण का ऑक्सीकरण करते हैं तथा क्यूकोक्षार (उत्पाद्) को हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के साथ क्रिया कराते हैं। रोज एनिलीन के रवे (क्रिस्टल) चमकीले-हरे होते हैं। खाद्य-पदार्थों के अतिरिक्त रेशम तथा ऊन को रंगने के लिए इसका सीधा इस्तेमाल होता है तथा सूती वस्त्रों को इससे रंगने से पहले रंगबन्धन की क्रिया आवश्यक होती है।

मैलेकाइट ग्रीन, कोन्गो रेड, मेथिल रेड, मेथिल ऑरेंज, बिस्मार्क ब्राउन, क्रिस्टल वॉयलेट, रिसोर्सिन यलो, पैरा रोज एनिलीन, ऑरिन, फिनोल्फ्थेलीन, इओसिन, मर्क्यूरोक्रोम, ऐलिजारिन, परप्यूरिन, बेंजीन, फिनोल, नैफ्थलीन, पिक्रिक अम्ल, पाइरोगैलोल (बालों का रंजक), एम-फेनिलीन-डाइऐमीन (बालों का रंजक), तथा इन्डिगो आदि ऐसे रंजक हैं, जिन्हें खाया नहीं जाता। ये अखाद्य रंजक कहलाते हैं।

मैलाकाइट ग्रीन ताँबे का अयस्क होता है। इसका रंग गहरा नीला-हरा होता है। चूंकि इस रंजक का रंग मैलेकाइट से मिलता है, इसलिए इसे मैलेकाइट ग्रीन कहते हैं। यह क्षारीय गुणों वाला ट्राइफेनिल मेथेन रंजक है तथा 'आक्सेलेट' के नाम से यह बाजारों में उपलब्ध रहता है। रेशम तथा ऊन को रंगने में इसका सीधा प्रयोग होता है, परन्तु सूती वस्त्रों को इससे रंगने से पहले टैनिन के साथ रंग-बंधन की क्रिया कर लेते हैं। इसे प्राप्त करने के लिए गलित जिंक क्लोराइड की उपस्थिति में बेंजेल्डिहाइड को डाइमेथिल एनिलीन के साथ गर्म करते हैं तथा सर्व-

प्रवक्ता, के० एन० आई०, सुल्तानपुर-228118 (उत्तर प्रदेश)

प्रथम बने हुए ल्यूकोक्षार (रंगहीन) को लेड ऑक्साइड के साथ नमक के अम्ल (HCl) की अधिकता में ऑक्सीकृत करते हैं। कोन्गो रेड सूती वस्त्रों को लाल रंग देता है। इसको बनाने के लिए डाइऐजोकृत बेंजिडीन को 1-एमिनो नैफ्थेलीन-4-सल्फोनिक अम्ल के साथ युग्मित करते हैं। मेथिल ऑरेंज एक कच्चा रंजक है, जो काठ तथा रेशम में नारंगी रंग उत्पन्न करता है। यह क्षारीय विलयन में पीला रंग तथा अम्लीय विलयन में लाल रंग उत्पन्न करता है—यही इसकी खूबसूरती है और इसी कारण इसे सूचक के रूप में भी पहचाना जाता है। इसके अन्य 'सूचक' मित्र हैं : मेथिल रेड (यह डाइऐजोकृत ओ-एमिनोबेंजोइक अम्ल को डाइमेथिल एनिलीन के साथ युग्मन से बनता है।), कोन्गोरेड, ऑरिन, फिनोल्फ्थेलीन (बेयर नामक वैज्ञानिक ने 1871 में इसको रंगो की दुनिया से जोड़ा था। थैलिक एनहाइड्राइड (एक अणु) को फिनोल (दो अणु) के साथ Conc H_2 SO4 की उपस्थिति में गर्म करके इसे बनाते हैं।) रिसोर्सिनयलो सुनहरे पीले रंग का रंजक है। इसे बनाने के लिए डाइऐजोकृत सल्फैनिलिक अम्ल को युग्मित करते हैं। बिस्मार्क ब्राउन दो भूरे रंजकों का मिश्रण है। इसका उपयोग बूट-पॉलिशों के निर्माण, ऊन एवम् रंगबन्धक सूती वस्त्रों के रंजन में होता है। इसे हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में एम-फेनिलीन डाइएमीन के आधिक्य में नाइट्रस अम्ल की क्रिया द्वारा बनाते हैं। क्रिस्टल वायलेट एक महत्वपूर्ण ट्राईफेनिल मेथेन रंजक है। यह रंजक ऊन तथा रेशम के लिए तो उत्तम है, लेकिन सूती वस्त्रों को इससे रंगने से पहले रंग-बन्धन आवश्यक है। कागज तथा टाइप मशीनों के फीतों को लाल रंग (बैंगनी युक्त) देने में भी इसका उपयोग होता है। इसे बनाने के लिए (POCl3) की मौजूदगी में कीटोन को डाइमेथिल एनिलीन के साथ गर्म करते हैं। रंगहीन क्षारीय उत्पाद् को HCl के साथ क्रिया कराने पर रंजक प्राप्त होता है। लाल रंग वाला रंजक—पैरा रोज एनिलीन रेशम तथा ऊन को प्रत्यक्ष तथा सूती कपड़ों को टैनिन के साथ रंग-बन्धन के पश्चात् रंग प्रदान करता है। सन् 1859 में बगुईन ने इसे प्रथमतः रंगों की दुनिया से जोड़ा था। इसे बनाने के लिए नाइट्रोबेंजीन तथा HCl की मौजूदगी में एनिलीन (2 अणु) तथा पी-टॉलूडीन (एक अणु) की पारस्परिक अभिक्रिया कराते हैं। पीत-लाल रंजक ऑरिन (पैरारोजेलिक अम्ल) का उपयोग प्रमुखतः वाल-पेपर की छपाई में होता है। इसको बनाने के लिए डाइएजोकृत पैरारोज एनिलीन को जल के साथ उबालते हैं। इओसिन रंजक का इस्तेमाल लाल स्याही के निर्माण में सर्वाधिक होता है। ऊन तथा रेशम को रंगने के लिए (पीत-लाल रंग में) भी इसका उपयोग होता है। इसे बनाने के लिए फ्लूओरेसीन का प्रत्यक्ष ब्रोमीनीकरण करते हैं। मर्क्यूरोक्रोम तीव्र लाल रंजक हैं। इसे डाइब्रोमोफ्लूओरेसीन के पारद निवेशन (मर्क्यूरेशन) द्वारा सोडियम हाइड्राक्साइड (NaOH) की क्रिया द्वारा तैयार किया जाता है। ऐलिजारिन (1,2—डाइहाईड्राक्सी ऐन्थ्राक्विनोन) लाल क्रिस्टल के रूप में बनता है। यह विभिन्न बन्धकों के साथ मिलकर विभिन्न रंग उत्पन्न करता है। इस प्रकार ऐल्यूमिनियम रंग-बन्धक तीव्र लाल रंग उत्पन्न करता है (टर्की रेड), क्रोमियम-भूरा-बैंगनी, लोहा (फेरिक) बैंगनी काला तथा बेरियम रंग-बन्धक नीला रंग उत्पन्न करता है। एलिजारिन का क्षीण ऑक्सीकरण करने पर दूसरा रंजक-परप्यूरिन बनता है। प्राकृतिक इण्डिगो प्राचीन नीले रंजकों में से एक है। यह अनेक रंजकों का मिश्रण है। इण्डिगोटिन ($C_6H_{10}O_2N_2$) इसमें मुख्य घटक है जो गहरा नीला होता है। छपाई की स्याही बनाने में अत्यधिक रूप से सूती वस्त्रों की रंगाई में इसका उपयोग होता है।

चूर्ण रूप में उपलब्ध नारंगी रंजक-फ्लूओरेसीन का क्षारीय विलयन सुन्दर पीली-हरी प्रतिदीप्ति प्रदर्शित करता है। इसे प्रतिदीप्तिकारक रंजक कहते हैं। इसीलिए इसे सजावट के लिए उपयोग में लाते हैं। थैलिक एनहाइड्राइड को रिसोर्सिनॉल के साथ जिंकक्लोराइड की उपस्थिति में गर्म करके इसे बनाते हैं।

कार्बनिक रंजकों के जनक पदार्थ एन्थ्राक्विनोन खुद रंजक भी है और ऐलिजारिन रंजक का जनक भी। एन्थ्राक्विनोन रंजक के तथा और भी कई रंजकों के निर्माण में ऐन्थ्रासिन का प्रयोग होता है। नैफ्थिल एमीन को अनेक रंजकों के औद्योगिक निर्माण में उपयोग में लाते हैं। अल्फा-नैफ्थॉल से प्राप्त रंजक अधिक रंगीन होते हैं तथा β-नैफ्थॉल से प्राप्त रंजक हल्के रंग के होते हैं। फिनॉल का उपयोग फिनोल्फ्थेलीन तथा कुछ अन्य रंजकों के निर्माण में होता है। रिसॉर्सिनोल का उपयोग अनेक रंजक पदार्थों (जैसे: ऐजोरंजक, फ्लूओरेसीन, इओसीन) के औद्योगिक निर्माण में होता है। बेंजेल्डिहाइड मैलेकाइट-ग्रीन के औद्योगिक निर्माण में उपयोगी है। बेंजोइक अम्ल ऐनिलीन नील के निर्माण में उपयोगी है। टालूईन तथा हाइड्रॉक्सीटालूईन (क्रिसोल) कुछ रंजकों के निर्माण में जनक की भूमिका निभाता है। बिस्मार्क ब्राउन बनाने में एम-फेनिलीन का उपयोग होता है। ऐनिलीन, रंजक बनाने में उपयोगी है। मेथिल ऐनिलीन भी रंजक निर्माण में उपयोगी है। डाइफेनिल एमीन विशेष रंजकों के निर्माण में प्रयुक्त होता है। नाइट्रोबेंजीन हल्के पीले रंग का द्रव है। रखने पर इसका रंग गहरा जाता है। ऐजो-रंजकों के औद्योगिक निर्माण में इसका उपयोग होता है।

बेंजीन सल्फोनिक अम्ल, सल्फैनिलिक अम्ल, सिट्रिक अम्ल, टार्टरिक अम्ल, लैक्टिक अम्ल, थैलिक एनहाइड्राइड आदि कुछ अत्यन्त प्रचलित रंगबंधक हैं।

बेंजोइल परॉक्साइड ($C_6H_5CO.O.O.Co.C_6H_5$) तथा ऑक्सेलिक अम्ल ($(COOH)_2.2H_2O$)— ये दो बहुप्रचलित कार्बनिक विरंजक हैं। बेंजाइल परॉक्साइड का उपयोग गेहूँ के आटे को तथा ऑक्सोलिक अम्ल का- उपयोग स्याही के दाग हटाने, तिनकों (Straw) को विरंजित करने में होता है।

रंजकों के अध्ययनों के लिए प्रसिद्ध वैज्ञानिकों की श्रेणी में **रोजर एडम्स, कार्ल टी० लीबरमान**, ऑगस्ट **बी० वोन हाफमैन, रिचर्ड विलस्टैटर, आर्थर हैंच, वेयर, वर्गुईन** के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं इनमें **आर्थर हैंच** संरचना-परिवर्तन से सम्बन्धित रंजकों के रंग के क्रोमो-समावयवता-परिवर्तन के सिद्धान्तों को व्यक्त करने के लिए जाने जाते हैं तथा **रिचर्ड विलस्टैटर** फूल-वर्णक के अध्ययन के लिए प्रसिद्ध हैं।

■ ■

प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा : एक समर्पित व्यक्तित्व

श्रीमती मंजुलिका लक्ष्मी

आधुनिक युग की चकाचौंध और आपाधापी के बीच भी जब यदा-कदा श्री फूलदेव सहाय वर्मा जैसे सरल, निष्कपट और समर्पित व्यक्तित्व के दर्शन हो जाते हैं तो अनायास ही हृदय में मानवता की गरिमा के प्रति नई आस्था जाग उठती है। साथ ही यह भी सच है कि ऐसी महान विभूतियों के प्रयाण से समाज की जो भारी क्षति होती है उसकी पूर्ति आसानी से नहीं हो सकती। जीवन के दशवें दशक तक पहुँच कर जो थका न हो और विज्ञान तथा हिन्दी की सेवा को ही जिसने अपना सारा जीवन समर्पित कर दिया हो उसकी सेवाओं का मूल्यांकन करना ही कठिन है।

प्रो० वर्मा का जन्म 11 फरवरी सन् 1889 में बिहार के कौसंड (जिला सारन) नामक ग्राम में हुआ था। उस ग्रामीण वातावरण में माता-पिता की पाँचवीं सन्तान फूलदेव को बाल्यावस्था के प्रारम्भिक बारह वर्षों तक खेल-कूद की पूरी छूट प्राप्त थी। यह एक सुखद संयोग था कि शिक्षा प्रारम्भ होने के बाद अपने अध्ययन के विभिन्न कालों में उन्हें पं० रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० पी० सी० राय एवं डॉ० नीलरत्न धर सदृश उद्भट विद्वानों का निर्देशन और सान्निध्य प्राप्त हुआ। इसी के फलस्वरूप उनमें हिन्दी और विज्ञापन दोनों के प्रति गहरी अभिरुचि का विकास हुआ एवं दोनों ही क्षेत्रों में उन्होंने श्लाघनीय कार्य किया। सादगी से भरे हुए वर्मा जी ने अपना कार्यकारी जीवन बनारस हिन्दू विश्वविद्यायल में प्रवक्ता के रूप में प्रारम्भ किया था। सन् 1951 में 32 वर्षों के सफल कार्यकाल के पश्चात् वर्मा जी ने वहाँ से अवकाश ग्रहण किया। उनकी इस अवधि की उपलब्धियों के रूप में प्रकाशित होने वाली रसायन विज्ञान की पुस्तकों, हिन्दी वैज्ञानिक शब्दावली व हिन्दी विश्वकोश के नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। डॉ० आत्माराम तथा डॉ० अनन्त गोपाल झिंगरन सदृश महान वैज्ञानिकों का निर्माण भी उनकी उपलब्धियों की सूची में ही जुड़ा हुआ है। सन् 1951 में वहाँ से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् प्रो० फूलदेव सहाय ने बिहार विश्वविद्यालय के निरीक्षक के कार्यभार को सँभाल लिया। इस कार्यावधि में अवकाश के क्षणों में उन्होंने अनेक पुस्तकों का सृजन किया। 'पेट्रोलियम', 'कोयला', 'लाख और चपड़ा', 'रबर', 'प्लास्टिक' आदि औद्योगिक रसायन विषयक कृतियाँ उसी समय रची गईं। इनमें 'रबर', 'प्लास्टिक', 'ईख और चीनी' आदि पुस्तकें अनेक स्थानों से पुरस्कृत भी हुईं। इनके अतिरिक्त उन्हें विशिष्ट लेखन के लिए 'मंगला प्रसाद पुरस्कार' तथा हिन्दी संस्थान का 15,000 रु० का एक पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। सत्य तो यह है कि जिन मनीषियों ने हिन्दी भाषा में विज्ञान को उतारने की दिशा में पहल की है उनमें प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा का नाम अग्रणी है। प्रयाग की 'विज्ञान परिषद्' नामक हिन्दी में विज्ञान के प्रति समर्पित संस्था से उनका संबंध सन् 1920 से प्रारम्भ हुआ था जब सर्वप्रथम उनके लेख 'विज्ञान' नाम्नी पत्रिका में प्रकाशित होने आरम्भ हुए। इन लेखों के माध्यम से वर्मा जी ने प्रौद्योगिक रसायन संबंधी संपूर्ण श्रृंखला के रूप में बहुमूल्य सामग्री प्रदान की। आगे चल कर दो वर्षों के लिए (1938-40) तक आप विज्ञान परिषद् के अध्यक्ष पद पर भी

5ई/4 स्टाफ क्वार्टर्स, लिडिल, रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद-211002

सेहत

गुमराह करते हैं दवाओं के विज्ञापन

डॉ० विजय कुमार श्रीवास्तव

हम सभी अपना इलाज अपने आप करने के आदी हो गये हैं। जरा सा सिर दर्द या बदन दर्द हुआ नहीं कि ऐस्प्रिन, एनलजिन, एस्प्रो या पेनजान जैसी कोई दर्द निवारक दवा निगल ली। बुखार हुआ तो कोई बुखार दूर करने वाली दवा खा ली। पेट खराब हुआ तो पुदीन हरा, कायम चूर्ण या ऐसे ही किसी और नुस्खे से काम चला लिया। जुकाम हुआ तो ऐक्शन-500 या कोल्डारिन की मदद ली। इन दवाओं को खाने से पहले हम सिर दर्द, बदन दर्द, पेट की खराबी, बुखार, जुकाम आदि का कारण जानने की जरा सी भी कोशिश नहीं करते।

और कोशिश करें भी तो क्यों? हर प्रकार के प्रचार माध्यमों में ऐसी दवाओं के प्रभाव और रामबाण असर के एक से बढ़कर एक दावे जो किये जाते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में छपे तथा सड़कों के किनारे बड़े-बड़े होर्डिंग्स पर लगे ये विज्ञापन तो इन दवाओं के अचूक प्रभाव का अहसास भर कराते हैं, लेकिन दूरदर्शन पर आने वाले विज्ञापन तो केवल सेकण्डों और मिनटों में ही इनके असर को प्रत्यक्ष दिखा देते हैं। फिर तो दर्शक का उससे प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। और जब इन रोगों की दवा बताने वाला डॉक्टर घर में ही मुफ्त में सलाह दे रहा हो तो मोटी फीस देकर डॉक्टर के पास क्यों जायें। हमारे देश में तो केमिस्ट के यहाँ से दवा खरीदने के लिए डॉक्टर के पर्चे की अक्सर जरूरत ही नहीं होती है। एक अध्ययन के अनुसार यहाँ 50 प्रतिशत से भी अधिक दवाएं बिना किसी डॉक्टर के पर्चे के ही खरीदी जाती हैं।

परन्तु अनेक बार इस प्रकार के इलाज से लोगों को लेने के देने पड़ जाते हैं। हमें ऐसी हालत से दो चार केवल इसलिए होना पड़ता है कि हम दवाओं को केवल केमिस्ट की दुकान पर बिकने वाला उपचार समझ बैठते हैं। हम यह सोचते ही नहीं है कि सभी औषधियां एक रसायन होती हैं जो हमारे शरी पर अच्छा और बुरा दोनों तरह का प्रभाव डालती हैं। जब प्रभाव अच्छा होता है तभी रसायन दवा का काम करता है। कुछ रसायन केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में ही ओषधि का काम करते हैं। एक योग्य चिकित्सक किसी ओषधि के प्रयोग की सलाह देते समय इसके अच्छे और बुरे दोनों प्रभाव पर अच्छी तरह सोच विचार करता है। और उसी स्थिति में ही किसी दवा के इस्तेमाल करने की सिफारिश करता है जब उससे मिलने वाले लाभ हानि की तुलना में कहीं अधिक होते हैं।

किसी विज्ञापन से प्रेरित होकर ली जाने वाली दवा के प्रयोग का सबसे खतरनाक पहलू यह है कि ये दवाएं रोग का उपचार तो करती नहीं हैं बल्कि ये रोग के लक्षण को दबा भर देती हैं। दर्द के अहसास को कम कर

द्वारा डी-720, सरस्वती विहार, दिल्ली—110034

आसीन रहे। इस संस्था से इनका कितना गहरा लगाव था तथा इसकी डावांडोल आर्थिक स्थिति के प्रति वह कितने चिन्तित रहा करते थे इसका परिचय उनके 'आत्म जीवन' की कुछ पंक्तियों से मिलता है—"वैज्ञानिक पुस्तकों की भाषा सरल से सरल होनी चाहिए। प्रयाग की विज्ञान परिषद् ही एक ऐसी संस्था है जो केवल वैज्ञानिक साहित्य निर्माण की दृष्टि से पुस्तकों का प्रकाशन करती है पर जनता के सहयोग के अभाव से वह विशेष कार्य नहीं कर सकी है। जब तक वैज्ञानिक पुस्तकों के प्रकाशन का विशेष यत्न न किया जायेगा तब तक पुस्तकों का प्रकाशन संभव नहीं है।"

हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य के निर्माण संबंधी उनकी अनन्त सेवाओं को ध्यान में रखते हुए सन् 1979 में विज्ञान परिषद् ने वर्मा जी के नब्बे वर्ष पूरे करने के अवसर पर उनका अभिनन्दन किया। इस अवसर पर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के उभय पक्षों को उजागर करने वाली वैज्ञानिक ऋषि' नामक एक अभिनन्दन स्मारिका भी उन्हें समर्पित की गई। वर्मा जी अपनी अस्वस्थता के कारण प्रयाग आने में असमर्थ थे अत: यह कार्य एक आडम्बर-हीन समारोह में कानपुर में उनके निवासस्थान पर ही सम्पन्न हुआ। वे अपने कनिष्ट पुत्र के साथ रह रहे थे। इस शुभ अवसर पर उनके प्रिय शिष्य और महान वैज्ञानिक डॉ० आत्माराम भी उपस्थित थे। प्रो० वर्मा ने अपनी जीवन शैली और कार्यों से अपने 'आत्मजीवन' में अभिव्यक्त विचारों को प्रमाणित कर दिखाया है। उनका कहना था कि—"मेरे विचार में हिन्दी में सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों को अभिव्यक्त करने की पूरी क्षमता है। . . . विज्ञान को हम जनता तक तभी पहुँचा सकते हैं जब हिन्दी द्वारा उसका अध्ययन और विस्तार करें। . . . . यदि हमारी शिक्षा आज हिन्दी द्वारा हुई होती तो हमारे बीच अनेक रामन, बोस और राय हुए होते।"

प्रो० वर्मा के इस सफल जीवन की पृष्ठभूमि में उनके व्यक्तित्व में भरे अगणित अप्रतिम गुणों की पूँजी है। उनकी विनम्रता और कर्तव्यपरायणता, दिशानिर्देश की अनन्य क्षमता और शोधप्रियता आदि के साथ ही साथ राष्ट्रभाषा के प्रति उनकी अटूट निष्ठा और उनकी समृद्धि की दिशा में अनवरत प्रयास जैसे गुणों ने मिलकर उन्हें साधारण मानवों के स्तर से उठा कर ऋषितुल्य महामानवों की कोटि में प्रतिष्ठित किया है।

हिन्दी की गरिमा को द्विगुणित करने वाला यह प्रकाशमान दीप 4 सितम्बर 1982 को क्रूर काल के थपेड़ों से बुझ गया। आज उनकी जलाई उस ज्योति को प्रज्वलित रखने के लिए हिन्दी की प्रगति की दिशा में अपनी संपूर्ण शक्ति लगाना ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

■ ■

सेहत

गुमराह करते हैं दवाओं के विज्ञापन

डॉ० विजय कुमार श्रीवास्तव

हम सभी अपना इलाज अपने आप करने के आदी हो गये हैं। जरा सा सिर दर्द या बदन दर्द हुआ नहीं कि ऐस्प्रिन, एनलजिन, एस्प्रो या पेनजान जैसी कोई दर्द निवारक दवा निगल ली। बुखार हुआ तो कोई बुखार दूर करने वाली दवा खा ली। पेट खराव हुआ तो पुदीन हरा, कायम चूर्ण या ऐसे ही किसी और नुस्खे से काम चला लिया। जुकाम हुआ तो ऐक्शन-500 या कोल्डारिन की मदद ली। इन दवाओं को खाने से पहले हम सिर दर्द, बदन दर्द, पेट की खरावी, बुखार, जुकाम आदि का कारण जानने की जरा सी भी कोशिश नहीं करते।

और कोशिश करें भी तो क्यों? हर प्रकार के प्रचार माध्यमों में ऐसी दवाओं के प्रभाव और रामबाण असर के एक से बढ़कर एक दावे जो किये जाते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में छपे तथा सड़कों के किनारे बड़े-बड़े होर्डिंग्स पर लगे ये विज्ञापन तो इन दवाओं के अचूक प्रभाव का अहसास भर कराते हैं, लेकिन दूरदर्शन पर आने वाले विज्ञापन तो केवल सेकण्डों और मिनटों में ही इनके असर को प्रत्यक्ष दिखा देते हैं। फिर तो दर्शक का उससे प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। और जब इन रोगों की दवा बताने वाला डॉक्टर घर में ही मुफ्त में सलाह दे रहा हो तो मोटी फीस देकर डॉक्टर के पास क्यों जायें। हमारे देश में तो केमिस्ट के यहाँ से दवा खरीदने के लिए डॉक्टर के पर्चे की अक्सर जरूरत ही नहीं होती है। एक अध्ययन के अनुसार यहाँ 50 प्रतिशत से भी अधिक दवाएं बिना किसी डॉक्टर के पर्चे के ही खरीदी जाती हैं।

परन्तु अनेक बार इस प्रकार के इलाज से लोगों को लेने के देने पड़ जाते हैं। हमें ऐसी हालत से दो चार केवल इसलिए होना पड़ता है कि हम दवाओं को केवल केमिस्ट की दुकान पर बिकने वाला उपचार समझ बैठते हैं। हम यह सोचते ही नहीं है कि सभी औषधियां एक रसायन होती हैं जो हमारे शरी पर अच्छा और बुरा दोनों तरह का प्रभाव डालती हैं। जब प्रभाव अच्छा होता है तभी रसायन दवा का काम करता है। कुछ रसायन केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में ही ओषधि का काम करते हैं। एक योग्य चिकित्सक किसी ओषधि के प्रयोग की सलाह देते समय इसके अच्छे और बुरे दोनों प्रभाव पर अच्छी तरह सोच विचार करता है। और उसी स्थिति में ही किसी दवा के इस्तेमाल करने की सिफारिश करता है जब उससे मिलने वाले लाभ हानि की तुलना में कहीं अधिक होते हैं।

किसी विज्ञापन से प्रेरित होकर ली जाने वाली दवा के प्रयोग का सबसे खतरनाक पहलू यह है कि ये दवाएं रोग का उपचार तो करती नहीं हैं बल्कि ये रोग के लक्षण को दबा भर देती हैं। दर्द के अहसास को कम कर

द्वारा डी-720, सरस्वती विहार, दिल्ली—110034

देती हैं। इनके इस्तेमाल के पीछे उपयोगकर्ता की मानसिकता भी यही होती है। इसीलिए इनको इस्तेमाल करना बहुत बार हालत को और बिगाड़ देता है।

हर ओषधि के अपने दुष्प्रभाव और साइड इफेक्ट्स भी होते हैं। दवाओं के उपयोग के साथ बहुत से और भी खतरे जुड़े होते हैं। दवाओं के विज्ञापन में इन सबका कोई जिक्र नहीं होता है। फार्मास्युटिकल उद्योग ने दवाओं के लिए जो तरीका अपना रखा है उसके चलते कई बार डॉक्टर भी बिना जरूरत के एंटीबायोटिक्स दवाएं लिखने के मोह में आ जाते हैं। हमारे देश में उपभोक्ता ज्यादा सजग नहीं रहता और स्वास्थ्य के बारे में कुछ ज्यादा ही। वास्तव में एंटीबायोटिक्स दवाओं को बार-बार लेने पर शरीर पर उनका असर कम होता है। अब तो विशेषज्ञों का यह कहना है कि इनका फैलाव इतना ज्यादा हो चुका है कि बराबर सेवन से शरीर पर इनका प्रभाव नहीं के बराबर पड़ता है।

अनेक बार दो ओषधियाँ आपस में क्रिया करके खतरनाक प्रभाव पैदा करती हैं। ये प्रभाव जान लेवा भी हो सकते हैं। हर साल हजारों व्यक्ति इस प्रकार के हानिकारक प्रभावों का शिकार होकर अस्पतालों में भर्ती होते हैं। खून को पतला करने वाली 'एण्टी-कोआगुलेन्ट' ओषधियों का प्रभाव कई अन्य ओषधियों के प्रभाव में और बढ़ जाता है। बहुत अधिक इस्तेमाल की जाने वाली ऐस्प्रिन तथा कुछ अन्य ऐण्टीबायाटिक्स ऐसी दवाओं की सूची में शामिल हैं। ये सभी मिलकर रक्तस्राव को प्रेरित कर सकती हैं।

ओषधि किस माध्यम के साथ ली जा रही है उसका असर इस पर भी निर्भर करता है। जैसे टेट्रामाइक्लिन का असर दूध के साथ काफी कम हो जाता है। कुछ दवाएं खाली पेट असरदार होती हैं तो कुछ खाली पेट ली जाने पर नुकसान पहुँचाती हैं। ऐण्टीबायोटिक्स खाली पेट ली जाने पर आमाशय और आंत के अल्सर को जन्म दे सकती हैं।

दवाओं के विज्ञापन में दवाओं के उपयोग के साथ जुड़े इन महत्वपूर्ण पहलुओं का कोई जिक्र नहीं होता है। विज्ञापनों में यह भी नहीं बताया जाता है कि किन परिस्थितियों में विज्ञापित ओषधि का प्रयोग करना चाहिए और किन में नहीं? किस दवा की कुल कितनी खुराक ली जानी चाहिए और एक खुराक में दवा की कितनी मात्रा होनी चाहिए? दो खुराकों के बीच कितने समय का अन्तर होना चाहिए? कौन दो दवाएं साथ-साथ नहीं ली जानी चाहिए?

और ऐसी जानकारी दी भी क्यों जाय? प्रतिस्पर्द्धा के इस दौर में विज्ञापन का उद्देश्य तो महज किसी दवा को ज्यादा से ज्यादा बेचकर अधिक मुनाफा कमाना भर होता है। आदमी की सेहत से विज्ञापनदाता का क्या लेना-देना? दवाओं के लेबल पर आधे-अधूरे निर्देश और कुछ चेतावनी प्रकाशित कर देने भर से उसके कर्तव्य की इति श्री हो जाती है। यह अलग बात है कि अधिकतर ये लेबल अंग्रेजी में छपे होते हैं। ये आम आदमी की समझ में आयें या नहीं इस बात से विज्ञापनदाता का क्या सरोकार?

जहाँ तक खुराक का सवाल है वह तो अक्सर छपा ही रहता है। डॉक्टर की सलाह के अनुसार। अब यदि आपको उस दवा से पूरा लाभ लेना ही है तो डॉक्टर की फीस से बचाने के लिए विज्ञापन में दी गयी सलाह से दवा खरीदी—और अब फिर जायें उस डॉक्टर के पास—अब यह भी जरूरी नहीं कि आपने जो दवा खरीदी है

डॉक्टर आपको वही दवा खाने की सलाह दे। यदि ऐसा नहीं हुआ तब तो इलाज और भी महँगा पड़ा। अब यह निर्णय आपके हाथ में है कि चटपट लाभ होने का दावा करने वाले दवाओं के यह विज्ञापन जो सारी जरूरी बातें कभी बताते भी नहीं हैं कितने सच्चे होते हैं ? इसलिए बेहतर यही है कि यहाँ तक हो सके सन्तुलित जीवन और सन्तुलित आहार को अपनाते हुए रोगों को अपने पास न फटकने दें। और यदि तबीयत खराब हो भी जाय तब योग्य डॉक्टर से सलाह लेकर ही अपना इलाज करें। विज्ञापनों की चकाचौंध में पड़कर अपनी सेहत और पैसा न खराब करें। यदि तुरन्त ही दवा का प्रयोग आवश्यक हो और उस समय डॉक्टर उपलब्ध न हो तो बाद में ही सही डॉक्टर की सलाह जरूर लें।

(सम्प्रेषण)

●●

विश्व एड्स दिवस (1 दिसम्बर) पर विशेष

एड्स का असल अपराधी कौन ?

डॉ० जगदीप सक्सेना

पिछलेकई सालों से एक विषाणु को एड्स का जिम्मेदार माना जाता रहा है। पर अब यह विश्वास डोलने लगा है। एड्स के लक्षणों वाले ऐसे बहुत से मरीजों का पता लगा है, जिसमें यह खतरनाक विषाणु नदारद है। ऐसे में किसी नये विषाणु की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। हो सकता है कि विषाणु का कोई साथी यह करामात कर रहा हो। विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों पर भी शक किया जा रहा है। विश्व एड्स दिवस (1 दिसम्बर) के मौके पर प्रस्तुत है, इस मुद्दे की पड़ताल।

पिछले साल अन्तर्राष्ट्रीय एड्स सम्मेलन में न्यूयार्क के एक वैज्ञानिक ने एड्स जैसे लक्षणों के एक अद्भुत रोगी का मामला वैज्ञानिकों के सामने रखा। रोगी सबसे पहले एड्स सम्बन्धित कैंसर से ग्रस्त हुआ। और दो साल के भीतर ही एड्स से जुड़े निमोनिया ने उसकी जान ले ली। ताज्जुब की बात यह है कि रोगी में एड्स के विशाणु नहीं पाये गये। हालांकि एड्स के रोगियों से उसके यौन संबंध थे। उस समय इस मामले को ज्यादा गम्भीरता से नहीलिया गया।

इस साल जुलाई में जब दुनिया भर के एड्स विशेषज्ञ आठवें अन्तर्राष्ट्रीय एड्स सम्मेलन के दौरान एम्सटर्डम में एकत्र हुए तो एड्स जैसे लक्षणों वाले रहस्यमय रोगियों की चर्चा चिंता के रूप में उभरी। न्यूयार्क हास्पिटल के एक वैज्ञानिक डॉ० जेफरी लारेंस ने एड्स जैसे लक्षणों वाले पांच रोगियों का मामला उठाया। इन सभी में एड्स के विषाणु मौजूद नहीं थे। और भी कई वैज्ञानिकों ने ऐसे मामलों की पुष्टि की। कुल मिलाकर तीस-रहस्यमय रोगियों का मामला उठा। यह तादाद देखने-सुनने में छोटी जरूर लगती है पर खासी चिंताजनक है। इस रहस्य के पर्दाफाश होने से एड्स की अभी तक उभरी तस्वीर पूरी तरह बदल सकती है।

एड्स के इस नये रूप को लेकर कई अटकलें लगायी जा रही हैं। वैज्ञानिकों के एक वर्ग का मानना है कि एक अनजाना विषाणु यह करामात दिखा रहा है। कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी के **डॉ० सुधीर गुप्ता** ने इस विषाणु को ढूंढ निकलने का दावा भी किया है। डॉ० गुप्ता का शोध-निबन्ध अन्तर्राष्ट्रीय एड्स सम्मेलन में खासी चर्चा का विषय बना रहा। उन्होंने 66 वर्षीय एक महिला और उसकी पुत्री में कुछ खास जीवित कणों को देखा है। डॉ० गुप्ता ने इन कणों को पेटेंट करने की अर्जी भी दाखिल कर रखी है।

डॉ० गुप्ता के नतीजों को विश्व-व्यापी प्रचार-प्रसार हासिल हुआ है, पर विशेषज्ञ इसे संशय की निगाहों से देख रहे हैं। ज्यादातर का मानना है कि इसमें कुछ भी सार्थक नहीं है। एक बार को अगर यह मान भी लिया जाय कि अनजाने एड्स का कारण यही कण हैं तो भी इनके संक्रामक न होने के कारण खतरा नहीं है।

यह संभावना भी व्यक्त की जा रही है कि एड्स जैसे लक्षणों का कारण कोई विषाणु नहीं है। रोगी की प्रतिरक्षा प्रणाली में ऐसी गड़बड़ी भी हो सकती है, जो ठीक एड्स जैसे लक्षण पनपाती हो। इन सारे मसलों पर विचार-विमर्श करने के लिए अगस्त में अटलांटा में एक दिन का सम्मेलन हुआ। इसमें अमेरिका भर के एड्स विशेषज्ञों के साथ संक्रामक रोगों के विशेषज्ञों ने भी हिस्सा लिया।

वैज्ञानिकों की राय थी कि हमें अपने दिमाग की खिड़कियां खुली रखनी हैं। दृढ़ प्रतिज्ञ होने से काम नहीं चलेगा। इसके अलावा अभी तक मिले नतीजों से यह नहीं माना जा सकता कि कोई अन्य विषाणु एड्स जैसे लक्षण पनपा रहा है। इसीलिए कुछ वैज्ञानिक इसे 'जो नहीं है विषाणु' के नाम से पुकार रहे हैं। जबकि कुछ वैज्ञानिकों ने इसे 'एम०टी०वी०' (म्यूजिक टेलीविजन नहीं) यानि 'मीडिया ट्रांसफार्मिग वायरस' का नाम दिया है। कारण कि इसे 'मीडिया' यानी संचार, माध्यमों ने काफी प्रचार-प्रसार दिया है। फिर अगर यह मान भी लिया जाय कि किसी नये विषाणु ने सिर उठाया है तो भी ऐसे प्रमाण नहीं है कि एड्स जैसे लक्षण इसी के कारण पनपते हैं।

अटलांटा के सम्मेलन में एक अन्य वैज्ञानिक **राबर्ट एफ० गैरी** ने एक चौंकाने वाला शोध-निबन्ध प्रस्तुत कर इस विवाद को एक नया मोड़ दिया। उन्होंने दो साल पुराने आँकड़ों के आधार पर प्रतिरक्षा प्रणाली के एक रोग और एड्स के बीच संबंध स्थापित किया। इस रोग में रोगी का मुंह और आँखें सूख जाती है वहाँ यह भी माना गया कि हो सकता है कि ऐसा दसियों सालों से हो रहा हो, पर हमें इसका पता न चला हो। कारण कि एड्स की जांच का सिलसिला मात्र कुछ वर्ष पहले ही शुरू हुआ है।

वैज्ञानिकों के एक बहुत बड़े वर्ग का मानना है कि इस संघातिक रोग का असल अपराधी एड्स का विषाणु नहीं है, बल्कि इसका कोई अनजाना, अनदेखा और सूक्ष्म साथी इसे हमारी प्रतिरक्षा प्रणाली की तोड़-फोड़ के लिए प्रेरित करता है। अगर ऐसा न होता तो दसियों सालों से अफ्रीका में मौजूद एड्स का विषाणु एकाएक उग्र रूप कैसे धारण करता? मानव कोशिकाओं में सालों तक चुपचाप पड़ा रहने वाला विषाणु एकाएक तोड़-फोड़ पर क्यों उतारू हो जाता है? हमारे पास इन सवालों का कोई ठोस जवाब नहीं है।

कुछ वैज्ञानिकों की राय में एड्स विषाणु हमारी प्रतिरक्षा प्रणाली को कुछ इस तरह उकसाते हैं कि वह खुद ही अपनी कोशिकाओं को नष्ट करने लगती है। इस जघन्य कार्य में किसी अन्य साथी की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

सन् 1988 में इग्लैंड की प्रसिद्ध शोध-पत्रिका 'नेचर' में एक चौंकाने वाला लेख छपा। लेख में प्रयोगों के आधार पर बताया गया कि एड्स विषाणु परा-बैंगनी विकिरणों के कारण 150 गुना तेजी से फलते-फूलते हैं। केवल सूर्य के प्रकाश में यह वृद्धि 50 गुना देखी गयी। इससे एड्स विषाणु और विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों के बीच संबंध का संकेत मिलता है। संभावना व्यक्त की गई है कि नवजात शिशुओं पर विद्युत्-चुंबकीय तरंगों के आघात से उसी समय एड्स की नींव पड़ जाती है। जानकर ताज्जुब होता है कि अमेरिका में एड्स के दो-तिहाई रोगियों का जन्म उस समय हुआ था, जब देश भर में 'बेल टेलीफोन्स' द्वारा सूक्ष्मतरंग टेलीफोन प्रणाली का जाल बिछाया जा रहा था। ब्रिटेन में भी ऐसा ही देखा गया है।

आश्चर्यजनक रूप से इस मुद्दे पर कभी यकायक अनुसंधान नहीं हुआ। हालांकि प्रतिरक्षा प्रणाली में उत्पन्न दोषों और विद्युत्-चुंबकीय विकिरणों के बीच संबंध को दर्शाने वाले प्रमाण लगातार बढ़ते जा रहे हैं। जिस भयानक रोग से संपूर्ण मानवता खतरे में पड़ी है, उसकी उत्पत्ति को लेकर यह उपेक्षा समझ में नहीं आती। एड्स की विषाणु उत्पत्ति के विरोधी सीधे एक बात पूछते हैं—विषाणु मौजूद रहने पर भी व्यक्ति में एड्स क्यों नहीं पनपता ? अभी तक हमारे पास इस सवाल का कोई निश्चित जवाब नहीं है। जब तक इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता, एड्स की उत्पत्ति का मसला विवादों से घिरा रहेगा।

वैज्ञानिकों को विश्वास है कि अगर रहस्यमय एड्स किसी नये विषाणु की करामात है तो भी यह जल्दी ही पकड़ में आ जाएगा। फिर इसके लिए उपयुक्त रक्त जांच की तकनीक भी विकसित कर ली जाएगी। पर एड्स के विरुद्ध टीका तैयार करना या कारगर दवा विकसित करना और भी कठिन हो जाएगा। पर असंभव नहीं। एड्स के विरुद्ध तब तक लड़ाई जारी रहेगी, जब तक कि इसका निवारण नहीं हो जाता। (सम्प्रेषण)

○○

हिन्दी विज्ञान पत्रकारिता : दशा और दिशा

मनोज पटैरिया

अप्रैल 1818 में श्रीरामपुर (हुगली) पश्चिम बंगाल से निकलने वाले हिन्दी मासिक समाचार पत्र 'दिग्दर्शन' में प्रकाशित लेखों से हिन्दी में विज्ञान लेखन का आरम्भ हुआ। आरंभिक लेख थे—बैलून द्वारा आकाश यात्रा, और दूसरा भाप से चलने वाली नाव (स्टीम बोट) के बारे में। तब से लेकर अब तक करीब 175 वर्षों की अपनी यात्रा में हिन्दी विज्ञान पत्रकारिता ने अनेक आयाम प्राप्त किए हैं। हालांकि विज्ञान पत्रकारिता के क्षेत्र में काफी कुछ प्रगति हुई है, विज्ञान पत्र-पत्रिकाएँ आकाशवाणी-दूरदर्शन कार्यक्रम, फीचर सेवाएं, आदि अस्तित्व में आये

वरिष्ठ वैज्ञानिक अधिकारी-I, राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद्, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग, भारत सरकार, नया महरौली मार्ग, नई दिल्ली-110016

हैं। लेकिन जहाँ एक ओर खेल पत्रकारिता, फिल्म पत्रकारिता आदि, जो विज्ञान पत्रकारिता के बाद में आरम्भ हुई, आज काफी विकसित हो चुकी हैं; किन्तु विज्ञान पत्रकारिता का इतना विकास नहीं हो पाया है। फिर भी आज हिन्दी विज्ञान पत्रकारिता की स्थिति इतनी खराब नहीं है, हालांकि अभी इस दिशा में करने को बहुत कुछ बाकी है।

विज्ञान लेखों की स्थिति

आम तौर पर आज जो विज्ञान लेख समाचार पत्र-पत्रिकाओं में छपते हैं, उनमें विज्ञान लेखन के वर्षों पुराने उसी ढ़र्रे की झलक मिलती है, जिस तरह पहले सीधे सपाट, जटिल तकनीकी जानकारी और आँकड़ों की बहुलता से बोझिल लेख छपते थे। दरअसल ऐसे क्लिष्ट और उबाऊ लेख आजकल कोई नहीं पढ़ना चाहता, जब तक कि उनमें सजीवता, सरसता और प्रवाह न हो। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाले लेख हालांकि विषय की दृष्टि से बढ़िया होते हैं, लेकिन उनका प्रस्तुतिकरण उपयुक्त नहीं होता है। आजकल विशेषज्ञता और प्रामाणिकता का जमाना है। इसलिए विभिन्न लेखक और सम्पादक प्रत्येक विषय पर लेखन और सम्पादन में स्वयं को समझ नहीं पाते हैं। दूसरी ओर हिन्दी में प्रायः अंग्रेजी के लेखों को ज्यों का त्यों अनुवाद करके प्रस्तुत किया जाता है, जो अच्छी बात नहीं है। हिन्दी में मौलिक विज्ञान लेखन को बढ़ावा देना उचित होगा।

अब बात आती है कि विज्ञान लेख कैसे हों? आजकल इस विकासशील दौर में पाठक गतिशील और विवेचनात्मक चीजें पढ़ना चाहता है। यदि आप किसी विषय पर लिखना चाहते हैं, तो सबसे पहले उस विषय पर उपलब्ध साहित्य को पढ़ना होगा, फिर उस विषय से सम्बन्धित विशेषज्ञों से बातचीत करनी होगी। उस विषय के हानि लाभों पर लोगों की राय लेनी होगी। आँकड़े एकत्र करने होंगे। चित्र और फोटोग्राफ प्राप्त करने होंगे। इन सब चीजों का विश्लेषण करके फिर उसे देश-काल परिस्थितियों के अनुसार धारा प्रवाह भाषा में पिरोकर व्यवस्थित रूप से पेश करना होगा। जैसे यदि आपको जन रुचि का कोई लेख इस विषय पर तैयार करना है, कि 'क्या टेलीफोन बूथ स्वास्थ्य के लिए खतरे की घंटी है?' तो इसके लिए छूत रोग विशेषज्ञों से, टेलीफोन अधिकारियों से, फोन करने वालों से, और अस्पतालों के डॉक्टरों से बातचीत करनी होगी, उनका साहित्य पढ़ना होगा, प्रश्नों के उत्तर ढूँढने होंगे कि बीमारी के कीटाणु कैसे एक व्यक्ति से निकलकर टेलीफोन पर चिपक जाते हैं, और फिर कैसे दूसरे टेलीफोन करने वाले तक पहुँचते है, टेलीफोन और स्वास्थ्य विभाग उसके लिए क्या कर सकता है, आदि।

एक विज्ञान पत्रकार ने तीन अलग-अलग निविदाएं पढ़ी, जो अमेरिकी सेना द्वारा जारी की गयी थीं। दो निविदाएं दो गैसों के लिए थीं, जिनके आपस में मिलने से विस्फोट हो सकता है। तीसरी विविदा उस खोल के लिए थी जो उन गैसों को तब तक अलग रखे जब तक कि विस्फोट न करना पड़े। पत्रकार ने तीनों निविदाओं को मिलाकर जो रिपोर्ट तैयार की उसने दुनिया में सनसनी पैदा कर दी। इसी तरह पाकिस्तान के परमाणु बम कार्यक्रम का पता एक विशेष लौह मिश्र धातु और एक इलेक्ट्रॉनिक युक्ति फ्रीक्वेंसी कनवर्टर के क्रय आदेशों से लगा। इस तरह की एक दम अलग विज्ञान रिपोर्ट, पत्रकार के सजग मस्तिष्क, खोजी प्रकृति और विज्ञान की नवीनतम जानकारी के संयोजन से बनती है। ऐसे लेख और रिपोर्ट और रिपोर्ताज आज सभी पढ़ना चाहते हैं।

एक और बात ध्यान देने की है कि इसके शीर्षक और उपशीर्षक भी पाठकों की दृष्ठि को पकड़ने वाले हों, जैसे एक शीर्षक था, 'वैज्ञानिक नियंत्रित वर्षा', इसे इस तरह लिखा गया 'बादलों की लगाम थामने को हैं वैज्ञानिक'।

इस तरह से लोकप्रिय विज्ञान लेखन में नीरस शीर्षकों के स्थान पर आकर्षक शीर्षक होने चाहिये। सोते हुए शीर्षक कोई पसन्द नहीं करता।

खोजी पत्रकारिता

खोजी विज्ञान पत्रकारिता का लगभग अभाव सा है। खोजी पत्रकारिता का अपना अलग आकर्षण होता है और लोग आगे का हाल जानने के लिए उत्सुक रहते हैं। एक बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि विज्ञान का क्षेत्र आदर्श नहीं है। यहाँ भी वही मानवीय कमजोरियां हैं, जो अन्य क्षेत्रों में हैं। कुछ लोग कहते हैं, वैज्ञानिकों की आलोचना नहीं होनी चाहिए। दरसल होता यह है कि सामान्य पत्रकार राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक पहलुओं पर तो खोज खबर करके खोजपूर्ण लेख प्रकाशित कर देते हैं लेकिन विज्ञान को आदर्श की चीज समझकर उसमें व्यापत अनियमितिताओं पर अकसर मौन रह जाते हैं।

इसीलिए विज्ञान के क्षेत्र में जो भी भला या बुरा, अचित या अनुचित हो रहा है वह सामने आना चाहिए तभी विज्ञान पत्रकारिता का सर्वांगीण रूप स्पष्ट होगा। वह केवल विज्ञान और वैज्ञानिकों की स्तुति भर नहीं रह जायेगी, बल्कि एक सजग प्रहरी और जागरूक सलाहकार के रूप में विकसित हो सकेगी। ऐसा तब हो सकता है जब विज्ञान पत्रकारों का ऐसा वर्ग विकसित हो जो विज्ञान पत्रकारिता को व्यवसाय के रूप में अपनाये। यह विज्ञान पत्रकार वर्ग ही प्रयोगशाला में घुसकर वैज्ञानिक अनुसंधान कार्य का पता लगा सकता है और उसे अखबार के पन्नों पर छपवा सकता है। यहाँ एक बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि खोजी पत्रकारिता का मतलब सिर्फ अनियमितिताओं की खोज खबर करके उसे प्रकाशित करना ही नहीं, बल्कि विज्ञान ने जो नये उपयोगी अनुसंधान किए हैं और जो अज्ञात हैं, उन्हें भी सामने लाना है।

शब्दों का हेर-फेर

तकनीकी शब्द लिखते समय कई बार उनका अनर्थ हो जाता है। जैसे एक लेख में सैटेलाइट डीएनए को उपग्रह डीएनए लिखा गया, जबकि इसका मतलब था वाहक डीएनए। इसी तरह एक शब्द है स्टैण्ड, सामान्यतया इसका अर्थ होता—आधार या खड़ा होना, लेकिन वानिकी और कृषि के क्षेत्र में इसे वनखड़ या पेड़ों का झुरमुट कहा जाता है।

इस प्रकार से अक्सर शब्दों के अनुचित प्रयोग से बचना होगा। हांलाकि आज सभी वैज्ञानिक विषयों में शब्दावलियाँ उपलब्ध हैं, लेकिन किसी शब्द के उचित स्थान पर प्रयोग के लिए लेखक या सम्पादक को अपने ज्ञान और विवेक का सहारा लेना होगा।

विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक प्रकाशन

आज विज्ञान पत्रकारिता सिर्फ अखबारों और पत्रिकाओं तक सीमित नहीं है, इसका स्वरूप काफी विस्तृत हो गया है। विभिन्न लोकप्रिय विज्ञान पुस्तकें, फीचर सेवायें, शोध पत्रिकाएं, सारांश सेवाएं, (एसट्रेक्ट सर्विसेस), चयनिकाएं, वैज्ञानिक गृह पत्रिकाएं, विश्व कोश, निदेशिकाएं, सन्दर्भ ग्रन्थ, मोनोग्राफ, तकनीकी जानकारियाँ, मानक विशिष्टियाँ, स्मारिकाएं, और प्रोसीडिंग्स, वार्षिक रिपोर्ट, और विभिन्न प्रकार की प्रचार सामग्री हिन्दी में प्रकाशित हो रही है। ये सभी भी विज्ञान पत्रकारिता के अंग है। इन सभी में यूं तो प्रमाणिकता और सरलता की आवश्यकता है ही, साथ ही इनको उपयोगी बनाने के लिए उनकी उचित साज साज सज्जा भी आवश्यक है।

स्तम्भ लेखन

सन् 1948 में जाने माने पत्रकार अक्षय कुमार जैन ने 'नवभारत टाइम्स' में विज्ञान स्तंभ शुरू किया था, जो उस जमाने में काफी लोकप्रिय हुआ बताते हैं। लेकिन आज अधिकांश दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञान स्तंभ देखने को नहीं मिलता, अतः सभी पत्र-पत्रिकाओं में आवश्यक रूप से विज्ञान स्तंभ आरम्भ किये जायें।

भिन्न-भिन्न रुचियों के पाठक अपनी रुचि की विषय सामग्री समाचार पत्र या पत्रिका में निर्धारित स्थान पर नियमित रूप से पढ़ना चाहते हैं। समाचार पत्रों में विज्ञान स्तंभ देना बहुत महत्व रखता है, क्योंकि इनकी प्रसार संख्या अधिक होती है। स्तंभ लेखन के लिये सर्व प्रथम विषय का चुनाव आवश्यक है, तत्पश्चात् इस विषय पर लेखन किया जाता है। अधिकांश अखबारों ने जहाँ एक ओर विज्ञान स्तंभ आरम्भ किये हैं, वहीं साथ ही उनमें वैज्ञानिक सामग्री की मात्रा भी बढ़ी है। लेकिन इतने बड़े देश में जहाँ की अधिकांश आबादी आज तक विज्ञान के माने नहीं जानती, वहाँ इसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। शायद ही किसी सामान्य हिन्दी पत्र-पत्रिका में विज्ञान सम्पादक या विज्ञान संवाददाता हो। होना तो यह चाहिए कि हर अखबार में, पत्रिका में वैज्ञानिक सामग्री का एक उचित अनुपात निश्चित किया जाये और इसके लिए उपयुक्त रीति नीति निर्धारण की जाये तथा लोगों को समसामयिक विषयों पर विज्ञान लेखन, सम्पादन और रिपोर्टिंग के लिए निर्धारित किया जाये।

विभिन्न विधाएँ

विज्ञान लेखन का स्वरूप विकसित न होने के पीछे शायद एक कारण यह भी रहा है कि विज्ञान लेखन में नीरस व उबाऊ लेखों और तकनीकी सूचना-समाचारों से आगे बढ़ कर साहित्य या लेखन की अन्य विधाओं का इस्तेमाल नहीं किया गया, जिसके कारण विज्ञान को आम आदमी अपना नहीं सका। यदि हम कथाओं और कविताओं के रूप में विज्ञान को परोसें तो आम आदमी भी न केवल उसे पढ़ सकेगा, बल्कि समझ भी सकेगा और विज्ञान का आनन्द भी ले सकेगा। कविता संचार का बड़ा सशक्त माध्यम है। इसके माध्यम के बच्चों और नवमाक्षरों में भी विज्ञान का प्रसार आसानी से किया जा सकता है। विज्ञान कविता लेखन कोई कठिन काम नहीं है। यदि सामान्य हिन्दी कवियों को यह समझा दिया जाये कि विज्ञान के लिए उनसे कविता के माध्यम से क्या कहलवाना है, के निश्चित रूप से कवि उसी बात को कविता में ढाल देगा। पर यह स्थाई हल नहीं है। इस क्षेत्र में ऐसे काव्य प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों को आना चाहिए, जिनकी पृष्ठ भूमि विज्ञान की हो। लोक विज्ञान प्रचार के लिए वैज्ञानिक कविता एक प्रभावी माध्यम है और यही क्षेत्र आज खाली पड़ा है।

विज्ञान नाटकों और रूपकों का भी यही हाल है। शायद ही कभी विज्ञान नाटक और रूपक पढ़ने को मिलते हैं। नये विज्ञान लेखकों को चाहिए कि वे विज्ञान की बातों को इन विधाओं में ढाल कर प्रस्तुत करें। इनकी सीमायें बड़ी हैं। इनकी पहुँच और क्षमताएं अनन्त है।

हास्य व्यंग्य एक बड़ी रोचक विधा है। लेकिन पता नहीं क्यों विज्ञान लेखन में इसका विकास नहीं हुआ। विज्ञान पत्रकारिता के क्षेत्र में इन विधाओं का इस्तेमाल यदि अब भी विस्तार से होने लगे, तो काफी कुछ हो सकता है। हाँ कभी कभार किसी वैज्ञानिक के साक्षात्कार अवश्य देखने को मिल जाते हैं, लेकिन इनकी संख्या न के बराबर

है। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में सामान्य सामाजिक राजनैतिक विषयों पर परिचर्चायें प्रकाशित होती हैं, लेकिन भूलकर भी किसी विज्ञान लेखक या सम्पादक ने किसी वैज्ञानिक विषय पर परिचर्चा आयोजित करने में रुचि न दिखायी होगी। आजकल वैज्ञानिकों से भेंटवार्ताओं पर आधारित लेखों तथा वैज्ञानिक विषयों पर किसी ज्वलन्त विषय को लेकर परिचर्चायें प्रकाशित करने की अत्यधिक सम्भावनायें हैं। पाठक विज्ञान सामग्री को इसी रूप में पढ़ना चाहते हैं। यदि नये विज्ञान लेखक या विभिन्न समाचार पत्र-पत्रिकाओं में कार्यरत व्यक्ति इन विधाओं में ढालकर विज्ञान सामग्री को प्रस्तुत करें तो यह न केवल रोचकता और सरसता से परिपूर्ण होगी बल्कि पाठकों में विज्ञान को जानने समझने की रुचि भी बढ़ेगी।

एनसीएसटीसी की भूमिका

राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद् का एक मुख्य उद्देश्य यह भी है कि संचार माध्यामों में विज्ञान का कवरेज बढ़े। इसके लिए यह समय-समय पर देश के विभिन्न भागों में विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखकों के लिए प्रशिक्षण कार्यशालायें आयोजित करती है। यह विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित हो रही लोकप्रिय विज्ञान पत्रिकाओं के स्तर में सुधार हेतु तथा उनके उन्नयन हेतु आर्थिक सहायता प्रदान करती है। इसके साथ ही विभिन्न वैज्ञानिक विषयों पर लोकप्रिय पुस्तकों के प्रकाशन हेतु सहायता देती है और स्वयं भी उत्कृष्ट लोकप्रिय साहित्य का प्रकाशन करती है। देश में विज्ञान पत्रकारिता के सुनियोजित शिक्षण-प्रशिक्षण के उद्देश्य से अनेक विश्वविद्यालयों में विज्ञान पत्रकारिता/संचार में डिग्री/डिप्लोमा पाठ्यक्रम भी परिषद् के सहयोग से आरम्भ किये गये हैं। इस प्रकार से परिषद् विज्ञान पत्रकारिता के विकास हेतु हर संभव तरीके के माध्यम से राष्ट्रीय स्तर पर एक मुख्य ऐजन्सी के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है, जिसके सकारात्मक परिणाम अब सामने आने लगे हैं।

●●

परिषद् का पृष्ठ

बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे प्रो० हाल्डेन

प्रो० जे०बी०एस० हाल्डेन का मानना था कि वैज्ञानिकों को अपनी प्रयोगशाला की दुनिया से बाहर आकर समाज और राजनीति के विषय में भी जानकारी रखनी चाहिए।

यह बात अवकाश प्राप्त उप शिक्षा निदेशक एवं प्राणि विज्ञानी डॉ० ओंकारनाथ श्रीवास्तव ने कही। वह विज्ञान परिषद् में प्रो० हाल्डेन की पुण्यतिथि पर आयोजित 'हाल्डेन और उनके योगदान का मूल्यांकन' विषयक गोष्ठी की अध्यक्षता कर रहे थे। उन्होंने बताया कि हाल्डेन अपने को यूरोप का क्षत्रिय मानते थे। उनका कहना था कि क्षत्रिय में दो गुणों का होना आवश्यक है। एक तो वह निर्भय हो और दूसरे कमजोरों की मदद करने वाला हो। मांसाहारी होने के बावजूद वह निरीह जानवरों को मारना पसंद नहीं करते थे। जिन मछलियों पर वह ऑक्सीजन

की कमी का प्रयोग कर रहे थे उन्हें लन्दन जाते समय अपने साथ ले गये थे। कार्बन मोनो-ऑक्साइड की कितनी मात्रा से आदमी बेहोश हो सकता है यह प्रयोग उन्होंने अपने शरीर पर किया था। ऐसे थे वैज्ञानिक हाल्डेन।

विचार गोष्ठी का विषय प्रवर्तन करते हुए परिषद् द्वारा प्रकाशित 'विज्ञान' पत्रिका के सम्पादक **प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव** ने बताया कि इंग्लैण्ड में 5 नवम्बर, 1892 को जन्मे अन्तराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त जीवविज्ञानी प्रो० जे० बी० एस० हाल्डेन का निधन 1 दिसम्बर 1964 को भारत में हुआ था। प्रो० हाल्डेन ने अपनी पत्नी सहित भारतीय नागरिकता ग्रहण कर ली थी।

प्रो० हाल्डेन बहुमुखी प्रतिभा के धनी विज्ञानी थे। अनेक क्षेत्रों में उनका योगदान महत्वपूर्ण रहा है। और सम्भवतः इसी कारण उनके योगदान का मूल्यांकन भी कठिन है। अनेक पुस्तकों और शोध-पत्रों के अतिरिक्त उनके द्वारा लिखे गये लोकप्रिय विज्ञान लेखों की संख्या हजारों में है। वह अन्याय अथवा असत्य सहन नहीं कर पाते थे। ब्रिटिश सरकार की 'स्वेज कैनाल' नीति से क्षुब्ध होकर उन्होंने अपना देश छोड़ दिया और 'लाइसेंकोवाद' से असहमति के कारण 'डेली वर्कर' का सम्पादन और कम्युनिष्ट पार्टी छोड़ दी। उन्हें भारतीय दर्शन और धर्म में गहरी रुचि थी। अंग्रेजी पहनावे की जगह उन्हें धोती-कुर्ता पहनना अधिक रुचिकर था।

डॉ० दिनेश मणि ने प्रो० हाल्डेन के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए उनके द्वारा विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में किये गये योगदान—जीवविज्ञान, मानव आनुवंशिकी, कायकी, गणित, लोकप्रिय विज्ञान लेखन आदि पर प्रकाश डाला।

डॉ० पद्मा सिंह ने प्रो० हाल्डेन को सच्चा विज्ञानी बताया। उनका कहना था कि सच्चा विज्ञानी वही है जो समाज से जुड़ा हो और समाज के उत्थान में प्रयासरत हो। हाल्डेन ऐसे ही विज्ञानी थे।

प्रो० शिवगोपाल मिश्र ने हाल्डेन की सपाट बयानी की प्रशंसा करते हुए बताया कि भारत में स्वतंत्रता के बाद यह परम्परा रही है कि 'भारतीय विज्ञान कांग्रेस' का उद्घाटन, प्रतिवर्ष प्रधानमंत्री करते हैं। हाल्डेन ने प्रधानमंत्री द्वारा भारतीय विज्ञान कांग्रेस के उद्घाटन का विरोध किया था। डॉ० मिश्र ने हाल्डेन को एक व्यावहारिक और महान विज्ञानी बताया।

डॉ० मुरारी मोहन वर्मा ने हाल्डेन के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए बताया कि हाल्डेन जब जीवन के अन्त में कैंसर के आपरेशन के बाद अस्पताल में थे तो वहीं उन्होंने कैंसर पर एक कविता लिखी थी। कविता की एक पंक्ति का आशय है—

मैं जानता हूँ कि
कैंसर जानलेवा है,
पर कार एक्सीडेंट और
दवा की गोलियां भी तो
जानलेवा हैं।

इस गोष्ठी में डॉ० राम सुरंजन धर दुबे, डॉ० विमलेश चन्द्र श्रीवास्तव (सी० एम० पी० कॉलेज), डॉ० विमलेश जी (अवकाशप्राप्त प्रधानाचार्य, डी० ए० वी० इण्टर कॉलेज), मंजुलिका लक्ष्मी, राजेश कुमार केसरी, डॉ० वी० पी० त्रिपाठी, राकेश तिवारी, सुनील दत्त तिवारी आदि ने भी भाग लिया।

□□

('नवभारत टाइम्स' से सभार)

जन संचार माध्यमों के लिए विज्ञान लेखन–प्रशिक्षण कार्यशाला

हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र तथा राजभाषा कार्यान्वियन समिति ने केन्द्रीय भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर के परस्पर सहयोग से भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र में दिनांक 4 से 6 नवम्बर, 1992 तक 'जन संचार माध्यमों के लिए हिन्दी में विज्ञान लेखन' से सम्बन्धित एक प्रशिक्षण/कार्यशाला का आयोजन किया। इस कार्यशाला का उद्घाटन इस केन्द्र के भौतिकी और इलेक्ट्रॉनिकी एवं यंत्रीकरण वर्गों के निदेशक डॉ० श्याम सुन्दर कपूर ने 4 नवम्बर को किया। अपने उद्घाटन भाषण में उन्होंने इस बात की प्रशंसा की कि कार्यशाला का उद्देश्य कुटीर उद्योगों में कार्य करने वाली महिलाओं एवं झोपड़ पट्टियों में रहने वाले मजदूर बंधुओं में विज्ञान संबंधित जानकारी देने एवं उनके लिए साहित्य तैयार करने से संबंधित है। यह समझ लेना कि बुद्धिमत्ता केवल समाज के उच्च वर्ग एवं अट्टालिकाओं में रहने वाले लोगों की बपौती है, दुर्भाग्यपूर्ण होगा। अपनी भारतीय भाषाओं में स्वाभिमान अनुभव करते हुए साहित्य इस प्रकार से तैयार किया जाय कि लक्ष्य वर्ग के लोग समझ सकें। केन्द्रीय भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर के डॉ अ० बसु ने कार्यशाला के उद्देश्य, लक्ष्य वर्ग, विषय इत्यादि का संक्षिप्त परिचय दिया। परिषद के सचिव श्री गोस्वामी ने अतिथियों का स्वागत एवं कार्यशाला संयोजक डॉ० गोविन्द प्रसाद कोठियाल ने धन्यवाद ज्ञापन का कार्य किया।

इस कार्यशाला में देश के विभिन्न संस्थानों से लगभग 25 सहभागियों ने सक्रिय रूप से भाग लिया। लक्ष्य वर्ग को ध्यान में रखते हुए और जन साधारण में वैज्ञानिक मानसिकता के विकास हेतु विज्ञान और सामाजिक विज्ञान के विषय चुने गये। सहभागियों की चर्चा की सुविधा के लिए इन विषयों को तीन मुख्य वर्गों में रखा गया। प्रथम वर्ग में पर्यावरण एवं कृषि संबंधित आठ लेख, द्वितीय वर्ग में पोषण और अंधःविश्वास के विभिन्न पहलुओं पर आधारित छः लेख और तृतीय वर्ग में समाज में अपराध, भवन निर्माण, परमाणु शक्ति, स्वाद विज्ञान, पेय जल आदि विषयों पर छः लेख प्रस्तुत किये ग ये तथा उन्हें हर दृष्टि से लक्ष्य वर्ग को ध्यान में रखते हुए अन्तिम रूप दिया गया।

इन सभी लेखों को तैयार करते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा गया कि लेख रोचक एवं सरल भाषा में हों, वाक्य छोटे हों, तकनीकी शब्दावली और आँकड़ों का कम से कम प्रयोग किया जाय, और कुल मिलाकर विज्ञान के तथ्यों को ऐसे लिखा जाय कि वे झोपड़पट्टी में रहने वाले और कारखानों में काम करने वाले मजदूर तक के आम आदमी आसानी से समझ सकें।

कार्यशाला के दौरान सहभागियों द्वारा विज्ञान लेखन के क्षेत्र में उनकी समस्याओं/सुझावो पर भी चर्चा हुई। लक्ष्य वर्ग के परिप्रेक्ष्य में तकनीकी शब्दावली संबंधित शंकाओं, विषय की गहनता एवं अभिव्यक्ति के पहलुओं पर कुछ हद तक सहमति एवं दिशा निर्देशन भी संभव हो पाया।

—प्रस्तुतिः डॉ० जी० पी० कोठियाल
संपादक 'वैज्ञानिक' हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद
भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र, ट्राम्बे, बम्बई-85

वैदिक गणित क्यों ?

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

फरवरी 1992 में टाटा इंस्टीट्यूट ऑव फंडामेंटल रिसर्च, बम्बई में इण्डो-यू० एस० द्वितीय गणित कार्य-शाला का आयोजन हुआ था जिसमें यह चिन्ता व्यक्त की गई कि हमारे अधिकांश विद्यार्थी गणित की शिक्षा से भयभीत रहते हैं फलतः वर्तमान गणित शिक्षा प्रणाली में सुधार की आवश्यकता है। अमेरिका में ऐसी आवश्यकता का अनुभव 1960 से ही होने लगा था क्योंकि उसे लगा कि वह गणित के क्षेत्र में रूस से पिछड़ रहा है। अब तो शायद जापान से भी उसे भय लगने लगा है।

हमारे देश में गणित शिक्षा की स्थिति सचमुच गम्भीर है। अभी भी पुराने पाठ्यक्रम चल रहे हैं और उनमें सुधार लाना तो दूर रहा, हम पीछे की ओर खिसक रहे हैं। वैदिक गणित का हो-हल्ला शायद इसी का संकेत है।

कुछ मास पूर्व ऐसे समाचार प्रकाशित हुए कि जुलाई 1992 से नौवीं कक्षा में वैदिक गणित की पढ़ाई शुरू कर दी जावेगी और इसी उद्देश्य से हाई स्कूल गणित पाठ्यपुस्तकों में न केवल "गणित का इतिहास" अध्याय जोड़ा गया अपितु यह भी अंकित किया गया कि वैदिक गणित के 16 सूत्रों में से 8 सूत्रों से प्रश्न सम्मिलित किये जा रहे हैं।

"वैदिक गणित" को लेकर कुछ चर्चाएँ होती रही हैं किन्तु 25-31 अक्टूबर 1992 के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में गुणाकर मुले जी का एक विस्तृत लेख प्रकाशित हुआ है जिसके कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं। हमारा उद्श्य केवल इतना ही बताना है कि "वैदिक गणित" नामकरण उपयुक्त नहीं है क्योंकि "वैदिक गणित" एक पुस्तक है जिसे गोवर्धन मठ, पुरी के स्वामी श्री भारती कृष्ण तीर्थ महाराज ने लिखा था और जो 1965 में उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई। 1965 से 1992 तक इस पुस्तक की ओर न तो किसी ने ध्यान दिया न ही उसमें मुद्रित 16 सूत्रों तथा 13 उपसूत्रों की चर्चा चलाई गई। अब जबकि देश में राष्ट्रीयता, हिन्दुत्व, मन्दिर-मसजिद की बातें उठाई जा रही हैं इस पुस्तक की विषय वस्तु को "वैदिक गणित" कहना सरासर आँखों में धूल झोंकना है। वैदिक काल 500 ई०पू० तक ही माना जाता है तो भारती कृष्ण तीर्थ की युक्तियों को वैदिक क्यों कहा जाता है ?

निस्सन्देह इस सम्बन्ध में विस्तृत राष्ट्रीय बहस की आवश्यकता है। राजनीतिक दाँव-पेंच द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में इस तरह की उथल-पुथल कम से कम गणितज्ञों को नहीं ही मान्य होगी।

"वेदों को ज्ञान-विज्ञान का अक्षय भंडार मान लिया जाए, तो फिर इसमें से कुछ भी, लौकिक या अलौकिक, खोज निकालने में कोई कठिनाई नहीं है। वैदिक मंत्रों के मनमाने अर्थ लगाकर इनमें कर्मकांड, अध्यात्म और ज्ञान की नई-नई बातें तलाशने के प्रयास पहले से होते आ रहे हैं। परन्तु प्राचीन काल से लेकर वर्तमान सदी के मध्यकाल तक हमारे किसी भी पंडित ने भी यह दावा नहीं किया कि वैदिक सूक्तों में गणितशास्त्र के सूत्र मौजूद हैं।

अवकाशप्राप्त निदेशक, शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद-2

"**प्रथम आर्यभट** (499 ई०), **ब्रह्मगुप्त** (628 ई०), **महावीराचार्य** (850 ई०) और **भास्कराचार्य** (1150 ई०) जैसे हमारे महान गणितज्ञों ने भी श्रुतियों का अध्यन किया था, किन्तु प्राचीन भारत के इन तमाम गणितज्ञों और ज्योतिषियों में से किसी ने भी अपनी किसी भी कृति में यह नहीं कहा कि वे जिस गणित को प्रस्तुत कर रहे हैं, वह वेदों में मौजूद है। इसके विपरीत, हर गणितज्ञ ने कुछ न कुछ नई बातें ही प्रस्तुत कीं। आर्यभट ने श्रुति-स्मृति की परम्परा का विरोध करके पहली बार भूभ्रमण जैसे सही सिद्धान्त प्रतिपादित किये। ब्रह्मगुप्त ने उस महत्वपूर्ण कुट्टक-गणित का विकास किया जिसका वेदों में शब्दोल्लेख तक नहीं। महावीराचार्य जैन थे, इसलिए उनके 'गणितसार-संग्रह' के स्रोत वेदों में खोजना व्यर्थ है। भास्कराचार्य के विद्यागुरु उनके पिताश्री थे। वेद किसी भी भारतीय गणितज्ञ के प्रेरणा-स्रोत नहीं रहे।

"लेकिन अब, हमारे समय में, दावा किया जा रहा है कि वैदिक ऋषियों को वह सारा गणित ज्ञात था जो आज तक खोजा गया है। आज इस 'वैदिक गणित' की देश में खूब चर्चा है। **शंकराचार्य स्वामी भारती कृष्ण तीर्थ** (1884-1960 ई०) और इस चर्चा का मूलाधार है अंग्रेजी मे लिखा गया ग्रंथ—वैदिक मेथेमेटिक्स, जिसके रचनाकार हैं स्वर्गीय स्वामी श्री भारती कृष्ण तीर्थ (1884-1960 ई०), गोवर्धन मठ, पुरी के शंकराचार्य। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पहली बार 1965 में, लेखक के निधन के पांच साल बाद, प्रकाशित इस पुस्तक की संपादकीय प्रस्तावना पुरातत्व व इतिहास के विद्वान **डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल** (1904-66) ने लिखी है। बनारस विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध गणितज्ञ **डॉ० व्रजमोहन** लिखते हैं "स्वामी जी ने इन सूत्रों का यह अभिदेश दिया था : अथर्ववेद परिशिष्ट-1। मुझे अथर्ववेद के जितने भी संस्करण काशी के पुस्तकालयों में मिल सके, मैंने सब छान मारे। मुझे उपरिलिखित सूत्र कहीं नहीं मिले। मैंने शंकराचार्य जी को इस विषय में तीन पत्र लिखे। मुझे कोई उत्तर नहीं मिला। तत्पश्चात् मैं वेदों के उद्भट विद्वानों से मिला, जैसे **पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी** और पंचगंगा घाट, काशी के **पं० रामचन्द्र भट्ट**। उन्होंने बताया कि उपरिलिखित सूत्रों की भाषा ही वैदिक संस्कृत से मेल नहीं खाती। अतः ये वैदिक सूत्र हो ही नहीं सकते। इसके अतिरिक्त वेदों में कहीं गणितीय विषयों का उल्लेख है ही नहीं। इसी दौड़-धूप में मेरे हाथ निम्नलिखित पुस्तक लगी—

"**जी० एम० बोल्लिंग एण्ड जे० वी० नेगेलन** : द परिशिष्टाज ऑव द अथर्ववेद, खंड 1, भाग 1 : परिशिष्टाज 1-52, लाइपजिग (1909)। "मैंने यह ग्रंथ अपने मित्र डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल को दिखाया। उन्होंने उसे देखकर कहा कि उक्त पुस्तक में भी कहीं किसी गणितीय विषय का उल्लेख नहीं है। अतः मुझे शंकराचार्य जी के दिए हुए सूत्रों का कहीं पता नहीं चला। . . . . हम उक्त सूत्रों का वास्तविक अभिदेश जानने के लिए बहुत उत्सुक हैं। किन्तु जब तक यथार्थ अभिदेश न मिल जाए, तब तक हम इतनी अप्रमाणित बात अपनी पुस्तक में नहीं दे सकते।"

"भारत का अतिप्राचीन गणित ज्ञान वस्तुतः कैसा था, यह जानने के पहले स्वामी जी द्वारा खोजे गए 'वैदिक गणित' पर एक नजर डालना उपयोगी होगा। सोलह सूत्रों और कुछ उपसूत्रों का उपयोग करके स्वामी जी ने अंकगणित तथा बीजगणित के गुणन, भाग आदि परिकर्मों के लिए और गुणनखंड, वर्गमूल, घनमूल, महत्तम समापवर्तक, लघुत्तम समापवर्त्य, सरल समीकरण, वर्गसमीकरण आदि से सम्बन्धित सवालों के हल के लिए युक्तियाँ (ट्रिक्स) सुझाई हैं। जैसे, **निखिलं नवतश्चरमं दशतः** (सब 9 और अंतिम 10 से) का और कुछ अन्य सूत्रों तथा उपसूत्रों का

उपयोग करके गुणन के सवालों को हल करने की कुछ युक्तियाँ सुझाई गई हैं। इसी प्रकार बीजगणित के समीकरणों और रेखागणित के कुछ प्रेमियों के लिए भी युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

"इस समूचे प्रयास के बारे में महत्व की बात यह है कि स्वामीजी ने जितने और जिस तरह के गणित के लिए युक्तियाँ सुझाई हैं, वह प्रारम्भिक गणित है, और भारतीय ही नहीं, चीनी, यूनानी, इस्लामी आदि गणितज्ञों को बहुत पहले ज्ञात रहा है।

"प्रश्न है : स्वामी जी ने उतने ही गणित के लिए युक्तियाँ क्यों सुझाई जो कई देशों में काफी पहले से ज्ञात रहा है ? आज गणित एक बहुत व्यापक विषय बन गया है। समुच्चय सिद्धान्त पर आधारित नया अंकगणित एकदम भिन्न है, और आज अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पिछले करीब डेढ़ सौ वर्षों में विभिन्न प्रकार के 200 से भी अधिक आधुनिक बीजगणित खोजे गए हैं। ज्यामितियाँ भी कई प्रकार की हैं। विश्व की भौतिक व्यवस्था को समझने के लिए अ-यूक्लिडीय ज्यामितियों का अध्ययन अब परमावश्यक है।

"यदि वेदों में ही सारा गणित निहित है, तो आधुनिक गणित के ये तमाम विषय भी क्यों नहीं 'वैदिक गणित' से फलित होते ? क्यों नहीं थ्योरी ऑव सेट्स, थ्योरी ऑव गेम्स, थ्योरी ऑव ग्रुप्स, टापोलॉजी, प्रायिकता सिद्धान्त आदि आधुनिक गणित के दर्जनों नये विषय 'वैदिक गणित' से खोज कर निकाले गये ?

"स्वामी जी या उनके किसी शिष्य ने 'वैदिक गणित' के आधार पर आज तक एक नया सूत्र या नया प्रमेय क्यों नहीं खोजा ? जिस गणित के लिए स्वामीजी ने 'नई युक्तियाँ' की हैं वह सारा का सारा पहले से ही ज्ञात था—आर्यभट, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य आदि हमारे गणितज्ञों को, और विदेशी गणितज्ञों को भी।

"गणित के सैकड़ों सवाल आज भी अनुत्तरित हैं। महान जर्मन गणितज्ञ डेविड हिल्बर्ट (1862-1943) ने 1900 ई० में पेरिस में आयोजित गणित की द्वितीय अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस में बीसवीं सदी के गणितज्ञों द्वारा हल किये जाने के लिए गणित के 23 महत्वपूर्ण सवाल प्रस्तुत किये थे। उनमें से कुछ सवाल पिछले नौ दशकों में हल किए जा चुके हैं, मगर कुछ आज भी अनुत्तरित हैं। उनमें से एक भी सवाल का—मिसाल के लिए, फर्मा के 'अन्तिम प्रमेय' का ही—हल वैदिक सूत्रों के आधार पर क्यों नहीं प्रस्तुत कर दिया जाता ?

"जब गणित में किसी नए व्यापक सिद्धान्त की स्थापना होती है, जैसे ग्रुप सिद्धांत या समुच्चय सिद्धान्त की तो वह गणित के अन्य कई अंगों की समस्याओं के लिए भी हल प्रस्तुत कर देता है। स्वामी के 'वैदिक गणित' में ऐसा नया कुछ भी नहीं है। उनकी सारी युक्तियाँ भी नई नहीं हैं। ऐसी बहुत-सी युक्तियों से गणितज्ञ बहुत पहले से परिचित रहे हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन भारत के गणितज्ञों को गुणन की नौ विधियाँ मालूम थीं।

स्वामी जी 'वैदिक गणित' को परिपूर्ण बताते हैं, परन्तु प्राचीन भारत के गणित में ऐसी परिपूर्णता कहीं देखने को नहीं मिलती। वेदों में शून्य (शब्द) नहीं। शून्ययुक्त दाशमिक स्थानमान अंक-पद्धति की खोज भारत में काफी बाद में, ईसा की पहली-दूसरी सदी में हुई। सम्राट अशोक से लेकर अन्तिम गुप्त सम्राट तक के सारे अभिलेखों में पुरानी अंक-पद्धति की ह्रास संख्याएं देखने को मिलती हैं। इतने महान आविष्कार की यदि वैदिक समाज को जानकारी थी, तो 514 ई० के एक दानपत्र में ही पहली बार उसका इस्तेमाल क्यों देखने को मिलता है ?"

■ ■

कहानी निश्चेतक की

प्रो॰ रमेश चन्द्र कपूर

किसी भी वैज्ञानिक खोज का श्रेय प्रायः एक ही वैज्ञानिक को प्राप्त होता है। परन्तु अनेक बार ऐसा हुआ है कि एक ही खोज के लिए अनेक दावेदार पैदा हो जाते हैं जो यह कहते हैं कि सर्वप्रथम खोज उसी ने की है। कारण यह है कि प्रायः किसी भी नये कार्य के लिये लोग उसी का सम्मान और प्रशंसा करते हैं जो उस खोज को सर्वप्रथम घोषित अथवा प्रकाशित करे। पेटेंट विभाग में भी लगभग ऐसा ही होता है। इसी कारण यदि एक से अधिक केन्द्रों में कोई समकालिक नई प्रगति हुई हों तो ऐसा देखा गया है कि वह खोज विवाद के घेरे में आ गई। कभी-कभी तो मुकदमे की नौबत भी आ जाती है। नाइट्रस-ऑक्साइड तथा ईथर के निश्चेतक गुणों का पता लगने के बाद भी कुछ ऐसा ही विवाद उठ खड़ा हुआ था।

सामान्य ताप पर नाइट्रस-ऑक्साइड गैसीय अवस्था में रहती है। वास्तव में विश्वविख्यात अंग्रेज वैज्ञानिक पादरी जोजेफ प्रीस्टले ने अठारवीं शती में नाइट्रस-ऑक्साइड की खोज की थी। नाइट्रोजन पेरॉक्साइड तथा लौह चूर्ण को एक साथ गरम करने पर यह गैस निर्मित हुई थी। कुछ काल के पश्चात् यह पता लगा कि नाइट्रस-ऑक्साइड को नियोजित मात्रा में सूंघने पर लोगों को हंसी आने लगती थी और वे या तो उधम मचाने लगते थे अथवा मसखरी करने लगते थे। फलस्वरूप लोग इसे 'लाफिंग गैस' कहने लगे।

1829 में हिकमैन नामक अंग्रेज ने फ्रांस के नरेश चार्ल्स दशम् को एक पत्र लिखा जिसमें कहा गया कि उसने कुत्तों पर एक गैस के कुछ प्रयोग किये थे, जिनसे निष्कर्ष निकला था कि उस गैस का उपयोग शल्य-क्रिया के दौरान पीड़ा कम करने अथवा पीड़ा हरने में हो सकता है। हिकमैन ने नरेश से अनुरोध किया कि वे इस गैस पर अधिक प्रयोग करवायें। नरेश ने उस पत्र को फ्रांस की सर्वोच्च अकादमी के विशिष्ट सदस्यों के पास विचारार्थ भेज दिया। सदस्यों ने इसमें लिखे प्रस्ताव को हास्यपद ही समझा। उनके अनुसार शल्य-चिकित्सा से पीड़ा को निकालने का विचार केवल कपोल कल्पना था। लोगों का ऐसा विचार था कि रोगी की चेतना में छुरी और पीड़ा शल्य-चिकित्सा से सदैव जुड़े रहेंगे।

इसके विपरीत अमेरिका के हार्टफोर्ड नगर में 1844 में एक प्रयोग का प्रदर्शन हुआ जिससे ऐसा लगा कि नाइट्रस-ऑक्साइड द्वारा मूर्छा की अवस्था लाई जा सकती है। कोल्टन नामक एक प्राध्यापक ने गैस को सूंघने के लिये लोगों को आमन्त्रित किया। एक भीड़ में उपस्थित युवक सेमुयल कुली ने स्वेच्छा से गैस को सूंघा। फलस्वरूप वह अत्यंत उत्तेजित अवस्था में आकर झगड़ने लगा। शीघ्र ही वह गिरा और चुपचाप बैठ गया। उसके मित्र वैल्स ने देखा कि कूली के पैर में चोट आ गई थी और उससे रक्त बह कर कुर्सी के नीचे जमा हो रहा था, परन्तु कूली को पीड़ा का कुछ भी एहसास न था। किन्तु गैस का प्रभाव समाप्त हो जाने के बाद उसे पीड़ा महसूस हुई।

प्लाट 4, 8 रेजिडेंसी रोड, जोधपुर—342001 (राजस्थान)

दंत-चिकित्सक होने के कारण वेल्स ने इस प्रयोग के महत्व को तुरन्त समझ लिया। दूसरे दिन एक अन्य दंत-चिकित्सक द्वारा अपने सड़े दाँत को निकलवाने का उसने प्रबन्ध किया और उस अवधि में नाइट्रस-ऑक्साइड सूँघ कर स्वयं को निश्चेत अवस्था में रखे रहा। दाँत निकलवाते समय उसे कोई पीड़ा का बोध न हुआ। इसके पश्चात् वेल्स अपने मरीजों का दाँत निकालते समय इसी गैस द्वारा अचेत रखता, परन्तु इस क्रिया को गोपनीय रखता था। अंततः वेल्स को बोस्टन नगर के एक अस्पताल में अपने प्रयोगों को दिखाने का अवसर दिया गया। वेल्स उस दिन उत्तेजित अवस्था में था, जिस कारण रोगी के पूर्णतः मूर्छित होने के पहले ही उसने दाँत निकालने का कार्य आरम्भ कर दिया। होना क्या था, रोगी बुरी तरह चिल्लाने लगा। दूसरी ओर दर्शकों ने ताने मारने आरम्भ कर दिये। असफलता का मुँह देखने पर वेल्स निराश हो गया और दाँत निकालने को तिलांजलि दे दी। कुछ वर्षों बाद उद्वेग में आकर उसने आत्महत्या कर ली। इस प्रकार उसका अत्यन्त ही दुःखद अंत हुआ।

इस अनर्थकारी प्रदर्शन के दो वर्षों पश्चात् वेल्स के सहयोगी विलियम मार्टन ने नाइट्रस-ऑक्साइड पर कुछ प्रयोगों का आयोजन किया। सर्वप्रथम उसने जाने माने वैज्ञानिक जैक्सन से नाइट्स-ऑक्साइड बनाने की विधि पूछी। जैक्सन की सलाह थी कि इस गैस को बनाना टेढ़ी खीर होगा। अच्छा यह होगा कि उसके स्थान पर ईथर का उपयोग किया जाय। जैक्सन के पास ईथर उपलब्ध था, उसने इसे मार्टन को प्रयोग करने के लिये दे भी दिया। उसी दिन मार्टन ने एक रोगी का दाँत निकालते समय ईथर का उपयोग किया, जिसमें उसे आशातीत सफलता मिली। वास्तविक स्थिति यह थी कि तीस वर्ष पूर्व ही सुप्रसिद्ध अंग्रेज वैज्ञानिक माइकेल फैराडे ने ईथर के निश्चेतक गुण का पता लगा लिया था।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि एक ओर जब वेल्स अपनी खोज को बिना आर्थिक लाभ के खुले आम देना चाहता था दूसरी ओर मार्टिन इसको पेटेंटित करवा कर बड़ी रकम कमाना चाहता था, यद्यपि यह खोज उसने की भी नहीं थी। उसने जैक्सन से अपनी इच्छा प्रकट की, परन्तु जैक्सन ने उसके साथ पेटेंट की अर्जी देने से इन्कार कर दिया। उसके अनुसार यह कार्यवाही अनैतिक थी। फिर भी मार्टिन ने पेटेंट की अर्जी दाखिल कर दी। यही नहीं, उसने जैक्सन को फुसलाकर अर्जी पर इस बात की पुष्टि करवा ली कि खोज का सारा लाभ केवल वेल्स को ही मिलेगा।

मार्टन ने बोस्टन के उसी अस्पताल में अपना प्रदर्शन किया जहाँ पर वेल्स को असफलता मिली थी। उसने निश्चेतक के रूप में ईथर का ऐसे ऑपरेशन में उपयोग किया जिसमें रोगी के गले से गाँठ का निकाला जाना था। उसके सौभाग्य से ऑपरेशन सफलता से सम्पन्न हो गया और रोगी ने कोई कष्ट नहीं झेला। दर्शकों ने मार्टन की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। मार्टन की साख बन गई और उसको प्रचुर धन की प्राप्ति होने लगी।

वेल्स अभी जीवित था। अपनी असफलता के सामने मार्टन की ख्याति उसे बड़ी कड़वी लगी। उसने तथा जैक्सन दोनों ने मार्टन से लोहा लेने का निश्चय। वेल्स का दावा था कि निश्चेतक की खोज का श्रेय उसी को मिलना चाहिये क्योंकि उसी ने यह खोजा था कि नाइट्स-ऑक्साइड को सूंघने से हानिरहित बेहोशी आ जाती है, जिससे रोगी को ऑपरेशन-काल में पीड़ा का बोध नहीं होता। यद्यपि मार्टन ने नाइट्स-ऑक्साइड का उपयोग नहीं किया था फिर भी वेल्स के दावे की सार्थकता कम नहीं होनी चाहिए। दूसरी ओर जैक्सन ने यह तर्क किया कि उसने अपने

ऊपर किये प्रयोगों द्वारा ही ईथर के निश्चेतक गुण की खोज की थी तथा उसी ने मार्टन को ईथर का उपयोग करने को राजी किया था।

इधर मार्टन ने 1849 में अमेरिकी कांग्रेस के सामने याचना की कि उसे एक उपयोगी खोज करने के सम्मान में एक लाख डॉलर की राशि दी जाय। वेल्स उस समय तक आत्महत्या कर चुका था, परन्तु उसके अनुयायिओं ने उसका पक्ष भी प्रस्तुत किया। जैक्सन ने मार्टन के विरूद्ध अपनी खोज की पहल की। इसी विवाद के बीच एक चौथे दावेदार निकल आए। वे थे डॉ० क्रफोर्ड लांग, जिन्होंने यह आग्रह किया कि ईथर के निश्चेतक गुणों की खोज वे आठ वर्ष पहले ही कर चुके थे। किस्सा यह था कि उस समय उनके पास कुछ युवक उनसे नाइट्स-ऑक्साइड माँगने आये जिसे वे एक पार्टी में मसखरी के लिये उपयोग करना चाहते थे। लांग ने उन्हें उसके स्थान पर ईथर यह कह कर दे दिया कि इससे भी वैसा ही प्रभाव उत्पन्न हो जायगा। युवकों ने पार्टी में एक बेरे को ईथर सुंघा दिया। बेचारे बेरे ने बहुत विरोध किया परन्तु भीड़ ने जबरदस्ती उसे ईथर सुंघा दिया। बैरा निश्चेत अवश्था में जमीन में पड़ गया। घबड़ाकर लोगों ने डॉ० लाँग को बुलाया। डॉ० लाँग ने निरीक्षक द्वारा पाया कि बैरे की नाड़ी ठीक चल रही थी और श्वास-क्रिया भी सामान्य थी, यद्यपि वह बेहोशी की अवस्था में था। कुछ घन्टों के बाद उसे होश आ गया और उसने अपने को स्वस्थ पाया। परन्तु इस बीच उस पर क्या बीती इसका उसे कुछ ज्ञान न था। कुछ दिनों बाद ही डॉ० लांग ने एक रोगी के गले से दो गाँठों को निकालने का ऑपरेशन किया, जिसमें उन्होंने ईथर का उपयोग किया। इस तर्क के आधार पर लाँग का कहना था कि उन्होंने ईथर के निश्चेतक गुण की खोज की। अतएव डॉ० लांग के अनुसार प्राथमिकता उन्हीं को मिलनी चाहिये थी।

इसी काल में एक अंग्रेज डॉ० थामस डडले ने यह दलील रखी की निश्चेतक गुण के खोज का श्रेय उनके ही देश के हिकमान नामक व्यक्ति को मिलना चाहिये। उसके तर्क को अस्वीकार कर दिया गया, परन्तु उसी काल में ब्रिटेन के एक अन्य नागरिक ने क्लोरोफार्म के निश्चेतक गुणों को पहचानने का दावा किया। उसका नाम था जैम्स सिम्पसन।

उपरोक्त विवाद के कारण मार्टन की अपील को अमेरिकी कांग्रेस ने नामंजूर कर दिया। फिर भी वह ऑपरेशनों में रोगियों पर ईथर का इस्तेमाल करता रहा। कुछ दिन तक यह सिलसिला चला, परन्तु इस बीच दुर्घटनाओंवश अनेक रोगियों की ऑपरेशन टेबुल पर ही मृत्यु हो गई। लोगों में इसके विपरीत रोष उठा, जिसके कारण मार्टन का कारोबार ठंडा हो गया। 1868 में मार्टन 49 वर्ष की अवस्था में चल बसा।

रूस के जार ने तथा स्वीडेन ने मार्टन का विशेष सम्मान किया। अमेरिका के 'हाल ऑव फेम' (Hall of Fame) में उसे मरणोपरांत प्रवेश मिला। जैक्सन को तुर्की तथा प्रुशिया के सम्राट द्वारा सम्मानित किया गया। फ्रांस की अकादमी ने जैक्सन तथा मार्टन दोनों को सम्मानित किया। दूसरी ओर अमेरिका की डेन्टल तथा मेडिकल सोसायटियों ने प्रस्तावों को पारित कर यह घोषणा की कि वास्तव में वेल्स ने ही अमेरिका में निश्चेतक को प्रवर्तित किया था। इन सबके विपरीत अमेरिका के जार्जिया राज्य द्वारा लांग की प्रतिमा को अमेरिका के 'हाल ऑव फेम' (Hall of Fame) में स्थापित किया गया था।

इस प्रकार इस खोज से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों को कहीं न कहीं सम्मानित अवश्य किया गया।

■ ■

विज्ञान और सामान्यजन

प्रो० देवेन्द्र कुमार राय

"विज्ञान" हमारे मष्तिक में मुख्यत: एक आदर-भाव जगाता है, क्योंकि मानव-कल्याण के लिए इसका योगदान बहुमुखी है। परन्तु इस भाव के साथ एक भय की भावना भी उभरती है। वास्तव में आजकल हम बहुधा ऐसे वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रतिष्ठानों की चर्चा सुनते हैं जो महत्व एवं ख्याति के विचार से तो प्रशंसनीय होते हैं किन्तु उनकी प्रासंगिक चर्चा विशेषत: पर्यावरण-क्षति के संदर्भ में टीकापरक ही होती है। परन्तु यह विडम्बना की बात है कि इस संदर्भ में भी लोग मुख्यत: विज्ञान की ओर आशापूर्ण दृष्टि से देखते हैं कि वही हमें इस वर्तमान त्रासदी से उबार सकता है। कुछ दशक पूर्व विज्ञान के प्रति लोगों का दृष्टिकोण उन्मुक्त प्रशंसा का था, और ऐसा माना जाता था कि विज्ञान हमारी सभी भौतिक समस्याओं की रामबाण ओषधि है। सन् 1956 ई० में भारतीय संसद द्वारा पारित विज्ञान-नीति सम्बन्धी प्रस्ताव इसी आशापरक विचार का द्योतक है।

सामान्य व्यक्ति विज्ञान की अपेक्षा विज्ञान पर आधारित औद्योगिक एवं तकनीकी प्रगति से अधिक प्रभावित होता है। ओषधि, शल्य-चिकित्सा, संचार-साधनों, यातायात, कृषि तथा ऐसे ही अनगिनत मानवीय क्रिया-कलापों में जो नित नई प्रगति हो रही है वह सब विज्ञान और वैज्ञानिक विधियों के अनुप्रयोग पर आधारित है। अतः इस बात पर विचार करना चाहिए कि आखिर यह विज्ञान और वैज्ञानिक विधि क्या है?

विज्ञान अपने सरलतम रूप में जिज्ञासा और आश्चर्य की उस भावना में जन्म लेता है जिसे आदि मानव ने अपने आस-पास घटित होने वाली प्राकृतिक घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में अनुभव किया था। आकाश में विद्युत् की गड़गड़ाहट, ऋतुओं का प्रवर्तन और तज्जन्य नदियों का उफान या उतार, झिलमिलाते तारों से भरा भव्य गगनमंडल जो एकसाथ ही गतिशीलता एवं स्थायित्व, दोनों का आभास देता है, तथा ऐसी ही अन्य गटनाएँ एवं नैसर्गिक परिवेश मानव-मन की जिज्ञासा को बढ़ाती रही हैं। मानव इन घटनाओं को अनवरत देखता और इन पर चिंतन करता रहा। प्रारम्भ में उसका प्रेक्षण बहुत कुछ निष्क्रिय अवलोकन तक सीमित रहा, क्योंकि नियंत्रित प्रयोगों के लिए आवश्यक उपकरण, यहाँ तक कि इन विधियों के सिद्धान्त भी ज्ञात नहीं थे। अनवरत चिंतन की यह धारा शताब्दियों क्या युगों तक चलती रही और इसी के फलस्वरूप इन घटनाओं का आपसी सहसम्बन्ध और इनका अन्योन्याश्रयण प्रगट होने लगा। उदाहरणार्थ, नील नदी की बाढ़ और आकाश में तारा-मंडलों की स्थिति से मानव जाति को आवर्तकालिक घटनाओं की धारणा प्राप्त हुई। सूर्य, चन्द्रमा और ग्रहों जैसे आकाशीय पिण्डों के तथ्यपूर्ण एवं विवेकशील प्रेक्षणों के आधार पर कोपर्निकस और गैलीलियो जैसे वैज्ञानिकों को भू-केन्द्रिक और सूर्य-केन्द्रिक ग्रह-निकाय सम्बन्धी विचारधाराओं के विरोधाभास एवं समाधान की दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त हुई।

परन्तु, वैज्ञानिक विधि का वास्तविक सूत्रपात्र या एक प्रकार से उसका जन्म ही गैलीलियो के कार्य से हुआ, गैलीलियो ने ही प्रयोग-समायोजन की प्रक्रिया का शुभारम्भ किया और इन प्रयोगों के निष्कर्षों से व्यापक

भौतिकी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी—221005

नियमों का प्रतिपादन किया। संक्षेप में, प्रयोगात्मक विधि की आधारभूत अवधारणा में निम्नलिखित प्रक्रम सम्मिलित होते हैं : किसी परिणाम विशेष में उन प्रमुख स्वतंत्र चर राशियों (या कारणों) का निर्धारण जो उसे प्रभावित करते पाए जाते हैं, इसके बाद एक ऐसी परिस्थिति की अवधारणा करना जिसमें उक्त कारणों (चर राशियों) में से केवल कोई एक राशि (यथासंभव केवल एक ही कारण) को नियंत्रित ढंग से परिवर्तित होने दिया जाय और परिणाम के निष्कर्षों को ज्ञात किया जाय। इसके बाद एक गणितीय विश्लेषण (आरम्भ में सामान्यतः सरल समानुपात आदि से सम्बन्धित) किया जाता है जिससे कारण एवं प्रभाव के बीच पूर्वानुमानपरक सम्बन्ध प्रतिफलित होता है। यदि यह सम्बन्ध अनेक मामलों में (प्रयोगों या घटनाओं में) यथावत् बना रहता है तो वैज्ञानिक यह अनुमान लगाता है कि उसे ऐसा महत्वपूर्ण तथ्य प्राप्त हुआ है जिसे वह प्रकृति के किसी नियम का आधार कह सकता है। तदन्तर इस नियम का उपयोग अन्य प्रयोगों के परिणामों की भविष्यवाणी करने मे किया जाता है। यह आशा की जाती है कि प्रत्याशित परिणाम मापनों से प्रमाणित हो जायगा। जब तक प्रत्याशित फल और प्रयोगजन्य मापन एक दूसरे की पुष्टि करते हैं, सबको प्रसन्नता होती है और प्रतिपादित नियम संतोषप्रद कहा जाता है। किन्तु विज्ञान की प्रगति के लिए तो वे परिस्थितियाँ अधिक लाभप्रद होती हैं जिनमें इनका अन्तर उल्लेखनीय होता है, क्योंकि ऐसी ही स्थितियों में प्रत्याशित एवं मापित परिणाम के अन्तर या विचलन की व्याख्या का प्रयास आरम्भ होता है। पहले तो सिद्धान्त में उन छोटे कारणों को शामिल किया जाता है जिन्हें पहले छोड़ दिया (या उपेक्षणीय मान लिया) गया था। परन्तु यदि इससे संतोषप्रद परिणाम नहीं मिलते हैं तो बहुधा आधारभूत परिकल्पनाओं और उस सिद्धान्त को ही परिवर्तित करना पड़ सकता है। इससे एक वैज्ञानिक क्रांति होती है, और प्राकृतिक परिघटनाओं का एक नया क्षेत्र ही शोध एवं विस्तृत विवेचना के लिए उपलब्ध हो जाता है।

विज्ञान के क्षेत्र में इस प्रकार के परिवर्तन निरन्तर होते रहे हैं, पर सामान्य मनुष्य को उनका भान नहीं होता। वह तो इन्हें तभी जान पाता है जब स्वयं उसका जीवन प्रभावित होता है। उदाहरणार्थ फैराडे का वह प्रयोगात्मक कार्य जिसके चलते ''बल-क्षेत्र'' की धारणा का सूत्रपात हुआ तथा विद्युत् और चुम्बकत्व की परिघटनाओं की एकता प्रतिपादित हुई। सामान्य जन के ध्यान में यह सब तब आया जब इस पर आधारित यंत्रों से विद्युत्-धारा उत्पन्न करने में सफलता मिली; जबकि विज्ञान की दृष्टि से इनका महत्व बहुत अधिक था क्योंकि चिरसम्मत न्यूटोनियम भौतिकी में प्रयुक्त दूरस्थ क्रिया (Action at a Distance) की अवधारणा विखंडित हुई। यहाँ एक घटना स्मरणीय हो जाती है, जब फैराडे ''विद्युत्-चुम्बकत्व'' पर एक व्याख्यान दे रहे थे, तब व्याख्यान के अन्त में एक महिला ने पूछा, ''इसका क्या उपयोग हो सकता है?'' फैराडे का उत्तर था, ''किसी शिशु के जन्म के समय तो कोई नहीं जानता कि उसमें क्या करने की सामर्थ्य है।'' यह घटना लोगों के मन से यह भ्रम दूर करने में सहायक हो सकती है कि वैज्ञानिक ही अपने अन्वेषणों के महत्व को शीघ्र आँक सकता है। हमें याद करना चाहिये कि प्रख्यात नाभिकीय भौतिकीविद लार्ड रूदरफोर्ड ने भी इस सदी के तीसरे दशक के दौरान कहा था कि—किसी का यह सोचना कि नाभिक में संचित ऊर्जा उपयोगी हो सकती है मात्र दिवा-स्वप्न ही होगी। किन्तु उसके बाद दो दशक भी नहीं बीते कि उसी ऊर्जा ने जापान के हिरोशिमा और नागासकी नगरों को ध्वस्त करके जापान को मित्र-राष्ट्रों के आगे घुटने टेकने को विवश कर दिया। और उसके कुछ ही वर्षों बाद-नाभिकीय जेनरेटरों की बिजली से अनेक नगरों में घर और सड़कें प्रकाशित होने लगीं।

अब हम विज्ञान के उस पहलू पर विचार करेंगे जिसकी आजकल समाचार-माध्यमों में काफी चर्चा है। वह है, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का घातक प्रभाव, जो वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप सामने आने लगा है। कीट-नाशक,

जिनका विकास फसलों को हानि पहुँचाने वाले कीट-पतंगों एवं जीव-जन्तुओं के निवारण के लिए किया गया था, परन्तु जो अब सारे विश्व में जल-आपूर्ति संसाधनों को प्रदूषित कर रहे हैं। इतना ही नहीं, संश्लेषित उर्वरक जिनका अधिकाधिक प्रयोग धरती पर बढ़ती आबादी को भोजन देने के विचार से आवश्यक समझा जाता है, धरती की उर्वरता-क्षय का कारण बनते जा रहे हैं। इसी प्रकार एयरोसॉल फुहारें और क्लोरोफ्लोरोकार्बन, जो हेयर-स्प्रे तथा रेफ्रिजरेशन (प्रशीतन) आदि के आवश्यक घटक थे, या जो बहुत से ऐसे संसाधनों के लिए आज भी अपरिहार्य घटक हैं जो आधुनिक जीवन के लिए आवश्यक हैं, वे ही हमारे वायुमण्डल के सुरक्षा-कवच "ओज़ोन-स्तर" को हानि पहुँचाने के दोषी पाए गए हैं।

इन कुछ उदाहरणों से ही यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि वैज्ञानिक विकासों से हमें सुख-सुविधाओं के अनेक संसाधन प्राप्त होते हैं परन्तु कुछ काल बाद हमें इनके ऐसे परिणाम भी भोगने पड़ते हैं जो कष्टप्रद या विनाशकारी होते हैं। यही कारण है कि वर्तमान वैज्ञानिक विकास कार्यक्रमों में पर्यावरण पोषी संसाधन, जैसे—सौर-ऊर्जा तथा ऊर्जा के अन्य पुनर्नवीकरणीय स्रोत आदि महत्वपूर्ण होते जा रहे हैं। पर इन संसाधनों का विकास एवं उपयोग भी विज्ञान और प्रविधि के सतत विकास पर ही निर्भर है।

अन्त में विज्ञान या विशेष रूप से वैज्ञानिक प्रशिक्षण के एक ऐसे पहलू की ओर ध्यान देना भी आवश्यक है जिसे हम बहुधा विज्ञान के प्रत्यक्षतर लाभ या हानि-कर प्रभावों की चकाचौंध में विस्मृत कर देते हैं। वह है—वैज्ञानिक एवं प्राविधिक चेतना या प्रवृत्ति, जो समस्त वैज्ञानिक प्रगति की आधारशिला है। इस प्रवृत्ति के कुछ आधारभूत घटक हैं, जैसे—जिज्ञासा और आश्चर्यानुभूति, गहन प्रेक्षण सामान्य परिघटनाओं के ढेर में सार्थक एवं उपयोगी परिघटना को पहचानने की क्षमता, आदर्शीकरण और पृथक्करण (abstraction) तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण—आलोचनाओं एवं समीक्षाओं को स्वीकार करके अपने दृष्टिकोण एवं सिद्धान्तों में संशोधन की क्षमता। विज्ञान की सार्वभौतिकता, इसमें वस्तुनिष्ठता का विशेष महत्व, व्यक्तिगत पक्षपातों और पूर्वाग्रहों से मुक्त रहने का प्रयास, जो ऐसे गुण हैं जिनका सामाजिक विज्ञान तथा सामाजिक सम्बन्धनों के क्षेत्रों में भी संवर्धित किया जाना आवश्यक है। वैज्ञानिक प्रवृत्ति का दूसरा स्वागतयोग्य पक्ष है, किसी एक विशेष दृष्टिकोण के सम्बन्ध में हठधर्मितापूर्ण निष्ठा का परित्याग। इस विशेषता पर जोर देना तथा समाज में इसका प्रचार करना, मानवता को कष्ट पहुँचाने वाले सामाजिक तनावों को कम करने में सहायक हो सकता है। अन्त में, ज्ञातव्य है कि वैज्ञानिक अभिरुचियों का अनुसरन करने वाले जिस बौद्धिक आनन्द का अनुभव करते हैं तथा जो आनन्द बहुधा उन विज्ञानवेत्ताओं को भौतिक सुखों के प्रति उदासीन बना देता है, वह एक ऐसी विशिष्टता है जो अनुकरणीय है। वास्तव में, यद्यपि मेण्डल और बारबेरामैक्लिन्टॉक जैसे वैज्ञानिक, जिन्होंने अपना अध्ययन गुमनामी में किया था, अब कम ही हैं, किन्तु यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि विज्ञान के सच्चे अनुयायी बहुधा अपना जीवन बहुत कुछ, अन्य व्यवसायों में लिप्त लोगों की अपेक्षा धीमी गति पर बिताते हैं।

विज्ञान मानव सभ्यता के साथ गहराई से सम्बद्ध है और इसके अनेक दोषों के बावजूद इसको प्रोत्साहन दिया जाना उचित है। इस संदर्भ में, विश्वविख्यात वैज्ञानिक मैडम क्यूरी के पति पीयरे क्यूरी का निम्नलिखित वक्तव्य उल्लेखनीय है—

"मानवता को निश्चय ही ऐसे व्यवहारिक लोगों की आवश्यकता होती है जो अपनी रुचि एवं लाभ के

लिए अपनी सामर्थ्य का सर्वोत्तम उपयोग करते हैं, पर साथ ही व्यापक जनहित को नहीं भूलते हैं। परन्तु मानव-समाज को ऐसे लोगों की भी आवश्यकता होती है जो "स्वप्नद्रष्टा" होते हैं, जिनके लिए सर्वथा स्वार्थरहित होकर किसी उद्देश्य का अनुसरण इतना आवश्यक हो जाता है कि उन्हें अपने निजी भौतिक लाभों के लिए समय देना असंभव हो जाता है। यह सत्य है कि ये आदर्शवादी व्यक्ति धन के अधिकारी नहीं होते, क्योंकि उनके मन में धन की लालसा होती ही नहीं। परन्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि किसी भी सुव्यवस्थित समाज का यह धर्म है कि ऐसे कर्मठ एवं स्वप्नद्रष्टा व्यक्तियों के लिए दक्षतापूर्ण श्रम के साधन उपलब्ध कराये ताकि वे अपना जीवन, भौतिक सुखों की चिन्ताग्रस्तता से मुक्त वैज्ञानिक शोध के लिए समर्पित कर सकें।"

वैज्ञानिकों के लिए भी महान विज्ञानवेत्ता आइन्स्टाइन के निम्नलिखित विचार ध्यातव्य हैं—

"समस्त तकनीकी अध्यवसायों का प्रमुख ध्येय सदैव स्वयं मानव से तथा उसके भाग्य से सम्बद्ध होना चाहिए ताकि हमारे मस्तिष्क के संरचनात्मक कार्य समस्त मानव जाति के लिए अभिशाप न होकर वरदान सिद्ध हों। इसे हमें अपने लेखाचित्रों एवं गणितीय सूत्रों की भीड़ में भी सदैव याद रखना चाहिए।

■ ■

हृदय रोगों से कैसे बचें

डॉ० अनुराग श्रीवास्तव

शरीर के अन्य अंगों की तरह ही हृदय भी मजबूत मांसपेशियों से बना एक अमूल्य अंग है जो छाती के बाईं तरफ स्थित होता है। हृदय का मुख्य कार्य है शुद्ध रक्त को धमनियों द्वारा शरीर के विभिन्न हिस्सों में पम्प क्रिया द्वारा धकेलना। ऐसा होने पर रक्त के साथ-साथ ऑक्सीजन, पोषक तत्व व अन्य उपयोगी अवयव भी शरीर के विभिन्न हिस्सों में पहुँच जाते हैं। यही रक्त वापसी में शरीर की विभिन्न जैव-क्रियाओं द्वारा उत्पन्न अनुपयोगी अवयवों व कार्बन डाइऑक्साइड गैस इत्यादि को अपने में घोलकर शिराओं द्वारा हृदय के दाहिनी तरफ पहुँचाता है, जहां से यह अशुद्ध रक्त पुनः शुद्ध होने हेतु फेफड़ों तक पहुँचा दिया जाता है। अपनी मुट्ठी को खोलकर व बंद कर आप अपने हृदय की पम्प क्रिया का सहज अनुमान लगा सकते हैं। आपको जानकर शायद आश्चर्य हो कि मानव शरीर में कुल रक्त की औसत मात्रा, जोकि लगभग 6 लीटर होती है, केवल 1 मिनट में हृदय द्वारा पम्प की जाती है। शारीरिक व्यायाम व भावुकता की स्थिति में तो रक्त परिचालन की यह गति 5 से 10 गुना तक बढ़ भी सकती है।

वरिष्ठ चिकित्सा अधिकारी एवं विभागाध्यक्ष, जैवरसायन विभाग, जवाहरलाल नेहरू चिकित्सालय एवं अनुसंधान केन्द्र, भिलाई इस्पात संयंत्र, भिलाई, 1 बी० स्ट्रीट 24, सेक्टर 9, भिलाई, मध्य प्रदेश

हृदय रोग क्या है ?

वैसे तो रक्त-परिवहन की कोई भी ऐसी स्थिति जिसमें हृदय अथवा रक्त वाहिनियाँ प्रभावित हों, हृदय रोग की अवस्था हो सकती है किन्तु सामान्य व्यक्ति के लिए हृदय रोग का अभिप्राय हृदय शूल (एन्जाइना) अथवा हृव्याघात (मायोकार्डियल इन्फार्क्शन अथवा हार्ट अटैक) से होता है।

एथरोस्क्लोरॉसिस एवं कोलेस्ट्रॉल

कोलेस्ट्रॉल एक तरह का वसा है, जोकि संरचनात्मक दृष्टि से शरीर के लिए अत्यंत उपयोगी है। कोलेस्ट्रॉल प्रमुख रूप से 2 प्रकार का होता है—

1. दुश्मन कोलेस्ट्रॉल या एल, डी, एल, कोलेस्ट्रॉल, जिसे कम घनत्व वाला कोलेस्ट्रॉल भी कहते हैं। यह हृदय रोगो में सकारात्मक भूमिका निभाता है।

2. मित्र कोलेस्ट्रॉल या एच, डी, एल, कोलेस्ट्रॉल, जिसे अधिक घनत्व वाला कोलेस्ट्रॉल भी कहते हैं। यह हृदय रोगों में नकारात्मक भूमिका निभाकर हमारी रक्षा करता है। रजोनिवृत्ति पूर्व तक स्त्रियों के रक्त में इसकी सांद्रता अधिक रहती है। यही कारण है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ 45 वर्ष की आयु तक हृदय रोगों से करीब-करीब 10 गुना अधिक सुरक्षित रहती हैं। जानवरों एवं मानव शिशु के रक्त में भी एच, डी, एल, कोलेस्ट्रॉल की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा इन्हें सुरक्षा प्रदान करती है।

धमनियों की अंदरूनी सतह पर चर्बी (प्रमुखतः एल, डी, एल, कोलेस्ट्रॉल) जमने की वजह से धमनियाँ सँकरी होकर लचीलापन खोने लगती हैं एवं सख्त व संकरी हो जाती हैं। यही प्रक्रिया 'एथरोस्क्लोरॉसिस' कहलाती है।

हार्ट अटैक (मायोकॉर्डियल इन्फार्कशन) क्या है ?

शरीर के अन्य अंगों की तरह ही हृदय को भी ऑक्सीजन एवं अन्य पोषक तत्वों की आवश्यकता होती है जोकि इसे इसकी अपनी धमनियों से प्राप्त होती है। 'एथरोस्क्लीरॉसिस' प्रक्रिया के फलस्वरूप, संकरी धमनी में यदि रक्त का कोई थक्का फँस जाए तो रक्त का प्रवाह बाधित होता है। यदि ऐसा अवरोध उस धमनी में हो जो हृदय की माँसपेशियों हेतु ऑक्सीजन व पोषक तत्व ले जाती है (कोरोनरी धमनी) तो इसे 'हार्ट अटैक' कहते हैं। हार्ट अटैक का दर्द असहनीय होता है एवं बहुधा विश्राम की स्थिति में अचानक उठता है। करीब आधा घंटे या अधिक रहते हुए बाईं तरफ कंधे व भुजा की तरफ जाता है। इन दर्द में साँस लेने में भी तकलीफ होती है। जी मिचलाता है, पसीना आता है, चक्कर या बेहोशी की स्थिति भी आ सकती है। हार्ट अटैक का दर्द औषधिसेवन से कम नहीं होता। मधुमेह के कुछ रोगियों में देखा गया है कि हार्ट अटैक का दर्द कभी-कभी हल्का ही रहता है एवं कभी-कभी पेट में पाया जाता है यहाँ तक कि दर्द की अनुपस्थिति में भी शांत हार्ट अटैक हो सकता है।

एन्जाइना का दर्द क्या है ?

यह मुख्यतः दो प्रकार का होता है। **प्रथम**—सामान्य एन्जाइना का दर्द परिश्रम करने के उपरांत ही उठता

है। इसके अन्य कारण हो सकते हैं—अति भोजन या गरिष्ठ भोजन, भावुकता का आधिक्य, अत्यंत ठंड, इत्यादि। यह दर्द छाती के बाईं तरफ या पीछे की तरफ से प्रारंभ होकर बाऐं कंधे, बाईं भुजा या जबड़े की तरफ जाता है। कभी-कभी दाहिनी तरफ के कंधे, भुजा या पीठ की तरफ भी जा सकता है। यह दर्द मात्र कुछ मिनटों का होता है! विश्राम करने से या ओषधि सेवन से ठीक हो जाता है। दर्द हल्का या मध्यम श्रेणी की तीव्रता लिए होता है। रोगी को छाती पर दबाव, संकुचन, एवं बेचैनी का एहसास होता है। वास्तव में ऐसा हृदय को पर्याप्त ऑक्सीजन न मिल पाने के कारण होता। **द्वितीय**—इस प्रकार का एन्जाइना का दर्द विश्राम की स्थिति में कोरोनरी धमनी के संकुचन से भी हो सकता है। लक्षण उपरोक्तानुसार ही रहते हैं।

उत्तरदायी कारक

1. वय अथवा उम्र
2. लिंग
3. आनुवंशिकता
4. मोटापा
5. तनाव
6. मधुमेह
7. उच्च रक्त चाप
8. श्रम का अभाव
9. क्रोधी, उत्तेजक, भावुक स्वभाव
10. धूम्रपान, मद्यपान

यदि आप हृदय रोगी हैं तो—

1. अपनी दिनचर्या को नियमित एवं शांतिपूर्ण बनाए रखें।

2. याद रखें कि देर तक लगातार बात करना (विशेषकर भावुक / उत्तेजक), भषण, बहस इत्यादि प्रतिकूल परिणाम दे सकते हैं, विशेषकर हार्ट अटैक के उपरांत स्वास्थ्य लाभ की स्थिति में।

3. धूम्रपान एवं मद्यपान से बचें।

4. व्यस्त क्षेत्र में स्कूटर/कार न चलाएँ, विशेषकर अधिक दूरी तक। पर्याप्त समय बीत जाने पर हार्ट अटैक के बाद भी आप सामान्य रूप से कार/स्कूटर चला सकते हैं। हाँ, क्षेत्र की व्यस्तता एवं रफ्तार पर नियंत्रण अवश्य रखें।

5. आधुनिक वायुयान यात्रा में ऊँचाई पर भी कम वायुदाब का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु बेहतर है, यदि आप इससे बच सकें। विशेषत: यदि गंतव्य के अनुरूप वायुयान-यात्रा अधिक ऊँचाई वाले मार्ग से तय करनी हो।

6. एक हार्ट अटैक के बाद दूसरे हार्ट अटैक के भय से हमेशा ग्रसित न रहें एवं हर मामूली दर्द या दर्द के आभास को हार्ट अटैक मानने की भूल से बचें। याद रखिए हार्ट अटैक का दर्द असहनीय एवं अत्यधिक तीव्र होता है तथा इसे ओषधि सेवन से रोक पाना भी मुश्किल होता है अत: हमेशा भयभीत रहकर अपने व्यक्तित्व एवं स्वास्थ्य को प्रतिकूल रूप से प्रभावित न करें।

7. हार्ट अटैक के बाद भी आप अपना सामान्य लैंगिक जीवन यापन कर सकते हैं। अत्याधिक उत्तेजना से बचें।

8. रक्त कोलेस्ट्रॉल बढ़ाने वाले खाद्य पदार्थों यथा—देसी घी, डालडा, मक्खन, पनीर, अंडे की जर्दी, केक, पेस्ट्री, आइसक्रीम, चीनी, मिठाई, चाक्लेट इत्यादि का सेवन कम से कम करें। माध्यम हेतु वनस्पति तेल, सलाद, मछली इत्यादि लें।

9. अधिक मीठे फल (आम, अंगूर, केला आदि) कम लें, इनके स्थान पर संतरा, नींबू, आँवला, पपीता, गाजर, मूली, खीरा, ककड़ी, सेब, नाशपाती का सेवन करें।

10. चिकित्सक की सलाह के अनुरूप नियमित व्यायाम करें।

11. याद रखिए एथरोस्क्लोरॉसिस की प्रक्रिया बचपन से ही प्रारंभ होकर जीवन पर्यंत चलती है, अतः बचपन से ही आहार-नियंत्रण आवश्यक है।

12. "मद्यसेवन से भारी घनत्व वाले कोलेस्ट्रॉल की मात्रा में हुई वृद्धि हमें हृदय रोगों से बचाती है"—ऐसा मानाना भयंकर भूल है क्योंकि मद्यसेवन से हृदय, यकृत, मस्तिष्क एवं व्यक्तित्व पर पड़ने वाले विपरीत प्रभाव स्पष्ट रूप से सिद्ध किए जा चुके हैं। मद्यसेवन के उपरांत दुर्घटना की संभावना में हूई वृद्धि को कौन नकार सकता है? सर्वप्रमुख तो यह है कि हृदय रोगों से वास्तव में बचाने वाला भारी घनत्व का कोलेस्ट्रॉल—(एच. डी. एल.-2) मद्यसेवन से बढ़ता भी है या नहीं, यह अभी तक तय नहीं है।

■ ■

ग्राहकों से निवेदन

सभी नये एवं पुराने ग्राहकों से निवेदन है कि मनीऑर्डर फार्म में या पत्र में अपना पता पूरा पिनकोड सहित एवं साफ-साफ लिखें।

—सम्पादक

नींद का वैज्ञानिक रहस्य

डॉ० डी० डी० ओझा

वस्तुतः नींद से सभी जीव अवगत हैं। हम अपने जीवन का एक तिहाई भाग नींद में बिताते हैं। जीवन का तीसरा हिस्सा होने के बावजूद आम आदमी इसके बारे में बहुत कम जानता है। अन्य सभी शरीर-क्रियाओं की भाँति यह भी एक महत्वपूर्ण क्रिया है और प्राणियों को मानसिक एवं शारीरिक रूप से स्वस्थ बनाये रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

नींद क्या है, इस बारे में प्रसिद्ध नींद विज्ञानी **वर्नर कोएला** का कहना है—"यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें प्राणी का अपने संसार से जीवंत एवं निष्क्रिय सम्पर्क काफी कम हो जाता है। यह एक परिवर्तनशील अवस्था है, जो नियमित कालखंड के अन्तराल से घटित होती है।" नींद के अभाव में प्रारम्भ में तंत्रिका-तंत्र के अति सूक्ष्म कार्य प्रभावित होते हैं फलस्वरूप भावदशा, अभिप्रेरणा और ध्यान पर बुरा प्रभाव पड़ता है। लम्बे समय तक नींद से वंचित रहे जाने पर व्यक्ति की प्रमस्तिष्कीय एवं स्वचालित दोनों ही तरह की क्रियायें प्रभावित होती हैं। इसके अलावा प्रकम्पन, उच्चारण दोष, अक्षिदोलन के साथ-साथ पलकें भी असामान्य रूप से बन्द होने लगती हैं।

हमें नींद क्यों आती है? कब आती है? ऐसे अनेक प्रश्नों पर विद्वानों ने **ईसा** के कई सौ पूर्व से विचार करना आरम्भ कर दिया था। प्रसिद्ध दार्शनिक **अरस्तू** का कहना था कि आमाशय से ऊपर उठती हुई "गरम वाष्प" प्राणियों में नींद पैदा करती है।

क्या नींद जरूरी है?

शरीर-क्रिया विज्ञानियों के अनुसार "स्वस्थ रहने के लिए विश्राम का एक महत्वपूर्ण माध्यम है निद्रा"। हम जानते ही हैं कि शरीर के विभिन्न अंग दिन भर कार्यरत रहते हैं, जिसके कारण ऊर्जा तो खर्च होती ही है, साथ-साथ शरीर की कोशिकाएँ भी टूट कर नष्ट होती रहती हैं यद्यपि कोशिकाओं का टूटना एवं बनना दिन-रात लगातार चलता रहता है। किन्तु शारीरिक अंगों के विश्राम के कारण रात्रि में कोशिकाओं के टूटने की गति कम और बनने की गति तेज होती है अतः स्वस्थ एवं ऊर्जावान नूतन कोशिकाओं के निर्माण एवं शारीरिक शक्ति तथा स्फूर्ति के लिए नींद बेहद जरूरी है। अत्यधिक शारीरिक श्रम से ही जो व्यक्ति रोजी-रोटी अर्जित कर पाते हैं, वे भी सोने के समय को अनुत्पादक न मानते हुए नींद आने को अर्थ-उपार्जन से भी बढ़कर सुखदायी मानते हैं। आयुर्वेदाचार्यों ने भी नींद की अनिवार्यता के प्रति सचेत करते हुए बताया है—

यथा, देहवर्तो यथा ऽऽहारः तथा स्वप्नः सुखोभतः।

ब्रह्मपुरी, हजारी चबूतरा, जोधपुर-342001 (राजस्थान)

अर्थात् देह धारण के लिए जिस प्रकार आहार आवश्यक है, उसी प्रकार निद्रा भी आरोग्यदायिनी एवं आवश्यक है। **महर्षि चरक** ने नींद की महत्ता के विषय में कहा है—

यथा: निद्रायंत सुखं पुष्टि: कार्स्यं बलाबलम्, वृषताक्लीवता ज्ञानमज्ञानं जीवित न च।

अर्थात् सुख-दुख, पुष्टि-कृशता, वल-निर्बलता, पौरूष-नपुंसकता, ज्ञान-अज्ञान तथा जीवन-मरण ये सब नींद के अधीन हैं। इसी प्रकार प्रसिद्ध **'दुर्गासप्तशती'** ग्रन्थ में भी निद्रादेवी की महत्ता का वर्णन आया है—

निद्रां भगवतीं विष्णुरतुलां तेजस: प्रभु:।

यानि भगवती निद्रादेवी तेज्स्वरूप भगवान विष्णु की अनुपम शक्ति हैं।

चिकित्सकों के पास पहुँचने वाले लगभग 50 प्रतिशत लोग अन्य तकलीफों के साथ नींद सम्बन्धी शिकायतों से ग्रस्त होते हैं। काजकल लोग स्वाभाविक निद्रा को भूल से गए हैं। वे मद्यपान, नशीली गोलियों एवं नशीले पदार्थों के सहारे सोने का प्रयास करते हैं। संसार में प्रति वर्ष नींद की दवाइयां लाखों टन बनती हैं। मनुष्य जब नींद की दवाइयों का आदी हो जाता है तो दवा का प्रभाव भी कम हो जाता है और वह तनावों से ग्रस्त हो जाता है। पर्याप्त विश्राम न मिलने से, तनाव की स्थिति में शरीर में विषाक्त पदार्थ एवं हारमोन्स उत्पन्न हो जाते हैं, जो स्वास्थ्य के लिए घातक होते हैं। अनिद्रा से त्रस्त व्यक्ति चिड़चिड़ा, अक्षम, अत्यधिक थका हुआ एवं तनावग्रस्त हो जाता है। यदि वह स्थिति लगातार कुछ समय तक बनी रहे तो व्यक्ति अर्ध-विक्षिप्त भी हो सकता है।

अनुसंधान-आँकड़ों के आधार पर संक्षिप्त अनिद्रा से कमजोरी, थकान, आँखों में भारीपन, जलन तथा सिर दर्द होता है। 60 या इससे अधिक घंटों की अनिद्रा से गर्दन की मांसपेशियों में कमजोरी, पलकों पर भार, बोलने में अस्पष्टता, चेहरे पर परिवेश के प्रति भावहीनता, टी० वी० देखने या पुस्तक पढ़ने में असुविधा महसूस करना एकाग्र हो पाने की क्षमता का नष्ट होना तथा तात्कालीन स्मरण शक्ति का लुप्त होना भी अत्यधिक जागरण से संभव है।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक "नींद" वैज्ञानिकों के लिए एक ऐसा रहस्यमय विषय बना रहा, जिसके बारे में वे अपने सारे प्रयत्नों के बावजूद कुछ अधिक न जान सके। इसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जहाँ एक ओर कुछ विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया कि किसी प्राणी के मस्तिष्क में जब रक्त की मात्रा बढ़ने लगती है, तो उसे नींद आती है, वहीं दूसरी ओर कुछ दूसरे वैज्ञानिकों का विचार था कि मस्तिष्क में रक्त की कमी यानि सेरीब्रल एनीमिया नींद पैदा करती है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही वैज्ञानिक उन प्राकृतिक निद्रा-पदार्थों की खोज में जुट गए, जो मस्तिष्क में एकत्रित होकर प्राणी को सोने के लिए विवश करते हैं। उस समय तक लगाए गए अनुमानों के अनुसार इन निद्रा-पदार्थों में लैक्टिक अम्ल, कार्बन-डाइऑक्साइड, कोलेस्टेरॉल, ल्यूकोमेन समूह के रसायन, चयापचय के दौरान पैदा होने वाले टॉक्सिक एमाइन एवं यूरोटॉक्सिन प्रमुख थे। प्रेयर नामक वैज्ञानिक ने विचार प्रकट किया कि जागते रहने के दौरान किए गए शारीरिक एवं मानसिक कार्यों के कारण शरीर में लैक्टिक अम्ल बनता है। लैक्टिक अम्ल का यह

जमाव एक क्रान्तिक स्तर पर पहुँचकर प्रमस्तिष्क प्रभाग में श्वासावरोध (ऑक्सीजन की कमी एवं कार्बन डाइ ऑक्साइड की वृद्धि) की स्थिति उत्पन्न करता है और इसी के फलस्वरूप व्यक्ति विशेष को नींद आने लगती है।

इसके अतिरिक्त वर्ष 1907 में रैनेलीजेन्ड्री, 1911 में इरेरा, 1923 में काबिटो, 1933 में बैनक्राफ्ट, 1937 में क्लोइटा, 1939 में रेन्सन आदि वैज्ञानिकों ने अपनी-अपनी परिकल्पनाएँ दीं।

सन् 1957 में डब्लू० आर० हैश ने नींद के विषय में कुछ महत्वपूर्ण परिकल्पना दी। उनका कहना था कि नींद का केन्द्र चेतक (Thallamus) के आसपास होता है। अपने प्रयोगों की चर्चा करते हुए उन्होंने बयाया कि जब इस केन्द्र को विद्युत्-तरंगों से उत्तेजित किया जाता है, तो सजग प्राणी भी सोने लगता है। उनके अनुसार मस्तिष्क में आपस में एक दूसरे से जुड़े कई ऐसे केन्द्र हैं, जो नींद की प्रक्रिया का संचालन करते हैं। इसमें से कुछ का सम्बन्ध नींद के प्रतिदिन के समय तथा नींद शुरू होने की प्रक्रिया से है तो कुछ का सम्बन्ध स्वप्न रहित नींद तथा गहरी नींद से है। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि मस्तिष्क वृन्त में स्थित तंत्रिका-कोशिकाओं का एक समूह "जालक तंत्र", जागने की क्रिया को और अधश्चेतक में स्थित तंत्रिका-कोशिकाओं का एक समूह "राफे" केन्द्रक नींद की प्रक्रिया का संचालन करता है। वर्ष 1974 में हारवर्ड मेडिकल स्कूल के वैज्ञानिक पापैनहीमर एवं उनके सहयोगी जबरदस्ती जगाई गई बकरियों के प्रमष्तिक-मेरू द्रव से एक ऐसे रसायन को प्राप्त करने में सफल हो गए, जो प्राणियों में नींद पैदा करता था। इस रसायन का नाम "फैक्टर-एस" रखा गया। वर्ष 1980 में मनुष्य के मूत्र से फैक्टर-एस को पृथक् किया गया। इसके पश्चात् फैक्टर-एस की रासायनिक संरचना ज्ञात की गई और पाया कि यह एक म्यूरैमिल पेप्टाइड है, जो बैक्टीरिया की कोशिका-झिल्ली के घटकों से मिलता-जुलता है। अनेक अनुसंधान द्वारा पाया गया कि म्यूरैमिल डाइ पेप्टाइड "इन्टरल्यूकिन-I" रसायन को उत्तेजित करके नींद पैदा करता है। इसको रक्त में बृहत्केन्द्रक श्वेताणुओं (मोनोसाइट) के द्वारा और मस्तिष्क में उसकी कोशिकाओं का पोषण एवं बचाव करने वाली कुछ कोशिकाओं के द्वारा बनाया जाता है।

अनुसंधानों द्वारा ज्ञात हुआ है कि यदि मनुष्य के शरीर में कृत्रिम तरीकों से इन्टरल्यूकिन-I के स्तर में वृद्धि करदी जाय तो उनकी स्वप्नरहित नींद के गहरे हिस्से की समयावधि में वृद्धि हो जाती है। वैसे भी इस तथ्य से हम सभी परिचित हैं कि जिस दिन हम कठिन शारीरिक परिश्रम करते हैं, उसके बाद वाली रात में हमें काफी गहरी नींद आती है। वैज्ञानिकों का कहना है कि ऐसा इसलिए होता है क्योंकि कठिन शारीरिक परिश्रम करने से शरीर में इन्टरल्यूकिन-I के स्तर में वृद्धि होती है। क्राइगर के अनुसार आई एल-I शरीर में प्रोस्टाग्लान्डिन प्राणियों को सोने के लिए विवश करता है और उनकी नींद की अवधि को बढ़ाता है।

चिकित्सा विज्ञानियों के अनुसार "अनिद्रा" का अर्थ "बिल्कुल नींद न आना" नहीं हैं, वरन् यह शब्द कई स्थितियों के संदर्भ में प्रयुक्त किया जाता है जैसे देर से नींद आना, रात में कई बार नींद टूटना, जल्दी उठ जाना और सारी रात सोते रहने के बाद भी ऐसा महसूस होना कि अच्छे से नींद नहीं आई है, यह भी अनिद्रा कहलाता है। मनोचिकित्सकों एवं शरीरविज्ञानियों के अनुसार अनिद्रा रोगीजन्य, रोगजन्य एवं चिकित्सकजन्य भी हो सकती है।

अत्यधिक चाय-काफी का सेवन, धूम्रपान, मद्यपान, सोने के पहले तीव्र विवाद या बहस, सोने की इच्छा होने के पहले ही बिस्तर पर लेट जाना, चिन्ताओं से ग्रस्त रहना आदि अनिद्रा रोग के कारण हैं।

श्वास रोग, पेट के रोग, चोट लगने आदि से उत्पन्न अनिद्रा-रोगजन्य कही जाती है। डॉ० काल्स ने निरीक्षणों के पश्चात् पाया कि अन्यन्य रोगों से उत्पन्न अनिद्रा का उपचार सामान्य तौर पर चिकित्सक नींद की अधिक प्रभावशाली दवाइयाँ देकर करते हैं। फिर रोगी जल्दी ही दवाइयों का आदी हो जाता है। रोग के साथ-साथ लुप्त हो जाने वाली अनिद्रा का "औषधि निर्भर अनिद्रा" में परिवर्तन चूंकि चिकित्सक के कारण होता है अतः इसे चिकित्सकजन्य अनिद्रा कहा जाता है।

बोस्टन के निद्रा अस्पताल के प्रधान एवं मनोचिकित्सक डॉ० क्वेण्टीन रेजस्टीन ने निद्रा रोगियों को सात श्रेणियों में बाँटा है।

निद्रा पीड़ितों की सर्वाधिक संख्या अनिद्रातिरक (हाइपर एराउज) श्रेणी में आती है। ये एक बार नींद में खलल पड़ जाने के बाद सो ही नहीं पाते या फिर उन्हें नींद आती ही नहीं। दूसरे क्रम पर नींद के लिए मद्यपान अन्य नशों एवं दवाइयों का इस्तेमाल करने वालों का रखा गया है। तीसरे क्रम में बचपन से ही निद्रा की किसी न किसी तरह की गड़बड़ी से ग्रस्त व्यक्तियों को रखा गया है। तनाव से खिन्न मनः स्थिति के कारण होने वाली नींद की गड़बड़ी से पीड़ित चौथी श्रेणी में आते हैं। नार्कोलेप्सी याने बार-बार नींद की गिरफ्त में आने वाले व्यक्ति पांचवीं श्रेणी में आते हैं। श्वास के कारण जिन्हें नींद में लगातार व्यवधान पहुँचता है, वे छठे क्रम में तथा नींद में चलने वाले, सोते समय बड़बड़ाने वाले, दाँत चबाने वाले तथा चीखने वाले सातवीं श्रेणी में आते हैं।

कितनी देर सोना चाहिए ?

नींद के लिए न तो कोई समय है और न ही सीमा। यह मनुष्य की आयु, व्यवसाय, स्वभाव, आदतों आदि पर निर्भर करती है। अधिकांश लोग 6-7 घंटे की नींद से स्वयं को तरोताजा पाते हैं, परन्तु पर्शिया के फ्रेडरिक महान, टामस एडिसन और महात्मा गाँधी 3-4 घन्टे की नींद से पर्याप्त ऊर्जा संचित कर लेते थे। नेपोलियन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह पेड़ के सहारे अपना घोड़ा खड़ा करके उस पर बैठे-बैठे ही झपकियाँ ले लेता था और कई घन्टे सोने जैसी स्फूर्ति अर्जित कर लेता था। वीर अर्जुन को गुड़ाकेश भी कहा जाता है, जिसका अर्थ है नींद को जीत लेने वाला। वैसे शरीर क्रिया विज्ञान के अनुसार नवजात शिशु के समुचित विकास के लिए 18-20 घन्टे की नींद आवश्यक है, तो छोटे बच्चों के लिए 12 से 14 घन्टे की तथा 9-10 वर्ष के बच्चों को 9 घन्टे सोना चाहिए। वयस्कों को 6-8 घन्टे की नींद पर्याप्त होती है। आयु बढ़ने के साथ-साथ यह अवधि कम होती है और बुढापे में तो रातें आँखों में कटती हैं।

नींद के दौरान शरीर के विभिन्न अवयवों की गतिविधियाँ मन्द पड़ जाती हैं जैसे नाक, मुंह और गले की श्रवण-ग्रन्थियां कम रस स्रवित करती हैं, आँखों की पुतलियाँ सिकुड़ जाती हैं, शरीर की चयापचय गति (Basal Metabolic Rate) दस प्रतिशत के करीब कम हो जाती है तथा शरीर का तापमान भी कम हो जाता है।

वैज्ञानिक अनुसंधानों के अनुसार नींद के दौरान क्या-क्या होता है यह जानने के लिए नींद की अवस्थाओं को जान लेना आवश्यक है। वस्तुतः नींद कई अवस्थाओं में पूरी होती है। इन अवस्थाओं के आने और जाने का क्रम भी निश्चित है, परन्तु मोटे तौर पर नींद की दो अवस्थाएँ होती हैं। एक है तीव्र चक्षु चालन (Rapid Eye Movement or R. E. M.) तथा दूसरी मन्द या अचल चक्षु अवस्था (Non-Rapid Eye Movement N.R.E.M.)।

प्रत्येक रात्रि में दोनों तरह की स्थितियाँ चक्राकार गति में चलती रहती हैं। सामान्य तौर पर इनका अनुपात 2:6 का होता है अर्थात् यदि कुल निद्रा 8 घन्टे की मानें तो 2 घन्टे मन्द चक्षु चालन तथा 6 घन्टे तीव्र चक्षु चालन अवस्था। इस अनुपात पर मौसम एवं परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है।

चिकित्सा विज्ञानियों के अनुसार मन्द एवं गहन निद्रा के दौरान शरीर में दो विपरीत एवं आवश्यक क्रियाएं सम्पन्न होती हैं। मन्द निद्रा के दौरान निर्माण कार्य (चय क्रिया) होते हैं एवं गहन निद्रा के समय शारीरिक विकास हेतु ग्रांथ हारमोन की वृद्धि होती है, तो यौन हारमोन का स्रवण बढ़ जाता है।

नींद वैज्ञानिकों के अनुसार अनिद्रा के उपचार के अन्तर्गत शरीर को शिथिल करने के विभिन्न उपाय आते हैं। जैसे ठंडा या गर्म ट्यूब स्नान, व्यायाम तथा विद्युत्-नींद। विद्युत्-नींद के तहत सिर के माध्यम से काफी कम विद्युत्-धारा (0.8 मिली एम्पीयर) प्रवाहित करते हैं, जिससे तंद्रा बढ़ जाती है एवं स्वाभाविक सी नींद आ जाती है। ओषधि याने नींद की दवाइयों से भी निद्रा संभव है। चिकित्साविदों के अनुसार इसे अन्तिम अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करना चाहिए। इनका नियमित प्रयोग व्यक्ति को नींद की दवा का गुलाम बना देती है। अनिद्रा के लिए योगासनों का अभ्यास भी लाभदायक सिद्ध है। इसके लिए बिस्तर पर लेटे-लेटे ही पूरे शरीर के अंगों को ढीला छोड़ देना चहिए, कम से कम पाँच बार नाक से धीमें-धीमें गहरी सांस लेनी चाहिए फिर धीरे-धीरे श्वास छोड़कर आँखें मूंद कर श्वास के सामान्य आवागमन पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। यह प्रयोग नींद की सुखद गोद का मार्ग प्रशस्त करता है। यदि फिर भी सुखद नींद न आए तो भोजन एवं अपनी दिनचर्या में पूरी तरह फेरबदल कर लेना चाहिए। इससे नींद आने में सहायता मिलती है। रात का भोजन हल्का ही होना चाहिए।

●●

निद्रा के विभिन्न सोपान

संजय शुक्ला एवं शरद शुक्ला

निद्रा विलासिता ही नहीं वरन् जीवन की एक आवश्यकता भी है। परिभाषा के अनुसार—"निद्रा पेशीय जड़त्व की एक पुनरावर्ती, उत्क्रमणीय अवस्था और वातावरणीय उद्दीपक के समानीत संवेदी अपक्रांतिकता है।" दूसरे शब्दों में, निद्रा चैतन्यता का एक सक्रिय सरकैडियन शरीर क्रियात्मक अवसाद हैं। यह चिन्हित व्यष्टिगत विभिन्नता में अवधि और गहराई दर्शाती है। एक आम वयस्क को 4-10 घंटे तक की निद्रा प्रतिदिन आवश्यक है। सामान्यत: कम सोने वाले व्यक्ति क्रियाशील, प्रसन्न वदन, और रम्य होते हैं। इसके विपरीत अधिक सोने वाले निष्क्रिय, विनयशील और उदार होते हैं। चार घंटें से कम और दस घंटे से अधिक सोने वाले पुरूषों और स्त्रियों में बढ़ी हुई मृत्यु-दरें प्रतिवेदित की गई हैं।

ए-6, चैथम लाइन, यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद–2

निद्रा की अवधि उम्र के विविध सोपानों में, तीव्रता से बदलती रहती है। एक नवजात शिशु 16-20 घंटे प्रतिदिन सोता है। यौन-परिपक्वता के समय यह अवधि आधी द्रुमावशेष रह जाती है। 40 वर्ष की उम्र में यह अगभीर हो जाती है। शिशुओं के प्रसवोत्तर जीवन के प्रथम कुछ सप्ताहों के पश्चात् ही निद्रा की नैश पूर्व-प्रभाविता दृष्टिगत होने लगती है। जैसे-जैसे शिशु बड़ा होता है, सुबह का सोना ह्रासित होता जाता है और 4-5 वर्ष तक दोपहर का सोना। तब भी यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि विश्व की 50 प्रतिशत जनसंख्या दोपहर की अल्प-निद्रा सामान्य सुप्त-जागृत प्रतिमान में लेती है। जागृति अवस्था के परिवर्तनशील और निद्रा-अभिलक्षण में एक गतिक सम्बन्ध है। दोनों ही छोटी और लंबी श्रेणी के ऊपर हैं। कोई व्यक्ति कैसे सोता है इसका निर्धारण उसको जगाने पर ही होता है। इसलिये उत्पाद काल में निद्रा-अवधि में अनिच्छित किन्तु सामान्य कमी आ ही जाती है, उदाहरणार्थ—किसानों में बुवाई और कटाई के समय, जब कोई छात्र परीक्षा की तैयारी कर रहा हो उस समय आकुलता और प्रतिबल के समय। इन निद्रा-प्रतिमानो को एक निश्चित सीमा में सावधानीपूर्वक समझना और पृथक्करण करना चाहिये।

60 से 200 घंटे तक न सोने वाले मनुष्य उत्तेजनशीलता, ध्यान लगाने में अक्षमता, यथार्थ अवगमन का अभाव और अपने अभिविन्यास को बरकरार रखने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। भ्रम और विभ्रम, मुख्यतः दृश्य और स्पर्श चेतना में अंतर्वेध कर सकते हैं और जैसे-जैसे निद्रा-अभाव का समय बढ़ता है, अधिक तीव्र हो जाते हैं। ध्यान में कमी के कारण प्रतिपालित विचारों और मुद्रा में बाधा पड़ती है। खंडित मोह और भ्रामक विचार अधिक स्वतंत्र हो जाते हैं। विशिष्टतः जब गति बचाव आवश्यक होते हैं तब प्रेरक-सक्रियता की प्रगति में कमी आ जाती है। हाथों में कंपन, पलकों में टॉसिस (ptosis), भावशून्य चेहरा, अस्पष्ट उच्चारण के साथ आवाज में भारीपन और शब्दों का गलत चयन आदि कमियाँ भी हो जाती हैं। कभी-कभी अनिद्रा के कारण साइकोटिक प्रसंग भी भड़क सकते हैं। यदा-कदा व्यक्ति वस्तुओं को देखते समय उत्क्रोश, सिसक और अस्पष्ट बड़बड़ाहट के साथ बर्सर्क (Berserk) हो जाता है।

निद्रा की कायिकी

सामान्य निद्रा को तीन कायिकीय संस्तरों पर आधारित होकर विभिन्न चरणों में विभक्त माना गया है : (अ) दिमागी तरंगें (विद्युत मस्तिष्क लेख, ई० ई० जी०), (ब) पेशी वैद्युत सक्रियता (इलेक्ट्रोमायोग्राम), और (स) नेत्र संचलन (इलेक्ट्रोऑक्यूलोग्राम)। इलेक्ट्रोऑक्यूलोग्राम पर आधारित होकर दो मुख्य समान वर्ग विभेदित हो सकते हैं : धीमा नेत्र संचलन (एन०आर० ई०एम०) निद्रा जो पूर्ण निद्रा की लगभग 70 से 75 प्रतिशत होती है, और शीघ्र नेत्र संचलन (आर० ई० एम०) निद्रा जो वयस्कों में 90 से 100 मिनटों और शिशुओं में 60 मिनटों के अंतराल पर चक्रत होती रहती है। एन० आर० ई० एम० निद्रा चार चरणों में अग्रसर होती है, I से IV निद्रा के गम्भीरतर स्तर दर्शाते हैं। इस अवस्था में श्वसन लयबद्ध हो जाता है, हृदय-गति कम हो जाती है, रक्त-दाब नीचे गिर जाता है और पेशी-ध्वनि कम हो जाती है। ई० ई० जी० वर्धमान धीमापन दर्शाती है और नियमित होती है इसलिये इसे मन्दगति तरंग निद्रा कहते हैं। प्रथम चरण साधारणतया पूर्ण निद्रा का 5-10 प्रतिशत स्थान लेता है। द्वितीय चरण 50 प्रतिशत, तृतीय चरण लगभग 15 प्रतिशत, चतुर्थ चरण लगभग 10 प्रतिशत और आर० ई० एम० निद्रा लगभग 20 प्रतिशत होता है - आर० ई० एम० प्रावस्था को द्रुत-तरंग या असमक्रमण

निद्रा या पश्च-मस्तिष्क निद्रा भी कहते हैं। यह ई० ई० जी० की प्रगामी पुनः सक्रियण और स्वायत्त क्रियाओं द्वारा परिलक्षित होती है। इसमें श्वसन लयबद्ध नहीं होता है, हृदय-गति व रक्त-दाब बढ़ जाता है, लेकिन पेशी-ध्वनि और कम हो जाती है। नेत्र-गोलक बन्द पलकों में ही शीघ्र प्रासक निस्टीग्मीफार्म संचलन निष्पादित करते हैं। स्मरणीय स्वप्न अधिकांशतः इसी काल में आते हैं। यद्यपि ई० ई० जी जागृत अवस्था में देखे गये स्तर तक उप गमनित हो जाती है तथापि व्यक्ति एन० आ० ई० एम० से भी गंभीर अवस्था में सोया होता है। ऐसा जगाने की बढ़ी हुई प्रभाव सीमा द्वारा प्रमाणित है। इसी कारण इस प्रावस्था को 'विरोधाभासी निद्रा' भी कहते हैं। जैसे ही एक व्यक्ति जागृतावस्था से एन० आर० ई० एम० में पहुँचता है, सामान्य रात्रि प्रसुप्ति काल के साथ आरंभ हो जाती है। एन० आर० ई० एम० के आरम्भिक घंटे लगभग 20 मिनट की आर० ई० एम० निद्रा द्वारा अनुगमित होते हैं। इसके पश्चात् एन० आर० ई० एम० निद्रा चक्र (लगभग 90 मिनट का) आर० ई० एम० निद्रा (लगभग 20 मिनट) के साथ पूरी रात अचानक एकांतरित होते रहते हैं (लगभग 4-5 चक्र)। एन० आर० ई० एम० आर० ई० एम० प्रावस्था के मध्य संक्रमण, आसन में दीर्घ विस्थापन द्वारा संलग्न होते हैं, अतः ये 8 से 10 बार प्रति रात होते हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से दोनों तरह की निद्रा आवश्यक प्रतीत होती है। आ० ई० एम० निद्रा० श्रांति अपशमन के लिए विशेष रूप से आवश्यक है।

निद्रा-चक्र तीन न्यूरोट्रांसमीटर तन्त्रों की प्रभुता में रहता है। ये हैं :—सेरेटोनीन, नॉरएपिनेफ्रीन एवं एसीटिलकोलिन। जागृति के समय मस्तिष्क-स्तम्भ की सेरेटोनर्जिक और नॉरएड्रिनर्जिक तंत्रिकोशिकाओं की समाकलित क्रिया तीव्र होती है। जालिका निर्माण में कोलीनधर्मोत्तेजक तंत्रिकोशिकाओं की स्थिर सक्रियता ऐमीनर्जिक संदमन के फलस्वरूप कम रहती है। एन० आर० ई० एम० निद्रा के समय एमीनर्जिक संदमन अपक्रमित हो जाता है। युगपत्, कोलीनधर्मोत्तेजक उत्तेजन धीरे-धीरे बढ़ता जाता है इसलिये मध्यचक्र में ऐमीनर्जिक संदमन और कोलीनधर्मोत्तेजक संदमस में संतुलित विस्थापन हो जाता है। आर० ई० एम० निद्रा तभी आती है जब ऐमीनर्जिक संदमन अपने निम्नतम बिन्दु तक पहुँच जाता है और कोलीनधर्मोत्तेजक उत्तेजन सर्वाधिक हो जाता है।

जागने और सोने के तंत्रों की सक्रियता में संतुलित एकांतरण का परिणाम सामान्य सुप्त-जागृत लय है। तब भी इस निर्माण में लयबद्ध क्रियाविधि तंत्रिका तंत्र के भागों द्वारा रूपांतरित हो सकते हैं जबकि निद्रा प्रतिमान ऐच्छिकता से बृहत् सीमाओं तक दिन-प्रतिदिन नियंत्रित किया जा सकता है। जो कारक जागृति तंत्र की सक्रियता को सुगमीकृत करते हैं (जैसे, जालिका सक्रियण तंत्र में विसर्जन का बढ़ना) उनमें तीव्र संवेदी उद्दीप हैं असामान्य या उत्तेजक प्रकृति, भूख के मूलभूत प्रणोद, प्यास, यौन, आकुलता और जागने की तीव्र इच्छा। जो कारक निद्रा तंत्र की सक्रियता को सुगमीकृत करते हैं, उनमें एकदिष्ट श्रवण या दृश्य उद्दीप, कोष्णता, सोने की तीव्र इच्छा और तीव्र संवेदी उद्दीप की कमी आदि हैं। सुप्त-जागृत तंत्र और तंत्रिका तंत्र के अन्य भागों के बीच तंत्रि कोशिका संबंधन के कारण ही ये कारक प्रभावी होते हैं।

निद्रा-विकार

निद्रा-विकार, अत्यधिक ओषधियों के सेवन की आवृत्ति और प्रवृत्ति के सन्दर्भ में ही एक प्रमुख समस्या नहीं है अपितु दीर्घकाली निद्रा-विकारी मनुष्यों में मृत्युदर बढ़ने के खतरों के भी प्रमाण प्राप्त हुए हैं। कुछ विशेष

उम्र समूहों में यह विकार विशेष रूप से होता है जैसे :—रात्रि में असंयत मूत्रता, रात्रि-आतंक और निद्राचारण शिशुओं और किशोरों में जबकि अनिद्रा और अधिक नींद आना वयस्कों और प्रौढ़ों में। अन्य निद्रा विकार जैसे नार्कोलेप्सी-कीटाप्लेक्सी संलक्षण बचपन में ही आरंभ होकर पूरे जीवन भर रह सकता है। अन्य निद्रा विकारों का आधार स्थैतिक और गतिक परिवर्तनों (जो सुप्त-जागृत-चक्र नियामक तन्त्र में होते हैं) पर होता है। निद्रा विकार कई प्रकार के होते हैं लेकिन यहाँ उन्हीं विकारों का उल्लेख किया गया है जो ज्यादा प्रचलित हैं।

(क) अनिद्रा या बहुत कम सोना

यह एक आम समस्या है और मूलतः समुच्चय बिंदु दोलक पर आश्रित रहती है। समुच्चय बिंदु दोलक जागने के लिये होता है इसके फलस्वरूप या तो बाहरी उद्दीप (दर्द, खांसी आदि) में बढ़ोतरी या बल्कुटी सक्रियता (चिंता, तनाव, अपसामान्य वातावरण आदि) में बढ़ोतरी हो जाती है। कुछ प्रकरणों में मनोविकारी समस्याएँ चलने की प्रभाव सीमा में कमी ला सकती हैं। अतः यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि अधिकांश व्यक्ति, जो बहुत कम सोने की शिकायत करते हैं, उनमें माप आवश्यक हो जाती है। उन भेषज गुण विज्ञानीय माप को कम से कम रखना चाहिये जो निद्रा में बढ़तरी के लिये होते हैं।

(ख) हॉइपरसाम्निया या अत्याधिक सोना

आम समस्या नहीं है लेकिन तब भी कुछ कपटी अस्तित्व रखती है। अधिक सोने का मूल कारण अवसाद या नीरसता है। एक रोचक नार्कोलेप्सी है जहाँ निद्रा के लिये निम्न समुच्चय बिंदु के साथ स्थिर परिवर्तन होता हैं और परिणामतः अधिक नींद आती है। मस्तिष्क सक्रियता और प्रेरक सक्रियता के संस्तर में संयोग के अभाव के साथ गतिक एकांतरण होता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति को अचानक पेशी पक्षाघात हो जाता है, जबकि वह जागृत अवस्था में ही होता है। अतः जब वह उठता है तो कोई भी गति करने में अक्षम रहता है। इस संवर्ग का एक अन्य विकार 'क्लाइन-लेविन संलक्षण' है। यह विकार कभी-कभी ही युवा पुरूषों में पाया जाता है। यह संलक्षण स्थिर रूप से कई हफ्तों तक ज्यादा सोने और ज्यादा खाने की घटनाओं से अभिलक्षित होता है।

(ग) पैरासॉम्निया या अपसामान्य निद्रा

यह एक सामान्य प्रकार का निद्रा-विकार है जो निद्रा नियंत्रित करने के उपतंत्र में गतिक परिवर्तन के फलस्वरूप होता है। ये परिवर्तन हैं :—उम्र, यौन, और स्लेप-स्टेज आश्रित। रात्रि में असंयत मूत्रता या विस्तर गीला करना 4 से 14 वर्ष की उम्र के लड़कों को प्रभावित करता है। यह उत्तेजनशीलता का विकार है जहाँ पूर्ण वस्ति जगाने को विमोचित नहीं करता है। झिड़की और दमन इसका उपचार नहीं है बल्कि इससे स्थिति और तीव्र हो जाती है। रात्रि-आतंक, निद्रा-चालन, नींद में बात करना, दाँत पीसना आदि तरह के निद्रा विकार युवा लड़के में या एन० आर० ई० एम० प्रावस्था में सामान्यतः पाये जाते हैं। ये निद्रा की प्रेरक और संवेदी अवस्था में वि[illegible]ोजन दर्शाते हैं। भयावह प्रगटन पर भी ये सुदम विकार हैं और समय के साथ ही गायब हो जाते हैं। सामान्यतः इसके लिये किसी इलाज की आवश्यकता नहीं है।

ओषधियां और निद्रा

यह हमेशा याद रखना चाहिये कि कोई सम्मोहक ओषधि प्राकृतिक निद्रा को प्रेरित नहीं कर सकती है। इन यौगिकों का सामान्य निद्रा प्रतिमानों पर निम्नांकित रूप से प्रभाव पड़ता है :—

(अ) निद्रा आने में देरी को कम करना,
(ब) ख अवस्था में एन० आर० ई० एम० निद्रा की अवधि बढ़ाना,
(स) आर० ई० एम० की अवधि घटना और .
(द) मंद तरंग निद्रा की अवधि घटना।

अनिद्रा में नींद लाने लाने वाली आदर्श ओषधि वह हो सकती है जो सामान्य निद्रा प्रतिमान को प्रेरित करे। फेनफ्यूल्रामीन एन० आर० ई० एम० निद्रा के अनुपात को कम करती है जबकि बार्निट्यूरेट (पेन्टोबार्बिटोन, सैकोबार्बिटोन), वेन्जोडाइएजेपाइन्स (डायाजेपैम, लॉरएजेपैम, नाइट्रएजेपैम, टेमएजेपैम), एल्कोहॉल, मेप्रोबैमेट, क्लोरलहाइड्रेट, क्लोरडाइएजेपॉक्साइड, फेनीटॉइन, मॉर्फीन आदि ओषधियाँ आर० ई० एम० निद्रा के अनुपात को कम करती हैं। कम समय के इलाज में आर० ई० एम० निद्रा में कमी होना ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं होता है। लम्बे समय तक इन दवाओं के इस्तेमाल करने पर ही इनकी सहायता नींद से तालमेल बैठा पाती है। अधिकतर प्रकरणों में निद्रा प्रतिमान इलाज के समय ही सामान्यता की ओर प्रत्यावृत्त हो जाते हैं। तब भी सभी प्रकरणों में दवा बन्द करने पर गंभीर विक्षोभ हो जाते हैं। एक प्रतिक्षेप विपरीत दिशा में होता है और मरीज असामान्य रूप से अधिक समय तक आर० ई० एम० निद्रा लेता है। इसके परिणामस्वरूप निद्रा विभिन्न तरह के दुःस्वप्नों से बाधित होती है और यह स्थिति 2-3 महीने तक रहती है। निद्रा इस बुरी तरह बाधित हो जाती है कि जिस सामान्य स्थिति को लाने के लिए दवा जी जाती है वह स्थिति न होकर अधिक अप्रिय हो जाती है। ओषध की ओर पुनः प्रत्यावृत होने पर निद्रा प्रतिमान सामान्य हो जाता है। इस प्रकार भरोसे की कई ओषधियाँ निद्रा प्रतिमान को बदल देती हैं। यह ओषधि निर्भरता का एक प्रणयक कारण हो सकता है। एल्कोहॉली ओषधियों के संदर्भ में आर० ई० एम० तरह का पूर्ण निद्रा काल एल्कोहॉल के अपनयन के फलस्वरूप हो सकता है। इसके जागृत अवस्था में भी सतत पारवेध होने की संभावना होती है जिसके कारण मरीज 'प्रलाप मूर्छा' (डेलीरियम ट्रिमेन्स) के ग्रस्त हो सकता हो सकता है। यह गंभीर भ्रम, मोह, कंप, आंदोलित, अनिद्रा, आलस्य, बुखार और गंभीर स्वेदन द्वारा अभिलक्षित होता है।

सम्मोहक दवाओं का असर कई कारकों पर निर्भर करता है जैसे ओषधि का चुनाव, उसकी मात्रा, आवृत्ति, लेने का समय, इलाज की अवधि और अन्य कर्मकों का संगामी अंतर्ग्रहण। विस्तर पर जाने के समय ली जाने वाली ओषधि की सामान्य मात्रा का भी असर अगले दिन दोपहर तक परिलक्षित होना चाहिये। प्रत्यक्षतः किसी विशिष्ट निद्रा रोग के अपशमन के लिये क्लीनिक की कसौटी ही ज्यादा दक्ष होती है। एक आदर्श सम्मोहक ओषधि जो सामान्य प्रतिमान में बदलाव लाये बिना निद्रा का वर्धन करे, अभी तक अनुपलब्ध है। अतः यह अभिस्तावित और परामर्श है कि गहन निद्रा के लिये किसी भी दवा पर निर्भर नहीं रहना चाहिये। व्यक्ति को प्राकृतिक निद्रा को प्रेरित करने के लिये हमेशा ऐसे उपाय करने चाहिये जो वातावरण में बदलाव लाकर आसानी से प्राप्त किये जा सकें, जैसे भोजन, नीरवता, अंधकार, तापमान, बिस्तर आदि। लेकिन तीव्र पीड़ा, व्यग्रता, तनावपूर्ण अनिद्रा आदि जैसी स्थितियों में ये ओषधियाँ काफी लाभदायक सिद्ध हो सकती हैं और परिणामतः कष्ट कारक प्रभावों से निजात मिल सकती है। ■ ■

फसलों के सुधार हेतु जैव-प्रौद्योगिकी

अरुण आर्य

जैव-प्रौद्योगिकी की अनेक तकनीकों को फसलों के सुधार हेतु प्रयुक्त किया जा सकता है। डी एन ए तथा जीन क्लोनिंग की प्रविधियों के द्वारा जीन में परिवर्तन लाए जा सकते हैं। परिवर्तित जीनों को पुनः शस्य पौधों में स्थानान्तरित करके फ़सल उन्नति का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

जीन प्रकार से जैव-प्रौद्योगिकी को फसलों की सुधार हेतु प्रयुक्त किया जा सकता है। [वी. एल. चोपड़ा, और आर. पी. शर्मा, जैव-प्रौद्योगिकी केन्द्र, भारतीय कृषि एवं अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, 'करेन्ट साइंस', मई 1991] प्रचलित ब्रीडिंग प्रोग्राम में तेजी लाकर, उतक संवर्धन द्वारा आनुवंशिक विविधता लाकर और पुनर्योगज डी एन ए (Recombinant DNA, r—DNA)—तकनीक द्वारा अनेक आदर्श 'जीनो टाइप' का निर्माण करके क्लोज किये गये जीन के सफल समाकलन (successful integration) के लिये वैक्टर की आवश्यकता होती है, जैसे Ti प्लास्मिड जो एग्रोबैक्टीरियम (Agrobaterium tumefaciens) नामक जीवाणु में पाया जाता है। यह जीवाणु पौधों में रोग उत्पन्न करता है। टी प्लास्मिड डी एन ए के एक खण्ड को जीवाणु द्वारा संक्रमण के बाद फसल के पौधों की कोशिकाओं में स्थानान्तरित कर देता है, जिससे ट्यूमर उत्पन्न हो जाते हैं। अतः यदि T—DNA में किसी महत्वपूर्ण जीन को क्लोन कर लिया जाय तब वह जीन भी T—DNA के साथ स्वतः ही स्थानान्तरित हो जाता है।

बाहरी जीनों के फसलों में स्थानान्तरण हेतु आनुवंशिक अभियान्त्रिकी द्वारा अनेक जीन क्लोन किये गये हैं। मटर जैसे अनेक पौधों से क्लोरोप्लास्ट डी एन ए, माइटोक्रान्डियल डी एन ए, केन्द्रकीय डी एन ए तथा सम्पूरक (complementary c—DNA) की लाइब्रेरियां भी बनाई जा चुकी हैं, जिनका प्रयोग संसार की अनेक प्रयोग-शालाओं में फसल की उन्नति हेतु प्रयुक्त किया जा रहा है। इन क्लोन किये गये जीनों में मुख्य हैं—

1. सेम से प्राप्त फेसियोलिन G-1 ग्लोबिस जीन,
2. सोयाबीन से प्राप्त लैग-हीमोग्लोबिन, और
3. अनाज की फसलों (cereals) तथा दालों (pulses) में संचय प्रोटीन के जीन।

इन क्लोन किये गये जीनों को विशिष्ट स्थलों पर उत्परिवर्तनों द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है और फिर शस्य पौधों में, उनकी उन्नति हेतु स्थानान्तरित किया जा सकता है।

उपरोक्त प्रविधियों के द्वारा शस्य पौधों की उन्नति के लिए अनेक योजनायें बनाई गई हैं, जिनमें से मुख्य हैं— (i) लेन्टिन जीन (Lentin Gene) लेन्टिन ऐसी प्रोटीन है, जो जड़ों के ऊतकों में जीवाणुओं के प्रवेश में सहायक

प्रवक्ता, वनस्पति विज्ञान विभाग, विज्ञान संकाय, म. स. राव वि. वि., बड़ौदा-390002 (गुजरात)

होती हैं तथा लैग हीमोग्लोबिन जीन (Leg Haemoglobin Gene) ऐसी प्रोटीन हैं, जो स्थिर की गई नाइट्रोजन के ऑक्सीकरण को न केवल रोकती हैं, वरन् ये पुनः ऑक्सीकरण द्वारा समाप्त हो सकती हैं। इनके स्थानान्तरण द्वारा अनाज की फसलों को नाइट्रोजन स्थिर करने वाले पौधों में बदलना सम्भव हुआ है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये (*nif Gene*) निफ जीन अथवा स्थिरीकरण जीन को क्लोरोप्लास्ट में स्थानान्तरित करके उनको 'नाइट्रोप्लास्ट' का रूप दिया जा रहा है, (ii) रोग-जनकों व कीटों के विरुद्ध प्रतिरोध का जंगली पौधों से फसल वाले पौधों में स्थानान्तरण, और (iii) बीज की प्रोटीनों के गुणों एवं मात्रा में उन्नति तथा जन्तु-प्रोटीन (animal protein) के जीनों का फसल के पौधों में स्थानान्तरण।

उपरोक्त लक्ष्यों की पूर्ति हेतु, कोशिका-संवर्धन (Cell culture), प्रोटोप्लास्ट संवर्धन (Protoplast culture) तथा पराग संवर्धन (Pollen culture) जैसे क्षेत्रों में शोधकार्य के लिए ठोस योजनाएँ बननी चाहिये।

ooo

मृदा संरक्षण कितना जरूरी

डॉ० दिनेश मणि

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि काश्मीर से कन्याकुमारी तक और कच्छ से कोहिमा तक इमारतों के लिये जितनी ईंटें बनायी जा रही हैं, उनसे कई गुना ज्यादा मिट्टी हर छः महीने में कटकर बह जाती है। पूरे देश में भू-क्षरण के कारण होने वाली मिट्टी की बरबादी का अनुमान लगाना बहुत कठिन है। यूनाइटेड नेशन्स इनवायरमेंट प्रोग्राम [संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम, यूनेप, 'द स्टेट ऑव द वर्ल्ड' 1991 के अनुसार यह प्राक्कलित किया गया है कि विश्व की कृषि योग्य भूमि से 25 बिलियन टन ऊपरी मृदा प्रतिवर्ष नष्ट हो रही है। अपने देश में भी उपजाऊ मृदा की हानि वर्ष दर वर्ष बढ़ती जा रही है।

जब हम भू-क्षरण के कारणों पर दृष्टिपात करते हैं तो पता चलता है कि प्राकृतिक कारणों के अतिरिक्त मनुष्य की अज्ञानता व असावधानी भी इसके लिये उत्तरदायी है। प्राकृतिक कारणों में तेज हवा, वर्षा, भूमि की किस्म, भूमि का ढाल, भूमि पर वनस्पति का न होना इत्यादि शामिल हैं। कृत्रिम कारणों में कृषि का गलत ढंग जैसे कि खेतों की सही प्रकार मेड़बन्दी किये बिना खेती करना, खेतों की बुवाई व जुताई उसी ढाल के समानान्तर करना आदि शामिल है। सिंचाई के गलत ढंग से भी मृदा-क्षरण होता है। जंगलों के कटाव के परिणामस्वरूप मवेशियों का सारा दबाव चारागाहों पर ही पड़ता है। इससे भी भूमि की ऊपरी सतह पर वनस्पति का अभाव हो जाता है, भूमि की सतह ढीली हो जाती है, जो वर्षा के जल के साथ आसानी से बह जाती है। इस प्रकार प्रकृति के साथ-साथ मनुष्य भी भू-क्षरण के लिये समान रूप से उत्तरदायी है।

संयुक्तमंत्री, विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

मृदा-क्षरण रोकने के उपाय

मृदा-क्षरण रोकने के लिये निम्न उपाय अपनाने चाहिये—

1. खेतों की मेड़बन्दी करना

अधिक ढालदार खेतों के क्षरण को रोकने के लिये उसकी मेड़बन्दी करना चाहिये। भूमि का ढाल जहाँ पर लम्बाई में 7-10 मीटर तक हो, वहाँ मेड़बन्दी द्वारा ही भू-क्षरण को रोका जा सकता है। खेतों में साधारणतः डेढ़ से दो प्रतिशत ढलान के बाद एक मेड़ होना चाहिये। मेड़ों की संख्या, क्षेत्रफल, ढलान व वर्षा के अनुसार निर्धारित की जाती है। वर्षा ऋतु में मेड़ों की पर्याप्त देखभाल करनी चाहिये। टूटने पर उसे तुरन्त सुधारना चाहिये। मेड़ों के दोनों तरफ घास लगाना चाहिये ताकि वर्षा से मेड़ नष्ट न हो जाये।

2. समोच्च रेखा पर कृषि करना

भू-क्षरक्ष रोकने के लिये ढलान के विपरीत दिशा में कृषि कार्य करना चाहिये। समोच्च रेखा, वह रेखा है जो समाने ऊँचाई के बिन्दुओं को मिलाती है। इसके सहारे-सहारे कृषि कार्य करना ही समोच्च रेखा पर कृषि कार्य करना कहलाता है। इन्हीं रेखाओं के आधार पर भूमि की जुताई-गुड़ाई करने से मिट्टी व पानी का बहाव कम हो जाता है।

3. खेत का समतलीकरण

ढालदार खेतों में भूमि का कटाव अधिक होता है लेकिन समतल भूमि में मृदा क्षरण की क्रिया बहुत धीमी होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भूमि के समतलीकरण से मिट्टी के क्षरण को रोका जा सकता है।

4. पट्टियों पर फसल बोना

फसलों को पट्टियों में बोने से भू-क्षरण कम होता है। इसके लिये घनी बोई जाने वाली फसलों तथा कतारों में उगने वाली फसलों का चुनाव किया जाता है। इन फसलों की पट्टियों की चौड़ाई ढलान पर निर्भर करती हैं। कतार वाली-फसलों के बाद घनी बोई जाने वाली फसलें लगाने से वर्षा के पानी के बहाव की गति में रुकावट आ जाती है। मिट्टी के कण वहीं पर रुक जाते हैं, जिससे उनका नुकसान नहीं होता है। जैसे ज्वार, बाजरा के बाद मूंग, सोयाबीन। एक प्रतिशत ढलान पर भू-क्षरण रोकने वाली व कतारों में दूरी पर बोने वाली फसलों का अनुपात 1:5 रहना चाहिये तथा एक से दो प्रतिशत ढलान पर 1:4 का अनुपात रखना चाहिये।

5. ढाल के विपरीत दिशा में जुताई करना

यदि भूमि में ढाल का प्रतिशत कम है तो ऐसी भूमि में मृदा-क्षरण को रोकने के लिये भूमि की जुताई, ढाल के विपरीत दिशा में करना चाहिये। ऐसा करने से भूमि में पानी बहेगा नहीं और न ही मिट्टी बहेगी क्योंकि विपरीत दिशा में जुताई करने से कूँड़ें ढाल के समानान्तर नहीं बनेंगी, तथा पानी इन्हीं कूंड़ों में भर जायेगा, वह आगे नहीं बहेगा।

6. **फसल-चक्र के अनुरूप फसल बोना**

भू-क्षरण रोकने के लिये फसल-चक्र बनाते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि वर्षा ऋतु में ऐसी फसलें आयें जो गहरी जड़ वाली हों तथा खूब फैलने वाली हों, जिससे भूमि ढँक जाये। जैसे सभी खरीफ की दलहनी फसलें, सभी प्रकार की घासें तथा बेल वाली सब्जियाँ।

कृषि भूमि के अतिरिक्त जंगलों तथा बेकार भूमि में भू-क्षरण रोकने के लिये इन स्थानों पर अधिक फैलने वाली एकवर्षीय तथा बहुवर्षीय घास तथा अन्य पौधा लगाना चाहिये। जैसे-कुटजु, म्यूकाना, लोबिया, सेम, मिसेल घास, नेपियर घास आदि। बंजर, बीहड़, खादर, खड्डों आदि स्थानों पर जंगल लगाकर [झाड़ियाँ तथा पेड़] भू-क्षरण को रोका जा सकता है। कटाव-रोधक घासों जैसे दूब, कांस, मूंज, ब्लु पेनिक आदि को भी लगाना चाहिये।

हल्की भूमियों में वर्षा तथा हवा द्वारा भू-क्षरण को रोकने के लिये मिट्टी में जीवांश पदार्थ की मात्रा बढ़ायी जानी चाहिये।

भू-क्षरण की समस्या गम्भीर होने पर कच्चे तथा पक्के बाँधों का निर्माण भी किया जा सकता है। बाँध के किनारे पर मोरी [आउट लेट] बना देते हैं जिससे अधिक भरा हुआ पानी निकल जाता है। मोरी के पास की भूमि ईंटों आदि से पक्की बनायी जाती है, जिससे वहाँ की मिट्टी पानी के वेग से न कटे।

ooo

समुद्री घोंघे की समझदारी

डॉ० विमलेश चन्द्र श्रीवास्तव

बच्चो ! दोस्त तो सभी को प्रिय होते हैं और फिर यदि ऐसे दोस्त हों जो दुःख-दर्द बांटें और आवश्यकता पड़ने पर मदद करें, फिर तो सोने में सुहागा ही है। तुम्हारे भी तो दो चार दोस्त होंगे ही, जिनके साथ उठना-बैठना, खेलना-कूदना तथा लड़ाई-झगड़ा करना तुम्हे अच्छा लगता ही होगा। अथाह समुद्र में रहते हुये, जीवन के बारे में, मेरे भी अनेक खट्टे-मीठें अनुभव हैं। तुमने अपने इर्द-गिर्द के तालाबों में घोंघा तो देखा ही होगा। मैं उसी का दूर का सम्बन्धी हूँ। यहाँ समुद्र में रहते हुये मेरी प्रजाति को लाखों वर्ष हो गये। प्रकृति ने हमें चूने का बना हुआ एक 'कवच' प्रदान किया है जिसे तुम 'शेल' भी कह सकते हो। यह एक घुमावदार कोष्टक है, जो हमारे शरीर से जुड़ा रहता है। जब भी हमें कहीं आना-जाना होता है, तो इस शेल के दरवाजे से अपने शरीर को थोड़ा बाहर निकाल कर 'शेल' समेत हम बहुत धीरे-धीरे एक स्थान से दूसरे स्थान तक चले जाते हैं। जहाँ भी खतरा देखा, चुपचाप अपने 'शेल' में घुस कर उसका दरवाजा बन्द कर लेते हैं। शाकाहारी होने के नाते हम समुद्र में पायी जाने वाली शैवाल तथा पत्तियों को ही खाते हैं।

रीडर, प्राणि विज्ञान विभाग, सी. एम. पी. महाविद्यालय, इलाहाबाद-211002

यहीं रहने वाली एक अन्य प्रजाति है, जिसे 'समुद्री एनीमोन' कहा जाता है। इसका बेलनाकार शरीर निचली ओर किसी चट्टान या दूसरे ठोस तल पर जुड़ा रहता है। ऊपर की ओर मौजूद मुखद्वार के चारों ओर अनेक स्पर्शक पाये जाते हैं, जिनकी लम्बाई घटती-बढ़ती रहती है। इनमें बहुत ही खतरनाक कोशिकायें होती हैं, जो शत्रु के संपर्क में आते ही ज़हर उगल देती हैं। इसी डर से इर्द-गिर्द रहने वाली मछलियाँ या दूसरे जीवधारी इनके पास तक नहीं फटकते। यह तो 'समुद्री एनीमोन' का भाग्य है कि यह किस स्थान पर जा लगता है। एक स्थान पर जुड़ जाने के बाद यह वहाँ से दूसरे स्थान तक नहीं जा सकता। ऐसे ही एक या कभी-कभी अनेक 'समुद्री एनीमोन' हमारे शेल के ऊपर भी आ लगते हैं। इससे हमें शत्रुओं से काफी बचाव होता रहता है। इस प्रकार हमने यहाँ रहते हुये 'समुद्री एनीमोन' से अच्छी खासी दोस्ती कर रक्खी है। वह अपने ख़तरनाक स्पर्शकों के कारण इर्द-गिर्द के शत्रुओं को पास फटकने नहीं देता और हमारी जान बची रहती है। इस अहसान के बदले अपने भरसक हम भी, उसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक टहलाते-घुमाते रहते हैं। हाँ, यह जरूर है कि अपनी सुस्त चाल के कारण हम एनीमोन की उतनी सेवा नहीं कर पाते जितना कि वह चाहता है।

वैसे तो यहाँ हमारे अनेक दुश्मन भी हैं, पर एक विशेष प्रजाति के केकड़े से हमें बहुत डर लगता है। सदियों पहले की बात है, इस केकड़े के पूर्वजों ने हमारे पूर्वजों को जब पहली बार देखा तो हमारे शरीर से लगे हुये 'शेल' से ये बहुत प्रभावित हुये। उन्हें भी लालच लगने लगी कि काश ईश्वर ने उनको भी एक ऐसा ही 'शेल' दिया होता। ईर्ष्यावश तभी से ये केकड़े मौका पाते ही हम पर हमला बोल देते हैं, हमें मार कर खा जाते हैं और हमारे शेल पर कबजा कर लेते हैं। ये केकड़े हमारे 'शेल' में उसी प्रकार रहने लगते हैं, जैसे हम रहा करते हैं। इस केकड़े का यह जुल्म हम आदि काल से बर्दाश्त करते चले आ रहे हैं। केकड़े के इस जुल्म से 'समुद्री एनीमोन' भी हमें नहीं बचा पाता। हमारे 'शेल' पर कब्जा करने के साथ-साथ यह केकड़ा 'शेल' पर रहने वाले समुद्री ऐनीमोन से अच्छी खासी दोस्ती भी गाँठ लेता है। प्रकृति भी कैसे-कैसे खेल खेलती है। हमारा तो घर भी गया और दोस्त भी और बन आई केकड़े की। उसे घर भी मिला और दोस्त भी। केकड़ा हमारे शेल में रहता हुआ तेजी से एक स्थान के दूसरे स्थान तक भागता-दौड़ता रहता है और ऐनीमोन को खूब टहलाता-घुमाता रहता है, जिससे 'समुद्री एनीमोन' को भोजन की कमी नहीं होने पाती। उल्टे 'समुद्री एनीमोन' अपने स्पर्शकों को फैला कर शत्रुओं से 'केकड़े' की रक्षा भी करता रहता है। हो सकता है 'समुद्री ऐनीमोन' हमारे साथ रहते हुये हमारी धीमी चाल के कारण हमसे असंतुष्ट रहा हो, इसी कारण अब यह केकड़े के साथ हंसी-खुशी से रहता है। दोनों की दोस्ती बहुत पक्की हो गई है। जैव-विकास की इस प्रक्रिया में अब तो दोनों एक दूसरे के बगैर रह ही नहीं सकते। हाँ, इनकी इस दोस्ती में 'बलि का बकरा' हमें ही बनाना पड़ता है। किन्तु ऐसा सोचकर हमें शांति मिलती है कि चलो अपनी जान देकर हम अपने पुराने दोस्त का जीवन सुखमय बना रहे हैं। और हमारे लिए इससे अच्छी कोई और बात हो सकती है क्या?

OOO

पशुओं में सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की भूमिका

सुनील कुमार पाण्डेय

जीवों में दैहिक व जैविक क्रियाएं निरन्तर चलती रहती हैं और इन क्रियाओं को सही ढंग से संचालित करने के लिए विभिन्न पोषक तत्व पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होना चाहिए। इस प्रकार जीवों का कार्य-संचालन पोषक तत्वों की प्राप्यता पर निर्भर करता है। कार्बोहाइड्रेट, वसा, प्रोटीन, खनिज-लवण, विटामिन व जल किसी भी जीव के लिए अत्यावश्यक होते हैं तथा इन सबको ही सम्मिलित रूप से पोषक-तत्व कहा जाता है।

पशु शरीर में 30 से भी अधिक खनिज तत्व पाये जाते हैं, किन्तु इनमें सभी तत्व शारीरिक क्रियाओं के लिए आवश्यक नहीं होते। पशुओं के लिए जो विभिन्न तत्व आवश्यक होते हैं, उन्हें अनिवार्य तत्व कहा जाता है। किसी तत्व की अनिवार्यता पशु शरीर में उसकी उपयोगिता की दृष्टि से आँकी जाती है। अभी तक केवल 16 तत्वों को अनिवार्य तत्व बतलाया गया है। ये हैं—कैल्शियम, फॉस्फोरस, पोटेशियम, मैग्नीशियम, क्लोरीन, गन्धक, सोडियम, लौह तत्व, ताँबा, कोबॉल्ट, आयोडीन, जिंक, मैंगनीज, मोलिब्डेनम, क्रोमियम, सेलेनियम। इनमें से 9 तत्व (लौह तत्व, ताँबा, कोबाल्ट, जिंक, मैंगनीज, आयोडीन, मोलिब्डेनम, क्रोमियम, सेलेनियम) अन्य तत्वों की अपेक्षा अति सूक्ष्म मात्रा में पशुओं के लिए आवश्यक होते हैं, अतएव इन्हें 'सूक्ष्ममात्रिक तत्व' कहा जाता है।

सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की भूमिका को पशुओं में इनके होने वाले कार्य संचालन व उनके अभाव में होने वाले विकारों के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है।

लौह तत्व

शरीर में इस तत्व की मात्रा 0.004 प्रतिशत तक होती है। समस्त लौह तत्व का आधे से अधिक (लगभग 65 प्रतिशत) भाग लाल रक्त कणों में हीम (Heme) के रूप में हीमोग्लोबिन के साथ संयुक्त रहता है। फेरस के रूप में यह ग्रहणी (Duodenum) तथा सूक्ष्म मात्रा में आमाशय द्वारा अवशोषित होकर रक्त में पहुँचता है। इस तत्व के अवशोषित होने में फेरिटिन नामक लौहयुक्त प्रोटीन यौगिक मध्यस्थ का कार्य करता है। फेरिटिन आयरन अवशोषण के समय आँतों के दीवार में पाये जाने वाले एफोफेरिटिन नामक प्रोटीन से मिलने पर बनता है। लाल रक्त कणों में पाये जाने वाले हीमोग्लोबिन के टूटने के पश्चात् निकला हुआ आयरन प्लीहा में एकत्रित होता रहता है। गर्भकाल के समय भ्रूण का विकास होने पर आयरन का अवशोषण बढ़ जाता है। शोषित होने के पश्चात् यह बाहर निकलकर यकृत में एकत्रित होता रहता है।

यह रक्त में पाये जाने वाले हीमोग्लोबिन या श्वसन पिगमेण्ट का आवश्यक भाग बनकर रक्त के ऑक्सीजन अवशोषण में वृद्धि करता है। इस प्रकार शरीर की विभिन्न कोशिकाओं में ऑक्सीजन का स्थानान्तरण व परिसंचारण ठीक प्रकार से होने लगता है। आयरन मांसपेशियों व रक्त कणों के उभय प्रतिरोधन शक्ति को नियमित

शोध छात्र, शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-2

तथा नियन्त्रित करता है। विभिन्न एन्जाइमों का आवश्यक भाग बनकर उन्हें सक्रिय करने में इस तत्व का विशेष योगदान होता है, जिससे कोशिकाओं के अन्दर होने वाली ऑक्सीकरण व अपचमन क्रियाएं उत्प्रेरित होती हैं।

गर्भावस्था या अधिक समय तक रक्त-स्राव होने जैसी दशाओं में आयरन का अभाव हो जाता है, जिससे दूध पीने वाले पशुओं में रक्त क्षीणता (Anaemia) रोग उत्पन्न हो जाता है। प्रत्येक अण्डे में औसतन 1.1 मिग्रा. लौह तत्व होता है, अतएव मुर्गियों में इसकी कमी होने पर उनका अण्डा-उत्पादन कम हो जाता है।

शरीर में इस तत्व की अधिकता होने पर यह फॉस्फोरस के साथ क्रिया करके अविलेय आयरन फॉस्फेट बना लेता है, जिससे फॉस्फोरस का अवशोषण प्रभावित होता है, फलस्वरूप पशुओं में सूखा रोग के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

ताँबा

यह यकृत, प्लीहा व रक्त कणों में पाया जाता है। रक्त में यह हीमोकपरिन तथा अकशेरुकी पशुओं में हीमोसायनिन के रूप में होता है।

आँतों द्वारा अवशोषित होकर यह रक्त में पहुँचता है, जहाँ हीमोग्लोबिन के निर्माण में उत्प्रेरक का कार्य करता है। यह उपापचयी-क्रियाओं में आवश्यक ऐस्कॉर्बिक अम्ल, ऑक्सीडेज, लैक्टेज, टायरीसिनेज आदि का आवश्यक भाग बनकर सहायता करता है। रक्त में उपस्थित श्वसन पिगमेण्ड, जो विभिन्न कोशिकाओं को ऑक्सीजन प्रदान करता है, बाल, ऊन में विद्यमान रंगों के लिए उत्तरदायी पदार्थ, पिगमेण्ट के निर्माण के लिए आवश्यक होता है।

ताँबा की कमी होने पर पशुओं की प्रजनन-शक्ति क्षीण होने लगती है, दुग्ध उत्पादन में कमी आने लगती है, बालों का रंग उड़ने लगता है, भूख कम लगने लगती है और धीरे-धीरे शरीर में रक्ताल्पता (एनीमिया) की दशा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार पशु क्रमशः दुर्बल होने लगता है। इस तत्व की कमी होने पर काले ऊन वाली भेड़ें नहीं पैदा होती हैं। समस्त ऊन के रेशों से विशिष्ट प्रकार का घुंघरालापन समाप्त हो जाता है, अतएव ऊन की गुणवत्ता प्रभावित होती है। मेमनों में 'स्वेबैक' (Swayback) नामक रोग उत्पन्न हो जाता है व कुछ मेमने तो जन्म के समय ही पूरी तरह अंगघात से ग्रस्त होकर मर जाते हैं। खरगोश में बाल शीघ्रता से सफेद होकर गिरना प्रारम्भ कर देते हैं।

गो-पशुओं को 50 मिग्रा. प्रतिदिन तथा भेड़ों को 5 मिग्रा. प्रतिदिन इस तत्व की जरूरत होती है।

कोबॉल्ट

यह तत्व पशुओं के रक्त व रुमेन में पाया जाता है। यह एन्जाइमों का भी आवश्यक अवयव है।

यह शरीर के वृद्धि व विकास के लिए उपयोगी होने के साथ-साथ रूमेन में जीवाणुओं (बैक्टीरिया) की वृद्धि व विकास के लिए उपयोगी होती है। विटामिन बी-12 (B-12) में लगभग 4 प्रतिशत कोबॉल्ट होता है, अतएव यह बी-12 के संश्लेषण के लिए आवश्यक होता है। जुगाली करने वाले पशुओं में कोबॉल्ट की कमी वास्तव

में विटामिन बी-12 की कमी है, क्योंकि इसकी कमी होने पर रूमेन के सूक्ष्मजीव, ऊतकों के लिए जरूरी विटामिन का संश्लेषण नहीं कर पाते हैं।

इस तत्व की कमी होने पर पशुओं को भूख कम लगने लगती है और रक्त क्षीणता की दशा उत्पन्न हो जाती है। यह स्थिति आगे बढ़ने पर पशु सुस्त व उदासीन रहने लगता है। रक्ताल्पता के कारण आँख व मुख के चारों ओर सफेद दिखायी देने लगता है तथा साथ ही साथ भेड़ों में इस तत्व की कमी होने पर ऊन की वृद्धि व गुणवत्ता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इस तत्व की कमी का प्रभाव कम उम्र के पशुओं पर अधिक उम्र के पशुओं की अपेक्षा ज्यादा पड़ता है।

जिंक

यह तत्व पशु शरीर के समस्त ऊतकों में पाया जाता है। यह मुख्य रूप से बहुत सारे सूक्ष्ममात्रिक तत्वों को संचय करने वाले अंग यकृत में जमा होता है। रक्त में प्रायः लाल रुधिर कणिकाओं में पाया जाता है।

आँतों द्वारा अवशोषित होने के बाद यह शारीरिक कोशिकाओं तथा यकृत में पहुँचता है। विभिन्न प्रकार के पाचक रसों जैसे-पित्त रस, अग्याशय रस तथा ड्यूओडिनल रस आदि का भी यह एक आवश्यक भाग है।

कुछ पशुओं में शारीरिक वृद्धि व बालों के विकास के लिए यह तत्व आवश्यक होता है। यह कार्बोहाइड्रेट के उपापचयन में इन्सुलिन का आवश्यक भाग बनकर सहायता करता है। यह विभिन्न प्रकार के एन्जाइमों का भी आवश्यक अवयव है।

चूंकि यह लैक्टिक डिहाइड्रोजिनेस का अवयव है, अतएव लैक्टिक अम्ल व पाइरुविक अम्ल के परस्पर स्थानान्तरण में महत्वपूर्ण है। विटामिन 'ए' को उपयोगी बनाने में इस तत्व की विशेष भूमिका है।

मैंगनीज

पशु शरीर में यह मुख्यतया यकृत में तथा त्वचा, मांसपेशियों व हड्डियों में अल्प मात्रा में पाया जाता है। आँतों द्वारा अवशोषित होने के उपरान्त यह यकृत व गुर्दों में एकत्रित होता है।

मुर्गियों में यह उनकी वृद्धि व विकास तथा प्रजनन व अण्डोत्पादन में आवश्यक होने के साथ-साथ 'पेरोसिस' रोग से बचाने में भी आवश्यक होता है। यह कुछ एन्जाइमों की क्रियाशीलता को उत्प्रेरित करता है तथा ऊतक-श्वसन में सहायता करता है।

इस तत्व की कमी से सुअरों की प्रजनन शक्ति क्षीण हो जाती है तथा उनकी वृद्धि भी रुक जाती है। कुक्कुटों में 'पेरोसिस' रोग हो जाता है, जिसके कारण उनके पैर कमजोर हो जाते हैं तथा उनके अण्डे सेने की क्षमता में कमी आती है। मादा चूहों में अण्डाणु-उत्पादन ठीक प्रकार से नहीं हो पाता है तथा नर चूहों का भ्रूणीय एपीथीलियम (भ्रूण की वाह्य त्वचा) क्षीण हो जाती है, जिससे चूहों के प्रजनन-शक्ति पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

आयोडीन

पशु शरीर में इसकी मात्रा 0.00004 प्रतिशत होती है। समस्त आयोडीन का 1/2 भाग थायराइड ग्रन्थि में होता है।

यह वृद्धि व विकास के लिए उपयोगी है। थायरॉक्सिन हार्मोन का अवयव होने के कारण शरीर के उपापचयी क्रियाओं को नियन्त्रित करता है। छोटी आँत द्वारा अवशोषित होने के उपरान्त यह थायराइड ग्रन्थि में एकत्रित रहता है तथा इससे सम्बन्धित क्रियाओं के संचालन में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त यह गलगण्ड या घेघा (Goitre) की रोकथाम व चिकित्सा करने में भी उपयोगी होता है।

पशुओं का शारीरिक, मानसिक व लैंगिक विकास अवरूद्ध हो जाना तथा साधारण गलगण्ड हो जाना इस तत्व की कमी के मुख्य लक्षण हैं। सुअरों में इस तत्व की कमी से बाल गिर जाते हैं तथा त्वचा खुरदरी हो जाती है।

मोलिब्डेनम

पशु शरीर में यह तत्व आँतों की कोशिकाओं तथा यकृत में पाया जाता है।

विगत अनेक वर्षों से यह जाना जाता रहा है कि मोलिब्डेनम की अति मात्रा विषैली है, परन्तु यह पशु ऊतक के दो एन्जाइमों—लिवर ऐल्डिहाइड ऑक्सीडेस एवं जैन्थीन ऑक्सीडेस का आवश्यक भाग बनकर प्यूरीन आदि के उपापचयन को उत्प्रेरित करता है। बाल मेमनों, चूजों एवं कुक्कुटों में इसका वृद्धि उत्प्रेरक प्रभाव भी पाया गया है।

चारे में इस खनिज तत्व की 0.002 प्रतिशत या इससे अधिक मात्रा हानिकारक होती है। पशु शरीर में यह तांबे के उपापचयन को भी प्रभावित करता है। मोलिब्डेनम के विष-प्रभाव को 'टीअर्टनेस रोग' (Teartness Disease) के नाम से जाना जाता है। इस रोग के कारण पशुओं को अतिसार (डायरिया) हो जाता है, जिसके प्रमुख लक्षण शारीरिक दुर्बलता, उत्पादन में ह्रास हैं।

इस तत्व से पशुओं में उत्पन्न विष-प्रभाव (अतिसार) को तांबे का सल्फेट देकर दूर किया जा सकता है।

सूक्ष्ममात्रिक तत्व प्रायः दैनिक आहारों में लिए जाने वाले चारे और दानों में पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है, परन्तु फिर भी इनमें से किसी एक या कई तत्वों की कमी हो सकती है। इन तत्वों की कमी को पूरा करने के लिए दोदालीय सूखी घासें तथा दाने जैसे—चोकर, छिलका, खली आदि दिया जाता है। वैसे भोजन में इन तत्वों की कमी होने पर पशु अपनी हड्डियों में पाये जाने वाले तत्वों को भी अस्थायी रूप से प्रयोग कर लेता है। पशु के स्वास्थ्य को सही बनाये रखने के लिए यह भी आवश्यक है कि एक ही भोजन पशु को अधिक लम्बे समय तक लगातार न दिया जाय, क्योंकि एक ही भोजन को लगातार खिलाते रहने से पशु को वह भोजन अरुचिकर लगने लगता है।

इस प्रकार सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की कितनी मात्रा किस पशु के लिए आवश्यक है, इसका ज्ञान हो जाने पर हम अपने पालतू पशुओं-मवेशियों को स्वस्थ एवं निरोग रख सकते हैं।

■ ■

मेढक दवाओं का खजाना लिए घूम रहे हैं

त्रिभुवन नाथ उपाध्याय

मेढक हमारी कृषि पारिस्थितिकी तंत्र के सजग प्रहरी हैं। वर्षा ऋतु में पानी की पहली फुहार पड़ते ही ये अपनी नींद को त्याग कर पोखरों, तालाबों और खेत की मेढ़ों के आस-पास टर्र-टर्र से अपनी उपस्थिति का एहसास कराने लगते हैं। मेढक फसलों के दुश्मन कीट-पतंगों को अपना आहार बना कर पैदावार को बढ़ाने में अपनी अहम भूमिका निभाते हैं।

वैज्ञानिकों ने मनुष्य को पीड़ा से मुक्ति दिलाने के लिए मेढकों की त्वचा का उपयोग करके एक नवीन दर्द निवारक औषधि का उत्पादन प्रारम्भ किया है। बीथेस्डा, मेरीलैण्ड स्थित 'नेशनल इंस्टीट्यूट ऑव हेल्थ' में कार्यरत वैज्ञानिक जॉन डेली तथा उनके सहयोगियों ने मेढकों की एक रंगीन प्रजाति इपीपेडोबेट्स ट्राईकलर की त्वचा से 'इपीवेटिडीन' नामक दर्द निवारक औषधि को बिलगित किया है। इसके लिए उन्होंने 750 मेढकों की त्वचा का उपयोग किया है तथा उससे 60 मिलीग्राम औषधि प्राप्त किया है।

दर्द निवारक औषधियों की जाँच-पड़ताल करने के लिए प्रायः 'हाट प्लेट टेस्ट' का उपयोग किया जाता है। इस परीक्षण में एक विद्युतीय हाट प्लेट पर चूहों को गिराया जाता है। गर्मी के कारण दर्द का एहसास होते ही चूहे कूद कर प्लेट से दूर गिर जाते हैं, परन्तु यदि चूहों को पहले ही दर्द निवारक औषधि का इंजेक्शन (सुई) लगा दिया गया हो तो वे दर्द का अनुभव नहीं कर पाते। इन वैज्ञानिकों ने चूहों को इस नवीन औषधि का इंजेक्शन लगा-कर परीक्षण किया और यह ज्ञात किया कि जहाँ तक दर्द दूर करने की क्षमता का प्रश्न है, यह औषधि एक अन्य प्रयोग की जा रही दर्द निवारक दवा मारफीन से 200 गुणा अधिक प्रभावशाली है।

वैज्ञानिकों ने इस नवीन औषधि की रासायनिक संरचना का भी पता लगाया है। उन्होंने सर्वप्रथम 'क्रोमैटोग्राफी' तकनीक का प्रयोग करके इसे परिष्कृत किया है। इस प्रकार परिष्कृत औषधि को इन्फ्रारेड तथा न्यूक्लियर मैग्नेटिक रेजोनेंस स्पेक्ट्रॉस्कोपी तकनीकों से जाँच करके यह ज्ञात किया कि नवीन औषधि एक अलग प्रकार के एल्केलायड समूह का ऑरगेनोमेटेलिक पदार्थ है।

वैज्ञानिकों ने आस्ट्रेलिया में वृक्षों पर रहने वाले विशेष प्रकार की तीन मेढक-प्रजातियों की त्वचा से ऐसे रसायनों को प्राप्त किया है, जिनका उपयोग प्रतिजैविक (एण्टीबायोटिक) तथा विषाणुनाशक (एन्टीवाइरल) औषधियों के निर्माण में किया जा सकता है। अडेलेड विश्वविद्यालय, आस्ट्रेलिया में कार्यरत रसायनज्ञ जॉन बोवी

रक्षा शरीर क्रिया एवं सम्बद्ध विज्ञान संस्थान, दिल्ली छावनी—110010
निवास : लक्ष्मी निवास, आर० जेड०, 186, पटेल गार्डेन एक्सटेंशन, ककरौला मोड़, नई दिल्ली—112059

एवं डेविड स्टोन और माइकेल टाइलर एवं जॉन वेलेक नामक जन्तु-वैज्ञानिकों ने इन मेढकों की त्वचा के स्रावों में से सेरिन 1.1, नामक घटक को खोज निकाला है। अमाइनो एसिड की इस सूक्ष्म शृंखला के बारे में वैज्ञानिकों की यह राय है कि फोड़ों तथा त्वचा के अन्य रोगों के कारक जीवाणुओं (बैक्टीरिया) को जड़ से समाप्त करने में ये सक्षम है। हरपीज सिम्प्लेक्स नामक विषाणु से लड़ने में भी ये घटक मनुष्य की सहायता करते हैं।

वस्तुतः मेढ़क जिन परिस्थितियों में रहते हैं उनमें यह बहुत ही आवश्यक है कि प्रकृति उनके अन्दर ऐसे रसायनों का स्राव करे जो मेढ़कों की उनके शत्रुओं से रक्षा करे और साथ ही रोग-संक्रमण से भी बचा सके। मेढकों से प्राप्त रसायनों का अध्ययन करने के लिए सामान्यतया वैज्ञानिक उन्हें मार देते हैं। परन्तु कई बार 'नारएड्रीनेलिन' जैसे रसायनों का इंजेक्शन देकर भी मेढकों को इन रसायनों को स्रावित करने के लिए प्रेरित किया जाता है। उपरोक्त वैज्ञानिकों ने एक नई तकनीक का इस्तेमाल करके मेढ़कों से नवीन औषधि प्राप्त किया है जिसमें उन्हें बिजली का हल्का झटका देकर औषधि स्रावित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। इस तकनीक से एक मेढक से एक महीने में करीब 70 मिलीग्राम रसायन प्राप्त करने में उन्हें सफलता मिली।

बोवी तथा उनके सहयोगी वैज्ञानिकों का यह विचार है कि मेढकों के त्वचा-स्राव से प्राप्त रसायनों में सेरिन 1.1 एक प्रमुख घटक है। इससे पहले कुछ अन्य वैज्ञानिकों ने 'सेरूलीन' नामक रसायन को भी इन्हीं स्रावों में से विलगित किया था। यह रसायन रक्तचाप (ब्लड प्रेशर) को नियंत्रण में रखने में सहायक पाया गया है। अन्य घटकों के ऊपर अभी भी अध्ययन चल रहा है। मेढकों के स्राव से प्राप्त होने वाले औषधीय रसायनों की सूचियों की लम्बाई जैसे-जैसे बढ़ती जा रही है, वैसे-वैसे वैज्ञानिकों की धारणा भी मजबूत होती जा रही है कि मेढक अपनी पीठ पर दवाओं का भारी खजाना लिए घूम रहे हैं।

हाल ही में हुए इन वैज्ञानिक खोजों से अनजान अनेक जन-जातियाँ वर्षों से बुखार, दर्द, फोड़ा इत्यादि की पकड़ में आने पर अपनी काँख में जिन्दा मेढक बाँध कर रोगमुक्त होती रही हैं। आधुनिक औषधीय चिकित्सा प्रणाली में मेढकों के भावी सहयोग की भूमिका को देखते हुए उनके हमारे हितैषी होने की अवधारणा पुष्ट होती है।

जीवविज्ञान की प्रयोगशालाओं में प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में अपने प्राणों का उत्सर्ग करके ये हमारी ज्ञान पिपासा को शान्त करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। हमें स्वस्थ तथा पीड़ामुक्त रखने के लिए अनेक प्रकार के रसायन हमें इन मेढकों से प्राप्त होते हैं, फिर भी कुछ लोग इन्हें मात्र अपनी स्वादेन्द्रियों को शान्त करने के लिए अपना आहार बनाते हैं। अमेरिका, यूरोप के कई देशों तथा चीन में मेढक खाने का फैशन तेजी से बढ़ता जा रहा है। मेढक की पिछली टाँगों का अचार चीन में बहुत लोकप्रिय है। स्वादिष्ट किन्तु मँहगा होने के कारण मेढक की टाँग आर्थिक रूप से सम्पन्न लोगों में विशेष रूप से लोकप्रिय है। साधन सम्पन्न देशों में मेढक की खपत को देखते हुए कुछ देश मेढ़कों की टाँगों का निर्यात करने लगे हैं। इससे मेढ़क की जातियों के समाप्त होने का खतरा उत्पन्न हो गया है। किन्तु मात्र स्वाद के लिए बहुउपयोगी मेढकों का मारा जाना ठीक नही है। मेढक के निर्यात पर न केवल रोक लगाई जानी चाहिए बल्कि इन्हें सुरक्षा भी प्रदान की जानी चाहिए ताकि इन्हें विलुप्त होने से बचाया जा सके।

■ ■

नोबेल पुरस्कार के लिए तीन बार प्रस्तावित हुआ था प्रो० धर का नाम

2 जनवरी 1993 को विज्ञान परिषद् में डॉ० मुरारी मोहन वर्मा की अध्यक्षता में प्रो० धर का 101वां जन्म दिन मनाया गया। इस अवसर पर डॉ० वर्मा ने प्रो० धर के अनुकरणीय व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए बताया कि प्रो० धर के जिन गुणों से वे व्यक्तिगत रूप से प्रभावित हुए, वे हैं प्रो० धर की ईमानदारी और सादगी। डॉ० वर्मा ने बताया कि डॉ० धर का नाम तीन बार 'नोबेल पुरस्कार' के लिए प्रस्तावित हुआ था किन्तु राजनीति के कारण वे इस पुरस्कार से वंचित रह गये। यही नहीं, वे अनेक वर्षों तक 'नोबेल पुरस्कार' देने वाली समिति के सदस्य भी रहे थे।

डॉ० नीलरत्न धर एक अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के रसायनज्ञ एवं कृषि वैज्ञानिक होने के साथ ही लोकप्रिय अध्यापक एवं कुशल वक्ता भी थे। उनके व्याख्यान सरस, रोचक एवं विद्वतापूर्ण होते थे। वे सदैव 'सादा जीवन उच्च विचार' के पोषक रहे।

डॉ० दिनेश मणि ने प्रो० धर की रसायन एवं कृषि के क्षेत्र में प्राप्त उपलब्धियों का उल्लेख करते हुये बताया कि प्रो० धर ने कार्बनिक खादों की मिट्टी के सुधार की महत्ता पर बल दिया। और इस प्रकार भारतीय संदर्भ में 'हरित क्रांति' की दिशा में किया गया उनका योगदान सदैव स्मरण किया जाता रहेगा। ऊसर सुधार के लिये सुझायी गई उनकी विधियाँ आज भी सार्थक हैं।

इसके पूर्व अतिथियों का स्वागत करते हुये प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने बताया कि प्रो० धर 1930-1933 तक 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' के सभापति थे। 'विज्ञान' पत्रिका में प्रो० धर के अनेक प्रकाशित लेख परिषद् की थाती हैं। प्रो० धर ने अपने जीवन काल में लगभग 600 मौलिक शोधपत्र प्रकाशित करवाये और उनके निर्देशन में लगभग 150 शोधार्थियों ने डॉक्टरेट की उपाधियाँ प्राप्त कीं। उन्होंने लगभग 20 लाख रुपयों की राशि शैक्षिक, शोध एवं चिकित्सीय संस्थानों को दान कर दिया। 'शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान' (इलाहाबाद) उनका जीवन्त स्मारक है।

डॉ० रामसुरंजन धर दुबे ने प्रो० धर के सम्बन्ध में कुछ रोचक संस्मरण सुनाये और बताया कि उनके लोकप्रिय विज्ञान विषयक व्याख्यानों में हास्य का पुट रहता था। 'भारतीय विज्ञान कांग्रेस' के अवसर पर प्रतिबर्ष उनका किसी न किसी विषय पर व्याख्यान होता था, जिसे सुनने के लिये लोग आतुर रहते थे।

डॉ० सुनील दत्त तिवारी ने बताया कि प्रो० धर आचार्य पी० सी० रे तथा सर जगदीश चन्द्र बोस से अत्यधिक प्रभाबित थे और भारतीयता से लगाव का विशेष कारण इन दो गुरुओं का अपने ऊपर प्रभाव मानते थे। प्रो० धर का जन्म बांग्लादेश के जैसोर में हुआ था और कृतज्ञ बांग्लादेशवासियों ने प्रो० धर के सम्मान में उन्हीं के निवास के समीप की सड़क को प्रो० धर मार्ग नाम रख दिया है। प्रो० धर गुरु-शिष्य परम्परा के पोषक थे। उनके

शिष्यों में स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती, डॉ० आत्माराम, प्रो० सत्येश्वर घोष, प्रो० रामचरण मेहरोत्रा, डॉ० गोपाला राव, डॉ० ए० के० चटर्जी, डॉ० ए० के० भट्टाचार्य, डॉ० शिवगोपाल मिश्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अन्त में प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने धन्यवाद ज्ञापन के साथ इस विशेष समारोह का समापन हुआ।

('अमृत प्रभात' 3 जनवरी 1993 से)

■ ■

पेयजल व्यवस्था में महिलाओं की भागीदारी आवश्यक

डॉ० सुशीला राय

16, अक्टूबर 1992 को परिषद् के सभागार में रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर की वैज्ञानिक ऑफिसर श्रीमती डॉ० सुशीला राय ने 'श्रीमती रत्न कुमारी स्मृति व्याख्यान' शृंखला का द्वितीय व्याख्यान दिया। सभा की अध्यक्षता डी०ए०वी० इण्टर कॉलेज के अवकाशप्राप्त प्राचार्य डॉ० विमलेश जी, संचालन प्रो० शिवगोपाल मिश्र और धन्यवाद ज्ञापन परिषद् के उपाध्यक्ष प्रो० पी० सी० गुप्ता ने किया।

अपने व्याख्यान में श्रीमती राय ने कहा कि मानव जाति को प्रकृति की ओर से पृथ्वी पर जो विशिष्ट उपहार मिले हैं, जल उनमें सर्व प्रमुख है। जीवन की उत्पत्ति ही जल के अभाव में असंभव थी। आज जल के इस लाभकारी स्वरूप को हमारे लोभ और अविवेक के कारण खतरा उत्पन्न हो गया है।

श्रीमती राय ने आगे बोलते हुए बताया कि अल्मा आता की 1978 की घोषणा के अनुसार 2000 तक सभी को जल सहित जीवन की आधारभूत सुविधाएँ देने की बात की गई है, पर स्वास्थ्य, शिक्षा और जनचेतना के अभाव में यह घोषणा सफल नहीं हो सकती। बढ़ती जनसंख्या के कारण भी पेयजल की समस्या विकराल हो रही है, क्योंकि इस भ्रम में रहना कि जल के भण्डार असीमित हैं, नितान्त मूर्खता है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि पृथ्वी पर भू-जल, महासागरों और हिम खण्डों के रूप में उपलब्ध है और इस सबका केवल एक प्रतिशत ही पेयजल के रूप में प्रयुक्त हो सकता है।

भारत में जहाँ एक पंचनद के प्रदेश में, दोआब और दक्षिण में जहाँ जल के विशाल स्रोत हैं वहीं राजस्थान और कच्छ के जलहीन प्रदेश भी हैं।

डॉ० सुशीला राय ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि इस असमानता पर विजय पाने और जल प्रदूषण तथा जलाभाव की समस्या से जूझने के लिए ही भारत में 1981 में जल दशक कार्यक्रम आरम्भ किया गया। 1986 में एक मिशन के रूप में 'राष्ट्रीय पेयजल मिशन' की शुरूआत की गई।

इसके अन्तर्गत देश की प्रमुख जल समस्याओं के रूप में खारेपन पर नियंत्रण, अधिक लौह दूर करना, फ्लोरोसिस पर नियंत्रण, जलस्रोतों की खोज, गिनीकृमि को दूर करना आदि पर विशेष बल दिया गया। उन्होंने सूचित किया कि इस मिशन ने जल-गुणवत्ता पर नियंत्रण रखने का भी एक महत्वपूर्ण कार्य हाथ में लिया है।

श्रीमती राय ने बल देकर कहा कि इस दृष्टि से महिलाओं को स्वास्थ्य शिक्षा से जोड़ कर उन्हें शिक्षित करना इस कार्यक्रम का प्रमुख भाग हैं। अपनी बात को समाप्त करते हुए श्रीमती राय ने कहा कि चाहे संयुक्त राज्य जैसा विकसित देश हो या अफ्रीका या एशिया के विकासशील देश, ये सभी वैज्ञानिक विकास और समृद्धि के उपरान्त भी जल संबंधित रोगों और स्वच्छता से जुड़ी समस्याओं से तब तक मुक्ति नहीं पा सकते, जब तक कि पेयजल और स्वच्छता के प्रति जागरूक न हो जायें और इसमें महिलाओं की शत प्रतिशत भागीदारी न हो। लोग इस जानकारी को इस भावना के साथ ग्रहण करें कि पेयजल व्यवस्था सरकार की सम्पत्ति नहीं है बल्कि उनकी अपनी है और उनके लाभ के लिए है।

उन्होंने उपस्थित लोगों और विशेष कर महिलाओं से निवेदन किया कि सभी जल समस्या पर गम्भीरता से विचार करें।

अन्त में उन्होंने परिषद् के सभी अधिकारियों के प्रति आभार व्यक्त करते हुए अपने व्याख्यान का समापन किया।

■ ■

विज्ञान परिषद् की वाराणसी शाखा से

हिन्दी दिवस व्याख्यान

गत् 14 सितम्बर 1912 को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के विज्ञान-संकाय में, शाखा परिषद् की ओर से हिन्दी में एक सामयिक व्याख्यान आयोजित हुआ। कार्यक्रम की अध्यक्षता प्रो० महाराजनारायण मेहरोत्रा ने की। व्याख्याता थे, विज्ञान-संकाय के प्रमुख प्रो सुरेश चन्द्र, और विषय था "ठोस अवस्था आयनिकी"। विद्वान वक्ता ने अत्यन्त रोचक एवं सरल ढंग से विषय का परिचय दिया तथा इसकी उपयोगिता की संभावनाओं पर प्रकाश डाला।

माइकेल फैराडे ने सन् 1840 से 1870 ई० के बीच विद्युत्-प्रेरण, विद्युत्-विश्लेषण और विद्युत्-चुम्बकत्व पर अनेक प्रयोग किया था जिससे विद्युत्-आवेश की धारणा विकसित हुई और यह समझ में आया कि विद्युत्-धारा इन आवेशों के प्रवाह से बनती है तथा ये आवेश स्वयं इलेक्ट्रॉनों एवं आयनों द्वारा स्थानान्तरित होते हैं। उन दिनों यह देखा गया कि ऋण आवेश वाले आयन (ऋणायन) धारा-प्रवाह में सरलता पूर्वक भाग लेते हैं। अतः उन्ही से सम्बन्धित क्षेत्र का विकास तेजी से हुआ। धनायन तथा अन्य भारी आयन सामान्यतः गतिशील नहीं हो पाते हैं। अतः अगले 150 वर्षों तक इस दिशा की ओर वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। किन्तु बीसवीं सदी में इस दिशा में भी पर्याप्त शोधकार्य हुआ है। अब ऐसे अनेक धातु एवं अधातु आयन ढूंढ निकाले गए हैं तथा उन्हें गति-प्रवाह देने की समुचित परिस्थितियों की भी खोज की गई है। विज्ञान के इसी क्षेत्र को "ठोस अवस्था आयनिकी" कहा जाता है। वैज्ञानिकों ने इस तकनीक के अनेक उपयोगों का भी पता लगाया है। भविष्य में इस वैज्ञानिक विधा के विकास की बहुत अच्छी संभावनाएँ हैं।

प्रस्तुति : डॉ० श्रवण कुमार तिवारी
सचिव

विज्ञान परिषद् प्रयाग (वाराणसी शाखा), काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक - बिन पानी सब सून

लेखक - प्रेमानन्द चन्दोला

प्रकाशक-हिमाचल पुस्तक भण्डार, सरस्वती भण्डार, गाँधी नगर, दिल्ली-110031

मूल्य - चालीस रुपये

प्रस्तुत पुस्तक वैज्ञानिक लेखों का एक संकलन है। इस पुस्तक में विभिन्न तथ्यों को बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। प्रथम लेख "यदि हवा न हो . . .?" में लेखक ने हवा के संघटन, ऑक्सीजन और नाइट्रोजन के महत्व, ऑक्सीजन की क्रियाशीलता तथा नाइट्रोजन की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है। दूसरे लेख—"बिन पानी सब सून" में पानी को जीवाधारियों का पोषक तथा जलवायु का नियन्त्रक बताया गया है। वास्तव में हवा और पानी पृथ्वी पर किसी भी तरह के जीवन के लिये अनिवार्य साधन हैं। तीसरे लेख—"यदि प्रकाश न होता . . . ? में प्रकाश को परिभाषित करते हुये प्रकाश के स्रोतों पर प्रकाश डाला गया है। सभी जानते हैं कि सूर्य के प्रकाश से ऊष्मा और भोजन प्राप्त होता है। बीजों के अंकुरण से लेकर फूलों का खिलना, दाने तथा फलों का बनना तथा इनका पकना आदि सब प्रकाश पर ही निर्भर है। सूर्य के प्रकाश तथा पौधों के हरे पदार्थ (क्लोरोफिल) से प्रकाशसंश्लेषण द्वारा भोजन निर्मित होता है। चौथे लेख—"मिट्टी न होती अगर . . . ?" में मिट्टी के निर्माण, गठन तथा रासायनिक गुणों पर प्रकाश डालते हुये लेखक ने मिट्टी की उपयोगिता को स्पष्ट किया है। वास्तव में मिट्टी एक बहुमूल्य पदार्थ है और हमें इसे उपेक्षा की दृष्टि से कदापि नहीं देखना चाहिये। पांचवे लेख—"अगर यह आग न होती ...?" में आग के महत्व को स्पष्ट किया गया है। छठें लेख—"पर्यावरण यदि स्वच्छ न रहेगा . . ." में लेखक ने पर्यावरण में संतुलन को बनाये रखने का सुझाव दिया है और चेतावनी दी है कि यदि प्रदूषण का सिलसिला इसी तरह चलता रहा तो सम्पूर्ण मानव जाति बिना किसी युद्ध के विनाश की ओर चली जायेगी। सातवें लेख—"धमनियों में यदि खून न बहता ..." में लेखक ने रक्त को परिभाषित करते हुये रक्त के कार्यों, रक्त वर्ग आदि को समझाया है और बताया है कि रक्त में उपस्थित एण्टीबाडीज द्वारा ही रोगों से शरीर की रक्षा होती है। आठवें लेख—"अगर नमक न होता . . ." में शरीर में नमक के महत्व को लवण और क्रिया विज्ञान के बीच सम्बन्ध को स्पष्ट करके समझाया गया है। वास्तव में नमक से न केवल भोजन के स्वाद में वृद्धि होती है अपितु शरीर के पोषण में भी इसकी महत्ता है। नवें और अन्तिम लेख—"एन्जाइम न होते तो . . ." में भोजन के पाचन तथा अन्य कार्यों में एन्जाइम के महत्व को स्पष्ट किया गया है। आजकल जैव तकनीक द्वारा कृत्रिम रूप से भी एन्जाइमों का संश्लेषण सम्भव हो गया है।

मोटे तौर पर बच्चों तथा बड़ों दोनों के लिये विज्ञान सम्बन्धी जानकारी सुलभ कराने के दृष्टिकोण से पुस्तक में संकलित लेख अत्यन्त उपयोगी हैं। लेखक तथा प्रकाशक दोनों साधुवाद के पात्र हैं।

—डॉ० दिनेश मणि

संयुक्त मंत्री, विज्ञान परिषद्, प्रयाग

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक - प्रदूषण पृथ्वी का ग्रहण

लेखक - प्रेमानन्द चन्दोला

प्रकाशक - हिमाचल पुस्तक भण्डार, सरस्वती भण्डार, गाँधी नगर, दिल्ली-110031

मूल्य - साठ रुपये

प्रस्तुत पुस्तक विभिन्न प्रकार के पर्यावरणीय प्रदूषणों एवं वनस्पतियों, जीवों पर इसके दुष्प्रभाव से सम्बन्धित विस्तृत जानकारी से युक्त है। पुस्तक के प्रथम अध्याय में पर्यावरण, प्रदूषण तथा परिस्थिति विज्ञान को परिभाषित किया गया है। वास्तव में इन तीनों में अन्यान्योश्रय सम्बन्ध है। इस अध्याय में लेखक ने बड़ी विद्वतापूर्ण शैली में इस सम्बन्ध को दर्शाते हुये पारिस्थितिकी सन्तुलन के महत्व को स्पष्ट किया है। रूसो के प्रकृति प्रेम से सम्बन्धित वाक्यांशों को देकर पुस्तक के परिचयात्मक अध्याय को और भी रोचक बना दिया गया है। पुस्तक के दूसरे अध्याय में प्रसिद्ध अमेरिकी लेखिका राशेल कार्सन की चर्चित पुस्तक "साइलेंट स्प्रिंग" में से कुछ अंशों को उद्धृत किया गया है, जो कि तर्कसंगत है। इसी अध्याय में कृषि रसायनों से उत्पन्न सम्भावित खतरों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया गया है।

पुस्तक के तीसरे अध्याय में तेजाबी वर्षा, ओजोन की छतरी में छेद के फलस्वरूप पृथ्वी के प्रदूषित होने तथा उससे वनस्पतियों, जीवों और मनुष्यों पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभावों पर प्रकाश डाला गया है। चौथे अध्याय में पर्यावरण को पुनः परिभाषित करते हुये प्रकृति में आधुनिक मानव की दखलन्दाजी की ओर इशारा किया गया है साथ ही यह अपील भी की गयी है कि पर्यावरण का संरक्षण मानव का परम धर्म होना चाहिये। पांचवें अध्याय में दूषण, संदूषण और प्रदूषण को परिभाषित करके जनसामान्य की शंका का समाधान किया है। इसी अध्याय में पर्यावरण में असन्तुलन के कुप्रभावों (यथा सूखा, बाढ़ की स्थिति उत्पन्न होना) पर दृष्टिपात किया गया है। छठें अध्याय में मुख्यतः रासायनिक प्रदूषण पर चर्चा की गयी है। सातवें, आठवें एवं नवें अध्याय में क्रमशः जल प्रदूषण, खेती का प्रदूषण तथा विकिरण प्रदूषण की समस्या को समझाया गया है। दसवें अध्याय में प्रदूषण को आधुनिक युद्ध की संज्ञा दी गयी है और इसे अन्य युद्धों से अधिक हानिकर बताया गया है।

पुस्तक के ग्यारहवें अध्याय में शोर को ध्वनि प्रदूषण का कारक बताते हुये इसके दुष्प्रभावों पर प्रकाश डाला गया है। बारहवें अध्याय में मंगलकारी नदियों, और तेरहवें अध्याय में झीलों के प्रदूषण पर चर्चा की गयी है। चौदहवें अध्यायाय में भोजन श्रृंखला द्वारा प्रदूषण (विष का संचार) किस प्रकार होता है—यह बताया गया है। पन्द्रहवें अध्याय में विभिन्न पौधों द्वारा प्रदूषण को दूर करने की बात समझायी गयी है। सोलहवें अध्याय में भोपाल और चेर्नोबिल की प्रदूषणकारी दुर्घटनाओं पर चर्चा की गयी है और आगाह किया गया है कि भविष्य में हमें ऐसी

गलतियों की पुनरावृत्ति से और भी भयंकर खामियाजा भुगतना पड़ सकता है। सत्रहवें अध्याय में प्रदूषण के भावी संकट, अठारहवें अध्याय में प्रदूषण नियन्त्रण से सम्बन्धित नये रचनात्मक सुझाव पर प्रकाश डाला गया है।

पुस्तक के उन्नीसवें और अन्तिम अध्याय में उपसंहार के रूप में "पर्यावरण रक्षा परमो धर्म :" का सन्देश दिया गया है। आज के परिवेश में "जियो और जीने दो" का नारा ही व्यवहार में लाये जाने की आवश्यकता हैं अन्यथा भोली, उदासीन और स्वार्थ में लिप्त मानवता की खैर नहीं।

कुल मिलाकर पुस्तक की विषयवस्तु रोचक, सारगर्भित और आधुनिक जानकारी से युक्त है। कहीं-कहीं एक अध्याय में दिये जा चुके भाव अन्य अध्यायों में भी दोहरा दिये गये हैं। पुस्तक में प्रूफ सम्बन्धी गलतियाँ न के बराबर हैं। पुस्तक के अन्त में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली (हिन्दी-अंग्रेजी) देकर पुतक को प्रमाणिक बना दिया गया है। पुस्तक सभी दृष्टि से उत्तम है। लेखक और प्रकाशक धन्यबाद के पात्र हैं।

डॉ० दिनेश मणि

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठकगण !

विलम्ब से ही सही 'विज्ञान' का यह अंक आपके सामने है। मैं यह कुछेक पंक्तियाँ अत्यन्त भरे हृदय से लिख रहा हूँ। सारे देश में आग-सी लगी हुई है। हम भारतीय इतिहास के नाजुक दौर से गुजर रहे हैं, किन्तु मुझे मनुष्य के सदगुणों में आस्था है, उसके विवेक में आस्था है इसलिए यह दौर भी गुजर जायेगा।

अजीबोगरीब परिस्थितियों के कारण दिसम्बर में परिषद् में आयोजित किए जाने वाले अनेक कार्यक्रमों को स्थगित करना पड़ा। किन्तु मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि नये वर्ष 1993 में नयी ऊर्जा के साथ हम रुकी पड़ी कुछेक योजनाओं को कार्यरूप में परिणित करने में सफल होंगे।

आपसे बहुत सी बातें करनी हैं। परिषद् की बैलाडीला शाखा में 8 नये सभ्य और जुड़ गए हैं। वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली के महानिदेशक डॉ० एस० के० जोशी जी की "अतिचालकता" विषय पर एक रोचक एवं चिंतनपरक वार्ता परिषद् की दिल्ली शाखा के तत्वावधान में सफलतापूर्वक सम्पन्न हुई।

परिषद् के पूर्व सभापति, प्रसिद्ध रसायनविज्ञानी एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति प्रो० राम चरण मेहरोत्रा को रसायन विज्ञान की विशिष्ट सेवाओं के लिए 'साइंस कांग्रेस' ने "आशुतोष मुकर्जी पुरस्कार" से सम्मानित किया है। प्रो० मेहरोत्रा को विज्ञान परिषद् परिवार की हार्दिक बधाई।

वर्ष 1992 प्रो० नीलरत्न धर का जन्मशती वर्ष है। 'इण्डियन सोसायटी ऑव एग्रीकल्चरल केमिस्ट्स' (इलाहाबाद) ने 27-29 नवम्बर 1992 को प्रो० नीलरत्न धर जन्मशती समारोह एवं 'स्वायल फर्टिलिटी, नाइट्रोजन एण्ड पल्यूशन' विषय पर एक त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की और इस अवसर पर स्थानीय सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज के वनस्पति विभाग के दो रीडरों—डॉ० आनन्द स्वरूप श्रीवास्तव एवं डॉ० राजेश्वर प्रसाद—को 'आर्डिनरी फेलो अवार्ड' देकर सम्मानित किया। ये दोनों वैज्ञानिक विज्ञान परिषद् के आजीवन सभ्य हैं। इन्हें परिषद् परिवार की ओर के बधाई।

अपरिहार्य कारणों से परिषद् के पूर्व सभापति प्रो० धर की जन्मशती के अवसर पर दिसम्बर में आयोजित किए जाने वाले समारोह को टालना पड़ा। अब यह समारोह बाद में आयोजित किया जायेगा और इस अवसर पर दो पुस्तकों का विमोचन भी होगा।

1. विज्ञान और मानव (लेखक—प्रो० नील रत्न धर)
2. महान कृषि वैज्ञानिक प्रो० धर (लेखक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र एवं डॉ० दिनेश मणि)

1 दिसम्बर को विज्ञान परिषद् में प्रो० जे० बी० एस० हाल्डेन की पुण्य तिथि के अवसर पर एक विचार-गोष्ठी "प्रो० जे० बी० एस० हाल्डेन और उनके योगदान का मूल्यांकन" विषय पर सफलता पूर्वक सम्पन्न हुई (परिषद् का पृष्ठ के अंतर्गत पढ़े)।

परिषद् की दिल्ली शाखा का चुनाव सम्पन हो गया है और परिषद् की अन्य शाखाओं की गतिविधियों से संबंधित रिपोर्टें आनी शेष हैं।

नया वर्ष शुभ हो, मंगलमय हो।

आपका

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

समीक्षा

पत्रिका : साइंस टाइम्स

न्यूज़ एण्ड न्यूज़

सम्पादक : इरफान ह्यूमन

प्रकाशक : 67-अण्ट, विज्ञान मिशन, शाहजहाँपुर-242001

प्रथम पुष्प : सितम्बर 1992 [वर्ष : । अंक ।]

मूल्य : दो रुपये 50 पैसे

श्री इरफान ह्यूमन द्वारा सम्पादित यह पत्रिका विज्ञान साहित्य, विशेष रूप से लोकप्रिय विज्ञान लेखन, के सृजन को प्रोत्साहित करने का एक सफल तथा सार्थक प्रयास है। यह पत्रिका जहाँ एक ओर विज्ञान साहित्य भण्डार को समृद्ध करने की दिशा में अग्रसर होगी वहीं दूसरी ओर विज्ञान को हिन्दी माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने तथा अंधविश्वास जैसी अनेक सामाजिक रूढ़ियों के प्रति सचेष्ट कर लोगों में वैज्ञानिक मनोवृत्ति पैदा करने की दिशा में भी सार्थक भूमिका निभायेगी। पत्रिका में प्राय: सभी स्तम्भ यथास्थान दिये गये हैं। 'आपने कहा' स्तम्भ के अन्तर्गत् पाठकों के पत्रों को शामिल किया गया है। 'सम्पादकीय', 'आवरण लेख', 'समाचार-विचार', विशेष लेख 'स्वास्थ्य चिकित्सा', 'कब क्यों कैसे', 'जानकारी', 'बाल विज्ञान 'तथा 'विज्ञान मिशन से' इस अंक के स्तम्भ हैं। पत्रिका में यदि प्रश्नोत्तर सम्बन्धी स्तम्भ और शामिल कर लिया जाय तो पत्रिका के स्वरूप में पूर्णता आ जायेगी। पत्रिका को लोकप्रिय बनाने के लिये पत्रिका का गेट-अप तथा छपाई और अधिक आकर्षक बनाने की आवश्यकता है। अन्त में विज्ञान परिषद् की ओर से हम यही कामना करते हैं कि पत्रिका चिरंजीवी हो तथा अपनी विशिष्ट पहचान बनाने में सफल हो। श्री इरफान ह्यूमन (सम्पादक) तथा कार्यकारी मण्डल के अन्य सदस्यों को इस पुनीत कार्य के लिये बधाई।

—डॉ० दिनेश मणि
संयुक्त मंत्री, विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-2

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1992

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।
(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायगा।
(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।
(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।
(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1992 से दिसम्बर 1992 माह के बीच प्रकाशित हो।
(6) लेखक को साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।
(7) विज्ञानपरिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।
(8) वर्ष 1992 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1993 है।

लेख निम्न पते पर भेजें—

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश,राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद वा रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु०, चौथाई पृष्ठ 50.00; आवरण द्वितीय; तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु० : **वार्षिक** 25 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे : यह अंक 5 रु०

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

फरवरी 1993 अंक

मूल्य : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
फरवरी 1993; वर्ष 78 अंक 11

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक	सम्पादक	मुद्रक	सम्पर्क
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी प्रधानमंत्री विज्ञान परिषद् प्रयाग	प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव	अरुण राय प्रसाद मुद्रणालय 7 ए बेली एवेन्यू इलाहाबाद-211002	विज्ञान परिषद् महर्षि दयानन्द मार्ग इलाहाबाद-211002

प्राणिशास्त्र के प्रतिभाशाली वैज्ञानिक प्रो० एम० एल० रुनवाल

डॉ सुरेशचन्द्र नेगी एवं महेशचन्द्र नेगी

डॉ० एम० एल० रुनवाल भारत के ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के वैज्ञानिक थे। प्राणिशास्त्र के गौरव स्तम्भ थे। इनसेक्ट्स, प्राईमेट्स तथा रोडेन्ट्स विषयों के वे पूर्ण पण्डित थे। इन विषयों पर इनके लगभग पाँच सौ से अधिक शोधपत्र छप चुके हैं।

प्रोफेसर रुनवाल का जन्म 18 सितम्बर 1908 में जोधपुर में हुआ था। प्यार के कारण उनका नाम मिठन रखा गया था। इनके पिता **श्री मूल चन्द रुनवाल** जोधपुर-रेलवे में एकाउण्ट विभाग में क्लर्क थे। सोलह वर्ष की उम्र में ही इनका विवाह हो गया था। इन्हें एक पुत्र एवं तीन पुत्रियों का पिता बनने का सौभग्य प्राप्त हुआ।

इनकी स्कूली शिक्षा जोधपुर में सर प्रताप स्कूल तथा दरबार हाई स्कूल से प्रारम्भ हुई। 1924 में इन्होंने इसी दरबार हाई स्कूल से मैट्रिक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। तत्पश्चात् लखनऊ विश्वविद्यालय से 1929 में बी०एस-सी० ऑनर्स तथा 1930 में एम०एस-सी० प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। बचपन से ही वे बड़े मेधावी थे। 1933 में इंगलैण्ड चले गये और वहीं 1935 में क्रेम्ब्रिज विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। उसी विश्वविद्यालय ने सन् 1962 में इनके उच्चस्तरीय शोधपत्रों के आधार पर इन्हें डी०एस-सी० की सर्वोच्च उपाधि देकर सम्मानित किया।

पी-एच० डी० करने के बाद डॉ० रुनवाल ने अपना सेवा काल सन् 1935 में बिलुचिस्तान के टिड्डी शोध संस्थान में ऑफिसर-इनचार्ज के पद से प्रारम्भ किया। यहाँ उन्होंने चार वर्ष तक बड़ी लगन और तत्परता से कार्य किया। यहाँ उनके कार्य की अत्यधिक प्रशंसा हुई। उनके कार्य के महत्व को देखकर सन् 1939 में वे कलकत्ता के जूलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया में पक्षी तथा स्तनीय जन्तु विभाग के अध्यक्ष पद पर नियुक्त किये गये। वहां अगले दस वर्षों (1939-1949) तक उन्होंने बड़ा उल्लेखनीय कार्य किया जिसकी विज्ञान जगत् में काफी प्रशंसा हुई। उन्होंने प्राणिविज्ञान में तो महत्वपूर्ण शोधकार्य किया ही, लगभग सात वर्ष (1949-1956) तक देहरादून के फॉरेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट में प्रमुख शोधाधिकारी के रूप में कीट-पतंगों पर भी बड़ा व्यापक तथा महत्वपूर्ण कार्य किया। इसके बाद तो उनकी गणना देश के शीर्षस्थ वैज्ञानिकों में होने लगी। भारत सरकार ने उन्हें जूलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया के निदेशक का पद भार सौंपा। इसके बाद डॉ० रुनवाल ने अपने कार्य से आर-पार यश अर्जित किया और उनकी गणना अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के वैज्ञानिकों में होने लगी। निदेशक के पद पर नौ वर्ष (1956-1965) की लम्बी अवधि में उन्होंने प्राणिशास्त्र के क्षेत्र में देश में वैज्ञानिक शोध को एक नई दिशा और गति दी।

बड़लों का चौक, गंवा हवेली, जोधपुर-342002 (राजस्थान)

सन् 1965 में वे निदेशक के पद से निवृत हुए और उसी वर्ष उन्हें जोधपुर विश्वविद्यालय के प्राणिशास्त्र विभाग में प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष नियुक्त किया गया। इस पद पर उन्होंने एक वर्ष कार्य किया और इसी विश्व-विद्यालय के कुलपति नियुक्त हुए। इस पद पर उन्होंने तीन वर्ष (1966-1969) बड़ी योग्यता, शालीनता एवं गरिमा के साथ कार्य किया।

जोधपुर विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त होकर वे डेजर्ट रिजनल स्टेशन ऑव जूलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, जोधपुर में पुनः शोधकार्य में लग गये। इस बीच प्रो० रुनवाल (अगस्त 1969 से सितम्बर 1973) काउन्सिल ऑव साइन्टिफिक एण्ड इण्डिस्ट्रियल रिसर्च के एमेरिट्स वैज्ञानिक के रूप में कार्यरत रहे।

द्वितीय विश्वयुद्ध (1939-1944) के दौरान उन्होंने 15वीं रेजीमेन्ट में मेजर के पद पर रह कर सेवा की। इस अवधि में उनकी नियुक्ति दक्षिण-पूर्व युद्ध क्षेत्र में हुई थी जहाँ विशिष्ट सेवाओं के उपलक्ष्य में उन्हें दो बार तमगे—'बर्मास्टार' और 'बार मेडल'—प्रदान किये गये। द्वितीय विश्वयुद्ध में मेजर के पद पर रह कर विश्व के अनेक देशों में गये। आस्ट्रेलिया को छोड़ कर विश्व के सभी द्वीपों का परिभ्रमण किया। इस प्रकार सैनिक और असैनिक दोनों ही क्षेत्रों में उन्होने बड़ी लगन और तत्परता से कार्य किया और विशेष ख्याति अर्जित की।

अन्तर्राष्ट्रीय आॅग्रेनाइजेशन में उनका प्रमुख योगदान रहा। 1951-52 में उन्होंने फूड एण्ड एग्रीकल्चर आॅर्गेनाइजेशन ऑव यूनाइटेड नेशन्स के टरमाइट (एक प्रकार के कीट) रिसर्च पर फेलोशिप प्राप्त की। इसके अजावा वे इन्टरनेशनल एडवाइजरी कमेटी ह्यूमिड ट्रोपिक्स रिसर्च ऑव यू०एन०ई०एस०सी०ओ०, पेरिस के सदस्य और प्रेसीडेन्ट भी रहे (1957-55)। सन् 1945 में वे इण्डियन साइन्स कांग्रेस के प्रेसीडेन्ट भी रहे। प्राणिशास्त्र में शोधकार्य पर उन्होंने 1956 में 'टाटा गोल्ड मेडल' प्राप्त किया। सन् 1956-62 में वे इण्डियन बोर्ड ऑव वाइल्ड लाइफ (भारत सरकार) के सेक्रेटरी जनरल रहे। तत्पश्चात् सन् 1984 में इण्डियन नेशनल साइन्स एकेडेमी ने उनको हरस्वरूप मेमोरियल लेक्चर के लिए बुलाकर सम्मानित किया। देश-विदेशों में इनके पाँच सौ से अधिक शोधपत्र छपे हैं। इसके अलावा विश्वविद्यालय स्तर की अनेक पुस्तकों का भी इन्होंने प्रणयन किया है।

एक प्रकार से प्रो० रुनवाल का सारा जीवन उच्च स्तरीय वैज्ञानिक शोध करने में ही बीता।

वे प्रातः चार बजे उठ जाते थे और फिर पौ फटने पर बाहर घूमने निकल जाते थे। घर में कुटुम्बियों को कम ही समय दे पाते थे। उनका अधिक समय शोधकार्य में ही व्यतीत होता था। सात्विक रहन-सहन और सादगी की तो वे प्रतिमूर्ति थे। एक साधारण, मध्यम श्रेणी के परिवार में उत्पन्न होकर भी अपने अध्यवसाय, कठोर परिश्रम और लगन के द्वारा ही वह देश के ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के वैज्ञानिक बने।

इनके मार्ग-दर्शन में लगभग दो सौ से अधिक वैज्ञानिकों ने पी एच०डी० की उपाधियां प्राप्त कीं। उनके अनेक शिष्य आज देश-विदेशों में उच्च पदों पर आसीन हैं।

22 जुलाई, 1990 को डॉ० एम० एल० रुनवाल इस संसार से सदा के लिये विदा हो गये। उन पर सारे देश को अभिमान है और रहेगा। उनके निधन से होने वाली क्षति अपूरणीय है, किन्तु अपने शोध कार्य के माध्यम से वे आने वाली पीढ़ियों को सदैव प्रेरणा देते रहेंगे।

●●

विराम से व्यायाम तक

इरा

जीवन में व्यायाम की उपयोगिता से हम सभी भली-भाँति परिचित हैं। व्यायाम जहाँ व्यक्ति में शक्ति एवं स्फूर्ति का संचार करता है, वहीं व्यायाम की अति, मृत्यु की सूचक हो सकती है। कारण सरल है—उच्च ज्वर से पीड़ित उस व्यक्ति में जो मरणासन्न है, उपापचय की दर सामान्य से सौ प्रतिशत अधिक हो जाती है जबकि मॅराथन दौड़ के समय शरीर की उपापचय क्रियाएं सामान्य से 2000 प्रतिशत अधिक तीव्रता से होती हैं।

मांसपेशियों को साधकर व्यायाम व खेलों का आनन्द प्राप्त करना अत्यन्त पेचीदा एवं श्रमयुक्त है। मांसपेशी की शक्ति सामान्यतया इसके आकार से आँकी जाती है। जो खिलाड़ी व्यायाम प्रशिक्षण द्वारा मांसपेशी वर्द्धन कर लेते हैं, उनकी मांसपेशियाँ अत्यधिक शक्तिशाली हो जाती हैं। पेशी की संकुचन क्षमता उसकी संकुचन शक्ति, संकुचन के वेग एवं प्रति मिनट आवृत्ति द्वारा निर्धारित होती है। एक सुप्रशिक्षित खिलाड़ी जिसकी सभी मांसपेशियां मिलकर कार्य करें निम्न क्रम में क्षमता अर्जित कर सकता है—

प्रथम 10-15 सेकण्ड	7000 किग्रा॰ मीटर प्रति मिनट
अगला 1 मिनट	4000 किग्रा॰ मीटर प्रति मिनट
अगला आधा घंटा	1700 किग्रा॰ मीटर प्रति मिनट

अत: यह स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति बहुत छोटी समयावधि तक ही उत्कृष्ट क्षमता का आवेग पाने में सक्षम है जैसे 100 मीटर डैश में जो पहले 10 सेकण्ड के भीतर पूरी की जा सके, जबकि लम्बी समयावधि की दौड़ में उत्कृष्ट क्षमता का आवेग इसका एक चौथाई रह जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि खिलाड़ी का प्रदर्शन प्रारम्भिक काल में अगले आधे घंटे का चार गुना होगा। तीव्र क्रियाशीलता के क्षणों में मांसपेशी की ताकत को खिलाड़ी के प्रदर्शन में बदलने की तासीर, धीमी किन्तु निरन्तर क्रियाशीलता के क्षणों में प्रदर्शन की तासीर से कम होती है। इसलिए 100 मीटर डैश में धावक का वेग 30 मीटर दौड़ में धावक के वेग का पौने दो गुना होता है।

मांसपेशियों की सहनशीलता भी प्रदर्शन को निधारित करती है। मांसपेशियों की सहनशीलता उसके पोषण पर निर्भर करती है, जो व्यायाम से पूर्व मांसपेशियों में संचित ग्लाइकोजन द्वारा प्रदान किया जाता है। जो खिलाड़ी उच्च कार्बोहाइड्रेट युक्त भोजन लेते हैं उनकी मांसपेशियों में उच्च वसायुक्त अथवा मिश्रित भोजी खिलाड़ियों की अपेक्षा अधिक ग्लाइकोजन होता है। मॅराथन धावक की सहनशीलता का आकलन उसके दौड़ में बने रहने के समय द्वारा किया जा सकता है—

---

45 प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर-251002 (उ०प्र०)

उच्चकार्बोहाइड्रेट्स भोजी	240 मिनट
मिश्रित भोजी	120 मिनट
उच्चवसायुक्त भोजी	85 मिनट

केवल कार्बोहाइड्रेट्स ही पेशियों को ऊर्जा प्रदान नहीं करते, वसा का बड़ा भाग वसा अम्लों व एसीटो-एसिटिक एसिड के रूप में तथा प्रोटीन अमीनोअम्ल के रूप में पेशियों को पोषण देते हैं। 2 से 2.5 प्रतिशत सान्द्रता वाला ग्लूकोज पेय, रक्त के माध्यम से, मांसपेशियों को ऊर्जास्वित करता है। यही कारण है कि खिलाड़ी प्रदर्शन के दौरान बहुधा ग्लूकोज पेय लेते हैं।

मांसपेशी का मूल आकार आनुवंशिक कारणों व टेस्टोस्टीरोन (नर हारमोन) के स्तर पर निर्भर करता है। टेस्टोस्टीरोन स्त्रियों की तुलना में पुरुषों की बढ़ी हुई पेशियों के लिए उत्तरदायी होता है। 'प्रशिक्षण द्वारा 30-60 प्रतिशत तक पेशीवर्द्धन किया जा सकता हैं। यह वृद्धि पेशी तन्तुओं की त्रिज्या बढ़ने के परिणामस्वरूप होती है। वर्द्धित पेशी के भीतर निम्न विशेषताएं परिलक्षित होती हैं—

1. मायोफाइब्रिल्स की बढ़ी हुई संख्या,
2. माइटोकॉन्ड्रिया (जहाँ भोजन को ऊर्जा में परिवर्तित किया जाता है) का बढ़ा हुआ आकार व संख्या,
3. संचित ग्लाइकोजन में 100 प्रतिशत वृद्धि, और
4. संचित ट्राइग्लिसराइड्स (वसा) में 75 से 100 प्रतिशत वृद्धि

साथ ही ऑक्सीडेटिव उपापचय तन्त्र के लिए आवश्यक एन्जाइम भी बढ़ जाते हैं। इससे अधिकतम ऑक्सीकरण दर 45 प्रतिशत तक बढ़ जाती है। स्प्रिंट खिलाड़ियों में श्वसन क्षमता का विशेष महत्व नहीं है लेकिन लम्बी समयावधि के प्रदर्शन को श्वसन क्षमता अत्यधिक प्रभावित करती है। विराम के क्षणों में एक युवा वयस्क में ऑक्सीजन की खपत 250 मिलीलीटर प्रति मिनट होती है। विराम के समय फुसफुस केशिकाओं में रक्त-प्रवाह अत्यन्त धीमा होता है। व्यायाम के क्षणों में फेफड़ों से रक्त तीव्र वेग से केशिकाओं में प्रविष्ट होता है और उन्हें अधिकतम सीमा तक स्फीत कर देता है। स्फीत केशिकाएं ऑक्सीजन के प्रसरण के लिए अधिक सतह क्षेत्रफल प्रदान करने की क्रिया में तेजी लाती है। ऑक्सीजन की बढ़ी हुई खपत से धमनियों व शिराओं में क्रमश: ऑक्सीजन व कार्बन डाइऑक्साइड का दबाव अप्रभावित रहता है। यह श्वसन तन्त्र की पर्याप्त वायु प्रदान करने की उत्कृष्ट क्षमता का एक नमूना है। वास्तव में श्वसन क्रिया न्यूरोजेनिक उद्दीपन से त्वरित होती है। मस्तिष्क से संप्रेषित जो स्नायु संकेत मांसपेशियों में व्यायाम के आरम्भ के लिए उत्तरदायी होते हैं, वही संकेत श्वसन तन्त्र को उद्दीपित करते हैं। ऐसा समझा जाता है कि संकुचित पेशियों व गतिमान जोड़ों के कुछ संवदेन संकेत भी श्वसन तन्त्र को उद्दीपित करते हैं। इस प्रकार श्वसन का स्नायु उद्दीपन फेफड़ों में पर्याप्त वायु का आदान बनाये रखता है।

पेशीवर्द्धन के फलस्वरूप हृदय के कक्षों का आकार सामान्य से लगभग 40 प्रतिशत तक बढ़ जाता है जो अधिक रक्त फैलने में सहायक होता है। व्यायाम के समय हृदयगति 50 से बढ़कर 185 धड़कन प्रति मिनट तक हो

जाती है। बढ़ी हुई हृदयगति हृदय को अतिरिक्त क्षमता प्रदान करती है। अत्यधिक तनावपूर्ण व्यायाम के दौरान मांसपेशियों में रक्त प्रवाह 25 गुना बढ़ सकता है।

व्यायाम के समय पोषक पदार्थों से प्राप्त ऊर्जा का केवल 20-25 प्रतिशत के कार्य में परिवर्तित होता है। शेष ऊर्जा अन्तराकोशीय रासायनिक क्रिया द्वारा ताप में बदल जाती है। पेशियों के कार्य में व्यय 20-25 प्रतिशत ऊर्जा का छोटा अंश ही प्रयुक्त होता है, शेष ताप में बदल जाता है।

व्यायाम से जुड़ी हुई अनेक दुर्घटनाएँ शरीर की प्रदर्शन क्षमता पर विपरीत प्रभाव डालती हैं। कभी-कभी संकुचित पेशी को फैलाने के दौरान अपर्याप्त बल पेशी को भीतर ही भीतर फट जाने का कारण बनता है। संकोचन प्रक्रिया पेशी के रक्त प्रवाह को अस्थायी रूप से घटा देती है। संकुचित पेशी अन्तरापेशीय रक्त वाहिनियों को संपीड़ित करती है तथा ऑक्सीजन व पोषक पदार्थों की कमी से मांसपेशी की थकान पैदा होती। लम्बी समयावधि के प्रदर्शन के दौरान गर्म व आर्द्र दशाओं में खिलाड़ी 5 से 10 पाउण्ड वजन खो देते हैं। अनिवार्यतः यह भार में कमी अतिरिक्त पसीने के कारण होती है। भार में केवल 3 प्रतिशत की कमी प्रदर्शन को हानि पहुँचाती है। 5 से 10 प्रतिशत कमी काफी गंभीर व चिन्ताजनक हो जाती है। पसीने में एक बड़ा अंश नमक का होता है। इसलिए गर्म व आर्द्र दिनों में खिलाड़ी नमक की गोलियों का सेवन करते हैं। हाल ही में रेगिस्तान में कड़े व्यायाम के दौरान सैनिकों में पोटेशियम की कमी हो जाने की शिकायतें पायीं गयीं। आजकल फलों के रस के रूप में पोटेशियम युक्त पेय भी खिलाड़ियों को दिये जाते हैं।

पिछले कुछ सालों से खिलाड़ियों द्वारा शक्तिवर्द्धक दवाओं के प्रयोग ने नयी समस्या को जन्म दिया है। जो खिलाड़ी प्रदर्शन के पहले इन दवाओं का सेवन करते हैं, उन्हें प्रतियोगिता के लिए अयोग्य घोषित कर दिया जाता है। इस प्रकार अच्छे खिलाड़ियों की बेहतर प्रदर्शन की लालसा उनके भविष्य व कैरियर पर प्रश्नचिन्ह लगाती है। एण्ड्रोजन का प्रयोग कुछ परिस्थितियों में बेहतर प्रदर्शन को बढ़ावा दे सकता है लेकिन शरीर की अन्य प्रक्रियाओं पर इनका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अन्य दवाएँ जैसे कैफीन, कोकीन व एम्फीटमीन्स शक्तिवर्द्धक दवाओं के रूप में ली जाती हैं। इनका स्पष्ट प्रभाव अभी प्रयोगों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सका है।

व्यायाम स्वास्थ्य का आधार है। खिलाड़ियों के अतिरिक्त यदि अन्य आम व्यक्ति भी व्यायाम को अपनी दिनचर्या में शामिल कर लें तो स्नायु-दौर्बल्य, जोड़ों का दर्द, रीढ़ की हड्डी का दर्द इत्यादि अनेक कष्टदायी रोगों को दूर रखा जा सकता है। मन व शरीर का गहन सम्बन्ध है। कहा भी गया है कि स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का वास होता है।

●●

विज्ञान को जनता के निकट लाने का एक सार्थक प्रयास

विजय जी

स्वास्थ्य, पर्यावरण, साक्षरता, व्यवहारिक तकनीकी, अंधविश्वास के खिलाफ वातावरण एवं समाज में वैज्ञानिक सोच पैदा करने के लिये पूरे देश में इस समय 'भारत जन ज्ञान विज्ञान जत्था-92 (भाजज्ञाविज-92) नामक जनांदोलन चलाया जा रहा है। राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिक संचार परिषद् तथा अनेक स्वयंसेवी संगठनों के माध्यम से चलाये जा रहे इस आंदोलन में देश के 450 जिलों के करीब 50,000 गाँवों में रहने वाली करीब 20 करोड़ जनता से सम्पर्क की योजना है। बापू के जन्म दिवस 2 अक्टूबर से करीब 30,000 कार्यकर्ता अपने-अपने क्षेत्र में निकलकर लोक विधाओं एवं इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों द्वारा लोगों को शिक्षित करने का काम कर रहे हैं। प्रथम चरण में यह कार्यक्रम 21 नवम्बर तक चलाया जायेगा। कार्यक्रम का दूसरा चरण 22 नवम्बर 92 से 28 फरवरी 93 तक चलेगा।

कहने को तो आजादी के बाद भारत ने विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में बड़ी प्रगति की है। आजादी के समय तक देश में जहां सुई तक नहीं बनती थी वहीं अब परमाणु विखण्डन, अंतरिक्ष विज्ञान एवं सैन्य उपकरणों के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित कर रहे हैं। यही नहीं, वैज्ञानिकों और तकनीशियनों की संख्या की दृष्टि से हम दुनिया में तीसरे नम्बर के सबसे बड़े देश के निवासी हैं। इन सबके बावजूद यह भी सच है कि दुनिया की सबसे बड़ी निरक्षर आबादी हमारे ही देश में है। हमारे देश के कुल गाँवों के आधे से अधिक में आज भी शुद्ध पेयजल का प्रयोग नहीं हो रहा है। देश की 45 करोड़ से अधिक आबादी आज भी गरीबी रेखा के नीचे भुखमरी, अज्ञानता, अंधविश्वास एवं निराशा के माहौल में जिंदगी बिता रही है।

याने भारत ऐसा देश है जहाँ दो परस्पर विरोधी यथार्थ एक साथ चल रहे हैं। एक तरफ विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र का शिखर दूसरी तरफ अज्ञानता, अंधविश्वास आदि की गहरी खाई। इस खाई को पाटने के लिये लगातार प्रयास किये जाते रहे हैं। अनेक योजनाओं में अरबों-खरबों रुपये फूंके जा चुके हैं लेकिन स्थिति में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हो रहे हैं।

इस सच्चाई को सत्तर के दशक से देश के बुद्धिजीवियों ने गंभीरता से लेना शुरू किया। अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिकों, तकनीशियनों एवं चिकित्सकों ने जनता को शिक्षित करने एवं जनसामान्य तक विज्ञान को पहुँचाने में अलग-अलग तरीकों से रुचि भी दिखायी। लेकिन फिर भी दूर-दूर तक किसी उल्लेखनीय सफलता की गुंजाइश नहीं दिख रही थी। इसी बीच लोगों का ध्यान केरल की जानी मानी संस्था "केरल शास्त्र साहित्य परिषद्' की ओर

घूरपुर, इलाहाबाद-211003 (उ० प्र०)

गया । इस परिषद् को विश्वव्यापी ख्याति तब मिली थी जब परिषद् की पहल पर पूरे केरल में 'साइलेंट वेली बचाओ अभियान' चलाया गया था । ज्ञातव्य है कि 1970 के दशक में केरल राज्य बिजली बोर्ड ने साइलेंट वेली के वर्षा वनों को उजाड़ कर एक विशाल पनबिजली परियोजना बनाई थी । परिषद् ने इस परियोजना के खिलाफ पूरे केरल राज्य में जन-जागरण किया था और लोगों को बताया कि साइलेंट वेली के वन दुनिया के प्राचीनतम् वनों में एक हैं । यहाँ जन्तुओं और पौधों की ऐसी अनेक किस्में पायी जाती हैं जो दुनिया में और कहीं नहीं मिलती । आंदोलन के दबाव का ही असर रहा है कि बाद में केन्द्र सरकार ने योजना को रद्द कर दिया और साइलेंट वेली को अभयारण्य घोषित कर दिया गया ।

केरल के 'केरल शास्त्र साहित्य परिषद्' को राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति यद्यपि साइलेंट वेली आन्दोलन के बाद मिली लेकिन विज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने वाली यह संस्था दक्षिण भारत में काफी पहले से ही मशहूर हो चुकी थी । यह संभवत: भारत की पहली संस्था है जिसने विज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने के लिये जनान्दोलन छेड़ा । इस संस्था की सफलता का राज इसके कार्य करने की पद्धति में है । आमतौर पर वैज्ञानिक विचार गोष्ठियों एवं चुने हुए व्यक्ति समूहों तक वैज्ञानिक कार्यक्रम प्रस्तुत करके विज्ञान और तकनीक का प्रचार-प्रसार किया जाता रहा है । लेकिन केरल शास्त्र साहित्य परिषद् ने विज्ञान को गाँवों तक पहुँचाने के लिये विज्ञान जत्थों का आयोजन किया । जब लोगों को उनके यहाँ उन्हीं की भाषा में विज्ञान का संदेश दिया गया तो उसका असर भी बहुत अच्छा हुआ । आश्चर्य नहीं कि इन्हीं सब गतिविधियों के फलस्वरूप ही केरल न केवल भारत का सर्वाधिक साक्षर प्रदेश है वरन् यहाँ अंधविश्वास, कुरीतियां, दहेज एवं नारी-उत्पीड़न भी भारत में सबसे कम है ।

केरल शास्त्र साहित्य परिषद् की सफलता से प्रभावित होकर राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद् तथा कई स्वैच्छिक संगठनों ने मिलकर 'भारत जन विज्ञान जत्था-87' की योजना बनाई । इस योजना के पूर्व भोपाल गैस त्रासदी की घटना घट चुकी थी जो अपने देश ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा का विषय थी । विज्ञान जत्था-87 में अक्टूबर 87 से देश के पांच कोनों अगरतला, इंफाल, कन्या कुमारी, श्रीनगर और बम्बई से यात्राएँ शुरू की गयीं । सैकड़ों गांवों, कस्बों और शहरों से होते हुए विज्ञान जत्था के सभी यात्री 7 नवंबर 1987 को भोपाल पहुँचे । उसी दिन वहाँ सायं पांच बजे करीब 10,000 विज्ञान जत्था कार्यकर्ताओं ने यूनियन कार्बाइड प्रांगण में शपथ ली कि 'भोपाल जैसा विज्ञान का दुरुपयोग फिर कभी नहीं होने देंगे ।'

राष्ट्रीय स्तर पर दूसरा महत्वपूर्ण कार्यक्रम 1990 में लिया गया । मानव संसाधन मंत्रालय एवं आल इंडिया साइंस नेटवर्क के सहयोग से राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के तहत यह योजना बनाई गई थी । इस अभियान को 'ज्ञान विज्ञान जथा-90' नाम दिया गया । ये जत्थे 2 अक्टूबर 1990 से 7 नवम्बर 1990 तक चले जिसमें देश के लगभग आधे जिलों के 37000 गाँवों-कस्बों में 'पढ़ना लिखना सीखें' संदेश पहुँचाया गया । जत्थे की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उसने अनपढ़ों में साक्षरता की भूख पैदा की । इस अभियान के बाद ही विभिन्न राज्यों के करीब 100 जिले पूर्ण साक्षर घोषित किये गये । इनमें अधिकांश जिले केरल, पांडिचेरी तथा प० बंगाल के थे ।

इस वर्ष का 'भारत जन ज्ञान विज्ञान जत्था-92' (भा ज ज्ञा वि ज-92) विज्ञान के लोकप्रियकरण का दुनिया का सबसे बड़ा अभियान है । भारत सरकार के विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद् तथा स्वैच्छिक संगठनों के संयुक्त तत्वावधान में चलाये जा रहे इस अभियान के लिये कुल छ: विषय लिये गये हैं । (1) स्वास्थ्य, पोषण एवं

स्वच्छता, (2) पानी-स्वच्छ पेय जल, (3) पर्यावरण, (4) अंधविश्वास, रुढ़िवादिता एवं वैज्ञानिक सोच, (5) उपयुक्त एवं व्यावहारिक तकनीकी आवास, लघुउद्योग एवं कृषि हेतु तथा (6) साक्षरता। स्थानीय समस्याओं, मुद्दों और आवश्यकताओं के आधार पर राज्य एवं जनपदों द्वारा मूल विषयों की प्राथमिकताएँ तय होंगी। इस व्यापक अभियान को पूरा करने के लिये छः माह पूर्व से ही राष्ट्रीय, प्रान्तीय तथा जिले स्तर पर सैकड़ों कार्यशालाओं का आयोजन किया जा चुका है। इन कार्यशालाओं में करीब 30 हजार जत्था कार्यकर्ताओं को गीत, नाटक, कठपुतली, चमत्कारों का पर्दाफाश, स्लाइड, पोस्टर, वीडियो आदि के माध्यम से उपरोक्त विषयों का प्रशिक्षण दिया गया। इलाहाबाद के ग्रामीण क्षेत्रों में विज्ञान जत्थे के कुछ कार्यक्रमों को लेखक के स्वयं देखा। ग्रामीणों ने इन कार्यक्रमों की खूब प्रशंसा की है। खासकर कठपुतली कला द्वारा वृक्षारोपण आदि की शिक्षा किसानों के दिल को छू गयी। इसी तरह विद्यालयों में जत्थे द्वारा चमत्कारों की वैज्ञानिक व्याख्या को छात्रों ने बड़े कौतूहल से देखा। इस तरह के अभियान आगे भी चलते रहने चाहिए।

■ ■

पैकेजिंग अधिनियम : उपभोक्ता संरक्षण

श्रीमती भूपिन्दर कौर संधु

यह उतनी पुरानी बात नहीं, जब उपभोक्ता अपनी संवेदन-शक्ति का प्रयोग करके वस्तुओं की परख करके अपनी मनपसंद चीजें खरीदता था। उसे उस वस्तु को छूने, सूंघने, देखने, यहाँ तक कि कभी-कभी चखने का भी अवसर मिलता था। परन्तु आजकल खाद्य उत्पाद तरह-तरह के आकर्षक बंद पैकेटों में मिलने लगे हैं। पैकेजिंग की सुविधा के विकास के साथ, धीरे-धीरे पैकेजिक युग प्रारम्भ हुआ। आज उत्पादों और उपभोक्ताओं की संख्या इतनी बढ़ गई है कि बिक्रेता को अलग-अलग मापों में तौलना और उपभोक्ताओं की उत्पादन के प्रति उत्सुकता का जवाब देना उस के बस के बाहर हो गया है। पैंकेजिंग से सुविधा तथा मनहरण के अलावा खाद्य-परिरक्षण एवं भंडारण-क्षमता भी बढ़ती है।

खाद्य पैकेजिंग के लिए कठोर धातु के डिब्बे, ड्रम, लचीले एल्यूमिनियम, काँच के जार, बोतलें, विभिन्न किस्म की प्लास्टिक की थैलियां, कार्ड बोर्ड के डिब्बे इत्यादि इस्तेमाल किए जाते हैं। उपभोक्ता संरक्षण कानून के अंतर्गत् उपभोक्ताओं की सुविधा के लिए कुछ सूचनाएँ पैकेट पर लिखनी आवश्यक हो गई हैं। लिखित जानकारी मौखिक जानकारी की उपेक्षा अधिक प्रमाणिक समझी जाती है। इन सूचनाओं के आधार पर उपभोक्ता बाजार से अपनी पसंद,सुविधा और आर्थिक क्षमता के आधार पर उत्पाद चुन सकता है। भारतीय उपभोक्ता को अपनी सुरक्षा के लिए जानकारी प्राप्त करने का पूरा संवैधानिक अधिकार है। एक आदर्श लेबल वही है जो उपभोक्ता को क्रय और उपयोग सम्बंधी पूरी-पूरी जानकारी के साथ-साथ उत्पाद विशेष की प्रकृति, गुणवत्ता, मात्रा एवं मूल्य की भी जानकारी दे। यह जानकारी सरल और सुपाठ्य शब्दों में होनी चाहिए।

केन्द्रीय खाद्य प्रौद्योगिक अनुसंधान संस्थान, मैसूर-570013

परन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। यह जरूरी नहीं है कि जो भी जानकारी लेबल पर दी गई है वह सत्य है। निर्माता अपनी बिक्री बढ़ाने और अधिक लाभ कमाने के लिए शब्दों में हेरफेर कर अधूरी और अस्पष्ट जानकारी देते हैं और आकर्शक दावे करके उपभोक्ता को दिग्भ्रमित करते हैं।

उपभोक्ता को दिग्भ्रमण से बचाने के लिए सरकार ने कुछ अधिनियम और आदेशों को मान्यता दी है। जिन्होंने लेबल लगाने के अपने-अपने नियम बनाये हैं, उन खाद्य-निर्माताओं के लिए इनका पालन करना आवश्यक एवं अनिवार्य है। यदि वे इन नियमों का अनुसरण नहीं करते तो उन्हें अपराधी करार दिया जाता है और अपराध की गंभीरता के अनुरूप सजा निर्धारित की जाती है।

सरकार ने मुख्य पांच अधिनियम और आदेशों को स्वीकृति प्रदान की है—

1. भार एवं माप मानदंड अधिनियम

स्वामा (स्टैंडर्ड ऑव वेट एंड मेजरमेंट)

1976 और 1977 में संवेष्टित खाद्य पदार्थों को भी इस अधिनियम में शामिल किया गया है। इस नियम में खाद्य पदार्थ की गुणवत्ता और मूल्यों पर ज्यादा जोर दिया गया है। स्वामा ने पैक का साइज भी निर्धारित किया है। निर्माता इस से कम या ज्यादा पैक कर ही नहीं सकते। अर्थात् मनमर्जी की मात्रा के पैक बनाने पर पाबंदी लग गई है। उपभोक्ता आसानी से दूसरे ब्रांड के उत्पादों की गुणवत्ता और मूल्य की तुलना करके, अपनी पसंद का उत्पाद खरीद सकता है। इसके अंतर्गत् बहुत से उत्पादों को शामिल किया गया है।

स्वामा के अंतर्गत खुदरा बिक्री होने वाले उत्पादों पर कुछ जरूरी सूचनाएँ जैसे उत्पाद का प्रचलित नाम, प्रचलित मानक इकाइयों में मात्रा, खुदरा मूल्य, निर्माण का माह एवं वर्ष तथा निर्माता का नाम जरूर होना चाहिए। एक किलो से कम मात्रा डेसीग्राम में नहीं बल्कि ग्रामों में होनी चाहिए। गुलाबजामुन जैसे तैयार मिक्स के पैकेट पर, उससे बनने वाले कुल गुलाबजामुनों की संख्या एवं प्रत्येक गुलाबजामुन का वजन घोषित होना चाहिए। सान्द्र पेय हो तो उसे पतला करने का अनुपात, यदि निर्जलित उत्पाद हो तो पुनर्जलन का अनुपात जरूर होना चाहिए। कोई भी घोषणा बढ़ा-चढ़ा कर उपभोक्ता को दिग्भ्रमित करने वाली नहीं होनी चाहिए।

उत्पाद का विक्रय मूल्य पहले टैक्स रहित दिया जाता था, पर हाल ही में सरकार ने विक्रय टैक्स सहित घोषित करने के लिए नियमों में संशोधन किया है। इससे पहले विक्रेता मनमाना टैक्स लगाकर भोली-भाली जनता को लूटते थे। स्वामा ने सूचनाओं की घोषणा के लिए प्रिंसिपल डिस्प्ले पैनल (पी डी पी) पैकेट के साइज के आधार पर निर्धारित किया है। पी डी पी पैकेट के आधार के समानान्तर होना चाहिए। इसके अतिरिक्त सारी घोषणाएँ सुस्पष्ट, सुनिश्चित, सुलभ, सुपाठ्य और असंदिग्ध होनी चाहिए। यदि वस्तु 20 ग्राम या उससे कम वजन का हो तो उस पर स्वामा नियम लागू नहीं होता है।

स्वामा के लेबल लगाने के नियमों का उल्लंघन करने पर 5000/- रुपयों का दण्ड भरना होता है। दूसरे या तीसरे बार अपराध करने पर 5 साल तक की सजा भी हो सकती है।

11. खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम

(प्रवेन्शन ऑव फूड एडल्ट्रेशन एक्ट)

उपभोक्ता के स्वास्थ्य और सुरक्षा के लिए यह अधिनियम बनाया गया है। इसका लेबल लगाने का नियम बहुत ही विस्तृत और लगभग सारे खाद्य पदार्थों पर लागू होता है। इस अधिनियम के अन्तर्गत लेबल पर उत्पाद सम्बंधी सूचनाओं के अलावा, निर्माण का माह, वर्ष, बैच कोड नम्बर, निर्माता का पता आदि की जानकारी भी होनी चाहिए।

मिलाई गई सामग्रियों की सूची भार के उतरते क्रम में लिखी होनी चाहिए। केरामल के सिवा कोई भी रंग डालने पर "अनुमति प्राप्त रंग" जरूर लिखा होना चाहिए। अतिरिक्त प्राकृतिक सुगंध या कृत्रिम सुगंध मिलाने पर, उस उत्पाद का प्रचलित नाम जरूर लिखा होना चाहिए। अतिरिक्त सुगंध मिलाने पर "अतिरिक्त सुगंध युक्त" अवश्य लिखा होना चाहिए। कृत्रिम उत्पाद होने पर "कृत्रिम" शब्द जरूर अंकित होना चाहिए तथा किसी भी प्राकृतिक फल का फोटो नहीं होना चाहिए। यदि उत्पाद के पौष्टिक होने का दावा किया जाता है, तो पौष्टिक तत्व तथा उनकी मात्रा का विवरण उतरते क्रम में घोषित किया जाना चाहिए। डॉक्टर द्वारा सिफारिश नहीं लिखा होना चाहिए। यदि सोडियम ग्लुटामेट या अजीनोमोटो डाला गया है तो "बारह महीनों से कम आयु वाले बच्चों के लिए वर्जित" बाक्स में लिखा होना चाहिए। अक्षरों और बाक्स की रेखा के बीच 1.5 मि० मी० जगह छोड़नी चाहिए। लेबल 25 वर्ग से० मी० से भी छोटा हो तो भी टाइप साइज /एक मि०मी० से कम नहीं होना चाहिए। दूध और शीतल पेयों की बोतलें, जिन्हें वापस करना हो तो उन पर निर्माण का माह और वर्ष लिखना जरूरी नहीं है। किसी भी स्थिति में पैकेट पर दी गई जानकारी असत्य या भ्रम में डालने वाली नहीं होनी चाहिए।

इन नियमों का उल्लंघन करने पर अपराध की गम्भीरता को देखते हुए तीन माह से तीन साल तक की सजा जुर्माना के साथ या रहित हो सकती है। निम्नतम जुर्माना 500/- रुपयों से असीमित हो सकता है (फूड प्रोडक्टस आर्डर)।

111. फल उत्पाद आदेश

(प्रोडक्ट्स ऑर्डर)

इस आदेश के अंतर्गत फल और तरकारी उत्पाद, कृत्रिम पेय, शरबत और सिरका आते हैं। इस आदेश का उद्देश्य उत्पादों की गुणवत्ता और स्वच्छता पर नजर रखना है। इन पर जो भी लेबल लगाया जाये, उसकी सम्बन्धित अधिकारी से स्वीकृति लेना जरूरी नहीं है तथा प्रदत्त लाइसेंस नम्बर अंकित करना चाहिए। यदि उत्पाद बोतल में पैक है तो लाईसेंस नम्बर इस तरह लिखा होना चाहिए कि इसे नष्ट किए बिना बोतल खोली ही न की जा सके। निर्माता की पहचान छाप भी बोतल के ढक्कन या गर्दन पर होनी चाहिए। अन्य नियमों की तरह इस में भी कोई सूचना उपभोक्ता को दिग्भ्रमित करने वाली नहीं होनी चाहिए। यदि कृत्रिम उत्पाद हो तो उत्पाद के नाम के बराबर के अक्षरों में "कृत्रिम" घोषित किया जाना चाहिए।

IV. गोश्त खाद्य उत्पाद आदेश

(1973 मीट फूड प्रोडक्ट्स ऑर्डर)

यह आदेश गोश्त उत्पादों को लाइसेंस प्रदान करता है तथा लेबल पर घोषित की जाने वाली सूचनाओं का नियमीकरण करता है। घोषित जानकारी लाइसेंस अधिकारी द्वारा स्वीकृत होनी चाहिए। लेबल पर निर्माता की श्रेणी, उत्पाद का नाम, उसका प्रचलित नाम, भरी गई सही मात्रा, यदि कोई परिरक्षा या रंग डाला गया है तो वह भी घोषित होना चाहिए। कृत्रिम सुगंध इस्तेमाल करने पर, बड़े-बड़े अक्षरों में "कृत्रिम सुगंध युक्त" लिखा होना चाहिए। उपभोक्ता को भ्रमित करने वाली सूचना, तसवीर या डिजाइन नहीं होना चाहिए।

V. एगमार्क

(एग्रीकल्चरल मार्केटिंग प्रोड्यूस ऑर्डर)

कुछ कृषि उत्पाद जैसे गिरियाँ, घी, मक्खन, शहद, दलहने, मसाले और तेल इत्यादि को एगमार्क का प्रमाणीकरण लेने की आवश्यकता होती है। इस में पैकेजिंग के लिए इस्तेमाल की जाने वाली सामग्री तथा लेबल पर घोषित की जाने वाली जानकारियों का नियमीकरण किया गया है।

1986-87 में बाजार में 201 पैकेटों का अध्ययन करने पर मालूम हुआ कि सिर्फ दो पैकेटों ने लेबल लगाने के नियमों का पूरी तरह अनुपालन किया है। इन सब कानून के होते हुए ऐसी स्थिति के होने से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि निर्माता धन लाभ के लिए उपभोक्ता को दिग्भ्रमित कर रहा है। उपभोक्ता को जागृत करने के लिए उन्हें अपने अधिकारों के प्रति अवगत कराना होगा। इसके साथ-साथ सरकार को भी अपने कानूनों में संशोधन करने की ओर ध्यान देना चाहिए। लेबल में घोषित की जानेवाली सूचनाओं के लिए बहुत सी एजेंसियाँ होने के कारण निर्माता और उपभोक्ता दोनों ही उसे पूरी तरह समझने में असमर्थ होते हैं। उन्हें यही समझ में नहीं आता कि किस नियम का किस तरह अनुसरण करें। अमेरिका में खाद्य सम्बन्धी सारे कानून खाद्य और ओषधि प्रशासन कानून के अंतर्गत आते हैं। भारत में भी सारे नियमों का एकीकरण करके एक झंडे के नीचे लाना अति आवश्यक हो गया है। दूसरी बात इसे सख्ती से लागू करना होगा। उपभोक्ता फोरम भी उपभोक्ता सुरक्षा के लिए सामने आयें, तभी लेबल के नियमों को सफलतापूर्वक लागू किया जा सकेगा।

●●

अतिचालकता : क्या, क्यों, कैसे, कब व अब

मुदित चन्द्रा

अतिचालकता विज्ञान की एक ऐसी देन है जिसमें दुनिया की कायापलट करने की पूरी क्षमता विद्यमान है। एक वर्ष पूर्व दूरदर्शन के एक धारावाहिक ने इस अतिचालकता को भारत के कोने-कोने में लोकप्रिय बना दिया। आखिर क्यों न हो ! अतिचालकता असंभव को संभव करने का दावा करती है। बिजली अत्यन्त सस्ती हो सकती है, रेलगाड़ी पटरी के ऊपर उड़ सकती है, मोटर गाड़ियों में द्रव ईंधन के बजाय बिजली का इस्तेमाल हो सकता है। आइये, देखें इसके मूल में क्या है ?

क्या है अतिचालकता ?

किसी चालक में बिजली की धारा (एम्पीयर धारा) इलेक्ट्रॉन के प्रवाह की वजह से होती है। जब किसी पदार्थ या धातु से बिजली गुजरती है तो वह पदार्थ इसका प्रतिरोध (रेसिस्टेंट) उत्पन्न करता है, परिणामस्वरूप पूरी बिजली एक किनारे से दूसरे किनारे तक नहीं पहुँच पाती और लगभग बारह (12) प्रतिशत विद्युत्-ऊर्जा उष्मा के रूप में व्यर्थ हो जाती। यह उष्मा पदार्थ को हानि भी पहुँचाती है। इसके विपरीत अतिचालक अपने अन्दर से बिजली गुजरने का बिलकुल प्रतिरोध नहीं करता और सारी विद्युत्-ऊर्जा उस छोर तक आसानी से पहुँच जाती है। इस गुण को अतिचालकता और ऐसे पदार्थों को अतिचालक कहा जाता है। अतिचालकों का एक गुण यह भी है कि वे चुंबकीय रेखाओं को अपने में से गुजरने नही देते, उन्हें प्रतिकर्षित करते हैं। इसे 'मीसतर प्रभाव' कहा जाता है।

आविष्कार

सन् 1911 में नीदरलैंड की लीडेन यूनिवर्सिटी में भौतिकी के प्रोफेसर ह्वीक ओनोस धातुओं की विद्युत्-चालक-क्षमता पर उष्मा के प्रभाव का अध्ययन कर रहे थे। एक दिन वह आश्चर्यचकित रह गये जब पारे पर प्रयोग करते समय उन्होंने देखा कि 4.2 डिग्री केल्विन तापमान पर पारे में विद्युत्-प्रतिरोध लगभग शून्य हो गया। इसके बाद सीसे में यही घटना 7 डिग्री केल्विन तापमान पर देखी गयी और सच पूछिए तो यहीं से अतिचालकता का जन्म हुआ।

अतिचालकता क्यों होती है ?

सन् 1957 में पहला सर्वमान्य सिद्धान्त सामने आया, जिसे बी सी एस सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। इसे प्रो० जान बार्डीन, डॉ० एल० कपूर, प्रो० जे० आर० श्रीधर ने प्रस्तुत किया था। जैसा कि पहले कहा गया है कि विद्युत्-धारा का प्रभाव ऋण आवेशित इलेक्ट्रॉनों के कारण होता है। सामान्य चालकों में इलेक्ट्रॉनों का प्रवाह अनियंत्रित होता है अतः ये लड़ते-भिड़ते दूसरे छोर तक पहुँचते हैं और बहुत सी ऊर्जा व्यर्थ चली जाती है।

द्वारा डॉ० अशोक कुमार गुप्ता, भवन मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद-2

जब कोई पदार्थ अतिचालक बनता है तो इलेक्ट्रॉन जोड़ों में संगठित होकर एक सीधी रेखा में चलते हैं और इनमें आपस में किसी टकराव की संभावना नहीं रहती इसलिए संपूर्ण विद्युत्-ऊर्जा दूसरे छोर तक पहुँच जाती है। इलेक्ट्रॉन के इन अनुशासित जोड़ों को 'कूपर युग्म' कहा जाता है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है, परन्तु इससे यह बताना संभव नहीं है कि कोई धातु अतिचालक बनेगा या नहीं।

अतिचालकता की एक अन्य अवधारण भी है, जिसे प्रो० ब्रायन जोसफसन ने प्रस्तुत किया है। यह इलेक्ट्रॉनिक टनलिंग' के नाम से जानी जाती है। इसके अनुसार इलेक्ट्रॉन परमाणुओं के बीच की खाली जगह में सरक कर इस प्रकार आगे बढ़ते हैं जैसे उनके लिए सुरंग बना दी गयी हो।

आधुनिक प्रयोग

यदि किसी पदार्थ को शून्य केल्विन तापमान के पास पहुँचाया जाय तो वह अतिचालकता दर्शाता है। इस तापमान को क्रान्तिक (क्रिटिकल) तापमान कहा जाता है। सारे प्रयोगों का लक्ष्य इस तापमान को सामान्य तापमान तक बढ़ाना था, और सस्ते अतिचालकों की खोज करना था। सन् 1969 में नियोबियम का एक योगिक खोजा गया जिसका क्रान्तिक तापमान 20° केल्विन था। यह पहला यौगिक था जो द्रव हाइड्रोजन के तापमान पर अतिचालकता प्रदर्शित कर रहा था।

प्रयोग चलते रहे और सन् 1986 में एक ऐसा लेख छपा जिससे विज्ञान के क्षेत्र में तहलका मच गया। यह लेख स्विटजरलैण्ड के दो वैज्ञानिकों प्रो० कार्ल मुलर और डॉ० जोहान्स बेडर्नोज ने लिखा था। इन्होंने यौगिकों के बजाय सिरेमिक वर्ग के पदार्थों में 30 डिग्री केल्विन पर अतिचालकता देखी। मजे की बात यह थी कि इनको तब तक विद्युत्रोधी या कुचालक माना जा रहा था। नवीनतम शोधों के अनुसार अब तक क्रान्तिक तापमान सौ (100) डिग्री केल्विन तक पहुँचा है, जिसका श्रेय टोक्यो विश्वविद्यालय के डॉ० असीमित्सु को है। उनके प्रयोग अभी चल रहे हैं। संतोष की बात है कि उनका कार्य प्रगतिपथ पर है।

अतिचालकता के उपयोग

संचार के तारों में विद्युत्-रोधिता के कारण अवांछित शोर होता है अतः आमतौर से सिग्नल को पकड़ पाना कठिन होता है। अतिचालक तारों के प्रयोग से यह शोर काफी हद तक कम किया जा सकता है अतः उपग्रहों से सिग्नल साफ सुनाई देगा। ग्लासगो विश्वविद्यालय में द्रव नाइट्रोजन का उपयोग करके अधिक तापमान पर अतिचालकता उत्पन्न की गयी और एम्प्लीफाइंग युक्ति बनाई गयी जो स्क्विड (SCQID—44) सुपर कंडक्टिंग क्वांटम इन्टरफेरेंस डिवाइस) नाम से विख्यात है। यह चुंबकीय क्षेत्र में होने वाले हल्के से फेरबदल को भी पहचान सकने वाला संसूचक (डिटेक्टर) है। हमारे रक्त में भी चुम्बकीय गुण हैं अतः 'स्कविड' को शिरा या धमनी के पास रखने पर रक्त-प्रवाह रर निगाह रखी जा सकती है। मस्तिष्क की भी सूक्ष्म जाँच 'स्क्विड' द्वारा संभव है। अमेरिकी वैज्ञानिक इसकी मदद से पनडुब्बी का पता लगाने वाला संसूचक तैयार कर रहे हैं। अतिचालक तार (क्वायल) में बिजली का विशाल भण्डार इक्ट्ठा किया जा सकता है। डॉ० हिआसो हायाकावा (जापान) ने हवा में उड़ने वाली रेलगाड़ी का प्रोटोटाइप तैयार कर लिया है और प्रायोगिक अवस्था में इसने 500 किलोमीटर प्रति घंटा की रफ्तार प्रदर्शित की। आशा की जाती है कि अगली शताब्दी तक कल्पनाएँ वास्तविकता में बदल जायेंगी, पर अभी भी वैज्ञानिकों को बहुत लम्बा रास्ता तय करना शेष है।

■ ■

क्या सन् 2116 में पृथ्वी नष्ट हो जायेगी ?

डॉ० रमेश दत्त शर्मा

प्राचीन काल से ही धूमकेतु कुतूहल का विषय रहे हैं। आकाश में इनका चमकना किसी महाअनिष्ट का संकेत माना जाता था। आधुनिक खगोल विज्ञान ने दुनिया के सामने इनकी पोल खोली। पर धरती और धूमकेतु का टकराव सदा प्रलयकारी माना जाता रहा। कई बार टकराव की संभावनाएं व्यक्त की गयीं, पर कभी कुछ घटा नहीं। प्रस्तुत है बाइसवीं सदी में ऐसे ही टकराव की भविष्यवाणी की पड़ताल करता आलेख।

अंततः इस पृथ्वी का अंत का दिन तय हो ही गया। यह दिन है 14 अगस्त 2116 और यह दिन तय किया है तारा विज्ञानी **डॉ० डंकन स्टील** ने। डॉ० स्टील ने पृथ्वी के अंत की यह घोषणा पिछले दिनों आस्ट्रेलिया में सिडनी में आयोजित एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में की। उनकी इस घोषणा का आधार है एक धूमकेतु जो बड़ी तेजी से पृथ्वी की ओर बढ़ता आ रहा है। 5 किलोमीटर घेरे वाले इस धूमकेतु का नाम है स्मिथ-टटल। ठोस बर्फ का यह गोला पृथ्वी से यदि टकराया तो 2 करोड़ मेगाटन शक्ति के महाविस्फोट जैसा विनाशकारी साबित होगा। विनाश-लीला इतनी भयंकर होगी कि हिरोशिमा पर गिराये गये एटम बम से 16 लाख गुनी ज्यादा। 75 से 95 प्रतिशत जनसंख्या नष्ट हो जायेगी।

यह विनाशलीला कुछ-कुछ वैसी ही होगी जैसी कि साढ़े छह करोड़ साल पहले हुई थी, जब दैत्याकार डाइनो-सौर प्राणी इस पृथ्वी पर से एक ही झटके में विलुप्त हो गये थे। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि उस समय भी कोई धूमकेतु या लघुग्रह (एस्टरोइड) इस धरती से टकराया था। यह तो बहुत पुरानी बात हुई। अब से कोई 84 साल पहले सन् 1908 में साइबेरिया में एक क्षुद्रग्रह ने करीब 1500 वर्गमील लंबे-चौड़े क्षेत्र में भयानक तबाही मचा दी थी। न्यूयार्क के आकार का पूरा क्षेत्र धराशयी हो गया था। इस विनाश को वहाँ जाकर आज भी प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

डॉ० स्टील का कहना है कि एक से दो किलोमीटर लंबी-चौड़ी कोई वस्तु पृथ्वी से टकराये तो 71 से 79 प्रतिशत आबादी को समाप्त करने के लिए काफी है। अगर महासागरों में भी गिरी तो प्रलय मचा देगी।

वास्तव में धूमकेतु क्या है ? धूम का अर्थ है—धुआं और केतु का अर्थ है—पताका। इसलिए आकाश का जो दृश्य धुएं की पताका जैसा दिखाई देता है, उसे 'धूमकेतु' नाम दिया गया। धूमकेतु को 'पुच्छल तारा' भी कहते हैं। पाश्चात्य ज्योतिष में धूमकेतु को 'कॉमेट' कहा जाता है। यह शब्द यूनानी भाष के 'कॉमिते' शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है 'लंबे बालों वाला'।

द्वारा 'सम्प्रेषण', डी-690 सरस्वती विहार, दिल्ली-110034

सौर मंडल में लाखों धूमकेतु हैं जो सूर्य की परिक्रमा करते हैं, लेकिन ये धूमकेतु मंगल और बृहस्पति ग्रहों के परिक्रमापथों तक ही सीमित हैं। लगभग तीन हजार ऐसे धूमकेतु हैं जो पृथ्वी के परिक्रमापथ में आते हैं। इनमें डेढ़ सौ धूमकेतुओं को सूचीबद्ध किया गया है और विश्व भर में पंद्रह वैज्ञानिक इनके यात्रापथ पर निगरानी रखते हैं।

धूमकेतु के तीन भाग होते हैं—नाभिक, सिर और पूँछ। धूमकेतु का अधिकांश द्रव्य इसके नाभिक में होता है। नाभिक का व्यास आधे किलोमीटर से 50 किलोमीटर तक हो सकता है। धूमकेतु के ये नाभिक बर्फ बनी गैसों तथा अन्य पदार्थों के टुकड़ों के मेल से बने होते हैं। धूमकेतु जब सूर्य के समीप पहुँचता है तो सूर्य के ताप से यह गर्म हो जाता है और इसकी बर्फीली गैसें तथा धूल के कण बाहर निकलते हैं। इससे सूर्य के सामने नाभिक की गैसें फैलकर चमकने लगती हैं और इस प्रकार धूमकेतु का सिर बनता है। धूमकेतु के इस सिर का घेरा हजारों लाखों किलोमीटर हो सकता है। सूर्य से धूमकेतु की दूरी के अनुसार यह सिर भी घटता-बढ़ता रहता है। धूमकेतु के नाभिक से निकली हुई गैसें और वायु अथवा विकिरण के दाब से बहुत दूर तक फैलती हैं। इसे ही धूमकेतु की पूँछ कहते हैं।

इस तरह के बहुत से आकाशीय पिंड अंतरिक्ष में चक्कर लगा रहे हैं। सबसे ज्यादा खतरनाक हैं धूमकेतु और लघुग्रह तथा उसके बाद उल्कापिंड। लाखों लघुग्रह मंगल और बृहस्पति के बीच की कक्षा में सूर्य के चक्कर लगा रहे हैं। इनमें से करीब 3 हजार पथभ्रष्ट होकर पृथ्वी की कक्षा में घुसपैठ करते हैं।

इस समय जिस स्मिथ-टटल नामक धूमकेतु ने चिंता पैदा की है, उसे सबसे पहले सन् 1862 में देखा गया था। हाल में पिछले सितम्बर (1992) को फिर से यह धूमकेतु नक्षत्रविज्ञानियों की दूरबीनों की जद में आया। यह प्रति सेकंड 60 किलोमीटर की रफ्तार से दौड़ता आ रहा है। इनकी गति, दिशा, पथ आदि सभी बातों पर निगाह रखी जा रही। इसके अध्ययन में सबसे अग्रणी हैं—डॉ० डंकन स्टील। उन्होंने अब तक के अध्ययनों के नतीजे जब सिडनी सम्मेलन में प्रसारित किये, तो विज्ञानियों के बीच सनसनी फैल गई। इंटरनेशनल एस्ट्रोनोमीकल यूनियन द्वारा बुलाए गए इस सम्मेलन में 15 अक्टूबर (1992) को **प्रो० ब्रिआन मार्सडेन** ने घोषणा की कि हम सब को उस धूमकेतु पर निगाह रखनी है।

वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया है कि दस लाख वर्ष के चक्र में एक बार पृथ्वी से किसी आकशीय पिंड के टकराने की आशंका होती है। किसी एक सदी में ऐसा दुर्योग घटने का अनुपात 0.01 से 0.1 प्रतिशत हो सकता है। ऊपर आकाश से तेज गति से आते 50 से 100 मीटर लंबे-चौड़े पिंड भी खतरा पैदा कर सकते हैं। इनकी विस्फोटक शक्ति भी 20 से 100 मैगाटन के परमाणु बम जितनी हो सकती है। लेकिन इनसे परमाणु-विकिरण नहीं फैलते क्योंकि असल में तो ये पत्थर या लोहे के विशाल पिंड ही हैं। सन् 1908 में साइबेरिया में तबाही मचाने वाला पिंड 60 मीटर लंबा-चौड़ा ही बताया जाता है। गनीमत हुई कि वह निर्जन स्थान पर गिरा। अगर आबादी वाली बस्ती पर गिरता तो पता नहीं जान-माल का कितना नुकसान होता।

इस समय तो हमारे सामने स्मिथ-टटल धूमकेतु का संकट खड़ा नहीं, बल्कि दौड़ रहा है। सूर्य की ओर जाते समय इन धूमकेतुओं की गति तेज होती है। विविध ग्रहों के अपने-अपने गुरुत्व और पृथ्वी का गुरुत्व, ये सभी

(शेष पृष्ठ 56 पर)

चिकित्सा

एंटीबायोटिक्स का उतरता जादू

प्रेमा राय

एंटीबायोटिक्स दवाओं का विकास जब हुआ था तब पहले-पहले उन्हें जादुई टिकिया के रूप में पहचाना जाता था। लेकिन आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में पिछले चार दशकों में एक बड़ा परिवर्तन आया। रोज नई और ज्यादा से ज्यादा ताकतवर दवाई के खोजने का एक ऐसा सिलसिला चला, जो आज भी जारी है। लेकिन अब विशेषज्ञों का मानना है कि एंटीबायोटिक्स दवाओं का दौर खत्म हो रहा है। आज दुनिया के दवा बाजार में लगभग 60 हजार प्रकार की दवाएँ बिकती हैं। पर सवाल यह है कि इनमें से कितनी दवाएँ जरूरी हैं? इसकी जाँच-पड़ताल करता आलेख।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में पिछले तीन-चार दशकों में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आया। रोज नई और ज्यादा ताकतवर दवाई के खोज का एक ऐसा सिलसिला चला, जो आज भी जारी है। ऐसी दवाइयाँ भी बाजार में आ गई, जो मरते हुए व्यक्ति को मौत के मुँह से वापस ला सकती हैं लेकिन ये उस हीरे की तरह हैं, जो खूबसूरत तो दिखता है परन्तु गलत इस्तेमाल घातक हो सकता है।

कोई दवा शरीर पर कितना असर करेगी, यह मुख्य रूप से तीन बातों पर निर्भर करता है। दवाई के अलावा उसमें देने वाले और लेने वाले अहम भूमिका निभाते हैं। आज एंटीबायोटिक्स दवाइयाँ सबसे ज्यादा उपयोग में लायी जाती हैं, यहाँ तक की इनका दुरुपयोग भी अब सबसे ज्यादा होने लगा है। जहाँ एक तरफ ये जीवनदाता हैं तो वहीं दूसरी ओर इनके दुरुपयोग से एलर्जी तथा पाचन-क्रिया की अवस्थाओं और गुर्दे आदि पर असर पड़ता है। एंटीबायोटिक्स का गलत इस्तेमाल दूसरी बीमारियों-परेशानियों को जन्म देता है।

फार्मास्युटिकल उद्योग ने दवाओं के बिक्री के लिए जो तरीका अपना रखा है उसके रहते कई बार डॉक्टर भी बिना जरूरत के एंटीबायोटिक्स लिखने के मोह में आ जाते हैं। हमारे देश में तो इनका गलत इस्तेमाल ज्यादा होता है। गरीबी, कुपोषण, अधूरी प्रसाधन सुविधाएँ और सफाई की कमी के कारण इंफेक्शन ज्यादा होने का डर रहता है।

डी–690, सरस्वती विहार, दिल्ली-110034

हमारे देश में उपभोक्ता ज्यादा सजग नहीं रहता और स्वास्थ्य के बारे में कुछ ज्यादा ही। और हमारी लापरवाही भी रोग के शुरूआत में उसका इलाज कराने से रोकती है। कई बार तो हम बिना डॉक्टर की सलाह के एंटीबायोटिक्स ले लेते हैं। अगर दो-तीन माह पहले जुकाम, सर्दी या हल्के बुखार के लिए डॉक्टर ने जो दवा दी थी, जो जुकाम-सर्दी होने पर (या परिवार के किसी अन्य सदस्य को होने पर) पुराना पर्चा उठाकर वही दवा खरीद लाते हैं। बार-बार एंटीबायोटिक्स (वह भी डॉक्टर के सलाह के बिना) दवाओं का विपरीत असर भी पड़ सकता है। सच तो यह है कि बिना डॉक्टर के सुझाए, खुद ही खरीद के खाते रहने पर ये दवाएँ नुकसान ज्यादा करती हैं।

एंटीबायोटिक्स दवाओं को बार-बार लेने पर शरीर पर उनका असर कम होता जाता है। अब तो विशेषज्ञों का कहना है कि इनका फैलाव इतना ज्यादा हो चुका है कि इनका प्रभाव शरीर पर नहीं के बराबर पड़ता है। बचपन से ही किसी न किसी बीमारी की वजह से एंटीबायोटिक्स दवाओं का इस्तेमाल धीरे-धीरे शरीर को ऐसा बना रहा है कि ये दवाएँ बेअसर होती जा रही हैं।

कुछ विशेष कीटाणु कई एंटीबायोटिक्स के प्राकृतिक प्रतिरोधक होते हैं और कई बार यह क्षमता वो हासिल कर लेते हैं। कीटाणुओं के तेजी से फैलाव के कारण कभी-कभी एंटीबायोटिक्स का असर उन लोगों पर नहीं होता जो पहले से खाते रहे हैं। टेट्रासाइक्लीन इसका एक उदाहरण है। कई बार संक्रामक रोगों को विशिष्ट एंटीबायोटिक्स से ठीक न करा पाने का परिणाम खतरनाक हो सकता है। कई देशों में एंटीबायोटिक्स का प्रतिरोध करने की शक्ति कीटाणुओं में पाई गई है। इसका परिणाम संक्रामकता का इलाज करने की हमारी क्षमता पर भी पड़ेगा।

टायफॉयड के लिए क्लोरेमफेनिकॉल एक रामबाण ओषधि समझी जाती है। यह जानते हुए भी कि इसका असर कुछ नुकसानदायक हो सकता है, इनका उपयोग किया जाता है। अगर हर संक्रमण में इसका इस्तेमाल किया जाए, तो यह अपने आप को खतरे में डालने वाली बात है।

कभी-कभी कीटाणुनाशक दवाओं का एलर्जी के कारण काफी बुरा प्रभाव पड़ता है। इसमें पेनिसिलिन की एलर्जी सर्वविदित है। भूखे पेट दवा लेने पर एलर्जी का खतरा ज्यादा रहता है। पिछले कुछ दशकों से एंटीबायोटिक्स का इस्तेमाल काफी तेजी से बढ़ा है। छोटे-से संक्रामक के लिए भी कई बार एंटीबायोटिक्स दवाएँ सुझाई जाती हैं। एक विशेष बात यह है कि इन दवाओं को आवश्यकता से कम या अधिक लेना भी इनका दुरुपयोग ही है। जब भी कीटाणुनाशक दवाओं का इस्तेमाल किया जा जाए तो उन्हें अपूर्ण मात्रा में लेने से कीटाणुओं में उनसे लड़ने की क्षमता विकसित हो जाती है और उन्हें इतना समय मिल जाता है कि वे अपने आप को उनसे लड़ने के लिए संयत कर सकें और उस रूप में अपने को ढाल सकें जिससे की उन पर यह कीटाणुनाशक दवाएँ भी असर नहीं करें।

'विश्व स्वास्थ्य संगठन' ने कई दवाओं को अनावश्यक करार दिया है। फिलहाल जिन दवाओं की विकासशील देशों के बाजारों में भरमार है, उनमें से 22 प्रतिशत तो अनावश्यक हैं। विकासशील देशों में दवाओं के बजट का काफी हिस्सा इन्हीं पर व्यय होता है। भारत में यह 25 प्रतिशत है। फार्मास्युटिकल उद्योग आज एंटीबायोटिक्स की बिक्री बढ़ाना चाहता है। उनका तो प्रयास यही रहता है कि मरीजों को दवाओं की महँगी सूची थमाई जाए।

अपने-आप, बिना डॉक्टर की सलाह के, अपने दोस्तों और रिश्तेदारों के कहने से या उनका इलाज होते देख कर एंटीबायोटिक्स का उपयोग खतरे से खाली नहीं है। अगर आप को कीटाणुनाशक दवाओं से कोई एलर्जी है तो अपने डॉक्टर को इसकी जानकारी अवश्य दें।

एंटीबायोटिक्स कुछ संक्रामक रोगों में काफी प्रभावशाली पायी जाती है। इन्हें हर बीमारी में इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिए। मामूली इंफेक्शन में तो इन्हें लेना ही नहीं चाहिए। जल्दी ही ठीक होने या सीध्र राहत पाने के लिए लोग खुद (या कुछ डॉक्टर भी) दो-तीन काफी प्रभावशाली एंटीबायोटिक्स मिला कर दे देते हैं। यह काकटेल अक्सर इस लिए उपयोग में लाई जाती है कि इससे सभी प्रकार के जीवाणु वश में आ जाएँ और बीमारी पर तुरंत काबू पा लिया जाए लेकिन ये दवाइयाँ एक साथ लेने पर कभी-कभी एक-दूसरे के विरुद्ध भी काम करती हैं। आजकल स्ट्रेप्टोमाइसिन, टेट्रासाइक्लिन और सल्फा जैसी दवाइयाँ तो खुल कर इस्तेमाल की जाती है। सल्फा तो कई तरह की भयानक एलर्जी उत्पन्न करती है। वास्तव में एंटीबायोटिक्स दवाओं के बारे में जो बात उभर कर सामने आई है वह यह है कि बिना डॉक्टर के सलाह के इन्हें न लें।

हमारे देश में स्वतंत्रता के बाद दवा उद्योग के विकास के साथ-साथ दवाओं का फैलाव बड़े पैमाने पर होने लगा। 1948 में दवा उद्योग की कुल लागत 25 करोड़ रुपये थी और दवाओं की बिक्री 10 करोड़ रुपये। 1978-85 तक ये आँकड़ें क्रमशः 775 करोड़ रुपये और 2204 करोड़ रुपये थे। एलोपैथिक दवाओं की पकड़ इतनी व्यापक है कि परम्परागत चिकित्सक भी उसका उपयोग करने लगे। एक सर्वेक्षण के अनुसार लगभग 79 प्रतिशत परम्परागत चिकित्सक एलोपैथिक दवाओं का प्रयोग करते हैं। दवाओं में से 74 प्रतिशत किस्में बगैर डॉक्टर के पर्चे, सीधी दुकानों से प्राप्त की जा सकती हैं। दुनिया के दवा बाजार में लगभग 60,000 प्रकार की दवाएँ बिकती है। कहा जाता है कि ये सभी दवाएँ मात्र 1000 मूल रसायनों से ही बनी हैं। इनमें से लगभग 30,000-45,000 दवाएँ भारत के दवा बाजार में उपलब्ध हैं। इनका उत्पादन 250 बड़े तथा करीबन 8750 छोटे उद्योग करते हैं।

सवाल यह उठता है कि आखिर इतनी सारी दवाएँ बाजार में क्यों आती हैं? 1974 में भारत सरकार ने इस सवाल का उत्तर पाने के लिए एक कमेटी गठित की, जो 'हाथी कमेटी के नाम से जानी जाती है। इस कमेटी का सुझाव था कि दवाओं के विभिन्न ब्रांड नाम खत्म करके प्रत्येक श्रेणी की दवाओं को एक ही मूल (जेनेटिक) नाम से बेचना चाहिए। परन्तु 'हाथी कमेटी' की रिपोर्ट छपे 14 साल हो चुके हैं, और अभी बाजार में 45000 दवाएँ हैं।

■ ■

रोग निरोधी टीकों की खोज

○ राजेन्द्र कुमार राय

अनेक प्रकार के जानलेवा रोगों के निरोधी टीके बनाये जा चुके हैं, फिर भी वे हमारे देश के कोने-कोने में उपलब्ध नहीं हो पाते हैं, जिसके कारण बचायी जा सकने वाली जानें चली जाती हैं। कई जानलेवा रोगों के निरोधक टीकों पर अनुसंधान कार्य पूरा हो चुका है, परन्तु वे प्रयोगशाला से बाहर नहीं निकल पाये हैं। कई निरोधक टीकों पर अनुसंधान कार्य चल रहा है। टीकों के अविष्कार के इतिहास और कुछ घातक बीमारियों के निरोध हेतु उनके विकास का संक्षिप्त परिचय।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के एक अध्ययन के अनुसार प्रतिवर्ष 30 लाख बच्चों की मौत उन रोगों से हो जाती है, जिनके टीके विकसित तो हो चुके हैं, लेकिन हर जगह आसानी से समय पर उपलब्ध नहीं हो पाते। ऐसी स्थिति से निपटने के लिए विश्व स्वास्थ्य संगठन ने वर्ष 2000 तक सब के लिए स्वास्थ्य आंदोलन चलाया है जिसका उद्देश्य विश्व के कोने-कोने तक चिकित्सा की सुविधा उपलब्ध करना और रोग-निरोधी उपायों की खोज को प्रोत्साहित करना है।

प्रकृति ने मानव शरीर तथा अन्य जीवों के शरीर में रोगों से बचाव के लिए प्रतिरक्षा व्यवस्था की है। लेकिन एक आश्चर्यजनक बात यह है कि विषाणु (वाइरस) प्रतिरक्षा व्यवस्था को अपने ही शरीर पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित करता है। शरीर की प्रतिरक्षा व्यवस्था का गड़बड़ाना स्व-उत्पन्न रोग, जैसे इंसुलिन के ऊपर आरक्षित मधुमेह तथा स्क्लेरोमा के लिए विषाणु उत्तरदायी हैं। इन सब अव्यवस्थाओं से शरीर की प्रतिरक्षा व्यवस्था भ्रमित हो जाती है और शरीर के तंतुओं तथा अजनबी भेदियों पर आक्रमण करती है। कुछ रोगों के विषाणु या परजीवी इस प्रतिरक्षण व्यवस्था को शिथिल कर शरीर में प्रविष्ट हो जाने की क्षमता रखते हैं। शरीर के ही अंदर तैयार होने वाले रसायन 'इंटरफेरान' की मदद से हमारा शरीर रोगाणुओं के आक्रमण से बचने की क्षमता रखता है, किन्तु कई कारणों से रोग प्रतिरोध की यह क्षमता प्रभावित हो जाती है।

मानव जाति बहुत लंबे समय तक विषाणुओं से परिचित न होकर भी उनके द्वारा पहुँचायी गयी हानियों से परिचित थी। तीन हजार वर्ष से भी पूर्व से उत्पन्न रोग (चेचक) का पहला सुरक्षित टीका (वैक्सीन) लगाने की दवा 18वीं शताब्दी (1798) में ब्रिटेन के एक डॉक्टर, ए. जैनर द्वारा खोजी गयी। जैनर ने विषाणु संक्रमण से बचाव के लिए 'ग्वालीन' के गो-चेचक (चेचक का लघु रूप) के दानों से द्रव्य पदार्थ लेकर एक लड़के को टीका लगाया और सिद्ध किया कि उस लड़के ने चेचक के विरुद्ध असंक्राम्यता प्राप्त कर ली थी। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्थ में विषाणुओं के अस्तित्व पर संदेह हुआ जो संक्रमण फैलाने वाले उन जीवाणुओं से भी सूक्ष्म हैं, जिन्हें माइक्रोस्कोप से देखा जा सकता है।

सम्पादक, सम्प्रेषण, डी-690 सरस्वती विहार, दिल्ली—110034

चेचक, पोलियो, खसरा तथा कई भयानक एवं साधारण बीमारियों के संक्रमण से बचाव के लिए चिकित्सा-वैज्ञानिकों ने समय-समय पर रोग-निरोधक टीके (वैक्सीन) विकसित किये हैं। ये वैक्सीन रोग विशेष के जीवाणुओं से ही निर्मित किये जाते हैं जिन्हें शरीर के अन्दर अन्तःक्षेपित (इंजेक्ट) कर दिया जाता है। शरीर में ये रोग संक्रमण से बचाव के लिए प्रतिपिण्डों (एंटीबाडी) का निर्माण करते हैं जो शरीर में रोग विषाणुओं के समय प्रवेश करते ही उन्हें मार भगाते हैं।

जैनर के टीके से लेकर अब तक अनेक प्राकृतिक एंटीजन टीके विकसित किये जा चुके हैं। ये टीके प्राकृतिक रूप से उपलब्ध जैवस्रोतों से ही तैयार किये जाते हैं। जैसे 'एंटीहेपेटाइटिस-बी' टीके के स्रोत के रूप में मानव रक्त का इस्तेमाल होना है ।

विश्व में एड्स की बढ़ती दहशत ने भी प्राकृतिक एंटीजन टीकों का विकल्प ढूंढने पर मजबूर किया है। पूरे विश्व में तहलका मचा देने वाले इस रोग के विषाणुओं का विशेष गुण एक यह है कि वह रास्ते में आने वाले कई रक्त कोशिकाओं की पूरी तरह उपेक्षा करके बड़ी तेजी के साथ प्रतिरक्षा व्यवस्था से बचते हुए 'टी' कोशिकाओं के साथ बस जाते हैं। यहीं विषाणुओं को एक अभिग्राहक भी मिल जाता है। इस अभिग्राहक का प्रोटीन आवरण पूरी तरह उनसे मेल खाता है। शरीर की प्रतिरक्षा व्यवस्था महत्त्वपूर्ण (टी) कोशिकाओं की आवश्यक संख्या से वंचित हो जाने के कारण संक्रमण से लड़ने में असमर्थ हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप बहुत से अवसरवादी रोग, जिनसे-सामान्यतः स्वास्थ्य प्रतिरक्षा व्यवस्था पहले बचाव करती थी, कमजोर शरीर पर आक्रामण कर देते हैं।

चूंकि एड्स के विषाणु रक्त के आदान-प्रदान के साथ संचरित हो सकते हैं, इसलिए हेपेटाइटिस-बी के टीके बनाने के लिए प्रयुक्त किये जा रहे रक्त में अगर एड्स या अन्य रोग के विषाणु हों, तो उनसे निर्मित टीके मानव के लिए घातक हो सकते हैं। इस कारण विश्व के कई देशों ने प्राकृतिक एंटीजन टीकों के उपयोग पर सीमित प्रतिबन्ध लगा रखा है।

कृत्रिम रूप से तैयार एंटीजन टीके 'सिंथेटिक वैक्सीन' कहलाते हैं। जैवप्रौद्योगिकी के माध्यम से वायरसों या परजीवी बैक्टीरियाई प्रोटीन की अति सूक्ष्म संरचनाओं को समझ पाना आसान हो गया है, इसलिए अब प्रोटीन की इन संरचनाओं का या मूलकों का पता लगाया जा सकता है जो प्रतिरक्षण हेतु प्रतिपिंडों का निर्माण कर सकते हैं। लगभग चालीस वर्ष पहले खोजे गये फ्रिउड्स कंप्लीट एडजुवेंट (एफ.सी.ए.) को संश्लेषित वैक्सीनों के साथ देने के लिए काफी उपयुक्त समझा जा रहा है। इस एडजुवेंट के एक मूलक 'म्यूरामिल डाइपेप्टाइड' (एम.डी.पी.) को वैज्ञानिक संश्लेषित वैक्सीनों के साथ देने के लिए सबसे उपयुक्त मान रहे हैं। सैद्धान्तिक रूप से अब तक पांव एवं मुँह के रोग, हेपेटाइटिस-बी वायरस, प्लाजमोडियम स्पोरोजोइट, स्ट्रप्टोकाक्स एम प्रोटीन आदि की संश्लेषित वैक्सीने विकसित कर ली गई हैं तथा उन्हें बनाने से संबंधित प्रयोगात्मक परीक्षण भी किये जा रहे हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार दुनिया भर में प्रतिवर्ष लगभग 25 करोड़ मलेरिया के मामले प्रकाश में आते हैं। अकेले अफ्रीका में ही दस लाख बच्चे हर साल इस रोग के कारण मौत की नींद सो जाते हैं। आज पूरे विश्व के दो अरब लोगों को मलेरिया का खतरा बना हुआ है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद पूरे विश्व में मच्छर विरोधी अभियान के तहत काफी बड़े पैमाने पर कीटनाशकों का छिड़काव किया गया। इसके काफी अच्छे परिणाम निकले। पूरे विश्व में मलेरिया व मच्छर नाम मात्र को ही रह गए। लेकिन 1970 के आते-आते मनुष्य जीती हुई बाजी हार गया और विश्वभर में मलेरिया पुनः सिर उठा कर खड़ा हो गया।

चिकित्सा वैज्ञानिकों का कहना है कि मलेरिया परजीवी की स्पोरोजोइट, मेरोजोइट, व मैगाटोसाइट, तीनों ही स्थितियां आनुवंशिक रूप से भिन्न हैं। स्पोरोजोइट और मेरोजोइट बैक्सीन विकसित करने के लिए अनुसंधान कार्य अंतिम चरण में चल रहा है। मेरोजोइट बैक्सीन का विकास स्पोरोजोइट के मुकाबले कठिन है। इसका कारण है कि मेरोजोइट बहुरूपी है। इसकी एंटीजनिक भिन्नता काफी अधिक है। वैज्ञानिक अब तक मेरोजोइट की सतही प्रोटीन के लगभग 200 रूपों की पहचान कर चुके हैं। अब इस विषय पर अनुसंधान चल रहा है कि इन 200 एंटीजनों में से टीके के लिए कौन सी प्रोटीन उपयुक्त है।

किसी भी प्रणाली से अलग किये गये इच्छित बंशाणु को जब बैक्टीरिया में प्रवेश कराया जाता है, तो बैक्टीरिया विभाजित न होने के कारण इसकी असंख्य प्रतिलिपियां (क्लोन) स्वयं तैयार हो जाती हैं और साथ में ही, एंटीजन (प्रोटीन) भी बड़ी माला में प्राप्त होते हैं। इस एंटीजन से ही मलेरिया परजीवी का बाहरी कोट तैयार होता है। इस एंटीजन का ही टीके के रूप में प्रयोग किया जाएगा। आशा है कि जल्दी ही चिकित्सा वैज्ञानिक मलेरिया के विरुद्ध एक विश्वसनीय एवं सुरक्षित टीके का आविष्कार कर लेंगे।

हमारे देश में पहली गर्भ निरोधक वैक्सीन मनुष्यों पर परीक्षण के लिए तैयार है। इंडियन इंस्टीट्यूट ऑव सांइस, बंगलौर के कुछ वैज्ञानिकों ने यह वैक्सीन तैयार की है। वैक्सीन के जहरीलेपन की जाँच लखनऊ के केन्द्रीय ड्रग रिसर्च इंस्टीट्यूट में हो चुकी है। वैक्सीन की खोज करने वाले वैज्ञानिकों के नेता डॉ० एन० आर० मुदगल का कहना है कि इससे काम भावना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, परन्तु इससे शुक्राणुओं की माला और स्तर जरूर कम होगा। वैक्सीन की जांच पहले चूहों और बंदरों पर की गयी। ऐसे टीकों के विकास को विश्व स्वास्थ्य संगठन भी प्रोत्साहित कर रहा है। ऐसे टीके विकसित भी हो चुके हैं जो प्लेसेंटा हार्मोनों, 'बी-एच पी सी' के विरुद्ध पर्याप्त माला में प्रतिपिंड बनाते हैं।

वैज्ञानिक अब कुष्ठ रोग से बचाने के लिए भी टीके बनाने के कार्य में जुटे हैं। लंदन में कुष्ठ रोग का एक टीका विकसित किया गया है जिसका परीक्षण अफ्रीका देश, मलावी की एक बस्ती के 12,000 लोगों पर किया जाना है। इस बस्ती में पिछले 20 सालों में चालीस हजार व्यक्ति इस रोग के शिकार हो चुके हैं।

अनुसंधान या खोजों की सार्थकता का तब तक कोई अर्थ नहीं है जब तक कि वह प्रयोगशाला में सीमित हो या विशिष्ट वर्ग की ही पहुँच में हो। इन खोजों को आसानी से आम जनता तक उपलब्ध कराना एवं टीकों की उपयोगिता से अवगत कराने से ही अनुसंधान का उद्देश्य सफल माना जा सकता है। तभी विश्व स्वास्थ्य संगठन एवं यूनीसेफ की वर्ष 2000 तक सबके लिए स्वास्थ्य का लक्ष्य पूरा हो सकता है।

●●

टीकाकरण : एक जन-स्वास्थ्य क्रांति

राजेन्द्र कुमार राय

वर्ष 1974 में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने विस्तृत कार्यक्रम आरंभ किया जिसके अंतर्गत डिप्थीरिया, टेटेनस, कुकर खांसी, टी.बी., खसरा और पोलियो आदि बीमारियों के विरुद्ध टीका अभियान प्रारम्भ किया गया। विभिन्न क्षेत्रों में कुछ अन्य विशिष्ट टीकों का भी उपयोग किया गया, जैसे पश्चिमी अफ्रीका में पीला ज्वर और दक्षिण-पूर्व एशिया में हेपेटाइटिस-बी के विरुद्ध।

शुरू में कुछ ही लोग चेचक, टेटेनस या पोलियो को तीसरी दुनिया में गंभीर समस्या मानते थे, लेकिन जब कार्यक्रम आरम्भ किया गया तब यह पाया गया कि ये बीमारियां मृत्यु और अपंगता का एक बड़ा कारण हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन के आकलन के अनुसार छः प्रमुख बीमारियां हैं जिनके विरुद्ध टीका लगाने का कार्यक्रम बनाया गया है। ये बीमारियां तीसरी दुनिया में लगभग 30 लाख बच्चों को हर साल मृत्यु के मुँह में धकेल देती हैं। और इतने ही बच्चों को विकलांग बना देती हैं।

वर्ष 1978 में बच्चों के स्वास्थ्य की जिम्मेदारी लेने वाले दो संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन और यूनीसेफ ने घोषणा की कि प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल से ही जीवन स्तर को सुधारा जा सकता है। सोवियत रूस के शहर 'अल्मा-अटा' में इन संगठनों ने अपने लक्ष्य की घोषणा की--'वर्ष 2000 तक सबके लिए स्वास्थ्य'। इस घोषणा का तात्पर्य था कि वर्ष 1990 तक सब बच्चों को निम्नतम स्वास्थ्य आवश्यकताओं को मुहैया कराया जाना। लेकिन अभी तक यह संभव नहीं हो पाया है।

फरवरी 1988 तक दुनिया के लगभग आधे बच्चों को टीका लगाने का कार्य पूरा हो चुका था। इसका तात्पर्य है कि लगभग 70 प्रतिशत बच्चों में कम से कम टीका लगाने का कार्य शुरू हो चुका है। भारत में और विश्व भर में इसी प्रकार का प्रयास किया जाना चाहिए ताकि उचित प्रशिक्षण एवं संरक्षण के अभाव में संक्रामक रोगों से ग्रस्त होने वाले बच्चों की संख्या कम की जा सके, तभी विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा 2000 तक सबके लिए स्वास्थ्य का लक्ष्य पूरा हो सकेगा।

वर्ष 1982 में विस्तृत प्रतिरक्षण कार्यक्रम के बारे में विश्व स्वास्थ्य एसेम्बली में बोलते हुए हाफडान मेहलर ने कहा कि यद्यपि यह प्रोग्राम काफी अच्छा चल रहा है, खासकर स्टाफ ट्रेनिंग और टीकों के वितरण के मामले में, फिर भी यह काफी नहीं है। उन्होंने आगे कहा, 'बिना गतिशीलता के विस्तृत प्रतिरक्षण कार्यक्रम सभी बच्चों तक नहीं पहुँच पाएगा।

सत्तर के दशक के मध्य वर्षों में हर साल लगभग 50 लाख बच्चे खसरा, टेटेनस, काली खाँसी, गलाघोंटू, तपेदिक और पोलियो से मर रहे थे। लाखों और बच्चे इन छह बीमारियों से स्थायी रूप से विकलांग हो गये हालांकि ये बीमारियां टीकाकरण के जरिये रोकी जा सकती थीं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 1974 में जब टीकाकरण कार्यक्रम (ई पी आई) शुरू किया तो उस समय विकासशील देशों में 50 प्रतिशत से भी कम बच्चों का टीकाकरण हुआ था। तीन साल बाद विश्व स्वास्थ्य संगठन ने संकल्प किया कि वह टीके से रोकी जाने वाली इन छह मुख्य बीमारियों से बचाव के लिए दुनिया के हरेक बच्चे को टीकाकरण की सुविधा उपलब्ध करा देगा।

उस समय तक सभी बच्चों के टीकाकरण का लक्ष्य स्वप्न लगता था। इसके बावजूद इस दशक में लगभग 80 देशों ने अपने यहाँ टीकाकरण कार्यक्रम को बहुत तेज कर दिया और आज अधिकांश विकासशील देश इस लक्ष्य को प्राप्त करने के बहुत करीब पहुँच गए हैं। उम्मीद है कि चीन इस लक्ष्य को निर्धारित समय से दो साल पहले ही प्राप्त कर लेगा। दुनिया में जितने बच्चे हैं, उनका छठवां हिस्सा सिर्फ चीन में है। बोत्सवाना, क्यूबा, मिस्र जांबीया, ईराक, जार्डन, ओमान, सऊदी अरब और तंजानिया जैसे देश पहले ही इस लक्ष्य को प्राप्त या लगभग प्राप्त कर चुके हैं। अल्जीरिया देश अगले दो वर्षों में 80-90 फीसदी बच्चों के टीकाकरण की तरफ बढ़ रहा है।

कुल मिलाकर इस बात की पूरी सम्भावना है कि विकासशील देशों में इस दशक के दौरान पैदा होने वाले बच्चों में से 70-80% बच्चों का 12 महीने की उम्र तक टीकाकरण हो जाएगा।

हर साल पैदा होने वाले बच्चों में से लगभग 50 % को खसरे का और 50% से ज्यादा को अन्य पांच ई पी आई रोगों के टीके पहले से ही लगाए जा रहे थे, लेकिन महिलाओं में टेटेनस के टीकाकरण (जो नवजात शिशुओं का बचाव करता है।) का स्तर 25% से भी नीचे है। वर्ष 1987 में टीकाकरण से कुल मिलाकर लगभग 15 लाख नवजात शिशुओं और बच्चों को 6 ई पी आई रोगों से बचाया गया और इस तरह वे मौत के मुँह में जाने से बच गए।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के विस्तृत टीकाकरण कार्यक्रम के निदेशक, डॉ० रैल्फ हेंडर्सन कहते हैं, "एक दशक से थोड़े अधिक समय में ही चुपचाप एक जन-स्वास्थ्य क्रांति हो गई।"

○○

परमाणु बिजलीघर : अंधेरा नहीं, उजाला ही उजाला

दिलीप भाटिया

विकास की राह दुष्कर होती है। विकसित देशों को अपना जीवनस्तर उन्नत करने, अनुसंधान व विकास के कार्यक्रमों के लिए उत्पाद क्षमता बढ़ाने के लिए व बढ़ती हुई जनसंख्या को उजाले में रखने के लिए विद्युत्-शक्ति की मूलभूत आवश्यकता होती है। पारंपरिक ऊर्जा स्रोतों की अपनी सीमाएँ व कठिनाईयाँ सर्वविदित हैं। कोयले के सीमित भंडार व प्राकृतिक वर्षा की निर्भरता-क्रमशः ताप व पनबिजलीघरों की सीमारेखा आ जाती हैं। हालाँकि इन स्रोतों की क्षमता में शनैः शनैः वृद्धि भी हो रही है। पर यह वृद्धि विशाल आवश्यकता को पूरा करने में असमर्थ सिद्ध हो रही है। गैर पारम्परिक ऊर्जा स्रोत, पवनचक्की व सौर ऊर्जा, अभी इस स्थान पर नहीं पहुँच पाए है कि व्यावसायिक स्तर पर उत्पादन कर सकें। ऐसे में हमारा ध्यान स्वतः ही आकर्षित होता है नाभिकीय ईंधन की ओर, जो विशाल मात्रा में उपलब्ध भी है और यूरेनियम व थोरियम का यह सर्वश्रेष्ठ शांतिपूर्ण सुदपयोग भी है।

हमारे देश में नाभिकीय ऊर्जा द्वारा 1500 मेगावाट विद्युत्-उत्पादन हो रहा है। निर्माणाधीन संयंत्रों के पूरा हो जाने पर यह उत्पादन शनैः शनैः 8000 मेगावाट तक पहुँचकर अपना योगदान वर्तमान 3 प्रतिशत से बढ़ाकर 8 प्रतिशत तक कर सकेगा। न्यूक्लीयर पावर कॉरपोरेशन इस ओर तन, मन, धन से अग्रसर है। राजस्थान व उत्तरी क्षेत्र में विद्युत्-संकट की गहनता कम करने में राजस्थान परमाणु बिजलीघर का अमूल्य योगदान रहा है। इस विद्युत्-संयंत्र के प्रस्तावित व निर्माणाधीन विस्तार से इस क्षेत्र के चहुँमुखी विकास व उन्नति में और प्रगति की संभावनाएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

सुरक्षा-प्रावधान व तकनीकी दिशा-निर्देश हैं, जिनका सम्पूर्ण निष्ठा से पालन करना अनिवार्य है। कोई भी तकनीकी खराबी या मानवीय भूल से संयंत्र स्वतः ही बन्द होकर सुरक्षित अवस्था में आ सकेगा। अंतर्राष्ट्रीय विकिरण संरक्षण संस्थान वा परमाणु ऊर्जा नियामक मण्डल द्वारा निर्धारित सुरक्षित सीमाओं का पूरा ध्यान रखा जाता है। वायुमण्डल, जल व खाद्य-पदार्थों की स्वच्छता व पौस्टिकता बनाए रखने के लिए निष्पक्ष व स्वतंत्र पर्यावरण सर्वेक्षण प्रयोगशाला अनवरत अपना कार्य करती रहती है।

अधिकतम व अनवरत विद्युत्-उत्पादन लक्ष्य है—पर कर्मचारियों व जनता की सुरक्षा सर्वोपरि है जिसका हर कीमत पर ध्यान रखना संस्थान की नैतिक जिम्मेदारी है। विज्ञान के इस युग में हम पुरानी लकीरों को तोड़कर आगे आने के लिए कृत संकल्प हैं। वहम, शंका व अनर्गल प्रचार द्वारा जो नफरत का बीज बोकर जनता को अंधेरे में रखा जा रहा है, उससे निकलकर आने की आवश्यकता है। संकुचित मनोवृत्ति को त्यागकर विशाल हृदय से संतुलित मूल्यांकन करने पर पता चलेगा कि परमाणु शक्ति का यह शांतिपूर्ण सदुपयोग मानव जाति के उत्थान व कल्याण के लिए एक अनमोल वरदान है व परमाणु में छिपी अपार शक्ति का यह भंडार सभी ओर इतना उजाला फैला सकता है, जिसकी ओर हमें सम्पूर्ण निष्ठा से नैतिक, आर्थिक व तकनीकी समर्थन देने के लिए कृतसंकल्प होना होगा।

इंजीनियर, एस. ई. राजस्थान परमाणु बिजलीघर, अणुशक्ति-323303 (कोटा, राजस्थान)

मुझसे मिलिए मैं हूँ पीपल

श्रीमती अनुराधा श्रीवास्तव

पीपल का वृक्ष अनेक गुणों और विशेषताओं को समेटे हुए है। किन्तु, चूँकि उसके फूल हमने कभी देख नहीं, फल प्रयोग में लाये नहीं इसीलिए उसे एक निरर्थक पेड़ समझ कर उसकी विशेषता पर कभी ज्यादा, गौर करने की जरूरत नहीं समझी। परन्तु शायद आपको मालूम नहीं पीपल वृक्षों का राजा है। किसी को इतनी बड़ी उपाधि यूँ ही नहीं दे दी जाती। इसका मतलब है यह अत्यंत गुणकारी वृक्ष होगा। होगा नहीं, है। तभी तो इसकी पूजा भी की जाती है। वृक्ष के नीचे का वातावरण शुद्ध रहता है। हवा को शुद्ध रखने में पीपल का योगदान अन्य वृक्षों की तुलना में बहुत अधिक है।

यह एक ऐसा अद्‌भुत वृक्ष है जिसे जीवित रहने के लिए खाद, पानी, मिट्‌टी की भी आवश्यकता नहीं होती। आप इसे मकान की दीवारों पर, मंदिरों की चोटियों पर, मस्जिदों के गुम्बद पर, खण्डहरों और कुओं की दीवारों पर तथा ऐसे स्थान जहाँ आप किसी पेड़ का अस्तित्व सोच भी नही सकते, इसे लहलहाते हुए देख सकते हैं। ऐसा इनकी जड़ों की वजह से सम्भव है। इसकी जड़े इतनी कड़ी व ताकतवर होती हैं कि ये कहीं भी ईंट पत्थरों में जगह बनाती चली जाती हैं और सीमेंटों तथा ईंटों से ही अपना खुराक ग्रहण कर लेती हैं। चिड़ियाँ इसके फल जैसी रचनाओं (गोदों) को खाकर जहाँ भी बीट कर देती हैं, वहीं ये उग आते हैं और अपनी जड़ें जमा लेते हैं। फिर तो उन्हें उखाड़ना 'अंगद के पैर' की तरह मुश्किल हो जाता है। प्रायः सभी वृक्षों में पहले फूल आता है फिर फल-फूल-फल दिखते भी हैं। किन्तु पीपल परिवार के पादपों में फूल आँख से साधारणतया दिखते नहीं, क्योंकि फल जैसी संरचना (हाइपैन्थोडियम) में बन्द रहते हैं। और इसी वजह से दिखते नहीं। हाइपैन्थोडियम एक विशेष प्रकार का पुष्पक्रम है। यह खाया जाता है। आम बोल चाल की भाषा में इसे 'गोदा' कहते हैं। इसका गोदा इतना गुणकारी है कि यदि 5 गोदे रोज खाये जायँ तो निश्चय ही स्मरण शक्ति बहुत अच्छी हो सकती है। पुराने समय में ऋषि-मुनि पीपल के वृक्ष के नीचे शिष्यों को शिक्षा देते थे। अपने इन्हीं गुणों के कारण इसे बोधिवृक्ष भी कहा गया गया है। भगवान बुद्ध को इसी वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त हुआ था।

इस वृक्ष की एक अन्य विशेषता यह है कि चाहे कितना ही घना क्यों न हो, इसके नीचे प्रकाश व हवा बराबर आती रहती है। ऐसा इसके पत्तों की अद्‌भुत संरचना की वजह से होता है। पीपल की पत्तियाँ ऊपर से अत्यंत चौड़ी होती हैं, किन्तु नीचे की तरफ सुई की नोक की तरह नुकीली होती है। जो हवा न चलने पर भी स्पन्दित होती रहती हैं, जिसकी वजह से प्रकाश छन-छन कर नीचे आ जाता है। इन पत्तियों की बनावट ऐसी है कि इन पर पानी कभी नहीं ठहरता। इसी से इसको कोई नुकसान नहीं होता। इसी से इसकी उम्र भी बहुत होती है। पीपल का वृक्ष सैकड़ों वर्ष तक जीवित रहकर हमारे पर्यावरण को शुद्ध करता रहता है।

द्वाराडॉ० वी० के० श्रीवास्तव, 4/5 डालीबाग कॉलोनी, लखनऊ-226001

इतना गुणकारी होते हुए भी यह घरों के बाहर क्यों लगाया जाता है ? क्यों इसके साथ भूत-प्रेत की मान्यता जुड़ी हुई है ? क्यों इस वृक्ष से दूर रहने की बात गाँवों के लोग अकसर करते हैं ? ये कुछेक विचारणीय प्रश्न है।

इसके पीछे वैज्ञानिक तथ्य यह है कि घर में या घर के आस-पास लगाना खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि इसकी जड़ें दूर-दूर तक फैलती चली जाती हैं, जो अत्यन्त शक्तिशाली भी होती हैं। ये अपने अन्दर ईंटों तथा पत्थरों को भेदने की क्षमता रखती हैं। अतः इसकी जड़ें मकान को नुकसान पहुँचा सकती हैं। इसी से इस वृक्ष को कोई भूल से भी नहीं लगाता। यदि यह कहीं घर की दीवारों, कुओं या छतों उग आता है तो इसे प्रायः उखाड़ते भी नहीं। गाँवों के लोग इसमें भूत का वास मानते हैं। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि इसमें ब्रह्मा का वास है। इसे उखाड़ने वाले को ब्रह्मा के कोप का भाजन बनना पड़ेगा। इसी तरह का कुछ उल्लेख 'विष्णु पुराण' में भी मिलता है कि इसकी जड़ों में ब्रह्मा का वास है, तने में विष्णु का और फुनगियों पर महेश का। इसी से इसे ब्रह्म या देव वृक्ष भी कहते हैं। इसकी कई प्रान्तों में पूजा भी की जाती है।

लेकिन वैज्ञानिक तथ्य यह है कि ब्रह्मवास का भय दिखाकर इस वृक्ष की रक्षा की गयी है। अन्यथा इस वृक्ष का अस्तित्व ही समाप्त हो सकता था, जो पर्यावरण को शुद्ध रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

■ ■

(पृष्ठ 15 का शेषांश)

बल अंतरिक्ष में घूमती चीजों को अपनी ओर खींचते हैं। प्रायः इनका आकर्षण एक-दूसरे को काटता संतुलन बनाये रखता है और सब अपनी-अपनी कक्षा में घूमते रहते हैं। धूमकेतु और लघुग्रह जब सौर-परिवार से बाहर निकलते है, तो उनकी गति कम हो जाती है। इनमें से कोई भी भटक कर पृथ्वी की कक्षा में आ गया तो टकरा सकता है। गति, पथ, दिशा और कोण आदि के आंकड़े इकट्ठे करके सही-सही गणना की जा सकती है कि कब कोई धूमकेतु पृथ्वी के कितने निकट से गुजरेगा या उससे टकरा जायेगा। आपको याद होगा कि पिछली बार हेली धूमकेतु के लिए भी यह आशंका व्यक्त की गई थी कि यह पृथ्वी से टकरा सकता है। लेकिन सौभाग्य से वैसा नहीं हुआ। डॉ॰ डंकन स्टील का कहना है कि "अभी 5-6 वर्ष तक स्मिथ टटल पर पूरी निगाह रखनी होगी, तभी यह बताया जा सकेगा कि खतरा टला या खतरा बढ़ा।"

● ●

पुस्तक समीक्षा

1. आइये प्रदूषण की दुनिया में चलें
लेखक—पृथ्वी नाथ पाण्डेय
प्रकाशक-जनभारती प्रकाशन, 719 दरियाबाद, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण, 1992, मूल्य-12 रुपये मात्र

प्रस्तुत पुस्तक में वायु, जल तथा ध्वनि प्रदूषण के विषय में चर्चा की गयी है। "कौन गन्दा कर रहा है हमारी हवा को" नामक अध्याय में वायु प्रदूषण के लिये उत्तरदायी कारकों, वायु प्रदूषण का जनजीवन पर प्रभाव तथा वायु प्रदूषण को रोकने के उपायों पर प्रकाश डालते हुये वायु के संघटन तथा भारत में प्रतिवर्ष प्रदूषण तत्वों के वायु में मिलने से सम्बन्धित महत्वपूर्ण आँकड़े दिये गये हैं। "जल बिना संसार है सूना" नामक दूसरे अध्याय में जल प्रदूषण का स्वास्थ्य पर प्रभाव, उद्योगों द्वारा स्रावित अपशिष्टों द्वारा होने वाले नदी जल के प्रदूषण पर चर्चा करते हुये जल प्रदूषण को रोकने के उपाय बताये गये हैं। "दिल दिमाग को छलनी कर देता है शोर" नामक तीसरे अध्याय में शोर से दिलो दिमाग पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव, शोर प्रदूषण सम्बन्धित उपयोगी आंकड़े देते हुये शोर नियंत्रण से सम्बन्धित उपाय दिये गये हैं। पुस्तक में चित्रों के माध्यम से विषय को सरल तथा बोधगम्य बना दिया गया है। कहीं-कहीं पुस्तक में मुद्रण सम्बन्धी त्रुटियां हो गयी हैं जैसे पृष्ठ 20 पर पी०पी०एम० के अर्थ—पार्ट्स पर मिलियन में मिलियन की जगह मिलियम हो गया है। पुस्तक की भाषा सहज, सरल होने के कारण बच्चों के लिये भी उपयोगी है।

2. हम और हमारी सम्पदा
लेखक—पृथ्वीनाथ पाण्डेय
प्रकाशक-जनभारती प्रकाशन, 719 दरियाबाद, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण, 1992, मूल्य-12 रुपये मात्र

पुस्तक में प्रथम अध्याय—"आइये वृक्षारोपण करें"—में लेखक ने वृक्षों के महत्व पर प्रकाश डालते हुये यह बताया है कि औद्योगिकीकरण के कारण विशेष रूप से कागज और अखबारी कागज उद्योगों के लिये लकड़ी की

माँग बढ़ गयी है। फलों को पैक करने तथा मकान निर्माण के लिये वनों की अन्धाधुंध कटाई शुरू हो गयी। फलत: वनों की स्थिति और भी दयनीय हो गयी है। पुस्तक के आगे के अध्यायों में विश्वभर के वनों की दुर्दशा, भारत से जंगलों का सफाया, विशेष रूप से उत्तर प्रदेश, काश्मीर घाटी, बिहार तथा अरावली से दूर होती हरियाली पर चर्चा की गयी है। भारत में वन सम्पदा की उपयोगिता बताते हुये बागवानी के शौक से घर को स्वर्ग बनाने की अपील की गयी है। सामाजिक वानिकी वाले अध्याय में इसे परिभाषित करने के अतिरिक्त सामाजिक वानिकी हेतु वृक्षों के चुनाव पर दृष्टिपात किया गया है। पुस्तक में वृक्षों से सम्बन्धित नवीनतम जानकारी यथा—प्रदूषण की सूचना देने वाले वृक्ष, पेट्रोल प्रदाय पौधे, अन्य महत्वपूर्ण पौधे तथा पौधे उगाने की नयी तकनीक "क्लोनिंग" का भी समावेश किया गया है। पुस्तक के अन्तिम पृष्ठों में विदेशी वनस्पतियों यथा—**पार्थेनियम**, जलकुम्भी, **लेन्टाना, आर्जीमोन मेक्सिकाना, यूकेलिप्टस** आदि से होने वाली हानियों पर प्रकाश डाला गया है। पुस्तक में चित्र तो दिये गये हैं किन्तु पृष्ठ 38 पर पार्थेनियम पौधे के चित्र की जगह जलकुम्भी का चित्र दिया गया है जो असंगत है। पुस्तक उपयोगी है, विशेष रूप से बच्चों के लिये। प्रारम्भिक जानकारी की दृष्टि से सभी के लिये यह पुस्तक उपयोगी है।

3. पंछी आये कहाँ से : पंछी जाये कहाँ रे

लेखक : पृथ्वीनाथ पाण्डेय

प्रकाशक—प्रणव प्रकाशन, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण- 1990, मूल्य- सात रुपये मात्र

ज्ञान विज्ञान सीरीज के अन्तर्गत् बच्चों के लिये लिखी गयी इस पुस्तक में लेखक ने पक्षियों से सम्बन्धित अनेक रोचक जानकारी प्रस्तुत की है। पुस्तक के प्रारम्भ में पक्षियों के रख-रखाव के लिये दो देशों की पहल का हवाला दिया गया है। "प्रवासी पक्षियों को रास्ता कौन बताता है" अध्याय में बताया गया है कि पक्षी उड़ते वक्त सूरज की मदद लेते हैं। अब यह भली भाँति सिद्ध किया जा चुका है कि जीवाणु से लेकर मधुमक्खी, मछली और चिड़ियाँ तक धरती के चुम्बकीय क्षेत्र के मुताबिक अपना रुख बदलती रहती हैं। पुस्तक के आगे के पृष्ठों में विभिन्न पक्षियों यथा मकाह, तोता, पीलक, कस्तूरा, दोमल, जलमुर्गी शेविंग, किलकिला, मह्नोख, बतासी, कौवा, चील, गिद्ध, उल्लू, हारिल, मैना, गौरैया, जलकौआ, चैंटी गरुड़ पर चर्चा की गयी है। कहीं-कहीं पक्षियों के चित्र भी दिये गये हैं। पुस्तक बालोपयोगी होने के साथ-साथ सारगर्भित भी है।

4- रेडक्रास की कहानी

लेखक—पृथ्वीनाथ पाण्डेय

प्रकाशक-सत्येन्द्र प्रकाशन, 30 पुराना अल्लापुर, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण-1989, मूल्य—दस रुपये मात्र

पुस्तक में कवर पेज के ठीक बाद के पृष्ठ दर रेडक्रास का रेडॉक्स छपा होना इस बात का द्योतक है कि पुस्तक का प्रूफ पढ़ने में रुचि नहीं ली गयी। "हेनरी : रेडक्रास का नायक" इस पुस्तक का प्रथम अध्याय है। इस अध्याय के प्रथम पृष्ठ पर बावजूद के स्थान पर बावुजूद हो गया है। इस अध्याय में हेनरी के जीवन से सम्बन्धित अच्छी जानकारी दी गयी है। साथ ही यह भी बताया गया है कि हेनरी ने फ्रान्स और आस्ट्रिया के बीच हुये युद्ध में

किस तरह से घायल सैनिकों की सेवा-सुश्रूषा का दायित्व निर्वाह किया और 'रेडक्रास सोसाइटी' बनायी। दूसरे अध्याय में रेडक्रास के चिन्ह् (लाल रंग का क्रास) के विषय में जानकारी दी गयी है और बताया गया है कि यह चिन्ह् निष्पक्ष और दया का प्रतीक है। तीसरे अध्याय में भारत में रेडक्रास की शुरूआत के विषय में जानकारी दी गयी है। आगे के अध्यायों में जूनियर रेडक्रास का महत्व प्राथमिक चिकित्सा के बारे में विस्तृत चर्चा की गयी है। कुल मिलाकर पुस्तक उपयोगी है।

5. आओ तुम्हें बतायें

लेखक—पृथ्वीनाथ पाण्डेय

प्रकाशक-शान्ति प्रकाशन, पुराना बैरहना, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण-1989, मूल्य—आठ रुपये मात्र

प्रस्तुत पुस्तक में प्रेशर कुकर, पेट, डबलरोटी, थर्मस फ्लास्क, कॉफी, चाय, रोटी, पान, सुपारी, चयूंगम तथा आइस्क्रीम के विषय में रोचक जानकारी दी गयी है। यह पुस्तक विशेष रूप से बच्चों के लिये ज्ञान विज्ञान कथा के रूप में लिखी गयी है। पुस्तक में यथास्थान चित्र भी दिये गये हैं, जिससे बच्चों को तथ्य समझने में असानी रहती है। पुस्तक की भाषा सरल, शैली रोचक तथा सामग्री सारगर्भित है। इस पुस्तक में त्रुटियाँ भी न के बराबर हैं। लेखक और प्रकाशक दोनों साधुवाद के पात्र हैं।

—डॉ॰ दिनेश मणि
संयुक्त मन्त्री, विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-2

■ ■

हिन्दी विज्ञान लेख प्रतियोगिता (1992) के परिणाम

हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद् एवं राजभाषा कार्यान्वयन समिति, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र, बम्बई-85 द्वारा आयोजित अखिल भारतीय हिन्दी विज्ञान लेख प्रतियोगिता (1992) के परिणाम इस प्रकार है :

1. **प्रथम पुरस्कार** (रु. 1500/ —)
   अंतरिक्षयान की ऊष्मीय अभिकल्पना
   डा. आनन्द कुमार शर्मा, वैज्ञानिक, ऊष्मीय तंत्र प्रभाग, एवं प्रो अनन्त वि. पत्की, निदेशक, यांत्रिक तंत्र समूह इसरो उपग्रह केन्द्र, एयरपोर्ट मार्ग, विमानपुरा, बंगलूर-560017

2. **द्वितीय पुरस्कार** (रु. 1000/-)
   कैंसर क्यों होता हैं ?
   डा. रमेश सोमवंशी, वरिष्ठ वैज्ञानिक (पैथोलोजिस्ट)
   भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, मुक्तेश्वर - कुमाऊँ - 263138 (नैनीताल)

3. **तृतीय पुरस्कार** (रु. 500/-)
   समुद्री प्रदूषण निवारण में तेलभक्षी जीवाणु
   डा. राजनारायण पांडे, नाभिकीय कृषि प्रभाग, भा. प. अ. केन्द्र, बम्बई - 400085

4. **प्रोत्साहन पुरस्कार** (रु. 300/-)
   1. 'न्यूरो सर्जरी' : ज्ञान - तंतुओं पर नियंत्रण का चमत्कारी विज्ञान
      डा. वासदेव प्रसाद यादव, 98 अशोक नगर, आगरा - 282 002
   2. स्टेनलेस इस्पात - प्रकार एवं उपयोग
      डा. अरविन्द कुमार गुप्ता, उपनिदेशक (शिक्षा, मान्यता एवं परीक्षा)
      एवं अनूप कुमार, तकनीकी अधिकारी,
      दि इंस्टीट्यूट ऑफ इंजीनियर्स (इण्डिया), 8, गोखले मार्ग कलकत्ता - 700 020
   3. मानव कल्याण के क्षेत्र में विकिरणशील समस्थानिकों की उपादेयता
      कु० पूजा तिवारी, पुत्री श्री राम प्रताप तिवारी
      भारतीय लाख अनुसंधान संस्थान, नामकुंभ, रांची—834 010
   4. कागज उद्योग द्वारा जल प्रदूषण का अध्ययन
      डा. आर. एन. शुक्ला, प्रयुक्त रसायन विभाग,
      सम्राट अशोक टेक्नोलोजिकल इंस्टीट्यूट (डिग्री), विदिशा (मध्य प्रदेश)
   5. उड़न राख एवं पर्यावरण
      डा. घनश्याम गुप्ता, भानुप्रकाश, (प्रौद्योगिकी संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221 005), एवं रवि प्रकाश, अभियांत्रिको एवं प्रौद्योगिकी संस्थान, लखनऊ
      पत्राचार का पता : न्यू एफ/2, हैदराबाद कालोनी, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी-221005.
      एवं रवि प्रकाश, अभियांत्रिकी एवं प्रौद्योगिकी संस्थान, लखनऊ

अहिन्दी भाषा पुरस्कार - (रु. 300/-)
डि - एस्फाल्टिंग तकनीक : वर्तमान स्थिति और नयी दिशाएं
जी० एस० डंग, भारतीय पेट्रोलियम संस्थान, देहरादून (उ० प्र०) - 248 005

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठकगण !

'विज्ञान' फरवरी 1993 अंक भी विलम्ब से छप रहा है। इसके पूर्व 'विज्ञान' का दिसम्बर 1992 जनवरी 1993 संयुक्तांक भी अभी नहीं छप सका है। पिछले कई वर्षों के अन्तराल के बाद 'विज्ञान' के प्रकाशन में इस प्रकार का व्यवधान आया है। हमें तो प्रेस के सुर-ताल पर ही नृत्य करना पड़ता है। सो नृत्य कर रहे है और अच्छे समय की प्रतीक्षा कर रहे है।

पिछले दिनों हम कुछ सुस्त रहे, परिणामस्वरूप परिषद् की गतिविधियाँ भी सुस्त रहीं। इसी कारण परिषद् का वार्षिक चुनाव भी अभी सम्भव नहीं हो सका है। 'विज्ञान' का मार्च 1993 अंक कुछ अच्छे ढंग से निकालने की योजना है। किन्तु अभी कुछ कहना ठीक नहीं है, क्योंकि हमारी बहुत सी योजनायें ज्यों की त्यों धरी रह जाती है।

हाँ ! पिछले दिनों 'बायोवेड रिसर्च सोसायटी' (Bioved Research Society) नामक एक स्थानीय वैज्ञानिक संस्था ने 'जैव-प्रौद्योगिकी की सम्भावनायें' विषय पर एक द्विवदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी सफलतापूर्वक सम्पन्न कराने का प्रशंसनीय कार्य किया है। यह संगोष्ठी विज्ञान परिषद् के सभाकक्ष में सम्पन्न हुई।

इस संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए दिल्ली के डिपार्टमेंट ऑव साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी के निदेशक डॉ० अनुज सिनहा ने बताया कि कृषि, स्वास्थ्य एवं सफाई, और उद्योगों में जैव-प्रौद्योगिकी के प्रयोग की बहुत सम्भावनायें हैं।

डॉ० नरेन्द्र कुमार सिंह गौर, भूतपूर्व शिक्षा मंत्री, उत्तर प्रदेश सरकार ने अपने अध्यक्षपदीय व्याख्यान में इस बात पर विशेष बल दिया कि फसलों की उपज बढ़ाने में 'जेनेटिक इंजीनियरिंग' (आनुवंशिक इंजीनियरी) की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

समापन समारोह की अध्यक्षता दिल्ली से पधारे प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० पी० दास ने की और मुख्य अतिथि थे डॉ० अनुज सिनहा।

इस संगोष्ठी में अनेक वैज्ञानिकों एवं शोध-छात्रों ने अपने शोध-पत्र प्रस्तुत किए। अनेक वैज्ञानिकों को इस अवसर पर सम्मानित भी किया गया। इस प्रकार यह संगोष्ठी रेगिस्तान में 'नखलिस्तान' जैसी रही। आज आवश्यकता है जैव-प्रौद्योगिकी के विभिन्न पक्षों पर हो रहे शोध को प्रोत्साहित करने की।

इस आशा और विश्वास के साथ कि 'विज्ञान' मार्च 1993 से पुनः नियमित हो जायेगा और इसका प्रकाशन समय से होगा।

होली आप सभी के लिए शुभ हो, मंगलमय हो।

आपका
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1992

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।
(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।
(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।
(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।
(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1992 से दिसम्बर 1992 माह के बीच प्रकाशित हो।
(6) लेखक को साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।
(7) विज्ञानपरिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।
(8) वर्ष 1992 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1993 है।

लेख निम्न पते पर भेजें—

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद वा रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु०, चौथाई पृष्ठ 50.00; आवरण द्वितीय; तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

विज्ञान

मार्च : 1993

मूल्य : 3 रुपये

विज्ञान परिषद् - इलाहाबाद

परिषद् की मासिक पत्रिका

मार्च 1993, वर्ष 78, अंक,12

■

सम्पादक

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

■

प्रकाशक

डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधानमंत्री, विज्ञान परिषद्

■

पत्र-व्यवहार का पता

विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002
दूरभाष : 608498

■

मूल्य
वार्षिक : 25 रू० एक प्रति : 3 रू०

■

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7 बेली एवेन्यू, इलाहाबाद-211002

काश ! वैज्ञानिक ऐसा कर दें कि मानवता जाग उठे !

☐ रामगोपाल परिहार

काश ! वैज्ञानिक ऐसा कर दें-
बादलों को समय पर वर्षा दें,
जिससे राष्ट्र के अन्न-भण्डार रिक्त न रहें ।
वैज्ञानिक, किसानों को इस योग्य बना दें कि वे,
बीज व फसलों की नयी प्रजाति, - अपने घर बनाने लगें ।
ट्रैक्टर, मशीन व कृषि यन्त्रों का निर्माण,
स्वयं कर सकें - जिससे,
इक्कीसवीं सदी का अनोखा सूर्य उगे ।
काश ! वैज्ञानिक ऐसा कर दें-
केवल सवा बीघा जमीन से,
नोटों की फसलें उगें,
झोपड़ी का दीपक,
बारलाइट में बदल जाय, जिससे-
आरक्षण के पीछे हड़तालें न हों ।
काश ! वैज्ञानिक ऐसा नया, भू-उपग्रह प्रक्षेपित करें-
जिसकी नवऊर्जा स्वित किरणें ,
जातिवाद व मजहबी कट्टरपन मिटा दें ।
असमानता की खाई पाट
प्रेम, सद्भाव, एकता व भाईचारे को ला दें ।
काश ! वैज्ञानिक ऐसा कर दें, जिससे-
पर्यावरण प्रदूषण, डरकर भाग उठे ।
बागों में ऐसे फूल खिलें,
जिनकी महक से
मानवता जाग उठे । ■■

पी० जी टी० {हिन्दी} जवाहर नवोदय विद्यालय, हदगढ़, जिला-क्योंझर {उड़ीसा}-758023

हाइपरटेंशन अथवा उच्च रक्तचाप

डॉ० अनुराग श्रीवास्तव

उच्च रक्तचाप के प्रति सामान्य व्यक्ति की बढ़ती उत्सुकता एवं जागरूकता के विभिन्न कारण निम्नवत् हैं-

-करीब 10-15% जनसंख्या का इस रोग से पीड़ित होना,

-प्रारंभ में इस रोग का लक्षण रहित बने रहना, एवं

-रोग का निदान एवं उपचार दोनों ही अत्यन्त आसान होना तथापि लापरवाही बरतने की स्थिति में रोग का प्राणघातक हो जाना ।

रक्त-चाप है क्या ?

हृदय द्वारा शुद्ध रक्त को शरीर के विभिन्न हिस्सों में पहुँचाने के लिए प्रयुक्त रक्त वाहिनियाँ धमनियाँ कहलाती हैं। हृदय द्वारा रक्त को धमनियों में पम्प करते समय या धकेलते समय उत्पन्न रक्त का दबाव रक्त-चाप कहलाता है। रक्तचाप उम्र, लिंग, वातावरण एवं व्यक्ति की शारीरिक व मानसिक अवस्थाओं के साथ परिवर्तनीय है । प्रत्येक व्यक्ति का रक्तचाप उसकी दिनचर्या के साथ-साथ लगातार घटता-बढ़ता रहता है । उदाहरण के लिए क्रोधित या उत्तेजित होने पर बढ़ता है तथा विश्राम/निद्रा की स्थिति में घट जाता है । यह परिवर्तन नितांत सामान्य है ।

रक्तचाप की दो स्थितियाँ होती हैं । एक तो जब हृदय सिकुड़कर रक्त को धमनियों में धकेलता है या पम्प करता है, इसे *सिस्टॉलिक रक्त-चाप* कहते हैं । ऐसी अवस्था में रक्त वाहिनी धमनियों में रक्त का दबाव 120-140 मिली मीटर मरकरी तक हो जाता है । दूसरी वह स्थिति जब हृदय शिथिल होकर फैलता है, इस समय रक्त वाहिनियों में रक्त का दबार 80-90 मिली मीटर मरकरी तक ही रह जाता है जिसे *डायस्टॉलिक रक्त-चाप* कहते हैं ।

उच्च रक्त-चाप

अक्सर या लगातार रक्त-चाप का असामान्य रूप से अधिक बने रहना 'उच्च रक्त-चाप' या 'हाइपरटेंशन' कहलाता है । अधिकतर व्यक्तियों में तो उच्च रक्त-चाप परिलक्षित नहीं होने पाता, किंतु जिन में यह परिलक्षित हो अथवा जिन्हें परीक्षण-स्वरूप उच्च रक्त-चाप होने की जानकारी प्राप्त हो, उन्हें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि यह एक नितांत साधारण स्थिति है, यदि इसका निदान व उपचार समय से कर लिया जाए ।

कारण

अभी तक उच्च रक्त-चाप के कारण एवं इसकी विकास-प्रक्रिया की स्पष्ट जानकारी उपलब्ध नहीं है तथापि आनुवांशिकता, मोटापा, मनोवज्ञानिक तनाव, अत्यधिक औषधि-सेवन, धूम्रपान एवं मद्यपान आंशिक रूप से उत्तरदायी कारक माने जाते हैं ।

वरिष्ठ चिकित्सा अधिकारी एवं विभागाध्यक्ष, जैव रसायन विभाग, जवाहर लाल नेहरू चिकित्सालय एवं अनुसंधान केन्द्र, भिलाई स्पात संयंत्र, भिलाई

उच्च रक्तचाप के लक्षण

जैसा की उल्लेख किया जा चुका है, उच्च रक्त-चाप का विकास अत्यंत धीमी गति से होने की वजह से, लक्षण अक्सर ही परिलक्षित नहीं होने पाते। वैसे भी उच्च रक्त-चाप के संभावित लक्षण जैसे - सिरदर्द, चक्कर आना, थकान इत्यादि भी निश्चित तौर पर योगदायी नहीं होते। कभी-कभी तो मात्र चश्मे की आवश्यकता के फलस्वरूप यह लक्षण परिलक्षित हो सकते हैं। या फिर उच्च-रक्त चाप के भय मात्र से भी ये लक्षण आप को अपने आप में दिख सकते हैं।। बहुधा रक्त-चाप लेते समय यह सोच कर कि,'रक्त-चाप लिया जा रहा है' किसी भी व्यक्ति का रक्त-चाप बढ़ सकता है। मात्र एक या दो अवसरों पर आभासी रूप से थोड़ा बहुत बढ़ा हुआ रक्त-चाप किसी व्यक्ति के लिए चिंता का कारण नहीं बनना चाहिए। रोग का निदान एवं इसका निर्धारण आप का चिकित्सक सहज ही कर लेगा। तदर्थ आप उसके निर्देशों का ईमानदारी से पालन करें तथा उपचार हेतु अपेक्षित सहयोग दें।

दूरगामी दुष्परिणाम

यदि उच्च रक्त-चाप लगातार लम्बे समय तक बना रहे एवं रोगी चिकित्सक को उपचार संबंधी अपेक्षित सहयोग प्रदान न करे तो शरीर के अनेक महत्वपूर्ण अंग यथा हृदय (एन्जाइना, हृदय शूल, हृदयाघात), मस्तिष्क (लकवा) तथा गुर्दे (क्रियाहीनता) विपरीत रूप से प्रभावित होते हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि एक बार जटिलताएँ प्रारंभ होने के बाद शुरू किया गया उपचार उतना प्रभावी नहीं बन पाता।

यदि आप को उच्च रक्त-चाप की शिकायत है, तो-

1. अपने रक्तचाप का परीक्षण शारीरिक एवं मानसिक विश्राम की अवस्था में, नियत समयावधि पर करवाएँ।
2. अपनी दिनचर्या को नियमित व अनुशासित रखते हुए उसमें विश्राम एवं निद्रा (लगभग 8 घंटे प्रतिदिन) को समुचित स्थान दें।
3. अपना वजन सामान्य एवं नियत रखें।
4. अपनी क्षमता के अनुरूप ही साधारण व्यायाम करें। प्रतिद्वंद्विता वाले व्यायामों व खेलों/प्रतियोगिताओं से बचें।
5. अपने उपचार को चिकित्सक की सलाह से ही चलने दें। रक्त-चाप को शीघ्र कम करने के प्रयास में औषधियों का अतिसेवन या बार-बार औषधि/चिकित्सक परिवर्तन न करें।
6. अपने रोग या लक्षणों की अनावश्यक चर्चा न तो अपने दोस्तों से करें और न ही शुभचिंतकों से, क्योंकि ऐसा करके आप अपनी किसी भी तरह से सहायता नहीं कर सकते, सिवा भ्रमित होने के। किसी भी संशय का समाधान करने में आप का चिकित्सक ही सर्वोत्तम मित्र होगा।
7. लहसुन/प्याज का उपयोग लाभकर होता है। आम, अमरूद, नींबू, संतरे व सेब का सेवन करें। केले व कटहल के सेवन से बचें।
8. भोजन को सुस्वाद बनाने के प्रयास में आवश्यकता से अधिक नमक न लें (दैनिक आवश्यकता मात्र 1-2 ग्राम, औसत भारतीय द्वारा प्रतिदिन सेवन 10-15 ग्राम)।
9. अत्यधिक तले वसायुक्त भोजन व अंडे की जर्दी से बचें।
10. तम्बाकू, धूम्रपान व मद्यपान निषेध के संदर्भ में अपने चिकित्सक को अपेक्षित सहयोग दें।
11. अत्यधिक महत्वपर्ण यह है कि अनावश्यक तनाव, चिंता, क्रोध, ईर्ष्या, पद व प्रतिष्ठा की अंधी दौड़ से यथासंभव बचकर अपने शुभेच्छु बनें। ☐ ☐ ☐

प्रकृति में खनिज कोयले का निर्माण कैसे हुआ ?

डॉ० विजय कुमार उपाध्याय

सन् 1825 ई० से ही वैज्ञानिक यह मानते चले आये हैं कि खनिज कोयला वनस्पतियों से निर्मित हुआ है । कोयले की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भू-वैज्ञानिकों ने दो प्रकार के मत व्यक्त किये हैं-(1) स्वस्थानीय (इन सिटु) तथा (2) विस्थापन सम्बन्धी मत । स्वस्थानीय मत के अनुसार प्राचीन काल में किसी स्थान पर कोई जंगल भूकम्प या किसी अन्य कारणवश धरती के अन्दर धंस गया, जिससे अन्तत: कोयले का निर्माण हुआ । विस्थापन मत के अनुसार वनस्पति, जल द्वारा एक स्थान से बहाकर दूसरे स्थान पर ले जायी गयी तथा फिर किसी नदी, झील या समुद्र में जमा हो गयी जिससे अन्तत: कोयले का निर्माण हुआ ।

परतदार कोयले का सूक्ष्मदर्शी द्वारा सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि खनिज कोयले के निर्माण के लिये कच्चे माल का काम अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ करती थीं । कार्बोनिफेरस काल (30-35 करोड़ वर्ष पूर्व) में निर्मित कोयले में लगभग तीन हजार से अधिक प्रकार की वनस्पतियाँ पायी गयी हैं । कोयले के स्तर के नीचे जो मिट्टी का स्तर उपस्थित है, उसमें उपर्युक्त वनस्पतियों के जड़ एवं घड़ पाये गये हैं । इससे कोयले की स्वस्थानीय उत्परित संबंधी मत की पुष्टि होती है । कोयले में जो वनस्पतियाँ पायी गयी हैं उनमें मुख्यत: फर्न, लाइकोपॉड, फूल देने वाले कुछ पौधे तथा कोनिफर एवं दूसरे वर्ग शामिल थे । फर्न बड़े-बड़े आकार के पेड़ थे जिनकी ऊँचाई 30 मीटर तक होती थी । लाइकोपॉड भी लगभत 30 मीटर तक ऊँचे होते थे । इनकी घुंडीनुमा तथा मेहराबनुमा जड़ें यह प्रमाणित करती हैं कि ये पौधे पानी में रहने वाले थे । ऐसे पौधों के उदाहरण में शामिल हैं सिजिलारिया एवं लिपिडोडेंड्रॉन । भारत में बिहार एवं बंगाल में प्राप्त कोयले से जो वनस्पतियाँ पायी गयी हैं उनमें शामिल हैं -

ग्लॉसॉप्टेरिस अंगुष्टिफोलिया, गैंगोमाकाप्टेरिस मेजर, फाइलोथेका इंडिका, निलसौनिया, सिजोन्यूरा आदि । कोयले में पायी गयी वनस्पतियों में ऐसी एक भी नहीं जो नमकीन पानी में उत्पन्न होने वाली या बढ़ने वाली हो ।

विभिन्न कोयला-स्तरों का विस्तृत फैलाव यह सूचित करता है कि उनका निर्माण डेल्टा तथा समुद्रतटीय क्षेत्रों के दलदली भागों में हुआ जिनका तल धीरे-धीरे नीचे की ओर धँसता गया । ऐसे क्षेत्रों में सालों भर पानी जमा रहा होगा । अधिकतर कोयला-स्तरों के नीचे झील निक्षेपित कार्बोनेसियस सेल नामक चट्टान पाये जाते हैं । कोयला निर्माण के लिये यह भी आवश्यक है कि जिस द्रोणी में कोयले का निर्माण हो रहा है उसके चारों ओर निम्न ऊँचाई के स्थल हों, नहीं तो कोयले के साथ रेत की काफी मात्रा आस-पास के क्षेत्र से आकर मिल जायेगी । कोयला-निर्माण में उपयोगी वनस्पतियों के विकास के लिये आवश्यक मीठे जल का दलदल समुद्र से बालू के अवरोध द्वारा अलग किया जा सकता है, या वनस्पतियों के अवरोध द्वारा अलग रह सकता है, क्योंकि यह पाया गया है कि कोयला तथा समुद्र निक्षेपित चट्टान कोयले के स्तर के ऊपर विषम विन्यास के साथ

प्राध्यापक, भूगर्भ, इंजीनियरिंग कॉलेज, भागलपुर - 813210 (बिहार)

पाये जाते हैं । इस तरह की परिस्थिति सिर्फ धँसते हुए समुद्री किनारे में ही पायी जा सकती है । अधिकतर कोयला क्षेत्रों में निक्षेपण के चक्र पाये जाते हैं ।

वनस्पति संग्रहण दर जलवायु एवं वनस्पति के आवरण पर निर्भर करती है । **जे० वोल्नी लीविस** नामक भूवैज्ञानिक के मतानुसार एक फुट मोटे बिटुमिनस कोयले के स्तर के निर्माण में लगभग 150 वर्ष लगते हैं । इसी प्रकार ऐंथ्रासाइट का एक फुट मोटा स्तर 200 वर्षों में निर्मित होता है ।

कोयला-निर्माण के लिये शीतोष्ण जलवायु सर्वोत्तम मानी जाती है, साथ ही साथ साधारण से भारी वर्षा पूरे साल भर मिलनी चाहिए परन्तु भारी हिमपात अनुपस्थित रहना चाहिए । कोयला-निर्माण के दौरान बीच-बीच में सूखे का चक्र भी आता है । इस बात की पुष्टि कोयला-निर्माण स्थल पर पायी गयी वनस्पतियों के तना (धड़) एवं जड़ में उपस्थित जल संचकों से होती है । वनस्पतियों का काफी संख्या में उगना एवं बढ़ना सुवितरित वर्षा की ओर इशारा करता है । कार्बोनिफेरस काल के दौरान पौधों में विकास वलय (ग्रोथ रिंग) का पूरी तरह विकसित नहीं होना जलवायु में उतार चढ़ाव का द्योतक है ।

वनस्पतियों का कोयले में परिवर्तन जैव रासायनिक सक्रियता के कारण होता है जिसके दौरान वनस्पतियों का आंशिक क्षय होता है ।

तत्पश्चात् उस पदार्थ के और अधिक क्षय से संरक्षण होता है तथा उसके बाद गतिशील रासायनिक प्रतिक्रियायें होती हैं । कोयले की श्रेणी एवं गुण निर्भर करते हैं उस क्षेत्र के पर्यावरण, वनस्पति के प्रकार एवं जीवाणु (बैक्टीरिया) सक्रियता के समय एवं प्रकृति पर । निर्मित कोयले का वर्ग इस बात पर निर्भर करता है कि कायान्तरण किस हद तक हुआ है । जब कोई वृक्ष सूखी जमीन पर गिरता है तो इसका क्षय रम्भ हो जाता है । इसके जटिल घटक टूटने लगते हैं । विघटन से कार्बन डाइऑक्साइड तथा जल का निर्माण होता है, जिसका अधिकांश भाग वायुमण्डल में चला जाता है । इसके कारण कोयले का निर्माण नहीं हो पाता । परन्तु जब कोई वनस्पति पानी में गिरती है तो उपर्युक्त विधि से ही क्षय आरम्भ होता है, परन्तु क्षय की प्रक्रिया बहुत ही धीमी गति से चलती है । कोयले के निर्माण के लिये एक आवश्यक शर्त यह है कि उपर्युक्त क्षय प्रक्रिया एक सीमा के बाद रुक जाये जिससे वनस्पति का अवशिष्ट भाग संग्रहीत रह सके । यह कार्य क्षयकारक जीवाणुओं द्वारा स्थिर पानी को विषैला बनाकर पूरा किया जाता है जिससे आगे का क्षय बन्द हो जाता है, तथा अवशिष्ट भाग जमा होने लगता है । जैव-रासायनिक क्रियायें ऑक्सीजन तथा हाइड्रोजन को मुक्त करती हैं तथा कार्बन जमा होता जाता है । क्षयकारक जीवाणु वनस्पति निक्षेप के सतही भाग पर ही अधिक सक्रिय रहते हैं तथा पहले अधिक क्षयशील एवं मुलायम घटकों जैसे प्रोटोप्लाज्म, सिलुलोज तथा मंड पर आक्रमण करते हैं । अवरोधी तथा कठोर भाग जैसे वैक्स, रेजिन, क्यूटिन तथा काष्ठीय टुकड़े दलदल के तल पर बैठने लगते हैं, जहाँ पानी का विषैलापन आगे के क्षय को रोक देता है तथा अवशेष एकत्र होने लगता है । ह्यूमस में कौन-कौन घटक जमा होंगे यह जीवाणु तथा उसकी सक्रियता के समय पर निर्भर करता है । वनस्पति का वह भाग जो क्षय से बच जाता है एक जेलीनुमा पदार्थ के रूप में एकत्र होने लगता है । यह जेली शनैः शनैः अधिक से धिक गाढ़ा होने लगता है तथा अन्ततः पूरे पदार्थ को गोंद की तरह सटाकर बाँधने के काम आता है । साधारणतः स्थिर जल में बहुत ही नाजुक भाग को छोड़कर लकड़ी का लगभग पूरा भाग परिरक्षित हो जाता है । जहाँ रेजिन कड़ा एवं भारी रहता है वहाँ पानी का घोल पतला हो जाता है जिससे उसका विषैलापन कम हो जाता है तथा इसके कारण आगे का क्षय बढ़ जाता है । बाढ़ आने पर पानी का विषैलापन घट जाता है तथा वनस्पति पदार्थ बहाकर दूर ले जाया जाता है । सूखा मौसम भी कोयला-निर्माण के लिये अनुकूल नहीं होता है, क्योंकि इसमें पानी की सतह नीचे उतरने से पानी के भीतर का वनस्पति पदार्थ बाहर के वायुमंडल के सम्पर्क में आ सकता है तथा इसके कारण क्षय की दर बढ़

जाती है । इस प्रकार पानी की सतह कोयला-निर्माण में बहुत ही निर्णायक भूमिका निभाती है । जहाँ पानी की सतह स्थिर रहती है वहाँ विट्रेन का निर्माण होता है । विट्रेन परतदार कोयले की वह किस्म है जिसमें बहुत पतली तथा चमकदार परतें रहती हैं । कोई भी काष्ठीय संरचना नंगी आँखों से नहीं दिखाई पड़ती, विभंग (fracture) गोलीय होता है तथा इन्हीं किस्मों से कोकिंग कोयला प्राप्त होता है । पानी का सान्द्रण कम होने से क्यूटिनस पदार्थ का पतला स्तर बनता है । बाढ़ में वनस्पतियों के बहने के फलस्वरूप ड्यूरेन का निर्माण होता है । ड्यूरेन कोयले का वह रूप है जो चमकरहित, रंग में काला तथा देखने में गंदा एवं मटमैला मालूम पड़ता है । अन्त में उपर्युक्त पदार्थों के दलदल में एकत्र होने से पीट (Peat) प्राप्त होता है जो कोयला निर्माण का प्रथम चरण है ।

पीट से ऐंथ्रासाइट बनने में रासायनिक, भौतिक एवं अन्य प्रकार के परिवर्तन आते हैं । पीट बनने के बाद जीवाणुओं की भूमिका लगभग नगण्य हो जाती है तथा अधिकतर परिवर्तन रासायनिक होते हैं जो ताप एवं दाब के बदलने से होते हैं । ताप एवं दाब में वृद्धि ऊपरी हिस्से में अवसाद के एकत्र होने से होती है । पीट बनते-बनते वनस्पतियों में शामिल ऑक्सीजन का लगभग 10% भाग का क्षय हो जाता है । इससे आगे की क्रियाओं में मुक्त होने वाला ऑक्सीजन कार्बन से संयुक्त होकर कार्बन मोनोक्साइड तथा कार्बन डाइऑक्साइड बनाता है। इस प्रकार निर्मित कार्बन मोनोक्साइड तथा कार्बन डाइऑक्साइड क्षयशील वनस्पति से बाहर निकलकर वायुमंडल में शामिल हो जाता है । इस प्रकार परिवर्तन चलते रहते हैं तथा वनसति से पीट, पीट से लिगनाइट, लिगनाइट से बिटुमिनस कोयला तथा अन्त में ऐंथ्रासाइट बनता है ।

भारत में कोयला दो क्षितिज के चट्टानों में पाया जाता है, एक है गौंडवाना तथा दूसरा तृतीयक (टर्सियरी)। गौंडवाना काल के कोयले का निर्माण स्थानान्तरण विधि से हुआ माना जाता है । जे० डब्ल्यू ह्वाइटेकर के मतानुसार निम्न गौंडवाना कोयला (विशेषकर झरिया एवं रानीगंज क्षेत्र में) शायद कार्बोनिफेरस काल में घटित होने वाले 'हिमयुग' (आइस एज) के पूर्व ही निर्मित हो चुके थे तथा उसके बाद बर्फ से पिघलकर निकलने वाले पानी के साथ बहकर घाटियों एवं गर्तों में लिगनाइट के रूप में जमा हो गये । इन्हीं स्थानों पर आज लिगनाइट के निक्षेप पाये जाते हैं । प्रो० एन० एन० चटर्जी उपर्युक्त विचार से सहमत नहीं है । उनके मतानुसार कार्बोनिफेरस काल में आये 'हिमयुग' के पूर्व प्रायद्वीपीय भारत में विस्तृत जंगल एवं लिगनाइट की उपस्थिति का कोई प्रमाण नहीं मिलता । प्रो० एस० के० राय के विचार में गिरिडीह, झरिया एवं रानीगंज का कोयला स्थानान्तरण विधि से निर्मित नहीं है । इसका कारण यह है कि यहाँ कोयला स्तर की मोटाई में स्थान-स्थान पर बहुत अन्तर है। डॉ० एफ० अहमद ने भी विचार व्यक्त किया है कि गौंडवाना कोयला स्थानान्तरण विधि से नहीं बल्कि स्वस्थानीय विधि से निर्मित हुआ, क्योंकि इस तरह का परतदार कोयला स्वस्थानीय ही हो सकता है । परन्तु अनेक भूविज्ञानवेत्ता एफ० अहमद के विचार से सहमत नहीं हैं । अधिकांश भू-वैज्ञानिकों का मत है कि निम्न गौंडवाना कोयला स्थानान्तरण विधि से मीठे जल की द्रोणी में निर्मित हुआ है ।

भारत में तृतीयक युग का कोयला (जिसमें लिगनाइट भी शामिल है), असम, जम्मू एवं काश्मीर, राजस्थान, तमिलनाडु एवं कच्छ में पाया जाता है । चूँकि यह कोयला बहुत हाल का बना हुआ है, अत: यह लिगनाइट से अधिक उच्चतर श्रेणी का नहीं बन पाया (सिर्फ हिमालय क्षेत्र को छोड़कर) । इस कोयले में उन्हीं स्थानों पर ऐंथ्रासाइट का निर्माण हो पाया है जहाँ काफी विवर्तनीय दाब (टेक्टॉनिक दाब) पड़ा है ।

कोयला भी प्राय: ऐंथ्रासाइट के रूप में ही पाया जाता है । अन्य क्षेत्रों में भी जहाँ-जहाँ लिगनाइट का वलन हुआ है वहाँ लिगनाइट ऐंथ्रासाइट में परिवर्तित हो गया है। ■■

विषैले जीवों और पदार्थों के विष से सुरक्षा

डॉ० अमिता पाण्डेय

देश में अनेक लोग तरह-तरह के विष की चपेट में आकर असमय मृत्यु का शिकार बन जाते हैं। कभी जहरीले साँप या बिच्छु के विष का खतरा होता है तो कभी मनुष्य आत्महत्या के उद्देश्य से विष का सेवन कर बैठता है। यदि समय से विष के प्रकार की पहचान कर ली जाए और तत्काल इलाज कराया जाए तो भिन्न-भिन्न प्रकार के विष से पीड़ित व्यक्ति की जान बचाई जा सकती है।

जहरीले साँपों से सुरक्षा की दृष्टि से देहाती इलाका सबसे ज्यादा असुरक्षित है। ऊबड़-खाबड़ जमीन, खाई, खनदक, घनी झाड़ियाँ, पुराने घरों में चूहों द्वारा बनाए गए बिल आदि इनके सुरक्षित स्थान हैं। बरसात के मौसम में जहरीले साँपों का खतरा बढ़ जाता है; और यही कारण है कि गाँवों में जहरीले साँप के काटने से हर साल कई मौतें होती हैं। कभी तो विषहीन साँप द्वारा काटे जाने पर भी मौत हो जाती है जिसका कारण साँप के प्रति भय होता है और कभी यह मानकर कि साँप विषैला नहीं है, प्रभावित व्यक्ति को समयोचित उपचार नहीं दिया जाता है और अन्तत: वह मृत्यु का शिकार बन जाता है। अत: विषैले व विषहीन साँपों की पहचान आवश्यक है।

साँपों की पहचान

विषैले और विषहीन साँपों की पहचान के लिए उसके शरीर पर बनी धारियों का अध्ययन महत्वपूर्ण है। यदि किसी को साँप ने काट लिया है और उस व्यक्ति द्वारा या किसी अन्य व्यक्ति की सहायता से साँप मार डाला गया हो तो साँप के पेट में बनी धारियों को देखें उसके बाद उसके सिर और पूरे शरीर का अध्ययन करें।

विषहीन साँप

विषहीन साँप के पेट के मध्य की धारियाँ एक किनारे से दूसरे किनारे तक नहीं पहुँचती हैं, बल्कि दोनों किनारों पर छोटी छोटी शल्कें पाई जाती हैं अथवा पीठ की आखिरी पंक्ति में मौजूद शल्कों की तरह पूरे निचले भाग में शल्कें होती हैं। विषहीन साँपों में फण नहीं होते हैं, न ही ऊपरी जबड़े में दो बड़े-बड़े दाँत होते हैं, बल्कि छोटे-छोटे दाँतों की अनेक पंक्तियाँ होती हैं। इसके अतिरिक्त पूँछ काफी चपटी होती है। यदि किसी साँप में ये चिन्ह मौजूद हों तो वह विषहीन है और इसकी चपेट में आए व्यक्ति को साधारण पट्टी के अलावा किसी चिकित्सा की जरूरत नहीं है।

विषैले साँप मुख्यत: निम्न दो प्रकार के होते हैं-

1. ***कोबरा और करैत श्रेणी*** - इनकी पहचान है—

   (अ) सिर और शरीर की चौड़ाई लगभग बराबर होती है जिससे गर्दन की पहचान नहीं की जा सकती है।

   (ब) आँख की पुतली गोल होती है।

   (स) पेट के मध्य में बनी धारियाँ एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँचती हैं।

सी 270- ए, सेक्टर 19, नोएडा -201301

(द) शल्कों की पृष्ठ रेखा षटकोण आकार की होती है।

कोबरा : आमतौर पर कोबरा 5 से 15 फुट लम्बा और गाढ़ा भूरा अथवा भूरा और सुनहले पीले रंग का होता है। इसे छेड़ते ही सिर ऊपर उठा लेता है और सिर फन के आकार का हो जाता है।

करैत : साधारणत: करैत 4-5 फुट लम्बा और चमकदार भूरे नीले रंग का होता है। पूरे शरीर पर सफेद पटिटयों से बने जोड़ों की कतारें होती हैं।

2. *वाइपर जाति के साँप*

इसमें रसेल वाइपर, पिट वाइपर, सॉ - स्केल वाइपर आते हैं। इनकी मुख्य पहचान निम्न हैं-

(अ) सिर चौड़ा और तिकोने आकार का होता है और गर्दन अच्छी तरह दिखाई देती है।

(ब) पूरा सिर छोटे-छोटे शल्कों से ढँका होता है। इसी आकार के शल्क पूरे शरीर पर मौजूद होते हैं।

(स) शरीर की धारियाँ पूरी तरह एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँचती है और आँख की पुतलियाँ ऊर्ध्व होती हैं।

रसेल वाइपर: यह भूरे रंग का होता है। मुँह तिकोना और उपरी जबड़े में बड़े विषदन्त होते हैं। इस साँप की विशेषता यह है कि अंडाकार धब्बों की तीन कतारें पूरे शरीर पर होती हैं।

सॉ-स्केल वाइपर : इसकी लम्बाई 1 से 2 फुट होती है और भूरे अथवा मटमैले भूरे रंग का होता है। इसका सिर तिकोना और उस पर सफेद तीर के आकार का निशान होता है। इसकी पीठ पर, सिर से पूँछ तक हीरे के आकार के विशेष चिन्ह पाए जाते हैं।

पिट वाइपर: पिट-वाइपर साँप की विशेष पहचानयह है कि इसके आँख और नासा छिद्र के बीच एक छोटा सा गड्ढा होता है।

कोबरा, करैत और वाइपर जैसे विषैले साँपों के काटने में निम्न भिन्नता है।

कोबरा/करैत

-विष तंत्रिकाओं पर असर डालता है।

-काटे गए स्थान पर जलन तथा डंक मारने जैसा दर्द होता है और खून बहुत कम निकलता है।

-काटे गए स्थान पर सूजन हो सकती है।

-रोगी की आँख बन्द होने लगती है, उसे चक्कर आता है और कमजोरी अनुभव होती है, हाथ-पैर निष्क्रिय होने लगते हैं। साँस लेने में अत्यन्त कठिनाई होती है और सांस बन्द हो जाने से रोगी की मृत्यु हो जाती है।

वाइपर साँप

-विष रक्त को प्रभावित करता है।

-काटे गए स्थान पर लगातार असहनीय पीड़ा होती है और खून लगातार बहता रहता है।

-वह स्थान काफी सूज जाता है।

-मिचली और उल्टी आती है। नाक, मसूड़ों से खून बहता है और मूत्र में भी खून आ जाता है। खून की कमी से रोगी की मृत्यु हो जाती है। खून का थक्का आसानी से नहीं बनता है।

इलाज कैसे किया जाए ?

जिसे भी साँप के काटे जाने की आशंका हो उसे तुरन्त ही प्राथमिक उपचार देना चाहिए। उसे विष रोधी दवा के

लिए तुरन्त ही पास के अस्पताल अथवा प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र पहुँचाने की व्यवस्था की जानी चाहिए। जीवन बचाने के लिए मात्र यही एक उपाय है। रोगी को सांत्वना दी जाए। याद रहे मृत्यु के भय से उसे आघात लग सकता है।

यदि साँप ने पैर में काटा हो तो जाँघ को और यदि हाथ में काटा हो तो बाँह को किसी रूमाल, कपड़े या रस्सी से हल्का सा बाँध देना चाहिए जिससे रक्त का प्रवाह मन्द पड़ जाए परन्तु कस कर बाँधने से रक्त का प्रवाह न रूके। इससे रोगी की प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र तक ले जाने के समय तक उसके रक्त संचार के साथ विष फैलने में समय लगेगा।

काटे गए स्थान को हिलाएँ डुलाएँ नहीं। बेहतर होगा उस स्थान पर खपच्ची बाँध दी जाए। ऐसा न करने से रक्त प्रवाह मन्द करने के बावजूद भी खून में विष तेजी से प्रवेश कर सकता है।

बिच्छु का डंक

विच्छुओं की पूँछ में डंक होता है जो अपनी रक्षा के लिए प्रयोग करते हैं। इस डंक में जहर होता है। इसके काटने पर सामान्य अथवा बहुत तेज दर्द होता है जो कि कुछ घंटों तक या एक से दो दिन तक भी रह सकता है। इसके काटने पर बाह्य लक्षण नहीं दखते हैं फिर भी शरीर में दर्द, उल्टी, पसीना आना, अत्यधिक लार निकलना और साँसों का तेज चलना हो सकता है। बहुत ही कम मनुष्यों में रक्तचाप कम होने की भी शिकायत पाई जाती है। कभी-कभी हृदय में विष का असर होने के कारण मौत भी हो जाती है।

दर्द दूर करने के लिए पैरासिटामोल की टिकिया देनी चाहिए। मरीज को ज्यादा से ज्यादा तरल पदार्थ देना चाहिए। काटे हुए स्थान पर पोटैशियम परमैगनेट के कुछ कण और एक बूँद नींबू का रस डालना चाहिए। यह विष का ऑक्सीकरण करके दर्द कम करता है।

मधुमक्खी और ततैया का डंक

अकेली मधुमक्खी या ततैया के काटने से केवल मामूली डंक का दर्द होता है। इसके लिए काटे हुए हिस्सों में बर्फ या तनु सिरका लगाने से आराम मिलता है। यदि इनके झुंड की अनेक मधुमक्खियाँ या ततैया डंक मारे तो असर काफी तेज होता है और घबराहट से मृत्यु हो जाती है। इस तरह के मरीज को तुरन्त अस्पताल ले जाना चाहिए। ऐसे मरीज को इफ्रेडीन की एक टिकिया उसके बाद 3 या 4 दिन तक क्लोरफिनाइरामाइन टिकिया दिन में तीन बार देनी चाहिए।

जहर खाना

शरीर में जहर फैलने का एक कारण दुर्घनावश या जानबूझ कर किसी विषैली दवा या पदार्थ का सेवन करना भी होता है। बच्चों में किसी जहरीले पौधों के फल खाने से भी जहर फैल जाता है। सड़े-गले पदार्थों से भी जहर का तेज असर होता है। कच्ची देशी शराब का जहरीला रूप धारण कर लेना आम बात है जिससे आए दिन अनेक मौतें होती हैं। इससे बचने का सबसे सरल उपाय है कि आशंका वालें किसी भी तरह के विषैले पदार्थ की शीशी, रसायन को सुरक्षित स्थान पर रखा जाए। उल्टी के साथ निकलने वाले पदार्थों को जाँच के लिए रख लेना चाहिए जिसकी जाँच की सहायता से डॉक्टर आसानी से इलाज कर सके।

इलाज कैसे हो ?

1. ऐसे मरीज को यदि उल्टी न हो रही हो तो गर्दन के पीछे गुदगुदी करा के उल्टी कराने का प्रयास करना चाहिए। यदि इससे भी उल्टी न हो तो प्रत्येक गिलास पानी में 4 चम्मच नमक मिला कर काफी मात्रा में पानी पिलाना चाहिए। यदि विष खाए 4 घंटे से ज्यादा समय बीत गया हो तो उल्टी नहीं होती है।

यदि जहर का प्रकार पेट्रोलियम या संक्षारित पदार्थ होने की आशंका हो तो उल्टी नहीं करानी चाहिए। तेज अम्ल या क्षार जैसे संक्षारित पदार्थ की स्थिति में होंठ और मुँह भूरे सफेद हो जाते हैं।

2. उल्टी कराने के बाद शरीर में शेष जहर का असर कम करने के लिए मरीज को दूध या फेंटा हुआ अंडा देना चाहिए। इसके स्थान पर चारकोल का चूर्ण भी दिया जा सकता है। चारकोल का चूर्ण जहर को अपने में सोख लेता है। संक्षारित पदार्थ के जहर की स्थिति में चारकोल चूर्ण नहीं देना चाहिए। 4 चम्मच चारकोल के चूर्ण को 2 गिलास (400 मिली०) पानी में घोल कर 15-15 मिनट पर आधा-आधा गिलास देना चाहिए। यदि चारकोल का चूर्ण उपलब्ध नहीं हो तो रोटी या ब्रेड को जला कर इस्तेमाल किया जा सकता है।

3. यदि मरीज बेहोश हो तो उसको करवट के बल लिटाना चाहिए और सर को पीछे की ओर थोडा झुका देना चाहिए जिससे जीभ के उलटने से दम न घुटे। इस तरह लिटाने से मुँह द्वारा तरल पदार्थ बाहर निकलने में आसानी होती है। यदि मरीज की सांस बन्द हो रही हो तो उसे कृत्रिम सांस देना चाहिए।

जहर खाए सभी रोगियों को तुरन्त डॉक्टर के पास ले जाना चाहिए और साथ में जहर की शीशी और उल्टी आदि के नमूनों को भी दिखाना चाहिए जिससे समय पर उचित इलाज द्वारा रोगी की जान बचाई जा सके।

■■

धर्म और विज्ञान

प्रेम सिंह

आज यहाँ दो शब्द कहते हुए मुझे संकोच और गौरव का बोध हो रहा है। धर्म क्षेत्र के इतने अधिकारी विद्वानों के बीच बोलना जहाँ मुझे सहज रूप से संकुचित कर रहा है, वहाँ इस बात का गौरव भी हो रहा है कि इस पवित्र और महत्वपूर्ण अवसर पर मैं आप सबके बीच हूँ। श्री रामकृष्ण की मूर्ति की स्थापना का योग हम सबके लिए बड़ा उल्लासकारी है।उन्होंने आधुनिक हिन्दु धर्म को मानवीयता और करूणा से आप्लावित किया। मतवादों के नाम पर झगड़नेवाले मानव समुदाय को सब धर्मों की आत्मा एक है, प्रभु को हर समुदाय का सदस्य अपने-अपने आचार-अनुष्ठान का पालन करते हुए पा सकता है, का अनुभूत सन्देश दिया।'गीता' में दिये गये भगवान कृष्ण के आप्त सन्देश का उन्होंने अपने जीवन में साक्षात् किया था। हिन्दु, ईसाई, इसलाम सभी उपासना-पद्धतियों से उन्होंने परम ब्रह्म की सत्ता की अनुभूति की थी। ऐसे महापुरूष की याद में आयोजित यह समारोह हमारेभौतिक संसाधनों

मारीशिस स्थित भारत के कार्यकारी हाई कमिश्नर, के 17 अप्रैल 1981 को 'धर्म और विज्ञान' विषय पर रखे गए संवाद के अध्यक्षमदीय व्याख्यान

की उपलब्धि में व्यस्त सांसारिक जीवन को अवश्य ही आध्यात्मिकता का स्पर्श देगा ।

आज की चर्चा का विषय है 'धर्म और विज्ञान' । अनेक अधिकारी पुरुष इस विषय पर अपने सारगर्भित विचार व्यक्त कर चुके हैं । मेरा यह स्पष्ट मत है कि धर्म और विज्ञान दो परस्पर-विरोधी और कभी न मिलने वाले सूत्र नहीं हैं । न ही ये एक दूसरे की बखिया उधेड़ने वाले विचार-बोध हैं । ये अविरोधी और एक दूसरे के सहयोगी हैं । धर्म और विज्ञान अपने-अपने मार्ग और पद्धति से एक ही आदि सत्ता तक पहुँचने में सतत प्रयत्नरत हैं । धर्म का ब्रह्म और विज्ञान की ऊर्जा एक दूसरे के पास पहुँच रहे हैं । जब से आइंस्टीन ने पदार्थ को ऊर्जा का परिवर्तित रूप घोषित किया, तबसे विज्ञान की सारी भौतिक और जड़वादी मान्यताएं ध्वस्त हो गयीं । वैज्ञानिकों ने सारे जगत् को ऊर्जा का भासित रूप स्वीकार किया ।

धर्म और विज्ञान का परस्पर-विरोधी स्वरूप पश्चिम की देन है । 18 वीं शती के अन्तिम चरण में जब विज्ञान अपने आधुनिक रूप में जन्म ले रहा था, तब पश्चिम का धर्म अपनी पुस्तकीय प्रतिबद्धता के कारण आतंकित हो उठा था । उसने अपने सत्य को ढहने से बचाने के लिए वैज्ञानिकों और विचारकों को फाँसी पर चढ़ाना शुरू कर दिया । अपनी लाख दमनकारी कोशिशों के बावजूद पश्चिम का धर्म अपने सत्य को विज्ञान की खोज से उभरे शाश्वत सत्य के सामने टिका नहीं सका । लेकिन पूरब में ऐसा कभी नहीं हुआ । भारतीय मनीषी ने सत्य के हर उद्घाटन को पुराने सत्य की पराजय नहीं, समृद्धि माना और अज्ञात की हर खोज को ब्रह्म का साक्षात्कार कहा । इसीलिए आर्यभट्ट, वराहमिहिर, रोहिणी, चरक, सुश्रुत आदि विभिन्न क्षेत्रों के वैज्ञानिक 'ऋषि' कहलाये । मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता का यह कैसा हृदयग्राही उदाहरण है कि पृथ्वी घूमती है कहने वाला गैलेलियो सूली पर चढ़ा दिया गया, लेकिन अणु को ब्रह्म का पर्याय मानने वाले कणाद को 'ऋषि' का दर्जा दिया गया ।

मैने शुरू में कहा था कि धर्म और विज्ञान अविरोधी और परस्पर सहयोगी हैं । जब मैं धर्म की बात करता हूँ, तो उसका अर्थ 'रिलीजन' से बिल्कुल अलग समझना चाहिए । 'रिलीजन' जिसे भारतीय अध्यात्म-शब्दावली में सम्प्रदाय या मत कहते हैं, एक पुस्तक और एक पैगम्बर से प्रतिबद्ध होता है, उससे हटकर सोचना उसके अनुयायियों को पथभ्रष्ट या विद्रोही बनाता है, लेकिन धर्म के सामने ऐसी कोई रुकावट नहीं होती, वह मूल्यों की प्रतिबद्धता का हामी है । इन मूल्यों की निर्मिति और स्थापना में अनेक पुस्तकों और पैगम्बरों का योगदान हो सकता है, किन्तु इनका कथन अन्तिम नहीं होता है । आने वाली पीढ़ियाँ इन मूल्यों को और समृद्ध तथा संशोधित करने को स्वतंत्र होती हैं । इसलिए भारतीय मनीषियों ने धर्म की व्याख्या करतेहुए उसे जीवन-मूल्यों से जोड़ा, पूजा-पद्धतियों या कर्मकाण्डों से नहीं ।

आखिर विज्ञान की अन्तिम खोज क्या है ? उन शाश्वत एवं आधारभूत नियमों का पता लगाना, जिनसे इस सृष्टि का या वैज्ञानिक अवलोकनों से जानकारी में आने वाली अन्य सृष्टि का परिचालन हो रहा है, धारणा हो रही है । इन नियमों को जानकर विज्ञान तदनुरूप अपने सिद्धान्तों की रचना करता है । न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण और गति का सिद्धान्त, जेम्स वाट की रेलगाड़ी और राइट ब्रदर्स की विमान की उड़ान तथा आइंस्टीन का सापेक्षवाद अनादिकाल से चले आ रहे प्राकृतिक नियमों की जानकारी मात्र है और इन्हीं से अनेक रचनाएं हुई, जिनसे आज मानव समुदाय लाभ उठा रहे हैं । और धर्म ? शास्त्रों ने कहा है कि "धारणात धर्मम् इत्याहु:," जिससे धारणा होती है वही धर्म है । इस सृष्टि की धारणा जिन नियमों पर आधारित है, उसे धर्म कहते हैं । प्रकृति का अपना धर्म है, मानव का अपना धर्म है ।

इतना ही नहीं, भगवान का भी अपना धर्म है । इस धर्म अर्थात् प्राकृतिक नियमों के विपरीत चलने से पतन होता है, सृष्टि का सन्तुलन बिगड़ता है । इसीलिए शास्त्रों ने धर्म की और सहज व्याख्या करते हुए कहा कि "यतो

अभ्युदयनि: श्रेयस सिद्धि: स धर्म:, जिससे मनुष्य को सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन में सिद्धि मिले, वही धर्म है। ये दोनों सिद्धियाँ सृष्टि में निहित मूलभूत नियमों के आचरण से ही प्राप्त होंगी। इसके विपरीत जाने से सर्वनाश होगा, यह धर्म का विधान है।

सृष्टि में निहित शाश्वत नियमों से अपनी तकनीक विकसित करने वाला विज्ञान आज स्वयं धर्मच्युत हो गया है। उसने ऊर्जा का उपयोग दैत्याकार उद्योग खड़ा करने के लिए किया, लेकिन उसके कचरे की महामारी पर उसका ध्यान बिल्कुल नहीं गया। इसीलिए आज प्रदूषण की महामारी संसार में फैल रही है। लेकिन प्रकृति में यह महामारी नहीं है। आदमी के जहर कार्बन डाइ-ऑक्साइड को पेड़ लेते हैं और अपने जहर ऑक्सीजन को आदमी को दे देते हैं। एक का जहर दूसरे के लिए अमृत, यह है प्रकृति की सुव्यवस्थित रचना। विज्ञान प्राकृतिक नियमों का शोषण करने में तो समर्थ हुआ है, लेकिन उन्हें संतुलन और स्वस्थ जीवन देने में वह अपने को निरूपाय पा रहा है। इसीलिए आज आवश्यक है कि विज्ञान को धर्म से जोड़ा जाय, उसे आधारभूत शाश्वत नियमों के विरूद्ध न जाने दिया जाय।

विज्ञान और धर्म दोनों का एक ही वाक्य है—सत्य की खोज। रास्ते अलग हैं, किन्तु लक्ष्य एक है। विज्ञान सत्य को चर्मचक्षुओं से तर्क के आधार पर देखने में विश्वास करता है। वह किसी घटना या स्थिति में तब तक विश्वास नहीं करता, जब तक उसके होने के लिए उसके पास तर्क का सुस्पष्ट प्रमाण न हो। धर्म भी प्रमाणों और तर्कों पर विश्वास करता है, किन्तु वह उपकरणीय या चाक्षुष प्रमाणों पर ही आश्रित नहीं होता। वह अलौकिक शक्तियों पर भी विश्वास करता है, जिनकी विज्ञान पहले खिल्ली उड़ाता था, लेकिन अब परामनोविज्ञान और टेलीपेथी आदि के विकास के कारण उन्हें वैज्ञानिक मानने को बाध्य हो रहा है। धर्म तो सत्य का इतना बड़ा पक्षधर है कि उसने स्पष्ट घोषणा की है कि सत्य ब्रह्म है। किसी चीज को उसके वास्तविक स्वरूप में जान लेना ही ब्रह्म है। यही बोध धर्म का चरम लक्ष्य है।

विज्ञान स्वभावत: विश्लेषण में विश्वास करता है, इसीलिए आज वह नाना प्रकार की विसंगतियों का शिकार है। वस्तु का अन्तर्तम फाड़कर उसके चरम सत्य में झाँकने में तो उसकी बड़ी ललक है, किन्तु उस फटने की क्रिया में प्राकृतिक नियमों में कितना असन्तुलन हो जाता है और उनकी जटिलता कितनी बढ़ जाती है उसकी जानकारी रखते हुए भी उसका निदान अपनी खोज की मस्ती में विज्ञान नहीं करता। इसी कारण 'आफ्टर इफैक्ट' की बीमारी विज्ञान में तेजी से बढ़ रही है। एक से एक बढ़कर संहार करने वाले बम तो बन गये हैं, लेकिन उनके संहारक-मारक प्रभाव को नष्ट करने वाले बम कहाँ हैं, जो सृष्टि को असन्तुलन और नियमहीनता के सर्वनाश से बचा सकें ? दूसरी ओर धर्म विश्लेषण नहीं, सामंजस्य पर बल देता है। जब धर्म ने घोषित किया कि अग्नि को अकारण जल--- रखना, पेड़ काटना, नदी के जल को दूषित करना जघन्य पाप है, तो यह सृष्टि की रचना को स्वस्थ रखने का सामंजस्यपूर्ण उपाय है। इसी प्रकार जब शास्त्रों ने कहा कि धैर्य, क्षमा, चोरी न करना, शुद्धता, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धिमत्ता, विद्या, सत्य और क्रोध न करना, मानवधर्म के दस लक्षण हैं, तो इसमें भी सामंजस्य का बोध है। इन नियमों का पालन करने से मानव समाज बिना 'आफ्टर इफैक्ट' पैदा किया उदात्त जीवन जी सकेगा। इसी से वह चरम सत्य तक पहुँच सकेगा। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा से युक्त मनुष्य के जीवन में इन्हीं नियमों के आचरण से तनावहीन सामंजस्य पैदा हो सकेगा।

विज्ञान और धर्म दोनों की सत्य की खोज जारी है। विज्ञान अभी इस चरम बिन्दु पर नहीं पहुँच पाया है, जहाँ जाकर वह यह कह सके कि अब उसके आगे कुछ नहीं है.। धर्म भी ब्रह्म को वैदिक काल से ही 'नेति नेति' कहता आ रहा है अर्थात् उसका कोई अन्त नहीं है।

विवेक शिखा' नवम्बर-दिसम्बर 1992 से साभार

पृथ्वी पर अनिष्टकारी पराबैंगनी किरण को आमंत्रण

उदय वीर सिंह

पृथ्वी से लगभग 15,00,00,000 किलोमीटर दूरी पर स्थित सूर्य पर अनवरत ताप शक्ति का अनुष्ठान चल रहा है, और वहाँ से अवगुण्ठन किरणों का अशेष उतरा करता है निर्निमेष। इन किरणों के संचरण के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए माध्यम शून्य अंतरिक्ष भी इन्हें रोक नहीं पाता। विभिन्न तरंग दैर्ध्य {एक पूरे कंपन में तरंग द्वारा तय की गयी दूरी} की ये किरणें बिना एक दूसरे को प्रभावित किये पृथ्वी की ओर 30,00,00,000 मीटर प्रति सेकेण्ड की चाल से सूर्य से पृथ्वी की यात्रा करती हैं। इन्हीं किरणों में से एक किरण है पराबैंगनी किरण जो पृथ्वी-वासियोंके लिए अनिष्टकारी है। प्रकृति इन्हें वायुमण्डल में अवशोषित करती रहती है किन्तु अब पृथ्वीवासी प्रकृति के इस प्रबन्ध को नष्ट करके इस अनिष्टकारी किरण को पृथ्वी पर आमंत्रित करने लगे हैं।

दृश्य-प्रकाश और पराबैंगनी किरण

पराबैंगनी किरणों का तरंग दैर्ध्य छोटा है। इसलिये अपने संग अत्यधिक ऊर्जा लिये चलती हैं। जिस दिशा में किरण चलती है उसी दिशा में ऊर्जा का संचरण होता है। ये किरणें प्रति सेकेण्ड 10,00,00,00,00,00,00,000 कम्पन करती हैं जो दृश्य प्रकाश से 100 गुना ज्यादा है। अत्यधिक कंपन संख्या के कारण पराबैंगनी किरणों की तीव्रता तथा बेधन शक्ति बहुत अधिक है। इतनी अधिक ऊर्जा की किरण यदि पृथ्वीवासी पर पड़ती रहे तो वह त्वचा कैंसर से पीड़ित हो जायेगा। आँख पर पड़ने पर ये किरणें मोतियाबिंद से पीड़ित कर देती हैं और कभी-कभी उनका इलाज असंभव हो जाने के कारण प्राणी अन्धा हो जाता है। विशाल कंपन संख्या के कारण ये मानव शरीर का जल तथा प्रोटीन भी अवशोषित करने लगती हैं, जिससे शरीर का तापक्रम बढ़ जाता है। फसलों पर इन किरणों के दुष्प्रभाव के कारण उत्पादन क्षमता कम हो जाती है।

कैसे बनती हैं सूर्य पर पराबैंगनी किरणें

परमाणु के गर्भ में विशाल ऊर्जा निहित है। परमाणु के नाभिक के चारों ओर ऋण आवेशित इलेक्ट्रॉन निरन्तर नाभिक का चक्कर लगाते रहते हैं। नाभिक में धन आवेशित प्रोटॉन तथा आवेश रहित न्यूट्रॉन के कण विद्यमान रहते हैं। इलेक्ट्रॉन तथा प्रोट्रॉन के कण बराबर होने के कारण परमाणु आवेश रहित रहते हैं।

सूर्य के चारों ओर हाइड्रोजन परमाणुओं का विशाल वायुमण्डल है। सूर्य की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण ये परमाणु अन्तरिक्ष में नहीं भाग पाते। इन परमाणुओं पर अभिकेन्द्र बल कार्य करता रहता है जिसकी दिशा सूर्य के केन्द्र की ओर रहती है। अभिकेन्द्र बल के कारण हाइड्रोजन परमाणु सूर्य के केन्द्र की ओर भागने का प्रयास करते हैं। इस भगदड़ में एक दूसरे के करीब आकर टकराते रहते हैं। टकराहट से दाब और तापक्रम काफी बढ़ जाता है जिसके कारण हाइड्रोजन के परमाणुओं के नाभिकों का संगलयन होने लगता है और ड्यूटेरियम परमाणु बनने लगते हैं।

अधीक्षण अभियंता, टाण्डा ताप विद्युत् परियोजना, विद्युत्नगर, फैजाबाद, उत्तर प्रदेश

तदोपरान्त ड्यूटेरियम परमाणु के दो नाभिकों का संगलयन होता है और हीलियम परमाणु का सृजन होता है साथ ही विशाल तापशक्ति उत्पन्न होती है । यह प्रक्रिया चित्र-२ में प्रदर्शित की गई है । एक किलोग्राम यूरेनियम के विखण्डन में जितनी तापशक्ति पृथ्वी पर पैदा की जाती है उससे 6 गुना तापशक्ति सूर्य पर इस नाभिकीय संगलयन द्वारा पैदा होती है । किसी वस्तु का तापक्रम 1500° सेन्टीग्रेड से अधिक होते ही उससे काफी पराबैंगनी किरणें उत्सर्जित होने लगती हैं जबकि सूर्य पर नाभिकीय संगलयन से 6,000° सेन्टीग्रेड तापक्रम हो जाता है और इसके केन्द्र पर तो 1,40,00,000° सेंटीग्रेड तक तापक्रम पहुँच जाता है । इसी कारण सूर्य से पराबैंगनी किरणों का उत्सर्जन होता रहता है । तापशक्ति की इस साधना में प्रति सेकेण्ड 40,00,000 टन हाइड्रोजन परमाणु का हवन हो रहा है ।

पराबैंगनी किरणों का वायुमंडल में अवशोषण

अत्यन्त तेज़ रफ़्तार से सूर्य से उतरती पराबैंगनी किरणें 5,80,00,000 किलोमीटर पर बुद्ध ग्रह, 10,70,00,000 किलोमीटर पर शुक्र ग्रह को निहारती या इनके सूर्य परिक्रमा के कक्ष को पार करती हुई 1,500,00,000 किलोमीटर की यात्रा करके पृथ्वी के वायुमंडल को स्पर्श करती हैं । पराबैंगनी किरणों के पृथ्वी की यात्रा का मार्ग चित्र 3 में दर्शाया गया है । पृथ्वी पर पहुँचने से पहले पृथ्वी के चारों ओर वायुमंडल का विशाल आवरण पराबैंगनी किरणों के मार्ग में आता है । वायुमंडल की विभिन्न परतें चित्र-4 में प्रदर्शित हैं । चित्र-4में स्पस्ट है पराबैंगनी किरणें सबसे पहले हल्की तथा निषक्रिय गैसों के वायुमंडल की 50 किलोमीटर मोटी पर्त पार करके वायु के विद्युत् आवेशित कणों के वायुमंडल में प्रवेश करती हैं । 560 किलोमीटर मोटी इस पर्त पार करने में भी पराबैंगनी किरणें सफल हो जाती हैं और जब पृथ्वी से मात्र 60 किलोमीटर की ऊँचाई पर रह जाती हैं तब इन्हें ओज़ोन के वायुमंडल की 48 किलोमीटर मोटी पर्त रोकने में सफल हो जाती हैं क्योंकि ओज़ोन की पर्त इन्हें अवशोषित कर लेती हैं और पृथ्वी पर उतरने नहीं देती है.।

ओज़ोन द्वारा अवशोषण का वैज्ञानिक विश्लेषण

ओज़ोन ऑक्सीजन का एक विशेष स्वरूप है जिसके अणु में ऑक्सीजन के तीन परमाणु होते हैं जबकि सामान्यत: ऑक्सीजन में दो ही परमाणु होते हैं । जैसे ही पराबैंगनी किरणें ओज़ोन परमाणुओं से टकराती हैं ओज़ोन ऑक्सीजीन अणु तथा ऑक्सीजन के स्वतंत्र परमाणु में विभक्त हो जाता है और अत्यधिक तापशक्ति उत्सर्जित होती है । कुछ समय के अन्तराल के बाद विभक्त ऑक्सीजन अणु तथा ऑक्सीजन का स्वतंत्र परमाणु मिलकर पुन: ओज़ोन का सृजन कर देते हैं । उत्सर्जित तापशक्ति के कारण वायु की संवहन धारायें चलती हैं जो पृथ्वी की जलवायु को नियंत्रित करती हैं । यदि ओज़ोन की मात्रा में कमी हो जाये और पराबैंगनी किरणों का अवशोषण कम हो जाये तो पराबैंगनी किरणें धरती पर उतरने लगेंगीं और उपरोक्त वर्णित उत्सर्जित तापशक्ति में कमी के कारण पृथ्वी की जलवायु भी सामान्य नहीं रह पायेगी ।

पृथ्वी पर चलने लगा है आकाश के ओज़ोन कवच के क्षरण का प्रयास

स्प्रे करने वाले खुशबूदार इत्रों, अग्नि शामक यंत्रों, कई रसायन उद्योगों, रेफ्रिजिरेटर, मोटर गाड़ियों के एअर कंडीश्नर, वायुवानों के प्रोपेलर, छोटे इलेक्ट्रॉनिक सर्किट साफ़ करने तथा पालीयूरीथेन फोम के निर्माण में क्लोरोफ्लोरोकार्बन का उपयोग होता है । क्लोरोफलोरोकार्बन गैस निष्क्रिय होने के कारण बिना किसी कठिनाई के वायुमंडल की ओज़ोन पर्त तक पहुँच जाती है और पराबैंगनी किरणों से इस रक्षा कवच का क्षरण प्रारम्भ कर देती है । क्लोरोफ्लोरोकार्बन पृथ्वी के बहुत से देश उपयोग कर रहे हैं किन्तु अमेरिका में इसका उपयोग सर्वाधिक है ।

जैसे ही क्लोरोफ्लोरोकार्बन के अणु पराबैंगनी किरणों से टकराते हैं एक क्लोरीन परमाणु का सृजन हो जाता है। क्लोरीन परमाणु ओज़ोन परमाणु पर आक्रमण करता है जिससे ऑक्सीजन अणु तथा क्लोरीन मोनोऑक्साइड बन जाता है। तत्पश्चात् क्लोरीन मोनोऑक्साइड से ऑक्सीजन परमाणु निकल जाता है और पुन: यह क्लोरीन परमाणु ओज़ोन के अन्य परमाणुओं को नष्ट करने में जुट जाता है। यही प्रक्रिया बार-बार चलती है और एक क्लोरीन परमाणु बार-बार पुनर्जीवित होकर 100,000 बार ओज़ोन के विभिन्न परमाणुओं को नष्ट कर देता है। यदि क्लोरोफ्लोरोकार्बन वायुमंडल में नहीं पहुँचता तो पराबैंगनी किरणों द्वारा ओज़ोन से विभक्त ऑक्सीजन अणु तथा स्वतंत्र ऑक्सीजन परमाणु पुन: मिलकर ओज़ोन का सृजन कर देते हैं किन्तु प्रदूषित दशा में स्वतंत्र ऑक्सीजन परमाणु के साथ क्लोरीन मोनो ऑक्साइड से निकला ऑक्सीजन परमाणु मिलकर ऑक्सीजन अणु बना लेता है और ओज़ोन बनने के लिए ऑक्सीजन का स्वतंत्र परमाणु उपलब्ध नहीं रह पाता। अनेक प्रकार से ओज़ोन को नष्ट करने वाला क्लोरोफ्लोरोकार्बन नित्य पृथ्वी पर निर्मित हो रहा है और वायुमंडल में जाकर ओज़ोन की पर्त को कम कर रहा है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि ओज़ोन पर्त के एक प्रतिशत का ह्रास होने से पृथ्वी पर त्वचा कैंसर के मरीजों में 3 प्रतिशत वृद्धि की सम्भावना है। अब तक पृथ्वी से 2,00,00,000 मेट्रिक टन ओज़ोन-क्षरण वाली गैसें वायुमण्डल में फेंकी जा चुकी हैं।

कहीं-कहीं उतरने लगी हैं पराबैंगनी किरणें

वैज्ञानिकों के अनुमान के अनुसार अब तक दक्षिणी ध्रुव के ऊपर की 50% ओज़ोन नष्ट हो चुकी है। इस क्षेत्र में गत कई वर्षों से ओज़ोन का क्षरण जारी है। आस्ट्रेलिया में पराबैंगनी किरणों के उतरने के प्रमाण मिले हैं जिसके कारण त्वचा कैंसर के पीड़ितों में वृद्धि हुई है तथा गेहूँ, सोयाबीन एवं मटर की फ़सलों के उत्पादन में कमी आई है। दक्षिणी गोलार्ध में स्थित अर्जेंटिना में भी त्वचा कैंसर के पीड़ितों में वृद्धि हुई है। न्यूजीलैंड में त्वचा-कैंसर के पीड़ितों में वृद्धि की सम्भावना व्यक्त की गई है। उत्तरी ध्रुव अभियान पर गये वैज्ञानिकों के दल ने इस क्षेत्र के ऊपर के वायुमंडल में भी ऐसे रसायनों की उपस्थिति देखी है जो ओज़ोन की पर्त को नष्ट करने में समर्थ हैं। इस संकेत से उत्तरी गोलार्ध में भी पराबैंगनी किरणों के उतरने की संभावना है। ओज़ोन-क्षरण का दुष्प्रभाव अभी उत्तरी गोलार्ध में इसलिये नहीं दृष्टिगोचर हो रहा है कि उत्तरी ध्रुव क्षेत्र के ऊपर घने कुहरे की पर्त है।

तब धूप निकलना दूभर हो जाएगा

यदि वायुमंडल का ओज़ोन दिन प्रतिदिन कम होता गया तो निकट भविष्य में ही दृश्य प्रकाश के साथ पृथ्वी पर पराबैंगनी किरणें भी उतरने लगेंगीं। उस समय दिन के दस बजे से सायं तीन बजे तक समूची पृथ्वी पर कर्फ्यू लगाना पड़ेगा क्योंकि धूप में निकलना अत्यन्त ख़तरनाक हो जाएगा। धूप में निकलते समय सभी हैट लगाये, सुरक्षा कवच पहने और वाइड स्पेक्ट्रम सन-स्क्रीन लगाये दिखाई पड़ेंगे। वर्तमान प्रचलित धूप के चश्में उन दिनों आँख को सुरक्षा नहीं प्रदान कर सकेंगें बल्कि धूप का चश्मा लगाकर बाहर घूमने पर आँख के अंधेपन की संभावना बढ़ जाएगी क्योंकि धूप के गहरे रंग का चश्मा लगाने पर आँख की पुतली अधिक चौड़ी हो जाती है जिससे पराबैंगनी किरणों द्वारा रेटिना तक पहुँच कर आँख को क्षति पहुँचाना आसान हो जायेगा। पराबैंगनी किरणों को अवशोषित करने वाले लेंस का चश्मा लगाकर ही धूप में निकलना संभव होगा। दिन में आकाश की ओर देखना भी ख़तरे को आमंत्रित करने जैसा होगा। त्वचा कैंसर की संभावरना के कारण धूप में घूमने की सारी स्वच्छन्दता उन दिनों समाप्त हो जायेगी।

ओज़ोन-क्षरण पर पृथ्वी के देशों की प्रतिक्रिया
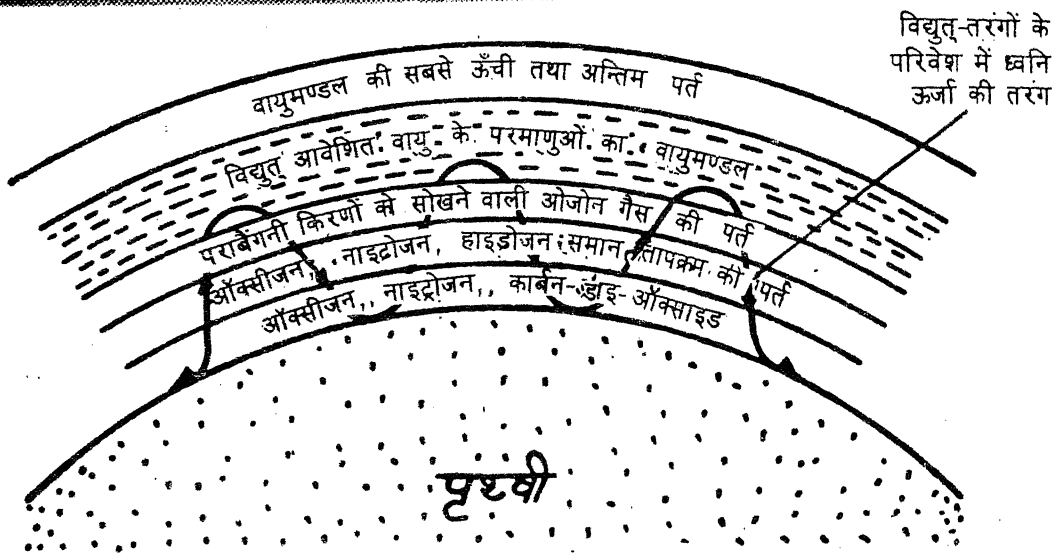
1985 में ज्यों ही ओज़ोन-क्षरण का प्रमाण वैज्ञानिकों को मिला संपूर्ण विश्व चिन्तामग्न हो गया और ओज़ोन-क्षरण को रोकने का उपाय गंभीरतापूर्वक सोचा जाने लगा। 1987 में मॉन्ट्रियल में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया और उसमें भाग लेने वाले सभी देशों ने निर्णय लिया कि 1999 तक क्लोरोफ्लोरोकार्बन के निर्माण में 56 प्रतिशत की कमी की जाय। धीरे-धीरे ओज़ोन क्षरण का दुष्प्रभाव जब दक्षिणी गोलार्ध में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगा, सभी देश घबराये और 1990 में इस समस्या के शीघ्र निदान के लिए पुन: लंदन में एकत्रित हुए और निर्णय लिया गया कि 2000 तक क्लोरोफ्लोरोकार्बन का निर्माण पूरी तरह बन्द कर दिया जाये और इस रसायन के विकल्प की तलाश तुरन्त प्रारम्भ कर दिया जाये। निर्णय का कार्यान्वयन अपेक्षित गति से नहीं हुआ और उत्तरी गोलार्ध के डेनमार्क में भी पराबैंगनी किरणों के उतरने की संभावना व्यक्त की जाने लगी तो जर्मनी के पर्यावरण मंत्रालय ने सभी देशों से अपील किया कि इस दैवी आपदा से बचने के लिए क्लोरोफ्लोरोकार्बन का निर्माण 1995 तक पूरी तरह से बन्द कर देना ही पृथ्वीवासियों के लिए कल्याणकारी होगा। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने निर्णय लिया कि 1996 तक उपरोक्त रसायन का निर्माण पूरी तरह बन्द करने का हर संभव प्रयास किया जायेगा।

सभी निर्णयों के बावजूद इस दिशा में किये गये प्रयास अत्यन्त असन्तोषजनक हैं।

वायुमण्डल के ओज़ोन की काफी क्षति हो चुकी है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि ओज़ोन-क्षरण करने वाले रसायनों का निर्माण यदि सन् 2000 तक बन्द कर दिया जाये तो भी ओज़ोन पर्त की हुई क्षति को स्वाभाविक रूप से ठीक होने में 80 वर्ष से अधिक समय लग सकता है। सभ्यता के विकास क्रम में पृथ्वीवासियों को प्रकृति द्वारा विध्वंस की विराटता के रहस्य का ज्ञान भी आवश्यक है। पर्यावरण की दृष्टि से नियंत्रित वायुमण्डल के प्राकृतिक उपाय को छिन्न-भिन्न करना पृथ्वीवासियों को गंभीर ख़तरे में डाल सकता है। इसलिए वायुमण्डल के रक्षा-कवच-ओज़ोन को बहुव्यापी एवं जटिल प्रदूषण से बचाना होगा। इस दिशा में थोड़ी भी असावधानी होने पर पराबैंगनी किरणें उतर कर पृथ्वी को अन्य ग्रहों की भाँति सुनसान और वीरान बना सकती हैं।

■■

प्रतिपदार्थ

राजीव गुप्ता

पदार्थ के प्रतिपक्षी "प्रतिपदार्थ" की कल्पना तो सन् 1928 में ही सापेक्षवादी क्वान्टम सिद्धान्त के अन्तर्गत ही कर ली गयी थी, पर तब उस सम्बन्ध में वैसे प्रत्यक्ष प्रयोग संभव न थे जैसे की आज हो गये हैं। जिस प्रकार क्रिया की प्रतिक्रिया और ध्वनि की प्रतिध्वनि होती है उसी प्रकार 'पदार्थ' के साथ-साथ "प्रतिपदार्थ" भी काम करता है। यह बात पहली बार सैद्धान्तिक स्तर पर बीसवें दशक में प्रतिपादित की गई थी।७

कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय ने सन् 1970 में सबसे पहले "प्रतिकण" के अस्तित्व को कल्पना क्षेत्र से आगे बढ़ाकर प्रमाणित स्तर पर खड़ा किया था। न्यूक्लियर {नाभिकीय} प्रतिक्रिया के दौरान "प्रतिकण" का फोटो खींचा गया था। इसके लिए एक सेकेण्ड के पन्द्रह अरबवें भाग में फोटो खींच सकने वाला यन्त्र विशेष रूप से बनाया गया था और उस प्रमाणित प्रतिकण का नाम 'सेन्टीआयगा माइन्स' दिया गया था। तबसे अब तक इन पन्द्रह वर्षों में और भी कई प्रतिकण खोजे जा चुके हैं। एक के भीतर अनेक सृष्टियों की कल्पना वैसी ही है जैसी जल के भीतर जल। यों सामान्य बुद्धि से परीक्षण करना चाहें या हाथ से अलग करना चाहें तो सामान्य जल से इस भारी जल को अलग नहीं किया जा सकता। अप्रत्यक्ष के अस्तित्व को स्वीकार न करने का कारण यही है कि हम उतनी ही बुद्धि को पूर्ण मान बैठे हैं। किन्तु जब वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा उसका प्रभाव स्पष्ट दिखा देते हैं तो हमें उस बात को मानने को विवश होना पड़ता है। जल के भीतर जल की बात ऐसी ही है। लगती तो यह आश्चर्य भरी बात है, किन्तु परमाणु वैज्ञानिक "भारी जल" की सन् 1931 में खोज करने व परमाणु-विखण्डन तकनीक में इसके प्रयोग पर जब क्रियाशील हुए तो यह सच लगने लगा। सबसे हल्के तत्व हाइड्रोजन के नाभिक में जब एक न्यूट्रॉन का समावेश और हो जाता है तो यही साधारण जल H_2O भारी जल बन जाता है व इसकी विशेषतायें अनेक गुना हो जाती है। लगभग 65 से 70 सौ किलो साधारण जल में से सारतत्व, जो आणविक ऊर्जा के प्राथमिक ईंधन का कार्य करता है, मात्र 1 किलो भारी जल प्राप्त होता है। इसी प्रकार यह जल से निकला सार तत्व हुआ। सृष्टि में प्रति सृष्टि एक शक्तिशाली परोक्ष जगत् के अस्तित्व को इस उदाहरण के परिप्रेक्ष्य में अच्छी तरह समझा जा सकता है।

जहाँ आइंस्टीन ने फोटॉन कण के अस्तित्व के आधार पर एक कण भौतिकी की नयी शाखा का प्रतिपादन किया वहीं मेक्सप्लांक ने क्वान्टमवाद की महत्ता बताई। इस प्रकार एक अनिश्चित भौतिकी ने जन्म लिया जिसे सर एडिंगटन एवं श्रोजिंडर ने और भी पोषण दिया। सर जेम्स जीन्स ने 'द मिस्टीरियस यूनिवर्स' एवं 'द यूनिवर्स अराउण्ड्स' जैसी पुस्तकों में साम्यवादी विचारधारा प्रस्तुत करते हुए यह बताया कि सापेक्ष प्रकृति के सभी बल मूलरूप से एक ही चरम चेतन शक्ति के असंख्य नाम हैं। यह एक सुखद संयोग ही है कि यही 'अद्वैत वेदांत' का भी प्रतिपादन है। वेदान्त दर्शन की मान्यता है कि जीवित एवं निर्जीव, चेतन

द्वारा श्री एम० जी० गुप्ता, 132 के० वी० सब स्टेशन, भूड़, बुलन्दशहर, उत्तर प्रदेश

एवं जड़ दोनों के एक तत्व का सूत्र उस परमात्म तत्व में निहित है जो कण तरंगों का रूप धारण कर असंख्य रूपों में प्रकट होता है ।

परमाणुवाद के माध्यम से लघुतम की माप उस सदी की तहलका मचा देने वाली सबसे बड़ी खोज कही जा सकती है । लेकिन परमाणु से लघुतम कणों एवं उनके प्रतिद्वन्दी प्रतिकणों की खोज उससे भी बड़ी खोज है । क्योंकि इससे विज्ञान और अध्यात्म के मूलभूत सिद्धान्तों को परस्पर एक साथ गूंथने की स्थिति में ला दिया है ।

किसी इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप से देखने पर खोखले परमाणु के भीतर एक सेमी० से भी 10 करोड़वें भाग तक के सूक्ष्मतम हिस्से की एक झाँकी देखने को मिलती है । आश्चर्य यह है कि यहाँ भी एक परिपूर्ण सृष्टि है जो सुव्यवस्थित केन्द्र में स्थित नाभिक को भी मापना हो तो और भी सूक्ष्मतम पैरामीटर खोजने पड़ते हैं । परमाणुओं के अनेक कण हैं । इन्हें उप-परमाणुवीय कण कहते हैं। न्यूट्रॉन, प्रोट्रॉन, प्रोजीट्रॉन जैसे लगभग 30 तथा अन्य 200 से भी अधिक उप-परमाणु कणों का अस्तित्व माना गया है । इन उपकरणों से ही सभी द्रव्यों की संरचना होती है । पदार्थ का हल्का-भारी होना इन्हीं पर निर्भर करता है ।

प्रकाश की गति से कम चलने वाले इलेक्ट्रॉन, प्रोट्रॉन, न्यूट्रॉन आदि को टार्डियॉन नाम दिया गया है तो प्रकाश की गति के समकक्ष (26,76,000 किमी०/सेकेंड) दौड़ लगाने वाले कणों को लक्सॉन कहते हैं । इस वर्ग में न्यूट्रिनों, फोटॉन्स तथा ग्रवीटॉन इत्यादि आते हैं । प्रकाश की गति से बहुत अधिक तेज़ चलने वाले नाममात्र के द्रव्यमान वाले कणों की भी परिकल्पना की गई है एवं इन्हें 'टेकियॉन्स' नाम दिया गया है । यह विराट ब्रह्माण्ड की संरचना करने वाला आदि तत्व माना गया है एवं व्यष्टि-समष्टि के मध्य तारतम्य बैठाने में विज्ञान और अध्यात्म के सूत्रों को तर्कसम्मत विधि से प्रस्तुत करने में समर्थ कणों को समुच्य कहा गया है ।

अब वैज्ञानिकों की गत कुछ दशकों की खोज की ओर चलें जिसकी चर्चा प्रतिपदार्थ प्रतिद्रव्य के रूप में पूर्व में की गयी थी । प्रत्येक परमाणु में जितने कण उपपरमाणुवीय कण विद्यमान हैं, उतने ही उनके प्रतिरोधी प्रतिकण भी हैं। इलेक्टॉन का प्रतिकण है पोजीटॉन, प्रोटॉन का एन्टीप्रोटॉन, न्यूटॉन का एन्टीन्यूटॉन व केमेसान्स, पाईमेसान्स का भी प्रतिकेमेसान्स एवं प्रतिपाईमेसान्स । यहाँ तक कि एन्टीफोटॉन भी मौजूद हैं ।

इन नये प्रतिकणों की खोज से अब एन्टीप्रोटॉन, एन्टीन्यूट्रॉन एवं एन्टीमेसान्स, एन्टीमेसान्स के संयुक्त होने से एन्टीन्यूक्लियस की कल्पना की जा रही है । इस कल्पना को साकार किया है, कोलम्बिया विश्वविद्यालय के भौतिकशास्त्र के डॉ० लियोन लेडरमेन ने । सन् 1965 में एन्टीन्यूक्लियस की संरचना करके एन्टीएटम का स्वरूप प्रदान किया गया । पदार्थ के साथ प्रतिपदार्थ के अस्तित्व को अब वैज्ञानिक जगत् में निर्विवाद रूप से स्वीकारा जा रहा है ।

प्रतिपदार्थ के अस्तित्व में आने से वैज्ञानिकों ने नये सिरे से सोचना आरम्भ किया है । अब सोचा जा रहा है कि न केवल पदार्थ वरन् प्रत्येक संरचना का एक स्वतन्त्र प्रतिरूप स्थूल सृष्टि में विद्यमान् होना चाहिए । इस सिद्धान्त के अनुसार - 'प्रतिजगत्', 'प्रतिमानव', 'प्रतिजीव', 'प्रतिवनस्पति' भी जगत्, मनुष्य जीव एवं वनस्पति के साथ संलग्न होना चाहिए । प्रो० डिराक के अनुसार सृष्टि में विद्यमान सभी कणों के साथ अदृश्य रूप में उनके प्रतिकण मौजूद हैं ।

पदार्थों की प्रतिच्छाया के समान प्रति पदार्थ भी पदार्थ के साथ ही बनते हैं । ऊर्जा रूपान्तरित होकर प्रतिपदार्थ एवं पदार्थ को जन्म देती है । यहाँ एक प्रश्न सहज ही उठता है कि पदार्थ तो दिखता है किन्तु क्या कारण है कि प्रतिपदार्थ दिखायी नहीं पड़ता ? तथ्यों तथा प्रयोगों द्वारा ज्ञात हुआ है कि पदार्थ प्रतिपदार्थ का विकर्षण करता है । इस विकर्षण के फलस्वरूप सभी प्रतिपदार्थ एक ऐसे लोक में पहुँच जाते

हैं, जिसे प्रतिविश्व के नाम से पुकारा जा सकता है। सम्भव है कि वह एक विशेष स्थिति हो। जिसे आइन्सटीन ने दिक्काल से परे चतुर्थ आयाम के नाम से सम्बोधित किया है जिसमें पहुँच कर पदार्थ का स्थूल स्वरूप लुप्त हो जाता हो। तथ्य चाहे जो भी हो, यह तो स्पष्ट हो चुका है कि पदार्थ विश्व, मनुष्य तथा अन्यान्य प्रकृति की संरचनाओं के साथ उनके प्रतिस्वरूप भी यहीं विद्यमान है।

यह विरोधी प्रकृति के प्रतिकण कहाँ से आते हैं ? क्यों अवरोध उत्पन्न करते हैं ? कुछ समझ में नहीं आता। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि इस ब्रह्माण्ड में शायद कोई अन्य विश्व ऐसा है जिसे सर्वथा विपरीत प्रतिविश्व कहा जा सके। उसकी संरचना इन विपरीत प्रकृति के प्रतिकणों से ही हुई होगी। वहाँ सब कुछ यहाँ से उल्टा ही होता होगा।

इस लोक में सारा पदार्थ-प्रतिपदार्थ होगा। वहाँ के नाभिक प्रतिप्रोटॉन और प्रतिन्यूट्रॉन के बने होंगे। उन प्रति न्यूक्लियस के इधर-उधर इलेक्ट्रॉन के स्थान पर पॉजीट्रॉन भी भ्रमण करते होंगे। वहीं से यह प्रतिकणों का प्रवाह धरती पर आता होगा और यह कि अणु रचना के साथ उसका सम्मिश्रण यह परस्पर विरोधी स्थिति उत्पन्न करता होगा। यह प्रतिविश्व कहाँ है ? यह ढूँढ़ा नहीं जा सका पर उसका अस्तित्व तो एक प्रकार से मान ही लिया गया है, यद्यपि उसे देखा भी नहीं जा सका है। यह शोध अभी बाकी है। फिर भी उस प्रति ब्रह्माण्ड, एन्टीयूनिवर्स-एन्टीकॉसमॉस -एन्टीयूनिवर्स की कल्पना की जा सकती है, जहाँ न काल होगा, न दिशा, न यह स्थूल सृष्टि होगी न दृश्यमान ब्रह्माण्ड ही होगा। शास्त्रकारों के शब्दों में वहाँ मात्र शब्द शक्ति के अनन्त ऊर्जा स्रोत, प्रकाश क्षेत्र एवं चेतना के स्पंदन के अतिरिक्त और कुछ न होगा। जिस चेतना को अभी विज्ञान की परिधि से परे माना जा रहा है वह संभवत: तब इसी रूप में प्रमाणित होती दिखायी पड़ेगी।

प्रतिपदार्थ एवं प्रतिविश्व का अस्तित्व स्पष्ट होने के उपरान्त एक बड़ी समस्या यह सामने आ गई है कि इस अदृष्य एवं अविज्ञात सत्ता के साथ छेड़खानी करने पर कहीं उल्टी प्रतिक्रिया उपस्थित न होने लगे। पदार्थ और प्रतिपदार्थ के असहयोग एवं विग्रह से असंख्य समस्याएँ खड़ी हो सकती हैं और विश्व के वर्तमान ढाँचे को पूर्णरूपेण बदल जाने से लेकर महाप्रलय जैसा संकट खड़ा हो सकता है। इसी आशंका, असमंजस में इस दिशा में, शोध प्रयत्न की दिशा में कदम फूँक-फूँककर धीरे-धीरे बढ़ाये जा रहे हैं।

अध्यात्म विज्ञान द्वारा अदृश्य जगत् एवं अदृश्य सत्ता के साथ सम्बन्ध बताने के बारे में भी यही बात है। इसमें दैवी सृजन और दानवी विध्वंस की दोनों सत्ताएं विद्यमान हैं। अदृश्य पर, सूक्ष्म पर अविश्वास करने के जो कारण पिछले दिनों बहुत उछाले जाते थे, वे अब धीरे-धीरे समाप्त होते जा रहे हैं।

प्रतिपदार्थ एक प्रतिविश्व के मस्तिष्क ने भौतिक विज्ञानियों को सूक्ष्म की सत्ता को पदार्थ तक ही नहीं चेतना तक में विद्यमान होने की बात स्वीकार करने के लिये विवश किया है। यह आत्मिक की, भौतिक की विजय यात्रा का श्री गणेश माना जा सकता है।

भौतिकीविद् अब और भी नए प्राथमिक कणों की लगातार खोज कर रहे हैं क्योंकि उनकी मान्यता है कि प्राथमिक कणों के गुण-धर्मों के बोध से ही विश्व की उत्पत्ति तथा विकास-क्रम को समझा जा सकेगा। प्राथमिक अर्थात् द्रव्य की वह सबसे छोटी इकाई या वह मूल कण, जिसमें सभी बड़ी इकाइयों का संयोजन हो सका है।

न्यूट्रिनो एवं प्रित न्यूट्रिनो वैज्ञानिकों के लिए "पदार्थ सत्ता के मूल एकीकरण सिद्धान्त" की खोज में बड़े महत्वपूर्ण साबित हो रहे हैं {Great Unification of Forces}, जो पदार्थ और चेतना का समन्वय बिन्दु है, आइंस्टीन का कभी स्वप्न था। यह अब साकार होता प्रतीत हो रहा है। इन न्यूट्रिनो कणों के साथ कई विशेषताएँ जुड़ी हैं। न्यूट्रिनो का स्थिर द्रव्यमान शून्य है। इसका तात्पर्य यह है कि स्थिर न्यूट्रिनो नाम की कोई वस्तु नहीं। न्यूट्रिनो कण जन्म के साथ ही प्रकाश की गति से यानि 3 लाख किमी०/सेकेंड के

वेग से दौड़ने लगते हैं। ये न्यूट्रिनो अन्य द्रव्य कणों के साथ बहुत मंद परास्पर क्रिया दर्शाते हैं। इसलिए ये अन्य द्रव्य कणों से सामान्यत: टकराते नहीं। अत: न्यूट्रिनो, पृथ्वी पिण्ड से आर-पार हो जाते हैं, यहाँ तक सूर्य में से भी आर-पार हो सकते हैं।

प्रश्न यह उठता है कि इस अनन्त ब्रह्माण्ड में प्रतिकणों का स्रोत क्या व कहाँ हो सकता है ? वैज्ञानिक बताते हैं कि ब्रह्माण्ड में पाये जाने वाले रहस्यमय {श्यामविवर} "ब्लैक होल्स" प्रतिपदार्थ के स्रोत हैं। इसी स्रोत से हमारे वायुमंडल में बड़े पैमाने पर प्रतिपदार्थ प्रवेश करता है। भौतिकीविदों का कहना है कि प्रमाणिक सिद्धान्त जितने एन्टीप्रोटॉन का प्रतिपादन करता है, उससे अधिक संख्या में एन्टीफोटॉन अब तक पता लगाये जा चुके हैं। इस विरोधाभास का कारण बताते हुए वे कहते हैं कि आदि ब्रह्माण्ड में संव्याप्त अत्यन्त छोटे आदि ब्लैक होल्स में विस्फोट के कारण यह स्थिति पैदा हुई है। वैज्ञानिकों के अनुसार हमारे सौरमंडल में नीहारिका के केन्द्र में पोजीट्रॉन एवं न्यूट्रिनो कण प्रकारों के प्रचुर उत्पादक तथा गामा किरणों के शक्तिशाली स्रोत विद्यमान हैं जो छ: महीने के अन्तराल पर घटते-बढ़ते रहते हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार इतनी अधिक गामा किरण तथा पोजीट्रॉन पॉजीट्रिनोन न्यूट्रिनो का पुंज फेकने वाला तथा छ: महीने के अन्तराल पर घटने बढ़ने वाला केन्द्र ब्लैक होल्स ही है, जो पदार्थों को निगलता रहता है। रूस के ज्योति-भैतिकविज्ञानी लियोनॉयड ओजेरनॉय ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि 100 सूर्यों की ऊर्जा के बराबर मात्रा "ब्लैक होल्स" के विकास का मुख्य कारण बनती है। यदि यह सिद्धान्त सही है तो एक दिन अपनी आकाशगंगा व उसके क्वाजार्स {ब्रह्माण्ड की ऊर्जा के विशाल भंडार} के रूप में मानी जा सकती है।

भारत में जन्में भौतिकी में 'नोबेल पुस्कार' प्राप्त {1983} डॉ० एस० चन्द्रशेखर शिकागो यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर हैं। कहते हैं, "एक तारा एक स्थिति आने पर जब उसका व्यास निश्चित सीमा को लांघ जाता है, अस्थिर होकर सिकुड़ जाता है एवं ब्लैक होल्स का रूप धारण कर लेता है। इसमें ऊर्जा की असीम मात्रा होती है। प्रतिकण प्रतिपदार्थ इसमें प्रचुर मात्रा में होते हैं। न्यूट्रीनो इससे विस्तृत होते हैं तथा यह क्रमश: अपने आस पास स्थित नीहारिकाओं के तारों को भी निगलकर अपनी ऊर्जा के भण्डार को बढ़ाता रहता है।" ऐसे अनेक ब्लैक होल्स इस पूरे ब्रह्माण्ड में हो सकते हैं। यह ऊर्जा भण्डार ही चेतना की शक्ति का उत्पादक केन्द्र है एवं यह अक्षय भंडार कभी समाप्त होने वाला नहीं। ब्लैक होल्स के बारे में जानकारियाँ अभी और प्राप्त होना शेष है। पर ब्रह्माण्ड के इन गुह्य विवरणों के बारे में जितनी जानकारी मिली है वह चौंकाने वाली है एवं भौतिकी के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी अवधारणा मानी जा सकती है।

परमात्मा और जीव को पदार्थ-प्रतिपदार्थ का युग्म कह सकते हैं। दोनों जब मिल जाते हैं तो परस्पर पूरक होते हैं। एक के अभाव की पूर्ति दूसरे से होती है और जीव अपने स्वसरंचालित शक्ति प्रवाह का स्रोत उमड़ता देखता है। ऐसा स्रोत जो न तो कभी समाप्त होता है और न जिसकी क्षति पूर्ति के लिए कुछ साधन जुटाने की आवश्यकता होती है।

प्रतिपदार्थ-प्रतिब्रह्माण्ड की चर्चा जब कोई कल्पना या सम्भावना नहीं वरन् एक ऐसी यथार्थता बन गई है, जिस पर तेजी से खोज की जा रही है और यह पता लगाया जा रहा है कि इन दो प्रतिद्वन्दी संसार के बीच आदान-प्रदान का दरवाजा किस तरह खुल सकता है।

इस दिशा में यदि थोड़ी और सफलता मिल गई तो पौराणिक उपाख्यानों में वर्णित देवलोक और असुरलोक की गाथाओं को हम साकार देखेंगे और अनुभव करेंगे कि भगवान और शैतान की तरह चिरन्तन काल से दो प्रतिद्वन्दी संसार आपस में गुंथे हुए चले आ रहे हैं। उनके सामान्य सहकार को बढ़ाना सम्भव हो सके तो मनुष्य ब्रह्माण्ड का अधिनायक बनकर रहेगा।

□ □ □

मुझसे मिलिए मैं हूँ मेढक

श्रीमती अनुराधा श्रीवास्तव

मैं मेढक हूँ। मुझे प्राय: तालाबों के आस-पास तुमने देखा होगा। मुझे भद्दे प्राणियों में गिना जाता है, क्योंकि मैं देखने में बिल्कुल सुन्दर नहीं हूँ। मेरी गर्दन हाथी या फिर शेर जैसी डरावनी होती है। हिरन की तरह छलांगे लगाकर ही मैं चलता हूँ। मेरी आवाज़ भी बहुत भद्दी है। इसी से मुझे कोई नहीं पसन्द करता। मैं देखने में तो बहुत छोटा हूँ, अद्‌भुत् जीव। मेरी रचना और क्रिया-कलाप ही अजीबो गरीब है। मैं पानी में जिन्दा रहता हूँ, और सूखी जमीन पर भी। मैं खरगोश की तरह अपनी अगली टाँगों के सहारे बैठता हूँ। ये टाँगें ही मुझे फुदकने में मदद करती हैं। मौसम के मामले में कुछ ज़्यादा ही सतर्क रहता हूँ। अधिक गर्मी या कड़ी सर्दी मुझे जरा भी बर्दाश्त नहीं है। अत: तब लम्बी तान कर सोता हूँ। अब तुम सोचते होगे कि इतने लम्बे समय तक मैं बिना हवा, पानी अथवा खाने के कैसे जिन्दा रह लेता हूँ। है तो हैरानी की बात, लेकिन मेरे लिये कुछ मुश्किल नहीं है, क्योंकि मेरे शरीर की रचना ही ऐसी है कि मुझे कोई दिक्कत नहीं होती। मेरी विशेषता यह है कि मैं मुँह से पानी ही नहीं पीता। मेरे शरीर में छोटे-छोटे छेद होते हैं, जिनसे पानी मेरे शरीर के अन्दर जाता रहता है। जाड़ा शुरू होने से पहले मैं अपने पेट में बहुत सा पानी भर लेता हूँ, जो पूरे जाड़े भर के लिये पर्याप्त होता है। मई, जून और जुलाई का महीना हमारे लिये सबसे अच्छा महीना होता है। इसी महीने में हम अपने प्रियजनों से मिलकर खूब वार्तालाप करते हैं और अपनी टर्र-टों से पूरा वातावरण गुंजायमान कर देते हैं और छोटे-छोटे बच्चों की तरह आँख मिचौली खेलते हुए एक दूसरे का पीछा करते हैं। इसी मौसम के बाद हम अण्डे देते हैं। एक छोटी मेढ़की एक बार में लगभग दो हज़ार से लेकर सात या आठ हजार तक अण्डे देती है। आठ या दस हफ्तों में हम पूरे मेढक बन जाते हैं। शुरू में {टैडपोल लारवा स्टेज} मेरे दुम भी होती है। जैसे-जैसे हम बड़े होते जाते हैं हमारी दुम भी गायब होती जाती है। अण्डे से बाहर निकलने के बाद हमारे बच्चे 50 से 65 दिन तक पानी के अन्दर रहते हैं। वर्षा खत्म होते ही ये पानी से बाहर निकलना शुरू कर देते हैं। युवा होने में हमें लगभग तीन से चार साल लग जाते हैं। यूँ तो उसके बाद हम लगभग 40 वर्ष तक ज़िंदा रहते हैं।

मेरी सांस लेने की प्रक्रिया भी विचित्र है। मैं दूसरे जानवरों की तरह हवा में सांस नहीं लेता, बल्कि हवा को निकालता हूँ। हम फेफड़ों से हवा लेते हैं। हवा को पेट में भर लेने से हमें बहुत फायदा होता है। साँप मेरा सबसे बड़ा दुश्मन है, जब वह हमें निगलने के लिए हमारे पास आता है तो हम फौरन पेट में हवा भर लेते हैं; जिससे साँप

द्वारा डॉ० वी० के श्रीवास्तव, 4/3, डालीबाग कॉलोनी, लखनऊ-226001

के मुंह में न आ सकूँ। कभी-कभी तो इस तरकीब से बच जाता हूँ और कभी मारा भी जाता हूँ।

हर वक्त पानी में रहने की वजह से मेरा शरीर बेहद चिकना रहता है। अत: मुझे पकड़ना इतना आसान नहीं है। जब मुझे कोई पकड़ने आता है तो मैं अपने शरीर को फुलाकर फुदकना शुरू कर देता हूँ, साथ ही एक लसदार सफेद रंग का पदार्थ भी गिरा दिता हूँ, जिसे लोग प्राय: मेरी पेशाब समझ लेते हैं और घृणावश मुझे पकड़ने का इरादा छोड़ देते हैं, पर यह पेशाब नहीं, बल्की एक ज़हरीला पदार्थ होता है। यह आदमी के शरीर के जिस हिस्से में गिर जाय वहाँ फोड़े-फुन्सियाँ निकलने की आशंका रहती है।

रात को मेरे खाने का समय होता है। मेरे शिकार का तरीका भी बहुत मज़ेदार है। ज्यों ही मुझे कोई तितली, भौंरा या मच्छर उड़ता हुआ दिख जाता है, पहले तो मैं दम साधकर उसे बराबर देखता रहता हूँ फिर अपने फेफड़े में हवा भर लेता हूँ। हवा के दबाव से मेरी जीभ बाहर आ जाती है। मेरी जीभ के सामने के सिरे पर एक लसदार पदार्थ होता है उसी से मैं शिकार को चिपका लेता हूँ फिर जैसे ही हवा निकालता हूँ शिकार सीधे मुँह में आ गिरता है। मैं किसी बेहोश या मरे हुये जीव को नहीं खाता हूँ। मैं हमेशा उड़ते हुए, चलते हुए या फिर हरकत करते हुए कीड़े-मकोड़ों को ही अपना शिकार बनाता हूँ। मेरी आँख की रोशनी बहुत तेज़ होती है, जिससे शिकार आसानी से ढूँढ लेता हूँ। किन्तु तेज़ रोशनी के बजाय हल्की रोशनी में मुझे ज़्यादा साफ़ दिखाई देता है।

प्रकृति ने मुझे यह क्षमता दी है कि जब भी मैं टर्राता हूँ, मेरा मुँह नहीं खुलता। टर्राते वक्त मेरे दोनों गलफड़े गुब्बारे की तरह फूल जाते हैं। उसी की वजह से यह कान फाड़ने वाली आवाज़ निकलती है। कहिये हूँ न मैं अद्‌भुत् जीव।

□□

प्राणियों में कैंसर

डॉ० राजीव रंजन उपाध्याय

मानव-विकास से कैंसर अथवा आर्वुद सदैव से संबन्धित रहा है। दूसरे शब्दों में यदि यह कहा जाये कि कैंसर मानवता के इतिहास के समकालीन है तो अनुचित न होगा। कैंसर का सर्वप्रथम विवरण प्राचीन मिस्र की "पेपाइरी" पर लिखित विवरणों में जो कि 1500 ईसा पूर्व के हैं, में मिलता है। अनुमानत: इस व्याधि का विवरण यूनानियों को मिस्र के सम्पर्क में आने से प्राप्त हुआ होगा। यूनान से यह प्राचीन ईरान में आया। यह घटना भी 522 ईसा पूर्व की होगी जब ईरान ने यूनान पर दारुष प्रथम के समय में वैचारिक आदान-प्रदान प्रारम्भ किये होंगे। ईरान से यह कैंसर विवरण भारत आया होगा। महर्षि सुश्रुत ने इसका सर्वप्रथम वैज्ञानिक अध्ययन किया तथा इस व्याधि के विभिन्न प्रकारों पर प्रकाश डाला था।

कैंसर मात्र मानवों तक ही में सीमित नहीं है, यह तो वृक्षों में भी व्याप्त है। यह व्याधि ऊतकों के अनियंत्रित वृद्धि का परिणाम है अत: दूसरे शब्दों में यह प्राणि-मात्र में व्याप्त है। उदाहरणार्थ यह अमेरुदण्डीय जीवों, मुख्यत: प्लेनेरिया, एम्फीआप्सस तथा सी अर्चिनों में उत्पन्न होता है तो दूसरी तरफ यह पक्षियों में जैसे मुर्गियों में मुख्यत: उनकी आँतों को, ओवरी को {डिम्ब-ग्रन्थियों को} तथा रक्तकोशिकाओं को प्रभावित करता है। कुत्तों और बिल्लियों में यह मुख्यत: स्तन, त्वचा तथा यकृत को प्रभावित करता है, तो भेड़ों में यह उनके यकृत और एडरीनल ग्लान्ड {ग्रंथि} को ग्रसित कर, उन्हें कैंसर जनित मृत्यु देता है। चूहों, चुहियों, नर तथा मादा खरगोशों के शरीर के विभिन्न अंगों में कैंसर अपना प्रभाव डालता है। इसी कारण कैंसर शोध में चूहों तथा मूषिकाओं का बहुतायत से प्रयोग होता है।

कैंसर बन्दरों को तथा चिम्पैन्जी को भी प्रभावित करता है तथा मछलियां भी इसके विनाशकारी प्रभाव से मुक्त नहीं है। कैंसर समुद्री मछलियों को तो प्रभावित करता ही है, नदी की मछलियाँ भी इससे पीड़ित होती हैं। मछलियों में कैंसर मुख्यत: उनके पिग्मेन्ट-सेल्स, आँतों, गुर्दे, थायरायड, आमाशय, मुख, आँखों तथा यकृत को अपनी वृद्धि से ग्रसित करता है। प्रयोगों में मछलियों के यकृत का अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके शरीर में कैंसर का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया है अथवा नहीं।

नदी के जल में वास करने वाली विविध मत्स्य प्रजातियों को कैंसरकारी, सह-कैंसरकारी पदार्थों से प्रभावित कर यह भी स्थापित कर दिया गया है कि उनके ऊपर इन पदार्थों द्वारा डाले गये प्रभाव का अध्ययन, मात्र कैंसरकारी तत्वों की उस जलीय-वातावरण में उपस्थिति का ही द्योतक नहीं है वरन् इससे यह भी पता चल जाता है कि वह जल कैंसरकारी पदार्थों से कितना प्रदूषित है।

तालाबों में वास करने वाली सींगी मछली {**हेटरोपोनेस्टिस फासिलिस**} इस प्रकार के अध्ययन के लिये विशेष रूप से उपयोगी पाई गयी है।

संक्षेप में कैंसर के प्रभाव से प्राणिमात्र तथा पादप समुदाय मुक्त नहीं है पर यह तथ्य निराशाजनक नहीं है। आधुनिक विज्ञान की प्रगति को देखते हुये वह दिन दूर नहीं जब कैंसरकारी जीनों अथवा कैंसर-जीनों के अध्ययन से इस व्याधि के नियंत्रण के प्रथमचरण का श्रीगणेश किया जा सकेगा।

संदर्भ :

1. सुश्रुत संहिता : नि. स. 11, 13, 14, 21 तथा अष्टांग हृदय : 14, 11, 29, 30

2. राजीव रंजन उपाध्याय : "मैन, इन्वीरान्मेन्ट एण्ड कैंसर", एग्रोबोटैनिकल पब्लिशर्स, बीकानेर।

3. राजीव रंजन उपाध्याय आदि : "इन्डियन जर्नल ऑव कैंसर एण्ड बायालोजिकल रिसर्च" 1, (3), 1988.

वहम की मारी, दुनिया सारी

शिव रैना

हँसोड़ पाश्चात्य नाटककार बर्नार्ड शा ने कहा था : "जादू-टोना वहमबाज़ी, फर्ज़ी रोगों, घिसी-पिटी मान्यताओं और उम्र रसीदा रीति-रिवाजों की आड़ में, पूरी दुनिया वहम की शिकार है। हालत यह है, कि असली वहमी लोग हमें सच्चे लगते हैं और गैर वहमी लोग उनसे भी सच्चे लगते हैं।"

मनोचिकित्सक, पहुँचे हुए साधु-सन्यासी और मनोविज्ञान संबंधी साहित्य आपको बताएंगे कि बर्नार्ड शा की उक्ति में कितनी सच्चाई है। लेकिन यह एक मानी हुई बात है, कि तरक्की की हर ऊँची छलाँग और सुविधासंपन्न ज़िंदगी की हर नई करवट के साथ, इंसान पाँच बरस पीछे चला जा रहा है। एक तरफ इंसान सितारों पर प्लॉट रिजर्व करवा रहा है और दूसरी तरफ गुप्त-खजानों या संतानप्राप्ति के लिए नर (शिशु) बलि तक, दे रहा है। यानी "आदमी को मुयस्सर नहीं इंसा होना।"

आँकड़ों से पता चलता है, कि उन्नतिशील और उन्नत देशों की वार्षिक खबरों और साहित्य का क्रमश: 40 और 31 प्रतिशत हिस्सा, वहमबाज़ी से संबंध रखता है। अधिकांश पुस्तकें "एक-तरफा विचारधारा" का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। किसी आदमी पर {ज्योतिष की तरह} एक तथ्य लागू होता है, किसी पर नहीं। सुबह के अखबार में गाजर के लाभ बताए जाते हैं, लेकिन शाम का संस्करण पहले तथ्यों को अक्सर "घातक" घोषित करता देखा गया है। भूत-प्रेतों पर निर्मित फ़िल्मों और साहित्य के, सारे अगले-पिछले रिकार्ड टूट रहे हैं। फ़िल्मों के नाम तक वहम के शिकार हैं।

विशेषज्ञों और समाज-शास्त्रियों का मत है, कि पूरे विश्व में "गैस"- जनित रोगों ने, आधुनिक वहम को विराट रूप दिया है। आज, क्रोध, तनाव, ऊँचा-नीचा रक्तचाप, घबराहट, भय, आतंक, दुर्बलता, चिन्ता, निराशा और आत्मविश्वास हीनता प्राय: घर-घर में पल रहे हैं। हम आपको उन अभागे स्त्री-पुरुषों के घर दिखा सकते हैं, जिन्होंने सब कुछ होते हुए भी, अचानक आत्महत्याएं तक कर लीं। पहले यह विश्वास किया जाता था, कि दुनिया में मई से अगस्त तक के मौसमों में ही, सर्वाधिक आत्महत्याएँ होती हैं लेकिन वहम "गैस" के इस सतरंगे युग में आतंकवाद की तरह, लगभग हर दिन और हर पल, खुदकुशी का घातक मौसम है। कोई भी स्थानीय अखबार उठाकर, वहम-प्रधान हत्या या आत्महत्या का लोमहर्षक समाचार, पढ़ लें। इस सिलसिले में, चावेई {पूर्वी मेडगॉस्कर} और मलाया के दर्जनों अखबारों का जिक्र ज़रूरी है। कहते हैं, ये "शाकाहारी" किस्म के अखबार, आत्महत्या जैसे "घृणित कार्य" का समाचार ही नहीं छापते। वैसे प्रेरक, प्रफुल्ल और प्रगतिवादी रचनाएँ ही छापने वाली पत्र-पत्रिकाओं की कमी, भारतवर्ष में भी नहीं है।

दुनिया में डर से डरावनी और वहम से घातक, कोई चीज नहीं है। छींक, बिल्ली द्वारा रास्ता काटना, तीन व्यक्तियों का एक साथ घर से निकलना, किसी अजनबी द्वारा

पत्रकार, 87 रघुनाथपुरा, जम्मू - 180 001 {कश्मीर}

ज़रूरी काम के समय जाने का कारण पूछे जाने इत्यादि को, हमारा उन्नत समाज, आज भी "सही" समझता है। प्रात:कालीन "प्रथम दर्शन", अंक 13 और "नजर बट्टू" संबंधी टोने-टोटके तो, आम बातें हैं। बच्चों के गाल पर काला निशान लगाना तो खैर, "ममता" का चिन्ह बन चुका है। दूकान, विशेष भवन, स्थान या संस्थान को अगर आप खूब गहरी व खोजपूर्ण निगाह से देखें तो आपको पता चलेगा कि स्वामी ने उस स्थान विशेष की "सुरक्षा" के लिए कौन-सा टोटका कर रखा है।

ताज़े नींबू में सुई से छेद करके, उसके नीचे काले धागे में पिरोई कुछेक हरी मिर्चों को एकसाथ टाँगना - बेशुमार वाहनों और दुकानों की आदत है। एशिया के लगभग 70 प्रतिशत प्रतिष्ठान धूप, अगरबत्ती, "गूगल" या हवन जैसी किसी दैनिक प्रक्रिया से, "धूनी" द्वारा, वातावरण पवित्र करते हैं। "फलों के हार", अब विदेशी प्रतिष्ठानों पर भी लटकने लगे हैं। रोजी-रोटी और मान-सम्मान दिलाने वाली मशीनों की "पूजा" {दैनिक सफाई - सजावट के बाद की बंदगी} पूरी दुनिया में होती है।

क्रिकेट से कबड्डी और कुश्ती से 'कराटे' तक का हर देशी-विदेशी {अंतर्राष्ट्रीय} खिलाड़ी गंडे, तावीज़ तंत्र-मंत्र, मूर्ति, चिन्ह विशेष या अन्य ढंग पर, गहरी आस्था रखता है। अंतर्राष्ट्रीय-स्तरीय किसी भी मैच को गौर से देखिए, और अधिकांश खिलाड़ियों की आस्था और विश्वास के कई चिन्हों को खुद देखिए। क्रिकेट-खिलाड़ी तो गेंद की उठान आने से पहले तक धरती पर धार्मिक चिन्ह बनाते देखे गए हैं। मंत्र-शक्ति पर लोगों की गहरी आस्था होती जा रही है। प्रत्यक्ष या गुप्त रूप से, हम लोग पुराने उपचारों, पुराने टोटकों और पुरानी मान्यताओं को, गले लगाने लगे हैं।

आज़ादी के बाद, भारतवर्ष में आज तक जितने भी चुनाव हुए हैं, उनमें संबंधित 'पार्टी-वर्करों' से भी ज्यादा पैसा, शायद जाने-माने तांत्रिक लोग कमाते रहे हैं। बड़े-बड़े नेतागण सुख, समृद्धि, स्थाई कुरसी और लोकप्रियता के लिए, तांत्रिकों की शरण में जाते रहे हैं। इन तांत्रिकों और सिद्ध पुरुषों ने विदेशी नेताओं, उद्योगपतियों और मशहूर अभिनेता-अभिनेत्रियों पर भी, भारी धाक जमा रखी है। प्राचीन मूर्तियों, दुर्लभ मंत्रों, चित्रों, वरमूलक देवी-देवताओं, ग्रंथों, चमत्कारी स्थलों और प्रभावक अँगूठी-हीरों की, भारी माँग है। इनसे, विश्व के करोड़ों लोग लाभान्वित हो रहे हैं। जो लोग इन चीजों पर यकीन नहीं रखते, वे भाग्य और भविश्यवक्ताओं को कोसते फिरते हैं। तीस प्रतिशत स्त्री-पुरुष ऐसे हैं, जो "मेहनत और हिम्मत" को ही हर कामयाबी की कमान समझते हैं। वहम के मामले में, एशिया का छात्र-वर्ग यूरोप के छात्र-वर्ग से बहुत आगे है। मनौतियों, तीरतुक्कों या खालिस "आशीर्वादों" के सहारे परीक्षाएँ पास करने वालों की भी, हमारे यहाँ कमी नहीं है। किसी ने सच कहा है, 'वहम का इलाज तो अरस्तु और हकीम लुकमान के पास भी नहीं था। शायद इसीलिए, शायर साहिर लुधियानवी को एक बार यह कहने पर मजबूर होना पड़ा था-

करें तदवीर वहमों की

बने तस्वीर वहमों की

वहम की बात हर पहलू

वहम की बिसात हर पहलू।

■■

अब कैंसर कोशिकाएँ भी पालतू होगी

कुलदीप शर्मा

यह एक पुरानी रीति है कि भटके हुए को राह पर लाने के लिए या तो डंडे का जोर दिखाया जाय या फिर उसे तस्सलीबक्श समझाया-बुझाया जाय। यानी नेक राह का पाठ पढाया जाय। चिकित्सा जगत के भंयकर रोग कैंसर पर काबू पाने के लिए अब तक जो पद्धति अपनाई गई उसमें या तो अंग विशेष की शल्यचिकित्सा कर उसे काट कर फेंक दिया जाता रहा है या फिर ऐसी दवाएं दी जाती हैं जो उसे नष्ट कर दें। यहां भी खतरा यह होता है कि कैंसर प्रभावित कोशिकाओं के साथ सामान्य कोशिकाएं भी मर जाती हैं। इन दोनों ही पद्धतियों से अलग हटकर अब एक नई पद्धति तैयार की गई है जिसमें कैंसर पर काबू पाने के लिए बिगड़ी हुई कैंसर कोशिकाओं को राह पर लाने के लिए पढाया जाएगा ताकि वे सामान्य कोशिकाओं की तरह काम करने लगें और इंसान की पालतू बन सकें।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय और न्यूयार्क स्थित मेमोरियल स्लोनकेटरिंग कैंसर सेंटर के अनुसंआनकर्ता ने अपने अथक परिश्रम के बाद एक ऐसा यौगिक तैयार किया है जिसका प्रयोग बिगड़ी कोशिकाओं को नियंत्रित करने में सफल हैं। पिछले दिनों अपनी शोध रिपोर्ट में इन वैज्ञानिकों ने अमरीकन कैंसर सोसायटी, न्यूयार्क में प्रस्तुत की।

यह एक ऐसा यौगिक है जो एक तरह से कैंसर कोशिकाओं को बनने से रोकता है। बहुत समय पहले अमरीकी चिकित्सकों ने एच एम बी ए नामक एक ऐसी ही दवा तैयार की थी जो न केवल कैंसर कोशिकाओं का बढोतरी रोकती है बल्कि उन्हें असमान्य रूप से हटाकर सामान्य करती थीं। परन्तु इस दवा में दो प्रमुख खामियां थीं। एक तो यही कि इसकी प्रतिदिन कई ग्राम मात्रा लेनी पड़ती थी। दूसरे इसकी कीमत विदेशी मुद्रा में भी काफी थी। जबकि यह नया यौगिक एच एम बी ए से हजारों गुना प्रभावी है। दूसरे इसकी कुछ मिली ग्राम मात्रा ही प्रति दिन लेनी होती है और काम वही होता है जो पूर्व दवा का।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय के रसायनज्ञ रोनाल्ड ब्रेसलो के अनुसार यह नया यौगिक और एच एम बी ए दोनों ही कोशिका के आंतरिक कार्यकलापों को बांधने में सक्षम है। असल में प्रत्येक कोशिका में एक मूल आधार एंजाइम होता है जिसेप्रोटीन काईनेज-सी कहते हैं। इसी एंजाइम को नई दवा द्वारा काबू में लाने में सफलता पाने का दावा किया गया है। इसी के आधार पर कोशिका को गुलाम बनाया गया है। नया यौगिक एंजाइम की सक्रियता बढ़ा देता है जो कोशिका फास्फोरस समूह को बांध देता है। इस बंधन का परिणाम यह होता है कि उसमें विभाजन रुक जाता है वह एक समझदार कोशिका जैसा व्यवहार करने लगती है।

वैज्ञानिकों ने पाया है कि कैंसर कोशिका, सामान्य कोशिका की अपेक्षा भिन्न व्यवहार करती है। शरीर के किसी भी भाग में बढ़ती हुई कोशिकाओं में से अगर कोई एक कोशिका या फिर कोशिकाओं का समूह बगावत पर उतर आए और सामान्य गति छोड़ तेजी से बढ़ने लगे तो

द्वारा 'सम्प्रेषण' डी-690, सरस्वती विहार, दिल्ली - 110034

उस स्थान पर एक गांठ-सी बन जाती है । सही असामान्य व्यवहार वाली कैंसर कोशिकाएं बन जाती हैं । इसलिए इनके व्यवहार को सामान्य करने के लिए पहली महत्वपूर्ण बात तो यही है कि उनकी वृद्धि रोकी जाए । इसके लिए कोशिका के एंजाएम प्रोटीन काइनेज-सी को बांधना ही एकमात्र अचूक रास्ता है । यही काम नए यौगिक एच एम बी ए की अपेक्षा एंजाइम को दो तरफ से बांधता है । बिगड़ैल कैंसर कोशिका को बांधने वाली इस नई दवा की खोज का भी अपना रोचक इतिहास है । इसे कैंसर का इलाज करने के लिए कत्तई नहीं खोजा गया था । यह एक इत्तफाक था कि जब इसे औद्योगिक घोलक डी एम एस ओ से विकसित किया गया तब इसका प्रयोग कैंसर कोशिकाओं को नियमित करने के लिए नहीं सोची गई थी । वैज्ञानिक को न जाने क्या सूझी कि उसने इसका प्रयोग ल्यूकीमिया कोशिकाओं को बढने से रोकने के लिए कर डाला । आश्चर्य में डालने वाली बात तो तब हुई जब इन कोशिकाओं का कुनबा बढ़ने से एक दम रुक भी गया । बस इसी बात से आधार मिला और पूरी की पूरी शोध नए यौगिक को कैंसर कोशिकाओं पर काबू पाने के लिए कर डाली गई ।

परखनली में किए गए परीक्षण बताते हैं कि यह नया यौगिक ल्यूकीमिया कोशिकाओं को बढ़ने से तो रोक ही सकता है । साथ ही स्तन, अण्डाशय, मस्तिष्क आदि के कैंसर को भी फैलने से रोकने में सक्षम है । परीक्षण के तौर पर दवा का प्रयोग चूहों पर किया जा रहा है । अपने प्रयोग में ब्रेसलो ने इस बात की पुष्टि की है कि चूहों में कैंसर प्रभावी-कोशिकाओं की वृद्धि रुक जाती है मगर एक मामूली समस्या भी सामने आती है । वो यह कि श्वेत रक्तकोशिकाओं का निर्माण हल्का पड़ जाता है । परन्तु इसका भी हल ढूंढ लिया गया है । परीक्षण बताते हैं कि यदि दवा की मात्रा घटा दी जाए तो कोशिकाओं का निर्माण फिर उसी प्रकार प्रारम्भ हो जाता है ।

इस दवा की सफलता की पुष्टि चीन में भी की गई। अभी चूहों पर प्रयोग हुए हैं, मगर वैज्ञानिकों को आशा है कि यह प्रभाव मनुष्यों पर भी होगा । इस दिशा में काफी ठोस प्रयास अमरीका और चीन में जारी है । वैज्ञानिकों को उम्मीद है कि जल्द ही यह सफलता कैंसर रोग की भयंकरता पर रोक लगा देगी ।

मोटे तौर सबसे पहले चिकनाई युक्त आहार कम कर दें । विश्व स्वास्थ्य संगठन के अध्यक्ष प्रो० फिलीप जेम्स के अनुसार यदि हम ताजी सब्जी और विटामिन युक्त फल अपने आहार में शामिल करें तो कैंसर की संभावनाएं घट जाती हैं । इसके अलावा रोज एक सेब या केला, पकी बीन या अंकुरित अनाज भी कैंसर को दूर भगाता है ।

■■

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठकगण !

आपके हाथों में 'विज्ञान'मार्च 1993 अंक सौंपते हुए हर्ष हो रहा है। यह अंक नई सजधज के साथ पेश है। आशा है इसका नया आकर्षण कवर एवं कम्प्यूटर की छपाई अवश्य ही पसंद आयेगी। आगे हमारा और भी प्रयास रहेगा कि आपको अच्छी से अच्छी और नया से नया वैज्ञानिक साहित्य उपलब्ध कराते रहें।

मैं अपने लेखक बन्धुओं से एक बार पुन:निवेदन करूँगा कि पत्रिका के स्तर को उठाने में हमारी सहायता करें और दूसरी पत्रिकाओं द्वारा अस्वीकृत लेख हमें न भेजें। हमारे पास न तो किसी बड़ी अथवा सरकारी पत्रिका की भाँति आर्थिक समृद्धि है और न ही मानव शक्ति। परिषद् से जुड़े सभी व्यक्ति नि:स्वार्थ सेवा करते आ रहे हैं। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि हमारे लेखक भाई-बहन परिषद् की गरिमा बढ़ाने के पुनीत कार्य में अपनी भूमिका सफलतापूर्वक निभायेंगे।

पिछले दिनों हमें कई शोक समाचार मिले। विज्ञान परिषद् के पूर्व सभापति प्रो० कृष्ण जी के छोटे पुत्र श्री रंजन का एक दुर्घटना में अचानक निधन हो गया। परिषद् परिवार इस दु:ख की घड़ी में प्रो० कृष्ण जी के साथ है।

देश के वयोवृद्ध वैज्ञानिक डॉ० दौलत सिंह कोठारी के निधन से विज्ञान संसार और देश की अपूरणीय क्षति हुई है। ऐसे वैज्ञानिक कभी-कभी ही पैदा होते हैं।

हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठ साहित्यकार एवं पत्रकार अक्षय कुमार जैन के परलोकवासी होने से जो स्थान रिक्त हुआ है वह भरा नहीं जा सकता।

परिषद् के आजीवन सभ्य डॉ० आर. के. श्रीवास्तव {उप -प्रधानाचार्य, सी. एम. पी. डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद}की पूज्यनीय माता जी स्वर्गवासिनी हो गई।

इन दिवंगत आत्माओं को परिषद् परिवार की श्रद्धांजलि अर्पित है।

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी का स्वास्थ्य चिंता का विषय बना हुआ है। इन दिनों वे स्वास्थ्य-[illegible] के लिए अमेठी गए हुए हैं।

स्वर्गीय डॉ० मेघनाद साहा की जन्मशती समारोहों का श्रीगणेश हो जाने से (27 फरवरी 1992) इलाबाद विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग ने लगभग पूरे वर्ष तक व्याख्यान कराने की योजना बनाई है। 'विज्ञान'पत्रिका भी 'साहा स्मृति अंक' निकालने का विचार रखती है।

इलाहाबाद अब विश्वविद्यालय छात्र संघ के चुनावी माहौल, नगर में गुंडा आतंक और होली के हुड़दंग से बाहर आ रहा है और स्थितियाँ फिर से सामान्य हो रही हैं। आशा है हम भी परिषद् की गतिविधियाँ तेज कर सकेंगे।

आपका

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

परिषद् का पृष्ठ

विज्ञान परिषद्, वाराणसी शाखा द्वारा प्रो० नन्दलाल सिंह का अभिनंदन

भौतिकी विभाग {काशी हिन्दू विश्वविद्यालय} के अवकाशप्राप्त प्रोफेसर डॉ० नन्दलाल सिंह को, वैज्ञानिक साहित्य एवं उपकरण विकास के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान {मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार}, आगरा की ओर से वर्ष 1992 का "डॉ० आत्माराम पुरस्कार" प्रदान किया गया है। इसी परिप्रेक्ष्य में विज्ञान परिषद् {वाराणसी शाखा} द्वारा दिनांक 2 जनवरी, 1993 को, भौतिकी विभाग में प्रो० सिंह का अभिनंदन किया गया। अभिनन्दन समारोह की अध्यक्षता प्रो० महाराज नारायण मेहरोत्रा ने की तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो० चन्द्र शेखर झा ने मुख्य अतिथि का आसन ग्रहण किया। इस अवसर पर प्रो० देवेन्द्र कुमार राय ने प्रो० सिंह के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला। प्रो० झा ने विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्रों में हिन्दी के प्रयोग को उचित बताते हुए कहा कि केवल राजनीति के चलते हिन्दी इन क्षेत्रों में शिक्षा का माध्यम नहीं हो पा रही है, अन्यथा इसकी क्षमता में कोई कमी नहीं है। प्रो० नन्दलाल सिंह ने कहा कि स्वाधीनता प्राप्ति के ठीक पूर्व लोगों में हिन्दी के प्रति अधिक रुचि थी।

कार्यक्रम का संचालन परिषद् के मुख्य सचिव डॉ० श्रवण कुमार तिवारी ने किया और डॉ० रमाकान्त पाण्डेय ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

-प्रस्तुति : डॉ० श्रवण कुमार तिवारी

मुख्य सचिव, विज्ञान परिषद् प्रयाग {वाराणसी शाखा}, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

प्रो० नन्दलाल सिंह को आत्माराम पुरस्कार

गत् नवम्बर 1992 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष प्रो० नन्दलाल सिंह को वैज्ञानिक एवं तकनीकी साहित्य और उपकरण विकास के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्यों के लिए भारत सरकार के केन्द्रीय हिन्दी संस्थान तथा मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा "आत्माराम पुरस्कार" देकर सम्मानित किया गया। उन्हें राजधानी दिल्ली में आयोजित एक समारोह में मानव संसाधन विकास मंत्री श्री अर्जुन सिंह ने पुरस्कार की राशि, पन्द्रह हज़ार रूपये, शाल तथा प्रशस्ति ताम्रपत्र प्रदान किया।

डॉ० नन्दलाल सिंह जौनपुर जनपद के ग्राम खजुरहवां के निवासी हैं, वैसे अब वे काशी के ही नागरिक हैं और बी० 30/67, नन्द निवास, नगवा रोड, लंका, वाराणसी में निवास करते हैं। वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्र रहे हैं। सन् 1950 ई० में ही आपकी नियुक्ति विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग में हुई और कालान्तर में आपने प्रवक्ता, प्रवाचक, प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष के पदों पर कार्यरत रह कर अध्यापन एवं शोध कार्य किया। आपके निर्देशन में 30 छात्रों को भौतिकी {स्पेक्ट्रॉस्कोपी} विषय में पीएच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई।

अध्यापन काल के आरंभ से ही आपको हिन्दी में विज्ञान लेखन एवं शिक्षण के प्रति गहरी रुचि थी। अपने अध्यापन काल में आप ने अनेक मौलिक पुस्तकें लिखीं तथा अनेकानेक पुस्तकों का सम्पादन किया। सन् 1962 से 1978 तक भौतिकी कक्ष {हिन्दी प्रकाशन समिति, का० हि० वि०}

में निदेशक पद पर कार्य करते हुए आपने राष्ट्रभाषा हिन्दी में स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर की विज्ञान की अनेक मौलिक एवं अनूदित पुस्तकों के संपादन एवं प्रकाशन का महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया।

प्रो० सिंह प्रवर-समिति, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शब्दावली आयोग आदि अनेक संस्थाओं के सदस्य रहे हैं। आपने अनेक वर्षों तक "प्रज्ञा" तथा 'जर्नल ऑव साइन्टिफिक रिसर्च' का सपादन किया था। आपको विज्ञान वैचारिकी अकादमी एवं 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' द्वारा सम्मानित किया गया था। सन् 1989 में आपको राज्यभाषा विभाग, बिहार सरकार द्वारा विज्ञान में विशिष्ठ हिन्दी सेवी सम्मान प्रदान किया गया था। वे आज भी हिन्दी में विज्ञान साहित्य के समुन्नयन की दिशा में हमारे लिए प्रेरणा-स्रोत हैं।

-प्रस्तुति **डॉ० श्रवण कुमार तिवारी**

विज्ञान

फार्म 4

(नियम 8 देखिये)

1.	प्रकाशन का नाम	विज्ञान
2.	प्रकाशन स्थान	विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद-211002
3.	प्रकाशन अवधि	मासिक, प्रत्येक मास का 15 दिनांक
4.	मुद्रक का नाम	श्री अरुण राय
	क्या भारत का नागरिक है ?	हाँ
	पता	7 बेली एवेन्यू, इलाहाबाद
5.	प्रकाशक का नाम	डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
	पता	विभागाध्यक्ष, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
	क्या भारत का नागरिक है ?	हाँ
5.	सम्पादक का नाम	प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
	क्या भारत का नागरिक है ?	हाँ
	पता	वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
6.	उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों	विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद-211002

मैं हनुमान प्रसाद तिवारी, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं।

दिनांक : 5-3-1993

हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधानमन्त्री, विज्ञान परिषद् इलाहाबाद

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद वा रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पत्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु०, चौथाई पृष्ठ 50.00, आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

अप्रैल 1993 अंक

मूल्य : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
अप्रैल 1993; वर्ष 79 अंक 1

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7 ए बेली एवेन्यू
इलाहाबाद-211002

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

अब भी मौजूद है 'कल्पवृक्ष'

डॉ० जगदीप सक्सेना

'कल्पवृक्ष। समुद्र-मन्थन से निकले चौदह रत्नों में से एक। हर मनोकामना पूरी करने वाला। जरूरत की सारी चीजें जुटाने वाला। जड़ें ऊपर, शाखाएँ नीचे। अजर-अमर। कल्पवृक्ष का ऐसा बखान अनेक हिन्दू पौराणिक कथाओं में मिलता है। क्या सचमुच ऐसा कोई वृक्ष हो सकता हैं? वनस्पति विज्ञान की जानकारी के हिसाब से असंभव। क्या किसी ऐसे वृक्ष का बखान बार-बार किया जा सकता है, जिसका कोई अस्तित्व ही न हो? तार्किक बुद्धि कहती है नहीं। असलियत क्या है?

कल्पवृक्ष से जुड़े प्रतीकों को समझने के लिए 'कल्प' का अर्थ समझना जरूरी होगा। कल्पवृक्ष के चार शाब्दिक अर्थ हो सकते हैं। पहला अर्थ अक्षय वृक्ष यानी ऐसा वृक्ष जो अमर हो। अगर इसे काट भी दिया जाए तो यह फिर से बढ़ जाये। दूसरे अर्थ के मुताबिक ऐसा वृक्ष, जो एक कल्प तक जीवित रहे। ब्रह्मा के एक दिन को एक कल्प माना जाता है, जो 432 करोड़ साल के बराबर होता है। यानी इसका भावात्मक अर्थ हो सकता है लम्बी आयु वाला वृक्ष। तीसरा अर्थ है मनोकामनाओं को पूरा करने वाला वृक्ष और चौथा अर्थ—काल्पनिक वृक्ष, यानी जिसका अस्तित्व ही न हो।

इन अर्थों के आधार पर किन-किन वृक्षों को कल्पवृक्ष कहा जा सकता है? दक्षिण भारत में नारियल और केले की असीम उपयोगिता ने इन्हें 'कल्पवृक्ष' की संज्ञा दिलाई है। केरल में नारियल 'कल्पवृक्ष' के नाम से लोकप्रिय है। नारियल का हर भाग काम में आता है। फलों की गिरी से तरह-तरह के व्यंजन बनाये जाते हैं, जटा से रस्सी-चटाई बनती है, पत्तों से झोपड़ी की छाजन बनती है और मजबूत तना भवन-निर्माण के काम में आता है। यही हाल केले की उपयोगिता का भी है। जहाँ तक उपयोगिता का सवाल है, नारियल और केले को कल्पवृक्ष कहना गलत नहीं होगा। लेकिन समस्या आती है इसके आकार की। 'श्रीमद्भागवत' में कल्पवृक्ष का वर्णन करते हुये श्रीकृष्ण कहते हैं, "ऊर्ध्वमूलम अधःशाखम् अश्वत्थम प्राहुख्यम"। यानी ऐसा पेड़ जिसकी शाखाएँ नीचे हों और जड़ें ऊपर। इस आधार पर कुछ लोगों ने बरगद के पेड़ को कल्पवृक्ष कहा, क्योंकि बरगद की विशेष जड़ें शाखाओं से हवा में लटकती दीखती हैं। बरगद की आयु भी अधिक मानी जाती है। तीर्थराज प्रयाग के किले में मौजूद बरगद के वृक्ष की आयु अनन्त मानी गयी है। यह 'अमर अक्षयवट' के नाम से प्रसिद्ध है। लेकिन उपयोगिता के मामले में बरगद बहुत पीछे है। शोषण के लिए बदनाम वृक्ष 'कल्पवृक्ष' कैसे हो सकता है?

---

603 कृषि अनुसंधान भवन, पूसा, नई दिल्ली-110012

आजकल वैज्ञानिक जिस वृक्ष को कुछ हद तक कल्पवृक्ष मान रहे हैं, उसका नाम 'गोरख इमली' है। अंग्रेजी में इसे 'बाओबाब ट्री' या 'मंकी ब्रेड ट्री' कहते हैं। इसका वैज्ञानिक नाम एडनसोनिया डिजिटेटा है और यह बॉम्बेकेसी कुल का सदस्य है। यह मूलरूप से अफ्रीका का पेड़ है। अनुमान है कि मुस्लिम व्यापारी इसे हमारे देश में लाये थे। गुजरात के समुद्री तट पर इसके कई पेड़ मौजूद हैं।

बाओबाब को कल्पवृक्ष की कसौटी पर कसने से पहले देखा जाय कि इसके जन्म के बारे में हमारी पौराणिक कथाएँ क्या कहती हैं। कहा जाता है कि एक बार देवताओं और असुरों ने मिलकर समुद्र-मन्थन किया और उससे जो चौदह रत्न मिले उन्हें आपस में बाँट लिया। इन्हीं चौदह रत्नों में से एक था कल्पवृक्ष। इसे देवताओं के राजा इन्द्र ने अपने बाग में लगा लिया। तभी से इसे मनोवांछित फल देने वाला वृक्ष माना गया। विज्ञान की नजर में समुन्द्र मन्थन की घटना कोरी गप्प है, फिर कल्पवृक्ष के अस्तित्व का कोई सवाल ही नहीं उठता। हाँ, कुछ वैज्ञानिक समुद्र-मन्थन को समुद्री अभियान मानने को तैयार हैं। इनकी राय में इस अभियान ने समुद्री यात्रा के दौरान कई चक्करदार रास्तों का पता लगाया होगा और उपयोगी वस्तुओं को चुन लिया होगा। शायद ऐसी ही चौदह नायाब वस्तुओं को चौदह रत्न कहा गया। इस आधार पर कहा जा सकता है कि कल्पवृक्ष या बाओबाब समुद्री रास्ते से हमारे देश में घुसा।

बाओबाब में 'कल्पवृक्ष' के कौन-कौन से गुण हैं? सबसे पहले आयु देखते हैं। बाओबाब धीरे-धीरे बढ़ता है और सैकड़ों साल तक जिन्दा रहता है। इसकी उम्र 1,000 साल से अधिक आँकी है। अठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी बनस्पति विज्ञानी एडनसन (इन्हीं के नाम पर इसका वैज्ञानिक नाम एडनसोनिया है।) ने अफ्रीका में बाओबाब के एक पेड़ की उम्र 5,000 साल आँकी थी।

बाओबाब के पेड़ का आकार भी कल्पवृक्ष से अद्भुत साम्य रखता है। पेड़ की औसत ऊँचाई 12 मीटर और तने का घेरा 10 मीटर पाया गया है। सवानूर के एक पेड़ की मोटाई 15 मीटर है। कम से कम दर्जन भर लोग अपनी दोनों बाहें फैलाकर एक-दूसरे से मिलाएँ तो शायद इसके तने को घेर सकें। 'गिनीज बुक ऑव रिकार्ड्स' में बाओबाब के एक पेड़ के तने का घेरा 04.0 मीटर दर्ज है। शायद यही वजह है कि अफ्रीका में इसके तने को खोखला करके गुफा जैसा बना लिया जाता है और फिर इसमें आराम फरमाया जाता है। खोखले तने में अनाज का भंडारण भी किया जाता है। दक्षिण अफ्रीका के एक पेड़ में बस खड़ी करने की जगह बनाई गई है। इसके तने को खोखला कर देने या जला देने पर भी यह मजे में जिंदा रहता है। यह भी इसकी अमरता का एक प्रमाण है।

बाओबाब का बेहद मोटा तना धीरे-धीरे पतला होता जाता है। पहले ऊपरी छोर से कई शाखाएँ फूटती हैं। हर शाखा से उससे भी छोटी शाखाएँ फूटती हैं और फिर हर छोटी शाखा से उससे भी छोटी शाखाएँ। इस तरह पतली-पतली शाखाओं का एक घना जाल-सा बन जाता है। जाड़े के मौसम में पेड़ पर पत्तियां नहीं रहतीं। उस समय ऐसा लगता है जैसे पेड़ धरती पर उल्टा लगा हो। पतली-पतली जड़ें ऊपर और मोटा तना नीचे। यानी 'ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम् . . .' की कसौटी पर पूरा खरा। वैसे इसकी जड़ें धरती में 100 मीटर तक फैलती हैं।

अफ्रीका के आदिवसी बाओबाब को उल्टा पेड़ मानते हैं। इसके उलटे आकार के पीछे अफ्रीका में एक मजेदार किंवदंती प्रचलित है। इसके अनुसार सृष्टिकर्त्ता ने बाओबाब को सबसे पहले कांगो नदी के किनारे लगाया।

बाओबाब ने शिकायत की कि यहाँ पानी बहुत आता है। इसलिए यह जगह ठीक नहीं। तब सृष्टिकर्त्ता ने इसे पहाड़ की ढलान पर लगा दिया। यह जगह भी बाओबाब को पसन्द नहीं आई। वह फिर शिकायत लेकर पहुँच गए। अब सृष्टिकर्त्ता को भी गुस्सा आ गया। उन्होंने इसे उखाड़कर दूर फेंक दिया। बाओबाब अफ्रीका की धरती पर उलटा गिरा और वैसे ही जम गया। यानी जड़ें ऊपर और शाखाएँ नीचे।

अब बाओबाब की असीम उपयोगिता के बारे में। बाओबाब का लगभग हर हिस्सा किसी न किसी उपयोग का है। इसके अन्डाकार फलों के गूदे से ठंडक देने वाला शर्बत बनाया जाता है। पेचिश और पेट की अन्य गड़बड़ियों में भी फल खाना फायदा करता है। सूखे फलों का इस्तेमाल मछुआरे अपने जालों को तैराने के लिए करते हैं। बीजों की गिरी भी खायी जाती है। इसके फल खासतौर से बन्दरों को पसंद हैं। इसलिए इसे 'मंकी ब्रेड ट्री' भी कहा गया है। शायद यही कारण है कि एलोरा की 23वीं गुफा की शिल्पकारी में बने बाओबाब के पेड़ के पास बन्दर भी बनाया गया है। तने के विशाल कोटरों में अगर मुर्दा शरीर लटका दिया जाये तो वह बिना सड़े-गले ही सूख जाता है। 'ममी' जैसा बन जाता है। अफ्रीका के आदिवासी अपने पूज्यनीयों के शव इसी तरकीब से एक लम्बे अर्से तक सुरक्षित रखते हैं। कोटर में रखी खाने-पीने की चीजें भी काफी समय तक नहीं सड़तीं।

पेड़ की छाल से बढ़िया रेशा बनता है, जिससे रस्सी, बोरे, कपड़े और मछली पकड़ने के जाल बनाए जाते हैं। तने के भीतरी गूदे से कागज बनाया जा सकता है। लकड़ी से माचिस की डिब्बियाँ बनाई जाती हैं। छाल और पत्ती के पिसे पाउडर को मसाले की तरह इस्तेमाल किया जाता है। अफ्रीका में छाल के पिसे पाउडर को मलेरिया होने पर कुनैन की तरह इस्तेमाल करते हैं। पत्तियों की स्वादिष्ट सब्जी बनती है। बाओबाब के बड़े-बड़े सफेद फूल दृश्य की सुन्दरता बढ़ाते हैं। यानी बाओबाब का हर भाग किसी न किसी काम का है।

अब रही मनोकामनाओं को पूरा करने की बात। अफ्रीका के आदिवासियों का इस पर अगाध विश्वास है। वे इसे देवता की तरह पूजते हैं। हमारे देश में महाराष्ट्र में इसकी पूजा-अर्चना की जाती है। खासतौर से महिलाओं का बाओबाब पर पूरा विश्वास है। पुत्र की आकांक्षा रखने वाली महिलाएँ पेड़ की परिक्रमा करती हैं। उनका विश्वास है कि ऐसा करने से गोद हरी हो जाती है। पुराने समय में भी बाओबाब को पूज्य मानने के कुछ प्रमाण मिले हैं। यह कल्पवृक्ष से जुड़ा एक ऐसा पक्ष है, जिस पर विज्ञान पूरी तौर पर मौन है।

इस तरह बाओबाब 'कल्पवृक्ष' की कसौटी पर खरा उतरता है। अगर किसी वृक्ष को 'कल्पवृक्ष' मानना है तो वह बाओबाब के सिवा और कोई नहीं हो सकता।

OO

विज्ञान और धरती : गणितीय मॉडल आवश्यक

डॉ० कन्हैया शंकर उपाध्याय एवं सुभाष चन्द्र पाठक

इस अनन्त सृष्टि में कई निहारिकाएँ हैं। हमारी निहारिका उनमें से एक है। इस अनन्त विस्तार के निहारिका में अपना सौर्य-मण्डल अति नगण्य-सा कुछ धुंधले बादल या धूलि-कणों के समूह-सा है। सौर्य-मण्डल का तारा सूर्य ही है, अन्य उसके चारों तरफ परिक्रमा करते हैं। सूर्य गुरुत्वाकर्षण बल से इन उपग्रहों को अपनी तरफ खींचता है, और उपग्रह अपनी चक्रीय गति के कारण अभिकेन्द्रीय बल पैदा कर इस बल को सन्तुलित करता है। शक्ति-पुंज सूर्य है, शेष उस शक्ति का उपभोग मात्र करते हैं। सूर्य एक जीवित तारा है।

किसी समय इसके विघटन से टुकड़े आकाश में बिखरे, जिसमें कुछ अनन्त आकाश में खो गये, कुछ पुन: सूर्य पर लौट गये और शेष जो बचे, वे सौर्य-मण्डल में उपग्रह बने। कुछ सूर्य के अति निकट बने रहे, जिससे उनके ठंडे होने की प्रक्रिया मन्द रही। कुछ अति दूर चले गए, जो जल्दी ठण्डे होकर शीत की गहराइयों में समा गए। ये दोनों प्रकार के उपग्रह जीवन के लिए अनुपयुक्त थे। जीवन के लिए उपयोगी उपग्रह, मंगल, पृथ्वी, वृहस्पति हो सकते हैं। ये सूर्य से न अति दूर हैं और न अति निकट। मगर मंगल और वृहस्पति भी अपने भौतिक गुणों (आकार, द्रव्यमान, सूर्य से दूरी एवं गति) के कारण जीवन की सुख सुविधा नहीं जुटा पाए। यह सौभाग्य हमारी पृथ्वी को ही मिला, जो सूर्य के न तो अति निकट है और न ही अधिक दूर। इसकी ठण्डी होने की प्रक्रिया भी अति धीमी है। अपने आकार व घनत्व के कारण पृथ्वी जल और वायु के एक घेरे से संयुक्त है। ये परिस्थितियाँ आदर्श हैं, जीवन के लिए। और संभवत: तभी यहाँ जीवन का उद्भव और विकास सम्भव भी हुआ।

पृथ्वी की अनेक विशेषताएँ हैं। इनमें से कुछ को वैज्ञानिकों ने खोज निकाला है और वह यह कि सूर्य के चारों तरफ पृथ्वी दीर्घ वृत्ताकार पथ पर 365.25 दिन में एक पूर्ण चक्कर लगा लेती है। और तो और अपने अक्ष पर 24 घण्टे में एक बार घूम भी जाती है, वह भी ध्रुवों को जोड़ने वाली रेखा पर न होकर बल्कि उस पर कुछ झुक कर। अनजान लोगों के लिए पृथ्वी की बंकिम भंगिमा के तार्थैया और इसके साथ एक पूर्ण-ताण्डव कुछ अटपटा सा लग सकता है। किन्तु वैज्ञानिक खोजों से यह स्पष्ट हो गया है कि पृथ्वी का यह करतब हमारे लिए बहुत जरूरी है। बिना इसके जीवन नीरस होता, असहज होता, सम्भव नहीं हो सकता था। अहर्निस इतना करतब कर पृथ्वी जो हमारे लिए सुख-सुविधा जुटा रही है, उसे हमें सजोना है, उसमें वृद्धि करना है, उसे नष्ट तो कतई नहीं करना है। किन्तु आज मानव इस धरती को नष्ट कर रहा है। आज हमें धरती और धरती के बिगड़ते पर्यावरण को बचाना है। अब मनुष्य चेत रहा है। धरती को बचाने के लिए नित नये कदम उठा रहा है। वर्तमान स्लोगन-धरती बचाओ-का उद्देश्य भी कुछ ऐसा ही है।

डॉ उपाध्याय इलाहाबाद विश्वविद्यालय के गणित विभाग में रीडर हैं और श्री पाठक मोतीलाल नेहरू रीजनल इंजीनियरिंग कॉलेज, इलाहाबाद से सम्बद्ध हैं।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि पृथ्वी सूर्य के गुरुत्वाकर्षण में है, जहाँ आकर्षण बल दूरी के वर्ग के प्रतिलोमानुपाती है। वैज्ञानिक खोजों से यह स्पष्ट हो गया है कि इस तरह के बल के तहत गति करने वाला पिण्ड, एक तल में गति करेगा और गति का पथ परवलय, दीर्घवृत्त, या अतिपरवलय होगा। पथ का निर्णय प्रारम्भिक शर्तों पर निर्भर करेगा अर्थात् गति आरम्भ करते समय पिण्ड की बल केन्द्र से दूरी एवं उसका अपना वेग।

यह बड़े सौभाग्य की बात है कि पृथ्वी की सीमा शर्तें इस तरह की थी कि, पथ "दीर्घवृत्त" रहा परवलय या अति परवलय नहीं हुआ। यदि ऐसा न हुआ होता तो हमारी यह पृथ्वी अनन्त की गहराई में कहीं थिरक रही होती, खो गयी होती, अथवा नष्ट हो गयी होती। इन दुर्लभ परिस्थितियों को सहज ही प्राप्त करने के बाद, पृथ्वी के स्वाभाविक गुणों के प्रतिकूल आचरण करना, मूर्खता है, घातक है, और आत्मघाती भी।

जीवन के लिए पानी और हवा दोनों ही अति आवश्यक हैं। पृथ्वी पर इन दोनों की प्रचुरता है। स्थल और जलमण्डल के ऊपर लगभग 200 मील तक आच्छादित विभिन्न मात्रा में ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन डाइ-ऑक्साइड आदि गैसों का आवरण गैसीय वातावरण कहलाता है। वायुमण्डल में मुख्यत: ऑक्सीजन और नाइट्रोजन गैसें हैं। थोड़ी मात्रा में निष्क्रिय गैसें (आर्गन, क्रिप्टन, जेनन, रेडॉन), कार्बन डाइऑक्साइड और जलवाष्प भी रहती हैं। कार्बन डाइऑक्साइड की उपस्थिति जीवन की आवश्यक शर्त है, मगर मात्रा बढ़ने पर यह घातक भी हो जाती है। पर्यावरण की पहली परिकल्पना इसी गैस के सन्तुलन को लेकर आरम्भ हुई है। जलवाष्प, दाब, ताप व मौसम के अनुसार बदलता रहता है।

सन्तुलित अवस्था में वायुमण्डल का स्वरूप निम्नवत् है—

क्र० सं०	घटक (कम्पोनेन्ट्स)	आयतन (प्रतिशत मात्रा)	भार (प्रतिशत मात्रा)
1.	ऑक्सीजन	20.93	23.24
2.	कार्बन डाइऑक्साइड	0.03	0.040
3.	नाइट्रोजन (संयुक्त निष्क्रिय गैसें क्रिप्टन, नियान, जेनन)	78.10 79.04	75.499
	आर्गन	0.94	1.437
	योग	100.00	100.00

विकास के क्रम में मानव ने विभिन्न स्तर पर वायुमण्डल के संतुलन को बिगाड़ा है, कुछ भौतिक परिवर्तनों के रूप में तो कुछ रासायनिक परिवर्तनों के रूप में। वायुमण्डल में उपस्थित धूलिकण, प्लास्टिक के अवशेष, अंतरिक्ष में नष्ट होने वाले यानों के ध्वन्सावशेष, कार्बन मोनोऑक्साइड, सल्फर डाइऑक्साइड एवं रेडियोसक्रिय किरणें प्रमुख हैं। किन्तु आज हमारी अतिचिन्ता के विषय हैं कार्बन डाइऑक्साइड की लगातार बढ़ती मात्रा के कारण पृथ्वी का

धीरे-धीरे गर्म होते जाना और ओजोन की छतरी, जो सूर्य की घातक पराबैंगनी किरणों से धरती के जीवधारियों की रक्षा करती है, में छेद होना।

कार्बन डाइऑक्साइड गैस जीवधारियों एवं निर्जीव दोनों ही स्तरों पर उत्पन्न होती है। जीवधारी श्वसन के माध्यम से ऊर्जा प्राप्त करता है, जिसमें ऑक्सीजन की खपत होती है और कार्बन डाइऑक्साइड उत्पन्न होती है। श्वसन द्वारा प्राप्त ऑक्सीजन जब जीवधारी के शरीर में संचित ऊर्जास्रोतों से क्रिया करता है तो कार्बन डाइऑक्साइड गैस पैदा होती है, जो पुनः श्वसन द्वारा वायुमण्डल में बाहर निकाल दी जाती है।

$$\text{ग्लूकोज} + O_2 = O_2 + \text{ऊर्जा}$$

यदि लम्बे अवधि तक यह प्रक्रिया चलती रहे तो वायुमण्डल में ऑक्सीजन की कमी और कार्बन डाइऑक्साइड का बाहुल्य हो जाएगा, जो घातक होगा। इसको सन्तुलित करने के लिए प्रकृति ने धरती पर वनस्पतियों को रक्खा है, जो सूर्य के प्रकाश में, सूर्य की ऊर्जा शोषित कर, कार्बन डाइऑक्साइड से अपना भोजन बनाती है। यही, सम्पूर्ण जीवधारियों के भोजन एवं ऊर्जा का मुख्म स्रोत होता है।

विज्ञान की प्रगति के पूर्व यह सन्तुलन आदर्श था मगर तकनीकी एवं चिकित्सा विज्ञान में अभूतपूर्व विकास के पश्चात् यह संतुलन दोनों ही तरह से नष्ट हुआ है। जहाँ एक तरफ बनों की कटाई से कार्बन डाइऑक्साइड को शोषित कर ऑक्सीजन देने वाले तंत्र को कम किया गया वहीं ऑक्सीजन लेकर कार्बन डाइऑक्साइड उत्पन्न करने वाली मानव जनसंख्या को तेजी से बढ़ाने का अवसर मिला। फलस्वरूप कार्बन डाइऑक्साइड और ऑक्सीजन का सन्तुलन बिगड़ता चला गया। अब तो स्थिति ऐसी आती जा रही है कि जीवन के लिए शुद्ध ऑक्सीजन की कुछ विशिष्ट खुराक प्रतिदिन किसी न किसी रूप में लेना आवश्यक हो गया है।

निर्जीव पदार्थों के माध्यम से भी वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा बढ़ी है। कोयले अथवा अन्य खनिज ईंधन (पेट्रोल, डीजल आदि) जब भट्ठियों, कारखानों, बिजलीघरों, मोटरगाड़ियों, रेलगाड़ियों में इस्तेमाल होते हैं, तब कार्बन डाइऑक्साइड, सल्फर डाइऑक्साइड की मात्रा वायुमें पहुँचती है। मोटर गाड़ियों से अधूरा जला हुआ ईंधन जब वायुमण्डल में पहुँचता है, तब कार्बन डाइऑक्साइड, सल्फर डाइऑक्साड, कार्बन मोनोऑक्साइड, धूलि तथा यौगिकों के सूक्ष्म कण प्रदूषण के रूप में हवा में फैल जाते हैं। इस दृष्टिकोण से मोटरगाड़ी को सबसे बड़ा प्रदूषणकारी माना गया है। इसमें रासायनिक कारखानें, पेट्रोल साफ करने वाले संयन्त्र, उर्वरक, सीमेण्ट, चीनी, काँच, कागज इत्यादि के कारखाने सभी शामिल हैं। इस कारखानों से कार्बन मोनोऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड, विभिन्न प्रकार के हाईड्रोकार्बन, धातुकण, विभिन्न फ्लोराइड, कभी-कभी रेडियोसक्रिय पदार्थ, कोयले के ज्वलनशील खनिज वायुमण्डल में प्रदूषकों के रूप में पहुंच जाते हैं। परमाणु ऊर्जा प्राप्त करने के लिए अनेक देश, परमाणु विस्फोट भी कर चुके हैं। इनमें यूरेनियम, बेरिलियम, क्लोराइड, आयोडीन आर्सेनिक, स्ट्रान्सियम, सीजियम, कार्बन आदि हैं। इसके साथ-साथ अंतरिक्ष यानों द्वारा वायुमण्डल में रासायनिक पदार्थों का छोड़ा जाना भी कम अहितकर नहीं है।

अभी मानव समाज कार्बन डाइऑक्साइड के इस बिगड़ते सन्तुलन से निपट भी नहीं पाया था कि पर्यावरण विज्ञान ने एक अति घातक खतरे की तरफ संकेत किया। यह खतरा वायुमण्डल पर पृथ्वी की सतह से 50 से 60

किलोमीटर के बीच स्थित औजोन की परत का पतला होना है। ओजोन ऑक्सीजन के तीन परमाणुओं के एक विशिष्ट संरचना में मिलने से बनती है। यह क्रिया उच्च ताप पर ऊर्जा अवशोषित करने वाली होती है। वायुमण्डल के ऊपरी सतह पर, जहाँ सूर्य से अति ऊर्जासम्पन्न किरणें सहज उपलब्ध हैं, यह क्रिया होती है और सूर्य की किरणों में विद्यमान पराबैंगनी किरणों की ऊर्जा इस प्रक्रिया में शोषित हो जाती है। यदि ऐसा न होता और ये किरणें सीधे पृथ्वी तल पर पड़तीं तो जीवन को नुकसान पहुँचा सकती थीं। मगर ओजोन की इस मोटी पर्त ने हमारी रक्षा की है, हमें सुरक्षा कवच प्रदान किया है।

तकनीकी के विकास ने हमें यहाँ भी धोखा दिया। जब कुछ गैसें वायुमण्डल में तैरते-तैरते ओजोन की सतह तक पहुँची तो उन्होंने इस सतह को ही नष्ट करना शुरू कर दिया और यहीं से खतरा शुरू हुआ, ओशोन छतरी में झीनेपन का, छिद्र का। रेफ्रीजरेशन में प्रयोग की जाने वाली सीयफसी गैसें (क्लोरोफ्लोरोकार्बन) अति उपयोगी समझी जाती थीं क्योंकि ये निष्क्रिय गैसें थीं। मगर यही ओजोन की ऊपरी परत पर पहुँच कर, पराबैंगनी किरणों की शक्ति पाकर, सक्रिय हो गई और ओजन को ऑक्सीजन में तोड़ने लगीं। यदि इस प्रक्रिया को शीघ्रातिशीघ्र न रोका गया तो इस पृथ्वी पर जीवधारियों के लिए भयावह स्थिति उठ खड़ी होगी और सम्भव है कि उस प्राकृतिक विपदा में इस पृथ्वी पर जीवधारियों का समूल नाश ही हो जाय। इससे हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जहाँ विज्ञान ने एक ओर सुख-सुविधाओं के साधन जुटाये हैं वहीं अनेक समस्यायें भी खड़ी की हैं।

विज्ञान मूल रूप से जड़ प्रकृति का अध्ययन करता, है जिसमें देश, काल, ऊर्जा और पदार्थ का समावेश है। इन मूल तत्वों में परिवर्तनों का प्रेक्षण द्वारा निरीक्षण किया जाता है। निरीक्षण, प्रेक्षक वैज्ञानिक उपकरणों के माध्यम से करता है। निरीक्षण में दोनों ही तरह के तत्वों का समावेश रहता है, वस्तुपरक और भावपरक। भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रेक्षकों द्वारा निरीक्षण कराकर उनके निष्कर्षों का सारतत्व निकाल लिया जाता है। इस प्रक्रिया में प्रेक्षक का भावपरक अंश छन जाता है और उभयनिष्ठ तथ्य मूल तत्व का वस्तुपरक ज्ञान देता है। आज के विज्ञान की यही सर्वमान्य प्रक्रिया है या इस वस्तुपरक ज्ञान को ही हम विज्ञान की संज्ञा देते हैं। इस विशिष्ट विधि में कुछ सहज कमियाँ परिलक्षित होती हैं, जिनकी तरफ अनायास दृष्टि चली जाती है—

1. जड़ प्रकृति का अध्ययन प्राणिमात्र के लिए क्यों और कैसे उपयोगी हो सकता है ?

2. यदि मूल तत्व देश, काल, ऊर्जा, और पदार्थ हैं तो क्या इनसे सृष्टि की सम्पूर्ण रचना सम्भव है ?

3. सृष्टि में चेतनता का भी गुण है। यह चेतन तत्व स्वतंत्र चर है या पूर्व वर्णित चार स्वतंत्र चरों का कोई फलन ?

4. यदि सभी प्रेक्षकों की मानसिक स्थिति एक ही स्तर की हो तो क्या सार तत्व निकालने की प्रक्रिया में कुछ भावपरक ज्ञान भी उभयनिष्ठ नहीं हो सकता ? तब क्या उस स्थिति में वैज्ञानिक प्रक्रिया से प्राप्त ज्ञान केवल वस्तुपरक ही है ? इसमें प्रेक्षक का भावपक्ष समाहित नहीं है ? ऐसी स्थिति में वस्तुपरक ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रेक्षक समूह के लिए भिन्न-भिन्न हो सकता है। यह विज्ञान के निश्चयात्मक प्रवृत्ति पर एक प्रश्न-चिन्ह होगा ?

5. क्या ऐसा कोई मॉडल हो सकता है जिसमें उपरोक्त वर्णित दोष न हों ? मगर इन प्रश्नों के विस्तार में जाने से पूर्व अब तक के वैज्ञानिक खोजों पर एक विहंगमदृष्टि डालना ज्यादा उचित होगा, जो आधुनिक विज्ञान के स्वरूप एवं उनकी सीमाओं को स्पष्ट करते हैं ।

(अ) वैज्ञानिक आइन्सटीन के पूर्व समय निरपेक्ष था, मगर यह निरपेक्ष समय कुछ प्रयोगों की स्पष्ट व्याख्या करने में असफल हो गया तब आइन्स्टीन ने समय की मूल अवधारणा पर ही प्रश्न उठाया और एक्ज़िमेटिक (स्वत: सिद्ध) परिभाषा देकर, न के केवल प्रेक्षणों का स्पष्ट विवेचन किया अपितु समय के सापेक्षता के गुण को भी प्रगट किया ।

(ब) विज्ञान मानव की एक समस्या को हल करने के लिए आगे बढ़ता है, मगर इस प्रक्रिया में दो और जटिल समस्यायें खड़ी कर देता है । इसके उदाहरण तकनीकी एवं चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में भरे पड़े हैं। तकनीकी ने विकास के लिए वनों को काटा, वातावरण से मुक्त रखने के लिए "एअॅर कण्डीश्नर फ्रीज" का आविष्कार किया, परिणामस्वरूप वातावरण में ऑक्सीजन, कार्बन डाइऑक्साइड का सन्तुलन बिगड़ा और कुछ ऐसी गैसें प्रकाश में आई जिन्होंने पृथ्वी की जीवन रक्षक कवच ओजोन (O_3) को ही क्षतिग्रस्त किया, पर्यावरण बिगड़ गया । चिकित्सा के क्षेत्र में नित नई-नई ओषधियां आती हैं और शीघ्र ही उनके ओषधीय गुणों के साथ-साथ उनके विनाशक गुण भी प्रकाश में आ जाते हैं और उनका प्रयोग निषिद्ध कर दिया जाता है । समृद्ध और समुन्नत समाज इसे शीघ्र स्वीकार कर लेता है । मगर विकासशील और पिछड़े देश इन्ही घातक ओषधियों का अम्बे अर्से तक सेवन करने को विवश रहते हैं । कभी पेनिसिलीन रामबाण थी, किन्तु अब इसका प्रयोग विवाद के घेरे में है । यही हश्र सल्फाड्रग्ज, माइसीन एवं अन्य दर्दनाशक ओषधियों का भी हुआ है । इनका प्रयोग या तो बन्द कर दिया गया है या चेतावनियां दी जा रही हैं ।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जड़ प्रकृति का अध्ययन करने वाला यह विज्ञान चेतन संयुक्त प्राणिमात्र को शुद्ध सहयोग करने में असमर्थ है । इसके द्वारा प्रस्तुत ज्ञान सत्य नहीं है, अपितु सत्य का एक अंश है, सत्य की प्रतिछाया है । यह प्रश्न-चिह्न विज्ञान की मूल अवधारणा जहाँ देश, काल, ऊर्जा एवं पदार्थ हैं, में संशोधन की तरफ इंगित करता है और साथ ही साथ प्रेक्षण के प्रयोगात्मक विधि की तरफ भी । विज्ञान चेतन तत्व के संयोग के बिना अपूर्ण है । अतः इसमें चार की जगह पाँच मूल तत्व देश, काल, ऊर्जा, पदार्थ और चेतना होना चाहिए और कई प्रेक्षकों द्वारा एक ही प्रयोग को भिन्न-भिन्न स्थानों पर पुनरावृत्ति कराने के अवैज्ञानिक विधि के स्थान पर प्रेक्षक के मानसिक स्थिति का विकास कर एक ही प्रेक्षक द्वारा सत्य को प्रकाश में लाने का प्रयास किया जाना चाहिए, तभी विज्ञान अपनी वैज्ञानिक कसौटी पर खरा उतर सकता है, एक नए विज्ञान का जन्म हो सकता है, जो जड़-चेतन दोनों ही प्रकार की सृष्टि के लिए उपयोगी हो सकता है। इस दिशा में शुद्ध गणितीय मॉडल के आधार पर शोध की आवश्यकता है, जो तर्क पूर्ण विवेचन एवं विश्लेषण से संयुक्त होकर विज्ञान को एक नया स्वरूप प्रदान कर सके ।

●●

आओ जानें समुद्र के बारे में

डॉ० राम कुमार तिवारी

अन्धविश्वास का कारण है ज्ञान का सीमित होना । आज से 50 वर्ष पूर्व समुद्र से सम्बन्धित ज्ञान भी मेरे देश में इतने सीमित थे कि समुद्री यात्रा करने वाले व्यक्ति को समाज में वहिष्कृत समझा जाता था । भारतीय द्वीप समूह अण्डमाननिकोवार को 'काला पानी' कहते थे, क्योंकि राजनैतिक बंदियों को यहाँ रखा जाता था जो इसे पार नहीं कर पाते थे । इसे अभेद्य दुर्ग समझा जाता था । परन्तु आज मात्र 5-6 दशकों में ही समुद्रों के वैज्ञानिक अध्ययन इतनी तेजी से हुए कि ये सब भ्रांतियाँ समाप्तप्राय हो गई हैं । वैसे तो समुद्रों का अध्ययन ईसा पूर्व 1000 वर्ष पूर्व होमस के काल से ही होता आ रहा है किन्तु 1420 में प्रिंस हेनरी, जो पुर्तगाल के रहने वाले थे, ने समुद्र के बारे में शोधकार्य शुरू किया था । 16वीं शती के अन्त तक मैगलन और ड्रेक ने पूरे ग्लोब (पूरी धरती) का भ्रमण किया । उन्नीसवीं सदी में एडवर्ड फोवर्स (ग्रेटब्रिटेन) और विविल टोमसन का 'चैलेंजर' समुद्री जहाज के द्वारा की गई खोज (1830-1876) महत्वपूर्ण है । इन्होंने समुद्री धरातल की स्थलाकृतियों का अध्ययन किया । जान मर्रे ने (1841-1914) ने प्रवाल और प्लेंकटन का अध्ययन किया । अमेरिका के लुई और अगासिज ने (1807-1873) गहरे समुद्री तल का अध्ययन किया । नेनसन, एमण्डसन, पेटरसन नामक वैज्ञानिकों ने 1925 से 1953 तक समुद्र के कई रहस्यों को उद्घाटित किया । इन अन्वेषणों के कारण अब समुद्री जानकारी काफी व्यापक हो गई है ।

इस पृथ्वी पर समुद्र का क्षेत्रफल क्या है ? स्थलखण्ड और जलखण्ड का अनुपात क्या है ? उत्तर मिलता है तीन भाग जलखण्ड एक भाग स्थलखण्ड का है । इस अनुपात का आकलन सर्वप्रथम वेगनर महोदय ने किया था । इन्होंने ही सर्वप्रथम बताया कि जलखण्ड 71 प्रतिशत और स्थल लगभग 29 प्रतिशत है ।

पृथ्वी पर विस्तृत यही 71 प्रतिशत जलखण्ड ही समुद्र, सागर और महासागरों के नाम से जाने जाते हैं । समुद्र और सागर दोनों समानार्थक शब्द हैं । महासागर का अर्थ कुछ भिन्न होता है । समुद्र या महासागर के छोटे भागों में से एक होता है जो आंशिक रूप से स्थल से घिरा होता है जैसे भूमध्य सागर, उत्तर सागर । कहीं-कहीं तो चारों ओर स्थल से घिरा हुआ विशाल जलराशि भी सागर या समुद्र कहा जाता है जैसे केस्पियन सागर, काला सागर, अरल सागर आदि । किन्तु ये महासागर का निर्माण नहीं करते । इन्हें महाद्वीपीय सागर कहा जाता है । । इसी प्रकार सागरों के संयुक्त रूप को महासागर कहते हैं । महासागर लवणीय जल की एक वृहत् संहति है जो भूमण्डल की भू-संहतियों को घेरे हुए है । यही कारण है कि महासागर जहाँ पाँच हैं जैसे—प्रशान्त महासागर, अटलांटिक महासागर, हिन्द महासागर, आर्कटिक महासागर और अन्टार्कटिक महासागर, वहीं सागर या समुद्र अनेक हैं जैसे—अरब सागर, लाल सागर, भूमध्य सागर, बेरिंग सागर, जापान सागर, बाल्टिक सागर, बेरेन्ट सागर, लेप्टेस सागर टिमोर सागर, टसमन सागर, केरेबियन सागर, वेडेल सागर आदि । इनकी संख्या बहुत अधिक है जो प्रायः स्थल-खन्डों के किनारे वाले प्रदेशों में स्थित हैं । इन्हीं सभी सागरों को मिलाकर पाँच महासागरों का विस्तार है । इन

क्वार्टर नं० 6, बी० एस० कॉलेज परिसर, लोहरदगा-835302

पाँचों महासागरों का कुल क्षेत्रफल, छत्तीस करोड़ दस लाख उनसठ हजार वर्ग किलोमीटर (361059000 वर्ग कि०मी०) है।

समुद्र की उत्पत्ति कैसे हुई इस पर विद्वानों ने अनेक प्रकार की व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं। समुद्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहना उतना ही जटिल है जितना कि पृथ्वी की उत्पत्ति के बारे में कहना। विद्वानों ने जो भी सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है। संकुचन सिद्धान्त और रेडियोएक्टिव सिद्धान्त। संकुचन सिद्धान्त में लोथियान ग्रीन, लेपवर्थ, जेफरे, डेली, वेगनर आदि का सिद्धान्त प्रमुख है तथा जोली और होम्स का रेडियोएक्टिव सिद्धान्त है। यहाँ सबों का उल्लेख करना कठिन है, किन्तु सबसे प्रचलित विचार लोथियान ग्रीन का चतुष्फलक सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त 1875 में प्रस्तुत किया गया था। संक्षेप में यह सिद्धान्त इस प्रकार है—

लोथियन ग्रीन का सिद्धान्त फेयर बर्न की खोज पर आधारित है, जिसमें यह बताया गया है कि यदि एक गोलपाइप को चारों ओर से समान भार द्वारा दबाया जाय तो वह गोल न रहकर त्रिभुजाकार हो जाएगा। ग्रीन का कहना है कि पृथ्वी उत्पत्ति के बाद जब ठंडी होने लगी तब आन्तरिक भाग बाहरी पृष्ठ की अपेक्षा अधिक सिकुड़ गया क्योंकि बाहरी पृष्ठ तुरन्त कठोर हो गया था तथा भीतरी भाग धीरे-धीरे सिकुड़ रहा था। अब पृष्ठ और आन्तरिक भाग के बीच एक रिक्त स्थान बन गया। ऐसी स्थिति बनी नहीं रह सकती थी अतः ऊपर के बड़े आयतन को आन्तरिक छोटे आयतन पर चिपकना पड़ा, जिससे उसकी आकृति चतुष्फलक जैसी हो गयी। यह चतुष्फलक (Tetrahedral) चार समत्रिबाहु त्रिभुजों के मिलने से बनी आकृति के सदृश होती है। चतुष्फलक, पृथ्वी के सभी चार कोण उभरे हुए हैं अतः इसमें कनाडा, साइबेरिया, यूरोप और अन्टार्कटिका स्थलखन्ड बने तथा निचले भाग आर्कटिक, अटलांटिक, हिन्द महासागर तथा प्रशान्त महासागर बने। ये तो सागर सतह के निर्माण की व्याख्या हुई। सागरों में जलराशि के आगमन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद धीरे-धीरे यह ठंडी होती गई। विशाल मात्रा में गैस आदि निकलते रहे जो गुरुत्व के कारण पृथ्वी के आकर्षण क्षेत्र से बाहर नहीं निकल सके। इस तरह वायुमण्डल का निर्माण हुआ। वायुमण्डलीय गैस के सम्पृक्त होने से काफी वर्षा हुई जिससे पृथ्वी पर भी बड़ी-बड़ी द्रोणियाँ (Geosynclinals) जल से भर गए जो सागर या महासागर बन गए।

समुद्र की आयु ज्ञात करने की अनेक विधियों में से एक विधि है लवण की मात्रा की गणना करना। वैज्ञानियों ने गणना कर यह ज्ञात किया है कि प्रतिवर्ष समुद्रीय लवण की मात्रा बढ़ती जाती है। प्रारम्भ में सागर का जल मीठा रहा होगा किन्तु नदियों के द्वारा निरन्तर स्थलखण्डों से अपरदित कर विभिन्न लवणों की मात्रा सागर में जमा की जाती है। 1890 में जोली महोदय ने कहा था कि प्रतिवर्ष 15.6 करोड़ मिट्रिक टन नमक सागर में जाता है। सागरों में कुल नमक की मात्रा 1260 करोड़ मि.ट. है। इन्होंने कहा कि बीच-बीच में पर्वत-निर्माण-प्रक्रियाएँ होती रही हैं अतः कुल आयु 150 करोड़ वर्ष अनुमानित किया जाता है।

समुद्रों की गहराई का माप कुछ दिन पूर्व बहुत कठिन था। लोहे के चेन गिराए जाते थे जिसमें 12-13 घन्टों का समय लग जाता था। 1920 में ध्वनि प्रतिध्वनि अंकन (Echo sounder) पद्धति के द्वारा अब घंटे भर में बहुत-बड़े क्षेत्र के धरातल की गहराई का पता चल जाता है। अन्वेषणों के द्वारा तट से गहरे सागर तक को कई भागों में गहराई के आधार पर विभाजित किया गया है। जैसे—महाद्वीपीय भग्नतट (Continental shelf); महाद्वीपीय ढाल (Continental slope); महासागरीय मैदान (Deep Sea Plain) तथा गर्त (Ocean Deep)

सागर तट से लेकर 200 मीटर की गहराई तक भग्नतट कहलाता है। इसकी औसतन चौड़ाई 50 कि०मी० है। इसके आगे महाद्वीपीय भग्नढाल स्थित होता है। इस ढाल की तलीय गहराई 200 से 2000 मीटर की होती है। इसके आगे प्लेकार्म नुमा समतल मैदानी भाग आता है। इसकी गहराई 3000 से 5000 मीटर औसतन है। इसके आगे गर्त का भाग आता है। ये कहीं-कहीं मिलते हैं, किन्तु इसकी औसतन गहराई 7 हजार मीटर से 12 हजार मीटर तक होती है। अब तक की खोज के अनुसार ऐसे गर्तों की संख्या 56 है। इन गर्तों के आस पास कटक पाये जाते हैं। आधुनिक खोज यह सिद्ध करते हैं कि इन कटकों के दोनों ओर सागरीय धरातल का प्रसार होता है। 1960 में हेरी हेस (अमेरिकी विद्वान) का सिद्धान्त "अक्ष प्रसार" इसी पर आधारित है।

समुद्र जल में लवणता होती है। यह लवणता समुद्री सतह पर हर जगह एक समान मात्रा में नहीं रहती है। लवणता की मात्रा में भिन्नता के होने के कारण हैं ताप, वर्षा, नदी का मिलना, पवन की दिशा, तथा सागरीय गति। इस कारणों से प्रभावित होकर सागर में लवणता का वितरण क्षेतिजीय रूप में इस प्रकार होता है—विषुवतीय क्षेत्र में लवणता (33%) कम मिलती है। इसका कारण है सदैव बादलों के घिरे होने के कारण कम वाष्पीकरण का होना तथा वर्षा का अधिक होना। कर्क और मकर रेखा के क्षेत्र में सर्वाधिक (86%) लवणता होती है। कारण है सर्वाधिक ताप के कारण वाष्पीकरण अधिक होना पुनः ध्रुवीय क्षेत्रों में लवणता कम (20%) होती है। कारण है हिम के पिघलने से स्वच्छ जल का समुद्र में मिलना। इसी प्रकार लवणता का उर्ध्वाधर वितरण (Vertical distribution) को गहराई तो प्रभावित नहीं करती किन्तु ठंडी एवं गर्म जलराशि काफी प्रभावित करती है। अटलांटिक महासागर का उदाहरण लिया जाय तो सतह पर 33 होती है, 400 मीटर की गहराई में बढ़कर 34-35 हो जाती है तथा 1200 मीटर की गहराई में 36 होती है। इसके बाद पुनः घटने लगती है। एक गणना के अनुसार समुद्री जल में प्रति 1000 ग्राम में 35 ग्राम नमक घुला होता है। ये नमक क्लोराइड, सल्फेट तथा कार्बोनेट किस्म के होते हैं। सबसे अधिक सोडियम क्लोराइड (साधारण नमक) की मात्रा होती है।

तरंग एवं ज्वार-भाटा महासागरों एवं सागरों या समुद्रों की अनिवार्य शर्त है। महासागरीय या सागरीय सतह की दोलायमान गति को तरंग कहते हैं। इसकी उत्पत्ति सागरीय सतह पर पवन के घर्षण से होती है। इसकी अधिकतम ऊँचाई 16 मीटर तक हुआ करती है। जल की गहराई, पवन-वेग, तथा अधःतल की रूप रेखा से लहरों की ऊँचाई प्रभावित होती है। जल की गहराई अधिक होने पर लम्बी तरंगें उत्पन्न होती हैं। ये लहरें समुद्र तट से टकराती हैं जिससे तट की कटान होती है तथा विभिन्न प्रकार की आकृति जैसे—समुद्री गुफा, मेहराव, क्लीफ, स्तम्भ आदि का निर्माण होता है।

ज्वार-भाटा के सम्बन्ध में विद्वानों का कहना है कि जब इस पृथ्वी पर महासागर या सागर नहीं थे तब भी सूर्य के आकर्षण बल के प्रभाव से पृथ्वी की सतह पर ज्वार उठा करता था। तब पृथ्वी तप्त थी और पिघली अवस्था में थी। पिघले द्रव्य ही ज्वार के रूप में सूर्य की ओर आकर्षित हो उठते थे। अब महासागरों के बन जाने के बाद से सागरीय जल-राशि में ज्वार उठते हैं। सागरों के जलतल में चन्द्रमा तथा सूर्य के गुरुत्वाकर्षण से उत्पन्न उतार चढ़ाव को ज्वार-भाटा कहते हैं। न्यूटन ने ही बताया था कि सूर्य और चन्द्रमा के गुरुत्व बल के कारण एस्त होता है। यह बल प्रत्यक्षतः सूर्य तथा चन्द्रमा के द्रव्यमानों के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। सूर्य का द्रव्यमान (Mass) चन्द्रमा से 260 लाख गुणा अधिक है परन्तु पृथ्वी से 380 गुणा अधिक दूर होने के कारण सूर्य की ज्वार

उत्पन्न करने की शक्ति चन्द्रमा की शक्ति का 4/9 है। चन्द्रमा की गति से प्रभावित होने के कारण ही प्रतिदिन 52 मिनट देर से ज्वार उत्पन्न होता है। अत: अत: प्रत्येक देशान्तर पर 12 घंटे 26 मिनट बाद ज्वार उत्पन्न होता है। लघुज्वार (Heap tide) और दीर्घ ज्वार(Spring tide) दो प्रकार के ज्वार होते हैं। जब सूर्य चन्द्रमा और पृथ्वी एक सीध में होते हैं (अमवस्या अथवा पूर्णिमा के दिन) तब दीर्घ ज्वार उत्पन्न होता है तथा पखवाड़े के मध्य में जब सूर्य भी चन्द्रमा पृथ्वी से समकोण बनाने वाली स्थिति में होता है तो लघु ज्वार उत्पन्न होता है। ज्वार से जल-तल 15 मीटर तक ऊपर उठता है।

समुद्री जल धाराएँ (currents), तरंग आदि ज्वार-भाटा से बिलकुल भिन्न होते हैं। पृथ्वी की घूर्णन गति, सनातनी हवाएं (Prevailling Wind) तापमान एवं घनत्व की भिन्नता के कारण तथा लवणता में भी भिन्नता के कारण उत्पन्न महासागर या सागर के पृष्ठीय जल का संचलन, जो एक निश्चित दिशा में होता है, जलधारा कहलाता है। जलधाराएँ सागरीय गर्भ में प्रति घंटा डेढ कि०मी० से आठ किलोमीटर की गति से चलती हैं। समुद्र वैज्ञानिक सतह पर प्रवाहित होने वाली धाराओं का पता लगा चुके हैं, किन्तु गहन सागरीय धाराओं के बारे में अभी भी बहुत अल्प ज्ञान ही प्राप्त हो सका है। अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष (IGY) में हो सर्वप्रथम इस दिशा में कुछ विशेष कार्य हुए हैं। अब तक जितनी जलधाराओं का पता लगा है, चाहे वह गर्म है या ठंडी, वे सब इस प्रकार हैं—

	गर्म	ठंडी	कुल
प्रशांत महासागर में —	6	4	10
अटलांटिक महासागर में—	6	6	12
हिन्द महासागर में —	-	8	8

आर्कटिक एवं अंटार्कटिक क्षेत्र में धाराएँ नदी के बराबर हैं। जलधाराओं को गति की भिन्नता के अनुसार प्रवाह (drift), धारा (current) और विशालधारा (Stream) कहते हैं। प्रवाह की भी गति होती है, धारा उससे तेज तथा विशाल धारा सर्वाधिक गति वाली होती है। जैसे उत्तरी प्रशान्त प्रवाह (North Atlantic Drift), ओयाशियो धारा (Oyashio Current) तथा गल्फ स्ट्रीम (Gulf Stream)।

समुद्र में बहुत बड़े-बड़े जीव से लेकर छोटे-छोटे जीव पाए जाते हैं। मछली ह्वेल, सॉर्क, डॉलफिन आदि बड़े जीव हैं, किन्तु ओक्टोपस हिप्पोकेम्पस, स्टारफिश, टारपीडो, केकड़ा, घोघा, सीप, पोलीजोआ, स्पोंज आदि छोटे जीव हैं, जो समुद्र में पाये जाते हैं। वनस्पति के रूप में प्लेंकटन, तथा शैवाल आदि अत्यधिक मात्रा में पायी जाती हैं। मूंगा तथा मोती समुद्र के प्रमुख रत्न हैं। मूंगा का निर्माण पोलिप नामक जीव के मृत खोलों के जमने से होता है। यह समुद्री तट में द्वीप के रूप में मिलते हैं। मोती सीप के भीतर होते हैं। आजकल सीप का कृत्रिम ऑपरेशन करके मोती की खेती की जा रही है। समुद्र में पंक की मात्राओं का व्यापक सर्वेक्षण करने से मुख्यत: टेरोपोड पंक, ग्लोबीजेरीना पंक, रेडियोलेरिया पंक तथा डायरम पंक आदि पाए गये हैं। इसमें से कुछ पंक स्थलीय पदार्थों से निर्मित होते हैं, कुछ जैविक पदार्थों के गलने से प्राप्त होते हैं तथा कुछ आकाशीय पिण्ड भी होते हैं। इन पंकों को 'ऊज' (OOZ) भी कहा जाता है।

■ ■

खनन और पर्यावरण

श्रीमती डॉ० गीता के० पतकी

मानव विकास के लिए खनन (माइनिंग) की भूमिका इतनी महत्वपूर्ण रही है कि संपूर्ण विश्व में विविध युगों का नामकरण खनिजों के नाम पर हुआ। उदाहरणार्थ स्टोन ऐज अर्थात् पाषाण युग, जिसमें मानव पत्थर से अग्नि उत्पन्न करता था, से लेकर लौह युग, ताम्र युग और अब परमाणु युग इत्यादि। सचमुच सभ्यता की यह कथा कितनी रोचक, कितनी मनोहरी और आश्चर्यचकित करने वाली है। खनन, खनिज, मुद्रा और मानव (माइनिंग, मिनेरल, मनी एण्ड मैनकाइण्ड) में आपसी सम्बन्ध है। प्रगति की इस राह पर चलने के लिए मानव ने पर्यावरण को एक संसाधन के रूप में स्वीकार किया और इन संसाधनों के उपयोग के लिए उचित एवं पर्याप्त तकनीकी का विकास किया। इस प्रतिस्पर्धी विश्व में अपनी आर्थिक और सामाजिक वृद्धि के लिए मानव कुछ सोचे बगैर निसर्ग का उसके खनिज जैसे अनवीनीकरणीय अंगभूत संसाधनों के लिए, शोषण करता चला गया। वह यह भी भूल गया कि प्रकृति के अपरोक्ष दोहन से हम अपने ही हाथों अपने निसर्ग का सुन्दर संतुलन बिगाड़ रहे हैं।

खनिजों का महत्व

खनन के बिना खनिज नहीं, खनिज के बिना प्रगति नहीं और प्रगति नहीं तो मानव जीवन का अर्थ नहीं। विकसनशील देशों की आर्थिक उन्नति एवं आधुनिकीकरण का एकमात्र पर्याय संसाधनों का सही प्रयोग माना जाता है। बढ़ती आबादी के पालन-पोषण और जीवन की गुणवत्ता को बढ़ाने के लिए उद्योगोन्मुख समाज को कच्चे पदार्थों की निरन्तर पूर्ति हेतु बड़े पैमाने पर भूमि में स्थित संसाधनों की आवश्यकता है। भूमि में स्थित विविध खनिज संसाधनों का बड़ी मात्रा में उपयोग होना समाज के विकासोन्मुख होने का स्पष्ट प्रमाण है। मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति मानव जीवन की गुणवत्ता का स्थिर विकास करने हेतु संसाधनों का अवैज्ञानिक पद्धति से शोषण तथा अनुचित उपयोग से मौलिक जीवन पोषण प्रणाली में अपरिवर्तनीय बदलाव आते हैं जो न केवल मनुष्य के लिए हानिकारक हैं बल्कि सभी जीव एवं पेड़-पौधों के लिए भी विनाशकारी हैं। खनन और तत्सम्बन्धित कार्यों जैसे कि विस्फोटन, खनिज निष्कासन, परिवहन, परिष्करण, कार्यशाला वसाहत तथा प्रेषण सुविधाओं इत्यादि का सही प्रबन्ध न होने पर पर्यावरण प्रदूषण टालना प्रायः असंभव हो जाता है।

भारत में खनिज संसाधन और खनन विकास

भारत में प्राचीन काल से ही खनन कार्य और खनिजों का प्रयोग प्रचलित रहा है। भारत ईंधन खनिज, धातु खनिज और अधातु खनिजों से सर्व सम्पन्न है। हमारे देश में छोटी, बड़ी मैन्युयल और यान्त्रिक, ओपनकास्ट और भूमिगत खानों के अपूर्व मिलाप द्वारा खनिज संसाधनों की निकासी होती है। सार्वजनिक क्षेत्रों के विविध उद्यमों जैसे स्टील अॅथारिटी ऑव इंडिया लिमिटेड, हिन्दुस्तान कॉपर लिमिटेड, हिन्दुस्तान जिक लिमिटेड, भारत गोल्ड

प्रवक्ता, सिन्धु महाविद्यालय पाचपावली, नागपुर (महाराष्ट्र)

माइन्स लिमिटेड, भारत अल्यूमिनियम कम्पनी लिमिटेड, नेशनल मिनरल डेवलपमेंट कार्पोरेशन, नेशनल अल्यूमिनियम कम्पनी लिमिटेड के कार्यों और प्रयत्नों के कारण आवश्यक खनिजों का बढ़ता उत्पादन सम्भव हो सका है। भारतीय भूगर्भीय परीक्षण और भारतीय गवेषण निगम द्वारा पूरक सुविधाओं के कारण गवेषण कार्य अधिक प्रभावी हो सका है। विकास एवं संरक्षण में भारतीय खान ब्यूरो की भूमिका महत्वपूर्ण है।

खान और कोयला तथा खनिजों पर आधारित उद्योगों के कारण पर्यावरण प्रदूषण

खनन और सम्बन्धित कार्यों जैसे कि विस्फोटन, खनिज निकास, खनिज तथा अपशिष्ट उत्पादों का परिवहन इत्यादि के अतिरिक्त खनिज परिष्करण (beneficiation) प्रेषक सुविधाएँ कार्यशाला वसाहल इत्यादि के कारण पर्यावरण प्रभावित होता है। देश की उन्नति और आर्थिक स्थिति के स्थिर विकास के लिए खनिजों का उत्पादन अत्यवश्यक होने के कारण खनन कार्यों से होने वाले पर्यावरण प्रदूषण को टालना पूर्णतः सम्भव नहीं है। फिर भी टेक्नोलॉजी प्रबन्ध से पर्यावरण प्रदूषण को कुछ हद तक कम तो कर ही सकते हैं।

खनन द्वारा उत्पन्न पर्यावरण प्रदूषण के प्रभावों का वर्गीकरण निम्नवत् किया जा सकता है—

पारिस्थितिकी पर प्रभाव

मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा जीवन-स्तर को ऊँचा करने के लिए इकोसिस्टम (पारिस्थितिक तंत्र) का वैज्ञानिक पद्धति से संरक्षण करना अत्यावश्यक है। यह निर्विवाद सत्य है कि खनन-कार्यों के लिए जंगलों को काटना जरूरी हो जाता है, किन्तु निर्वनीकरण से तापमान, वर्षा और अन्य सूक्ष्म मौसमी पैरामीटर प्रभावित हो कर पारिस्थितिकी संतुलन बिगाड़ते हैं।

2. भूमि पर प्रभाव

खनन क्रिया में उत्खनन से भू-दृश्यों में तीव्र बदलाव आते हैं। अधिभार हटाने से विशाल खाई निर्मित होती है और अधिभार के ढेर लग जाने से उपजाऊ भूमि भी अनुपजाऊ हो जाती है। जंगली जीव, सूक्ष्मजीवाणु इत्यादि की जीवन प्रणाली पर इसका तीव्र अपरिवर्तनीय प्रभाव पड़ता है और भूमि के पौष्टिक तत्व नष्ट हो जाते हैं।

3. जल प्रदूषण

खनन उद्योगों में अम्ल खान निस्सारण महत्वपूर्ण प्रदूषण समस्याओं में से एक है। पानी की गुणवत्ता के साथ-साथ सब से बड़ी समस्या है मात्रात्मक प्राप्यता की। खनन क्रिया से पानी के भंडारों को क्षति पहुँचने के कारण प्रमाणित गुणवत्ता के पानी में मात्रात्मक कमी आती है जिससे कृषि, उद्योग, पेयजल, मत्स्य-व्यवसाय इत्यादि पर गंभीर असर होता है।

4. वायु प्रदूषण

खनन क्रिया वायु को दो पद्धतियों से प्रदूषित करती है। पहली वायुमंडल में वायुरूप में दूषित पदार्थों (Pollutants) का उत्सर्जन और दूसरी धूलिकण पदार्थों का वायुमंडल में उत्सर्जन। खननक्रिया में धूलिकणों का

निर्माण होता है। धूलिकणों के साथ-साथ वायुरूप दूषित पदार्थों में कार्बन डाइऑक्साइड, सल्फर डाइऑक्साइड, हाइड्रोजन सलफाइड, मीथेन और कार्बन मोनोक्साइड इत्यादि शामिल हैं जिनकी अधिक मात्रा से और अधिक समय तक निस्सारण से स्वास्थ्य एवं प्रकृति के अपूर्व सन्तुलन पर कुप्रभाव पड़ता है।

5. ध्वनि प्रदूषण

ओपेन कास्ट खनन पद्धति से, भारी यंत्रिकीकरण से ध्वनि प्रदूषण की समस्या भी खनन उद्योगों में अधिक तीव्र हो रही है। ध्वनि प्रदूषण के प्रमुख स्रोत हैं भारी मिट्टी संचलन, मशीन्स, वाहनों का संचालन, ड्रिलिंग, ब्लास्टींग इत्यादि।

अन्य प्रभाव

वायु, पानी, भूमि और ध्वनि प्रदूषण के अतिरिक्त कुछ और प्रभाव जैसे कि जंगली जीवों पर प्रभाव सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के विस्थापन पर होने वाले प्रभावों पर विचार करना बहुत जरूरी है।

पर्यावरण का संरक्षण

हाल ही में खनन उद्योगों में पर्यावरण के संरक्षण की दिशा में काफी जागृति हुई है। यूनाइटेड स्टेट्स, कनाडा और जर्मनी जैसे प्रगतिशील देशों में भी पर्यावरण संरक्षण कानून दो दशकों से भी पुराना है। कैलीफोर्निया में सान्ता बाराबारा में 1967--68 में तेल रिसाव (आयल स्पिल) की बड़ी दुर्घटना के बाद यूनाइटेड स्टेट्स में राष्ट्रीय पर्यावरण नीति अधिनियम (1969) अस्तित्व में आया, जिसके द्वारा मानवीय पर्यावरण को बाधित करने वाली सभी योजनाओं को कार्यान्वित करने के पहले पर्यावरण प्रभावों पर सविस्तार विवरण प्रस्तुत करने को बाध्य किया गया। इसके बाद सभी प्रगतिशील देशों में पर्यावरण प्रभाव विवरण (Environmental Impact Statement, EIS), पर्यावरण संरक्षण प्रणाली का प्रथम और आवश्यक दस्तावेज बन गया है। कुछ दूसरे नाम इस प्रकार हैं—पर्यावरण प्रभाव निर्धारण (Environmental Impact Assesment), पर्यावरण प्रबंध योजना (Environmental Management Plan) और पर्यावरण विवरण। आज भारत में 49 केन्द्रीय और 19 राज्यों के कानून हैं जिनका प्रदूषण नियंत्रण तथा रसायन सुरक्षा से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबन्ध है।

निम्नलिखित पाँच अधिनियम मुख्यत: पर्यावरण सुरक्षा हेतु तैयार किए गए हैं—

(1) जल (प्रदूषण निवारण और नियंत्रण) अधिनियम 1974
(2) जल (प्रदूषण निवारण और नियंत्रण) उपकर अधिनियम 1977
(3) वायु (प्रदूषण निवारण और नियंत्रण) अधिनियम 1981
(4) पर्यावरण (सुरक्षा) अधिनियम 1986
(5) वन्य जीवन (संरक्षण) अधिनियम 1972 (Wild life Act, 1972)

पर्यावरण संबन्धी अनेक व्यवस्थाएँ विविध अधिनियमों द्वारा अनेक टुकड़ों में बिखरी हैं। फिर भी उपरोक्त पाँच अधिनियम, सामाजिक न्याय म्यून्सिपल अधिनियम, फैक्टरी अधिनियम, भारतीय दण्ड विधान आदि कानूनों पर अपना सर्वोच्च नियन्त्रण रखते हैं।

इन प्रमुख अधिनियमों के अलावा खनन कार्यों से संबंधित उद्योगों से प्रभावित पर्यावरण सुरक्षा के लिए खान और खनिज नियम और विकास अधिनियम 1977, खनिज रियासती कानून 1960 जैसे अधिनियमों की भी व्यवस्था है।

विशेषत: पर्यावरण को सुरक्षित रखने के लिए अन्य उपायों के साथ-साथ पर्यावरण को उत्पादन के बराबर का दर्जा देना होगा अन्यथा, जैसे-जैसे नई टेकनोलॉजी विकसित होगी वैसे-वैसे पर्यावरण मूल्य कम होने लगेगा।

○○

यूफोरबिया प्रजाति में सह-कैंसरकारी डाइटरपीन

डॉ० राजीव रंजन उपाध्याय

यूफोरबिया अथवा "स्पर्ज" प्रजाति के पौधे अपनी विविधता के कारण इस धरा पर ऊष्ण कटिबंधीय प्रदेशों से लेकर समशीतोष्ण प्रदेशों में व्याप्त हैं, चाहे यह प्रदेश अफ्रीका की सहारा मरुभूमि हो अथवा योरोप के पहाड़ों की तलहटियां। इस प्रजाति में सबसे विशाल समुदाय यूफोरबिया जीनस के पादपों का है। इसमें करीब 1600 प्रजातियां सम्मिलित हैं। क्रोटॉन प्रजाति में करीब 700, फाइलेन्थस में 480, एकालिफा में 430, ग्लोयिडोन में 280, माकारॉगा में 240, मेनीहाट में 160, जट्रोफा में 150 तथा ट्रागिया में 140 स्पीशीज़ आती हैं। इनमें से अधिकांशत: पौधे टॉक्सिक (Toxic) डाइटरपीन्स (Diterpenes) युक्त होते हैं।

यूफोरबिया समुदाय के पौधे भारत में, विशेष कर उत्तर भारत, मध्य भारत, राजस्थान, दक्षिण के प्रदेशों में पाये जाते हैं। इनसे कुछ तो बहुत ही छोटे, कुछ नागफनियों की भाँति, तो कुछ वृक्ष होते हैं। इन सभी में एक सफेद रंग का दूध (Latex) होता है, जो इनकी शाखाओं अथवा पत्तियों के तोड़ने पर निकलने लगता है।

सामान्यत: यह लेटेक्स अथवा दूध त्वचा पर लग जाने पर फफोले पैदा कर सकता है तथा जलन की अनुभूति उत्पन्न करने में सक्षम होता है। यदि यह आँखों में पड़ जाये तो आँखों में सूजन आ जाती है और संभवत: कुछ काल के लिये दिखाई पड़ना भी बन्द हो सकता है।

पशुओं के शरीर में लग जाने पर विशेष कर ग्रीष्म ऋतु में, यह उनकी त्वचा में घाव उत्पन्न कर देता है तथा पैरों अथवा अन्य अंगों को भी क्षतिग्रस्त कर सकता है। इन पर पुनः घाव हो जाने पर इनके जीवन को भी खतरा हो सकता है।

परिसर कोठी काके बाबू, देवकाली मार्ग, फैजाबाद-224001, उत्तर प्रदेश

इन पौधों के लेटेक्स अथवा दूध को तीर में लगा कर आदिवासी आज भी मछलियों का शिकार करते हैं तथा छोटे तालाबों में इस दूध को या इन पौधों के बीज से निकाले तेल को डाल देने पर, मछलियां इनमें उपस्थित विष-गुणयुक्त डाइटरपीनों के प्रभाव के कारण, स्वतः मरकर पानी के ऊपर तैरने लगती हैं। आदिवासी इनको भोजन हेतु प्रयोग कर लेते हैं। इस कार्य के लिये आदिवासी लोग सामान्यतः क्रोटॉन टिगलियम के बीज के तेल का उपयोग करते हैं। इसी क्रोटॉन टिगलियम के बीज के तेल से क्रोटान आयल निकाला जाता है, जिसका उपयोग 'आयुर्वेद' में भी विविध रूपों में वर्णित है। यह भारतवर्ष में आज भी पेट की सफाई (दस्तावर औषधि अथवा जमाल गोटा) के लिये उपयोग किया जाता है। इस तेल के जीवाणुनाशक (एन्टीबैक्टीरियल) और कवकनाशक (एन्टीफंगल) प्रभाव सर्वविदित हैं।

इन पादपों के दूध (लेटेक्स) से तथा बीज के तेल से विविध स्वरूप के डाइटरपीनों को प्रथम बार जर्मन कैंसर शोध संस्थान, हाईडिलवर्ग में, जहां पर इस लेखक को भी शोध कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, प्रो॰ ऐटिक हेकर के शोधछात्रों द्वारा, जैविक तथा रसायनिक संकेतों का सहारा लेकर, खोजा गया था। क्योंकि क्रोटॉन के तेल में सह कैंसरकारी प्रभाव देखा गया था। यह प्रभाव क्रोटॉन के तेल में वर्तमान फोरवोल नामक टेट्रासाईकिलिक डाइटरपीन के फैटीऐसिड-एस्टरों के कारण था। इनमें से सबसे अधिक प्रभावशाली ऐस्टर 12-0-टेट्राडेकानोइल-फोरवोल-13-ऐसीटेट था। यही सर्वप्रथम शुद्ध अवस्था में इस पादपसमुदाय से प्राप्त प्रभावी सह कैंसरकारी ऐस्टर था।

यह ऐस्टर TPA के संक्षिप्त नाम से भी जाना जाता है और कैंसर शोध के विविध मॉडलों में इसका उपयोग होता है। इसी के कारण कैंसर-सहयोगी-जैवरसायनिक प्रक्रिया को समझने में सहायता मिली है। दूसरे शब्दों में यह आज तक प्राप्त सभी सह-कैंसरकारी पदार्थों में सबसे अधिक जैविक प्रभाव वाला पदार्थ है।

अन्य सह-कैंसरकारी पदार्थ जो यूफोरबिया प्रजाति के पौधों से प्राप्त हैं उन्हें निम्न मुख्य वर्गों में रखा जा सकता है—

1. कासबेन वर्ग

इस वर्ग की डाइटरपीनें ऐरंड (Ricinus communis) से प्राप्त की गयी थीं। इस वर्ग की फाईटो-आलेक्सीन नामक डाइटरपीन में एन्टी-फंगल प्रभाव पाया जाता है। इस वर्ग की डाइटरपीनें फोरवोल आदि डाइटर-पीनों की बायोसेन्थेसिस में पूर्ववर्ती हैं।

2. आट्रोफान वर्ग

इस वर्ग में जाट्रोफा गासीफोलिया से प्राप्त जाट्रोफोन है जो कैंसर-रोधी गुणों से युक्त है। अन्य डाइटर-पीनों में कान सुई नीन-ए, कान सुई नीन-बी, यूफोरनीन आदि आते हैं। हिमालय पर्वत की उपत्यका की वासी यूफोर-बिया मादनेनी से प्राप्त इस अन्तिम डाइटरपीन का कैंसर-रोधी गुणों के कारण, मानव उपयोग में प्रत्युक्त होने की अधिक संभावना है।

3. लेथीरान वर्ग

इस वर्ग में यूफोरबिया लेथेरिस से प्राप्त डाइटरपीन लैथीराल तथा इसके यौगिक तथा इंगोल नामक डाइटरपीन के यौगिकों में हिपेटोमा सेल्स के लिये कैंसर-रोधी क्षीण क्षमता है।

4. रेम्होफोलियान वर्ग

यह वर्ग फोरवोल वर्ग का ही स्वरूप है।

5. टिगलिऐन वर्ग

इस वर्ग में फोरवोल के विविध फैटी-ऐसिड एस्टर आते हैं, जिनमे से TPA प्रमुख हैं तथा ऑक्सीजनेटेड और डी-ऑक्सी फोरवोल एस्टर भी सम्मिलित हैं। कुछ डाइटरपीनों में हाइड्राक्सीलेशन भी पाया जाता है।

6. इंगेनान वर्ग

इस वर्ग की डाइटरपीनों में सह-कैंसरकारी पदार्थ इंगेनाल -3-0-हेक्साडेकानोऐट सर्वप्रथम यूफोरबिया इँगस और यूफोरबिया लेथेरिस के दूध (लेटेक्स) से शुद्ध अवस्था में प्रो० हेकर के सहयोगियों द्वारा प्राप्त किया गया था। यह एस्टर TPA की अपेक्षा बेरेनब्लूम-प्रयोग में मूषिकाओं पर कम प्रभावशाली है।

इस वर्ग की विविध डाइटरपीनें जोकि कम सह-कैंसरकारी प्रभाव रखती हैं, विश्व में उगे विभिन्न यूफोरबिया के पौधों से प्राप्त की गयी है। परन्तु इसमें से प्राप्त अधिकांश यौगिक मूलभूत रूप से इगेनाल-डाइटरपीन के ही हैं।

संक्षेप में TPA से अधिक प्रभावशाली सह-कैंसरकारी डाइटरपीन कोई अन्य नहीं है क्योंकि यह अनेकानेक प्रकार की जैव-रसायनिक प्रभाव टिशू कल्चर में, बेरेब्लूम के प्रयोगों में, जैसे-प्रोस्टाग्लेन्डिन्स की सेन्थेसिस बढ़ाना, फास्फोलिपिड की सिंथेसिस को प्रभावित करना, विशेष प्रकार के मेम्ब्रेन रिसेप्टरों के साथ जुड़ना, सेल-कम्यूनिकेशन को प्रभावी बनाना, और ट्रांसमेम्ब्रेन सिग्नलस को प्रभावित करना आदि हैं। इन गुणों को देखते हुए यह आशा की जाती है कि TPA जहाँ पर कैंसर वैज्ञानिकों के हाथ में अनेक प्रभावों के अध्ययन करने का एक प्रभावशाली शास्त्र है वहीं पर इसके द्वारा कैंसर कैसे होता है यह समझने में और उसको नियंत्रित करने में सफलता मिलेगी। आशा है वह दिन शीघ्र आयेगा जब कैंसर की जटिलताओं को इस प्रभावशाली सह-कैंसरकारी पदार्थ के माध्यम से समझा जा सकेगा।

○○

कार्बनिक बहुलक एवं उपयोग

डॉ० वीरेन्द्र कुमार सिन्हा

उच्च आण्विक यौगिक, या बहुलक अधिक आण्विक द्रव्यमान (सैकड़ों, हजारों, व लाखों की मात्रा में) वाले जटिल पदार्थ हैं जिनके अणु अनेक पुनरावृत्त प्रारम्भिक इकाइयों से बने हुये होते हैं। ये इकाइयों समान या बिभिन्न सरण अणुओं—एकलक—के एक दूसरे के साथ युग्मन के फलस्वरूप बनती हैं।

उच्च आण्विक यौगिक निम्न दो प्रक्रियाओं के फलस्वरूप बनते हैं :

(I) बहुलकन अभिक्रिया

एक प्रक्रिया जिसके फलस्वरूप निम्न आण्विक यौगिक (एक एकलक) के अणु सहसंयोजी आबन्धों द्वारा एक दूसरे के साथ जुड़ कर एक नया पदार्थ बनाते हैं (बहुलक), जिसका आण्विक द्रव्यमान एकलक के द्रव्यमान से एक पूर्ण संख्या गुना अधिक होता है। बहुलकन मुख्यतः बहु (द्वि या त्रि) आबन्धों वाले यौगिकों के लिये विशिष्ट होता है।

(II) बहुसंघनन अभिक्रिया

दो या अधिक प्रकार्य ग्रुपों वाले निम्न आण्विक यौगिकों से बहुलक के बनने की प्रक्रिया जिसमें इन ग्रुपों के मूल्य पर जल, अमोनिया, तथा हाइड्रोजनहेलाइड जैसे पदार्थों का उत्सर्जन होता है, इस स्थिति में बहुलक की प्रारम्भिक इकाई का संयोजन मूल एकलक के संयोजन की अपेक्षा भिन्न होता है।

प्राकृतिक उच्च आण्विक यौगिकों के उदाहरण हैं, उन प्रारम्भिक इकाईयों से बने स्टार्च (मण्ड), व सेलूलोस, जो ग्लूकोस के अवशेष हैं, तथा प्रोटीन, जिनकी प्रारम्भिक इकाईयाँ ऐमीनो अम्ल अवशेष हैं। अन्य उदाहरण हैं, प्राकृतिक रबड़ एवं कूचुक। संश्लिष्ट उच्च आण्विक यौगिकों, या जिनका अन्य नाम संश्लिष्ट उच्च बहुलक है, का महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है। इनमें नाना प्रकार के पदार्थ सम्मिलित होते हैं जो प्रायः सरलता से प्राप्य और सस्ते मूल पदार्थों से बने होते हैं। ये प्लास्टिकों व संश्लिष्ट रेशों के निर्माण का आधार बनाते हैं। ये प्लास्टिक मिश्रित संयोजन होते हैं, जिनमें अनेक प्रकार के पूरक व अतिरिक्त पदार्थ डाले जाते हैं ताकि बहुलकों में आवश्यक तकनीकी गुण आ जायें। बहुलक तथा इन पर आधारित प्लास्टिक अनेक प्राकृतिक पदार्थों जैसे, धातुयें, काठ, चमड़ा, सरेस आदि के बहुमूल्य प्रतिस्थायी हैं। संश्लिष्ट रेशें प्राकृतिक रेशों जैसे रेशम, ऊन तथा सूत के साथ सफलतापूर्वक प्रतिस्पर्द्धा करते हैं और ये गुणों के आधार पर संश्लिष्ट बहुलकों से बने पदार्थ प्रायः प्राकृतिक पदार्थों की अपेक्षा अधिक उत्तम होते हैं। पूर्व निर्धारित गुणों वाले प्लास्टिक रेशे और अन्य यौगिक भी बनाये जा सकते हैं। इस प्रकार

रीडर, रसायन विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद-211002

आधुनिक इंजीनियरिंग की कई समस्याओं, जिन्हें केवल प्राकृतिक पदार्थों को प्रयुक्त करके हल करना कभी भी सम्भव नहीं था, का अब समाधान हो गया है।

पॉलीऐथिलीन एक बहुलक है जो ऐथिनीन के बहुलकन से बना है :

$$n\,CH_2{=}CH_2 \rightarrow (-CH_2-CH_2)n$$

एथिलीन पॉलीऐथिलीन
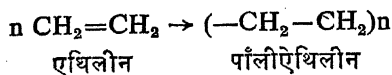
बहुलकन अभिक्रिया को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि यह असंतृप्त यौगिक (इस स्थिति में ऐथिलीन) के अनेक अणुओं में द्वि-आबन्धों के खुल जाने और फिर इसके बाद इन अणुओं का एक दूसरे के साथ युगिमत होकर एक एकल विशाल वृहदाणु बनाने का परिणाम है। 'n' मात्रा बहुलकन की कोटि कहलाता है, तथा यह वृहदाणु बनाने वाले एकलकों की संख्या व्यक्त करती है। ऐथिलीन का बहुलकन ऑक्सीजन की थोड़ी सी मात्रा द्वारा आरम्भ हो जाती है। ऐसे उत्प्रेरक ज्ञात किये जा चुके हैं जो निम्न दाब पर ऐथिलीन का बहुलकन कर देते हैं। उदाहरणतया, त्रिऐथिल ऐलुमिनियम $(C_2H5)_3\ Al)$ तथा संयोजन में टाइटेनियम (iv) क्लोराइड $TiCl_4$की उपस्थिति में बहुलकन वायुमंडलीय दाब पर हो जाता है, क्रोमियम ऑक्साइड पर बहुलक $IOMP_a$ दाब पर बन जाता है। पॉलिऐथिलीन एक संतृप्त हाइड्रोकार्बन है जिसका आण्विक द्रव्यमान 10000 से 400000 तक होता है। यह एक मोम जैसा कठोर पदार्थ है जिसका गलनांक 110 से 125° से तक होता है। यह एक रंगहीन तथा महीन परतों में अर्धपारदर्शी व घनी परतों में श्वेत रंग का होता है। इसमें रासायनिक स्थायित्व उच्च होता है, यह जलसह है, और इसकी गैस पारगम्यता निम्न होती है। इसका उपयोग वैद्युतरोधन पदार्थ के रूप में, पैकिंग पदार्थ के रूप में, फिल्म बनाने में, हल्की अमंजनीय प्लेटें तथा बर्तन बनाने में, और रासायनिक उद्योग में, होज व पाइप बनाने में किया जाता है। पॉलिऐथिलीन के गुण इसे बनाने की विधि पर निर्भर करते हैं, उदाहरणतया, निम्न दाब पॉलिऐथिलीन (आण्विक द्रव्यमान 70000 से 400000 की तुलना उच्च दाब पॉलिऐथिलीन का घनत्व आण्विक द्रव्यमान 10000 से 45000 तक) कम होता है, जिससे इसके तकनीकी गुणों पर प्रभाव पड़ता है। खाद्य पदार्थों के सम्पर्क में केवल उच्च दाब पॉलिऐथिलीन ही लानी चाहिए, क्योंकि निम्न दाब पॉलिऐथिलीन में उत्प्रेरक के अवशेष विद्यमान हो सकते हैं जो मानव के लिये हानिकारक भारी धात्विक यौगिक होते हैं। पॉलिप्रोपिलीन ऐथिलीन के बाद आने वाला ऐल्कीन सजातीय प्रोपिलीन का बहुलक है :

$$n\,\underset{\displaystyle CH_3}{CH_2{=}\underset{|}{CH}} \rightarrow \ldots-CH_2-CH_2-CH_2-\underset{\displaystyle CH_3}{\underset{|}{CH}}-\ldots$$
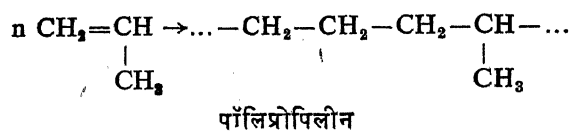
पॉलिप्रोपिलीन

यहाँ बहुकलन उत्प्रेरकों की उपस्थिति में होता है। बहुकलन अवस्थाओं पर निर्भर करते हुये, कई प्रकार की पॉलिप्रोपिलीन तैयार की जाती हैं जो अपने गुणों के आधार पर परस्पर भिन्नतायें रखती हैं। देखने में यह रबड़ जैसा पिंड होता है जो कुछ-कुछ कठोर व प्रत्यास्थ होता है। उच्च गलनांक के आधार पर यह पॉलिऐथीलीन में से भिन्न होता है। पॉलिप्रोपिलीन का उपयोग वैद्युतरोधन में, रक्षी फिल्म, पाइप, होज, गिअर चक्र, उपकरणों के हिस्से, तथा उच्च-दृढ़ता वाले व रासायनिक रूप से स्थाई रेशा के बनाने में किया जाता है। अन्तिम का उपयोग

रज्जु, मत्स्य जाल तथा ऐसे ही अन्य पदार्थों के बनाने में किया जाता है। पॉलिप्रोपिलीन पैकिंग में रखे खाद्य पदार्थ का निर्जलीकरण किया जा सकता है, उन्हें पकाया और गर्म भी किया जा सकता है।

पॉलिस्टाइरीन स्टाइरीन के बहुकलन से बनती है :

$$n\,CH_2{=}\underset{\displaystyle C_6H_5}{\underset{|}{CH}} \rightarrow \ldots -CH_2-\underset{\displaystyle C_6H_5}{\underset{|}{CH}}-CH_2-\underset{\displaystyle C_6H_5}{\underset{|}{CH}}-CH_2-\underset{\displaystyle C_6H_5}{\underset{|}{CH}}-\ldots$$
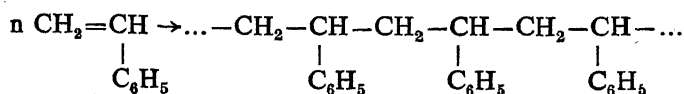
इसे पारदर्शी काचम पिंड के रूप में प्राप्त किया जा सकता है। इसका प्रयोग कार्बनिक काँच, उपभोक्ता पदार्थों जैसे, बटन, कंघा, इत्यादि के बनाने में तथा वैद्युत्रोधन में किया जाता है।

पॉलिसाइनिल क्लोराइड (PVC) वाइनिल क्लोराइड के बहुलकन से प्राप्त होती है :

$$nCH_2{=}\underset{\displaystyle Cl}{\underset{|}{CH}} \rightarrow \ldots -CH_2-\underset{\displaystyle Cl}{\underset{|}{CH}}-CH_2-\underset{\displaystyle Cl}{\underset{|}{CH}}-CH_2-\underset{\displaystyle Cl}{\underset{|}{CH}}-\ldots$$
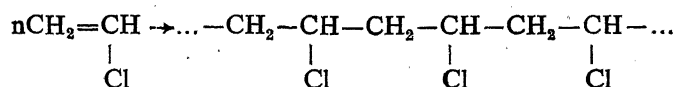
वाइनिल क्लोराइड पॉलिवाइनिल क्लोराइड

यह एक प्रत्यास्थ पिंड है जो अम्लों व क्षारों के प्रभाव के प्रति स्थायी है। रासायनिक उद्योग में पाइपों व पात्रों की लाइनिंग के रूप में इसका उपयोग काफी प्रचलित है। इसे वैद्युत्रोधन में, कृत्रिम चमड़ा, लिनोलियम व जलसह कोट बनाने में प्रयुक्त किया जाता है। इसके क्लोरीनीकरण से परक्लोरोवाइनिल रेजिन प्राप्त होता है जिससे रासायनिक रूप से स्थायी संश्लिष्ट रेशा क्लोरीन बनाया जाता है।

पॉलिटेट्राफ्लुओरोऐथिलीन टेट्राफ्लुओरेऐथिलीन का बहुलक है :

$$nCH_2{=}CF_2 \rightarrow \quad (-CF_2-CF_2-)n$$

टेट्राफ्लुओरोऐथिलीन पॉलिटेट्राफ्लुओरोऐथिलीन
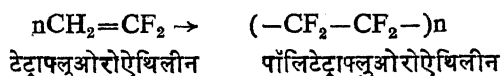
पॉलिटेट्राफ्लुओरोऐथिलीन को टेफ्लॉन या फ्लुओरोप्लास्ट नामक प्लास्टिक के रूप में प्राप्त किया जाता है। क्षारों, सान्द्रित अम्लों और अन्य अभिकर्मकों के प्रति यह काफी स्थायी है। रासायनिक स्थायित्व के आधार पर यह स्वर्ण व प्लैटिनम से अधिक स्थायी है। यह अदाह्य है और इसमें उच्च परावैद्युत्गुण विद्यमान है। इसे रासायनिक व वैद्युत्यांत्रिकी में प्रयुक्त किया जाता है।

पॉलिमेथिल एक्रिलेट और पॉलिमेथिल मेथेक्रिलेट ठोस, रंगहीन, पारदर्शी बहुलक है जो उष्मा व प्रकाश की प्रक्रिया का प्रतिरोध करते हैं तथा पराबैंगनी किरणें प्रेषित करते हैं। इन्हें दृढ़ और हल्के कार्बनिक काँच की परतें बनाने में प्रयुक्त किया जाता है, जिन्हें नाना प्रकार के उपकरणों में उपयोग किया जाता है। पॉलिऐक्रिलोनाइट्राइल से नाइट्रॉन (या ऑरलॉन)—संश्लिष्ट रेशे, जिनसे बुने हुये वस्त्र व कपड़ा बनाये जाते हैं।

कुचुक (कच्ची रबड़) प्रत्यस्थ पदार्थ है, जिससे विशेष प्रक्रिया द्वारा व्यापारिक रबड़ बनायी जाती है। इंजीनियरिंग के कुचुक मोटर गाड़ी, हवाई जहाज, सायकिल के टायर बनाने में, वैद्युत्रोधन में तथा उपभोक्ता,

वस्तुयें एवं चिकित्सा उपकरण बनाने में प्रयुक्त की जाती है। प्राकृतिक कूचुक रबड़ पौधों मुख्यतः उष्ण रबड़ पौधों के लैटेक्स (दूध) में होती है। एक अन्य प्राकृतिक पदार्थ गटापर्चा भी आइसोप्रिन का ही बहुलक है, तथा तापमान थोड़ा सा कम करने पर भंगुर बन जाती है। इससे बनी वस्तुओं को आवश्यक दृढ़ता एवं प्रत्यास्था देने के लिये इसका वल्कनीकरण किया जाता है—इसमें सल्फर डाल कर, मिश्रण को गर्म किया जाता है। वल्कनीकृत उत्पाद ही रबड़ कहलाता है। वल्कनीकरण में, सल्फर कूचुक वृहदाणुओं के द्वि-आबन्धों के साथ जुड़ जाती है, और क्रास लिंक बनाकर डाइसल्फाइड पुल बनाती है।

पॉलिएस्टर

इन यौगिकों का उदाहरण द्वि-क्षारकी ऐरोमैटिक टेरेफ्थैलिड अम्ल और द्वि-परमाणुक ऐल्कोहॉल, ऐथिलीन ग्लाइकोल के पॉलिसंघनन का उत्पाद है :

$$nHO-\overset{\overset{\displaystyle O}{\|}}{C}-C_6H_4-\overset{\overset{\displaystyle O}{\|}}{C}-OH+nHO-CH_2-CH_2-OH \rightarrow$$

टेरेफ्थैलिक अम्ल ऐथिलीन ग्लाइकॉल

$$(-\overset{\overset{\displaystyle O}{\|}}{C}-C_6H_4-\overset{\overset{\displaystyle O}{\|}}{C}-O-CH_2-O-)_n+mH_2O$$
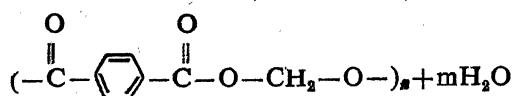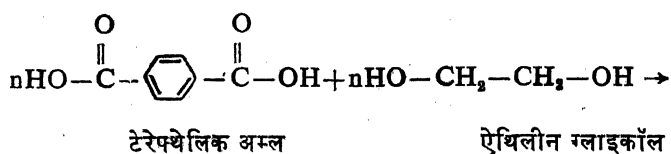
पॉलिऐथिलीन टेरेफ्थैलेट

पॉलिऐथिलीनटेरेफ्थैलेट एक बहुलक है जिसके अणुओं में एस्टर के ग्रूपों की पुनरावृत्ति होती है। अमेरिका में इसे डेक्रॉन, तथा पश्चिमी यूरोप तथा भारत में टेरीलीन कहते हैं। इसे ऊन जैसा रेशा बनाने में प्रयुक्त किया जाता है, जिससे अधिक सुदृढ़ और सिल्वटहीन कपड़ा बनाया जाता है। यह उष्मा, नमी, और प्रकाश का उच्च रोधी है, तथा क्षारों, अम्लों और उपचायकों के प्रभाव के प्रति स्थायी है।

राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के लिये रासायनिक रेशों [illegible] उत्पादन बहुत अधिक महत्व रखता है। इसके विकास से जनता का जीवनस्तर ऊपर उठता है। इससे विभिन्न प्रकार के वस्त्र, बुने हुये कपड़े और कृत्रिम लोम जैसी उपभोक्ता वस्तुओं की निरन्तर बढ़ रही माँग की पूर्ति होती है। इंजिनियरी में, गुणों के नियत संचय वाले विभिन्न रासायनिक रेशों की मदद से कई महत्वपूर्ण समस्याओं को हल करना सम्भव हो गया है।

○○

विज्ञान वार्ता

डॉ० अरुण आर्य

1. कागज बनाने में उपयोगी : चायनिया

राजस्थान के हल्दीघाटी नामक स्थान को कौन नहीं जानता ? यहाँ की मरुभूमि ने एक बार फिर कमाल दिखाया है। यहाँ के राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला के वैज्ञानिकों ने कवक के समान प्राणी समूह के चायनिया (एक्टिनोमाइसीटीज का सदस्य) नामक जीवाणु खोज निकाला है।

यह लकड़ी में पाये जाने वाले हेमीसेल्यूलोज जाइलेंन (Xylan) को गला देता है और लकड़ी के सेल्यूलोज को बिलकुल भी नुकसान नहीं पहुँचाता। ऐसा इस प्राणी के द्वारा अत्यधिक मात्रा में जाइलेवेज एन्जाइम उत्पन्न करने और बहुत कम मात्रा में सेल्यूलेज उत्पन्न करने के कारण होता है। दिल्ली के प्राध्यापक **डॉ० टी० सत्यनारायना एवं कु० अर्चना श्रीवास्तव** ने यह जानकारी **'साइन्स रिपोर्टर'** के सितम्बर 1992 अंक में 'कागज बनाने में जीवाणु, (Microbes for Pulping) नामक लेख में दी है।

लकड़ी में सेल्यूलोज पाया जाता है जो पादप कोशिकाभित्ति की रचना करता है। सेल्यूलोज के साथ हेमीसेल्यूलोज और एक जोड़ने वाला पदार्थ लिगनिन भी पाया जाता है। कागज कुछ नहीं बल्कि सेल्यूलोज के बारीक धागों से बुना हुआ जाल है। लकड़ी से पल्पिग के द्वारा इन तत्वों को दूर किया जाता है फिर सेल्यूलोज को बारीक पतली चादरों में ढाला जाता है।

इस विधि में चायनिया के उपयोग को अभी व्यावारिक तौर पर प्रयुक्त नहीं किया गया है लेकिन फिर भी इस विधि से लाखों टन उच्च किस्म का कागज प्राप्त किया जा सकेगा, ऐसी सम्भावना है।

2. अपराधियों को पकड़वा सकते हैं पेड़-पौधे

वैज्ञानिकों के प्रयोगों से इस बात के प्रमाण मिल रहे हैं कि अपराधी प्रवृत्ति के पनपने के पीछे शारीरिक अथवा मानसिक विकृति हो सकती है।

रवीन्द्र वर्मा ने अपने लेख "वे क्यों बनते हैं अपराधी ?' (देखें **'विज्ञान'** अप्रैल 1992 अंक) में लिखा है कि अपराधी बनाने में अस्वस्थ वातावरण और वंशावली का प्रभाव होता है परन्तु कुछ वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा ज्ञात हुआ है कि अपराधियों के बालों में सूक्ष्ममात्रिक तत्व—जिक, ताँबा, कोबाल्ट और मैंगनीज अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। यह स्पष्ट है कि इन तत्वों का शरीर में हो रही जैविक-क्रियाओं में उत्प्रेरक के रूप में महत्वपूर्ण योगदान होता है।

प्रवक्ता, वनस्पति विज्ञान विभाग, विज्ञान संकाय, म० स० राव विश्वविद्यालय, बडोदरा, गुजरात-390002

प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक आचार्य **जगदीश चन्द्र बोस** ने प्रमाणित किया है कि वृक्ष एवं वनस्पतियाँ भी विचारों एवं संवेदनाओं को उसी प्रकार ग्रहण करते हैं जिस प्रकार मनुष्य या अन्यान्य जीव।

न्यूयार्क के एक वनस्पतिविज्ञानी **डॉ० कल्यू** ने एक विचित्र तथ्य का पता लगाया है कि पौधे मात्र विचारों को ग्रहण करने में ही नहीं मनुष्यों के कृत्यों की गवाही देने में भी समर्थ हैं। एक प्रयोग में उन्होंने दो पौधों को 'पोलोग्राफ' नामक विशेष यन्त्र से जोड़ा। छह व्यक्तियों को एक कमरे में बुलाकर छह मिली हुई कागज की पर्चियाँ रखीं और प्रत्येक को कहा कि जैसा निर्देश पर्ची में दिया गया है उसका पालन बिना बताये करें। उन पर्चियों में से एक पर लिखा था कि मौका देखकर चुपके से उस कमरे में रखे पौधों में से एक को नष्ट कर दें।

यह जानकारी किसी को नहीं थी कि उक्त निर्देश वाली पर्ची किसके पास है। जिस व्यक्ति को यह पर्ची मिली उसने चुपके से एक पौधे को नष्ट कर डाला।

एक सप्ताह के बाद जब वैज्ञानिक ने पुनः उन छह व्यक्तियों को बुलाया तथा उन्हें बाकी बचे हुये पौधों के सामने से गुजारा, 5 व्यक्ति पौधे के सामने से होकर निकल गये किन्तु, गेल्वेनोमीटर में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुयी। छठे व्यक्ति के आते ही यंत्र की सुई तेजी से घूमने लगी तथा पोलोग्राफ पर रीडिंग अंकित होने लगी। डॉ० कल्यू ने जब उस व्यक्ति से पूछताछ की तो पाया कि उसने ही एक पौधे को नष्ट कर डाला था। गेल्वेनोमीटर की सुई के घूमने का यही कारण था।

3. सौर ऊर्जा : गैर परम्परागत उपयोग

कोयले जैसे जीवाश्मीय ईंधन (Fossil Fuel) से हमें आज जो ऊर्जा मिल रही है, वास्तव में वह सौर ऊर्जा ही है जो लाखों वर्ष पूर्व इनमें बन्द हो गई थी। पौधे प्रकाशसंश्लेषण की क्रिया द्वारा सौर ऊर्जा के इस्तेमाल से अपना भोजन बनाते हैं और अपनी वृद्धि करते हैं। लाखों वर्ष पूर्व बड़े-बड़े जंगल पृथ्वी की परतों के नीचे दब गये और बहुत अधिक दाब और ताप के कारण वे कोयला और तेल में बदल गये। इसलिये इन्हें जीवाश्मीय ईंधन कहते हैं।

आज जब कि ऊर्जा के वैकल्पिक गैर परम्परागत (non-conventional) स्रोतों के बारे में सोचा जा रहा है, सौर ऊर्जा का विशेष महत्व है। सोलर वाटर हीटर, सोलर रेफ्रीजिरेटर, सोलर कुकर, फोटो सेल (Photo cell), फोटोवोल्टीय उपकरणों (Photovoltaic devices) का प्रयोग बहुतायत से हो रहा है। लेकिन सौर ऊर्जा का प्रयोग कृषि के क्षेत्र में पैदावार बढ़ाने के लिए भी हो सकता है। यह अनुसंधान का नया क्षेत्र है और इस दिशा में प्रयोग हो रहे हैं।

इजराइल के वैज्ञानिक **जे० काटन** ने इस दिशा में पहल की और मिट्टी को प्लास्टिक की चादरों से ढंक कर कवकों की संख्या कम करने में कहत्वपूर्ण सफलता अर्जित की। अपने देश में भी इस दिशा में प्रयोग हो रहे हैं (देखें लेख—सौर ऊर्जा पादप रोग निदान में सहायक—डॉ० अरुण आर्य, **'विज्ञान'**, अक्टूबर 1990, सौर ऊर्जा—अब कीट नाशक की तरह—नीलम कुलश्रेष्ठ, **'गृहशोभा'**, जुलाई 1992)।

डॉ० आर्य ने अप्रैल-मई 1989 माह में 45 दिनों तक 0.03 मिलीमीटर पोलीथीन (प्लास्टिक) की पतली चादरों से जमीन को ढँक दिया, तो यह पाया कि मिट्टी के भीतर का तापमान 6-9 डिग्री सेन्टीग्रेड बढ़ गया। इस प्रयोग से केवल मिट्टी में रहने वाले जीवाणुओं व सूक्ष्म कवकों की संख्या में कमी ही नहीं हुयी, बल्कि अरहर की फसल में 'विल्ट' जैसी बीमारियों को उत्पन्न करने वाले (**फ्यूजेरियम उडम** Fusarium udum) नामक कवक का अंत भी हो गया।

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के डॉ० पी० सी० त्रिवेदी एवं कुमारी विधि शर्मा ने अपने नवीन लेख ['एप्लीकेशन ऑव सोयल सोलेराइजेशन इन कन्ट्रोलिंग **मेलोडोगाइनी**' (Meloidogyne incognita), पॉपुलेशन जर्नल ऑव इण्डियन बोटैनिकल सोसाइटी, खण्ड 70, 1991, 299-302] में इस बात की जानकारी दी है कि सोलरीकरण से गोलकृमि (Nematodes) की संख्या में काफी कमी की जा सकती है।

मेलायडोगाइनी इन्कागनिटा (गोलकृमि) शाक वाली फसलों (Vegetable crops) का एक भयंकर शत्रु है। राजस्थान की मिट्टी पर जब प्रयोग किये गये तो पाया गया कि पारदर्शी प्लास्टिक की चादरों से मिट्टी का तापक्रम 44.4° से० हो गया और कृमियों की संख्या में 78.1% की कमी हुई। काली चादरों से ढँकी मिट्टी का तापक्रम 39.8° से० तक पहुँचा और गोल कृमियों (Nematodes) की संख्या में 69.9% की कमी हुयी। जबकि नियंत्रित किये गये खेतों का तापक्रम 37.5° से० रहा और निमेटोड **मेलायडोगाइनी** की संख्या में केवल 15.3% की कमी हुयी। कृमि की संख्या मई के महीने में सर्वाधिक आँकी गई और जून की गर्मी में इसकी संख्या काफी कम हो गयी। भिंडी और टमाटर की फसलों पर यह प्रयोग किये गये।

●●

पाठकों से निवेदन

सभी पाठकों (ग्राहकों) से निवेदन है कि मनीआर्डर द्वारा पत्रिका का शुल्क भेजते समय मनीआर्डर फार्म के पीछे अपना पूरा पता पिन कोड सहित साफ-साफ लिखें।

—सम्पादक

धमनियाँ लचीली क्यों, मांसल क्यों ?

डॉ० केशव कुमार

[इस आलेख के रचनाकार डॉ० केशव कुमार जी मोतीलाल नेहरू मेडिकल कॉलेज, इलाहाबाद के एनाटॉमी विभाग में सहायक आचार्य हैं। इन्होंने स्वयं के शोध के आधार पर यह लेख तैयार किया है। यह लेख इस आशा से प्रकाशित किया जा रहा है कि इस विषय के समझने वाले लोग लेखक की नई खोज पर अपनी प्रतिक्रिया भेजेंगे। हो सकता है इस लेख में दी गई जानकारियों के विषय में पाठकों की उत्कंठा हो, उनसे निवेदन है कि वे सीधे लेखक से सम्पर्क करें।

—सम्पादक]

धमनियाँ रक्त की वे वाहिकायें हैं जो रक्त को हृदय से दूर शरीर के विभिन्न भागों को ले जाती हैं। केवल फुफ्फुस धमनियों में कार्बन डाइऑक्साइडयुक्त रक्त बहता है जबकि अन्य सभी धमनियों में ऑक्सीजनयुक्त रक्त प्रवाहित होता है। प्रत्येक धमनी की दीवाल में तीन पर्तें होती हैं— 1. आन्तरिक पर्त, 2. मध्य पर्त, 3. वाह्य पर्त। हृदय की प्रत्येक धड़कन के साथ सभी धमनियों में स्पन्दन होते हैं। हृदय की धड़कन के दो भाग होते हैं। 1. हृदय का सिस्टोल (संकुचन) 2. हृदय का डायास्टोल (प्रसारण)। इसी प्रकार धमनी स्पन्दन के भी दो भाग होते हैं—1. धमनी प्रसार, 2. धमनी संकुचन। यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि हृदय के संकुचन के समय धमनियों में प्रसार होता है तथा प्रसारण के समय धमनियों में संकुचन होता है। हृदय की धड़कन के साथ धमनियों का स्पन्दन शरीर के रक्त संचार में सहायक होता है। हृदय के सिस्टोल तथा धमनियों में प्रसार के कारण उत्पन्न दाब को रक्त का सिस्टोलिक दाब कहते हैं। इसी प्रकार हृदय के डायास्टोल तथा धमनियों के संकुचन के कारण उत्पन्न दाब को रक्त का डायास्टोलिक दाब कहते हैं। धमनियों की दीवाल की मध्य पर्त में स्थित प्रत्यास्थ (लचीले) तथा मांसल तन्तु क्रमशः धमनी प्रसार तथा धमनी संकुचन में सहायक होते हैं। धमनियों में आयु वृद्धि की प्रक्रिया के फलस्वरूप प्रत्यास्थ तन्तुओं के विखण्डित तथा विनष्ट होने से धमनियों की प्रत्यास्थता समाप्त हो जाती है। प्रत्यास्थ तन्तुओं का स्थान कोलैजेन तन्तु ले लेते हैं जिससे धमनियों की दीवाल कठोर हो जाती है। और जब धमनी की आन्तरिक पर्त में वसा (चिकनाई) के जमाव तथा इसमें कैल्सियम के समावेश के कारण धमनी की गुहा सँकरी तथा दीवाल मोटी होकर रक्तप्रवाह को प्रभावित करती है तो इस बीमारी को धमनी काठिन्य कहते हैं।

कोई धमनी प्रत्यास्थ होती है तो कोई मांसल, ऐसा क्यों होता है ? कई वर्षों तक निरन्तर शोध तथा परीक्षण करने के उपरान्त धमनियों में प्रत्यास्थता (Elasticity) तथा मांसलता (Muscularity) के नियमों का लेखक ने 26 मई, 1989 में प्रतिपादन किया, जो निम्नलिखित हैं—

1. शरीर की समस्त धमनियों में हृदय के सिस्टोल के साथ प्रसार (Distension) तथा हृदय के डायास्टोल के साथ संकुचन (Contraction) होता है।

सहायक आचार्य, एनाटॉमी विभाग, मोतीलाल नेहरू मेडिकल कॉलेज, इलाहाबाद-211002

2. धमनी-प्रसार धमनी-प्रत्यास्थता के तथा धमनी-संकुचन धमनी-मांसलता के समानुपाती होता है।

3. धमनी-प्रत्यास्थता हृदय से धमनी के उद्गम की समीपता तथा धमनी-मांसलता हृदय से धमनी के उद्गम (Commencement) की दूरी के समानुपाती होती है।

इसके पूर्व वैज्ञानिक केवल यह जानते थे कि बड़े आकार की धमनियाँ प्रत्यास्थ तथा मध्यम आकार की धमनियाँ मांसल होती हैं। किन्तु आकार के आधार पर धमनियों का प्रत्यास्थ तथा मांसल के रूप में वर्गीकरण करना गलत है क्योंकि खरगोश की महाधमनी का आकार मनुष्य की महाधमनी के आकार की तुलना में बहुत छोटा होता है फिर भी इन दोनों महाधमनियों की मध्य पर्त में प्रत्यास्थ तन्तुओं का घनत्व लगभग एक जैसा ही होता है तथा ये दोनों ही धमनियाँ प्रत्यास्थ धमनियों की श्रेणी में आती हैं। अतः किसी भी धमनी की प्रत्यास्थता अथवा मांसलता उनके आकार पर निर्भर नहीं करती बल्कि उनके कार्य पर निर्भर करती है। धमनियों का कार्य के हृदय के सिस्टोल के समय प्रसरित (Distended) होना तथा हृदय के डायास्टोल (Diastole) के समय संकुचित होना। मनुष्य की दाहिनी कोरोनरी धमनी की पृष्ठ अन्तर्निलय शाखा का आकार खरगोश की उर्ध्व महाधमनी के आकार के लगभग बराबर होता है, परन्तु मनुष्य की दाहिनी कारोनरी धमनी की अन्तर्निलय शाखा मांसल धमनी है तथा खरगोश की उर्ध्व महाधमनी प्रत्यास्थ धमनी है। अतः यह स्पष्ट है कि खरगोश में जो धमनियाँ प्रत्यास्थ एवं बड़े आकार की कहलाती हैं उनका आकार मनुष्य में पायी जाने वाली मांसल तथा मध्यम आकार की धमनियों से भी छोटा होता है।

कोई धमनी कितनी प्रत्यास्थ है यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस धमनी की मध्य पर्त में प्रत्यास्थ तन्तुओं का घनत्व कितना अधिक है। इसी प्रकार कोई धमनी कितनी मांसल है यह इस बात पर निर्भर करती है कि उस धमनी की मध्य पर्त में अनैच्छिक मांस तन्तुओं (Smooth muscle fibres) का घनत्व कितना अधिक है। हृदय के सिस्टोल के साथ जिस धमनी में जितना अधिक प्रसार होता है वह धमनी उतनी ही अधिक प्रत्यास्थ होती हैं तथा हृदय के डायास्टोल के साथ जिस धमनी में जितना अधिक संकुचन होता है वह धमनी उतनी ही अधिक मांसल होती है। जो धमनी हृदय से इसके उद्गम के जितना निकट होगी उतनी ही अधिक प्रत्यास्थ होगी तथा जो धमनी हृदय से इसके उद्गम से जितनी दूर होगी उतनी ही अधिक मांसल होगी। धमनियों में प्रसार तथा संकुचन की क्रिया को धमनियों का स्पन्दन कहते हैं। जिसका [illegible] एक मिनट में जितनी बार धड़कता है उसके शरीर की समस्त धमनियों में एक मिनट मे उतने ही बार स्पन्दन होते हैं।

उर्ध्व महाधमनी तथा फुफ्फुस महाधमनी का उद्गम हृदय के क्रमशः बायें तथा दाहिने निलय से होता है। अतः इन दोनों महाधमनियों में हृदय के सिस्टोल के साथ सबसे ज्यादा प्रसार इसलिये होता है क्योंकि रक्त का सबसे ज्यादा आयतन (60 मिली लीटर) एक निश्चित दाब पर सर्वाधिक वेग से इनकी गुहा में प्रवेश करता है। अतः इन दोनों ही धमनियों की मध्य पर्त में प्रत्यास्थ तन्तुओं का घनत्व भी सबसे अधिक होता है। हृदय के बायें तथा दाहिने निलय के सीधे उद्गम के कारण इन दोनों महाधमनियों में रक्त स्तम्भ (Column of blood) को आगे ढकेलने के लिये संकुचन की सबसे कम आवश्यकता पड़ती है क्योंकि निलय से रक्त जिस दाब के साथ इनकी गुहा में प्रवेश करता है उसी दाब तथा वेग से आगे बढ़ जाता है। अतः इन दोनों ही महाधमनियों की मध्य पर्त में स्थित अनैच्छिक मांस तन्तुओं का घनत्व सबसे कम होता है।

धमनियों के हृदय से उनके उद्गम से ज्यों-ज्यों दूर जाते हैं, त्यों-त्यों धमनियों में प्रसार कम होता जाता है क्योंकि हृदय से आ रहे रक्त-स्तम्भ (Blood column) का दाब तथा वेग आरम्भ की धमनियों में जितना होता है। उससे आगे स्थित धमनियों में रक्त-स्तम्भ का दाब तथा वेग उतना नहीं हो पाता अर्थात् यह दाब तथा वेग क्रमशः कम होने लगता है जिसे बनाये रखने के लिये आगे की ओर स्थित धमनियों में उसी अनुपात में संकुचन क्रमशः बढ़ता जाता है जिस अनुपात में उनका प्रसार क्रमशः घटता जाता है। और यही कारण है कि धमनियों में उनके हृदय से उद्गम से ज्यों-ज्यों दूर जाते हैं धमनियों की प्रत्यास्थता त्यों-त्यों कम होती है और मांसलता बढ़ती जाती है।

प्रत्येक धमनी की मध्य पर्त में प्रत्यास्थ तथा मांस दोनों ही प्रकार के तन्तु पाये जाते हैं। मांस तन्तुओं की प्रकृति अनैच्छिक (Unstriped or smooth) होती है तथा इनका कार्य है धमनी में संकुचन पैदा करना जबकि प्रत्यास्थ तन्तुओं का कार्य है धमनी में प्रसार उत्पन्न होने देना तथा प्रसार के उपरान्त उसे सामान्य दशा में पुनः लाना। धमनी-प्रसार केवल हृदय के सिस्टोल के समय ही सम्भव है तथा धमनी संकुचन केवल हृदग के डायास्टोल के समय ही हो सकता है। हृदय के सिस्टोल के समय यदि धमनियों में संकुचन होगा, जैसा कि हैलर ने 1760 में, विचट ने 1803 में तथा वेन ने 1957 में परिकल्पना की थी, तो हृदय अर्द्ध चन्द्रकार कपाट (Semi lunar Valves) एक तरफ तो बाये और दाहिने निलय के संकुचन के कारण खुलना चाहेंगे और दूसरी तरफ उर्ध्व महाधमनी तथा फुफ्फुस महाधमनी के संकुचन के कारण यही अर्द्ध चन्द्राकार कपाट रक्त को पीछे की ओर बहाव रोकने के लिये बन्द होना चाहेंगे। परिणाम यह होगा कि बायें तथा दाहिने निलय से एक तरफ तो रक्त उर्ध्व महाधमनी और फुफ्फुस महाधमनी की गुहा में प्रवेश करना चाहेगा, दूसरी तरफ उर्ध्व महाधमनी तथा फुफ्फुस महाधमनी के संकुचन के कारण रक्त पुनः बायें तथा दाहिने निलय मे वापस भी लौटना चाहेगा। जिसके कारण रक्त-स्तम्भ को धमनियों में आगे की ओर बढ़ना यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य हो जायेगा। अतः हृदय के सिस्टोल के समय धमनियों में संकुचन सम्भव नहीं है तथा उपरोक्त लेखकों की परिकल्पना गलत थी।

वेन ने 1957 में यह निरीक्षण किया था कि भ्रूण (Embryo) तथा निम्न श्रेणी के जीवधारियों में परिधीय (Peripheral) धमनियाँ संकुचन करती हैं। हैलर ने 1760 में, विचट ने 1803 में तथा लिस्टर ने 1879 में यह देखा था कि यदि किसी धमनी को खोल दिया जाय तो उसमें प्रसार दिखाई नहीं पड़ता परन्तु धमनी को बिना खोले उसकी दीवाल को स्पर्श करने में प्रसार का अनुभव होता है। उपरोक्त लेखकों को परिधीय धमनियों में प्रसार शायद इसलिये नहीं दिखलाई पड़ा क्योंकि हृदय से इनके उद्गम के बहुत अधिक दूर होने के कारण हृदय के सिस्टोल के समय परिधीय धमनियों में प्रसार बहुत कम होता है जिसे आँख से देख पाना सम्भव नहीं था। परन्तु हृदय के डायास्टोल के समय परिधीय धमनियों में संकुचन अधिक होता है। क्योंकि हृदय से इनके उद्गम की दूरी अधिक होती है अतः वेन ने 1957 में जो परिकल्पना की कि धमनियों में संकुचन होता है वह सही नहीं था। हृदय के सिस्टोल के समय वेन (1957) द्वारा धमनियों के संकुचन की परिकल्पना गलत थी। यदि वेन (1957) नें धमनियों का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया होता तो उसे पता चलता कि धमनियों का संकुचन हृदय के डायास्टोल के समय होता है। वेन (1957) शायद इसलिये इस तथ्य तक नहीं पहुँच सका कि धमनियों में हृदय के डायास्टोल के समय संकुचन होता है। उसका पूरा ध्यान हृदय के सिस्टोल पर केन्द्रित था। हृदय के सिस्टोल और डायास्टोल के बीच बहुत कम अन्तर होता है।

इसी प्रकार लिस्टर (1879), हैलर (1760) तथा विचट (1803) भी यह तथ्य नहीं समझ पाये कि धमनियों में प्रसार तथा संकुचन दोनों ही होते हैं। उपरोक्त वैज्ञानिक केवल यही सिद्ध करने में लगे रहे कि हृदय के सिस्टोल के समय धमनियों में प्रसार नहीं होता जबकि बहुत पहले से यह मान्यता रही है कि हृदय के सिस्टोल के समय धमनियों में प्रसार होता है। इन वैज्ञानिकों की भूल का कारण यह था कि इन्होंने उर्ध्व महाधमनी तथा फुफ्फुस महाधमनी का निरीक्षण नहीं किया था जिनमें हृदय की धड़कन के साथ सबसे ज्यादा प्रसार तथा सबसे कम संकुचन होता है। केवल परिधीय धमनियों का ही निरीक्षण उपरोक्त वैज्ञानिकों द्वारा किया गया था जिनमें हृदय की धड़कन के साथ संकुचन ज्यादा तथा प्रसार कम होता है। कहना न होगा कि इन वैज्ञानिकों का भी समय ध्यान केवल हृदय के सिस्टोल के समय धमनियों की दशा में केन्द्रित रहा। हृदय के डायास्टोल के समय भी धमनियों की कोई दशा हो सकती है, शायद इस ओर इन सबका ध्यान गया ही नहीं।

हृदय के डायास्टोल के समय धमनियों में संकुचन पूर्णतया सम्भव है क्योंकि इस समय अर्द्धचन्द्राकार कपाट बन्द रहते हैं तथा उर्ध्व महाधमनी और फुफ्फुस महाधमनी से रक्त बायें तथा दाहिने निलय में नहीं लौट सकता है। फलतः रक्त स्तम्भ को अपने आगे की ओर स्थित रक्त-स्तम्भ को ढकलते हुए धमनियों की गुहा में बढ़ना पड़ता है। शरीर की प्रत्येक धमनी की गुहा रक्त से हमेशा भरी रहती है। अतः हृदय के सिस्टोल के समय जब उर्ध्व महाधमनी तथा फुफ्फुस महाधमनी में से प्रत्येक की गुहा में जब 60 मिलीलीटर रक्त का अतिरिक्त आयतन झटके के साथ प्रवेश करता है तो इन धमनियों में रक्त के अतिरिक्त आयतन को स्थान देने के लिये प्रसार होना आवश्यक हो जाता है। साथ ही महाधमनियों में से प्रत्येक की गुहा में 60 मिलीलीटर रक्त के अतिरिक्त आयतन के प्रवेश के कारण आगे की ओर स्थित प्रत्येक धमनी की गुहा में रक्त-स्तम्भ आगे बढ़ता है जिससे आगे की ओर स्थित धमनियों की गुहा में भी रक्त के आयतन में वृद्धि होती है। इससे उनमें भी प्रसार होता है तथा रक्त को आगे की ओर बढ़ना पड़ता है। हृदय के डायास्टोल के समय अर्द्धचन्द्राकार कपाटों के बन्द रहने के कारण धमनी संकुचन रक्त के आगे की ओर बढ़ने में ही सहायक होता है। हृदय के डायास्टोल के समय धमनियों का संकुचन अर्द्धचन्द्राकार कपाटों के बन्द करने में भी सहायक होता है।

इस लेख के लेखक ने किसी भी प्रकार की हृदय अथवा धमनियों की बीमारी से पीड़ित न रहने वाले 100 प्रौढ़ व्यक्तियों की उर्ध्व महाधमनी, कोरोनरी धमनी, फुफ्फुस महाधमनी तथा फुफ्फुस धमनी का ऊतक मृत्योपरान्त लेकर 10% फार्मलीन के घोल में प्रारक्षित किया। तत्पश्चात् रोटरी माइक्रोटोम से 10 माइक्रान मोटाई के पैराफिन सेक्शन काटकर ओर्सीन (Orcein) से स्टेन तथा हीमैटॉक्सिलिन (Haematoxylin) और इओसिन (Eosin) से काउन्टर स्टेन किया। सूक्ष्मदर्शी (Microscope) द्वारा प्रत्येक धमनी की मध्यपर्त में प्रत्यास्थ तन्तुओं तथा मांस तन्तुओं के घनत्व का निरीक्षण किया था।

उपरोक्त प्रयोग के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि किसी धमनी की प्रत्यास्थता अथवा मांसलता का वास्तविक कारण हृदय के सिस्टोल तथा डायास्टोल के समय इस धमनी की दीवाल में होने वाले क्रमशः प्रसार तथा संकुचन पर निर्भर करता है, जोकि हृदय से उस धमनी के उद्गम की समीपता तथा दूरी पर भी निर्भर है। धमनियों की प्रत्यास्थता तथा मांसलता के इस वास्तविक कारण का पता लग जाने के बाद धमनियों में आयुवृद्धि की प्रक्रिया, धमनी-काठिन्य से धमनी की दीवाल में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों को समझने में मेरे शोध से भविष्य में शोध-कर्ताओं को निश्चित रूप से एक नई दिशा मिलेगी।

●●

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठकगण !

"विज्ञान" का अप्रैल 1993 अंक आपके सामने है। आज से 78 वर्ष पूर्व इसी माह में "विज्ञान" पत्रिका का जन्म हुआ था। तब से अब तक इस पत्रिका ने अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। अनेक बार तो मरणासन्न स्थिति में पहुँचने के बाद इसे जीवन-दान मिला है। कुछ ऐसी बात अवश्य है जिसके कारण यह पत्रिका आज भी जीवित है। तब से लेकर आज तक विज्ञान की अनेक सरकारी एवं गैर सरकारी पत्रिकायें—यथा 'विज्ञान लोक,' 'विज्ञान जगत्,' 'विज्ञान भारती', 'विज्ञान वैचारिकी', 'पर्यावरण दर्शन', 'विज्ञान वीथिका'—काल कवलित हो गई। सच पूछिए तो विज्ञान पत्रिकाओं में ऐसे 'चटपटे चाट' का सर्वथा अभाव होता है जिसे पाठक रुचि लेकर पढ़ें। विज्ञान पत्रिकाओं के जीवित रहने की पहली शर्त है आम जनता में 'वैज्ञानिक चेतना' का जाग्रत होना। पूर्व में जब विज्ञान की कोई पत्रिका हिन्दी में प्रकाशित नहीं होती थी, उस समय विज्ञान परिषद् के संस्थापकों—महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ झा, प्रोफेसर रामदास गौड़, प्रो० सालिगराम भार्गव और मौलाना वहीदुद्दीन साहेब—ने 10 मार्च, 1913 को इस परिषद् की स्थापना की और अप्रैल 1915 से 'विज्ञान' पत्रिका के प्रकाशन के द्वारा आम लोगों में वैज्ञानिक चेतना को प्रसारित करने का 'सपना' साकार हुआ।

अब 'विज्ञान' पत्रिका अपने जीवन के 79 वें वर्ष में प्रवेश कर रही है। इस अवसर पर आप सभी के सहयोग, स्नेह और आशीष की आपेक्षा है। आपका सम्बल पत्रिका को निःसंदेह चिरायु बनायेगा।

एक अत्यावश्यक सूचना। यह वर्ष लब्धप्रतिष्ठ वैज्ञानिक स्वर्गीय प्रोफेसर- मेघनाद साहा का जन्मशती वर्ष है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग ने तो जन्मशती कार्यक्रमों का श्रीगणेश भी कर दिया है। 27 फरवरी 1993 को विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग के सभाकक्ष में कलकत्ता के डॉ० शांतिमय चटर्जी द्वारा प्रो० साहा के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर लोकप्रिय, विद्वतापूर्ण व्याख्यान दिया गया। इस सभा की अध्यक्षता प्रो० दिव्य दर्शन पंत ने की। 'विज्ञान' पत्रिका का 'प्रो० मेघनाद साहा स्मृति अंक' निकालने की हमारी योजना है। इस अंक के लिए हम लेखों का संकलन कर रहे हैं। मैं आप सभी से, विशेषकर वरिष्ठजनों से जो प्रो० साहा के सम्पर्क में कभी आये हों, निवेदन है कि 31 मई तक अपने संस्मरण/आलेख अवश्य भेज दें। प्रो० साहा के व्यक्तित्व के अनुरूप रचनाओं को इस अंक में सम्मिलित किया जायेगा।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्रसंघ के चुनावी माहौल के दौरान प्रोफेसर के० एस० बिलग्रामी के रोचक एवं विद्वतापूर्ण तीन व्याख्यान इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग के सभाकक्ष में 'कवक' (फंजाई) विषय पर सफलतापूर्वक सम्पन्न हुए।

विज्ञान परिषद् प्रयाग की वाराणसी, दिल्ली एवं बैलाडीला शाखाओं से भी अच्छे समाचार प्राप्त हुए हैं। शाखाओं की गतिविधियाँ उत्साहवर्धक हैं। दिल्ली शाखा के नवनिर्वाचित सदस्यगण हैं—प्रो० हरि सरन विश्नोई

(अध्यक्ष), डॉ० रमेश दत्त शर्मा (उपाध्यक्ष), श्री रणकिशोर सहाय (मंत्री), श्री कुलदीप शर्मा (संयुक्त मंत्री), डॉ० विजय कुमार श्रीवास्तव (कोषाध्यक्ष) एवं श्री हरीश अग्रवाल, डॉ० जगदीप सक्सेना, श्री तुरशनपाल पाठक, श्री सुभाष लखेड़ा, श्री राजेन्द्र कुमार राय (कार्यकारिणी के सदस्य)। सभी को परिषद् परिवार की बधाई।

दिल्ली शाखा के तत्वावधान में 17 मार्च, 1993 को 4 बजे अपराह्न 'ऑल इंडिया इंस्टीट्यूट ऑव मेडिकल साइंस' (ए आई आई एम एस) के प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष डॉ० आर० के टण्डन ने गॉल स्टोन (पित्ताश्मरी) उपचार की नवीनतम विधि विषय पर रोचक, ज्ञानवर्धक, लोकप्रिय व्याख्यान दिया। यह व्याख्यान वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद् (सी० एस० आई० आर०), अनुसंधान भवन, रफी मार्ग, नई दिल्ली-1 में सम्पन्न हुआ। 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' द्वारा आयोजित 'सालिग राम भार्गव स्मृति व्याख्यान' (तृतीय व्याख्यान) 16 अप्रैल 1993 को अपराह्न 3.00 बजे सी० एस० आई० आर० के महानिदेशक डॉ० एस० के०जोशी द्वारा दिया जायेगा। विषय 'पदार्थ है विज्ञान : कुछ नयी खोजें। इसे सम्पन्न कराने का दायित्व दिल्ली शाखा ने ले लिया है।

बैलाडीला शाखा ने 'जिज्ञासा' नामक एक नई सुन्दर-सी पत्रिका प्रकाशित की है। बैलाडीला शाखा का यह प्रयास स्तुत्य हैं, अनुकरणीय है, प्रशंसनीय है। इस शाखा के पदाधिकारियों को साधुवाद, बधाई।

अप्रैल माह में ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग (इलाहाबाद) द्वारा 23-24 अप्रैल, 1993 को कुरुक्षेत्र में एक अखिल भारतीय गणित शोध गोष्ठी आयोजित की गई है। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के गणित विभाग के प्रोफेसर निरंजन सिंह की सूचना के अनुसार—

1. प्रत्येक वार्ताकार 250 शब्दों की वार्ता का सारांश बनाकर उसकी तीन प्रतियां भेजें।
2. सभी वार्ताएँ व शोध-पत्र हिन्दी में होने चाहिए।
3. शोध-पत्र व वार्ता का सारांश 31 मार्च तक मेरे (प्रो० निरंजन सिंह के) पास भेज दें।
4. वार्ताकार अपनी वार्ता की स्वीकृति व वार्ता का शीर्षक इस पत्र की प्राप्ति के दो सप्ताह में अवश्य भेज देवें।
5. सभी वार्ताकारों को प्रथम श्रेणी व शोध-पत्र प्रस्तुत करने वालों को द्वितीय श्रेणी का रेल-किराया दिया जाएगा तथा रहने की व्यवस्था रहेगी।

गणित शोध गोष्ठी के संबन्ध में कृपया प्रो० निरंजन सिंह जी से पत्र-व्यवहार करें।

जैसा कि पहले ही 'विज्ञान' के दिसम्बर 1992 जनवरी-1993 अंक के माध्यम से सूचित किया जा चुका है कि कुछ अपरिहार्य कारणों से प्रो० नीलरत्न धर जन्मशती समारोह स्थागित करना पड़ा। प्रो० धर जन्मशती निधि एवं विज्ञान परिषद् प्रयाग के सहयोग से दो पुस्तकें—'विज्ञान और मानव' (लेखक—प्रो० नीलरत्न धर) एवं 'महान कृषि वैज्ञानिक प्रो० धर (लेखक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र एवं डॉ० दिनेश मणि) छपकर तैयार हो गई हैं। इनका विमोचन भी प्रो० धर जन्मशती समारोह के अवसर पर सम्पन्न होगा।

'गोरख प्रसाद पुरस्कार' एवं 'ह्विटेकर पुपस्कार' के विजेताओं के नामों की घोषणा करनी अभी शेष है। आशा है हमें शीघ्र ही परिणाम प्राप्त हो जायेंगे और मई अंक में विजेताओं के नामों की भी घोषणा कर दी जायेगी।

परिषद् के सामने अनेक अधूरे काम अभी भी पड़े हुए हैं। उदाहरणार्थ विज्ञान परिषद् प्रयाग (मुख्यालय) का चुनाव, विभिन्न स्मृति व्याख्यानमालाओं का आयोजन, प्रो० धर जन्मशती समारोह, प्रो० मेघनाद साहा जन्मशती समारोह सम्पन्न कराया जाना आदि।

बच्चों को बिना किसी तकलीफ के मुँह द्वारा दिए जाने वाले पोलियो के वैक्सीन के जनक, टीकाकरण कार्यक्रम के विश्वभर में अग्रदूत, अलबर्ट साबिन का 86 वर्ष की वय में 2 मार्च, 1993 को निधन हो गया। विज्ञान संसार की यह अपूर्णीय क्षति है।

एक बात और। परिषद् की सभी शाखाओं के अध्यक्ष एवं मंत्रियों से निवेदन है कि परिषद् की गतिविधियों की सूचना हमें समय-समय पर भेजते रहें ताकि 'विज्ञान' पत्रिका में उन्हें प्रकाशित किया जा सके। परिषद् की किसी भी शाखा के किसी सभ्य को यदि किसी संस्था द्वारा सम्मानित या पुरस्कृत किया गया हो अथवा किसी की पुस्तक प्रकाशित हुई हो, पुरस्कृत हुई हो तो उसकी भी सूचना तुरंत भेजें। ऐसी सूचनाओं के प्रकाशन से नये लेखक निश्चित रूप से प्रेरणा ग्रहण करेंगे।

नवसंवत् सर मंगलमय हो।

आपका
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1993

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।

(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।

(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।

(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।

(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1993 से दिसम्बर 1993 माह के बीच प्रकाशित हो।

(6) लेखक के साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।

(7) विज्ञान परिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।

(8) वर्ष 1993 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1994 है।

(9) पुरस्कार के लिए पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागियों को इस प्रतियोगिता के लिए उपयुक्त नहीं समझा जायेगा।

लेख निम्न पते पर भेजें—

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद वा रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पात्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु०, चौथाई पृष्ठ 50.00; आवरण द्वितीय; तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

मई 1993 अंक

मूल्य : 2रु० 50 पैसे

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन मई 1915
मई 1993; वर्ष 79 अंक 2

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7 ए बेली एवेन्यू
इलाहाबाद-211002

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

धान की खेती में शैवालों की उपयोगिता

डॉ० शिवगोपाल मिश्र तथा सुनील कुमार पाण्डेय

सूक्ष्मजीव विज्ञान में शैवालों को पृथक स्थान प्राप्त है। इनकी बड़े पौधों से इस बात में समानता है कि उन्हीं की तरह सूर्य के प्रकाश में अपना भोजन बना सकते हैं। जीवाणु इनसे भिन्न हैं, क्योंकि वे ऐसा करने में समर्थ नहीं होते हैं। धान की खेतो में शैवालों का प्रयोग प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। बेरिंग (1901) संभवत: वह प्रथम व्यक्ति था, जिसने शैवालों द्वारा नाइट्रोजन की मात्रा में अभिवृद्धि की खोज की है।

प्राय: 33% धान के खेतों में नील-हरित शैवाल प्राकृतिक रूप में पाये जाते हैं, जो नाइट्रोजन यौगिकीकरण का कार्य करते हैं। यह सूक्ष्म जीवाणुओं से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण जैविक उर्वरक हैं, जिसकी उत्पत्ति वर्षा ऋतु में तालाबों तथा छोटे-छोटे उथले गड्ढों में हुआ करती है।ये शैवाल समूह के साइनोफाइटा वर्ग से सम्बन्धित सूक्ष्मजीव हैं। शैवालों की ऐसी लगभग 100 जातियाँ ज्ञात हैं, जो नाइट्रोजन स्थिर करने का कार्य करती हैं। इनमें से नॉस्टॉक (Nostoc), एनाबीना (Anabaena), टॉलिपोथ्रिक्स (Tolypothrix) जातियाँ ही मुख्य रूप से धान के खेतों में प्रयोग की जाती हैं। नील-हरित शैवालों द्वारा स्थिर किए गए नाइट्रोजन की विशेषता यह है कि यह उत्सर्जित होकर पौधों को सुगमता से उपलब्ध होता रहता है। नील-हरित शैवालों द्वारा स्थिर किए जाने वाले नाइट्रोजन की मात्रा व विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए सरकारी व गैर सरकारी दोनों की स्तरों पर इसको बढ़ावा देने के लिए प्रयास किए जा रहे हैं।

शैवाल-उत्पादन

शैवाल स्फोटक संवर्धन (Starter Culture) भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान, नई दिल्ली से 4 रुपए (डाक एवं भण्डारण खर्च अतिरिक्त) प्रति पैकेट (400 ग्राम) की दर से मँगाकर पर्याप्त मात्रा में उत्पादित किया जा सकता है।

सर्वप्रथम 6 फुट लम्बे 3 फुट चौड़े और 9 इंच गहरे धातु पात्र या जमीन पर तैयार गड्ढा चुना जाता है। इसमें 8-10 किग्रा० मिट्टी भरकर, 200 ग्राम सुपर फॉस्फेट व 2 ग्राम सोडियम मॉलिबडेट मिलाकर भली प्रकार आलोड़ित किया जाता हैं। स्थानीय दशाओं में बाष्पीकरण की दर को ध्यान में रखते हुए तश्तरी में 2″-6′ पानी भर दिया जाता है। मिट्टी के पी एच का परीक्षण कर लेना आवश्यक होता है, क्योंकि यह 7-7.5 के मध्य होना चाहिए। यदि मृदा अम्लीय है, तो उसमें उपयुक्त मात्रा में चूना मिलाकर पी एच सही कर लिया जाता है। तश्तरी में मिट्टी के ठीक प्रकार से बैठ जाने के बाद पानी के ऊपर एक पैकेट स्फोटक संवर्धन का छिड़काव कर दिया जाता है। कीटाणुओं से सुरक्षा के लिए 0.001 भाग प्रति दशलक्षांश फॉलीडॉल या 0.00075 भाग दशलक्षांश पैराथियॉन अथवा अन्य कीटनाशियों का प्रयोग उपयुक्त मात्रा में कर दिया जाता है।

शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

गर्मी के महीनों में शैवाल अत्यन्त तीव्र गति से वृद्धि करके लगभग 7 दिनों में ही मिट्टी के ऊपर मोटी परत बना लेते हैं। किन्तु वाष्पोत्सर्जन की दर तीव्र होने पर बीच-बीच में आवश्यकतानुसार पानी देते रहते हैं। पर्याप्त वृद्धि हो जाने पर पानी देना बन्द कर देते हैं और धूप में पानी सूखने के लिए छोड़ देते हैं। शैवाल को खेतों में प्रयोग करने हेतु शुष्क शैवाल (ऊपरी परत) को खुरचकर पैकेटों में भर लिया जाता है तथा यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि पैकटों का सम्पर्क कभी भी रसायनिक खादों या कीटनाशकों के सम्पर्क में न हो।

तश्तरी को पुनः जल से भरकर उसमें शुष्क शैवाल की अल्प मात्रा (लगभग एक मुट्ठी) को पुनः शैवाल उत्पादन हेतु प्रयोग किया जाता है। यह प्रक्रम पूरे वर्ष भर जारी रख सकते हैं। 3-4 बार शैवाल उत्पादन के पश्चात् तश्तरी की मिट्टी को बदल देना आवश्यक होता है। प्रायः एक बार में लगभग 1—1½ किग्रा० तक शैवाल तैयार हो जाता है।

खेतों में निवेशन

नील-हरित शैवाल 40 किग्रा० प्रति हेक्टेयर तक नाइट्रोजन एकत्रित कर सकता है, परन्तु सामान्यतया यह मात्रा 20-30 किग्रा० नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर होती है। प्रायः नाइट्रोजन की कुल आवश्यकता का ⅓ शैवालों द्वारा देकर व्यापारिक खादों की देय मात्रा में कमी कर दी जाती है।

शुष्क शैवाल का निवेशन पानी भरे खेत में किया जाता है। एक हेक्टेयर खेत के लिए 8-10 किग्रा० शुष्क शैवाल पर्याप्त होता है तथा पौधे रोपने के एक सप्ताह बाद पानी भरे खेत में प्रयोग किया जाता है। एक ही खेत में लगातार तीन वर्षों तक प्रयोग करते रहने पर इसके पुनः प्रयोग की आवश्यकता नहीं रह जाती है, क्योंकि यह उस खेत में स्वतः ही उत्पन्न हो जाता है।

वृद्धि कारक

शैवालों के उपयुक्त वृद्धि हेतु उत्तरदायी निम्न कारकों को ध्यान में रखना आवश्यक होता है—

1. शैवालों की वृद्धि के लिए उच्च ताप आवश्यक है, जो कि प्रायः उष्ण एवं उपोष्ण क्षेत्रों में पाया जाता है।
2. साधारण रूप में 80-100 प्रतिशत आर्द्रता उपयुक्त होती है।
3. मिट्टी की सतह कठोर होनी चाहिए, क्योंकि ऐसा न होने पर जल रुका नहीं रहेगा; शैवालों की वृद्धि प्रभावित होगी।
4. शैवालों की अपेक्षित वृद्धि के लिए मृदा में कैल्सियम का होना नितान्त आवश्यक होता है। यदि मृदा अम्लीय है तो चूने का प्रयोग करने से शैवालों की वृद्धि होने लगती है।
5. शैवाल प्रायः किसी फ़सल की उपस्थिति में ही अधिक वृद्धि करते है तथा धान एक ऐसी ही फ़सल है।

लाभ

शैवाल जो कि पहले पानी में उगता है, वही बाद में मृदा सतह पर जमकर मिट्टी का अभिन्न अंग बन जाता है और भूमि उर्वरता का यही रहस्य भी है। धान के सभी विभेद नाइट्रोजन उर्वरकों की उपस्थिति में भी प्रभाव दिखाने में सक्षम होते हैं। इससे स्पष्ट है कि शैवाल निवेशन से वृद्धि कारकों की उत्पत्ति होती है, जो कि उपज के लिए उत्तरदायी होते हैं।

नील-हरित शैवाल मृदा में नाइट्रोजन स्थिर तो करता ही है, साथ ही साथ पौधे के लिए अप्राप्य, अविलेय फॉस्फोरस को विलेय बनाकर पौधों के लिए प्राप्य बना देता है। मॉलिब्डेनम तथा फॉस्फेट की उपस्थिति में नील-हरित शैवालों द्वारा अधिक नाइट्रोजन स्थिर किया जाता है। शैवाल मृदा में जैव-पदार्थ की मात्रा में वृद्धि करते हैं, जिससे मिट्टी की भौतिक एवं रासायनिक दशा भी सुधर जाती है और पौधों के पोषण में सहायता मिलती है। इसका सबसे महत्वपूर्ण लाभ यह है कि एक ही खेत में लगातार तीन वर्षों तक प्रयोग करते रहने पर इसके पुनः प्रयोग की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

अंत में निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शैवालीकरण से धान के उत्पादन को पर्याप्त मात्रा में बढ़ाया जा सकता है। इसके उत्पादन एवं प्रयोग की विधि भी अत्यन्त सरल है, जिससे कृषक वर्ग को इसके लिए कोई विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती है। हालाँकि शैवालीकरण रसायनिक खादों का पूर्ण विकल्प नहीं है, फिर भी, इसके द्वारा रसायनिक खादों पर निर्भरता को काफी हद तक कम किया जा सकता है। यह अत्यन्त सस्ता पड़ता है, जिससे इसके प्रयोग द्वारा उत्पादन व्यय को भी काफी कम करके अधिक लाभ अर्जित किया जा सकता है। यदि इसके महत्व को भारतीय कृषक वर्ग में सही ढँग से प्रचारित-प्रसारित किया जाय तथा उनको इसके प्रयोग के लिए प्रोत्साहित किया जाय तो वे इसका अपने खेतों में प्रयोग करके तथा इसके द्वारा उत्पादन में वृद्धि करके देश के खाद्यान्न समस्या के समाधान में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे सकेंगे और साथ ही अपना जीवन-स्तर भी उठा सकेंगे।

OO

शेष पृष्ठ 6 का

आता है कि वायु की सुनियोजित मात्रा के अभाव में यज्ञ-स्थली धूम्रोवेष्टित हो जाती है जिसके कारण मंत्रोच्चारण और आंतरिक भावों के प्रस्फुटन में भी बाधा आती है। हमारे अनुमान से श्री गायत्री वीसा यंत्र में अंकित चारों द्वार स्थूल वायु के सुनियोजित आगमन में भी सुगमता प्रदान करने के लिए उपयोगी रहेंगे। इस हेतु हमारे द्वारा प्रस्तावित सम-त्रिभुजाधारी अंतर यज्ञ-कुण्ड के तीनों पार्श्वों में, बाह्य कुण्ड के द्वारों के सम्मुख, रंध्र बनाना लाभप्रद है। हमारे विचार से श्री गायत्री वीसा यंत्र का प्रारूप ऋषि विश्वामित्र द्वारा प्रणीत है। कालांतर में 'विश्वा' का अपभ्रंश 'वीसा' रह गया।

●●

यज्ञ कुण्ड की ज्यामिति

दिनेश दत्त शर्मा 'वत्स'

आध्यात्मिक प्रक्रिया द्वारा प्राप्त सहज ज्ञान अतीत के गर्भ में विलुप्त हो गया है अथवा विश्रृंखलित हो चुका है। उस विलुप्त ज्ञान को आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों के प्रकाश में खोजना और विलुप्त शृंखलाओं को जोड़ना प्रस्तुत शोधपत्र का विषय है। पिरामिड की आकृति प्रागैतिहासिक काल से ही तंत्र-मंत्र रहस्य से सम्बन्धित रही है। इन विधाओं के अनुसंधानकर्ताओं ने सम्भवत: अपनी सहज बुद्धि अथवा ध्यान-धारण के फलस्वरूप प्राप्त प्रेरणा बुद्धि से इस आकार को अपने-अपने अनुष्ठानों में प्रयोग किया है। मिस्र के पिरामिड, मैक्सिको के वलि-स्तूप और दक्षिण भारत के मंदिरों के शिखर इसके प्रमाण हैं। उत्तरी भारत (आर्यावर्त) में विकसित यज्ञ-आधारित अध्यात्म दर्शन ने इस आकार का यज्ञ कुण्ड के रूप में उपयोग किया है। यह कुण्ड विलोम पिरामिड की आकृति में होता है। ध्यान योग आधारित अध्यात्म में इस आकार को अपने शरीर द्वारा निर्मित किया जाता है। पद्मासन, सीधा मेरूदण्ड दोनों हाथ घुटनों तक फैले हुए ध्यान मुद्रा के संलग्न चित्र को यदि प्रदर्शित रीति से रेखांकित किया जाए तो दोनों घुटनों को मिलाने वाली और घुटनों से प्रारम्भ होकर स्कंधों को स्पर्श करती हुई दोनों ओर से आकार ब्रह्मरंध्र पर मिलने वाली रेखायें (अस, सब, अब) पिरामिड के एक पार्श्व की रचना करती प्रतीत होती हैं।
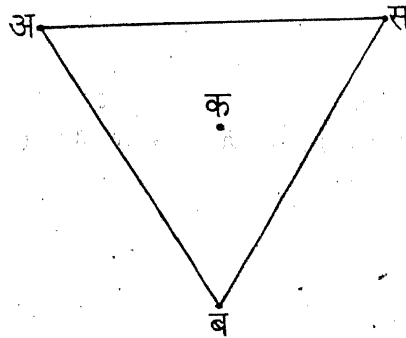
चित्र 1

आध्यात्मिक साधनाओं का मुख्य उद्देश्य परा-शक्ति से सम्बन्ध स्थापित करना होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पिरामिड की आकृति पराजगत् से सम्बंध स्थापित करने में किसी न किसी प्रकार सहायक होती है। परा जगत्, अर्थात् स्थूल देश-काल से परे का आयाम। स्थूल आयाम से मुक्ति मृत्युके बाद ही प्राप्त होती है। देश-काल के आयाम से आवेष्ठित जीवात्मा, स्थूल शरीर की मृत्यु के बाद ब्रह्मरंध्र से इस आयाम से परे हो जाती है। अतएव यह रंध्र परा जगत् से सम्बंध स्थापित करने का एक मार्ग है। मूलाधार से ब्रह्मरंध्र तक ऐसे अन्य बिंदुओं का दिग्दर्शन योगी जन सुष्मणा पर स्थित चक्रों के रूप में करते हैं। यह सब बिंदु अथवा चक्र देश-काल में रंध्र के समान हैं जिनके द्वारा पराजगत् की विभिन्न शक्ति-धाराओं का प्रवाह हमारे देश-काल में होने लगता है।

आई. वत्स एण्ड कम्पनी, 56-छत्ता मोहल्ला, गाजियाबाद-201001

इस जगत् का प्रत्येक स्थूल कण अपनी आकृति के अनुसार देश-काल आयाम में वक्रता उत्पन्न करता है। मनीषी आइंस्टीन के अनुसार यही वक्रता विभिन्न शक्ति-धाराओं के यथा, गुरुत्वाकर्षण, विद्युत-चुम्बकीय शक्ति आदि के रूप में परिलक्षित होती है। आर्ष ऋषिओं के अनुसार 'प्राण-शक्ति' पराजगत से सम्बन्धित शक्ति-धारा है। देश-काल आयाम में इसका अवतरण किन विशेष परिस्थितिओं में सम्भव होता है यह चिन्तनीय विषय है। प्रकृति में पाये जाने वाले जड़ एवं चेतन पदार्थों के वैज्ञानिक अन्वेषण ने एक बात निर्विवाद रूप से स्पष्ट कर दी है कि समस्त चेतन पदार्थों की स्थूल काया का आधार कार्बन परमाणुओं से निर्मित यौगिक ही है। अतः हमारे मत से कार्बन-परमाणुओं में कोई ऐसी विशेषता अर्न्तनिहित होनी चाहिए, जिसके कारण पराजगत् से प्राण-शक्ति का अवतरण उनके माध्यम से सम्भव हो।

अवकाश में अवस्थित कार्बन परमाणु के चित्र की कल्पना उनके द्वारा निर्मित यौगिकों के रासायनिक व्यवहार से की जाती है। कार्बन-निर्मित यौगिकों के रासायनिक गुणों की व्याख्या करने पर स्पष्ट होता है कि कार्बन परमाणु के संयोजक बंध (Valency-bond) एक चतुष्कोणीय पिरामिड के कोणों की ओर चारदिशाओं में फैली हुई होती है तथा कार्बन परमाणु उस समचुतष्कोणीय पिरामिड के केन्द्र में स्थित होता है। इस विशिष्ट स्थित में होने के कारण उससे सम्बन्धित देश-काल आयाम में ऐसी वक्रता होती है कि उस में रंध्र उत्पन्न हो जाता है, जिसके द्वारा परा जगत् से प्राण-धाराओं का का प्रभाव उससे सम्बन्धित हो जाता है।

ऐसी सब आकृतियों को पिरामिड कहा जाता है जिनका आधार कोई बहु-भुज हो और आधार की प्रत्येक भुजा को आधार मान कर निर्मित त्रिभुजों के शीर्ष उभयनिष्ठ हों। मिस्र के पिरामिड, मैक्सिको के बलि स्तूप, दक्षिण भारत के मन्दिरों के शिखर और यज्ञ-कुण्ड अधिकतर वर्गाकार या चतुर्भुजाकार आधार पर निर्मित पिरामिड हैं। कार्बन का परमाणु एक नैसर्गिक यज्ञ कुण्ड के केन्द्र में अवस्थित है। इस नैसर्गिक पिरामिड का आधार समत्रिबाहु त्रिभुज के आधार में होता। इस त्रि-आयामी आकृति का यदि समतल पर प्रेक्षण किया जाए तो एक समत्रिबाहु त्रिभुज के केन्द्र में एक बिन्दु के रूप में चित्र बनेगा (चित्र-2)। तांत्रिक साधनाओं में इस प्रकार के चित्र पर ध्यान
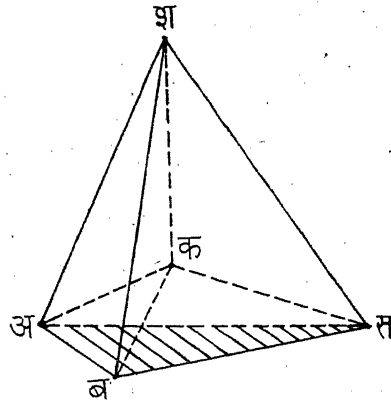
चित्र 2

अभ्यास सर्वविदित है। श्री गायत्री बीसा यंत्र में भी केन्द्र में यही आकृति चित्रित की गई है। जिस प्रकार पूर्व में संकेत किया जा चुका है कि ध्यान अवस्थित शरीर आकृति से भी एक नैसर्गिक पिरामिड की रचना होती है, जिसका

आधार एक समद्विबाहु त्रिभुज होता है । संलग्न छाया चित्र सं० 1 में यह तथ्य विभाजित रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया गया है । आधार निर्मित करने वाले समद्विबाहु त्रिभुज के शीर्ष पर मूलाधार चक्र स्थित होता है और सुषुम्णा के साथ-साथ ब्रह्म रंध्र तक जाने वाली लम्बवत् रेखा इस नैसर्गिक पिरामिड का शीर्ष बिन्दु निर्माण करती है । त्रिभुजाघाट पर स्थित इस पिरामिड के अन्य पार्श्व इस प्रकार बनते हैं—(अ ब म), (अ ब स) और (स ब म) ।

संयोगवश संलग्न चित्र में चित्रकार ने साधक पर परा-शक्ति का अवतरण होता हुआ भी त्रिभुजाकार रूप में चित्रित किया । चित्रकार की यह सहज आत्म प्रेरणा भी प्रस्तुत अवधारणा का समर्थन करती प्रतीत होती । प्लेंचेट मेज पर मृतात्माओं का आह्वान् करने वाले पाश्चात्य जिज्ञासु भी यह कार्य एक ऐसी मेज पर करते हैं जिसके तीन पाए आकर मेज के मध्य मिलते हैं । संलग्न चित्र 3 से यह स्पष्ट होता है कि तीनों पाये अवकाश में एक त्रिभुजाधार पिरामिड का निर्माण करते हैं, जिसके शीर्ष पर मेज का पटल स्थित होता है । ऐसी मेजों पर मृतात्मा का सुगमतापूर्वक अवतरण एक प्रयोग सिद्ध उदाहरण है।
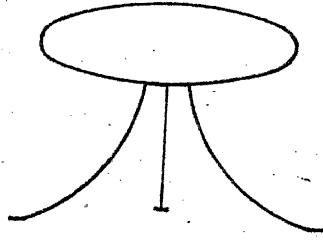
चित्र 3

पदार्थ विज्ञान, तंत्र-विज्ञान और आध्यात्मिक विज्ञान के उपरोक्त तथ्यों के पर्यवेक्षणों के आधार पर हमारी यह अवधारणा है कि गायत्री-यज्ञों में प्रयोग किए जाने वाले यज्ञ-कुण्डों का आकार विलोम रूप त्रिभुजीयाधार पिरामिड होना चाहिए । गायत्री के त्रिपदा नाम से भी इसकी संगति बैठती है । आजकल आधुनिक अभियंता यंत्रों के पहले प्रारूप (डिजाइन) तैयार करते हैं और फिर उनका उनके अनुसार निर्माण । ऐसा प्रतीत होता है कि श्री यंत्र, श्री गायत्री वीसा यंत्र आदि भी यथा नाम तथा रूप अनुसार आध्यात्मिक प्रयोगों में आने वाले उपकरणों के प्रारूप हैं । आधुनिक अभियंताओं को यंत्र निर्माण के लिए उनके प्रभावों (डिजाइनों) पर विशेष ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है । आध्यात्मिक यंत्रों पर ध्यान केन्द्रित करने का यही रहस्य प्रतीत होता है । यह युक्तियुक्त है कि गायत्री-यज्ञ-कुण्ड का प्रारूप श्री गायत्री वीसा यंत्र के अनुरूप हो । यज्ञ-कुन्ड का वाह्य आकार वर्गाकार ही रहना चाहिए तथा चारों ओर भुजाओं में द्वार भी होने चाहिए । मध्य में अंकित दो त्रिभुजों से निर्मित षट्कोणीय आकृति समिधाओं की स्थितियों का निरूपण है । उनकी परिवेष्ठित कमलाकृति हमारे अनुमान से त्रिभुजाधार यज्ञ कुण्ड को निरूपित करता है क्योंकि प्रत्येक कमल-दल का आकार त्रिभुजाकार है और अध्यात्म दर्शन में देव-सत्ता को कमल-आधार पर ही स्थापित किया जाता है । इस स्थिति को अज्ञात कारणों से स्पष्ट नहीं किया गया है । संलग्न चित्र में हमने इस स्थिति को विभाजित रेखाओं द्वारा अंकित करने की धृष्टता की है । स्थूलदृष्टि के अनुसार यज्ञ-क्रिया में अर्पित पदार्थों का विघटन कार्बन के सूक्ष्म अणुओं में हो जाता है । यह विघटन स्थूल रूप से भी सूक्ष्मतम सम्भव हो सके, इसके लिए ऑक्सीजन की पर्याप्त और सुनियोजित मात्रा आवश्यक है । बहुधा देखने में

देखें पृष्ठ 3 पर

चेचक महामारी का अन्तिम रोगी

प्रो० रमेश चन्द्र कपूर

सोमालिया के शलमबोत नगर में अली माओ मोआलिन के चेहरे को चेचक के गहरे दागों ने कुरूप कर दिया है। परन्तु अली सोमालिया में इस भयंकर व्याधि के ऊपर आयुर्विज्ञान की विजय का एक अनोखा प्रतीक बन गया है। सामान्य रूप से यह प्रदेश बीमारी, भुखमरी तथा अकाल मृत्यु से ग्रसित है। इस समय भी विश्व भर में इस की दुःखद गाथा सुनाई दे रही है।

भेषज इतिहास में अली की चेचक द्वारा पीड़ित अंतिम रोगी के रूप में गणना की जायेगी। करोड़ों मानव इस रोग की बलि वेदी पर चढ़ गये, परन्तु अली के स्वस्थ होने के साथ ही चेचक रोग का नाश ही हो गया। अपने आप में चिकित्सा विज्ञान की यह अनोखी उपलब्धि मानी जायेगी।

चेचक का अभिलिखित इतिहास तीन सहस्त्र वर्षों से भी पुरातन रहा है। मानव इसके भयंकर प्रकोप से सदा आतंकित तथा त्रस्त रहा है। कोलम्बस की अमेरिका खोज के पश्चात् जब स्पेनी आक्रमणकारी मेक्सिको पहुँचे, तब वे अपने साथ इस प्रकोप को भी ले गये। अमेरिका के मूल निवासी तब तक इस भयंकर व्याधि से अछूते थे। 1520 के लगभग केवल मेक्सिको में दो वर्ष के अन्दर बीस लाख अमेरिका के मूल निवासियों को चेचक ने अपनी चपेट में ले लिया। सत्तरहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में योरप में अनुमानित चार लाख निवासी प्रतिवर्ष इस बीमारी द्वारा काल के गाल में समा जाते थे। भारत तथा एशिया के अन्य देशों में भी ऐसे ही आँकड़े मिलेंगे, यद्यपि भारत में रोगियों के जीवित बचने का प्रतिशत योरप की अपेक्षा अधिक रहा है। दूर क्यों जायें, अभी लगभग ढाई दशक पूर्व 1967 में ही विश्व भर में एक करोड़ व्यक्ति इस महामारी के शिकार हुए थे, जिनमें से 20 लाख रोगियों की मृत्यु भी हो गई थी। चेचक रोग का विषाणु (वायरस) मनुष्य के शरीर में ही पनपता है तथा एक मनुष्य के शरीर से दूसरे मनुष्य के शरीर में प्रवेश करता है। इस प्रकार इस रोग की शृंखला-सी बनी रहती हैं, किन्तु यदि यह शृंखला टूट जाये तो यह बीमारी समाप्त हो जाती है। पिछले दिनों कुछ ऐसा ही हुआ।

अभी कुछ दिन हुए अली से इस बारे में कुछ पूछ ताछ की गई। उसने यह बताया कि पिछले दो वर्षों से यह आवारा-सा फिरता रहता है, परन्तु उसने न तो भिखमंगी की है और न ही लूटपाट। किसी प्रकार जीवित रह रहा है। देखने-भालने में तो वह भला-चंगा लगता था। उसने अपनी आयु 28 वर्ष बताई परन्तु जब पूछा गया कि चेचक की बीमारी के समय वह कितना बड़ा था तो उस समय की अपनी आयु 17 वर्ष बताई। इस प्रकार उसे 32 बर्षों से अधिक का होना चाहिये था। स्वास्थ्य अधिकारियों के अनुसार उसकी आयु 39 वर्ष है।

बात कुछ वर्ष पहले की है। अली 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' (WHO) के प्रतिरक्षण दल में काम करता था। वह लोगों को टिटेनस व खसरे से बचने के टीके लगाया करता था। यह नौकरी उसे विशेष कारणों से मिली। चेचक से छुटकारा पाने के बाद अली की विशेष ख्याति हो गई थी।

प्लाट न० 4, 8 रेजिडेंसी रोड, जोधपुर - 342001

अली की कथा 1977 से आरम्भ हुई। उस समय वह सोमालिया के मरका नगर के अस्पताल में बाबर्ची का काम करता था। उन दिनों चेचक रोग से मुक्त नहीं हो पाया था, किन्तु चेचक रोग के कुछ चिह्न अभी शेष थे। उसी वर्ष अक्टूबर माह में दो बच्चे चेचक की संदिग्ध अवस्था में अस्पताल लाये गये थे। उसी समय वृत्त-चित्र बनाने का एक ऐसा दल नगर में आया था, जो चेचक के शिकार रोगियों से सम्बंधित फिल्म बनाना चाहता था। अली इसी दल के सदस्यों और चेचक रोग से ग्रस्त बच्चों के साथ अस्पताल से चेचक के दफ्तर तक गया था। दूरी केवल दो सौ मीटर की थी, बाद में वह उन्हें आइसोलेशन पड़ाव तक पहुँचाने भी गया था।

आश्चर्य की बात तो यह थी कि यद्यपि अली अस्पताल का कर्मचारी था और कुछ काल तक टीके लगाने के कार्यों में हाथ भी बँटाता था फिर भी, उसे चेचक का टीका नहीं लगा था। उसे टीका लगवाने से बहुत डर लगता था। वह यह समझता था कि इससे उसे कोई अन्य बीमारी लग जायेगी। उसने यह भी सुन रखा था कि, टीके में चेचक के जीवाणु उपस्थित रहते हैं और उन्हें ही शरीर में प्रवेश कराते हैं। असलियत यह है कि इस टीके को चेचक के जीवाणुओं से ही तैयार करते हैं। यह टीका मनुष्य को प्रतिरक्षा प्रदान करता है। बच्चों के साथ जाने की घटना के एक सप्ताह बाद अली को तीव्र ज्वर हो आया और उसके शरीर पर चेचक के 'दाने' प्रगट हो गये। अली पूरी तरह चेचक की चपेट में आ गया। वह तीव्र वेदना महसूस करने लगा और उसे ऐसा लगा जैसे उसके शरीर के अन्दर ज्वाला-सी धधक रही हो।

आरम्भ में तो किसी को भी विश्वास ही नहीं हुआ कि अली चेचक रोग से ग्रसित है, किन्तु पुष्टि होने पर 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' (WHO) के अधिकारी सन्न रह गये। सब कुछ उलटा-पलटा हो गया। एक स्वस्थ व्यक्ति बीमार हो गया। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अधिकारियों के मन में यह भी आशंका उत्पन्न हुई कि नगर निवासियों के चेचक से पूर्ण रूप से प्रतिरक्षित न होने के कारण चेचक महामारी के रूप में फैल सकता है। किन्तु उस समय अधिकारियों ने उपयुक्त कदम उठाये। अस्पताल बन्द कर उसकी पूरी नाकेबन्दी कर दी गई। नगर में आने वाले मार्ग तथा तीन पगडंडियों पर छान-बीन के दस्ते बैठा दिये गये और नगर में आ रहे सभी यात्रियों को टीके लगाये गये। दो सप्ताहों में पचपन हजार (55,000) टीके लगाये गये। उधर अली को लम्बे समय के लिये अकेले डेरे में रख दिया गया ताकि अली से किसी और को यह रोग न लग जाये।

स्वस्थ होने पर अली अस्पताल के बाबर्ची की नौकरी पर पुन: आ गया। एक वर्ष के पश्चात् सोमालिया के स्वास्थ मंत्रालय द्वारा उसका स्थानान्तरण नगर के दूसरे अस्पताल में हो गया। वहाँ वह सप्लाई के दफ्तर में बाबू का काम करता था। यहाँ एक अजीब घटना घटित हो गई। चार वर्षों की मुफलिसी के बाद एक दिन उसने अस्पताल से पौने दो लाख शिलिंग चुरा लिये। उस समय के अनुसार यह रकम अच्छी खासी थी। सोमालिया के कानून के अंतर्गत एक लाख शिलिंग चुराने वाले को मृत्यु दण्ड दिया जाता था। अली रकम चुरा कर उत्तरी नगर हरगोसा की ओर भागा और वहाँ से डिबूटी पलायन कर गया। भाग्य ने उसका साथ न दिया और उसकी हथियाई रकम किसी और ने चुरा ली। उधर डिबूटी में गैर कानूनी ढंग से घुसने के आरोप में उसे पैंतालीस दिन जेल की हवा खानी पड़ी।

उन्हीं दिनों 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' (WHO) ने अपने सोमालिया स्थित अधिकारी को आदेश दिया कि वह अली का पता लगाये क्योंकि उस समय तक विश्व में चेचक महामारी के अंतिम ज्ञात रोगी होने की ख्याति अली को प्राप्त हो चुकी थी। अधिकारी ने प्रादेशिक गवर्नर से भेंट की और अली के विशेष महत्व को समझाया और

बताया कि अली का नाम चिकित्सा के इतिहास में सुरक्षित हो चुका है। अधिकारी उसे स्वास्थ्य मंत्रालय में कर्मचारी के रूप में रखवाना चाहता था। अंतत: अली को चोरी के आरोप से मुक्त कर दिया गया और उसे प्रतिरक्षण कार्य में दक्ष बनाया गया। उसका कुछ नाम भी हो गया। एक भेंट-वार्ता में उसने डींग मारी कि राजधानी मोगाडीशू के एक विशेष समारोह में उसे पाँच हजार शिलिंग की राशि से सम्मानित किया गया था। बाद में 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' (WHO) के अधिकारियों ने बताया कि चेचक-उन्मूलन के दस वर्ष बीतने के अवसर पर मोगाडीशू में एक विशेष समारोह का आयोजन किया गया और उस अवसर पर अली को सम्मान स्वरूप फूलों का एक गुलदस्ता तो प्रदान किया गया था, परन्तु साथ में उसे कोई रकम नहीं दी गई थी।

अली-चेचक-प्रसंग के बाद की बात है कि 1978 में इंगलैंड के बरमिंघम नगर में एक दुर्घटना घटी। एक प्रयोगशाला में चेचक विषाणु के भण्डार का कुछ अंश वहाँ के वायुसंचार-तंत्र में प्रवेश कर गया। प्रयोगशाला के दो कर्मचारी चेचक के शिकार हो गये। इनमें से एक की मृत्यु भी हो गई। प्रयोगशाला के प्रभारी वैज्ञानिक ने ग्लानि से आत्महत्या कर ली। इस दुर्घटना ने संसार के वैज्ञानिकों को चेचक के विषाणु और रोग से बचने के उपायों को ढूँढ़ने के लिए पुन: प्रेरित किया। इस समय अमेरिका तथा रूस के वैज्ञानिक इसी विषाणु के डी एन ए (DNA) अनुक्रम का अध्ययन कर रहे हैं। उनके अनुसंधानों के सम्पन्न होने के पश्चात् ऐसी आशा है कि वैज्ञानिक निश्चित रूप से चेचक रोग पर अंतिम निर्णायक विजय प्राप्त कर लेंगे।

■ ■

आइज़क आसिमोव

नरविजय सिंह यादव

विज्ञान कथाओं में तनिक भी रुचि रखने वाले लोग **आइजक आसिमोव** के नाम से जरूर वाफिक होंगे। उन्होंने करीब तीस वर्ष के अन्तराल में 467 पुस्तकें लिखीं। विश्व भर से प्रकाशित अखबारों और पत्रिकाओं में 400 से ज्यादा विज्ञान स्तम्भ लिखे। भारत में प्रकाशित 'सण्डे मेल' साप्ताहिक में उनका नियमित विज्ञान स्तम्भ 'लास्ट वर्ड' नाम से छपता था।

जटिल तथ्यों को बड़ी सरलता से पेश करने का उनका यह सिलसिला गत वर्ष 7 अप्रैल को थम गया। उन्हें गुर्दे की बीमारी थी। न्यूयार्क विश्वविद्यालय के अस्पताल में यह विलक्षण प्रतिभा सदा के लिए सो गयी।

आसिमोव वैज्ञानिक तथ्यों को इतने सरल शब्दों में प्रस्तुत करते थे कि गम्भीर से गम्भीर विषय का सामान्य जानकारी रखने वाला व्यक्ति भी समझ ले। उनके लेखन के विषय रोबोट से लेकर अंतरिक्ष के रहस्यों और शरीर रचना से लेकर गणित की गुत्थियों तक रहे। उनके लिए हर साल दस से भी अधिक किताबें लिखना सामान्य

विज्ञान पत्रकार, आई-12, सेक्टर-12, नोएडा-201301

सी बात थी। उन्होंने न सिर्फ विज्ञान, बल्कि इतिहास, कला और व्यंग्य से जुड़े विषयों को भी छुआ। इस बात का प्रमाण है—1971 और 1972 में प्रकाशित उनकी पुस्तकें : 'सन्सुअस डर्टी ओल्ड मैन' और 'द शेपिंग ऑव फ्रांस'।

शारीरिक कष्ट

बीमार तो वह पहले से ही रहते थे। सन् 1977 में उन्हें दिल का पहला दौरा पड़ा। इसके बाद 1983 में उनके हृदय की तीन बार शल्य-क्रिया की गयी। इस वर्ष के शुरू में ही प्रोस्टेट ग्रंथि की शल्यक्रिया से भी उन्हें काफी तकलीफ रही थी। इससे उनका लेखन भी प्रभावित हुआ।

बचपन

शिक्षा के लिहाज से आसिमोव **जैव-रसायनशास्त्री थे**। उनका जन्म **2 जनवरी 1920 को पूर्व सोवियत संघ के पैत्रोविशी नामक स्थान पर हुआ था**। उनके पिता **जूदाह आसिमोव** बुकलिन में कैण्डी की दुकान चलाते थे। नन्हें आसिमोव उस वक्त पिता के काम में हाथ बँटाने के साथ-साथ विज्ञान कथाओं में भी दिलचस्पी लेने लगे थे।

आसिमोव ने दो बार विवाह किया। पहली पत्नी **श्रीमती गेरट्रयूड ब्लूगरमान** (1942) से एक पुत्र और एक पुत्री का जन्म हुआ। उनकी दूसरी **शादी 1973 में जैनेट जेप्सन के साथ हुई**।

आसिमोव ने रसायनशास्त्र में **कोलम्बिया** विश्वविद्यालय से उच्च उपाधियाँ हासिल कीं। वह बोस्टन विश्वविद्यालय में **जैव-रसायनशास्त्र के अध्यापक बने**। बाद में, **1951-55 के बीच सहायक प्रोफेसर रहे**। तत्पश्चात् **1979 तक वहीं एसोसियेट प्रोफेसर के रूप में कार्य किया**।

प्रकाशित पुस्तकें

उनके शुरूआती दौर के तीन उपन्यासों को 1966 में विशेष 'ह्यूगो पुरस्कार' मिला। सन् 1950 में लिखी 'आई रोबोट' भी चर्चित कृति रही।

आसिमोव की अन्य प्रमुख पुस्तकें इस प्रकार हैं—द ह्यूमन बॉडी (1963), द ह्यूमन ब्रेन (1964), न्यू इन्टेलीजेन्ट मेन्स गाइड टु साइन्स (1965), आसिमोव्स बायोग्राफिकल एन्साइक्लोपीडिया ऑव साइन्स एण्ड टेक्नोलॉजी (1964), अण्डरस्टैंडिग फिजिक्स (1966), द यूनीवर्स (1966), इज एनीवन देअर (1967), आसिमोव्स गाइड टु द बाइबल (1968), फोटोसिन्थेसिस (1969), सोलर सिस्टम एण्ड बैक (1970), ट्रेजेडी ऑव द मून (निबन्ध-संग्रह (1974), आईज ऑन द यूनिवर्स (1975), द कोलैप्सिंग यूनिवर्स (1977), मार्स-द रेड प्लैनेट (1977), आसिमोव्स बुक ऑव फैक्ट्स (1979), द सन साइन्स ब्राइट (1981), द कम्पलीट रोबोट (1982), द मिक्स्ड अप रोबोट (1983), द रोबोट्स ऑव डॉन (1983), रोबोट्स एण्ड एम्पायर (1986), और द डैन्जर्स ऑव इंटैलिजेंस (1986)।

लौह तत्व और उसकी प्रक्रिया

श्रीमती मीनाक्षी कच्छवाहा*

अन्य तत्वों की तरह लौह का भी प्रकृति में महत्वपूर्ण स्थान है। लौह पृथ्वी पर चौथा सब से अधिक मात्रा में पाया जाने वाला तत्व है। यह गंधक तथा ऑक्सीजन व सिलिका के साथ अत्ययन्त स्थायी यौगिक बनाने की शक्ति रखता है। यह दो ऑक्सीकरण अवस्थाओं में पाया जाता है, +2 तथा +3। Fe^{+2} रूप अँनाक्सीकारी तथा अल्प अम्लीय अवस्था में ही विद्यमान रह सकता है। पी-एच 5 से ऊपर ऑक्सीकारी अवस्था में इसकी सान्द्रता 0·01 अंशदशलक्षांश से अधिक नहीं होती है। अधिक पी-एच होने पर यह या तो कार्बोनेट के रूप में या सल्फाइट अथवा सिलिकेट रूप में अवक्षेपित हो जाता है। इसके कार्बनिक संकुल ही उच्च पी-एच पर स्थायी रह सकते हैं। अन्य संक्रमण तत्वों की भाँति अनेक स्थायी संकुलों के निर्माण की क्षमता लौह में भी है। मिट्टियों में यह $Fe(HO)_3$ के रूप में ही रहता है। Fe^{+2} रूप में अम्लीय अवस्था के ही अन्तर्गत् उपस्थित रह सकता है।

फेरस लौह के उपचयनित होने से फेरिक लौह बनता है। इस क्रिया में लौह की संयोजकता में वृद्धि होती है। किन्तु तथ्य यह है कि फेरस लौह से एक इलेक्ट्रॉन निष्कासित हुआ और वह घन आविष्ट हो गया, क्योंकि इलेक्ट्रॉन ऋण आविष्ट है।

भारतीय मिट्टियों में 0.46-275% व विश्व की विभिन्न मिट्टियों में 10,000-100,000 अंश प्रति दशलक्षांश पाया जाता है। मिट्टियों में लौह की प्रचुर मात्रा पाई लाती है अतः प्रारम्भ में यह स्थूल तत्व के रूप में परिगणित होता था, किन्तु कालान्तर में यह सूक्ष्म-मात्रिक तत्व की श्रेणी में आ गया है।

लौह की कमी से पेड़-पौधों की नई पत्तियाँ हरिमाहीन हो जाती हैं, लेकिन मुख्य शिराएँ हरी रहती हैं। पत्तियों के डंठल छोटे तथा पतले पड़ जाते हैं और उन्हें अंगमारी या रोजेटिंग रोग हो जाता है।

आजकल धान उगने वाले क्षेत्रों में लौह तथा जस्ता (Zn) का विशेष महत्व है। धान की खेती जलमग्न मिट्टियों में होती है। ऐसी मिट्टियों में लौह की उपलब्धि बढ़ती है। सामान्यतया मिट्टियों में फेरिक रूप में ही रहता है। जलमग्न मिट्टियों में यह फेरस तथा अविलेय दोनों रूपों में पाया जाता है।

समुद्री जल में हेलोजनों के अतिरिक्त ताँबा और लौह की भी प्रचुर मात्राएँ पायी जाती हैं। कुछ समुद्री वनस्पतियाँ (विशेषतया शैवाल) समुद्री जल में से तत्वों का संचय करने की अपार क्षमता रखती हैं। समुद्री जल में लौह तत्व का संघटन 2×10^{-7} (भार के अनुसार) होता है। नदियों के जल में लौह तथा एल्यूमिनियम (Al) की प्रचुर मात्राएँ पायी जाती हैं।

---

* कनिष्ठ वैज्ञानिक सहायक, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर-342001

विभिन्न शैलों में सूक्ष्ममात्रिक तत्वों का वितरण निम्न प्रकार रहता है—

	आग्नेय शैल		अवसादी शैल		
तत्व	ग्रेनाइट	बैसाल्ट	चूना पत्थर	बलुआ	शैल
लौह	27,000	86,000	3800	9800	47000

अवसादी शैलों में मुख्य अपक्षय कार्यशील रहता है, जिसमें आयनन-विभव, पी एच, ऑक्सी-अपचयन-विभव जैसे कारक हाथ बंटाते हैं।

यह भी ज्ञात है कि पशुओं के स्वस्थ रहने के लिए उनके चारे में प्रति किलोग्राम शुष्क भार पर 50 कि० ग्रा० लौह विद्यमान रहना चाहिये।

पशुओं में सूक्ष्ममात्रिक तत्वों का संघटन

	अवयव	मुर्गी	मनुष्य	सुअर	बिल्ली	खरगोश	चूहा
शरीर भार	कि० ग्रा०	2.0	65	125	4.0	2.6	0.35
संघटन	मि० ग्रा०	40	75	90	60	60	60

पशुओं में लौह की अनिवार्यता की खोज सर्वप्रथम अश्व (घोड़ा) के रक्त के हीमोग्लोबिन में की गई।

मानव शरीर के लिए लौह अति आवश्यक तत्व है। शरीर में लौह तत्वों की कमी, एनीमिया (रक्ताल्पता) रोग अर्थात् खून की कमी को जन्म देती है। लेकिन आवश्यकता से अधिक लौह एनीमिया से भी अधिक खतरनाक बीमारी "हीमोक्रोमेटोसिस" का कारण बनती है। यह बीमारी मधुमेह, यकृत सिरोसिस, गठिया, हृदय रोग तथा पुरुषों में नपुंसकता को जन्म देती है।

पशु द्वारा प्राप्त खाद्य पदार्थ में (दूध व मक्खन में) सब्जियाँ विशेष रूप से हरी पत्तियों वाली सब्जियाँ व फल लौह के मुख्य स्रोत हैं। लौह की मानव शरीर में दैनिक आवश्यकता कम से कम 12 मि०ग्राम व ज्यादा से ज्यादा 15 से 20 मि०ग्राम प्रतिदिन है।

गर्भवस्था में भी लौह का महत्वपूर्ण स्थान है। इस दौरान 550 मि०ग्राम लौह की जरूरत होती है भ्रूण बनने के लिए (400 मि०ग्राम भ्रूण में रहता है), 100 मि०ग्राम प्लैसेन्टा में व 50 मि०ग्राम यूटराइन मांसपेशियों में। इस तरह एक महिला में लौह की क्षति, गर्भावस्था के दौरान तकरीबन 680 मि०ग्राम होती है अगर वह शिशु को अपना दूध पिलाती है। अन्यथा 500 मि०ग्राम। इसलिए गर्भवती महिलाओं को लौह का सेवन अधिक मात्रा में करना चाहिये। शिशुओं में तीन महीने बाद उनके भोजन में लौह की वृद्धि कर देनी चाहिये क्योंकि दूध में लौह की कमी होती है व शिशु एनीमिया के शिकार हो सकते हैं। शिशुओं के फिटल यकृत में लौह का काफी संग्रह होता है, जो कि पहले तीन महीने में काम आता है।

लौह तत्वों की कमी से रक्त में हीमोग्लोबिन की मात्रा भी कम हो जाती है। हमारे खून की प्रोटीन हीमोग्लोबिन की रचना लौह अणुओं से मिलकर ही होती है। रक्त का सबसे महत्वपूर्ण काम साँस लेने से फेफड़ों में आयी हुई ऑक्सीजन को शरीर की सारी कोशिकाओं तक पहुँचाना है। ऑक्सीजन की उपस्थिति में ही कोशिकाएँ पोषक का ऑक्सीकरण करके शरीर के लिए आवश्यक ऊर्जा प्राप्त करती हैं। विभिन्न कोशिकाओं तक ऑक्सीजन को ढोने का काम हीमोग्लोबिन ही करती है।

लौह तत्व एंजाइम की क्रिया में सहायता करते हैं। यदि जीवाणु के मीडिया से लौह तत्व (Fe) निकाल दिया जाय, तो लौह से युक्त एंज़ाइमों की क्रिया कम होती जाती है। लौह युक्त एंज़ाइमों (कार्बोनिक एनाहाइड्रेट्स बहुत से डीहाइड्रोजेनेसेस) में यह तत्व एक मुख्य घटक है।

जंतुओं में लौह (Fe^{++}) का महत्वपूर्ण स्थान है। लौह हीमोग्लोबिन का मुख्य घटक है। हीमोग्लोबिन रक्त में रहकर ऑक्सीजन के साथ क्रियान्वान्तित होता है और इस कारण शुद्ध रक्त का प्रसार होता है। मनुष्य के शरीर में संपूर्ण लौह (4.3 ग्राम प्रति 70 किलोग्राम शरीर-भार) का 70% हीमोग्लोबिन में रहता है; 3% मायोग्लोबिन में रहता है और शेष भाग फेरिटिन नामक यौगिक में रहता है। यह लौह के लिए एक कोषागर है अथवा इसे लौह संग्रही यौगिक कह सकते हैं। फेरिटिन यकृत प्लीहा और अस्थिमज्जा में पाया जाता है।

खाद्य पदार्थों से जंतुओं द्वारा लौह अत्यंत न्यून मात्रा में शोषित होता है। लौह के पूर्ण रूप से शोषित होने के लिए खाद्य पदार्थों में ताम्र की उपस्थिति आवश्यक होती है।

OO

एड्स : भयानक मौत का संकेतक

विजय शंकर पान्डेय 'पुष्प'

एड्स शब्द अपने आप में काफी भयावह है तथा किसी भी परिचय का मोहताज नहीं है। यह एक विषाणु जन्य रोग है और एक्वायर्ड इम्यूनो डिफिशिएँसी सिन्ड्रोम के संक्षेपाक्षरों से बना है तथा अंग्रेजी के इस शब्द को हिन्दी में 'अर्जित रोग क्षमहीनता संलक्षण' कहा जाता है। यह एक विश्वव्यापी विभीषिका है जिससे विश्व भर के चिकित्साशास्त्री एवं वैज्ञानिक चिन्तित हैं तथा पिछले एक दशक के अथक परिश्रम के बावजूद भी उनके हाथ असफलता ही लगी है। सर्वाधिक दुःखद पक्ष तो यह है कि संक्रमण के पाँच-सात वर्षों बाद तक रोगी में बाह्य लक्षण दिखाई नहीं पड़ते हैं और जब इसके बारे में जानकारी मिलती है उस समय रोगी उपचार के दायरे से बाहर निकल चुका होता है, मगर इस बीच भी वह अपने रक्त और वीर्य (Semen) के द्वारा स्वस्थ व्यक्ति को संक्रमित कर सकता है।

मरवटिया उर्फ जोगिया, भरवलिया वाया बानपुर, बस्ती-272001 (उ० प्र०)

इस महामारी का इतिहास अभी 25-30 वर्ष पुराना ही है। इसकी उत्पत्ति अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में एक साथ हुई थी। अफ्रीका के युगांडा, तंजानियाँ, ज्येरे आदि देशों में एड्स के मरीज सर्वप्रथम पाये गए थे। इसका पहली बार जिक्र एक अमेरिकन माध्यम से हुआ था, उस समय यह अनुमान था कि विश्व में एक लाख लोग ऐसे हैं जिनके शरीर में एड्स के विषाणु उपस्थित है। वैज्ञानिकों ने उस समय यह दावा किया था कि आगामी दो वर्षों में इस महामारी का निश्चित निदान खोज लिया जाएगा मगर दुर्भाग्य से एक दशक की लम्बी अनुसंधान-यात्रा के बाद भी विशेषज्ञ अनजानी राहों पर भटक रहे हैं और उनके दावे निष्फल होते जा रहे हैं।

अप्रैल 1985 में अमेरिका के स्वास्थ्य विभाग और 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के संयुक्त तत्वावधान में प्रथम एड्स सम्मेलन का आयोजन किया गया था, जिसमें यह तथ्य प्रकाश में आया कि 'एड्स एक विषाणु जन्य रोग है और इसके विषाणु के वाहक हैं अफ्रीका में पाए जाने वाले हरे बंदर (मैकाकरीसस) : सवाना बन्दर के नाम से प्रसिद्ध काले छोटे मुँह, हरीपीठ, वक्ष और उदर हल्का भूरा अथवा सफेद होने के कारण यह काफी आकर्षक होते हैं। इसी से प्रेरित होकर अफ्रीकी इन्हे पालते हैं और काटे जाने पर एड्स ग्रस्त हो जाते हैं।

संक्रमण

एड्स के विषाणु किस प्रकार एक स्वस्थ शरीर को संक्रमित करते हैं, यह भी एक जटिल प्रक्रिया है। हारवर्ड विश्वविद्यालय के मैक्स एसेक्स की रिपोर्ट के मुताबिक जब हरे बन्दरों के शरीर में रोग क्षमहीनता संलक्षण रोग से ग्रस्त 'रीसस' बन्दरों के रक्त से विलग किए गए विषाणु प्रविष्ट कराये जाते हैं तो इनका शरीर इन विषाणुओं का सामाना करने के लिए शक्तिशाली एण्टीबाडी का निर्माण करती हैं। रीसस बन्दरों का यह रोग मानव के एड्स जैसा ही है। इन बन्दरों के काटने अथवा इनका मांस खाने से इसके विषाणु मानव शरीर में पहुँच कर उसे संक्रमित करते हैं। आश्चर्य तो यह है कि अफ्रीका के 80% निवासी ऐसे हैं जिनमें यह विषाणु पाये जाते है मगर फिर भी वे पूर्णतया स्वस्थ हैं।

एड्स के विषाणुओं को वैज्ञानिकों ने एच० टी० एल० वी० (ह्यूमन टी लिम्फोसाइट वायरस) 111 एल० ए० वी० और एच०वी०आई० का नाम दिया है। यह एक धीमा वायरस है जो शरीर की प्रतिरोधक क्षमता को पूर्णतया नष्ट कर देती है। यह सर्वप्रथम लिम्फोसाइट्स (WBC) श्वेत रक्त कणिकाओं के एक विशेष समूह टी कोशिकाओं पर आक्रमण करता है तथा बाद में वी कोशिकाओं और माइक्रोफेजेज को भी नष्ट कर देता है। टी4 कोशिकाओं के नष्ट होते ही एण्टीबाडी का निर्माण ठप हो जाता है फलतः शरीर की सम्पूर्ण सुरक्षा प्रणाली नष्ट होने के कारण रोगी काल कवलित हो जाता है। वैज्ञानिकों के अनुसार सक्रिय होने पर यह विषाणु इतनी शीघ्रता से म्यूटेशन द्वारा लिम्फोसाइटस का विनाश करते हैं कि किसी भी औषधि को असर करने का मौका ही नहीं मिलता है।

एड्स के लक्षण

रोगी की स्वाभाविक प्रतिरोधक क्षमता के पूर्ण रूप से नष्ट हो जाने के कारण रोगी में फ्लू, वायरल फीवर जैसे रोगों के लक्षण परिलक्षित होते हैं। इन लक्षणों में प्रमुख रूप से सर्दी-जुकाम, थकान, वजन में कमी, लिम्फोनोड्स में सूजन आदि है। इन लक्षणों को 'एड्स रिलेटेड काम्पलेक्स' कहते हैं। कई मरीजों में अकारण फेफड़ों का कैंसर भी

हो जाता है जिसे पी० सी० पी० कहा जाता है। चिकित्सकों ने इसे 'अवसरवादी संक्रमण' की संज्ञा प्रदान की है। अधिक विकसित होने पर रोगी को 'कापोसी का त्वचा कैंसर' (कापोसीज सारकोमा) भी हो जाता है। कभी-कभी ऐसे रोगी के गालों पर सफेद दाग और उसके पास रोयें भी पाए जाते हैं। कापोसी सारकोमा से ग्रस्त रोगी के मुख और गले में कैंडिडा एल्बिकल नामक कवक का संक्रमण भी पाया जाता है, जिससे रोगी की मानसिक शक्ति क्षीण हो जाती है, स्मरण शक्ति कमजोर हो जाती है। किसी घटना अथवा बात पर वह जोर नहीं डाल पाता है। शरीर में ऐंठन महसूस होती है तथा चाल लड़खड़ाने लगती है। एड्स रोगी का वजन 10% तक कम हो जाता है। काफी समय तक दस्त और बुखार की शिकायत रहती है। इसके अलावा कभी-कभी खांसी का क्रम एक माह या इससे अधिक समय तक चलता है, शरीर में खुजली होती है तथा मुँह और गले में खराश होती है। जिन व्यक्तियों में इन लक्षणों में से लक्षण पाए जाएँ उन्हें रक्त की जाँच अविलम्ब करानी चाहिए।

एड्स के विषाणु कैसे फैलते हैं ?

एड्स वायरस के संक्रमण का सबसे सशक्त माध्यम है यौनाचार। इस रोग के विषाणु आमतौर पर व्यक्ति में खून लेने-देने से, वीर्य या योनिस्राव के सम्पर्क में आने पर प्रविष्ट होते हैं। इसके अलावा यह इंजेक्शन वाले नशेड़ियों में भी संक्रमित सूई के माध्यम से पहुंच जाते हैं। यौनाचार में भी एड्स वायरस सर्वाधिक समलैंगिक सहवास या वैश्यागमन के माध्यम से अधिक फैलते हैं। विश्व के 50% मरीज यौनाचार से ही संक्रमित हुए हैं, जबकि 23% लोग ड्रग्स के कारण, 15-18% रक्त प्रदाय के कारण और शेष संक्रमित माताओं से जन्म लेने वाले बच्चे हैं। सर्वाधिक गरीब देशों में एड्स की भयावहता किसी शांत बम की भाँति अपने कब्जे में लेती जा रही है।

भ्रान्तियां

प्राय:लोगों की धारणा है कि एड्स मरीज़ के साथ रहने, उठने-बैठने, खेलने, जूठा खाने-पीने तथा एड्स वाली माँ के स्तनपान कराने से फैलता है, जबकि ऐसा नहीं होता है। एड्स रोगी के साथ मात्र यौन-सम्पर्क, रक्त-स्थानान्तरण के द्वारा ही एड्स फैलता है अतः इन भ्रान्तियों का निराकरण आवश्यक है।

वर्तमान स्थिति

आज एड्स विश्व का सर्वाधिक भयानक रोग हो गया है। इस समय विश्व में करीब एक करोड़ सत्तर लाख लोग एड्स ग्रस्त हैं, जिनमें से 70% अफ्रीकी हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार आगामी 15 वर्षों में युगंडा की आबादी वृद्धि दर 20% कम हो जाएगी। अफ्रीकी बच्चे भी तेजी से एड्स से ग्रस्त होते जा रहे हैं। यूनीसेफ की एक रिपोर्ट के मुताबिक आगामी दशक में एड्स की विभीषिका के कारण कम से कम 15 लाख अफ्रीकी बच्चे अनाथ हो जाएँगे, क्योंकि तब तक उनके अभिभावकों को एड्स अपनी आगोश में लेकर मौत की नींद सुला चुका होगा। अफ्रीका के अलावा 16% एड्स के रोगी अमेरिकी नागरिक हैं जबकि 9% अमेरिकी उपमहाद्वीप में बसते हैं तथा 5% करीब यूरोप के निवासी हैं। शेष आस्ट्रेलिया और एशिया के नागरिक हैं। एशिया में थाइलैण्ड एड्स की संक्रामकता से सबसे अधिक ग्रस्त है। यहाँ वेश्यावृत्ति अधिक होने के कारण यह रोग अधिक प्रभावी है। थाइलैन्ड सरकार की सूचना के अनुसार दो से चार लाख लोगों के शरीर में एड्स के विषाणु मौजूद हैं, जबकि निजी विशेषज्ञ दलों की धारणा है कि यह संख्या 15 लाख है, जो वहाँ की आबादी का एक बड़ा हिस्सा है। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' की एक रिपोर्ट के अनुसार

सन् 2000 तक थाइलैण्ड में एड्स रोगियों की संख्या 20-40 लाख के बीच हो जाएगी। थाइलैण्ड के एड्स पीड़ियों में 50% बच्चे हैं। वहाँ प्रतिदिन 40000 पुरुष वेश्यागमन करते हैं, जो एड्स प्रसार का प्रमुख माध्यम है। पुरुष अपनी यौनतृप्ति के लिए वेश्यालय जाते हैं, जहाँ से भयानक और क्रूर मौत का उपहार लेकर ही वापस आते हैं। समझा जाता है कि एड्स का विषाणु आज से 8-12 वर्ष पूर्व बैंकाक के विलासी क्लबों के माध्यम से थाइलैण्ड में प्रविष्ट हुआ था, जो आज सम्पूर्ण थाइलैण्ड को अपनी गिरफ्त में लेता जा रहा है। यौनाचार का सबसे अधिक प्रभाव महिलाओं पर ही पड़ता है।

विश्व के समस्त एड्स रोगियों में 36% महिलाएँ हैं, जो सन् 2000 तक बढ़कर 50% हो जाएँगी। पुरुष की अपेक्षा महिलाओं के अपने साथियों के यौन सम्पर्क में आने पर एड्स रोग से ग्रस्त हो जाने की संभावना अधिक होती है। एक अनुमान के अनुसार सन् 2000 तक थाइलैंड की 15 लाख औरतें और उनके एक तिहाई बच्चे एड्स ग्रस्त हो जाएंगे। सहारा मरुस्थल के निकटस्थ देशों में 2.5% एड्स के मरीज हैं, जबकि प्रतिघंटे होने वाले 200 मरीजों में आधे अफ्रीकी नागरिक होते हैं। अमेरीकी सुपरस्टार राक हडसन और ब्रिटेन के भूतपूर्व मंत्री लार्ड एवन की मृत्यु एड्स की विभीषिका से ही हुई थी। अभी तक कोई भी मामला ऐसा नहीं सामने आया है जिसमें एड्स रोगी जिन्दा बचा हो।

भारत में एड्स

एड्स के परिप्रेक्ष्य में भारत की स्थिति भी विशेष चिन्ताजनक है। भारत में एड्स का विषाणु सर्वप्रथम 1981-83 में मद्रास की एक वेश्या में पाया गया था। उसके तुरन्त बाद बम्बई की एक लाख वेश्याओं पर किए गए परीक्षण से यह पता चला कि इनमें से 1% एड्स से ग्रस्त हैं। आज यह 35% हो गया है। जुलाई 91 तक भारत में मात्र 65 लोग एड्स से प्रभावित थे। नई दिल्ली के अधिकारियों के अनुसार करीब 10 लाख लोगों के शरीर में एड्स के विषाणु घर कर चुके हैं, जब कि मद्रास के एड्स विशेषज्ञ डॉ॰ जैकब जॉन के अनुसार यह संख्या करीब 25 लाख है।

भारतीय एड्स पीड़ितों में 40% उत्तर पूर्वी राज्य मणिपुर और नागालैण्ड के हैं। हमारे यहाँ जहाँ एक वर्ग ड्रग्स के सेवन के कारण एड्स से पीड़ित हुआ, वहीं एक बड़ा वर्ग ऐसा भी है जो किसी का रक्त लेने के कारण एड्स ग्रस्त हुआ। भारत में रक्त प्रदाय की कोई भी सुरक्षित प्रणाली विकसित नहीं हो पायी है। यहाँ प्रायः लोग पैसे के लोभ में रक्त बेंचते हैं। देश के अधिकांश चिकित्सा केन्द्रों पर इसकी जाँच की कोई सुविधा नहीं है कि अमुक व्यक्ति के शरीर में एड्स के विषाणु उपस्थित हैं। गत वर्ष दिल्ली में हुए एक परीक्षण से पता चला कि उस दिन दान किए हुए रक्त नमूनों में से 499 एच टी एल वी III से ग्रस्त थे।

वैज्ञानिक उपलब्धि

एक दशक की लम्बी अनुसंधान यात्रा से गुजरने के बाद भी वैज्ञानिक किसी निश्चित उपचार को खोजने में असफल रहे हैं। पेरिस के पाश्चर संस्थान के वैज्ञानिकों ने एच पी ए की घोषणा की थी, मगर वह विशेष प्रभावी न हो सकी। कुछ प्रचलित ओषधियों में, जिनसे एड्स रोगी की आयु दो-तीन साल बढ़ाई जा सकती है—सुरामीन, एजिडोथायमिडीन, अल्फा इंटरफेरास और फास्का सेट प्रमुख हैं। अमेरिका स्थित 'नेशनल इंस्टीट्यूट ऑव एलर्जी

एण्ड इन्फेक्शस डिजिजेज् के निदेशक डॉ० एन्थोनी फुकी की घोषणा के अनुसार सुरामीन एच टी एल वी को रिवर्स ट्रांसक्रिप्टेज एन्ज़ाइम का निर्माण नहीं करने देती है तथा इसे लिम्फोसाइट्स पर संक्रमण करने से भी रोकती है।

जुलाई 92 में एमस्टर्डम में आयोजित आठवें विश्व एड्स अधिवेशन में ऐसे भी तथ्य सामने आये हैं जिसमें मरीज के शरीर में एच टी एल वी III विषाणु नहीं थे। फिर भी, रोगी की दशा एड्स के मरीज जैसी ही थी। इससे यह स्पष्ट हुआ है कि बिना एच टी एल वी III के भी एड्स हो सकता है और एड्स का कोई नया विषाणु बना है जो वैज्ञानिकों के लिए एक नई चुनौती है तथा इस पर उन्हें नए सिरे से अनुसंधान करना है। सब मिलाकर इस अधिवेशन में वैज्ञानिकों की कुंठा और हताशा ही स्पष्ट हुई है। वैज्ञानिकों की इस हताशा को न्यूयार्क के मार्क हैरिंग्टन अपनी इस घोषणा से और भी बढ़ा देते हैं कि हम लड़ाई हार चुके हैं। हमारे पास जो ओषधियाँ उपलब्ध हैं, वे रोगी की उम्र दो तीन साल के लिए बढ़ा तो सकती हैं मगर उसके पश्चात् ? मौत···इस प्रकार एड्स एक लाइलाज और जानलेवा महामारी है। इससे बचाव द्वारा ही मुक्ति मिल सकती है।

कैसे बचें ?

एड्स के बारे में व्यापक जन-जागरण द्वारा लोगों को जानकारी दें। रक्त ग्रहण करने से पूर्व एड्स वायरस की जाँच करायें। समलैंगिक सहवास से बचें। अपने जीवनसाथी के अतिरिक्त किसी के साथ भी यौन-सम्पर्क न करें। नशीली दवाओं की सूईयाँ आपस में एक दूसरे को न लगाएँ। वेश्याओं को विशेष रूप से जाग्रत करें। एड्स ग्रस्त माताएँ गर्भ धारण न करें। एड्स रोगी को उपेक्षा की जगह अपनापन और सहानुभूति दें। एड्स एक संक्रामक रोग है अतः इससे आसानी से बचा जा सकता है।

बहरहाल, हाल ही में भारत सरकार के स्वास्थ्य मंत्रालय ने प्रसिद्ध एड्स विशेषज्ञ डॉ० ईश्वर गिलाडा के अथक परिश्रम के उपरान्त एक व्यापक राष्ट्रीय कार्य योजना की घोषणा की है, जो एक शुभ संकेत है, बशर्ते इसका कड़ाई से अनुपालन किया जाए। इस सम्बन्ध में स्वयं-सेवी संस्थायें और संगठन, दृश्य-श्रव्य प्रचार माध्यम काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

OO

विषाणु : जो शरीर में मेहमान की तरह घुसते हैं

प्रेमा राय

कई जानलेवा बीमारियों का कारण हैं विषाणु। ये जब हमारे शरीर में प्रवेश करते हैं, तो शरीर इनका स्वागत किसी विशेष मेहमान की तरह करता है। फिर तो विषाणु ऐसे करते हैं जैसे किसी अपराधी को किसी कारखाने की चाबी मिल जाए और वह चोरी-छिपे कारखाने में घुसकर उसकी मशीनरी चलाने लगे या सारा माल लूट कर ले जाए। दुनिया भर में इन विषाणुओं के ऊपर शोधकार्य जारी है। वैज्ञानिकों की पकड़ से अभी और कितनी दूर हैं विषाणु, इसकी जानकारी देता यह तथ्यपरक आलेख।

विषाणु अर्थात् वायरस (Virus) शब्द लैटिन भाषा का है और इसका अर्थ है पतला तरल दुर्गन्ध और विषयुक्त पदार्थ। वास्तव में विषाणु अपने नाम के अनुरूप ही हैं। आक्रमणकारी विषाणु अत्यंत सूक्ष्म छोटे-से पिन के सिरे के लगभग सोलह हजारवें भाग के बराबर होता है। विषाणु मूलतः थोड़े से आर एन ए को घेरे प्रोटीन से भरे दोहरी सतह वाला आवरण होता है, जिसमें एक तंतु आनुवंशिक अणु का होता है। जब कोई विषाणु मानवीय कोशिका में प्रवेश करता है तो उसकी स्थिति किसी तालाब में हाथ-पाँव मारते शिशु जैसी होती है। यह कोशिका से हजारों गुना छोटा होता है, लेकिन प्रोटीन के आवरण में लिपटे आनुवंशिक पिंड होने के कारण शीघ्र ही स्थिति पर काबू पा लेता है। विषाणु के आनुवंशिक द्रव्य में डी. एन. ए. और आर. एन. ए. होता है। कोशिका में भी ये रसायनिक पदार्थ होते हैं, अतः वह विषाणु वंशत्व (जीव) को हमलावर नहीं मानती।

फिर तो विषाणु का वंशत्व भी वही भाषा बोलता है जो मानवीय वंशत्व बोलता है। दोनों ही वंश तत्वों की भाषा की वर्णमाला भी समान है। पर उनके वर्गक्रम भिन्न हैं। इस प्रकार विषाणु कोशिका के संसाधनों का खुलकर उपयोग कर पाते हैं। यहाँ विषाणु ऐसे करते हैं जैसे किसी अपराधी को किसी कारखाने की चाबी मिल जाए और वह चोरी-छिपे कारखाने में घुसकर उसकी मशीनरी चलाने लगे या माल लूट कर ले जाए। वास्तव में विषाणु आरम्भ में अपनी आनुवंशिक द्रव्य की सौ या अधिक नकलें तैयार करते हैं। फिर ये नकली द्रव्य कोशिका का प्रोटीन लूट लेते हैं और विषाणुओं की एक बहुत बड़ी सेना तैयार कर लेते है। लेकिन शरीर की प्रतिरक्षा व्यवस्था भी बड़ी गुप्तचर है। शरीर में बड़ी कोशिकाएँ (मैक्रोफेज व बृहत भक्षक कोशिका), इस छोटे से बाहरी तत्व को शीघ्र भाँप लेती है और फौरन प्रतिरक्षा व्यवस्था को सावधान कर देती है। फिर प्रतिरक्षा व्यवस्था कोशिकाओं के समूह को संगठित करना शुरू कर देती है।

मानव जाति बहुत लम्बे समय तक विषाणुओं से परिचित न होकर भी उनके द्वारा पहुँचाई गई क्षति से होने वाली हानियों से परिचित थी। तीन हजार वर्ष से भी पूर्व से उत्पन्न रोग चेचक के लिए पहला सुरक्षित टीका

डी-690, सरस्वती बिहार, दिल्ली-110034

लगाने की दवा 18वीं शताब्दी में ब्रिटेन के एक डॉक्टर ए० जेनर द्वारा खोजी गई। जेनर ने विषाणु-संक्रमण से बचाव के लिए एक ग्वालिन के गो-चेचक (चेचक का लघु रूप) के दोनों द्रव्य पदार्थ लेकर एक लड़के को टीका लगाया और सिद्ध किया कि उस लड़के ने चेचक के विरूद्ध असंक्राम्यता प्राप्त कर ली थी।

19 वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध जीवाणु विज्ञान का स्वर्णयुग कहा जाता है। इन्हीं दिनों वैज्ञानिकों को इन सूक्ष्मजीवों के अस्तित्व पर संदेह हुआ जो संक्रमण फैलाने वाले उन जीवाणुओं से भी सूक्ष्म हैं जिन्हें माइक्रोस्कोप से देखा जा सकता है।

आजकल पूरे विश्व में तहलका मचा देने वाले लोग एड्स का विषाणु प्राय: शारीरिक संसर्ग के बाद व्यक्ति की रक्तधारा में प्रवेश कर जाता है। एड्स विषाणुओं का सबसे विशेष गुण यह है कि वह रास्ते में आने वाली कई रक्त कोशिकाओं की पूरी तरह उपेक्षा करते हुए बड़ी तेजी के साथ प्रतिरक्षा व्यवस्था से बचते हुए 'टी' कोशिकाओं के साथ बस जाता है। यहाँ विषाणुओं को एक अभिग्राहक भी मिल जाता है। इस अभिग्राहक का प्रोटीन आवरण पूरी तरह उनसे मेल खाता है। कोशिकाओं के साथ लगे हुए विषाणु कोशिका की झिल्ली में घुसकर सुरक्षात्मक कवच निरावृत कर देते हैं। आधे घंटे के भीतर आर एन ए का तन्तु तथा एक एन्जाइम (क्षोभक) जो विषाणु के साथ होता है, कोशिका में तैरने लगता है। फिर एक आश्चर्यजनक परिवर्तन होता है। एन्जाइम (क्षोभक) की सहायता से अनावृत 'एड्स' का विषाणु अपने आर एन ए व डी एन ए में परिवर्तन कर लेता है। फिर तो यह कोशिका के न्यूक्लियस (केन्द्र) में घुस जाता है और गुणसूत्र (क्रोमोसोम) में मिलकर कोशिकीय प्रक्रिया के भाग पर अधिकार कर लेता है। और एड्स के विषाणुओं की एक बहुत ही बड़ी सेना तैयार हो जाती है। अंततः बाहरी तत्वों से पराजित हो कोशिका सूज जाती है और निर्जीव हो कर रह जाती है। शरीर की प्रतिरक्षा व्यवस्था महत्वपूर्ण 'टी' कोशिकाओं की आवश्यक संख्या से वंचित हो जाने के कारण संक्रमण से लड़ने में असमर्थ हो जाती है। इसके परिणाम स्वरूप बहुत से अवसरवादी रोग, जिनसे सामान्यतः स्वास्थ्य प्रतिरक्षा व्यवस्था पहले बचाव करती थी, कमजोर शरीर पर आक्रमण कर देते हैं।

केवल एड्स के विषाणु ही नहीं बल्कि अन्य कई विषाणु भी, मनुष्य जाति के धरती पर प्रकट होने से पहले से, जीव-जन्तुओं तथा पौधों का शिकार करते आए हैं। एड्स एवं फ्लू के अलावा विषाणु चेचक, पोलियो, खसरा तथा कई साधारण बीमारियों जैसे जुकाम, दाद व मोनोक्लानिसस इत्यादि रोग के उत्तरदायी हैं। एक तरफ जहाँ अभाव और हानिकारक अवगुणों के साथ विषाणुओं ने मनुष्य के विकास में सम्भवत: एक बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, वहीं आज कृत्रिम ढंग से किसी जन्तु के डी एन ए के खण्ड दूसरे जन्तुओं या पौधों के डी-एन ए के खण्डों में स्थापित करने की प्रणाली विकसित हो रही हैं। आजकल जीव विज्ञानी ऐसे विषाणुओं का निर्माण कर रहे है जो मानन जाति के लिए लाभदायक हों। अब तो चिकित्सा वैज्ञानिक जीन्स द्वारा चिकित्सा करने की योजना पर भी कार्य कर रहे हैं। चिकित्सा वैज्ञानिकों का लक्ष्य है कि विषाणुओं का प्रयोग रोगवाहकों के रूप में कर सकें और स्वस्थ जीन आनुवंशिक रोगियों के गुणसूत्र में ले जा सकें, जिससे रोगी को स्थायी रूप से रोगमुक्त कर सकें।

जहाँ तक विषाणुओं के आकार-प्रकार का सवाल है तो एक चिकित्सा वैज्ञानिक डॉ० स्टफेन स्ट्रास का कहना है कि विषाणु एक शानदार लघु संरचना है जिसका कोई खण्ड बेकार नहीं है। अगर कुछ विषाणु रेडियो लैरि-यन प्राणियों की तरह दिखते हैं तो कुछ फुटबाल की ऊबड़-खाबड़ त्रिकोणीय फलिका वाले गोल सतह ही तरह दिखते

हैं। सबसे बिशेष बात तो यह है कि उनकी आकृति कैसी भी हो, इनमें कुछ विशेषताएँ तो समान हैं। विषाणु शारीरिक संरचना में अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और इनका सुरक्षात्मक आवरण प्रोटीन या प्रोटीन तथा बसा का बना होता है। यह आकार में स्वयं नहीं बढ़ता और न ही अतिथेय की सहायता से बिना अपनी संख्या में वृद्धि कर सकता है। सच तो यह है कि 'विषाणु मुख्यत: पूर्णरूप से परजीवी है।' अक्सर विषाणु अपने अतिथेय का चुनाव बड़ी सावधानीपूर्वक करते हैं। अधिकांश विषाणु कोशिका विशेष को ही संक्रमित करते हैं जैसे एड्स का विषाणु है तो 'टी' कोशिकाओं में जाता है व पोलियो का है तो मेरूरज्जु नाड़ीतंत्र की विशिष्ठ उप-कोशिकाओं में जाता है।

लेकिन चिकित्सा शोधकर्ताओं को जो बात सबसे ज्यादा परेशान कर रही है वह विषाणु की विभेद करने की सक्षमता है। आखिर कैसे कुत्ते द्वारा बाँह या टाँग में काटे जाने पर रेबीज का विषाणु मांसपेशियों में प्रवेश कर नाड़ियों के साथ मस्तिष्क की विशेष कोशिका में चला जाता है? ऐसा होना कोशिका के आकार पर निर्भर है। वास्तव में होता यह है कि रेबीज के विषाणु अपने आवरण के अन्दर जो प्रोटीन लिए रहते हैं, उसे इस तरह का आकार दे देते हैं कि मस्तिष्क की विशेष कोशिकाओं की सतह के अनुकूल बन जाती है तथा उसमें समन्वित हो जाती है। अगर विषाणु एक बार अन्दर प्रविष्ट हो गए तो उनका स्वागत किसी महत्वपूर्ण अतिथि की तरह होता है। हालाँकि प्रकृति ने यह सुविधा विषाणुओं को नहीं दिया है, लेकिन वे अपने प्रोटीन आवरण को परिवर्तित कर, कोशिकाओं के सुचारू रूप से कार्य करने के लिए हार्मोनों एवं अन्य महत्वपूर्ण तत्वों के अभिग्राहकों की सुविधा का अनुचित लाभ उठाकर शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। शरीर में प्रवेश करने के बाद विषाणु के जीन्स कोशिका द्रव्य में क्रीयाशील होकर प्रोटीन उत्पन्न करते हैं, जो गुणसूत्र में मिलकर कोशिकीय यंत्र समूह को विषाणु उत्पन्न करने का आदेश देते हैं। कुछ प्रकार के विषाणु काफी लम्बे समय तक सुस्त पड़े रहते हैं या छुपे रहते हैं और शरीर को कमजोर पाकर बाहर निकलते हैं। परिसर्प परिवार के विषाणु (परिसर्पओस्टर छोटी चेचक फैलाते हैं) का एक सामान्य लक्षण है कि कभी-कभी वो नाड़ी कोशिकाओं में छिप जाता है, जहाँ कोई दवा या रोग प्रतिरोधक नहीं पहुँच पाती, फिर यह वर्षों बाद निकल कर शरीर पर आक्रमण करता है।

आज के विज्ञानी युग में प्रतिदिन नई-नई प्रगति हो रही है, कई सौ वैज्ञानिकों का दल विषाणुओं का प्रयोग जननिक अव्यवस्था वाले मनुष्यों के लिए जीन्स रोग निदान तथा चिकित्सा के तकनीक के रूप में प्रयोग करने के लिए कार्य कर रहा है। कुल मिलाकर मनुष्य विषाणुओं से जितनी जल्दी मुक्ति पा ले, उसका उतना ही भला होगा। कुछ आशा इंटरफेरॉन की खोज से जगी है, जो कोशिकाओं को विषाणु संक्रमण के प्रभावों से सुरक्षित रखते हैं।

OO

कृषि में शैवालों की भूमिका: एक जैव उर्वरक के रूप में

डॉ० सुनील दत्त तिवारी

मृदा में शैवालों की कम या अधिक मात्रा मृदा सतह के ठीक नीचे ही पाई जाती है, यद्यपि अलग-अलग गहराइयों पर अनेक प्रकार के शैवालों के प्राप्त होने की पुष्टि हो चुकी है। गहराई में पाये जाने वाले शैवाल ऊपरी सतह से ही निक्षालित होकर नीचे के स्थानों में पहुँचे हैं। इन शैवालों के दो प्रमुख उपभाग हैं, क्लोरोफाइसी जो घास के समान हरे रंग के होते हैं और दूसरा मिक्सोफाइसी, जो नील-हरित रंग के होते हैं।

शैवाल मृदा में नाइट्रोजन पूर्ति के साधन बन सकते हैं, इसकी खोज सर्वप्रथम् बेरिक (1901) ने की थी।

उत्तर प्रदेश और बिहार के धान के खेतों में शैवाल की प्रमुख किस्म नील-हरित शैवाल अधिक मात्रा में पाई जाती है, जिसमें **अउलोसिरा फर्टीलिसिमा** (Aulosira firtilisima), **एनाबीना एम्बीगुआ** (Anabaena ambigua), **सिलिन्ड्रोस्पर्मम गोरखपुरेन्स** (Cylindrospermum gorakhpurens) आदि प्रमुख हैं।

आर्डर और फेमिली	नाइट्रोजन स्थिरीकरण योग्य जातियाँ
क्रोकोकेल्स (Chrococcales)	क्लोरोग्लिया फ्रिट्स्चाई (Chloroglea fritschii)
नॉस्टोकेल्स (Nostocales)	एनाबीना एम्बीगुआ (A.ambigua), ए० सिलिन्ड्रका (A.cylindrica)
नॉस्टोकेसी (Nostocace)	ए. फर्टीलिसिमा (A. fertillisima)
	ए. ह्यूमीकोला (A. humicola),
	ए. एजौली (A. azollae),
	एनाबोंनोप्सिस सिंक्लेरिस (Anabaenopsis cinclaris),
	सिलिन्ड्रोस्पर्मम माइयुस (Cylindrospermum maiaus)
	सि. गोरखपुरेन्स (C. gorakhpurens).
	सि. स्फीरिका (C. sphaerica)
	नॉस्टॉक कम्यूने (Nostoc commune),
	नॉस्टॉक पालुडोसम N. paludosum),
	नॉस्टॉक पंक्टीफार्म (N. punctiforme),

14, चौखण्डी, कीडगंज, इलाहाबाद-211001, उत्तर प्रदेश

माइक्रोकीटेसी (Microchaetaceae)	अउलोसिरा फर्टीलीसिमा (Aulosira fertillisima),
रिवुलैरियेसी (Rivulariaceae)	कैलोथ्रिक्स ब्रेविसिमा (Calothrix brevissima), सी० पैरीएटिना (C. parietina)
साइटोनीमैटेसी (Scytonemataceae)	टॉलिपोथ्रिक्स टेन्युइस (Tolypothrix tennuis)

नाइट्रोजन स्थिरीकरण करने वाले शैवालों में **नॉस्टॉक पंक्टीफार्मे** को छोड़कर बाकी सभी अकार्बनिक माध्यम में प्रकाश के द्वारा विकास कर सकती हैं। ये नील-हरित शैवाल वायुमंडल की स्वतन्त्र नाइट्रोजन के अतिरिक्त नाइट्रोजन के अन्य स्रोतों पर भी निर्भर रहते हैं। ये अधिकतर उदासीन या हल्की छारीय परिस्थिति में पर्याप्त रूप से वृद्धि करते हैं। मालिब्डेनम तत्व इनकी वृद्धि के लिए आवश्यक है। कैल्शियम, सोडियम, बोरॉन और कोबाल्ट भी इसके लिये आवश्यक पाये गये हैं। किसी कार्बनिक पदार्थ की आवश्यकता इनके लिए नहीं होती है।

नील-हरित शैवालों की अलग-अलग जातियाँ अलग-अलग स्थानों पर विभिन्न परिस्थितियों में नाइट्रोजन की अलग-अलग मात्रा स्थिरीकृत करती हैं।

शैवाल	इन्क्यूवेशन अवधि (दिन)	स्थिरीकृत नाइट्रोजन (मिली०)	
सिलिन्ड्रोस्पर्मम	55	3.92/ 75	मिली०
सि० गोरखपुरेन्स	45	5.0/100	,,
एनाबीना एम्बिगुआ	43	4.5/100	,,
ए० फर्टीलिसिमा	45	6.7/100	,,
ए० ओराइजी	60	5.7/100	,,
नॉस्टॉक जातियाँ	30	2.2/100	,,
एनाबीना एजोली	30	3.49/100	,,

इसके अतिरिक्त शैवालों द्वारा स्थिरीकृत नाइट्रोजन की मात्रा अन्य कारकों पर भी निर्भर करती है। जैसे—(1) शैवालों की नाइट्रोजन स्थिरीकरण करने की क्षमता, (2) उनमें उपस्थित कार्बोहाइड्रेट की मात्रा, (3) इनसे स्रावित घुलनशील नाइट्रोजन की मात्रा तथा पौधों के लिये उनकी उपलब्धि और (4) मृदा और जड़ों की पारिस्थितिकी इनके द्वारा स्थिरीकृत नाइट्रोजन की मात्रा का 50 प्रतिशत मात्रा घुलित रूप में होती है।

शैवालों का निवेशन

शैवालों का निवेशन करने से पहले उनका पर्याप्त मात्रा में संवर्धन करना आवश्यक है। इसके लिए **वेनाटेब** ने तीन विधियों का वर्णन किया है।

(1) हल्लन संवर्ध--सामान्य संवर्ध फ्लास्क में किया जाता है।

(2) आलोडन संवर्ध विधि—यह क्रिया बड़े तालों में की जाती है ।

(3) संवृत परिचक्रण विधि—इसमें पालीविनाइल क्लोराइड की लम्बी पत्तियों के थैलों का प्रयोग किया जाता है ।

ताल में उगाने पर प्रतिलीटर 0.2 ग्राम शैवाल प्रतिदिन प्राप्त होता है । प्राकृतिक गैसों और गरम चश्मों के जल में उगाने पर 6.4 ग्राम प्रतिदिन प्रतिलीटर या 7000 किग्रा० प्रतिवर्ष प्राप्त किया जाता है । शैवालों की खेती के लिए वाहित मलजल का उपयोग अच्छा माना गया है, क्योंकि इसमें शैवालों के लिये अनेक कार्बनिक और अकार्बनिक पोषक तत्व उपस्थित रहते हैं ।

संवर्धन हेतु मृदा आधारित अउलोसिरा (Aulosira), टॉलिपोथ्रिक्स, (Tolypothrix), साइटोनेमा (Scytonema), नॉस्टॉक (Nastoc), आदि के स्फोटक कल्चर बहुत ही सस्ते दामों पर भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा उपलब्ध हैं ।

इन्हें आवश्यकतानुसार 180×90×27 सेमी० आकार के चिकने लोहे की ट्रे में या और बड़े आकार में प्रवर्धित करते हैं । इस ट्रे में सुपरफॉस्फेट और सोडियममोलिब्डेट क्रमशः 200 ग्राम और 2.0 ग्राम डालते हैं । पुनः 12-15 सेमी० पानी और 8-10 किग्राम दोमट मिट्टी डालकर मिलाते हैं । मिट्टी के बैठ जाने पर उसमें स्फोटक कल्चर का प्रयोग करते हैं । 6-7 दिन में शैवालों की पर्याप्त वृद्धि हो जाती है । जब एक मोटी सी पर्त बन जाती है तो उसे सूखने के लिये छोड़ देते हैं । सूखने पर इसे पीसकर चूर्ण के रूप में कर लेते है । आवश्यकता होने पर उपर्युक्त क्रिया को पुनः ट्र विधि द्वारा दुहराते हैं । इसमें मच्छरों आदि को पैदा होने से रोकने के लिये फॉलीडॉल (0.001 भाग प्रति दसलक्षांश) की दर से प्रयोग करते हैं ।

सूर्य की रोशनी में सुखायी गयी शैवाल लम्बे समय तक भंडारित की जा सकती है । धान के खेतों में पौधों के रोपने के एक हफ्ते बाद 10 किग्रा० प्रति हेक्टेयर की दर से इनका छिड़काव किया जाता है । इससे अधिक मात्रा भी हानिकारक नहीं होती है, बल्कि गुणन में और वृद्धि होती है ।

शैवाल निवेशन से प्राप्त धान की उपज पर अनुक्रिया

जाति (धान)	नियन्त्रण पर / उपज में वृद्धि
टी-141	11.8
जी० ई० बी-24	14.8
टी. एन-1	27.5
आई-आर-8	22.07

शैवालों के निवेशन की महत्ता इसी बात से स्पष्ट है कि ये 20-30 किग्रा० नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर की बचत करते हैं । जब किसी फसल में नाइट्रोजन की मात्रा कृत्रिम उर्वरकों द्वारा देनी हो तो उसकी 1/3 मात्रा की पूर्ति शैवालों द्वारा करनी चाहिए ।

ये नील-हरित शैवाल मिट्टी में कार्बनिक पदार्थों को मात्रा में वृद्धि करते हैं । इसके अलावा तीन-चार वर्षों तक लगातार प्रयोग करने के बाद पुनः निवेशन की जरूरत नहीं पड़ती है, क्योंकि इसके बाद ये स्वयं ही गुणित होने लगते हैं ।

इन शैवालों का प्रयोग न केवल नाइट्रोजन पूर्ति के लिए लाभप्रद है बल्कि ये क्षारीय भूमि के सुधार में भी सहायक हैं ।

स्पष्ट है कि नील-हरित शैवाल मृदा के लिए एवं पौधों के लिए अत्यन्त लाभदायक हैं । ये प्रकृति में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं । इन्हें विलगित करके एवं बड़े पैमाने पर उत्पादित करके कृत्रिम उर्वरकों पर होने वाले खर्च एवं उनके दुष्परिणामों से भी बचा जा सकता है । इन शैवालों का उपयोग विशेषकर धान उगाने वाले क्षेत्रों या देशों में उर्वरकों के एक प्रभावपूर्ण साधन के रूप में हो सकता है । इनके खेतों में प्रयुक्त करने को बढ़ावा मिलना चाहिए ।

OO

ध्यान और विज्ञान

डॉ० राम गोपाल

विज्ञान द्वारा भौतिक सुख-सुविधाओं में अत्यधिक विकास के उपरान्त भी मनुष्य सुखी नहीं दिखाई देता । अमेरिका आदि देशों में सुख के साधनों की विपुलता के साथ-साथ जीवन में अशांति और मानसिक तनाव अधिक है । इसलिए शांति के अनुसंधान की भूख बढ़ी है और वैज्ञानिकों का "ध्यान" की ओर आकर्षण बढ़ा है । अनेक प्रयोग हमारे देश व विदेशों में हो रहे हैं । ध्यान का ज्ञान व अभ्यास यथादर्शन और यथानुभूति द्वारा वैज्ञानिक दृष्टि को अधिक प्रखर बीधने वाली एवं चीरने वाली बनाने में सिद्ध हुई है । परिणामतः सभी को उनके वर्तमान् स्वरूप में पहचान कर स्वयं सुख से जीने की तथा औरों को सुख से जीने देने की कला वैज्ञानिक साधक जान लेता है । यही सच्चा धर्म है ।

मनुष्य की उत्पत्ति अध्ययन एवं तप द्वारा उत्तरोत्तर विकास करते हुए पूर्ण मुक्त अवस्था तक पहुँचने के लिये इस ग्रह पर हुई है । इस ध्येय की पूर्ति के लिये प्रकृति ने उसे शरीर, मन और बुद्धि के रूप में तीन उपकरण उपलब्ध कराये हैं । ये उपकरण जितने तीक्ष्ण, सूक्ष्म व कारगर होंगे उतनी शीघ्रता से वह लक्ष्य तक पहुँच सकेगा । 'शील,' 'समाधि' व 'प्रज्ञा' के द्वारा मनुष्य इन तीनों को पुष्ट कर सकता है । ध्यान साधना से जुड़े इन तीन वर्गों के अंतर्गत धर्म के 8 अंग आते हैं, जिनकी क्रमश गवेषण करते हुए मनुष्य सुख से जीने की कला सीख लेता है । समाज को वैज्ञानिक से अधिक अपेक्षायें हैं, विशेषकर रक्षा अनुसंधान एवं विकास कार्यक्रमों से जुड़े विश्व के सम्पूर्ण वैज्ञानिकों से, जिन्हे विश्व शांति में अभूतपूर्व योगदान देना है । वास्तविक सुख आन्तरिक शांति में है और आन्तरिक शांति चित्त

सभापति, विज्ञान परिषद् प्रयाग, जोधपुर शाखाः उपनिदेशक, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर-342001 (राजस्थान)

की विकारविहीनता में है, चित्त की निर्मलता में है। निर्मल चित्त का आचरण ही धर्म है, यही जीने की कला है। इसमें जो जितना निपुण हैं वह उतना ही अधिक धार्मिकहै, उतना ही सुखी है।

आइंस्टाइन ने कहा है कि "धर्म विज्ञान के बिना अन्धा है व विज्ञान धर्म के बिना लंगड़ा है"। धर्म विज्ञान सम्मत होकर ही 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' होता है। शील के आचरणों से शरीर को, समाधि द्वारा मन को, व प्रज्ञा द्वारा बुद्धि को निर्मल किया जाता है। नियमित अभ्यास से पुराने साधकों की दीर्घ, गहरी व लम्बी श्वासों की प्रतिमिनट में संख्या सामान्य मनुष्यों की संख्या से कम पायी गयी है, जो उनके दीर्घजीवी व नीरोग होने का महत्वपूर्ण कारण है। रागविहीन, द्वेषविहीन और मोहविहीन चित्त समता में प्रतिष्ठित हो जाता है। गहन संस्कारों के रूप में संचित सूक्ष्म परमाणु अंशों की ऊर्जा के रूप में निर्सरा व इनके श्रृजन का साक्षात्कार करता है, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम स्थितियों से गुजरता हुआ असीम सत्य के दर्शन कराता है। इन अवस्थाओं में भारहीनता, विचारहीनता, शून्यता, पुलक-रोमांच व अन्य सुखद-दुखद स्थितियों की अनुभूति होती है। अनन्त मैत्री, अनन्त करुणा, अनन्त मुदिता और अनन्त समता समा जाती है, इनकी तरंगें प्रसारित होती हैं। इस अवस्था तक पहुँच कर वैज्ञानिक समाज में सुख-शांति लाने में अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। नेहरू का भारत बनाने में और कारगर भूमिका निभा सकता है।

हमारे वैदिक ग्रन्थों में 'ध्यान' व 'योग' का सविस्तार वर्णन किया गया है। भगवान महावीर व बुद्ध ने महान तपस्या कर ध्यान-विज्ञान में गवेषणा कर देश के विभिन्न भागों में ध्यान के लिये विहार स्थापित किये। आज भी दर्शक-साधक भगवान बुद्ध व महावीर की प्रतिमाओं के समक्ष असीम शांति का अनुभव करता है। आधुनिक युग में भारत ब अन्य देशों में प्रचिलित ध्यान की अनेक विधियों पर शिविर लगाये जाते हैं। इस विद्या के आचार्यों ने वैज्ञानिक ढंग से इन विधियों को सहज व ग्राह्य बनाया है: जिनसे लाखों लोग देश-विदेशों में अपना लोक-परलोक सुधार रहे हैं। देश-विदेश में स्थापित इन केन्द्रों का संचालन व मार्गदर्शन-विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी (विपश्यना ध्यान); जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान (प्रेक्षा ध्यान); जोशो मल्टी वर्स्टिी, पूना (भगवान रजनीश द्वारा 108 प्रकार के ध्यान); महर्षि महेश योगी संस्थान, ऋषिकेश व नई दिल्ली (टी० एम०); प्रजापति ब्रह्मकुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय, माउन्ट आबू (मुरली ध्यान); पं० श्रीराम शर्मा द्वारा स्थापित शांतिकुंज, हरिद्वार, स्वामी प्रभुपाद द्वारा स्थापित 'इन्सकॉन' वृन्दावन, विवेकानन्द केन्द्र, कन्याकुमारी; रामकृष्ण मिशन, बैलूर मठ; अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी; कैवल्य धाम, लोनावना, महाराष्ट्र (पातंजलि योग पर आधारित) आदि अनेक संस्थान कर रहे हैं। इन संस्थानों से जुड़े अनेक वैज्ञानिक अनुसंधान के साथ-साथ अपना शोधन भी कर रहे हैं। आइये, हम सब वैज्ञानिक भी गहन चिन्तन करें। इस मानव कल्याण के विज्ञान में योगदान दें। विश्व की वर्तमान् परिस्थिति में आध्यात्मिक वैज्ञानिक भाई-चारा, शान्ति व सह्-अस्तित्व स्थापित कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की संस्कृति द्वारा समाज का मंगल ही करेंगे।

OO

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक—आधुनिक विज्ञान कथाएं
लेखक—श्री राजीव रंजन उपाध्याय
प्रकाशक—ग्रन्थ अकादमी, 1986 पुराना दरियागंज
नई दिल्ली-110002
पेज - 172, मूल्य-पचास रुपये

साहित्य के क्षेत्र में 'विज्ञान कथा' अपेक्षाकृत नहीं लिखा है। इस क्षेत्र में भारतीय भाषाओं में बहुत कम लिखा गया है। खासकर हिन्दी में तो और भी कम। ऐसी स्थिति में 'कैंसर शोध संस्थान, [illegible]' में कार्यरत डॉ॰ राजीव रंजन उपाध्याय द्वारा हिन्दी में लेखन साहसिक और सराहनीय काम है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने कुल 16 कहानियाँ लिखी हैं। सभी की पृष्ठभूमि विदेशों की है। अमरीका, फ्रांस, इजरायल, ब्राज़ील, चिली, अर्जेंटीना, नार्वे आदि। अध्ययन और शोध के लिये उपरोक्त देशों की यात्राओं के दरम्यान लेखक के अपने अनुभवों और प्राप्त जानकारियों को इन कहानियों में पिरोने का प्रयास किया है।

विज्ञान कथाएँ यद्यपि वैज्ञानिक तथ्यों के ताने बाने पर अवश्य बुनी जाती हैं लेकिन वे भविष्य में अन्वेषण के नये द्वार भी खोलती हैं। विज्ञान आज जितना विकसित है, विज्ञान कथा उसे और भी आगे बढ़ाता है। इस कसौटी पर कसने पर प्रस्तुत संग्रह की बहुत कम कहानियाँ विज्ञान कथा की श्रेणी में आ पायेंगी। फिर भी 'एड्स की छाया में', 'दोहरे', 'विषकन्या', 'सूप', 'युक्का', तथा 'नारंगी' कहानियाँ विज्ञान कथाओं के निकट हैं। लेकिन इन सभी कहानियों में लगभग एक ही बात उभारी गयी है, और वह यह कि वर्तमान में विज्ञान ने हमें जितना कुछ दिया है उसका कैसे दुरुपयोग किया जा सकता है।

अभी तक प्रकाशित विज्ञान कथाएँ अधिकतर अन्तरिक्ष के क्षेत्र में लिखी गयी हैं। प्रस्तुत संग्रह में अन्तरिक्ष विज्ञान से हटकर जीवविज्ञान और चिकित्सा विज्ञान को आधार बनाकर लिखी गई ये कहानियाँ एक साहसिक प्रयोग कही जा सकती हैं। लगभग सभी कहानियाँ विज्ञान के संभावित दुरुपयोग के प्रति सावधान करती हैं। 'एड्स की छाया में' अमेरिकी युवती डॉ॰ सूसन ईरान की कुछ प्रयोगशालाओं का निरीक्षण किया और बड़ी बारीकी से वहाँ के दो प्रसिद्ध वैज्ञानिकों डॉ॰ मुस्तफावी और डॉ॰ अर्दबीली को एड्स से ग्रसित कर दिया। इसके लिये उसे इन वैज्ञानिकों से न तो शारीरिक संपर्क करना पड़ा और न अन्य परंपरागत तरीके अपनाना पड़ा। उसने तो किसी न किसी बहाने से अपनी अंगूठी इन वैज्ञानिकों के शरीर में छुआया भर था। दरअसल उसकी अंगूठी में एक माइक्रोसीरिंज थी। इसी माइक्रोसीरिंज द्वारा एड्स के विषाणु उन वैज्ञानिकों के शरीर में इंजेक्ट किये गये। इसी तरह 'नारंगी' कहानी में' 'जाफा की मशहूर नारंगियों' के सूखने का जब विश्लेषण किया गया तो मालूम हुआ कि इन नारंगियों पर किसी ऐसे विषाणु का हमला हुआ है जो नारंगियों के डी एन ए में प्रवेश करके उसे परिवर्तित कर देता है। ये विषाणु किसी गलत ढँग से आणविक-क्षमता हासिल करने वाले देश की किसी प्रयोगशाला से निकले थे।

प्रस्तुत संग्रह की कहानियों से पाठकों को पश्चिमी देशों के आचार-विचार एवं खानपान, रीति-रिवाज आदि को समझने में मदद मिलेगी। लेकिन वैज्ञानिक तथ्यों को इन कहानियों में कम जगह दी गयी है। पुस्तक की छपाई अच्छी है। कहीं-कहीं कुछ प्रूफ की गलितितॉं रह गई हैं। कवर आकर्षक है। पेपर बैक संस्करण निकाल कर आम पाठकों की क्रय-शक्ति लायक दाम रखा जा सकता है।

विजय जी
जवाहर इण्टर कॉलेज, जारी इलाहाबाद-220106

उत्तर पूर्वी पर्वतीय क्षेत्र में उत्पादन क्षमता बढ़ाने के लिए कुछ सुझाव

डॉ॰ अतर सिंह × एवं डॉ॰ सी॰ एस॰ पटेल× ×

सभी कृषि शिक्षा एवं प्रसार से जुड़े अधिकारी, वैज्ञानिकगण एवं राजनीतिज्ञ यह जानते हैं कि उत्तर पूर्वी पर्वतीय क्षेत्र में कृषि उत्पादन क्षमता को और अधिक बढ़ाने की सम्भावनायें है। इस क्षेत्र की भूमि एवं जलवायु, भिन्न-भिन्न प्रकार की खाद्य एवं नगदी फसलें, मांस एवं दुधारू पशुओं की उत्पादन क्षमता को और अधिक मात्रा में बढ़ाया जा सकता है। अगर क्षेत्रीय राज्य सरकारें निम्नलिखित समस्याओं का समाधान करें या सुझावों पर अमल करें, तो इस क्षेत्र की पैदावार तो निश्चित ही बढ़ेगी साथ ही उत्पादन का एक बड़ा भाग पड़ोसी राज्यों को भेजा जा सकता है।

1. उन राज्यों में जहाँ पर वेदिकाओं (टेरेस) में खेती करने का प्रचलन है उसे बढ़ावा दिया जाये। जहाँ पर खेतों का पट्टा (लैंड ऑनरशिप) नहीं है उसे लागू करवाएँ, जिससे खेत का स्वामी अपने तरीके से ज़मीन की देख-भाल एवं फ़सलों का चुनाव कर सके।

2. पुरानी किस्म की कृषि फसलों को विकसित किया जाये, क्योंकि ये किस्में इस जलवायु में पूर्णरूप से घुली-मिली होने के कारण रोग-व्याधि, कीड़े-मकोड़ों, ठंडक एवं वर्षा से लड़ने की क्षमता रखती हैं, साथ ही यहाँ की जनता इनके गुणों आदि को पसन्द करती है।

3. जिन राज्यों में जो खाद्य एवं नगदी फसलें अच्छी एवं प्रचुर मात्रा में होती हैं, उन्हें बढ़ावा दिया जाये। ज़ोर-जबरजस्ती वाली खेती को कृषकों पर न थोपा जाये। उदाहरण के तौर पर यदि कहीं अनन्नास, अदरख, हल्दी, संतरा, केला, गन्ना आदि नगदी फसलें अधिकतर उगाई जाती हैं, बजाय खाद्य फसलों के।

4. नगदी फ़सलों का राज्य-स्तर पर विपणन विभाग द्वारा उचित दर पर क्रय-विक्रय का प्रबन्ध किया जाये। इससे खाद्य एवं नगदी फ़सलों का आदान-प्रदान बढ़ेगा और ज्यादा कृषक नगदी फसलों को उगायेंगे जो कि मैदानी भागों में उगाना सम्भव नहीं है।

5. कृषक भाइयों को समय-समय पर खाद, बीज, नये तकनीकी यंत्र, प्रशिक्षण एवं बैंकों से अनुदान इत्यादि उपलब्ध कराते रहना चाहिये, अन्यथा उनकी कृषि-उत्पादन में वृद्धि नहीं हो सकती है।

×वैज्ञानिक (शस्य विज्ञान) ×× प्रधान वैज्ञानिक (सस्य विज्ञान) भा.कृ. अनु.प., उ.पू.प. क्षेत्र, टाड़ोंग गंगटोक एवं बड़ा पानी (मेघालय)

वर्तमान् पता--भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, भारतीय घास एवं चारा अनुसंधान संस्थान, पहुज-डेम, ग्वालियर, झाँसी रोड, झाँसी-284003 (उ० प्र०)

6. किसानों को बीज, खाद, अन्य पालतू जानवर मुफ्त में देने के बजाय अगर कृषकों के खेतों पर प्रशिक्षक उचित देख-रेख, रख-रखाव इत्यादि करें तो ज्यादा अच्छे परिणाम मिल सकते हैं और निश्चित रूप से उत्पादन-क्षमता को बढ़ाया जा सकता हैं।

7. कम लागत से अधिक से अधिक पैदावार लेने के तरीकों जैसे गोबर की खाद का प्रयोग, फसलों के तनों इत्यादि को जमीन में सड़ा करके एवं मिलवां खेती करके, जिससे एक फसल मरने से किसान उसी खेत में लगी दूसरी फसल से आय प्राप्त कर सकता है। और तो और खेत की उपजाऊ शक्ति अधिक समय तक बरकरार बनी रह सकती है।

8. रासायनिक खादें, नई किस्म के बीज, कीट-नाशक, खरपतवार नाशक एवं खेती के नये तरीकों को बड़े किसानों के खेतों पर प्रदर्शन द्वारा खण्ड विकास अधिकारियों एवं राज्य के कृषि विभाग एवं भा० कृ० अनु० प० इत्यादि मिल-जुल करके कृषकों को करके दिखावें तो कृषकों को वैज्ञानिक विधि से खेती करने का अन्तर पता चलेगा तथा वे अपनी सुविधानुसार उसे अमल में ला सकते हैं।

9. ज्यादा ढलान वाली जगह पर घास व अन्य लकड़ी वाले वृक्ष लगायें, जिससे मृदा-क्षरण तो रुकेगा ही साथ ही कृषकों को कुछ आय भी प्राप्त होगी।

10. इन पहाड़ी राज्यों में ज्यादातर लोग मांसाहारी हैं अतः मुर्गी, सूअर, बकरी, खरगोश एवं गाय पालन के सम्बंध में राज्य सरकारें लोगों को अधिक से अधिक प्रशिक्षण दें, जिससे कि कृषक लोग इनका रख-रखाव ठीक प्रकार से करें तथा उनसे प्राप्त माँस, दूध इत्यादि की आय को अपनी खेती में लगाकर अधिक पैदावार लेकर अपना जीवन स्तर ऊँचा उठा सकें।

11. राज्य स्तरीय सरकारें यातायात के साधनों को और विकसित करें जिससे छोटे एवं सीमान्त किसानों को भी बड़े किसानों के साथ-साथ अपनी उपज का उचित मूल्य एक जगह से दूसरी जगह निर्यात करके मिल सके।

12. जो भी कृषि अनुसंधान से संबन्धित वैज्ञानिक काम कर रहे हैं, उनका एक संयुक्त बहु-विभागीय दल कृषकों के खेतों पर "करके दिखाने के लिये" नियुक्त किया जाये साथ ही कृषकों को माह में एक बार अपने अनुसंधान प्रक्षेत्रों एवं प्रयोगशालाओं का भ्रमण करवाएँ और उनके साथ सवाल-जवाब करें, जिससे उनकी परेशानियों का निवारण किया जा सके।

OO

परिषद् का पृष्ठ

विज्ञान परिषद् प्रयाग की शाखा जोधपुर में स्थापित

1. आज दिनांक 26 मार्च, 93 को रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर में **प्रो० रमेश चन्द्र कपूर**, परिषद् के स्थानीय वरिष्ठतम सभ्य, की अध्यक्षता में प्रथम साधारण सभा की एक बैठक सम्पन्न हुई। जोधपुर में परिषद् के कुल 68 सभ्य आज हैं। इसमें 10 से अधिक आजीवन सभ्य हैं। शाखा स्थापित करने से संबन्धित नियमावली धारा 58 व 62 के अंतर्गत् आज प्रो० कपूर, निर्वाचन अधिकारी, ने निर्वाचन कराया (जिससे संबन्धित कागजात संलग्न हैं)। सभा में 48 सभ्य उपस्थित थे।

2. नियमानुसार स्थानीय शाखा के निम्न पदाधिकारी निर्वाचित घोषित किये गये हैं :

0 सभापति :	डॉ० रामगोपाल	उपनिदेशक, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर-342001
0 उपसभापति :	1. डॉ० ईश्वर चन्द्र गुप्ता	वैज्ञानिक, केन्द्रीय रक्षाक्षेत्र अनुसंधान संस्थान, जोधपुर
	2. श्रीमती कुंजन त्रिवेदी	विभागाध्यक्ष, गृह विज्ञान विभाग, कमला नेहरू कॉलेज, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
0 प्रधानमंत्री :	श्री प्रदीप कुमार भटनागर	वैज्ञानिक, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर
0 संयुक्त मंत्री :	डॉ० दुर्गादत्त ओझा	रसायनज्ञ, भूजल विभाग, भगत की कोठी, जोधपुर
0 कोषाध्यक्ष :	श्री राजरूपचंद मेहता	वैज्ञानिक, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर

परामर्श समिति के 7 सदस्य :

1. डॉ सुरेन्द्र मोहन मोहनोत	प्रणिशास्त्र विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
2. डॉ० सुशीला राय	वैज्ञानिक, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर
3. श्री ज्ञानेन्द्र सिंह	,, ,,
4. श्री रवीन्द्र कुमार	,, ,,
5. श्री मानसिंह विश्नोई	,, ,,

6. श्रीमती [illegible] — व्याख्याता, गृह विज्ञान विभाग, कमला नेहरू कॉलेज, जोधपुर

7. श्री [illegible] — वैज्ञानिक सहायक, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर

3. सभा की कार्यवाही संलग्न कार्यक्रम के अनुसार संचालित की गई। स्थानीय शाखा के गठन एवं पद स्थापन के उपरान्त आइटम 11 के अंतर्गत डॉ० रामगोपाल, सभापति ने प्रस्ताव रखा कि प्रो. रमेश चन्द्र कपूर, संरक्षक के रूप में एवं डॉ. आर. [illegible], निदेशक, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर, विशिष्ठ सभ्य (पदेन) के रूप में शाखा को मार्गदर्शन एवं सहयोग दें। सभी उपस्थित सभ्यों ने इसका सर्वसम्मति से अनुमोदन किया। इन दोनों उपस्थित सभ्यों ने भी अपनी स्वीकृति प्रदान की। सभापति ने साधारण सभा के सभी सभ्यों का शाखा पदाधिकारियों एवं परामर्श समिति के सदस्यों की ओर से आभार व्यक्त किया और इस शाखा को परिषद् का गतिशील एवं महत्वपूर्ण केन्द्र बनाने का आश्वासन दिया।

4. इस अवसर पर प्रो० कपूर ने परिषद् के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए बताया कि हिन्दी में ही नहीं, अन्य भाषाओं में विज्ञान के प्रचार-प्रसार का लक्ष्य परिषद् ने रखा है और प्रारम्भ में कुछ भाषाओं में कार्य भी हुआ है। डॉ० रामगोपाल, सभापति ने प्रो० कपूर की हिन्दी-विज्ञान पर चिर-स्मरणीय सेवाओं के लिये आभार व्यक्त करते हुए सभा को सूचित किया कि प्रो० कपूर ने पिछले डॉ० गोरख प्रसाद स्मृति व्याख्यान माला का द्वितीय व्याख्यान दिया है। साथ ही **डॉ० सुशीला राय, श्री ज्ञानेन्द्र सिंह** एवं **डॉ० दुर्गादत्त ओझा** जी को परिषद् द्वारा डॉ० गोरख प्रसाद पुरस्कारों से सम्मानित किये जाने पर बधाई दी गई।

5. डॉ० रामगोपाल एवं डॉ० ओझा ने सूचित किया कि भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र, बम्बई एवं भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर (डॉ० शिवगोपाल मिश्र जी द्वारा दिये सुझाव व चर्चा पर आधारित) द्वारा जोधपुर में इस वर्ष गोष्ठियों का आयोजन किये जाने का अनौपचारिक प्रस्ताव है। सभा ने संबंधित अधिकारियों से गोष्ठियाँ आयोजित करने के लिये अनुरोध करने का निर्णय लिया।

अंत में संयुक्त मंत्री ने अध्यक्ष सहित सभी सभ्यों को धन्यवाद दिया।

प्रस्तुति : प्रदीप कुमार भटनागर
प्रधानमन्त्री, विज्ञान परिषद्
की जोधपुर शाखा, जोधपुर

○○

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय सुहृद !

मई अंक आपको सौंपने के साथ ही साथ आप से ढेरों बातें करनी हैं। पिछले लगभग 6-7 महीनों से "विज्ञान" पत्रिका आपको समय से नहीं मिल पा रही है, इसका मुझे खेद है। इसमें आपको निश्चय ही असुविधा हो रही है। किन्तु आपका सहयोग, आपका धैर्य मुझे मासिक पत्रिका की 'प्रसव पीड़ा' झेलने में मदद कर रहा है। मैं आप सभी पाठकों का अत्यंत आभारी हूँ।

यहीं मैं अपनी एक और पीड़ा व्यक्त करना चाहता हूँ। परिषद् की दिल्ली शाखा के एक सम्माननीय सभ्य ने पत्र लिखा है कि उनके एक प्रकाशित लेख का लगभग आधा मैटर ज्यों का त्यों "विज्ञान" में प्रकाशित एक लेख में है। यहाँ मैं लेखक महोदय (जिनके ऊपर आरोप है) का नाम न लेकर मात्र इतना ही निवेदन करना चाहता हूँ कि अच्छा होगा यदि अपनी ऊर्जा का उपयोग वे ऐसे काम में करें, जिसे वे अच्छी तरह कर सकते हों।

कहते हैं कम्प्यूटर काम को झटपट कर देता है, किन्तु "विज्ञान" का मार्च 1993 अंक अभी भी प्रकाशित नहीं हो पाया है। यह अंक कम्प्यूटराधीन है। है न अजीब बात ! खैर छोड़िए, आप भी क्या सोचेंगे मैं अपना 'रोना' लेकर बैठ गया।

पिछले दिनों परिषद् की गतिविधियों में तेजी आई है, आपको यह सब जानकर निश्चित रूप से प्रसन्नता होगी।

प्रोफेसर नीलरत्न धर जन्मशती समारोहों की श्रृंखला में प्रो०धर द्वारा लिखित पुस्तक 'विज्ञान और मानव' और डॉ० शिवगोपाल मिश्र एवं डॉ० दिनेश मणि द्वारा लिखित पुस्तक 'महान कृषि वैज्ञानिक प्रो० धर' प्रकाशित हो चुकी है और दोनों ही पुस्तकों का विमोचन दिल्ली में क्रमश, सी. एस. आई. आर. के महानिदेशक, डॉ० एस० के० जोशी जी तथा 'नवभारत टाइम्स' के सम्पादक डॉ० विद्यानिवास मिश्र जी के कर कमलों द्वारा 16-4-93 को सम्पन्न हो चुका है। दोनों पुस्तकों का मूल्य एक साथ 40 रुपये और अलग-अलग 20-20 रुपये है। परिषद् के सभ्यों को 25% की छूट है।

प्रो० सालिगराम स्मृति व्याख्यानमाला की कड़ी का व्याख्यान नेशनल फिजिकल लैब (एन पी एल), नई दिल्ली में दिनांक 16-4-93 को सी. एस आई. आर., नई दिल्ली के महानिदेशक डॉ० एस० के० जोशी द्वारा सफलतापूर्वक सम्पन्न हो गया। डॉ० जोशी जी के व्याख्यान का विषय था—'संघनित पदार्थ भौतिकी में कुछ चुनौतियाँ'। इसका श्रेय परिषद् की दिल्ली शाखा के समस्त सभ्यों, विशेष रूप से पदाधिकारियों, एन पी एल और सी. एस. आई. आर. के सहयोगियों को है। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि हमारी अन्य शाखायें भी दिल्ली शाखा की भाँति परिषद् के कार्य को आगे बढ़ायेंगी। इस अवसर पर इलाहाबाद से प्रो० शिवगोपाल मिश्र जी गए थे।

प्रो० राम दास गौड़ स्मृति व्याख्यानमाला का इस वर्ष का व्याख्यान परिषद् की वाराणसी शाखा द्वारा वाराणसी में शीघ्र ही सम्पन्न होगा। व्याख्यानकर्ता हैं प्रसिद्ध भूविज्ञानी प्रो० महाराज नारायण मेहरोत्रा। आपका व्याख्यान छपकर तैयार है, बस तिथि निश्चित होनी शेष है।

इलाहाबाद मेडिकल कॉलेज के प्रवक्ता डॉ० केशव कुमार जी ने विज्ञान परिषद् (इलाहाबाद) में तीन अत्यंत ही महत्वपूर्ण व्याख्यान दिए हैं। 7 अप्रैल को 'विश्व स्वास्थ्य दिवस' के अवसर पर 'एड्स : कारण और बचाव', 22 अप्रैल को 'पृथ्वी दिवस' के अवसर पर 'हृदय : रोग एवं उपचार', 1 मई को 'जीवन और मृत्यु की शारीरिकी' विषयों पर आपके व्याख्यान रोचक, नई सूचनाओं से भरपूर एवं बोधाम्य रहे। हम डॉ० केशव कुमार जी के आभारी हैं और भविष्य में भी हमें आपसे ऐसी ही आशा है। इसी संदर्भ में यहाँ में स्थानीय सभी समाचारपत्रों (हिन्दी और अंग्रेजी दोनों ही) के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जो सदैव ही परिषद् की गतिविधियों से संबंधित समाचारों को प्रकाशित करके हमारा उत्साहवर्धन करते रहते हैं।

इस प्रकार जहाँ एक ओर "विज्ञान" पत्रिका के प्रकाशन में अनियमितता आ गई, वहीं हम अपनी अधिक ऊर्जा दूसरी ओर लगाकर कुछ सीमा तक क्षतिपूर्ति कर रहे हैं।

5 जून को 'विश्व पर्यावरण दिवस' के अवसर पर परिषद् (इलाहाबाद) स्थानीय स्तर की एक संगोष्ठी कराने का हमारा विचार है। अन्य अनेक व्याख्यानों को आयोजित करने के लिए हम विद्वानों से पत्राचार एवं सम्पर्क कर रहे हैं। हमारी जोधपुर की नवगठित शाखा जोधपुर में ही आदिवासियों के लिए विज्ञान लेखन, प्रशिक्षण कार्यशाला का आयोजन करने को तैयार हैं। इस संबन्ध में हमने 'भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर,' के अधिकारियों से पत्राचार प्रारम्भ कर दिया है।

एक और शुभ समाचार। फैजाबाद (उ० प्र०) से डॉ० राजीव रंजन उपाध्याय, जो कैंसर शोध से संबंधित एक त्रैमासिक शोध पत्रिका निकालते हैं, की अत्यधिक रुचि हिन्दी भाषा के माध्यम से विज्ञान के प्रचार-प्रसार में है। वे लोकप्रिय लेख एवं विज्ञान कथाओं के माध्यम से इस कार्य को बखूबी कर रहे हैं। आप फैजाबाद में परिषद् की एक शाखा स्थापित करने के पुनीत कार्य में लगे हुए हैं। हमें आशा है कि शीघ्र ही वहाँ परिषद् की शाखा गठित हो जायेगी।

इस प्रकार 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' के अनेकानेक सहयोगियों, हितैषियों, मित्रों और समस्त सभ्यों एवं पाठकों के आशीर्वाद से हमारा कार्यक्षेत्र विस्तृत होता जायेगा और हम नई ऊर्जा के साथ राष्ट्रभाषा हिन्दी और इसके माध्यम से विज्ञान एवं राष्ट्र की सेवा कर सकेंगे, इसी आशा, इसी विश्वास के साथ।

आपका
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1993

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।

(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।

(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।

(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।

(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1993 से दिसम्बर 1993 माह के बीच प्रकाशित हो।

(6) लेखक को लेख के साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।

(7) विज्ञान परिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।

(8) वर्ष 1993 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1994 है।

(9) पुरस्कार के लिए पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागियों को इस प्रतियोगिता के लिए उपयुक्त नहीं समझा जायेगा।

लेख निम्न पते पर भेजें—

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद वा रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन की प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पत्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु०, चौथाई पृष्ठ 50.00, आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

विज्ञान

विज्ञान परिषद् - इलाहाबाद

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन मई 1915
जून 1993; वर्ष 79 अंक

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7 ए बेली एवेन्यू
इलाहाबाद-211002

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

विज्ञान वक्तव्य

मलेरिया और उसकी रोकथाम

प्रिय पाठकगण !

जून 1993 अंक आपको सौंपते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है। "विज्ञान" पत्रिका के नियमित रूप से प्रकाशित होने के आसार दिख रहे हैं।

जून का महीना है। शिद्दत की गर्मी है। गर्मी के कारण ग्रीष्मावकाश है। स्कूल बंद, कॉलेज बन्द, विश्वविद्यालय बन्द, किन्तु परिषद् की गतिविधियाँ चल रही हैं।

गर्मी के इस मौसम के बाद बरसात आ जायेगी और बरसात के साथ ही प्रारम्भ हो जायेगा 'मलेरिया' का प्रकोप। छोटे-बड़े गड्ढों में पानी एकत्र हो जायेगा और इस रुके पानी में बढ़ेंगे मच्छर और फैलायेंगे 'मलेरिया'।

'मलेरिया' सारे संसार का रोग है। इस रोग ने दुनिया के 100 से अधिक देशों को अपनी चपेट में ले रखा है। भारत में भी लोग मलेरिया से परेशान हैं।

मलेरिया जाना पहचाना रोग है। यह मनुष्यों में मच्छरों के काटने से ही फैलता है। हममें से शायद ही कोई ऐसा हो जो मच्छर के काटने से बच सका हो।

यू एन पी डी (यूनाइटेड नेशन्स पॉपुलेशन डिवीजन) द्वारा 1990 में प्रकाशित एक रिपोर्ट चौंकाने वाली है। इधर तेजी से बढ़ने वाले रोगों में 'मलेरिया', 'एड्स' (AIDS) के बाद दूसरे नम्बर पर है। 1990 में पाँच वर्ष से कम उम्र के आठ लाख मलेरिया के रोगी बच्चों की मृत्यु हो गई थी। आज विश्व में मलेरिया के लगभग 110 मिलियन रोगी पाये जाते हैं। इसके तीन चौथाई रोगी अकेले अफ्रीका में ही हैं।

सच्चाई यह है कि मच्छर बस बदनाम भर हैं। ये मुफ्त में मारे जाते हैं। असली खलनायक तो एक दूसरा नन्हा जीव है, जिसे प्लैज्मोडियम के नाम से पुकारते हैं। मनुष्य और मच्छर के शरीर में पलने वाला यह नन्हा जीव परजीवी कहलाता है। प्लैज्मोडियम की चार प्रजातियाँ मलेरिया फैलाती हैं। प्लैज्मोडियम के प्रभाव से हमें तो मलेरिया हो जाता है, यह हमें पता है, किन्तु मच्छरों को इससे क्या तकलीफ होती है, यह हमें पता नहीं है। हो सकता है मच्छर भी इससे परेशान हों। एक अनुमान के अनुसार अकेले एक प्रजाति - प्लैज्मोडियम फैल्सीपेरम से लगभग 280 मिलियन व्यक्ति प्रभावित होते हैं। आँखों से न दिखने वाला यह नन्हा जीव आदमी के शरीर में इतनी तेजी से संख्या में बढ़ता है कि इसे रोक पाना आसान नहीं। यह रोग तब उत्पन्न होता है जब मादा मच्छर (एनोफेलीज़) किसी मनुष्य को काटती है। तो, वास्तविकता मह है कि मच्छर काटता नहीं है, काटती है। नर बेचारे तो पेड़ों और झाड़ियों आदि में निवास करते हैं- और रक्त नहीं चूसते।

इस प्रकार हमारे सुस्वादु खून की मादा मच्छर जमकर दावत उड़ती है। एक रोगी व्यक्ति के शरीर का रक्त चूसने के बाद वही मादा जब किसी स्वस्थ व्यक्ति को काटती है तो रक्त की धारा के माध्यम से आदमी के यकृत (लीवर) में सूक्ष्म **प्लैज्मोडियम** को पहुँचा देती है। यह परजीवी यकृत की कुछ कोशिकाओं में प्रवेश कर जाता है और संख्या में वृद्धि करता है। आमतौर से एक या दो सप्ताहों तक मनुष्य को रोग का पता नहीं चलता है। इस काल के समाप्त होने पर यकृत की कोशिकायें फट जाती हैं और परजीवी अत्यधिक संख्या में रक्त की धारा में चक्कर लगाते हुए लाल रक्त कणिकाओं (आर बी सी) को नष्ट कर देते हैं और इससे तेजी से 'रक्ताल्पता' (एनीमिया) हो जाता है। बच्चों और गर्भवती महिलाओं में मलेरिया के कारण खून की कमी से 'पीलिया' रोग भी हो जाता है। कभी-कभी तो मलेरिया के प्रभाव से गुर्दे भी काम करना बन्द कर देते हैं और मृत्यु भी हो जाती है।

यह एक और चौंकाने वाला तथ्य है कि मच्छर की 2000 किस्मों में से लगभग 60 किस्में रोगको रोगी से स्वस्थ व्यक्ति में फैलाने का काम करती हैं। रोग के लक्षणों में सिरदर्द, भूख में कमी, कंपकँपी, तेज बुखार, कमजोरी, जलन, रूखापन, पसीना आना आदि हैं।

मलेरिया रोग से बचने के लिए पीने का पानी, जिस बर्तन में रखा हुआ हो उसे ढँक कर रखना चाहिए। नालों और खेतों में पानी रुका हुआ नहीं होना चाहिए। ऐसे छोटे गड्ढे, जिनमें पानी एकत्र हो गया हो, उसमें मिट्टी भरकर उसे पाट देना चाहिए। गड्ढे, नाले, ताल-तलैया के जल के ऊपर मच्छर मारने वाली दवाइयों का छिड़काव करना चाहिए। पानी के बहाव की गति को तेज कर देना चाहिए। ऐसी मछलियाँ जलाशयों में छोड़नी या पालनी चाहिए जो मच्छरों के लारवों का भक्षण करती हैं। घरों के अन्दर और आस-पास उगे पेड़-पौधों और वनस्पतियों पर कीड़ों-मकोड़ों को मारने वाली दवाइयों का छिड़काव करना चाहिए। इन सभी कामों में मलेरिया विभाग के कर्मचारियों की सहायता लेनी चाहिए। जहाँ तक हो सके घर के आस-पास की बेकार झाड़ियों और घास-फूस या खर-पतवार को काट कर साफ कर देना चाहिए, क्योंकि यहीं नर मच्छर पलते-बढ़ते निवास करते हैं। मच्छरों की संख्या कम होने से मलेरिया का प्रकोप कम होगा।

निर्धन और गन्दी बस्ती में रहने वाले लोग मलेरिया की चपेट में अत्यधिक संख्या में आते हैं, क्योंकि ऐसी जगहें मच्छरों के पनपने के लिए अच्छी होती हैं। यही नहीं, साफ-सुथरे घरों के ऐसे कूलरों के पानी में मच्छर संख्या में तेजी से वृद्धि करते देखे गए हैं, जिनका पानी बदला नहीं जाता है।

वैसे मलेरिया से बचने का सबसे अच्छा तरीका है मच्छरों के सम्पर्क से बचना। मच्छरदानी का प्रयोग मलेरिया रोग से बचने का सबसे आसान तरीका है। डेल्टामेथ्रिन में भिगोई गई मच्छरदानी अधिक प्रभावी है। इससे मच्छर दूर भागते हैं। यह शरीर पर भी कोई हानिकारक प्रभाव नहीं छोड़ती अतएव इससे स्वास्थ्य और पर्यावरण को कोई खतरा नहीं है।

अभी पिछले दिनों इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सी. एम. पी. डिग्री कॉलेज में ओडोनेटा समूह के कीटों पर दक्षिण एशियाई देशों के कीटविज्ञानियों की एक त्रिदिवसीय संगोष्ठी (10-12 अक्टूबर, 1992) में एक बात उभर कर सामने आई कि 'ड्रैगनफ्लाई' और 'डेमीसफ्लाई' का मुख्य भोजन मच्छर और मच्छर के लारवा हैं। इसलिये ये कीट भी मच्छरों के नाश में उपयोगी हो सकते हैं।

'मलेरिया वैक्सीन' के परिणाम भी आशाजनक हैं।

अपने देश में आज सबसे बड़ी आवश्यकता है अनपढ़ लोगों और मलिन बस्तियों के निवासियों को मलेरिया से संबन्धित जानकारी देने की ताकि वे इस रोग के प्रति सावधान हो जायें।

किन्तु उपर्युक्त जानकारी तो मलेरिया के विषय में कुछ भी नहीं है। "विज्ञान" के दो लेखकों--- डॉ० रविशंकर पाण्डेय एवं मानवेन्द्र त्रिपाठी ने मच्छर और मलेरिया पर 10 लेखों की एक शृंखला तैयार करने का वचन दिया है। इसमें से 5 आलेख मेरे पास पहुँच भी गए हैं। आगामी अंक से इस शृंखला का प्रारंभ हो रहा है।

एक शुभ समाचार है। श्रद्धेय स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी को आर्य समाज ने "वेद-वेदांग पुरस्कार 1993" देकर सम्मानित किया है। स्वामी जी को बधाई।

हिन्दी संस्थान उत्तर प्रदेश, लखनऊ एवं विज्ञान परिषद् प्रयाग, इलाहाबाद के तत्वावधान में 'हिन्दी में विज्ञान लेखन: वर्तमान् एवं भविष्य' विषय पर एक संगोष्ठी का आयोजन करने में भी हमें आशा है, सफलता मिल जायेगी। इस संगोष्ठी की तिथि अभी निश्चित नहीं है।

परिषद् के नये पदाधिकारियों का चुनाव शीघ्र सम्पन्न हो जाने की आशा है। एन सी एस टी सी के उपनिदेशक डॉ० नरेन्द्र कुमार सहगल जी ने कृपापूर्वक "डॉ० आत्मा राम स्मृति व्याख्यान" देने की स्वीकृति भेज दी है। कुल मिलाकर परिषद् की गतिविधियों में पुनः तेजी आ रही है।

शुभकामनाओं सहित
आपका
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

○○

अंतरिक्षावरण से जुड़ा है पृथ्वी का पर्यावरण

सत्येन्द्र मोहन डोभाल

हम अपनी पृथ्वी के ऊपर जो खाली नीला आकाश देखते हैं उसे वैज्ञानिक भाषा में अन्तरिक्ष कहा जाता है। आकाश के इस खाली भाग को "आकाश रिक्तिका" भी कहा जा सकता है। आकाश नीला इसलिये होता है चूंकि पृथ्वी में समुद्री क्षेत्र नीला है जिस पर कि सूर्य व अन्य ग्रहों का आकर्षण पड़ता है। फलस्वरूप नीला प्रतिबिम्ब खाली आकाश रिक्तिका में नीली चमक के रूप में प्रतिलक्षित होता है जिसके कारण आकाश नीला दिखाई देता है। इसी खाली 'आकाश रिक्तिका' को वेदों में नेति-नेति कहा है अर्थात् जिसका न कोई अन्त है और न आदि, वह अनन्त है।

यह अन्तरिक्ष इतना विशाल है कि इसमें सदैव घोर अन्धकार छाया रहता है। आकाश रिक्तिका के खाली अनन्त क्षेत्र में दूर-दूर तक फैले अगणित तारागण, ठोस, द्रव अथवा गैसीय पदार्थों से बने हुये गोलाकार पिण्ड हैं। इन्हें हम आकाशीय पिण्ड कहते हैं। यद्यपि ये सब पिण्ड मूलतः एक जैसे हैं किन्तु इनमें बड़ा अन्तर है। कुछ आकाशीय पिण्ड बड़े और कुछ छोटे, कुछ गरम और कुछ ठन्डे, कुछ तेज गति वाले और कुछ धीमी गति वाले, कुछ प्रकाशवान और कुछ प्रकाशहीन, कुछ पृथ्वी से दूर और कुछ निकट स्थित हैं। जो पिण्ड पृथ्वी के निकट स्थित हैं वे छोटे होते हुए भी बड़े दिखाई पड़ते हैं और जो पिण्ड पृथ्वी से दूर हैं वे बड़े होते हुये भी छोटे दिखाई पड़ते हैं। ये सब आकाशीय पिण्ड गतिशील हैं। आकाश में इनके घूमने के निश्चित मार्ग हैं। जब से इनका जन्म हुआ तब से इनका समस्त पदार्थ भार, गुरूत्वाकर्षण द्वारा प्रत्येक पिण्ड एक-दूसरे को अपने केन्द्र की ओर खींचे हुये हैं। इसी से प्रत्येक पिण्ड अपने-अपने स्थायित्व पर संतुलित टिके हुये हैं। आकाश में अरबों-खरबों तारे हैं लेकिन सब गुरुत्वाकर्षण के जादू से शून्य में लटके हुये हैं। न कोई गिरता है, और न कोई अपने मार्ग से विचलित होता है। कदाचित जब कोई तारा अपना रास्ता भटक जाता है तो वह अन्य तारों से ठीक उसी प्रकार टकराता है जैसे सड़क पर मोटरें या साइकिलें।

आकाश में ये सब दूर-दूर तक फैले रहते हैं। इनकी दूरी को मील अथवा किलोमीटर में बताना सम्भव नहीं है। इनकी दूरी को प्रकाश वर्ष व पारिसेक में नापा जाता है। एक प्रकाश वर्ष की दूरी 9.5 मिलियन किलोमीटर होती है। इस अनन्त आकाश के तारों के चतुर्दिक चक्कर लगाने वाले ग्रह एवं उपग्रह होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक तारे का अपना एक परिवार होता है जिसे सौरमण्डल कहा जाता है। इन सौरमण्डलों के अतिरिक्त दो-दो, चार-चार व इससे भी अधिक तारों के नक्षत्रीय समूह होते हैं। इन नक्षत्रीय समूहों के अतिरिक्त इसमें बड़े-बड़े तारकपुंज भी हैं। इन तारकपुंजों को नीहारिका (गैलेक्सी) या ब्रह्माण्ड कहा जाता है। अनुमान है कि अन्तरिक्ष में कम से कम एक अरब नीहारिकायें या ब्रह्माण्ड हैं।

ब्रह्माण्ड से लेकर सौरमण्डल सभी गत्यात्मक हैं। सूर्य, जिसे हम स्थिर मानते हैं, स्वयं हमारी आकाशगंगा नामक ब्रह्माण्ड के केन्द्र के चारों ओर 23 करोड़ वर्ष में एक परिक्रमा पूरी करता है। समूची हमारी आकाशगंगा,

---

ग्राम-मरोड़ापट्टी जुवां, पोस्ट-मालीदेवल, जिला-टिहरी गढ़वाल-249001 (उ० प्र०)

ब्रह्माण्ड (जिसमें हमारी पृथ्वी निहित है) स्वयं अपने केन्द्र पर घूमती है और 50 करोड़ वर्ष में एक-एक परिक्रमा पूरी करती है।

अन्तरिक्ष में नीहारिका या ब्रह्माण्ड द्वीपों की भाँति फैली हुई है। इनमें तारे, ग्रह, उपग्रह, छुद्र ग्रह, उल्कायें आदि होती हैं। हमारी आकाशगंगा पूर्ण नीहारिका है। कुछ ब्रह्माण्ड (नीहारिकायें), निर्माणाधीन हैं। जब इनका निर्माण पूरा हो जाता है तब ये ब्रह्माण्ड में एक हवा से भरे गुब्बारे की तरह फैला हुआ विस्तार दिखाई देता है। हमारी सृष्टि गैस, ठोस और द्रव्य जैसे 108 मौलिक तत्वों से बनी है। इन मौलिक तत्वों के छोटे-छोटे हिस्से परमाणु, धनात्मक, नाभिकण तथा विद्युत् कण होते हैं। सृष्टि में सूक्ष्म नाभिकण विद्युत् कणों की तरह वैसे ही आकर्षित हो कर सतत चक्कर काटते हैं जैसे ब्रह्माण्ड में ग्रह, उपग्रह, छुद्रग्रह आदि करते हैं।

आकाश में फैले छोटे-बड़े सभी पिण्ड कुछ व्यवस्थित परिवारों में बँटे हुये हैं। प्रत्येक परिवार में एक बड़ा जाज्वल्यमान नक्षत्र या तारा होता है जिसको हम अपनी भाषा में सूर्य कहते हैं। गुरुत्वाकर्षण के कारण ग्रह, उपग्रह, छुद्रग्रह, उल्का, पुच्छल तारे एवं ब्रह्माण्ड सभी अपने परिवारों से बँधे हुये हैं। सूर्य इन सबका केन्द्र है। अपने-अपने सूर्य के ये सब चारों ओर परिक्रमा लगाते हैं। ऐसे समस्त क्षेत्रों को सौरमण्डल कहा जाता है।

सर्वप्रथम हमारी सम्पूर्ण सृष्टि के सारे मौलिक तत्व एक-साथ एक बड़े महाकाय पिण्ड का स्वरूप थे। अर्थात् समस्त ग्रह, उपग्रह, छुद्रग्रह, राशियाँ, नीहारिकायें आदि जितने भी पदार्थ सृष्टि में विद्यमान थे, वह एक समूह-पिण्ड था। इस समूह महाकाय पिण्ड का आधार कुछ न था। मात्र खाली खोखला 'आकाश रिक्तिका', जो अनन्त है। इसी कारण यह महाकाय पिण्ड खाली आकाश में अपने आधार रहित होने से लुढकता-घूमता रहा। घूमने व लुढ़कने पर इसके केन्द्र व बाहर की ओर के पदार्थों में आपस में रगड़न होने से हलचल व ऊष्मा पैदा होने लगी। जैसे-जैसे इस महाकाय पिण्ड की तेजी से गति बढ़ने लगी, इसके केन्द्रीय भाग में ऊष्मा का केन्द्रीयकरण जोर से बढ़ने लगा। फलस्वरूप तेज गति वाले इस पिण्ड के मध्य इतना अधिक ताप बढ़ गया कि इस महापिण्ड में भयंकर विस्फोट हो गया। फलस्वरूप एक बड़ी मात्रा में पदार्थों के छल्ले आसमान में गोल पिण्डों के रूप में बिखर कर घूमने लगे। इन्हीं से तारागण व ब्रह्माण्ड की रचना हुई जिनमें कि पारस्परिक गुरूत्व बल उत्पन्न हो गया। हालाँकि यह गुरूत्व बल खुले खोखले आकाश की बड़ी दूरियों के कारण व छल्लेदार रेंगते पिण्डों के आपस में मिलने की प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न हुआ किन्तु ये पिण्ड आज भी पूर्ण ब्रह्माण्ड बनाने की स्थिति में नहीं भिड़ते। कारण यह है कि जब दो ग्रह, उपग्रह या छुद्र ग्रह जो भी हों, जब आपस में सकारात्मक गुरुत्व बल के कारण मिलने को होते हैं तो उनके रास्ते के मध्य में अन्य कई ग्रह, उपग्रह, छुद्रग्रह आदि अपने-अपने आकर्षण से प्रभावित करते रहते हैं जिससे इनके आपस में भिड़ने पर रोक हो जाती है। इस कारण इनमें मात्र एक प्रकार की घूमने या परिक्रमा गतियाँ ही रह जाती हैं। इनका मुख्य कारण यह है कि प्रत्येक ग्रह, उपग्रह, व छुद्र ग्रहों के मध्य दूर कुछ ग्रह, छुद्रग्रह व उपग्रह ऐसे हैं जिनका पदार्थ एक दूसरे से सह -सम्बन्धात्मक नहीं है। यही कारण है कि ब्रह्माण्ड में ये आपस में टकराते नहीं। और इस कारण प्रत्येक पिण्ड का समीपवर्ती पिण्ड के लिए ऋणात्मक गुरुत्व बल बन जाता है। पूर्ण निर्माण वाले ब्रह्माण्ड में कोई भी पिण्ड आपस में नहीं टकराते हैं। अपूर्ण या निर्माणाधीन ब्रह्माण्डों में कभी भी पिण्डों की भिड़न्त होती रहती है। किन्तु जब व्यवस्था ऋणात्मक गुरुत्व बल की हो जाती है तो ब्रह्माण्ड पूर्ण कहलाता है। सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थमय महापिण्ड से बने आज भी निर्माणाधीन ब्रह्माण्ड हैं, जिनमें अनेक बार पिण्डों की भिड़न्तें होती हैं। हमारी आकाशगंगा नामक ब्रह्माण्ड एक पूर्ण ब्रह्माण्ड है। इसका सौर परिवार व्यवस्थित है और प्रत्येक पिण्ड का ऋणात्मक गुरुत्व

बल वाला पारस्परिक सह-सम्बन्ध है । प्रत्येक का आकर्षण एक दूसरे को प्रभावित करता है, जिससे इनमें गतियाँ बनो हुई हैं ।

आकाशगंगा नामक ब्रह्माण्ड, जिसमें कि हमारी यह सुन्दर धरती निहित है, आज एक खतरे में पड़ने वाली है । पृथ्वी के जितने भी प्राणी हैं, उनका जन्म पृथ्वी एवं नक्षत्रीय ग्रहों के आकर्षण के कारण ही सम्भव हुआ है । यदि अन्तरिक्ष में सूर्य ही न होता तो पृथ्वी में किसी भी प्रकार की जीव-उत्पत्ति या परिवर्तन सम्भव न होता । सूर्य की तरह अनेक नक्षत्र हैं, जिनमें कुछ हमें दिखाई देते हैं, कुछ दिखाई नहीं देते, पर हमारी पृथ्वी को अपने आकर्षण से प्रभावित करते रहते हैं । यहाँ तक कि चन्द्रमा के आकर्षण का प्रभाव समुद्रों में होने वाले ज्वार-भाटा को देखकर जाना जा सकता है । जब हमारी आकाशगंगा की पूर्ण रचना उथल-पुथल के बाद व्यवस्थित हो चुकी होगी तभी हमारी पृथ्वी व आकाशगंगा में निहित पिण्डों का पदार्थ, भार, गुरुत्व बल निश्चित हुआ था । किन्तु आज पृथ्वी का भार, गुरुत्व बल व पदार्थ कम होता जा रहा है । आकाशगंगा में निहित ग्रहों, उपग्रहों व छुद्र ग्रहों की व्यवस्थित गुरुत्वाकर्षण की तुलना में पृथ्वी का गुरुत्व बल कमजोर होता जा रहा है । इस बात का मुख्य प्रमाण पृथ्वी पर तेजी से बढ़ते सूर्याभिताप से है ।

विशाल सामूहिक सृष्टि पदार्थ वाले महाकायपिण्ड से जब खोखली आकाश रिक्तिका से पृथ्वी सहित अनेक महापिण्डों का छितराव व बिखराव होकर रेंगते छल्लों के रूप में निर्माण हुआ होगा, उसी समय उनकी हर प्रकार की गतियाँ, भार, गुण, गुरुत्वाकर्षण आदि निश्चित हुआ था । किन्तु आज मानवीय विज्ञान ने पृथ्वी के खनिज से खिलवाड़ करके व पृथ्वी से छेड़-छाड़ कर, उसके प्राकृतिक सृजनकारी खनिज पदार्थ का शोधन करके सेटलाइट व राकेटों का निर्माण कर डाला है । और यह जानते हुये कि यह धरती का एक खण्ड, खनिज व भार है, उसे पृथ्वी से अलग करके अन्तरिक्ष शून्य में प्रक्षेपित किया जाता रहा है । यदि प्रत्येक देश इस भूल को करता है तो अन्तरिक्ष के शून्य में सेटलाइटों व राकेटों के एक जमघट के रूप में बढ़ता रहेगा और यह धरती खनिज के कटाव का शक्तिहीन-जीर्णशीर्ण हिस्सा बची रहेगी । इस प्रक्रिया में गुरुत्वाकर्षण शक्ति भार, व पदार्थ धीरे-धीरे सेटलाइट व राकेटों के रूप में पलायित होता रहेगा । पृथ्वी अपने निश्चित भार में पूर्व से है । उसके भार में निहित पदार्थों में भले ही परिवर्तन जन्म-विकाश-विनाश के रूप में होते रहते हैं, किन्तु उसका पदार्थ भार कभी भी मरता नहीं । वरन् धरती पर ही पड़ा रहता है । परिवर्तनशक्ति द्वारा पदार्थ के रंग, रूप, आकार भले ही क्यों न बदल जायें, किन्तु पदार्थ का भार व गुरुत्व इस पृथ्वी से अलग नहीं होता । अनेक आयामों से गुजरता पदार्थ पृथ्वी से ही जुड़ा रहता है । माना कि हमने किसी पेड़ को काटा, उनके फर्नीचर बनाये, फिर फर्नीचर विनाश में यदि दीमक लग कर मिट्टी बन जाये, तो देखें कि रूप, रंग व आकार में परिवर्तन अवश्य आयेगा किन्तु भार व पदार्थ धरती से ही जुड़े हुये रहेंगे । ठीक इस बात को अन्तरिक्ष वैज्ञानिक नहीं सोच रहे कि मिट्टी से शोधे खनिज से ही तब सेटेलाइट व रॉकेट बने हैं, जिन्हें धरती का हिस्सा कहा जा सकता है । जिसे धरती पर ही अनेक प्राकृतिक परिवर्तन-चक्रों के आयामों से होकर गुजरना था और इसी पृथ्वी से जुड़े रहना था । किन्तु इसकी पहचान आज तक अन्तरिक्ष वैज्ञानिकों को नहीं हुई कि यह एक प्रकार का खनिज कटाव है, या पदार्थ कटाव है । इस तरह पृथ्वी से पदार्थ के जुड़े होने की भूमिका को समाप्त किया जा रहा है । प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ प्राकृतिक चक्रों के अन्तर्गत ही अपने जन्म-विकास-विनाश की चक्रीय धुरी को दोहराते हुये पृथ्वी में ही विलीन (जुड़े) रहते हैं । पृथ्वी में ही वे पदार्थ परिवर्तनकारी रह कर पृथ्वी के अस्तित्व, सुदृढ़ता व संगठन को मजबूत, सुसंगठित बनाये रखते हैं । अर्थात् पदार्थ पृथ्वी के अस्तित्व के लिये एक पूर्णता का कार्य करता

है। इतना मात्र अवश्य है कि जन्म-विकास-विनाश के पश्चात् वह अपने रूप, रंग, गुण, आकार, गंध आदि को बदल देता है। किन्तु फिर भी अपने भार, आकर्षणशक्ति को पृथ्वी से जोड़े रहता है। कहना न होगा कि पृथ्वी पदार्थों का संयोग है, जिसका निर्माण एक समय में निश्चित मात्राओं में हुआ होगा, जिससे जीवों की उत्पत्ति सम्भव हुई होगी। किन्तु आधुनिक अन्तरिक्ष विज्ञान ने इसकी निश्चितता को चोट पहुँचाई है। मकान हो या दुकान, पेड़ हो या पशु, मानव हो या पक्षी, सभी पृथ्वी के पदार्थों से सृजनित हुये हैं। सब विनाश से पूर्व व विनाश के बाद पृथ्वी से जुड़े रहते हैं। सब 'एक संयोग' का गठन किये हुये हैं, वह पृथ्वी! किन्तु आज पृथ्वी को विखण्डित रूप में अन्तरिक्ष में पदार्थ (सेटेलाइटों व राकेटों) आदि के रूप में पलायन करके किया जा रहा है। इसी कारण पृथ्वी की एक महत्व-पूर्ण शक्ति गुरुत्वाकर्षण, जिसके कारण वह आकाशगंगा ब्रह्माण्ड में अपना पूर्ण संतुलन बनाकर शून्य में लटकी है और दैनिक परिवर्तन पृथ्वी में कर रही है, धीरे-धीरे इस प्रकार क्षीण हो रही है कि वह प्राणी-उपयोग के लिए खतरनाक सिद्ध होगी।

साफ-साफ बात यह है और मेरा यह मानना भी है कि विश्व भर के देशों को अन्तरिक्ष में राकेट, सेटे-लाइट आदि पदार्थों का पृथ्वी से पलायन करने का अर्थ है कि पृथ्वी के हिस्सों को अंतरिक्ष में टुकड़ों के रूप में फैलाना जिससे पृथ्वी के भार, गुरुत्वाकर्षण व पदार्थ की कमी होगी। जिस पदार्थ को सदैव पृथ्वी से जुड़े रहना था और अनेक प्राकृतिक-चक्रों से गुजरना था वह अपनी भूमिका खोकर अन्तरिक्ष में इस प्रकार बिखर गया है कि आज पृथ्वी अपने संतुलन को खो बैठी है। पृथ्वी अपने छोटे-छोटे हिस्सों में बँट गई है और बँटती जा रही है। पृथ्वी से जुड़ा महत्वपूर्ण जादुई पहलू गुरुत्वाकर्षण उसी के कारण इतना कम हो गया कि उसकी कमी के कारण निश्चित रूप से जलवायु परिवर्तन, नये किस्म के रोग, भूकम्प, ज्वालामुखी, बाढ़, अकाल व ओज़ोन की रक्षाकारी परत पर छिद्र आदि नैसर्गिक प्रकोपों का जन्म हो चुका है और भविष्य में उसी क्रम में बढ़ेगी जैसे-जैसे खनिज कटाव करके अन्तरिक्ष में पृथ्वी पदार्थों को सेटेलाइट, राकेट आदि के रूप में विखेरा जायेगा। सैकड़ों राकेटों, सेटेलाइट व पदार्थों को यदि देखें (जो कि अन्तरिक्ष में पलायन हो चुके हैं) और अन्तरिक्ष में ही उनका जमघट किया जांय तो वह एक अच्छा खासा पृथ्वी पदार्थ पिण्ड साबित होगा, जिसमें पृथ्वी के अनेक गुणों सहित गुरुत्वाकर्षण शक्ति का एक हिस्सा शून्य में लटकता मिलेगा, जो कि पृथ्वी-क्षीणता व कटाव का एक अंश कहलायेगा। इसी बात से साबित हो सकता है कि निश्चित रूप से पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण कमज़ोर होता जा रहा है।

पृथ्वी का अधिकांश क्षेत्र पानी से घिरा हुआ है। सूर्याभिताप से ऑक्सीजन व वाष्पीकरण का निर्माण हुआ है। भू-क्षेत्रों से पेड़ भी ऑक्सीजन के स्रोत हैं। जब दोनों क्षेत्रों से हल्की ऑक्सीजन, वायुमंडल के ऊपरी क्षेत्र में जाती है तब ऑक्सीज़न का 'संयुक्तीकरण' (इक्ट्ठा) होता है। ऐसा होने पर ऑक्सीजन स्थूल हो जाती है और तब पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण अपनी ओर उस हल्की ऑक्सीजन को खींचती है। गुरुत्वाकर्षण शक्ति से वह पृथ्वी के चारों ओर वृत्ताकार रूप में एक परत का सुसंगठित आकार स्वतः बन जाती है। फिर उस हल्की ऑक्सीजन की सुसंगठित परत पर सूर्य की पराबैंगनी किरणों का प्रतिद्वन्द होता है, जिससे वह ओज़ोन की उत्पत्ति कर बैठती है। अतः समस्त वृत्ताकार हल्की ऑक्सीजन परत ओज़ोन परत में प्रतिस्थापित हो जाती है। किन्तु अधिक सूर्याभिताप व पृथ्वी के कम गुरुत्व शक्ति के कारण "सुसंगठित ओज़ोन परत" का सुसंगठित रहना सम्भव नहीं है। परिणामतः आज पृथ्वी का सूर्याभिताप बढ़ता जा रहा है। यही कारण है कि पृथ्वी के कम गुरुत्व शक्ति के कारण ओज़ोन में बदलने वाली हल्की ऑक्सीजन परत तेज सूर्याभिताप को सहन नहीं कर पा रही, साथ ही दूसरी ओर हल्की ऑक्सीजन परत के संगठन

के लिए 'उपयुक्त पृथ्वी गुरुत्व शक्ति' क्षीण हो रही है। यही कारण है कि ध्रुवों की ओर बढ़ते सूर्याभिताप के कारण ओज़ोन परत में छिद्र (झीनापन) बढ़ रहे हैं, जिससे अनेक प्राणी-विनाश के नैसर्गिक प्रकोप उत्पन्न हो रहे हैं।

कभी-कभी पृथ्वी के हिस्सों में भूकम्प उत्पन्न होते हैं। इनका मुख्य कारण भूगर्भ में कुछ गहराई के बाद चट्टानों व मिट्टी में भ्रंश (दरारें) पड़ने व बाद में रासायनिक उथल-पुथल के बाद उन भ्रन्शों के आपस में भिड़ने से ऊपरी भू-सतह (जो कि आग्नेय शक्तिशाली परत की होती है) हिलने लगती है। यही भूकम्प है। किन्तु प्रश्न यह है कि भ्रन्श पड़ते क्यों हैं ? इसका सीधा और साफ उत्तर यह है कि "पृथ्वी पर जो भी परिवर्तन होता है वह सूर्य अथवा नक्षत्र ग्रहों के आकर्षण से उत्पन्न होता है। पृथ्वी की ऊपरी सतह धूप, वर्षा आदि के लगातार प्रभाव से शक्तिशाली व पुष्ठ है किन्तु भूगर्भ के अन्दर कुछ दूरी तक अनेक चट्टानें व मिट्टी के टीले इतने नाज़ुक हैं, कि इनमें रासायनिक उथल-पुथल के कारण लम्बे भ्रन्श पड़ जाते हैं। यही नहीं, जब पृथ्वी का कोई हिस्सा दो शक्तिशाली ग्रहों के आकर्षण के बीच पड़ता है तो पृथ्वी के आन्तरिक कमजोर हिस्सों में लम्बे भ्रन्श पड़ जाते हैं और बाद में वे ही भ्रन्श (दरारें) रासायनिक आन्तरिक उथल-पुथल के कारण आपस में फट या भिड़ जाते हैं, जिससे धरती की ऊपरी सतह (आग्नेय मजबूत परत) हिलने लगती है। ध्यान रहे पृथ्वी पर अनेक परिवर्तन व रासायनिक उथल-पुथल नक्षत्र ग्रहों के आकर्षण के कारण उत्पन्न होते हैं।

किन्तु आधुनिक भूकम्पों को मानव कृत कहना अनुचित न होगा। इसका मुख्य कारण पृथ्वी की गुरुत्व शक्ति का कमजोर होना है। अन्तरिक्ष में पृथ्वी पदार्थ पलायन से यह स्थिति (कमजोर गुरुत्व की) उत्पन्न हुई है। आधुनिक समय में जब पृथ्वी किन्हीं दो प्राकृतिक ग्रहों के मध्य पड़ती है तब गुरुत्व शक्ति से क्षीण पृथ्वी को पहले की तुलना में किन्हीं दो ग्रहों के शक्तिशाली आकर्षण से होकर गुजरना होता है।

दूसरे शब्दों में जब पृथ्वी दो प्राकृतिक ग्रहों के मध्य होती है, उस समय वे दो प्राकृतिक ग्रह पृथ्वी को अपने-अपने आकर्षण से अपनी ओर खींचने के संघर्ष में बीच में पड़ी हुई पृथ्वी का आन्तरिक कमजोर भाग खिंचने से लम्बे व चौड़े भ्रन्श पड़ जाते हैं। पृथ्वी का अपना आकर्षण सुसंगठित न होने व कमजोर गुरुत्व होने पर चौड़े व लम्बे पड़े भ्रन्श कालान्तर में रासायनिक उथल-पुथल के बाद फिर से उसी स्थिति में पट या भिड़ जाते हैं, जिससे पृथ्वी की ऊपरी ठोस सतह (मजबूत आग्नेय परत) जोरों से हिलने लगती है। ये भ्रन्श प्राकृतिक भ्रन्शों की तुलना में चौड़े व लम्बे होते हैं, जिससे भूकम्पों की तीव्रता अधिक मापी जाती है। यही कारण है कि मकान व पहाड़ी गिरने की पूर्ण संभावना हो जाती है जबकि पुष्ट पृथ्वी शक्ति होने पर यह स्थिति नहीं हो सकती है। दुनिया के हर कोने में भूकम्प आने का यही आधुनिक कारण है कि अब पृथ्वी इतनी क्षीण हो गई कि इस पर प्राकृतिक ग्रहों का प्रभाव व आकर्षण बढ़ गया है, जिससे ज्वालामुखी व भूकम्पों की संभावनायें जहाँ-तहाँ निश्चित देखने में मिलेंगी। दूसरे शब्दों में यदि कहा जाये--"पहले की तुलना में पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण में जो कमी आई उसके कारण अन्तरिक्ष में निहित प्राकृतिक ग्रह पिण्डों का आकर्षण पृथ्वी पर बढ़ा है"। इन प्राकृतिक ग्रह पिण्डों का गुरुत्वाकर्षण पहले से ही निश्चित रहा है, जबकि इनकी अपेक्षा पृथ्वी के गुरुत्वबल को चोट पहुँची है। कहना न होगा कि पृथ्वी पर तेज़ी से बढ़ते प्राकृतिक ग्रहों के आकर्षक के कारण ही पृथ्वी के आन्तरिक व बाह्य भागों में रासायनिक व अन्य सभी प्रकार के परिवर्तन तेज़ी से उथल-पुथल के रूप में हो रहे हैं।

सेटेलाइट व राकेटों की पलायन जमघट के कारण आधुनिक भूकम्प तीव्र हिलाव व कम समय में लम्बे व चौड़े आन्तरिक भ्रन्श निर्माणक हैं। यदि भू-सतह कमजोर होगी तो मैग्मा मुक्त क्षेत्रों में भूकम्प सहित ज्वालामुखी आयेंगे। इनकी भरमार विश्व भर में कम-कम समय के अन्तराल में होती रहेगी। इसका यही अनुमान लगाया जा सकता है कि पृथ्वी पुष्ट नहीं रही, बल्कि जीर्ण-क्षीण हो चुकी है।

"पृथ्वी पदार्थ पलायन" ही से तो विश्व में जलवायु अनियमिततायें बढ़ी हैं। इसका मुख्य कारण यह है, कि जब पृथ्वी से अन्तरिक्ष में कोई पदार्थ-पलायन नहीं होता था उस समय पृथ्वी अपने भार, गुरुत्व, गुणों, आदि से पूर्ण व निश्चित थी। किन्तु "पदार्थ-पलायन" से हुई कमी के कारण पृथ्वी की घूमने की दो तरह की गतियों में प्रतिकूल अन्तर होता रहा है। पृथ्वी के कम गुरुत्व शक्ति के कारण प्राकृतिक ग्रहों ने पृथ्वी के "ग्रह-पथ" को अनियमित कर दिया है। यही कारण है कि पृथ्वी की जलवायु बदलने वाली वार्षिक गति का ग्रह-पथ अनियमित रूप से, गति कर रहा है। यद्यपि अभी इतदा बड़ा अन्तर तो नहीं किन्तु पृथ्वी पदार्थ-पलायन की जैसे-जैसे सीमा बढ़ेगी, पृथ्वी क्षीण होगी, और पृथ्वी की जलवायु में भीषण अनियमिततायें देखने को मिलेंगी। जलवायु परिवर्तन व अनियमितताओं के कारण ही तो वर्तमान् में नये किस्म के रोगों का जन्म हुआ है।

एक समय आयेगा जब पृथ्वी कमजोर गुरुत्व के कारण अपना सन्तुलन इस प्रकार खो देगी कि यह लड़खड़ा कर तेज आकर्षण वाले ग्रह या उपग्रह, छुद्र ग्रह से टकारा जायेगी।

प्रश्न यह है कि हम पृथ्वी के विनाश को जारी रखें या खतरे को भाँप कर पृथ्वी को नष्ट होने से बचा लें? क्या पृथ्वी के साथ हमारा अस्तित्व नहीं जुड़ा है?

○○

औद्योगिक मल-जल का उपचार आवश्यक

डॉ॰ आशुतोष गौतम

आज के युग में उद्योगों का उतना ही महत्व है जितना कि मनुष्य के लिये भोजन का। परन्तु औद्योगिकीकरण के साथ-साथ पर्यावरण प्रदूषण की समस्या भी बढ़ती जा रही है। इसका मुख्य कारण मनुष्य का इस ओर उचित ध्यान न देना है। किसी भी उद्योग से उत्पादित पदार्थ, उसके अवयवों अथवा ऊर्जा का कुछ भाग जब पर्यावरण में विसर्जित किया जाता है तो वह त्याज्य, अथवा वेस्ट (Waste) के नाम से उच्चारित किया जाता है। इसमें, कच्चे माल का कुछ बचा हुआ भाग जो कि पूरा उत्पाद में नहीं बदल पाता, उत्पाद का कुछ भाग जो कि प्राप्त नहीं किया जा सकता तथा कुछ भाग अन्य उत्पादों का होता है। अतः जब हम इस त्याज्य कचरे को पर्यावरण में विसर्जित करते हैं, तो हम दो प्रकार से नुकसान में रहते हैं। प्रथम तो हम अपने लाभप्रद पदार्थों को बेकार करते हैं तथा दूसरी ओर हम अपनी प्राकृतिक सम्पदा को नुकसान पहुँचाते हैं अर्थात् उसे प्रदूषित करते हैं।

बायोगैस विभाग, इंडिया ग्लाइकोल्स लि॰, पो॰बा॰न॰ 22, बजापुर रोड, काशीपुर-244713 (उ॰प्र॰)

तरल कचरे से ऊर्जा

उद्योगों से निकलने वाले तरल कचरे से हम कुछ लाभप्रद उत्पाद भी प्राप्त कर सकते हैं। जैसे कि उस तरल कचरे का उपयोग, जिसमे कार्बनिक पदार्थों की मात्रा अधिक है, खाद्य पदार्थों तथा कृषि पर आधारित औद्योगिक इकाइयों का उपयोग मीथेन से पूर्ण गैस के निर्माण में किया जा सकता है, जिसको सामन्य भाषा में बायोगैस कहा जाता है। भारतवर्ष में कृषि पर आधारित उद्योगों में चीनी उद्योग एक मुख्य उद्योग है। यह उद्योग हमारे देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान कर रहा है। यद्यपि भारतवर्ष में चीनी काफी पुराने समय से उत्पादित की जा रही है, परन्तु आधुनिक प्रणाली की शुरुआत 1930 के प्रारम्भ से हुई। 1931-1932 में चीनी का उत्पादन 1·62 लाख टन था, जो कि 1989-90 में बढ़कर 106 लाख टन हो गया।

सारणी | 1

आसवनी के सर्पेन्टवाश की विशिष्टता को दर्शाने वाले गुण

क्रमांक	गुण	मान
1.	पी एच (pH)	4.3-5.2
2.	कुल ठोस पदार्थ	60,000-90,000 मिलीग्राम/लीटर
3.	अघुलित ठोस पदार्थ	2,000-14,000 मिलीग्राम/लीटर
4.	घुलित ठोस पदार्थ	65,000-75,000 मिलीग्राम/लीटर
5.	कुल उड़नशील ठोस पदार्थ	42,000 65,000 मिलीगाम/लीटर
6.	रसायनिक ऑक्सीजन आवश्यकता (COD)	70,000-1,10,000 मिलीग्राम/लीटर
7.	जैविकीय ऑक्सीजन आवश्यकता (BOD)	45,000-60,000 मिलीग्राम/लीटर
8.	कुल नाइट्रोजन	1,000-1,200 मिलीग्राम/लीटर
9.	पोटाश	5,000-12,000 मिलीग्राम/लीटर
10.	फॉस्फोरस	500- 1,500 मिलीग्राम/लीटर
11.	सोडियम	150- 200 मिलीग्राम/लीटर
12.	क्लोराइड	5,000- 8,000 मिलीग्राम/लीटर
13.	सल्फेट	2,000- 5,000 मिलीग्राम/लीटर
14.	तापमान	70-80^0 सेंटीग्रेड

चीनी उद्योग के साथ जो मुख्य अप्रधान रचना उद्योग (बाईप्रोडक्ट इन्डस्ट्री) सम्बद्ध है, वह आसवनी (डिस्टीलरी) है। यह हमारे देश के किण्वन वाले उद्योगों के एक बड़े भाग का प्रतिनिधित्व करती है। आसवनी में चीनी मिल से प्राप्त त्याज्य तरल मोलासेस (जिसमें कि कुछ भाग चीनी का आ जाता है) का प्रयोग एल्कोहॉल बनाने के लिये किया जाता है। इस मोलासेस को इतना तनु करते हैं कि इसमें चीनी की मात्रा 15-16% रह जाये। अब इसको यीस्ट किण्वन के लिये प्रयुक्त सूक्ष्मजीव के साथ कमरे के तापमान पर किण्वन (फरमेन्टेशन) के लिये छोड़ देते हैं। यीस्ट चीनी को एल्कोहॉल में बदल देता है। किण्वन पूर्ण होने के बाद इसको आसवित कर लिया जाता है। आसवन की क्रिया में एल्कोहॉल अलग हो जाता है। अब जो तरल त्याज्य बचता है उसे "स्पैन्टवाश" के नाम से जाना जाता है। यह आसवनी का प्रदूषित जल होता है। इस त्याज्य की जो मात्रा प्राप्त होती है वह 12-15 लीटर प्रति लीटर एल्कोहॉल के अनुपात में प्राप्त होती है। भारत में इस समय 180 से अधिक आसवनियाँ हैं, जो कि 100 मिलियन लीटर औद्योगिक एल्कोहॉल का निर्माण कर रही हैं। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि ये आसवनियाँ कितनी बड़ी मात्रा में स्पैन्टवाश बना रही हैं तथा पर्यावरण (जलीय) को प्रदूषित कर रही हैं। इन आसवनियों में जो स्पैन्टवाश प्राप्त होता है उसकी गुणवत्ता हमेशा एक सी नहीं रहती है। संक्षेप में इसके गुणों को सारणी-1 में दर्शाया गया है। इससे स्पष्ट है कि इसमें कार्बनिक पदार्थों की मात्रा काफी अधिक होती है। अतः यदि इस स्पैन्टवाश को अनाक्सीय विधि द्वारा उपचारित किया जाय जो कि एक प्रदूषण नियंत्रण विधि है, तो हमें गैस के रूप में ऊर्जा प्राप्त होती है। यह आजकल की ऊर्जा-समस्या का एक उचित समाधान होगा।

उपचार की अनॉक्सीय विधि

यदि किसी त्याज्य का उपचार बिना ऑक्सीजन के किया जाय तो उसे अनॉक्सीय उपचार कहा जाता है। यह भी एक प्रकार का किण्वन है, जो जीवाणुओं (बैक्टीरिया) के द्वारा किया जाता है। यह प्रक्रिया एक तो लाभप्रद है क्योंकि इससे हमें ऊर्जा प्राप्त होती है साथ ही साथ इस पर लागत भी कम आती है। इसमें सूक्ष्मजीवों (बैक्टीरिया) जो कि बिना ऑक्सीजन के अपना जीवन-चक्र चलाते हैं, की मुख्य भूमिका रहती है। ये बैक्टीरिया एक निश्चित तरह की स्थिति अवस्था में जैसे कि एक निश्चित तापमान तथा पीएच की सीमा के अन्तर्गत ही कार्बनिक पदार्थों पर अभिक्रिया करते हैं। ये कार्बनिक पदार्थों का उपयोग अपने भोजन के रूप में करते हैं तथा मीथेन से युक्त गैस एवं स्लज (कचरे) का निर्माण करते हैं।

इस प्रकार के त्याज्यों को अनॉक्सीय विधि से उपचारित करने के लिये हमारे देश में कई तकनीकें उपलब्ध हैं, जो कि एक ही संचालन सिद्धान्त पर आधारित हैं। परन्तु बैक्टीरिया का त्याज्य में कार्बनिक पदार्थों के सम्पर्क में लाने का सिद्धान्त भिन्न है।

इस विधि को मीथेन-किण्वन (फरमेन्टेशन) तथा "बायो मीथेनोजिनेसिस" के नाम से भी जाना जाता है। यह प्रक्रिया तीन भागों में पूर्ण होती है। प्रथम चरण में सोल्यूबिलाइजेशन तथा हाइड्रोलिसिस की अभिक्रिया पूर्ण होती है, द्वितीय चरण में अम्ल निर्माण की क्रियाविधि पूर्ण होती, जिसमें कार्बनिक पदार्थों के बड़े अणु छोटे वसीय अम्लों के अणुओं में परिवर्तित हो जाते हैं। इन वसीय अम्लों को वोलेटाइल वसीय अम्ल कहा जाता है, जिसमें एसिटिक अम्ल, प्रोपिओनिक अम्ल तथा ब्यूटारिक अम्ल हैं। तृतीय चरण में मीथेनोजिनेसिस होता है। मीथेनोजिनेसिस की अभिक्रिया में वसीय अम्ल मीथेन में परिवर्तित हो जाते हैं। इस पूरी अभिक्रिया में दो प्रकार के बैक्टीरिया प्रयुक्त

होते हैं। एक तो अम्ल उत्पादक तथा द्वितीय मीथेन उत्पादक। अम्ल उत्पादक तो अम्ल बनाने का कार्य करते हैं, जबकि मीथेन उत्पदक इन वसीय अम्लों को मीथेन में बदलने का कार्य करते हैं।

इस प्रकार जो गैस प्राप्त होती है साधारणतया वह मीथेन, कार्बन डाइऑक्साइड तथा हाइड्रोजन सल्फाइड का एक मिश्रण है, जिसमें मीथेन 50-70% के बीच रहती है, कार्बन डाइऑक्साइड 29 से 47% के बीच रहती है, जबकि हाइड्रोजन सल्फाइड की मात्रा 1 से 2% के बीच रहती है। इस प्रकार हमें 1 मी³. स्पेन्टवाश द्वारा विघटित होने पर 25-33 नार्मल मी³. गैस प्राप्त होती है। इस बायोगैस के जलने से जो ऊष्मा मिलती है, उसका मान 4500 से 5000 कि. कैलोरी प्रति नार्मल मी³. रहता है। अत: औद्योगिक इकाईयाँ इसको अपने ब्वायलर के बर्नर में जलाकर कोयले की बचत कर सकती हैं। इस बात का अनुमान हम निम्न आँकड़ों से आसानी से लगा सकते हैं कि यह हमारे लिये कितनी लाभप्रद साबित हो सकती है।

1 मी³. स्पेन्टवाश के विघटन से प्राप्त गैस =25-35 नार्मल मी³.

मीथेन की प्रतिशत मात्रा=50-70%

गैस के जलने से प्राप्त ऊष्मा मान=4500-5000 कि० कैलोरी/मी³.

कोयले के जलने से प्राप्त ऊष्मा का मान=4000-4500 कि० कैलोरी/किलो

यदि कोयले की जलने की क्षमता को 75% रखा जाय, जबकि गैस की क्षमता 80% होती है तो—

1 नार्मल मी³. गैस का मान=1.66-1.33 किलो कोयला.

अत: 1 मी० स्पेन्टवाश=25 नार्मल मी.³ गैस=26.50-33.25 कि० कोयला तथा =35 नार्मल मी.³ गैस=37.10-46.53 कि० कोयला

इस प्रकार अब हम 1 मी.³ त्याज्य से 26.50 किलो से 46.43 किलो तक कोयला बचा सकते हैं। और तो और हम अपने आप को तीन अन्य प्रकार से भी लाभ पहुँचा सकते हैं। प्रथम तो हम कोयले को खान से औद्योगिक इकाई तक लाने का खर्च (परिवहन) बचा सकते हैं, दूसरे हम डीजल बचा सकते हैं और तीसरे हम अपने पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचा सकते हैं। यह यह वर्तमान् की सर्वाधिक महत्वपूर्ण आवश्यकता है।

○○

प्लास्टिक प्रदूषण

डॉ० ओम प्रभात अग्रवाल

पिछले कुछ दशकों में ही प्लास्टिक हमारे जीवन पर छा-सा गया है। बाजार से सामान खरीद कर घर तक लाने के लिये बनाई गई रंग-बिरंगी थैलियों से लेकर आटोमोबिल, कृषि, जल संसाधन, परिवहन, भवन, रक्षा तथा इलेक्ट्रॉनिक्स आदि अनगिनत क्षेत्रों में यह काफी बड़ी मात्रा में इस्तेमाल किया जाने लगा है। कोई आश्चर्य नहीं कि पिछले तीन दशकों में इसके उत्पादन में अमेरिका जैसे विकसित देश में जहाँ तीस गुणावृद्धि हुई है, वहाँ भारत में भी दस गुणा वृद्धि हो चुकी है। ईस्वी सन् 2000 तक भारत में इसका वार्षिक उत्पादन बढ़ कर 26 लाख टन तक हो जाने की आशा है। इस बढ़ती लोकप्रियता का कारण इसके अपने अति विशिष्ट गुण, जैसे हल्कापन, मज़बूती, उत्पादन में कम खर्च तथा क्षरण-रोधी होना है। एक ओर जहाँ इस्पात और प्लास्टिक के संयोग से अभूतपूर्व क्षमता वाले प्लास्टिक स्टील बना लिये गये हैं, वहीं आँखों में लगाये जाने वाले कान्टैक्ट लेंसों के लिये अति मृदु प्लास्टिकों का भी निर्माण कर लिया गया है। सूर्य-रश्मियों के प्रभाव से रंग परिवर्तित कर लेने वाले रे—बैन लेंस भी प्लास्टिक से ही तैयार किये जाते हैं। अब तो प्लास्टिकों में विद्युत्चालकता का भी समावेश किया जा चुका है तथा भविष्य में उनसे संग्राहक बैट्रियों के लिये कागज की तरह पतले इलेक्ट्रोडों के निर्माण की योजना पर भी कार्य चल रहा है। प्रश्न उठता है कि प्लास्टिकों की सीधी सादी परिभाषा क्या हो सकती है? ये वास्तव में ऐसे ठोस कार्बनिक बहुलक हैं जिनमें एक या अधिक प्रकार के अणु अन्तहीन आड़ी सीधी श्रृंखलाओं में बंधे होते हैं और इसी बहुलकीकरण के कारण जिनका अणु भार हज़ारों-लाखों में होता है तथा जिनसे कुर्सियाँ, मशीनों के पुर्ज़े तथा अन्य विविध प्रकार के सामान बनाये जा सकते हैं। इच्छित अन्तिम उत्पाद प्राप्त करने के लिये उनमें कुछ और रसायन भी मिलाये जाते हैं, जैसे लचीलेपन के गुण के लिये प्लास्टिक साइजर वर्ग के यौगिक तथा रंगों के लिये पिगमेन्ट आदि।

यह एक विडंबना ही है कि विज्ञान द्वारा प्रदत्त आधुनिक सुख सुविधा के सभी साधन किन्हीं अर्थों में प्रदूषण की समस्या भी उत्पन्न करते हैं। प्लास्टिक भी इसका अपवाद नहीं हैं। प्लास्टिक का प्रदूषण रूप तो उसके निर्माण की प्रक्रिया के दौरान ही उजागर होने लगता है। प्लास्टिक के निर्माण में ऐसे अनेक कार्बनिक रसायनों का उपयोग किया जाता है, जो मानव स्वास्थ्य के लिये गम्भीर समस्यायें उत्पन्न करते हैं और इसीलिये प्लास्टिक निर्मात्री फैक्ट्रियों में काम करने वालों को अत्यधिक सावधान रहने की आवश्यकता होती है।

पी० वी० सी० प्लास्टिक को ही लें। यह तरह-तरह के पाइपों, खिड़कियों तथा दरवाजों आदि के निर्माण में धड़ल्ले से काम में लाया जाता है। यह प्लास्टिक, विनाइल क्लोराइड अणुओं के बहुलकीकरण से बनाया जाता है जब कि यह एक ज्ञात तथ्य है कि यह रसायन मस्तिष्क एवं यकृत में कैंसर पैदा कर सकता है। इसी प्रकार, भारी मशीनों के पैकिंग केस बनाने के लिये अत्यन्त कठोर पॉलीकार्बोनेट प्लास्टिक उपयुक्त माने जाते हैं। ये प्लास्टिक

प्रोफेसर, रसायन विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक-124001 (हरियाणा)

फॉसजीन तथा बिसफीनोल ए० यौगिकों के सहबहुलकीकरण से प्राप्त किये जाते हैं। इनमें फॉसजीन एक अत्यन्त विषैली, दमघोंटू गैस है। इतिहास साक्षी है कि अति महत्वाकांक्षी राजनेताओं ने इस गैस का उपयोग युद्धास्त्र के रूप में भी किया है।

इसी प्रकार का, स्वास्थ्य सम्बन्धी विवादों के घेरे में फँसा हुआ एक अन्य यौगिक है—फार्मेल्डिहाइड, जिसका उपयोग कई प्रकार के प्लास्टिकों के उत्पादन में किया जाता है। इनमें प्रमुख हैं—पी० ओ० एम० प्लास्टिक जो अत्यन्त तापसह होने के कारण पावर टूल्स आदि के निर्माण में प्रयुक्त होता है; बैकेलाइट, जो अपने अदभुत गुणों के कारण स्वचालित वाहनों एवं हवाई जहाजों के पुर्जों तथा बिजली की फिटिंग में काम आने वाले सामानों के उत्पादन में प्रयोग किया जाता है तथा मेलैमीन, जिसका उपयोग खूबसूरत डिनर सेटों आदि के बनाने में किया जाता है। फार्मेल्डिहाइड की थोड़ी सी मात्रा भी त्वचा पर दाने उत्पन्न कर सकती है और कुछ दिन तक बराबर सम्पर्क में रहने के कारण दमा तथा ब्रांकाइटिस जैसी प्रश्वसन सम्बन्धी बीमारियाँ भी पैदा हो सकती हैं। गर्भवती महिलाओं पर तो इसका विशेष बुरा प्रभाव पड़ता है। यह भी देखा गया है कि इस रसायन का उपयोग करने वाली फैक्ट्रियों के मजदूरों में मस्तिष्क, रक्त तथा बड़ी आँत के कैंसर के रोगियों की संख्या सामान्य औसत से कहीं अधिक होती है। इसके अत्यन्त हल्के से वातावरण में भी नाक के अन्दर कैंसरी रसौली उत्पन्न होने की तीव्र आशंका रहती है। इस रसायन के कैंसरकारी होने के अन्तिम प्रमाण तो अभी नहीं मिल पाये हैं, परन्तु सांख्यकीय प्रमाण ही इतने प्रबल हैं कि अमेरिकी कारखानों में वातावरण में इसकी सुरक्षित सीमा केवल एक भाग प्रति दस लाख अर्थात् एक पी० पी० एम० निर्धारित की गई है। ऐसा अनुमान है कि फार्मेल्डिहाइड, डी एन ए को क्षतिग्रस्त करता है तथा इसकी मरम्मत की क्रियाविधि में भी अवरोध उत्पन्न करता है।

अधिकतर प्लास्टिकों में आवश्यक लचीलापन उत्पन्न करने के लिये प्लास्टिसाइजर वर्ग के कार्बनिक यौगिक मिलाये जाते हैं। ऐसे कुछ यौगिक हैं—थैलेट, ऐडिपेट एवं सीबैसेट एस्टर तथा कई प्रकार के पॉलीएथिलीन ग्लायकॉल यौगिक। ये यौगिक अधिकतर कैंसरकारी होते हैं। वैसे तो ठोस प्लास्टिक में मिले होने के कारण इन्हें समस्यामूलक नहीं होना चाहिये, परन्तु पाया गया है कि खाद्य पदार्थों के कन्टेनरों से निकल कर अल्प मात्रा में ये संग्रहीत पदार्थों में मिल जाते हैं और इस प्रकार अन्ततः मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। प्लास्टिक टंकियों में संग्रहीत जल में भी संग्रहण अवधि के अनुसार इनकी उपस्थिति सिद्ध हुई है। यद्यपि इन स्रोतों से शरीर में पहुँचने वाली इनकी मात्रा अत्यन्त सूक्ष्म होती है, फिर भी शुद्ध वैज्ञानिक आधार पर उसे सौ प्रतिशत निरापद तो नहीं ही कहा जा सकता।

प्लास्टिक प्रदूषण का सर्वाधिक गम्भीर पक्ष है—प्लास्टिकों का अत्यन्त दीर्घ जीवन। वे आसानी से जीवाणुओं द्वारा विघटित नहीं होते और इस प्रकार व्यवहारिक उपयोगिता समाप्त होने के लम्बे समय के बाद भी मिट्टी से एकाकार नहीं हो जाते। एक अत्यन्त दीर्घ अवधि तक कचरे के रूप में बने रहने की अभूतपूर्व क्षमता के कारण ये अन्ततः पर्यावरण के गुणात्मक स्तर में अतिशय गिरावट का कारण बन जाते हैं। इस कचरे से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है—उसे अग्नि को समर्पित कर देना। परन्तु यह प्रक्रिया भी घूम फिर कर प्रदूषण के दानव को ही शक्ति प्रदान करती है। कारण यह कि प्लास्टिक-दहन से मुख्यतः कार्बन डाइऑक्साइड गैस पैदा होती है जिसकी वायुमण्डल में बढ़ती मात्रा आज विश्व भर के वैज्ञानिकों की नींद हराम कर चुकी है। यह वही कुप्रसिद्ध ग्रीन हाउस गैस है जो पृथ्वी के औसत तापमान में निरन्तर वृद्धि का कारण बन रही है। 'साइंटिफिक अमेरिकन' की एक रपट

के अनुसार 1861 से आज तक औसत तापमान आधा डिग्री सेल्सियस से भी अधिक बढ़ चुका है और अब तो और अधिक तीव्र गति से बढ़ता जा रहा है। इसके कारण शीघ्र ही 30-40 वर्षों में मौसम में अनपेक्षित परिवर्तन होने लग जायेंगे। वर्षा बढ़ जायेगी, विश्व के कृषि क्षेत्रों का स्थानान्तरण होगा तथा ध्रुवों का करोड़ों वर्षों से जमा हिम पिघलने लगेगा, जिसके कारण समुद्रों का जल स्तर एक से दो मीटर तक बढ़ जायेगा। यह वृद्धि मालदीव जैसे तटीय छोटे देशों को जलसमाधि दे सकेगी तथा बांग्लादेश को भी बुरी तरह प्रभावित करेगी।

प्लास्टिकों के दीर्घ जीवन से उत्पन्न प्रदूषण का हल ढूंढ़ना ही होगा क्योंकि प्लास्टिक तो आधुनिक जीवन का पर्याय बन चुके हैं। सम्भावना तो यहाँ तक है कि भविष्य में जब धातुओं के प्राकृतिक भंडार समाप्त हो रहे होंगे, तब भी आधुनिक सभ्यता प्लास्टिकों के सहारे मस्तक ऊँचा किये खड़ी रहेगी।

अब तो विज्ञान कृत्रिम सूक्ष्म जीवों की सृष्टि में समर्थ है। सन् 1981 में अमेरिका में बसे भारतीय मूल के वैज्ञानिक डॉ० चक्रवर्ती ने एक ऐसे जीवाणु की सृष्टि की जो कच्चे पेट्रोलियम को खा जाता था। यह जहाजी दुर्घटनाओं में समुद्रों में फैल जाने वाले कच्चे तेल से उत्पन्न प्रदूषण का एक हल था। क्या ऐसा ही कोई कृत्रिम जीव प्लास्टिक कचरे की समस्या का समाधान प्रस्तुत कर सकता है? सम्भव तो है और इसीलिये अनुसन्धानशालाओं में प्रयत्न भी चल रहे हैं कि ऐसे जीव का निर्माण किया जा सके।

एक हल और भी हो सकता है—नये जीवाणुओं द्वारा ऐसे प्लास्टिक का उत्पादन जो पंचभूतों में शीघ्र विलय हो जाने की क्षमता रखते हों। अल्कलीजीन्स यूट्रोफस नामक जीवाणु से ऐसे ही एक प्लास्टिक, पॉलीहाइड्रॉक्सी ब्यूरेट तैयार करने में सफलता मिली है। इस दिशा में और भी प्रयोग चल रहे हैं। प्रयत्न तो यह भी है कि ऐसे जीवाणुओं के विशिष्ट जीन को प्रतिरोपित कर पेड़-पौधों से ही सीधे, कृषि उत्पाद के रूप में प्लास्टिक प्राप्त कर लिये जायें। प्राकृतिक स्रोतों से प्राप्त ये प्लास्टिक निश्चय ही अन्य जीवाणुओं द्वारा शीघ्रता से विघटित हो सकेंगे और इस प्रकार, प्लास्टिकों से सम्बन्धित सर्वाधिक गहन प्रदूषण समस्या का सरल हल प्राप्त हो जायेगा।

OO

आलेख प्रस्तुतिकरण प्रतियोगिता सम्पन्न

विज्ञान परिषद् प्रयाग (इलाहाबाद) एवं स्थानीय सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज (महिला शाखा) के संयुक्त तत्वावधान में **"डी एन ए : आनुवंशिकी एवं विकास में भूमिका"** विषय पर 8 मई को आयोजित एक आलेख प्रस्तुतिकरण प्रतियोगिता सम्पन्न हुई जिसमें निम्नलिखित विजेताओं को श्री रमेश चन्द्र श्रीवास्तव, अध्यक्ष, वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज द्वारा पुरस्कार प्रदान किए गए।

प्रथम- कु० अरुन सक्सेना (बी० एस-सी, तृतीय वर्ष)

द्वितीय- कु० धृति सिनहा (बी० एस-सी, प्रथम वर्ष)
एवं कु० शिखा त्रिपाठी (बी० एस-सी, तृतीय वर्ष)

तृतीय- कु० अनिता त्रिपाठी (बी० एस-सी, प्रथम वर्ष)

इस प्रतियोगिता में निर्णायक रहे डॉ० कु० मीना अष्ठाना, डॉ० सुरेन्द्र नाथ श्रीवास्तव एवं डॉ० वी० के० ललोरिया। प्रतियोगिता का संचालन प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने किया और धन्यवाद ज्ञापन डॉ० दिनेश मणि ने। सभाध्यक्ष श्री रमेश चन्द्र श्रीवास्तव ने इस प्रकार की अधिक से अधिक प्रतियोगितायें आयोजित करने पर बल दिया।

हम इसे विकास नहीं कहते

डॉ० दिनेश मणि

ऐसा विकास भला किस काम का जिसमें हमारी आने वाली पीढ़ी स्वच्छ आबो-हवा के लिये तरह जाये। क्या प्रकृति से हमें इसीलिये ये ढेरों उपहार मिले हुए हैं कि हम इनका गलत उपयोग करें? पृथ्वी के इस विशाल परितन्त्र में शायद मनुष्य सबसे स्वार्थी प्राणी है और इसलिये मनुष्य अपने सुख के लिये अनेक ऐसे कार्य कर रहा है जिससे पृथ्वी के पारिस्थितिक तन्त्रों को निरन्तर क्षति पहुँच रही है। बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ-साथ उद्योग बढ़ते जा रहे हैं, फलस्वरूप वातावरण में हानिकारक गैसों एवं अन्य दूषित पदार्थों की मात्रा बढ़ती जा रही है।

इतना तो सभी जानते हैं कि अगले तीस वर्षों में भू-मण्डल के तापमान में अप्राकृतिक बढ़ोत्तरी की जो आशंकायें हैं, उसका मुख्य कारण कार्बन डाइऑक्साइड ही है। कार्बन डाइऑक्साइड एवं कुछ अन्य गैसों की वायुमण्डल में अधिकता के कारण पृथ्वी से परावर्तित सूर्य की किरणें इस गैसीय परत को पार नहीं कर पातीं जिसके कारण वायुमण्डल का तापमान बढ़ जाता है। इसे "ग्रीन हाउस प्रभाव" के नाम से जाना जाता है।

इण्टरनेशनल पैनेल ऑन क्लाइमेट चेंज (आई० पी० सी०) की एक रिपोर्ट के अनुसार वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा काफी तेजी से बढ़ रही है। इससे तीन दशकों में वायुमण्डल का औसतन तापमान 1.5 डिग्री सेन्टीग्रेड से 4.5 डिग्री सेन्टीग्रेड तक पहुँच जायेगा। विश्व मौसम नियन्त्रण केन्द्रों के आँकड़ों पर गौर करने से यह पता चलता है कि 80 वाले दशक के दौरान छह साल में गर्मी सबसे अधिक पड़ी है। कारण स्पष्ट है— विश्व में औद्योगिक क्रान्ति के पहले की तुलना में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा 26 प्रतिशत बढ़ गयी है। एक अनुमान के अनुसार हर साल वायुमण्डल में 1.8 अरब टन कार्बन डाइऑक्साइड गैस जाकर मिलती है जो कारखानों तथा मोटर वाहनों से उत्सर्जित धुआँ से उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त 36 करोड़ हेक्टेयर धान की खेती से मीथेन बनती है जो कि एक 'ग्रीन हाउस गैस' (गर्मी बढ़ाने वाली गैस) है। यही नहीं, जुगाली करने वाले 1.2 अरब मवेशी जब-जब साँस छोड़ते हैं, मीथेन गैस की कुछ और मात्रा वातावरण में भर जाती हैं।

पिछले कई वर्षों से हम निरन्तर पृथ्वी को अपनी हवस का शिकार बनाते चले आ रहे हैं। हमने जमीन भी बरबाद की है, वनों का भी सफाया किया है, जलस्रोतों को (नदियों, झीलों तथा समुद्रों) गन्दा ही नहीं अपितु विषैले रसायनों से दूषित कर दिया है। आज मीलों दूर तक हिमालय पर्वत माला उजाड़ नजर आती है। उत्तर प्रदेश में गढ़वाल का टिहरी क्षेत्र विवाद का विषय बना हुआ है। यहाँ भागीरथी नदी पर 2,000 मेगावाट बिजली तैयार करने के लिये राज्य सरकार के बनाये जा रहे 899.3 फुट ऊँचे बाँध ने इस हरी-भरी घाटी को रेतीले गड्ढों की शक्ल में बदल दिया है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि बाँध तैयार हो जाने के बाद इस क्षेत्र का यह महत्वपूर्ण कस्बा और घाटी के आस-पास का 50 वर्ग कि० मी० क्षेत्र इसमें विलीन हो जायेगा। पर्यावरणविद् सुन्दरलाल बहुगुणा के अनुसार, "गढ़वाल में हमारी अर्थव्यवस्था वनों पर आधारित है। हमारे जंगल लगभग खत्म हो गये हैं। कृषि योग्य भूमि की उर्वरता खत्म हो रही है। हमारा भविष्य अन्धकारमय है।"

संयुक्त मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

आज खेती में उपयोग किये जा रहे रासायनिक उर्वरक एवं कीटनाशक दवाओं के कारण विश्व की उपजाऊ जमीन का सात प्रतिशत भाग प्रति दशक की दर से बरबाद हो रहा है. इसकी अपनी उर्वराशक्ति छिन्न-भिन्न होती जा रही है। अमेरिका के पचास प्रतिशत जल प्रदूषण का कारण रासायनिक उर्वरक तथा कीटनाशक दवावों का निर्माण एवं उपयोग है। ऐसे ही रासायनिक उर्वरक तथा कीटनाशक दवायें तीसरी दुनिया से देशों को सहायता एवं प्रगति के नाम पर दी जा रही हैं।

वास्तव में आज हम एक ऐसी समस्या का सामना कर रहे हैं जो सीमाओं में नहीं बँध सकती बल्कि तुरन्त समाधान माँगती है। इससे निपटने के लिये राष्ट्रीय और विश्व स्तर पर हल खोजने होंगे। हमें ज्यादा अन्न भी पैदा करना है और मिट्टी की उपजाऊ शक्ति को नष्ट होने से भी बचाना है। हमें ज्यादा पशु भी पालने हैं, पर अंधाधुँध चराई के कारण चरागाहों को बंजर भी नहीं होने देना है। हमें ज्यादा मछलियाँ भी प्राप्त करनी है और जीवनदायी जलस्रोतों को प्रदूषित होने से भी बचाना है।

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रकृति से अधिकाअधिक लाभ लेने की होड़ में हम सीमायें न लाघें ताकि पर्यावरण का सन्तुलन बिगड़ने न पाये। यह निर्विवाद सत्य है कि मनुष्य प्राकृतिक स्रोतों को अपने अनुकूल ढाल तो सकता है किन्तु नये-नये प्राकृतिक स्रोत पैदा नहीं कर सकता। उदाहरण के लिये पृथ्वी में दबी पड़ी खानों से खनिज पदार्थों का दोहन हो किया जा सकता है किन्तु नये खनिजों का निर्माण हमारे वश की बात नहीं। अतः हमें अपनी सीमाओं का ध्यान रखते हुए प्रकृति के साथ अनावश्यक छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिये। तभी हम आने वाली पीढ़ियों के बेहतर भविष्य के लिए स्वच्छ तथा स्वस्थ्य पर्यावरण छोड़ सकते हैं। अन्यथा परिणाम ठीक विपरीत होगा। किसी शायर ने ठीक ही कहा है—

"इतिहास ने देखी हैं, कुछ ऐसी भी तारीखें,
लम्हों ने खता की है, सदियों ने सजा पायी।।"

○○

पर्यावरण का मुद्दा और मानवीय संवेदनाएँ

डॉ० अजय श्रीवास्तव

पर्यावरण के क्षेत्र में निरन्तर गिरावट विश्वचर्चा का विषय बन चुकी है। मानव समाज में व्याप्त उपभोगवादी संस्कृति एवं अनियोजित विकास की तीव्र प्रक्रिया में प्राकृतिक संसाधनों के अविवेकपूर्ण दोहन से हमारा पर्यावरण दुष्प्रभावित हुआ है। आखिर कौन जल, वायु एवं मिट्टी के बदलते गुणधर्म से परिचित नहीं है? भारत सहित विश्व के बहुतेरे हिस्सों में जनसंख्या बिस्फोट के कारण मानव की मूलभूत आवश्यकताओं—शुद्ध जल, वायु व मिट्टी माँग में अत्यधिक वृद्धि हुई है। जल, वायु, मिट्टी व वनस्पतियाँ हमारे पर्यावरण के अभिन्न अंग हैं। परन्तु बढ़ती हुई मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण 'पर्यावरण प्रदूषण' का मुद्दा गम्भीर संकट के रूप में हमारे सम्मुख आ खड़ा है। जल, वायु, मिट्टी व ध्वनि प्रदूषण, वायुमंडल में निरन्तर हानिकारक पदार्थों की मात्रा में वृद्धि, ओजोन पर्त का क्षय, ग्रीन हाउस प्रभाव, अम्लीय वर्षा, एवं जलवायु का बदलना आदि को हम 'वैज्ञानिक व तकनीकी संस्कृति' की कोष से उत्पन्न 'उपहार' मान सकते हैं। पर्यावरण का मुद्दा एवं हमारा अस्तित्व दोनों एक दूसरे से जुड़े हैं। इतिहास साक्षी है कि प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करने के परिणामत: ही हड़प्पा-मोहनजोदड़ों, मिस्र, बेबीलोन आदि सभ्यताएं काल का ग्रास बन गयीं। सच तो यह है कि भौतिकवादी संस्कृति में इस सच्चाई को ही नेपथ्य में रख दिया कि हमारा अस्तित्व प्राकृतिक सामंजस्य एवं पर्यावरण संरक्षण के मूल में समाहित है।

हालाँकि पर्यावरण जैसे महत्वपूर्ण मुद्दे पर पिछले दो दशकों में शिद्दत से पर्यावरणविदों, प्रकृति प्रेमियों ने 'पर्यावरण' की हो रही बदहाली एवं उसके भावी स्वरूप पर अपनी गहरी चिन्ता प्रकट की है। 1972 में स्टाकहोम में संयुक्त राष्ट्र के तत्वाधान में 'मानव परिवेश' पर एक सभा हुई जिसमें समूची दुनिया में पर्यावरण-प्रदूषण के बढ़ते खतरों को मद्देनजर रखते हुए प्रतिवर्ष 5 जून को 'विश्व पर्यावरण दिवस' मनाने की बात कही गयी। पर्यावरण प्रदूषण के मंडराते खतरे को दृष्टिगत रख प्रकृति प्रेमियों व 'पर्यावरण' के प्रति संवेदनशील लोगों की जमात द्वारा समूचे विश्व के विभिन्न हिस्सों में अपने-अपने तौर तरीकों व स्तर से जनजागृति हेतु आन्दोलन चलाये जा रहे हैं जिसका उद्देश्य अविवेकपूर्ण, अनियोजित विकास के विनाशकारी चरित्र का पर्दाफाश करना ही है। यह भी एक प्रकार का विरोधाभास ही हुआ कि जहाँ एक ओर मानव जाति के स्वार्थपूर्ण क्रियाकलापों के चलते पर्यावरण-प्रदूषण का मुद्दा बहुआयामी रूप धारण कर चुका हैं वहीं पर्यावरण संरक्षण के वास्ते संवेदनशील लोगों की संख्या बढ़ती जा रही हैं। अनेक स्वयंसेवी संस्थाएं भी इसी दिशा में अविराम गति से कार्यरत हैं।

फिलहाल हम पर्यावरण के अभिन्न घटक जल को ही लें। जीवनदायिनी जल आज इतना अधिक प्रदूषित है कि विश्व में लगभग डेढ़ करोड़ बच्चे अपने जीवन के पाँचवे बसन्त देखने के पूर्व ही मौत से मुँह में समा जाते हैं। निर्धन देशों के लगभग एक अरब बच्चों को शुद्ध पेय जल उपलब्ध नहीं है, ऐसा यूनीसेफ का मानना है। खुद हमारे

भू-विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005 (उ० प्र०)
निवास—221 डालमिया, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

देश में उपलब्ध जल का सत्तर फीसदी भाग अपेय है। परिणामतः प्रत्येक वर्ष 15 लाख बच्चे दस्त, पेचिश, पीलिया और टाइफाइड से मर जाते हैं। मात्र पृष्ठीय जल ही नहीं वरन् भूगर्भीय जल भी प्रदूषित हो चला है। 'अन्तर्राष्ट्रीय पेयजल आपूर्ति और स्वच्छता दशक' (1981-1990) अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहा है। हमारा वायुतंत्र भी मानवीय क्रियाकलापों से दुष्प्रभावित है। भारतीय मौसम विज्ञान की एक रिपोर्ट के अनुसार पिछले 60 वर्षों में कोयला व खनिज तेलों के जलने से ही वायुमंडल में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा 1·3 प्रतिशत बढ़ी है, फलतः धरती के तापक्रम में भी वृद्धि हुई है। वायु प्रदूषण की चपेट में भारत के अनेक नगर आ चुके हैं। भोपाल गैस त्रासदी (2 और 3 दिसम्बर 1984) को क्या कभी भुलाया जा सकेगा? ऐसा अनुमान किया जाता है कि कोई 2050 तक 'ग्रीन हाउस प्रभाव' के कारण वायुमण्डल के तापक्रम में 4 से 5 डिग्री सेन्टीग्रेड तक की वृद्धि होगी जिसके कारण आर्कटिक व अंटार्कटिक के हिमखंडों के पिघलने से समुद्रतटीय महानगरों को सबसे अधिक खतरा होगा।

विशेषज्ञ बी० बी० बोरा का मानना है कि हमारे देश की एक तिहाई भूमि बंजर हो चुकी है, एक-तिहाई बंजर बनने के रास्ते में है और शेष एक तिहाई जमीन पर भी अगर ठीक तरीके से ध्यान नहीं दिया गया तो इसके बंजर हो जाने के आसार हैं। ऐसा वनों की अंधाधुंध कटाई, जंगलों पर बढ़ते मानवीय सभ्यता के दबाव एवं खेतों में रासायनिक खादों व कीटनाशकों के प्रयोग के चलते हो रहा है। हमारे देश में 8 लाख हेक्टेयर जमीन प्रतिवर्ष बंजर होती जा रही है। 1951 में कृषि योग्य भूमि 0.48 हेक्टेयर प्रति व्यक्ति रही, जो अनुमानतः सन् 2000 तक 0.11 हेक्टेयर प्रति व्यक्ति ही रह जायेगी। रासायनिक खादों के अनुप्रयोग के चलते ही भूमि की उर्वरा शक्ति में ह्रास होता चला गया है। इसके अतिरिक्त कीटनाशकों के प्रयोग के कारण ही महत्वपूर्ण कीट प्रजातियाँ खत्म हो चली हैं जो फसलों में लगने वाले कीड़े-मकोड़ों का सफाया करने में सक्षम थीं। इतना ही नहीं, इन कीटनाशकों का जहर प्रतिवर्ष कोई 5 लाख लोगों को प्रभावित करता है। परम्परागत बीजों की जगह इस्तेमाल में लाये गये बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बीजों में कीटों से लड़ने की क्षमता नहीं रही। अपने देश में 60 हजार टन कीटनाशकों का उपयोग होता है। इसमें से अनेक ऐसी है जिसका उत्पादन व उपयोग पश्चिमी देशों में प्रतिबंधित है। ये जहरीले कीटनाशक प्रकृति के संतुलन-चक्र को तहस-नहस कर देते हैं। पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, व मनुष्य कोई भी इसके दुष्परिणाम से बच नहीं पाता। इमारती लकड़ियों एवं कागज उद्योग के लिए वनों का विनाश जारी है। अनुमानतः 170 लाख हेक्टेयर भूमि से प्रतिवर्ष वन खत्म हो रहे हैं। कृषि आयोग का मानना है कि हर साल लगभग 16 टन मिट्टी प्रति हेक्टेयर भूमि से गायब होती जा रही है। जिसका दुष्परिणाम सामने आता है—नदियों में बाढ़ व उससे तबाही, मौसम में परिवर्तन, भूमि अपरदन की समस्या, मरुस्थल का फैलाव, व शुद्ध वायु का अभाव। वनों के कटान से हमें उन दुर्लभ जड़ी-बूटियों, औषधियों से वंचित होना पड़ रहा है, जिसे प्राचीनकाल में हमारे ऋषि-महर्षियों ने मानव-स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से उपयोगी होने के कारण खोज निकाला था। निःसन्देह भारतीय सभ्यता अरण्यों में ही फली-फूली पर तात्कालिक लाभ के लिए हम अपने जीवन के आधार को ही खत्म करने पर तुले हैं। कागज उद्योग को ही लिया जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि भारतीय वनों का किस कदर सफाया हो रहा है। कर्नाटक के कागज उद्योगों ने पहले तो बाँस के जंगलों को नुकसान पहुँचाया, उसके बाद उत्तर पूर्व प्रान्तों के वनों एवं अण्डमान निकोबार द्वीप समूह के वनों को भी नष्ट करने पर तुला है। अन्तर्राष्ट्रीय मानकों के मुताबिक वनों का क्षेत्रफल कम से कम 33% होना चाहिये परन्तु हमारे देश में वनों का क्षेत्रफल उपग्रह से प्राप्त आँकड़ों के अनुसार मात्र 12% ही है। इस सच्चाई को 1 मई 1993 को दूरदर्शन के राष्ट्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत 'परख' धारा-वाहिक में पर्यावरण एवं वन मन्त्री श्री कमलनाथ ने स्वीकारा है। वनों के ह्रास से जैवविविधता (बायोडायवर्सिटी) का प्रश्न जुड़ा है। सम्पूर्ण विश्व

में जीव-जन्तुओं की विभिन्नप्रजातियाँ तेजी से विलुप्त हो रही हैं। जैवविविधता के क्षेत्र में हमारा देश अति सम्पन्न है परन्तु इस सम्पन्नता को विपन्नता में बदला जा रहा है। अनेक वनस्पतिशास्त्री इस बात पर एकमत हैं कि भारत मे पौधों की 50 हजार उपलब्ध प्रजातियों में से 10% के समूल नष्ट हो जाने का खतरा है। प्रतिवर्ष 10 करोड़ मेढक इस देश में महज इसलिये मारे जाते हैं क्योंकि उन्हे विदेशों में भेजना पड़ता है। विभिन्न चिड़ियाघरों में काश्मीरी हिरन, एशियाई शेर, भारतीय गोरखर, ब्लैकबक व सोहनचिड़िया तेजी से कम होते जा रहे हैं। निःसन्देह इन प्रजातियों का पारिस्थितिक महत्व है। जैवविविधता के नष्ट होने के लिए वही कारण जिम्मेदार है जो पर्यावरण की बदहाली के लिए। एक आकलन के अनुसार इस शताब्दी तक पन्द्रह लाख प्रजातियाँ विलुप्त हो जायेगी। विश्व में उष्ण कटिबन्धी वनों के विनाश के साथ पेड़-पौधों एवं जीव-जन्तुओं की प्रजातियाँ नष्ट होती जा रही हैं। उष्ण कटिबन्धीन वनों, जिसका क्षेत्रफल सम्पूर्ण पृथ्वी के क्षेत्रफल का 7% है, में सर्वाधिक प्रजातियाँ प्राप्त होती हैं जिनका औषधीय गुण सर्वविदित है। इन वनों में प्राप्य 'रोजी पेरिविंकल' एक ऐसा पादप है जिससे निर्मित दवा से 'ल्यूकीमिया' नामक रोग के इलाज में 80 फीसदी सफलता हासिल हुई है। पर विकास के क्रूर पंजों के चलते इन महत्वपूर्ण पादपों के अस्तित्व का संकट गहराया है।

लेकिन इन समस्याओं के जड़ पर प्रहार करने की मनोवृत्ति आम जनमानस में नहीं बन पायी है। पर्यावरणीय समस्याओं के मूल में बढ़ती हुई जनसंख्या ही तो है। संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या कोष के विशेषज्ञ डॉ० एन० सादिक का स्पष्ट मत है कि पर्यावरण के लिए सबसे अधिक खतरा बढ़ती हुई जनसंख्या बन रही है। अगर आबादी के बढ़ने की यही गति रही तो अगली सदी के अन्त तक दुनिया की जनसंख्या 14·5 अरब तक पहुँच जायेगी। हमारे देश में जनसंख्या की दर को रोकने के लिये अभी तक कोई स्पष्ट जनसंख्या नीति का निर्धारण नहीं किया जा सका है। जब बच्चे भगवान की देन व अनुकम्पा माने जाते हैं, तो पर्यावरण संरक्षण के लिये किये जाने वाले तमाम प्रयास गोष्ठियाँ, कार्यशालाएँ, लेख आदि कोई मायने नहीं रखते हैं। दरअसल इन मामलों में जितना दोष हमारी सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था एवं राजनीतिज्ञों का है उतना ही हम सब का, क्योंकि हममें से अधिकांश इस वैज्ञानिक युग में भी पुराने ढर्रे पर चलने के आदी हैं और अपना नजरिया समय के साथ बदलने को तैयार नहीं। जनसंख्या वृद्धि के बाबत हमारे अस्तित्व पर एक प्रश्न चिन्ह लगा हो तो आखिर कैसे हम अपनी संवेदनशीलता को हाशिये पर रखकर एक महती राष्ट्रीय व नैतिक जिम्मेदारी से बरी हो जाना चाहते हैं? हो सकता है कि पर्यावरण असंतुलन के चलते प्राकृतिक कहर का पहाड़ हमारे पर न टूटे परन्तु इसमें कोई दो राय नहीं बनती है कि इसका खामियाजा हमारी भावी पीढ़ी को भुगतना पड़ेगा। विश्व विकास रिपोर्ट में भारतीय संदर्भ में वर्णित है कि यदि जनसंख्या वृद्धि की दर यही बनी रही तो अगली शताब्दी तक जनसंख्या वर्तमान संख्या से दुगनी से भी अधिक अर्थात् 1.8 अरब हो जायेगी फलतः राष्ट्र में आम नागरिकों का जीवन-स्तर एक ऐसे दयनीय स्थिति में जा पहुँचेगा जिसके कारण मृत्यु दर में तीव्र गति से वृद्धि होगी। विश्व की 16% भारतीय जनसंख्या के वास्ते महज 2.42% भू-भाग ही है। इस आबादी का एक तिहाई हिस्सा गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन कर रहा है। अप्रैल, 1976 में घोषित जनसंख्या नीति बेमानी साबित हो चुकी है क्योंकि इसमें 'परिवार-कल्याण' की अवधारणा को रेखांकित करते हुए स्वेच्छापूर्वक परिवार को सीमित रखने की बात कही गयी है।' 1992 का संयुक्त राष्ट्र पुरस्कार प्राप्त करने पर भारत रत्न श्री जे० आर० डी० टाटा ने अपना अभिमत प्रकट किया, "भारत अपनी जनसंख्या वृद्धि को कम करने के प्रमुख लक्ष्य की प्राप्ति में पूर्णतः विफल रहा है और समय तेजी से निकलता जा रहा है।...... जनसंख्या एवं दरिद्रता एक दूसरे का पोषण करते हैं और साथ-साथ पर्यावरण की नींव को क्षति पहुँचाते हैं।" इसके अतिरिक्त अनेक विकास-

कार्यक्रम अपने वांछित लक्ष्य को सिर्फ इसीलिए नहीं प्राप्त कर पाते क्योंकि उन्हें एक बहुत बड़ी जनसंख्या की मांग को पूरा करना पड़ता है। सुस्पष्ट जनसंख्या नीति निर्धारित करने हेतु पर्यावरणविदों, प्रकृति प्रेमियों वैज्ञानिकों, समाज के संवेदनशील लोगों व बुद्धिजीवी वर्ग को एकजुट होकर राष्ट्रीय सरकार एवं प्रान्तीय सरकारों पर दबाव की रणनीति अपनानी होगी क्योंकि आजादी मिलने के 4 दशक बीत जाने पर भी हम इस भयावह समस्या से मुंह मोड़े बैठे हैं। क्या अब भी प्रकृति व मनुष्य के मध्य प्राकृतिक रूप से स्थापित संतुलन को बनाये रखने हेतु, पर्यावरण की स्थिति में निरन्तर हो रही गिरावट को रोकने के लिये एवं राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि रखने के वास्ते एक स्पष्ट व तार्किक जनसंख्या नीति की घोषणा एवं समाज के समस्त वर्गों पर बिना किसी भेदभाव के उसका क्रियान्वन जरूरी नहीं है?

जहाँ एक ओर प्रकृति के प्रति मानव जाति के द्वारा अपनाई उपेक्षापूर्ण नीति में सीधे मानवीय संवेदनाओं पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया है वहीं अतीत में घटित कुछ घटनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि पर्यावरण संरक्षण के प्रति लोग बेहद संवेदनशील थे। जोधपुर से कोई 25 किलोमीटर दूर खेजडली गाँव में 1787 में पेड़ों की रक्षा में तीन सौ तिरसठ विश्नोई नर-नारियों ने हँसते-हँसते अपने प्राणों की आहुति दे दी। तत्कालीन जोधपुर रियासत के महाराज अजीत सिंह को महल बनवाने के लिए चूना पकाने हेतु लकड़ी की जरूरत थी। खेजडली गाँव में वृक्षों की बहुलता के कारण महाराज के आदेश पर कारिन्दे पेड़ काटने के लिए गाँव पहुँचे। पेड़ों को कटता देख पर्यावरण संरक्षण के प्रति समर्पित विश्नोई नर-नारी पेड़ों से लिपट गये। कारिन्दों ने इन विश्नोई नर-नारियों के सर काट डाले, इस प्रकार एक-एक कर तीन सौ तिरसठ विश्नोईयों ने अपने प्राण त्याग दिये। ऐसा कहा जाता है कि जहाँ-जहाँ इन पर्यावरण-वीरों का खून गिरा, वहाँ-वहाँ घास का एक तिनका भी नहीं उगता है। वन सम्पदा के संरक्षण की अभूतपूर्व मिसाल पेश करने वाले इन तीन सौ तिरसठ शहीदों की पुण्य स्मृति में सन् 1978 से 'अखिल भारतीय वन्य जीव रक्षा विश्नोई सभा' के तत्वाधान में खेजडली में हर वर्ष शहीद मेला का आयोजन किया जाता है।

कैंसर समेत अनेक रोगों से जूझती हुई एक कृशकाय महिला ने अपनी किताब 'साइलेन्ट स्प्रिंग' में कीटनाशक दवाओं के बेतहाशा प्रयोग के खिलाफ अपनी आवाज बुलन्द की। कैंसर से पीड़ित वह महिला कोई और नहीं वरन् पर्यावरण-क्रान्ति की अग्रदूत राशेल कार्सन थीं। 27 मई सन् 1907 को पेन्सिलवानिया, संयुक्त राज्य अमेरिका में जन्मी राशेल कार्सन ने चार वर्ष घोर परिश्रम कर 'साइलेन्ट स्प्रिंग' नामक पुस्तक पूरी की। पुस्तक की लोकप्रियता व उपादेयता का अन्दाज इसी बात से लगाया जा सकता है कि न्यूयार्क की प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्रिका 'न्यूयार्कर' ने 16 जून 1962 से इसे धारावाहिक छापना शुरू कर दिया। दो सप्ताह के अन्दर ही पुस्तक सर्वोपरि बिक्री वाली किताबों की सूची की चोटी पर पहुँच गयी। 1963 में पुस्तक का ब्रिटिश संस्करण छपा। उसी साल पश्चिम जर्मनी, इटली, डेनमार्क, स्वीडन, नार्वे, फिनलैण्ड और हालैण्ड में 'साइलेन्ट स्प्रिंग' के अनुवाद छपे। स्तन कैंसर जैसे घातक रोग से पीड़ित रहकर भी इस वीर महिला ने उपर्युक्त वर्णित किताब को लिखने हेतु चार साल तक अनथक प्रयास किया। जिस रात पुस्तक पूर्ण हुई, उस रात की अपनी मनोदशा का वर्णन बाद में उन्होंने अपने एक मित्र को लिखे पत्र में इस प्रकार किया, "...... और फिर अनेक चिड़ियों व दूसरे जीव-जन्तुओं तथा सम्पूर्ण प्रकृति की मनोरमता मेरे अन्तरतम को गहरे आनन्द में डुबो गयी। मुझे लगा कि मैं जो भी कर सकती थी, मैंने कर दिया है। किताब पूरी हो गयी—अब उसकी अपनी जिन्दगी होगी।" पर्यावरण के प्रति बेहद संवेदनशील, दुबली पतली दृढ़ संकल्प महिला की मृत्यु 56 वर्ष की आयु में 14 अप्रैल 1964 को कैंसर के चलते ही हुई। विश्व के कोटि-कोटि जनमानस में पर्यावरण के प्रति लगाव, संरक्षण का उनका अमर सन्देश आज भी प्रतिध्वनित हो रहा है।

हालाँकि पर्यावरण प्रेमियों ने व्यक्तिगत व सामूहिक स्तर पर पर्यावरण के मुद्दे को जनान्दोलन बनाने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी है, फिर भी अभी ढेरों सारे प्रयास किये जाने हैं। अनेक स्वयंसेवी संस्थायें यथा—सेंटर फार साइंस एण्ड एन्वायरमेंट, न्यू दिल्ली; नेशनल सेंटर फार ह्यूमैन सेटलमेंट्स एण्ड एन्वायरमेंट, भोपाल; इन्टैक, पीपुल्स एजुकेशन एण्ड डेवलपमेंट आरगेनाईजेशन, राजस्थान; कल्पवृक्ष, नई दिल्ली; सोशल एक्शन विथ रूरल एण्ड ट्राइबल इनहैबिटैंट्स ऑव इंडिया, गुजरात के द्वारा इस दिशा में किये जा रहे कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय हैं। चिपको आन्दोलन के श्री सुन्दर लाल बहुगुणा, चंडीप्रसाद भट्ट, नर्मदा बचाओ आन्दोलन की मेधा पाटकर, बाबा आमटे समेत अनेक प्रकृति-प्रेमी पर्यावरण के मुद्दे को आम आदमी के अस्तित्व व बेहतर भविष्य का मुद्दा बनाने के लिए कृतसंकल्प हैं। सरकारी स्तर पर किये गये कार्यों में पर्यावरण व वन मंत्रालय द्वारा विकास योजनाओं—विद्युत् व जल परियोजनाओं आदि के पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभाव का मूल्यांकन करने के लिए कार्य दल का गठन भी महत्वपूर्ण है।

जब आज प्रकृति समान रूप से बदला ले रही है तो ऐसी परिस्थिति में प्रकृति-प्रेमियों, एवं पर्यावरण के प्रति संवेदनशील लोगों को, जो प्राकृतिक संसाधनों को जीवन का आधार स्तम्भ मानते हैं, पर्यावरण की बदहाली के लिए जिम्मेदार विकास परियोजनाओं एवं विनाशकारी, जनविरोधी सरकारी नीतियों का विरोध करना है। गाँधी जी की यह चेतावनी कि, "पृथ्वी प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकता पूरी करने के लिए तो काफी देती है, परन्तु प्रत्येक मनुष्य के लोभ को तृप्त करने के लिए नहीं देती" को दृष्टिगत रखकर विकास एवं पर्यावरण संरक्षण में तालमेल स्थापित कर हम बेहतर भविष्य की कल्पना कर सकते हैं।

○○

दलहनी फसलें : राइजोबियम कल्चर का प्रयोग

प्रो० शिवगोपाल मिश्र एवं उमाशंकर मिश्र

आज का किसान रासायनिक उर्वरकों पर निर्भर है। देश में उर्वरकों की मांग, पूर्ति से कम है। रासायनिक उर्वरकों की कीमत अधिक होने के कारण उत्पादन-मूल्य में वृद्धि होती जा रही है। ऐसी दशा में हमारे देश के वैज्ञानिकों द्वारा जीवाणु उर्वरकों की खोज एवं खेतों में उसका प्रयोग कृषकों के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ है। पौधे भी मनुष्यों की तरह जीव हैं इसलिए इनको भोजन की आवश्यकता होती है। मनुष्य अपना भोजन ठोस तथा द्रव दोनों रूपों में ग्रहण करता है, किन्तु पौधे केवल द्रव रूप में ही अपना भोजन ग्रहण कर पाते हैं। अभी तक की जानकारी के अनुसार पौधों की वृद्धि एवं अच्छे उत्पादन के लिए जिन 16 पोषक तत्वों की आवश्यकता पड़ती है, उनमें नाइट्रोजन, फॉस्फोरस, पोटाश मुख्य पोषक तत्व हैं। इनमें से एक की भी कमी होने से पौधों की वृद्धि रुक जाती है है तथा पैदावार कम हो जाती है। मृदा से अधिक उपज लेने के प्रयास में प्रायः इन तत्वों की कमी होती जा रही

शीलाधर मृदा शोध संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

है इसीलिए निरन्तर अधिक उपज पाने के लिए इन तत्वों को बाहर से (अकार्बनिक उर्वरकों के रूप में) डालना पड़ता है ।

हमारे भोजन में प्रोटीन का सस्ता साधन दालें हैं । किन्तु दलहनी फसलों में भी नाइट्रोजन की खाद डालने की आवश्यकता पड़ती है यद्यपि फसल कटने के बाद मिट्टी में नाइट्रोजन की वृद्धि हो जाती है । अतः प्रश्न उठता है कि दलहनी फसलों से अधिकाधिक लाभ उठाकर भूमि-उर्वरता कैसे बढ़ाई जाय ?

दालों में नाइट्रोजन की पूर्ति

हमारे वायुमंडल में नाइट्रोजन की मात्रा आयतन के अनुसार लगभग 78 प्रतिशत तथा भार के अनुसार लगभग 75 प्रतिशत है । वायुमण्डल में इतनी भारी मात्रा में नाइट्रोजन उपलब्ध होने पर भी सभी पौधे इस नाइट्रोजन का उपयोग नहीं कर पाते; किन्तु अधिकांश दलहनी पौधों अर्थात् सनई, ढैंचा, बरसी, मटर, मूँग, चना, अरहर, आदि की जड़ों में छोटी-छोटी गुलाबी रंग की ग्रन्थियाँ होती हैं । इन ग्रन्थियों में वायुमण्डल से नाइट्रोजन स्थिर करने वाले जीवाणु निवास करते हैं । इन जीवाणुओं को राइजोबियम कहते हैं । ये जीवाणु अपनी आवश्यक ऊर्जा पौधों द्वारा निर्मित कार्बोहाइड्रेट से प्राप्त करते हैं और बदले में पौधों को स्थिर की हुई नाइट्रोजन देते हैं । इस प्रकार ये पारस्परिक सहयोग से एक दूसरे को लाभ पहुँचाते हैं । इसलिए जीवाणु और पौधों के इस सम्बन्ध को सह-जीविता (Symbiosis) कहते हैं ।

राइजोबियम कल्चर क्या है ?

राइजोबियम जीवाणुओं की दलहनी फसलों की जड़ों में ग्रन्थियों के भीतर पलते हैं । यह एक विशेष जीवाणु का नाम है । ये जीवाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि नग्न आँखों से नहीं देखे जा सकते हैं । इन्हें देखने के लिए अधिक क्षमता वाले सूक्ष्मदर्शी की आवश्यकता होती है । ये जीवाणु पौधे की जड़ों में प्रवेश करके छोटी-छोटी गुलाबी रंग की ग्रन्थियाँ बनाकर उनमें निवास करते हैं, और वायुमंडल में पायी जाने वाली नाइट्रोजन का स्थिरीकरण (यौगिकीकरण) करते हैं । यह नाइट्रोजन उनकी कोशिकाओं में संयुक्त रहती है अतः तुरन्त ही पौधों के उपयोग में नहीं आती, किन्तु इन जीवाणुओं के क्षय होने पर नाइट्रोजन पौधों के उपयोग के योग्य हो जाती है ।

प्रत्येक दलहनी फसल के लिए अलग-अलग प्रकार के राइजोबियम होते हैं । एक ही प्रकार के राइजोबियम सभी फसलों में ग्रन्थियाँ नहीं बना सकते । इसी आधार इनको सात वर्गों में समाहित किया गया है—

कुछ मृदाओं में पाये जाने वाले जीवाणु इतने अक्षम होते हैं कि वे नाइट्रोजन यौगिकीकरण नहीं कर पाते तथा कुछ प्रजातियों में नाइट्रोजन यौगिकीकरण की क्षमता अधिक होती है । इन जीवाणु को पौधे से विलग करके इन्हें राइजोबियम कल्चर तैयार करने में प्रयोग किया जाता है । मृदा में राइजोबियम की संख्या बढ़ाने तथा इस तरह अधिक फसल प्राप्त करने की विधि 'राइजोबियम टीकाकरण' कहलाती है ।

क्र० सं०	राइजोबियम की जाति	दलहनी फसल का नाम	मुख्य फसलों द्वारा स्थिर होने वाली नाइट्रोजन मात्रा
—	—	—	कि० ग्रा०/हेक्टेयर
1.	राइजोबियम मेलीलोटी	मेथी, सैंजी, रिजका	134.4
2.	राइजोबियम ट्राईफोलाई	बरसीम ढेंचा	77.1
3.	राइजोबियम लिग्यूमिनोसिरम	मटर, मसूर मूँग	38.6
4.	राइजोबियम फेजिओली	गार्डन बीन और मोठ, बरसीम	60.7
5,	राइजोबियम जेपोनिकम	सोयाबीन, काऊ पी	60.3
6.	राइजोबियम लूपिनी	लूपिन, मटर	72-132
7.	राइजोबियम	मूँगफली, सोयाबीन	57-108
	(अनामित जातियाँ)	वल्ची	79-140
		सनई	84-100

राइजोबियम कल्चर कैसे कार्य करता है ?

राइजोबियम कल्चर के उपचार के बाद जीवाणु दलहनी फसलों के बीजों से चिपक जाते हैं तथा बीज के अंकुरण के बाद जड़ों के रेशों द्वारा ये जीवाणु जड़ प्रविष्ट हो जाते हैं। फिर जड़ें ग्रन्थियाँ बनाती हैं। इसी ग्रन्थि रूपी जैविक फैक्टरी में वायुमण्डल की नाइट्रोजन अमोनिया में परिवर्तित हो जाती है और फिर यह नाइ-ट्रोजन पौधे को उपलब्ध हो जाती हैं ।

किसानों की सुविधा के लिए प्रदेश सरकार द्वारा कृषि विभाग के उच्च कोटि व सूक्ष्मजीवाणुओं का आधुनिक विधि से उत्पादन निम्न सम्भागीय केन्द्रों तथा प्रयोगशालाओं पर होता है। इन जीवाणुओं को भूरे रंग के पाउडर में मिलाकर 200 ग्राम के पोलीथीन पैकेटों में बन्द कर दिया जाता है । इनका मूल्य दो रुपये प्रति पैकेट है । यह पैकेट 10 किग्रा० बीज के लिए पर्याप्त होता है । जिन केन्द्रों से कल्चर प्राप्त किये जा सकते हैं उनके नाम हैं—

(1) सम्भागीय कृषि परीक्षण एवं प्रदर्शन केन्द्र—मेरठ, इटावा, वाराणसी, आजमगढ़।

(2) क्षेत्रीय/जनपदीय भूमि परीक्षण प्रयोगशाला—लखनऊ, झाँसी: बाँदा, सुलतानपुर, अलीगढ़, बदायूँ।

राइजोबियम कल्चर प्रयोग करने की विधि

राइजोबियम कल्चर का प्रयोग बीज के साथ निम्नलिखित विधि के अनुसार करना चाहिए—

(1) 50 ग्राम गुड़ या शक्कर 300-500 मि०ली० पानी में घोल लें।

(2) उपचारित किये जाने वाले बीज को फर्श पर या तिरपाल पर एकत्र कर लें।

(3) गुड़ या शक्कर का घोल धीरे-धीरे बीजों पर छिड़कें तथा बीजों को मिलायें ताकि सारे बीज अच्छी तरह भीग जायें।

(4) कल्चर पैकेट को खोल कर भूरे रंग के पउडर को बीजों पर छिड़कें तथा अच्छी तरह हाथ से मिलायें ताकि सारे बीजों पर पाउडर का लेप हो जाये।

(5) कल्चर से उपचारित बीज को छाया में सुखा लें तथा बुवाई सुबह या शाम के समय करें।

कल्चर प्रयोग में सावधानियाँ

राइजोबियम कल्चर को प्रयोग में लाने के पहले निम्नलिखित सावधानियों की ओर ध्यान देना आवश्यक है—

(1) कल्चर पैकेट का प्रयोग उसके ऊपर लिखी गई फसलों के लिए प्रयोग करें।

(2) पैकेट पर लिखी अन्तिम तिथि से पहले ही इस्तेमाल करें।

(3) कल्चर कमरे के तापमान पर गर्मी व सर्दी में तीन माह तक रक्खी जा सकती है।

(4) राइजोबियम कल्चर को रासायनिक खादों व दवाओं के सीधे सम्पर्क से बचायें।

(5) राइजोबियम कल्चर पैकेट को धूप व आग से बचायें।

(6) कल्चर के साथ 40 कि०ग्रा० सिंगल सुपर फॉस्फेट प्रति हेक्टेयर डालें।

(7) कीटनाशियों द्वारा उपचारित बीजों पर राइजोबियम कल्चर प्रयोग किया जा सकता है।

राइजोबियम कल्चर के प्रयोग से लाभ

राइजोबियम कल्चर के प्रयोग से 10 प्रतिशत से 30 प्रतिशत तक पैदावार में वृद्धि हो सकती है। इसके साथ ही अगली फसल के लिए अवशेष के रूप में नाइट्रोजन की काफी मात्रा बच जाती है जिससे अगली फसलों में नाइट्रोजन डालने में बचत होती है।

चारकोल पाउडर द्वारा कल्चर तैयार करने की विधि

सर्वप्रथम धारक (वाहक) पदार्थ (कैरियर) हेतु सामग्री का चुनाव किया जाता है। लकड़ी का कोयला 3 भाग तथा दोमट मिट्टी एक भाग उत्तम धारक है। वैसे पीट या लिग्नाइट या कम्पोस्ट भी लाभदायक धारक हैं।

धारक पदार्थ को धूप में सुखाया जाय जिससे 5 प्रतिशत नमी रह जाये। सीधे आँच में कैरियर को सुखाने से जीवाणुओं के वृद्धि के लिए हानिकारक पदार्थ उत्पन्न हो जाता है। कैरियर को ग्राइंडर की सहायता से 72-100 छिद्र वाली चलनी से निकलने वाले महीन कणों में पिसाई की जाय। चारलोक के लिए अधिक कार्बोनेट मिलाने की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि यह लगभग उदासीन होता है। यदि उदासीन करने की आवश्यकता हो तो 0·5 प्रतिशत की दर से कैल्यिशयम कार्बोनेट मिलाया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त पौटैशियम डाइहाइड्रोजन फॉस्फेट 0.25 प्रतिशत भी कैरियर में मिलाया जाय। इसके पश्चात् कैरियर के निर्जर्मीकरण के पूर्व 10 प्रतिशत पानी मिलाया जाय।

धारक पदार्थ का निर्जर्मीकरण

जीवाणुओं के अच्छे विकास के लिए कैरियर का निर्जर्मीकरण किया जाना नितान्त आवश्यक है। इसके लिए कैरियर को पात्रों के 2/3 भाग तक भरकर 15 पौंड प्रेशर पर 3-4 घंटे लगातार निर्जर्मीकरण किया जाय। यदि यह सम्भव न हो तो एक घण्टा प्रतिदिन तीन दिन तक किया जाय।

पैकिंग

पैकिंग के लिए 50-75 माइक्रॉन मोटाई वाले पॉलीथीन की 6″×10″ की आकार की थैलियों का प्रयोग किया जाय। इसमें 200 ग्राम कल्चर भरा जाय, इसके बाद सील कर दिया जाय। पैकेट में 2/3 भाग खाली रखा जाय जिससे हवा का आदान-प्रदान हो सके। इसके लिए पैकेट में पिन से कुछ छेद कर दिये जायें। पैकेट में छेद न करने करने से अवायुजीवी स्थिति उत्पन्न हो सकती है और जीवाणु मर सकते हैं। पैकेट के ऊपर आई. एस. आई. मानक के अनुसार सभी सूचनायें छपी होनी चाहिए। साथ में प्रयोग की विधि एवं सावधानियाँ अंकित होनी चाहिए।

इनाकुबेशन एवं भण्डारण

तैयार किये गये कल्चर पैकेटों को एक सप्ताह के लिए मानक ताप 28-30 अंश सेंटीग्रेट पर रखा जाय जिससे जीवाणु पर्याप्त संख्या में वृद्धि के मानक स्तर तक पहुँच सकें। यदि पैकेटों को भंडारित करना हो तो उन्हें 4-15 अंश सेंटीग्रेड ताप पर रखा जाय।

राइजोबियम कल्चर के सही उपयोग से मिट्टी की उर्वराशक्ति निश्चित रूप से बढ़ाई जा सकती है और यह विधि किसानों की अपनी चिरपरिचित विधि है।

○○

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1993

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।

(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।

(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।

(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।

(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1993 से दिसम्बर 1993 माह के बीच प्रकाशित हो।

(6) लेखक को लेख के साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।

(7) विज्ञान परिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।

(8) वर्ष 1993 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1994 है।

(9) पुरस्कार के लिए पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागियों को इस प्रतियोगिता के लिए उपयुक्त नहीं समझा जायेगा।

लेख निम्न पते पर भेजें—

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद वा रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पात्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु०, चौथाई पृष्ठ 50.00 आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य
आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन मई 1915
जुलाई 1993; वर्ष 79 अंक

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक
डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7 ए बेली एवेन्यू
इलाहाबाद-211002

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

पर्यावरण दिवस : 5 जून को संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख

जैव-विविधता का मूल्य

डॉ० दिनेश मणि

आज पर्यावरणविदों तथा पारिस्थितिकीविदों के समक्ष जिन महत्वपूर्ण समस्याओं से सम्बंधित प्रश्न अनुत्तरित अवस्था में पड़े हुये हैं, उनमें से एक है-- जैव-विविधता का संरक्षण। आखिर यह जैव-विविधता क्या बला है ? वास्तव में पर्यावरण के क्षेत्र में यह एक नया तकिया-कलाम है। यह शब्द पिछले वर्ष ब्राजील के शहर रियो डि जेनेरियो में सम्पन्न हुये 'पृथ्वी सम्मेलन' के पश्चात् से और अधिक चर्चा का विषय बन गया है, जब कि मेरी अपनी समझ में यह नयी बोतल पुरानी शराब के सिवा कुछ भी नहीं है। भले ही औरों के लिए यह एक सनसनीखेज या चौंका देने वाली बात हो। जैव-विविधता से हमारा तात्पर्य समस्त छोटे-बड़े पौधों, जीवों (मनुष्य सहित) की विभिन्न जातियों एवं प्रजातियों से है जिससे पारिस्थितिकी-तन्त्र ('जलीय तथा स्थलीय') का निर्माण होता है, तथा विभिन्न प्रकार के कार्य सम्पादित होते हैं। इसके अन्तर्गत सभी प्रकार की आनुवंशिक सामग्री भी शामिल है जो सदियों से हमारे जीवन की अनिवार्य मूलभूत आवश्यकता के रूप में विद्यमान रही है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि जैव-विविधता की सीमा में मात्र जंगली या प्राकृतिक जीवों को ही शामिल नहीं किया गया है, अपितु इसके अन्तर्गत पालतू प्रजातियाँ (यथा-उपयोगी फसलें तथा पालतू जानवर) एवं आनुवंशिक सामग्री (बीज इत्यादि) को भी शामिल किया गया है।

जैव-विविधता पर इतनी अधिक चर्चा करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय संधि तैयार करने के कई कारण हो सकते हैं किन्तु सबसे महत्वपूर्ण कारण तो यह है कि आज यह साफ तौर पर अनुभव किया जा रहा है कि पौधों तथा जीवों की कई दुर्लभ प्रजातियों का भविष्य संकट में है क्योंकि उनके प्राकृतिक निवास स्थान तेजी से समाप्त हो रहे हैं। चाहे भारत में हिमालय या गढ़वाल क्षेत्र के जंगल हों, ब्राजील में अमेजन के जंगल हों, मलेशिया के इमारती लकड़ी के वन या घाना के झाड़ीदार सघन वन--सभी का विनाश अत्यन्त द्रुतगति से हो रहा है। फलस्वरूप एक प्रजाति प्रतिदिन से लेकर प्रति घंटे की दर से समाप्त होने के अनुमान लगाये गये हैं। इस रफ्तार से तो अगले दो-तीन दशकों में दुनियाँ की प्रजातियों का दसवाँ हिस्सा नष्ट हो चुका होगा। जंगली प्रजातियों के साथ ही साथ अनेक पालतू किस्में भी नष्ट होती जा रही हैं।

यद्यपि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के लिये जैव-विविधता पर अप्रत्यक्ष रूप से अधिक निर्भर है, फिर भी अर्थशास्त्री तथा पारिस्थितिकीविद इस बात से सहमत हैं कि जैव-विविधता मानवता के लिये अपना विशेष महत्व रखती है। विकसित देश तो ऐसी सन्धि के लिये दबाव डाल रहे हैं, जिसमें वनों को "वैश्विक सम्पत्ति" घोषित कर इसके इस्तेमाल के नियम बनाये जायें। इन देशों की चिन्ता यह भी है कि वनों के विनाश के साथ-साथ विभिन्न जीव-जन्तुओं का भी विनाश हो रहा है। हार्वर्ड के जाने-माने जीव विज्ञानी ई० ओ विलसन इसे जीवन का विनाश"

संयुक्त मन्त्री, विज्ञान परिषद् प्रयाग, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

कहते हैं। 170 करोड़ हेक्टेयर में फैले जैव-वैविध्य वाले ज्यादातर उष्णकटिबन्धीय वन गरीब देशों में ही हैं। विल्सन का अनुमान है कि वनों की कटाई से प्रतिवर्ष 50,000 यानि रोजाना 140 अकशेरुकी (बिना रीढ़ वाले) जीवों की प्रजातियाँ लुप्त हो रही हैं।

भोजन की आपूर्ति (खाद्यान्न, दूध, अण्डा, मांस-मछली आदि द्वारा), नैसर्गिक दृश्यों के प्रत्यक्ष आनन्द तथा शिकार के अतिरिक्त जैव-विविधता का एक और महत्वपूर्ण कार्य तंत्र संबन्धी क्रियाओं द्वारा पोषक तत्वों का स्थानान्तरण तथा पुनर्चक्रण कर मिट्टी की उर्वरा शक्ति को कायम रखना। मिट्टी के सजीव घटक मिट्टी को उर्वर बनाने में फसलों तथा वनों को उगाने में निर्णायक भूमिका निभाते हैं। मिट्टी में वृद्धि करने में केंचुओं का सक्रिय योगदान है क्योंकि ये मिट्टी को सरन्ध्र (Porous) बनाते हैं तथा ऑक्सीजन एवं जल की आपूर्ति को बढ़ाते हैं। अन्य जन्तु यथा--माइट, मिलीपेड तथा कीड़े भी मिट्टी के कणाकार को सुधारते हैं।

एक अनुमान के अनुसार एक ग्राम जंगल की मृदा में एक मिलियन से अधिक एक ही प्रकार के जीवाणु (बैक्टीरिया) लगभग 1,00,000 यीस्ट कोशिकायें तथा 50,000 कवक तन्तु (जाल) के हिस्से मौजूद रहते हैं। एक ग्राम उर्वर कृषि मृदा में 2.5 बिलियन से अधिक जीवाणु (बैक्टीरिया), 40,000 कवक, 50,000 शैवाल (एल्गी) तथा 30,000 प्रोटोजोआ पाये जाते हैं। इन सूक्ष्म जीवों द्वारा विभिन्न पोषक तत्वों यथा नाइट्रोजन, फॉस्फोरस, पोटाश, सल्फर, आयरन मैंगनीज आदि का परिवर्तन उच्च पौधों द्वारा उपयोग किये जाने वाले रूपों में होता रहता है। फलस्वरूप पौधे अपनी वृद्धि कर मनुष्य के लिये उपयोगी सामग्री उपलब्ध कराते हैं।

यह एक चिन्ता का विषय है कि भारत में मिट्टी की उर्वरा शक्ति घटने का प्रतिशत सम्पूर्ण विश्व में सबसे ज्यादा है अर्थात् दुनिया की सबसे अधिक खराब जमीन भारत में है। इसका कारण है--भारत में वन क्षेत्र का प्रतिवर्ष 2.8 प्रतिशत की दर से घटना। और तो और, भारत भूमि के चरागाहों पर चराई भी जरूरत से ज्यादा हो गयी है, परिणामस्वरूप मिट्टी को रोके रखने वाली वनस्पति बहुत कम रह गयी है। जब बारिश होती है तो मिट्टी कटकर बह जाती है और साथ ही साथ इसकी उर्वरा शक्ति और अधिक घट जाती है। तेज हवाओं का भी इस भू-क्षरण में कम योगदान नहीं रहता है।

यद्यपि पिछले कुछ वर्षों से मनुष्य को अपनी सीमाओं की कड़वी सच्चाई का एहसास होने लगा है, फिर भी वह आदतन प्रकृति के नाजुक सन्तुलन से छेड़छाड़ करने से बाज नहीं आ रहा है। जैव-विविधता के विनाश की प्रमुख वजह इंसानी क्रिया कलाप ही हैं अतएव हमें अपनी सोच में परिवर्तन लाना होगा। हमें यह समझना होगा कि जैव-विविधता हमारे भोजन, ओषधि, वस्त्र, संस्कृति और शायद मानसिकता तक की बुनियाद है। आधुनिक सभ्यता भी बहुत हद तक जैव-संसाधनों पर ही निर्भर है। जैव-विविधता अमूल्य है।

वास्तविकता यह है कि हम अपने जैव-संसाधनों से अभी भी पूरी तरह से परिचित नहीं हो पाये हैं। बहुत सम्भावना है कि भविष्य में हम अपनी कई समस्याओं का समाधान इसी जैव-विविधता में ही पा जायें। अतः हमें इसके संरक्षण के प्रयास करने चाहिये और ये प्रयास तभी सार्थक सिद्ध होंगे जब ये व्यापक स्तर पर किये जायेंगे और विश्व के विभिन्न देशों के बीच जो सन्धि की जाये, वह समग्र सन्धि के रूप में हो, न कि कुछेक प्रभुता सम्पन्न देशों के लिए।

○○

पर्यावरण दिवस : 5 जून को संगोष्ठी के अवसर पर प्रस्तुत आलेख

जैव-विविधता संरक्षण : आम आदमी की भूमिका

डॉ० सुनीलदत्त तिवारी

प्रकृति अपने समूचे संघटकों का सन्तुलन बनाये रखने हेतु पूरा प्रयत्न करती है, परन्तु आज मानव ने हस्तक्षेप करके उसकी इस व्यवस्था में असंतुलन पैदा कर दिया है। औद्योगिकीकरण और शहरीकरण के चलते तथा जनसंख्या विस्फोट के कारण प्रकृति में असंतुलन व्याप्त होता जा रहा है। जंगलों की कटाई बड़ी तेजी से हो रही है जिसके कारण धरती नंगी होती जा रही है। खेती योग्य भूमि की कमी होती जा रही है। इस प्रकार से उत्पन्न असंतुलन जीवधारियों के लिए एक आसन्न-संकट की तरह है। इसी असंतुलन के कारण अनेक पौधों और जीव-जन्तुओं की प्रजातियाँ लुप्त होती जा रही हैं।

स्वीडेन के प्राणिविज्ञानी लिंडहल के अनुसार इस धरती की लगभग 300 से अधिक जातियाँ और उप-जातियाँ लुप्त हो चुकी हैं। इण्टरनेशनल यूनियन फॉर कंजरवेशन ऑव नेचर एण्ड नेचुरल रिसोर्सेज (International Union for the Conservation of Nature and Natural Resources) के अनुसार पौधों की लगभग 25,000 प्रजातियाँ लुप्त होने के कगार पर हैं।

यह निर्विवाद सत्य है कि जीवधारी आपस में एक दूसरे पर निर्भर हैं। इस प्रकार से पौधों और जीव-जंतुओं का लुप्त होना मानव जाति के लिए गम्भीर संकट खड़ा कर सकता है। अतः यह आवश्यक है कि हम अभी से प्रकृति के इस असंतुलन को रोकें।

ऐसा नहीं है कि हमने इस असंतुलन को रोकने के प्रयास न किये हों। व्यक्तिगत तथा सरकारी स्तर पर अनेक योजनाएँ इसके लिए कार्यान्वित की गयी हैं। भारत विश्व के बारह वृहद जैव विविधता वाले देशों में से एक है। सरकारी स्तर पर प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण हेतु दो सरकारी संगठन सक्रिय हैं—भारतीय वानस्पतिक सर्वेक्षण (Botanical Survey of India) और भारतीय प्राणि सर्वेक्षण (Zoological Survey of India)। भारतीय वन्य जीवन बोर्ड भी पर्यावरण संरक्षण सम्बन्धी गतिविधियों के लिए पर्यावरण विभाग की सहायता करता है।

जहाँ तक आम आदमी की भूमिका का प्रश्न है—इसमें भी हमने कोई कसर नहीं छोड़ रखी है। भारत का उत्तराखण्ड क्षेत्र अपने वन एवं जंगली जीवों के लिए विख्यात है। उत्तराखण्ड के लोगों में पीढ़ियों से ही प्रकृति संरक्षण के प्रति जागरूकता पायी गयी है जिसमें मुख्य बिन्दु निम्न हैं—

- प्रत्येक पौधे और जीव को पवित्र मान कर उसका संरक्षण—जैसे—पीपल, बरगद जैसे वृक्ष एवं बन्दर (हनुमान) जैसे जीव।

14, चौखण्डी, कीडगंज, इलाहाबाद (उ० प्र०)

○ विभिन्न जीवों के जीवन वृत्त की विशिष्ट अवस्थाओं पर उनका संरक्षण जैसे चिड़ियों की प्रजनन अवस्था पर

○ पवित्र बगीचों और तालाबों के सम्पूर्ण समुदायों का संरक्षण। विभिन्न साधनों द्वारा जीवों के अंधाधुन्ध शिकार पर रोक जैसे—घोंसले में निवास करते हुए फलों पर निर्भर रहने वाले चमगादड़।

उपर्युक्त बिन्दु उत्तराखण्ड क्षेत्र तक ही सीमित है पर भारत के अन्य क्षेत्रों में भी आम लोगों में धार्मिक दृष्टि से पेड़-पौधों की 'पूजा' द्वारा उनकी रक्षा करने की परम्परा विद्यमान है। जैसे—पीपल, तुलसी, नीम, बरगद आदि पेड़ों की पूजा।

इस तरह से हमारे मन में पेड़-पौधों और अन्य जीवों की रक्षा की भावना विद्यमान है। परन्तु आज हमारे समाज का एक तबका अपनी स्वार्थ सिद्धि हेतु इन पेड़-पौधों की अंधाधुंध कटाई कर रहा है, जीवों का शिकार कर रहा है। इससे बचने के लिए हमें अपने साथ-साथ सभी स्थानीय लोगों को भी इस जैवविविधता संरक्षण आन्दोलन में भागीदार बनाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। वैसे यह भी सही है कि स्थानीय लोग इस काम को पूर्णरूपेण अपने ऊपर नहीं ले सकते हैं। यह तो सहयोजना और आपसी सहयोग द्वारा ही हो सकता है। जैवविविधता के संरक्षण के पूर्व स्थानीय लोगों को अपने क्षेत्र की जैवविविधता की विस्तृत जानकारी होनी चाहिए। विशेषज्ञों की सहायता से इस लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास किया जा सकता है।

इस प्रयास की शुरुआत करने के लिए लोगों को पहले पौधों के उपयोग के बारे में पूर्ण जानकारी देनी होगी जैसे--जड़ी बूटियों से बनी दवायें, जो स्थानीय तौर पर प्रयोग में लाई जाती हैं, उपयोग सामग्री जैसे--गन्ना, बेंत, शहद आदि; वैकल्पिक तौर पर जैसे पौधों की नयी जातियों के प्रजनन की सुरक्षा। तभी लोग जैव विविधता के महत्व को समझ सकेंगे। इस बारे में पहल हो चुकी है। किसानों ने कुछेक व्यक्तिगत अभिरुचि से पेड़-पौधों की कुछ जातियों को सुरक्षित भी किया है।

फिर भी, जैवविविधता संरक्षण हेतु निःसन्देह अनुसंधान और अनुभव की जरूरत है ताकि एक केन्द्रित प्रयास किया जा सके। इस प्रकार स्थानीय लोगों के साथ प्रारंभ करके क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक पहुँचा जा सकता है और प्राकृतिक संतुलन को बनाये रखने के लिए एक सार्थक जनान्दोलन किया जा सकता है।

○○

पर्यावरण दिवस : 5 जून की संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख

अहिंसा : पर्यावरणीय सन्तुलन का एक महत्वपूर्ण घटक

डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव

'अहिंसा परमो धर्मः' अर्थात् अहिंसा परम धर्म है। यह वैदिक मंत्र न केवल हमारे जीवन में अहिंसा का महत्व स्थापित करता है अपितु पर्यावरण के सन्तुलन में पशु-पक्षियों के अपरिहार्य योगदान को भी संकेतित करता है। मोटे तौर पर अहिंसा का तात्पर्य है किसी भी जीव की हत्या न करना।

हिंसा (अर्थात् जीव-हत्या) के दो मुख्य कारण रहे हैं--एक भोजन और दूसरे स्थान की आवश्यकता। सभी जानते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल से मृगया अर्थात् शिकार के माध्यम से मनुष्य पशु-पक्षियों को मारता आया है और उसके स्वादिष्ट मांस से अपना पेट भरता आया है। अनाज के ज्ञान के पहले आदिम मनुष्य का जीवन पशु-पक्षियों के आखेट पर ही आधारित था। बाद में जब मनुष्य ने खेती करना प्रारम्भ कर दिया और धीरे-धीरे पशु-पालन की ओर उन्मुख हुआ तो वह प्रायः शाकाहारी बनने लगा। किन्तु स्वाद के लिए मांसाहार चलता रहा और इस प्रकार पशु-पक्षियों की हिंसा भी होती रही।

पशु-पक्षियो का मांस यदि स्वादिष्ट न होता तो रन्तिदेव और अशोक जैसे सम्राटों की रसोई में सैकड़ों पशु-पक्षियों का मांस नित्य न बनता और न प्रजाजनों को आकर्षित ही किया जा सकता। आगे चलकर, जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ जब खेती करने के लिए अधिक भूमि की आवश्यकता पड़ी तो मनुष्य ने जंगल काट-काट करके उन स्थानों पर खेती करना प्रारंभ कर दिया। वर्तमान युग में बढ़ी हुई आबादी के आवास के लिए, कल-कारखानों के लिए, राजमार्गों के लिए तथा इसी प्रकार अन्यान्य कारणों से जंगलों की कटाई की जा रही है। जंगलों की कटाई के कारण अनेक पशु-पक्षियों की शरणस्थली नष्ट हो जाने से और भोजन न मिल पाने से उनका जीवन संकट में फँस जाता है और अन्ततः वे मृत्यु के मुख में समा जाते हैं। इस प्रकार भोजन और अधिक स्थान प्राप्त करने के उद्देश्य से पशु-पक्षियों की हत्या होती हैं। पशु-पक्षियों की कमी से पर्यावरण-सन्तुलन डगमगा जाता है। यह तथ्य हमारे पूर्वज जानते थे। इसीलिए उन्होंने जीव-हत्या को हिंसा की कोटि में रखकर उसे पाप ठहराया और अहिंसा को पुण्य का दर्जा दिया। 'जियो और दूसरों को जीने दो' का नारा लगाकर हमारे पूर्वजों ने अहिंसा का गुणगान किया जिसके अनगिन साक्ष्य हमारे प्राचीन साहित्य में यत्र-तत्र-सर्वत्र सुलभ हैं।

वैदिक मंत्रों के माध्यम से मनुष्य को शिक्षा दी गई है कि वह पशु-पक्षियों को अपने से हेय न समझे। क्योंकि मंत्र द्रष्टा ऋषि-मुनि जानते थे कि जिस प्रकार पर्यावरण के सन्तुलन में जड़ जगत् (पृथ्वी, नदियाँ, पर्वत-आदि) और वानस्पतिक जगत् सहायक है, उसी प्रकार चेतन जगत् के मनुष्य, पशु, पक्षी तथा अन्य जीव भी सहा-

स्टाफ क्वार्टर्स 5डी/4, लिडिल रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद-211002

यक हैं अर्थात् पर्यावरण में पशु-पक्षी भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितना मनुष्य । इसीलिए हमारे पूर्वजों ने सकल जीव-जन्तुओं के साथ दया और प्रेम से रहने का उपदेश दिया । हिंसा की निन्दा और अहिंसा का गुणगान हमारे देश के समूचे साहित्य में उपलब्ध है ।

अहिंसा का महत्व न केवल वैदिक धर्मावलम्बियों में अपितु जैन तथा बौद्ध धर्मावलम्बियों में भी था । महात्मा गौतम बुद्ध की प्रमुख शिक्षाओं में अहिंसा भी थी । जैन धर्म में तो अहिंसा ही उनकी प्रमुख शिक्षा थी । जिन पंच महाव्रतों का उपदेश जैन धर्म में दिया गया था वे थे--अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह न करना) । पाँचों महाव्रतों में अहिंसा का स्थान सर्वोपरि था ।

मौर्य नरेश अशोक कट्टर बौद्ध धर्मावलम्बी था । बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पहले उसकी रसोई में प्रतिदिन सैकड़ों पशु-पक्षी काटे जाते थे और उनका मांस पकाकर प्रजाजनों को खिलाया जाता था । आगे चलकर जब राजा ने धर्म की शरण ली तो उसने प्रजा को दी जाने वाली दावत बन्द कर दी और अहिंसा का उपदेश दिया । अशोक जानता था कि उसके मात्र उपदेश से प्रजा मांस खाना बन्द नहीं कर देगी, इसलिए उसने शिकार पर पाबन्दी लगाई । प्रत्येक माह की प्रथमा, चतुर्थी, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, अमावस्या, पूर्णमासी जैसे कई दिनों को पवित्र दिन कहकर राजा ने उन दिनों में शिकार करने की मनाही कर दी और अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों का शिकार करना भी मना कर दिया । इसी के साथ राजा ने अपनी प्रजा को समझाया कि जीव पवित्र है, इसे नष्ट नहीं करना चाहिए ।

प्राचीन भारत के विधि-विशेषज्ञ मनु ने भी मांस-भक्षण की तीव्र निन्दा की है । उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि जो अहिंसक जीवों का अपने सुख (स्वाद अथवा शारीरिक पुष्टि) की इच्छा से वध करता है, वह जीता हुआ तथा मरकर भी कहीं पर सुखपूर्वक उन्नति नहीं करता (मनुस्मृति, 5/45) । मनु यह भी कहते हैं कि जीवों की हिंसा किए बिना कहीं भी मांस नहीं मिल सकता है और जीवों की हिंसा स्वर्ग-साधन नहीं है, अतः मांस को छोड़ देना चाहिए अर्थात् नहीं खाना चाहिए ((मनुस्मृति) 5/48) । यही नहीं, अनेकानेक ऐसे उदाहरण मिल जायेंगे जिनमें मांस-भक्षण अथवा जीव-हत्या की वर्जना का उल्लेख है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हमारे देश में प्राचीन काल में ऋषि-मुनियों ने अहिंसा की जो अवधारणा प्रस्तुत की थी वह पुण्य और धर्म की मीठी और मोहक चासनी में लपेटी हुई थी । सीधी बात का प्रभाव कम होता है और फिर पर्यावरण जैसा विषय तो जनसाधारण की समझ से परे था । ऐसी स्थिति में हमारे पूर्वजों ने अत्यन्त सहज और सरल रूप में हिंसा और अहिंसा को पाप और पुण्य के प्रतिफलों के रूप में समझाया । इसे जनसामान्य ने ज्यों का त्यों इसलिए मान लिया क्योंकि उन्हें पुण्य के सहारे स्वर्ग जो जाना था । वस्तुतः अहिंसा के पीछे हमारे पूर्वजों की दृष्टि पर्यावरण की सुरक्षा तथा सन्तुलन पर केन्द्रित थी । धर्म-अधर्म और पाप-पुण्य जैसी मान्यताओं के माध्यम से वे पर्यावरण की संरक्षा के लिए सामाजिक चेतना जगाना चाहते थे, और इस उद्देश्य में वे पूर्णरूप से सफल भी हुए थे । उन्होंने तो सभी जीव-जन्तुओं में, पृथ्वी, आकाश तथा अन्तरिक्ष में सर्वत्र शान्ति की कामना की थी—

द्यौः शान्तिः अन्तरिक्ष शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिः ओषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिः विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ।

हमें एक बात गाँठ बाँध लेना चाहिए और वह यह कि यदि हम वस्तुतः पर्यावरण के लिए चिन्तित हैं और इसकी संरक्षा और सन्तुलन के लिए जनसामान्य को जगाना चाहते हैं तो इस विषय को अकेले विज्ञान की परिधि में सीमित न करके समाज और धर्म के विस्तृत परिक्षेत्र में लाना होगा और अपने पूर्वजों के सफल अनुभवों का लाभ उठाना होगा।

○○

पर्यावरण दिवस : 5 जून को संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख

जैव-विविधता संरक्षण : कुछ उपाय

पवन कुमार

जैव-विविधता के अन्तर्गत विभिन्न पौधों, पशुओं और सूक्ष्म जीवों की अनेक प्रजातियाँ शामिल हैं जो पृथ्वी की सम्पूर्ण परिस्थितिकी तंत्र (Ecosystem) को प्रभावित करती हैं। ये धरती के ऐसे संसाधन हैं जिनका सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक महत्व है। जल और स्थल में पायी जाने वाली प्रजातियों का उद्योग, कृषि और चिकित्सा से क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है। इसके अलावा कुछ जातियाँ ऐसी हैं जो जलवायु को स्थायित्व प्रदान करती हैं। साथ ही भूमि-संरक्षण में भी योगदान देती हैं। एक वैज्ञानिक रिपोर्ट के अनुसार पृथ्वी लगभग 300 लाख टन जैव प्रजातियों (Bio-Species) का निवास स्थान है जिनमें से अभी तक 15 लाख प्रजातियाँ पहचानी जा चुकी हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ पर्यावरण कार्यक्रम द्वारा किये गये सर्वेक्षण के अनुसार 75,000 प्रजातियाँ कीड़े-मकोड़ों की हैं और 41,000 पृष्ठ वंशी हैं तथा 2,50,000 वनस्पतियाँ तथा शेष प्रजातियाँ अकशेरुकी जन्तुओं की हैं, इसके अलावा कुछ कवक तथा अन्य सूक्ष्म जीव भी शामिल हैं।

आज औद्योगिकी विकास, सघन कृषि एवं जंगलों की कटाई के कारण दुनिया से प्रतिदिन कई दुर्लभ जन्तु एवं वनस्पतियाँ अपनी समाप्ति के कगार पर हैं। एक रिपोर्ट के अनुसार पृथ्वी पर पाई जाने वाली 4 करोड़ प्रजातियों में से लगभग 100 प्रजातियाँ प्रतिदिन उद्योगों, कृषि क्रियाओं, भूमि कटाव एवं पर्यावरण प्रदूषण के कारण नष्ट हो रही हैं जबकि एक जीव विज्ञानी ई० ओ० विल्सन के अनुमान के अनुसार वनों की कटाई से प्रतिवर्ष 50,000 प्रजातियाँ लुप्त हो रही हैं। 1972 में जहाँ अफ्रीकी हाथियों की संख्या 20 लाख थी वहीं 1992 के अन्त तक इनकी संख्या मात्र 6 लाख बची है। 1973 में स्मिथसोनियन संस्थान के एक अध्ययन के अनुसार पौधों की 25,000 प्रजातियों में से 3000 प्रजातियाँ लुप्त होने वाली हैं।

विश्व के उष्णकटिबन्धीय वर्षा वन (Tropical Rain Forests) लगभग आधी प्रजातियों के आश्रय स्थल हैं। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से इन वनों का क्षेत्र लगातार घटता जा रहा है। अब इन वनों का क्षेत्र घटकर लगभग आधा रह गया है। प्रतिदिन विलुप्त होते जन्तुओं का सबसे बड़ा कारण जंगलों का तेजी से कटना है। बढ़ते जल प्रदूषण के कारण समुद्री जीवों जैसे ह्वेल, सीप, घोंघों आदि के अस्तित्व को भी खतरा पैदा हुआ है।

शोध छात्र, शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-2

जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों के विलुप्त हो जाने से इनकी विविधता को खतरा उत्पन्न हो गया है। इससे मानव जाति का स्वयं का अस्तित्व सुरक्षित नहीं है। अतः आवश्यकता है ऐसे प्रयासों की जिनसे हमें जैव-विविधता के संरक्षण में सहायता मिले। इसीलिये विश्व के कई देशों ने एकजुट होकर कुछ ऐसे कार्यक्रम बनाये हैं जिनसे जैव-विविधता संरक्षण में काफी मदद मिलेगी। ये कार्यक्रम निम्न हैं :

1. जंगलों के संरक्षण का कार्यक्रम

यह सर्वविदित है कि जंगलों के नष्ट होने से पर्यावरण तथा पृथ्वी का पूरा पारिस्थितिक तंत्र प्रभावित होता है। वनों के निरन्तर कटाई से जीव-जन्तुओं के विभिन्न प्रजातियों के समाप्त होने का डर है। 1972 तक पृथ्वी के एक-तिहाई उष्णकटिबन्धीय वर्षा वाले वन नष्ट हो चुके थे तथा शेष बचे वनों का 0.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष के हिसाब से नष्ट हो रहा है। 1990 में खाद्य एवं कृषि संगठन द्वारा प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार एशिया एवं प्रशान्त क्षेत्र में एक वर्ष में 20 लाख हेक्टेयर वनीय क्षेत्र नष्ट होते हैं। जबकि ब्राजील में पिछले दशक के दौरान 6 लाख 20 हजार वर्ग किलोमीटर के वनों का सफाया हुआ। भारत में वनों के कुल क्षेत्र में 2.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष के हिसाब से कमी आ रही है।

उपर्युक्त आँकड़ों को नजरअन्दाज नहीं किया जाना चाहिये क्योंकि इससे एक विश्वव्यापी समस्या उठ खड़ी हुई है। इसी बात पर ध्यान देते हुए विश्व के 178 देशों ने वन संरक्षण हेतु एक समझौता किया। इस समझौते का मूल सिद्धान्त है—"जंगल विश्व की साझा सम्पत्ति हैं इसलिये उनकी हिफाजत के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय कानून बनाया जाय।" लेकिन निजी वनों को इसकी गिरफ्त से बाहर रखा जाये। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि अमेरिका के अधिकतर वन निजी स्वामित्व के अधीन हैं। इस बात को लेकर भारत तथा कुछ अन्य विकासशील राष्ट्रों ने अपना विरोध भी प्रदर्शित किया था। परन्तु अन्ततोगत्वा वनों के संरक्षण हेतु यह प्रस्ताव पारित हो गया जिससे विभिन्न प्रजातियों के संरक्षण में मदद मिलेगी।

2. विश्वव्यापी जलवायु नियन्त्रण समझौता

आज वातावरण में ग्रीन हाउस गैसों की अधिकता के कारण पृथ्वी के ताप में दिनोंदिन बढ़ोत्तरी के संकेत मिल रहे हैं। वायुमण्डल में इन गैसों की सान्द्रता में वृद्धि के कारण ही पिछले 75 वर्षों में पृथ्वी का औसत तापमान 1.5 डिग्री सेल्सियस के आस-पास बढ़ा है। एक अनुमान के अनुसार अगर यह वृद्धि ऐसी ही जारी रही तो सन् 2050 तक 4-5 डिग्री सेण्टीग्रेड तक ताप में वृद्धि हो जायेगी फलस्वरूप ध्रुवों की बर्फ पिघलनी प्रारम्भ हो जायेगी और समुद्र तटीय क्षेत्र जलमग्न अवस्था में परिवर्तित हो जायेंगे जिससे उन क्षेत्रों में निवास करने वाली विभिन्न जैव-प्रजातियों के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो जायेगा। इस ताप वृद्धि से न केवल समुद्री जल स्तर में वृद्धि होगी बल्कि पूरे विश्व के मौसम और जलवायु में भी परिवर्तन होने की सम्भावना है। जैसे कहीं गर्मी बढ़ेगी तो कहीं तूफान आयेंगे।

हाल ही में विश्व के कई देशों के बीच ग्रीन हाउस गैसों के उत्पादन में कमी करने के लिए एक जलवायु परिवर्तन समझौता (Climate Change Convention) हुआ। इस समझौते के तहत सभी विकासशील एवं विकसित देश जीवाश्म ईंधन (Fossil Fuel) के खपत में कमी द्वारा Co_2 का उत्सर्जन कम करेंगे। इस समझौते के तहत ही

विकसित राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों के 'पर्यावरणीय स्वच्छ विकास' के लिए धन उपलब्ध करायेंगे। इसके लिये विश्व पर्यावरण कोष (Global Environmental Fund) की स्थापना की गई है। समझौते के अनुसार सभी देश CO_2 के उत्सर्जन के 1990 के स्तर को प्राप्त करने के लक्ष्य के साथ अपना औद्योगिक विकास करने की कोशिश करेंगे। इसके साथ यह भी शर्त है कि विकसित राष्ट्र विकासशील देशों को ऐसी तकनीकें उपलब्ध करवायें जो इनकी औद्योगिक आवश्यकताओं को पर्यावरण के सन्दर्भ में पूरी करें।

3. पृथ्वी सुरक्षा कोष की स्थापना

1989 में बेलग्रेड में भारत के तत्कालीन प्रधानमन्त्री ने अपनी पहल से पृथ्वी के संरक्षणार्थ पृथ्वी सुरक्षा कोष (Planet Protection Fund) की स्थापना का प्रस्ताव रखा। इस कोष का मुख्य लक्ष्य था ऐसे विकासशील राष्ट्रों की आर्थिक मदद करना जो पर्यावरण की दृष्टि से सुरक्षित विकास कर रहे हों। जैसे दक्षिण के देशों की गरीबी पर्यावरण प्रदूषण का बहुत बड़ा कारण है। इसलिए अगर पर्यावरण की दृष्टि से सुरक्षित विकास करना है तो सर्व-प्रथम ऐसे राष्ट्रों की अधिक मदद का बीड़ा उठाया जाना चाहिये।

4. राष्ट्रीय संरक्षण क्षेत्र बनाये जाएँ

सम्पूर्ण विश्व में लगभग 7000 राष्ट्रीय संरक्षण क्षेत्र हैं जिनका क्षेत्रफल 6510 लाख हेक्टेयर है। 1992 में प्रकाशित 'वर्ल्ड वाच संस्थान' की रिपोर्ट के अनुसार राष्ट्रीय संरक्षण क्षेत्र की घोषणा करने से इन क्षेत्रों में उपस्थित विभिन्न जैव प्रजातियों के संरक्षण में आशातीत सफलता मिली है। इन सब को देखते हुए, विभिन्न राष्ट्रों को दुर्लभ जीव-जन्तुओं की इस अमूल्य सम्पदा को बनाये रखने के लिए विभिन्न पार्कों और अभ्यारण्यों एवं महत्वपूर्ण वनीय क्षेत्रों को राष्ट्रीय संरक्षण क्षेत्र घोषित करना चाहिये जिससे जैव-प्रजातियों के अस्तित्व को बनाये रखा जा सकेगा।

अन्त में इतना कहा जा सकता है कि जैव-विविधता संरक्षण का दायित्व किसी एक राष्ट्र का न होकर सारे विश्व का है। इसलिये यह आवश्यक है कि हम जैव-प्रजातियों के संरक्षण हेतु विश्वबन्धुत्व की भावना के साथ काम करें। इसी से हम विभिन्न प्रजातियों के अस्तित्व को बनाये रख सकेंगे। विकासशील और विकसित देशों के आपसी मतभेदों से हमें कुछ हासिल होने वाला नहीं। खुशी की बात यह है कि भारत ने भी जैव विविधता संरक्षण कार्यक्रमों में अपनी पहल करके एक अच्छा काम किया है जिससे भविष्य के लिए कुछ उम्मीदें जागी हैं।

OO

नीम एवं उसकी उपयोगिता

देवीदयाल पाण्डेय

नीम का वृक्ष मानव जीवन के लिये बहुत महत्वपूर्ण है, यह सर्वविदित हो चुका है। वृक्षों का उपयोग हमारे जीवन में कई तरह से है। चिकित्सा के क्षेत्र में अनेक पौधों का उपयोग बहुत प्राचीन काल से होता है चला आ रहा है। पूर्वकाल में जड़ी-बूटियों तथा विभिन्न प्रकार के वृक्षों की छालों एवं अन्य भागों का प्रयोग होता रहा है।

नीम का वैज्ञानिक नाम अजैडिरेक्टा लिनियस है।

यह मझोले आकार का वृक्ष होता है जो भारत और वर्मा का मूल निवासी है। इसकी छाल काफी मोटी होती है तथा उसके ऊपर लम्बोतरी या तिरछी दरारें पायी जाती हैं। नीम का वृक्ष डेकन के शुष्क वनों और ब्रह्मा के शुष्क क्षेत्रों में पाया जाता हैं।

नीम के वृक्ष के लगभग सभी भाग कड़वे होते हैं और भारतीय चिकित्सा में उनका उपयोग किया जाता है। बीजों का तेल मरगोसा तेल कहलाता है। यह पीला, कड़वा लहसुन के समान अरुचिकर गन्ध वाला होता है। इसका प्रयोग गण्डमाला, पुराने घावों और फोड़ों तथा दाद के समान त्वचा के रोगों में होता है।

नीम के कड़वे अंश पर काफी अनुसन्धान कार्य किया गया है। इसके तेल को एल्कोहॉल से निष्कर्षित करके एक कड़वा पदार्थ प्राप्त किया गया है। इसका प्रमुख रचक निम्बडीन अत्यन्त कड़वा है तथा उसमें गन्धक की उपस्थिति पायी गयी है। जल-अपघटन के द्वारा इससे निम्बिडिनिक अम्ल मिलता है, जो अत्यन्त कड़वा एवं गन्धक युक्त होता हैं। इसमें पाये जाने वाले निम्बिडीन तथा सोडियम निम्बिडिनेट लगभग अविषैले हैं। निम्बिडीन योगों में तेल की अरुचिकर गन्ध नहीं होती है और वे अनेक प्रकार के त्वचा रोग, पके घाव, जलने के घाव को लाभ पहुँचाते हैं। और तो और मसूड़ों के रक्त स्राव तथा पायरिया में भी उपयोगी होते हैं।

इसकी छाल अच्छी टिक्त टॉनिक, कसैली और कालिक ज्वरनाशी है। इसमें एक रेजिनी तिक्त पदार्थ की उपस्थिति बताई गई है। इसे टिंचर या फॉट के रूप में देने से लाभ होता है। इसे मलेरियो ज्वर में भी लाभदायक समझा जाता है।

छाल त्वचा रोगों में उपयोगी समझी जाती है। पत्तियाँ कड़वी तथा उनमें हल्की लाक्षणिक असुहावनी गन्ध होती है। छाया में सुखायी पत्तियाँ कीड़ों को मारने के लिये किताबों, कागजों और कपड़ो में रखी जाती हैं। सूखी पत्तियों के सुलगने से निकला हुआ धूम कीड़ों के लिये घातक बताया गया हैं। पत्तियाँ पुल्टिस के रूप में फोड़ों पर लगायी जाती हैं और घावों तथा खुजली के लिए काढ़े के रूप में उपयोगी होती हैं। सूखे फल टॉनिक और क्षुधा-

---

शोध छात्र, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-2

वर्धक समझे जाते हैं । इसके फल विरेचक, स्नेहक और कृमिनाशी माने जाते हैं । ताजी टहनियों की दातून के तौर पर विशेषतः पायरिया होने पर प्रयोग किया जाता है ।

इस महत्व के साथ-साथ नीम का महत्व जैविक कीटनाशियों के रूप में भी महत्वपूर्ण है । न्यूयार्क की एक कम्पनी नीम से निर्मित मार्गोसान-ओ नामक कीटनाशी बेचती है जिसे प्रमुखतः ग्रीन हाउस, व्यापारिक पौधघरों, वनों में प्रयोग किया जाता है । इसका प्रयोग काफी मात्रा में हो रहा है । अमेरिका की राष्ट्रीय अनुसन्धान परिषद् के नये अध्ययन से पता चला है कि नीम का पेड़ तीसरी दुनिया को पर्यावरण प्रदूषण तथा वन विनाश से बचाने में काफी महत्वपूर्ण है ।

'विश्व स्वास्थ्य संगठन' की एक रिपोर्ट में बताया गया है कि रासायनिक कीटनाशियों के कारण प्रतिवर्ष तीव्र विषाक्तता के कारण 30 लाख लोग प्रभावित होते हैं, जिनमें से 2 लाख 20 हजार की मौत हो जाती है । अतः इस स्थान पर नीम से उत्पादित कीटनाशियों की लोकप्रियता बढ़ी है ।

अन्य अध्ययनों से पता चला कि 2 करोड़ 50 लाख कृषक व खेतिहर मजदूर कीटनाशियों के कारण विषग्रस्त हुए हैं । इन स्थानों के किसानों व मजदूरों के भोजन में प्रोटीन की कमी से कीटनाशियों का उनके ऊपर ज्यादा घातक तथा विषैला प्रभाव पड़ता है । पर नीम से बने कीटनाशियों के प्रयोग से ऐसी दशा में भारी कमी आ सकती है ।

श्री सी०एम० केतकर (नीम विशेषज्ञ) कहते हैं कि नीम भारत के सबसे अधिक मूल्यवान और सबसे कम उपयोग में लाये जाने वाले वृक्षों में से है । देश में एक करोड़ चालीस लाख नीम के पेड़ हैं, जिन पर सलाना 5 लाख टन निबौरी लगती है । लेकिन केवल 20 प्रतिशत निबौरी का जमाव और उपयोग किया जाता है ।

डॉ० एम० एस० रंधावा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "फ्लावरिंग ट्रीज इन इण्डिया" में लिखा था कि अगर हमारी सड़कों के किनारे मीलों दूरी तक नीम और महुये के पेड़ रोपे जायें तो उन क्षेत्रों में तेल पेराई का उद्योग आरम्भ किया जा सकता है ।

बंगलौर में आयोजित विश्व सम्मेलन में तमाम वैज्ञानिकों ने भाग लिया तथा नीम के औषधीय, कीटनाशी एवं पर्यावरणीय महत्व के ऊपर अपने-अपने तथ्य रखे । इसमें बताया गया कि नीम को चेचक (स्माल पाक्स) के नियन्त्रण में उपयोग किया जा सकता है तथा अन्य महत्वों पर भी प्रकाश डाला गया ।

पूर्व के किए शोध को पुनः शुरू करने पर नीम के कवकनाशी, जीवनाशी, वाइरसनाशी गुण तथा मलेरिया तथा मधुमेह के नियन्त्रण में उपयोगिता देखी गई है ।

जर्मन वैज्ञानिक डॉ० हेनरिख (1959) ने टिड्डी के 'स्वार्मों' के नियन्त्रण में नीम का प्रयोग किया । सामान्यतः विश्व के तमाम कीट वैज्ञानिक, पादपरसायनज्ञ नीम के द्वारा विभिन्न कीटों तथा रोगों के रोकथाम के नये उपयोग के लिये शोधरत हैं ।

नीम से प्राप्त जैविकीय सक्रिय रसायन को 'लीमोनायड' के नाम से जानते हैं । यह नीम की छाल, पत्तियों तथा बीज से प्राप्त होता है । इसमें अजैडिरेक्टिन मुख्य है तथा अन्य का नाम—सेलानिन, मेलानटियल है ।

अजैडिरेक्टिन कीटों के ऊपर प्रतिकर्षक के रूप में कार्य करता है तथा कीटों को नियन्त्रित करता है। इनका प्रभाव कीटों के हार्मोन संतुलन को क्षति भी पहुँचाता है। इस तरह नीम से प्राप्त अजैविकीय रसायन का कीट, दीमक तथा नीमैटोड्स की लगभग 200 जातियों के ऊपर प्रयोग करके उनको नियन्त्रित किया जा सकता है।

नीम से प्राप्त कीटनाशी का प्रयोग सुरक्षित एवं अधिक समय तक प्रभावी रहता है। नीम को 'सघन पेस्ट प्रबन्ध' (Integrated Pest Management) के रूप अपना सकते हैं। नीम से प्राप्त पेस्टनाशी एन्टीफीडेन्ट के रूप में कार्य करते हैं, जिसमें फाइटोफेगस कीट के 'निम्फ' तथा 'लारवा' नष्ट हो जाते हैं। नीम के प्रयोग से पारिस्थितिकी तन्त्र के सन्तुलन में कोई हानि नहीं हो सकती।

नीम से प्राप्त कीटनाशियों में प्रतिकर्षक गुण होने से इसका प्रयोग अन्न भण्डारण में किया जाता है।

नीम से प्राप्त केक या खली की उपयोगियता भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसका प्रयोग कृषि, कुकुट पालन, पशुपालन में होता है। केक की उपयोगिता खाद के रूप में फार्म यार्ड उर्वरक से अच्छी होती है। केक को भूमि में प्रयोग करने से पोषक पदार्थ की मात्रा बढ़ती है तथा साथ-साथ भूमि के लाभकारी सूक्ष्मजीवों, नीमेटोड्स, कवकों की वृद्धि में सहायता होती है।

केक का प्रभाव भूमि के नाइट्रोजन-क्षति के ऊपर बड़ा ही महत्वपूर्ण है। केक का प्रयोग 'नाइट्रीफाइंग' जीवाणु, जो कि यूरिया तथा अमोनियम उर्वरक को नाइट्रेट के रूप में परिवर्तित करते हैं, की क्रिया को कम करता है। इससे आवश्यकता से अधिक नाइट्रोजन, नाइट्रेट में न बदलकर, भूमि में पड़ी रह जाती है।

गोदरेज सोप कम्पनी ने अब भारत में नीमकेक को व्यवसायिक रूप में उत्पादित करना शुरू कर दिया है। इसका एक उत्पाद 'नीमीन' (Nimin) का प्रयोग यूरिया ग्रेन्यूल्स को कोट या स्तरित करने में प्रयुक्त होने लगा है।

आन्ध्रप्रदेश में नीम केक को कुक्कुटों को खिलाया जा रहा है। इसमें शीरा मिश्रित कर देते हैं, जिससे कड़वापन कम हो जाता है। नीम केक में पोषक तत्व तथा अमीनोअम्ल के उपस्थित होने से वृद्धि तथा विकास पर काफी अच्छा प्रभाव पड़ता है।

कुक्कुटों में नीम केक का प्रयोग भूख बढ़ाने तथा कीटनाशी के रूप में भी होता है।

नीम के विभिन्न प्रयोगों को देखते हुए यह आशा की जाती है कि तृतीय विश्व के देश नीम के निर्यातक के रूप में प्रमुख देश होंगे तथा विदेशी पूँजी कमाने में नीम काफी सहायक सिद्ध होगी।

संयुक्त राज्य अमेरिका में किये गये एक नये अध्ययन के अनुसार नीम की पत्ती से प्राप्त निस्सार (सार रस) से 'हेपेटाइटिस-बी' विषाणु के कुछ एन्जाइमों को नियंत्रित किया जा सकता है।

जापान, जर्मनी तथा ब्रिटेन की तीन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा उत्पादित नीम से प्राप्त निस्सार (एक्सट्रैक्ट) 'एड्स' वाइरस संक्रमित कोशिका में एन्जाइम को जाने से रोकता है।

भारत में नीम पर शोध कार्य प्रभावी रूप में 1960 से चल रहा है। वर्षों पूर्व 1933 में नीम केक का प्रयोग गन्ना के खेत में उर्वरक के रूप में एवं दीमक के नियन्त्रण में होता था।

1960 में 'भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद्', नई दिल्ली में नीम पर शोध कार्य शुरू हुआ विशेषत: इसके कीटनाशी महत्व पर। केन्द्रीय तम्बाकू शोध संस्थान के श्री बी० सी० जोशी वह सर्वप्रथम वैज्ञानिक हैं, जिन्होंने नीम के शोध को प्रयोगशाला से खेत तक पहुँचाया। इन्होंने 1976 में नीम के बीज आवरण के समांग घोल का प्रभावी प्रयोग 'तम्बाकू कैटरपिलर' (स्पोडोप्टेरा लिटूरा) के ऊपर प्रदर्शित किया। यह तम्बाकू के मुख्य कीटों में से एक था।

आन्ध्रप्रदेश के किसान अब भी नीम के बीजों के निस्सार का घोल बनाकर तम्बाकू के फसल के ऊपर इसका छिड़काव करते हैं।

बंगलोर में पातगोभी की फसल को कीटों से बचाने हेतु नीम से उत्पादित कीटनाशियों का प्रयोग कृषक बेहिचक कर रहे हैं।

इमारती लकड़ी के आयातक श्री राबर्ट लार्सन 1971 में भारत आये तथा उन्होंने ओषधीय गुण वाले पौधों में नीम के महत्व को समझा। फिर कुछ समय बाद विस्कांसिन राज्य (संयुक्त राज्य अमेरिका) में स्थित उनकी फर्म भारत से नीम बीज (निबौरी) का आयात करने लगी। इसका उद्देश्य मुख्यत: नीम की खेती करना तथा सम्बद्ध क्षेत्रों में नीम की उपयोगिता के बारे में शोध कराना एवं इसके अन्य महत्व के बारे मे विस्तृत जानकारी प्राप्त करना था।

जर्मनी के राटाखएर्गन नगर में नीम के गुणों पर विचार करने हेतु 1980 में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ, जो बहुत बड़ा सम्मेलन था।

इस प्रकार नीम के महत्व को देखते हुए आज आवश्यकता है अच्छे किस्म के नीम-बीजों की जिससे अच्छा उत्पादन प्राप्त कर उसका उपयोग विशाल रूप में अपनाया जा सके। अस्ट्रेलिया, फिलीपीन्स, मध्य एवं दक्षिणी अमेरिका में बड़े-बड़े नीम बागान लगाये जा रहे हैं।

आद्योपान्त यही कहा जा सकता है कि नीम पर्यावरण प्रदूषण तथा सामाजिक वानिकी के अन्तर्गत एवं लघु उद्योग, कुटीर उद्योग, दवाओं, कीटनाशियों के लिये बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। इसे स्वच्छ पर्यावरण के लिये सड़कों, रास्तों आदि के किनारे लगाना लाभकारी होगा। इसके लगाने में कोई परेशानी नहीं होती। एक बार बढ़ने के बाद पेड़ आसानी से बड़ा होता चला जाता है। सामाजिक वानिकी के अन्तर्गत इसका प्रसार अच्छे बीजों को लेकर वैज्ञानिक ढंग से करने पर इससे प्राप्त छाल, पत्तियाँ, बीज तक लकड़ी ज्यादा उपयोगी होगी।

○○

जीन के जादू

जगदीप सक्सेना

[कुदरत का हर जीव जीन की मोहताज है। उसके सारे अच्छे-बुरे गुण जीन की बदौलत ही हैं। पर जैसे ही यह कुंजी आदमी के हाथ आयी, वह जीवों के साथ खिलवाड़ करने लगा। उनमें मनचाहे गुण डालने लगा। नतीजन अनोखी खूबियों वाले पेड़-पौधे और प्राणी धड़ल्ले से तैयार हो रहे हैं। पढ़िये जीन इंजीनियरी के कुछ ऐसे ही चमत्कारों के बारे में एक खोजपूर्ण रपट।]

"उस जगह तम्बाकू के पौधे जुगनू की तरह रोशनी छोड़ते हैं। ताज्जुब की बात यह है कि उनमें हमारी सेहत को नुकसान पहुँचाने वाला निकोटीन नहीं होता। पास के खेत में नीले गुलाब खिलते हैं। कुछ और फूल भी हैं, जिन्हें जब मर्जी हो खिला लो और एक खेत के पौधों से तो प्लास्टिक मिलता है। वहाँ की भेड़ों से इतनी महीन ऊन मिलती है कि कभी देखी नहीं।"

यह किसी कल्पना लोक या जादू की नगरी का वर्णन नहीं है। जीन इंजीनियरी की कला ने यह सब सच कर दिखाया है। इसकी शुरुआत सन् 1973 में हुई जब स्टैनफोर्ड और केलिफोर्निया युनिवर्सिटी के वैज्ञानिकों ने डी एन ए को काटने-छांटने और फिर जोड़ने की तकनीक विकसित कर ली। यह अनोखी पहल एक बैक्टीरिया में की गई। बैक्टीरिया के एक प्रभेद के डी एन ए को काटकर दूसरे प्रभेद के डी एन ए में जोड़ा गया। उल्लेखनीय है कि इसी डी एन ए पर हजारों की तदाद में वे करामाती जीन लगे होते हैं, जो जीवों के हर अच्छे-बुरे गुण के जिम्मेदार होते हैं।

बैक्टीरिया से हुई यह पहल जीव के लेन-देन के लिए आज भी बैक्टीरिया की मोहताज है। पौधों में नये जीन रोपने के लिए एग्रोबैक्टीरियम ट्यूमीफेशिएन्स नामक बैक्टीरिया को जीन-वाहक बनाया जाता है। पर प्राणियों में यह काम जरा मुश्किल है। इसके लिए विकसित हो रहे भ्रूण की सूक्ष्म सर्जरी करनी पड़ती है। यही वजह है कि वैज्ञानिकों ने जीन के हेर-फेर के ज्यादातर 'जादू' पेड़-पौधों में दिखाये हैं। इसकी पहल कुदरत के सबसे सरल जीव बैक्टीरिया पर ही की गई।

भारतीय मूल के अमेरिकावासी वैज्ञानिक आनन्द चक्रबर्ती ने स्यूडोमोनोस नामक बैक्टीरिया के जीन में कुछ इस तरह हेर-फेर की कि वे तेल खाने लगे। तेल प्रदूषण से त्रस्त समुद्र तटों पर इनका भारी उपयोग है। उन्होंने दुनिया के इस पहले 'कृत्रिम जीव' का पेटेन्ट भी प्राप्त किया। इसके बाद बैक्टीरिया से कई तरह के काम लिये गये। ग्रीस खाने से लेकर कूड़ा-कचरा तक नष्ट करने वाले बैक्टीरिया प्रयोगशालाओं में तैयार किये गये। आस्ट्रेलियन

संप्रेषण, डी-690, सरस्वती बिहार, दिल्ली-110034

नेशनल युनिवर्सिटी के वैज्ञानिक ऐसे बैक्टीरिया तैयार करने में जुटे हैं, जो मिट्टी की उर्वरता आश्चर्यजनक रूप से बढ़ा देंगे।

पेड़-पौधों में कुछ बैक्टीरिया के खास गुण भी डाले जा रहे हैं। मसलन एक बैक्टीरिया कुदरती तौर पर प्लास्टिक पॉलीमर तैयार करता है, एक खास जीन की बदौलत। अगर इसी जीन को किसी पौधे में डाल दिया जाय तो वह भी प्लास्टिक बनाने लगेगा। पौधे में बनी यह प्लास्टिक कारखानों में तैयार प्लास्टिक की तरह पर्यावरण के लिए समस्या नहीं बनेगी। इस कल्पना को क्रिस सोमरविले और उनके साथियों ने हाल ही में साकार किया है। जीन इंजीनियरी से तैयार इस पौधे की पत्तियों, बीजों, यहाँ तक कि जड़ों में भी प्लास्टिक पाया गया।

प्राणियों के जीन भी पेड़-पौधों में रोपे जा सकते हैं। अमेरिका में कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने जुगनू में चमक पैदा करने वाला जीन तम्बाकू के पौधे में डाल दिया। फिर जब तम्बाकू के पौधों पर उस जीन से बनने वाले एंजाइम को छिड़का गया तो ये रात में 'दप-दप' करने लगे। इस जीन को फूल वाले पौधों में डालने की कोशिश भी की जा रही है। तब आपकी फुलवारी में हर रात दीवाली होगी। इस जीन का इस्तेमाल फसलों में भी किया जा रहा है। इस जीन से युक्त पौधे पर जैसे ही किसी रोग या कीड़े का हमला होगा, यह तुरन्त 'टिम-टिम' करके किसानों को आगाह कर देगा।

जीन इंजीनियरी की मदद से वैज्ञानिक फूलों में से ऐसे रंग भरने की कोशिक कर रहे हैं, जो उन्हें कुदरत ने नहीं दिये। मसलन नीला गुलाब, गुलदाउदी वगैरह। हाल ही में आस्ट्रेलिया की कैल जीन पैसिफिक नामक कम्पनी ने कुछ नीले फलों से नीला रंग पैदा करने वाला जीन अलग किया और इसे गुलाबी-गुलाबों में डाल दिया। आश्चर्य, उस पौधे में नीले गुलाब खिलने लगे। उम्मीद है अगले साल ऐसे नीले गुलाबों की खेती शुरू हो जायेगी। इससे फूलों के व्यापार में क्रान्तिकारी बदलाव आने की सम्भावना है।

ब्रिटेन, जर्मनी और अमेरिका में हुई एक अन्य खोज भी फूलों के व्यापार को बंदलने का दावा करती है। इन वैज्ञानिकों ने उन जीनों का पता लगा दिया है जो फूल खिलाने का काम करते हैं। इन्हें 'फूलों' का नाम दिया गया है। मजेदार बात यह है कि ये जीन एंटीराइनम के एक ऐसे पौधे से अलग किये गये, जिसमें फूल खिलते ही नहीं थे। फूल खिलाने का काम कुल मिलाकर पाँच जीन करते हैं। इन जीनों को कृत्रिम रूप से सक्रिय करके बिना मौसम के भी फूल खिलाये जा सकते हैं। इसी तरह इनमें से कुछ जीनों को ज्यादा सक्रिय और कुछ को निष्क्रिय करके फूलों की अंखुड़ियों-पंखुड़ियों की संख्या, रंग और रूप में भी मनचाहा बदलाव लाया जा सकता है। चार-पाँच साल के भीतर ही ऐसे 'नकली' फूल आपके गुलदस्ते में होंगे।

जीन में हेर-फेर करके तमाम फसलों को हमारे लिए ज्यादा उपयोगी बनाया जा रहा है। अब जीन में हेर-फेर करके जहरीली खेसारी दाल को खाने योग्य बनाया जा सकता है। तम्बाकू की ऐसी किस्में निकाली गई हैं, जिनमें नाममात्र को निकोटीन होता है। ऐसे आलू तैयार किये गये हैं, जिनमें स्टार्च की मात्रा ज्यादा होती है। तेल और प्रोटीन देने वाले पौधों में इनकी मात्रा बढ़ाने के प्रयास जारी हैं। कुछ पौधों से ऐसे रसायन प्राप्त करने की कोशिश की जा रही है, जो हमारे लिए बेहद उपयोगी हैं। मसलन सीरम एल्बुमिन, अनेक उपयोगों वाले एंजाइम वगैरह।

प्राणियों में जींन इंजीनियरी की कला सबसे पहले चूहों पर आजमायी गयी। इनमें मानव, मुर्गियों, बायरस आदि के जीन प्रवेश कराये गये। पर पहली बड़ी सफलता सन् 1982 में वाशिंगटन और पेनसिलवेनिया युनिवर्सिटी के वैज्ञानिकों को मिली। इन्होंने बड़े चूहे का बढ़वार वाला जीन छोटी चुहिया में रोप दिया। बस फिर क्या था, चुहिया भी बड़े चूहे जैसी हो गई। इस सफलता का उपयोग भेड़ों में भी किया गया। साथ ही भेड़ों से महीन और ज्यादा ऊन लेने के प्रयास भी किये गये।

चूहे आज भी जीन इंजीनियरों की छेड़-छाड़ से पसंदीदा प्राणी हैं। पिछले साल लंदन के 'नेशनल इंस्टीट्यूट ऑव मेडिकल रिसर्च' के वैज्ञानिकों ने चूहे के मादा भ्रूण में एक जीन डालकर नये नर चूहे में बदल दिया। पर यह नर नपुंसक है। वैज्ञानिकों की राय से वह दिन भी दूर नहीं जब संतानोत्पत्ति योग्य नर चूहा भी प्रयोगशालाओं में तैयार किया जा सकेगा। इस खोज के बड़े दूरगामी और खतरनाक परिणाम भी हो सकते हैं।

पिछले ही साल एक अन्य प्रयोग में चूहे के शरीर में कैंसर पैदा करने वाला जीन डालकर एक किस्म का नया चूहा ही तैयार कर दिया गया। इसे वैज्ञानिक 'आनकोमाउस' यानी कैंसर मूषक कह रहे हैं। इसका पेटेन्ट भी करा लिया गया है। इसे मंहगे दामों पर बेचा जाएगा। कैंसर पर खोज कर रहे वैज्ञानिकों के लिए यह चूहा बड़े काम का है।

कुदरत के काम में मानव की दखलअंदाजी लगातार बढ़ती ही जा रही है। क्या यह हमारे हित में होगी? कहीं यही मानव के विनाश का कारण न बने? इस मुद्दे पर बहस जारी है। पर जीन के कारीगर लगातार नये-नये करिशमें दिखाते ही जा रहे हैं।

OO

पौधों की आहार-प्रक्रिया

डॉ० विमल कान्त

पौधे जिस प्रक्रिया से खाद्य पदार्थ कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन इत्यादि तैयार करते हैं उसे प्रकाश-संश्लेषण (फोटोसिंथेसिस) कहते हैं। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत पौधे वायुमंडल में से कार्बन डाइऑक्साइड ग्रहण करते हैं और ऑक्सीजन वायुमण्डल में छोड़ देते हैं। इस प्रक्रिया की कहानी उतनी ही पुरानी है जितनी पुरानी पेड़ पौधों की दुनिया है। यानी करोड़ों-अरबों वर्ष पुरानी है। लेकिन इस प्रक्रिया को समझने का प्रयत्न मात्र 230 वर्ष ही पुराना है। इन 230 वर्षों में जिन वैज्ञानिकों ने प्रयत्न किये उनमें सबसे पहला नाम **जोसेफ प्रीस्टले** का आता है। 1662 में उन्होंने यह खोज की कि पौधे के सांस लेने का ढंग मनुष्य व पशुओं से बिल्कुल उल्टा है। जब मनुष्य या पशु सांस लेते हैं तो वे ऑक्सीजन को शरीर के भीतर खींचते हैं और जब वे सांस छोड़ते हैं तो कार्बन डाइऑक्साइड को शरीर के बाहर फेंकते हैं। प्रीस्टले ने पता लगाया कि इसके विपरीत पौधे अपने हरे पत्ते व हरी टहनियों के माध्यम से पानी व कार्बन डाइऑक्साइड को भीतर लेते हैं व ऑक्सीजन को बाहर छोड़ते हैं।

इस सन्दर्भ में कई अन्य वैज्ञानिकों ने भी खोज की किन्तु यह प्रक्रिया होती कैसे है, यह अगले डेढ़ सौ वर्षों में भी निश्चित रूप से कुछ न जानी जा सकी। प्रारम्भिक खोजों से इस बात पर प्रकाश नहीं पड़ा कि आखिर पौधे अपने इन खाद्य पदार्थों का निर्माण किस प्रकार करते हैं। कारण यह था कि फोटोसिंथेसिस प्रक्रिया इतनी तेजी से होती है कि उसका सम्पूर्ण विवरण तैयार करना मुश्किल था।

इस सन्दर्भ में डॉ० मेल्विन कॉल्विन ने 1946 में एक नवीन खोज की। डॉ० काल्विन ने नयी टेक्नीक का सहारा लिया। उन्होंने रेडियोऐक्टिव आइसोटोप से इस प्रक्रिया को समझने का प्रयास किया। डॉ० काल्विन पौधों के जीवित कोष्ठों को केवल कुछ सेकेण्ड तक ही रेडियोएक्टिव कार्बन डाइऑक्साइड देते थे। फिर कोष्ठों को नष्ट कर देते थे तथा उनमें से वे पदार्थ अलग करते जिनमें रेडियोएक्टिविटी होती है।

केवल 90 सेकेण्ड के बाद कोष्ठों को नष्ट करने पर 15 अलग-अलग पदार्थों में रेडियोएक्टिविटी पहचानी गयी। ये पदार्थ थे, ग्लुकोज, फ्रक्टोज, पायरूविक एसिड, ग्लाइकॉलिक एसिड, सिटीन अलानीन ऐस्पेरेटिक एसिड, ग्लुरैमिक एसिड, ग्लाई आग्जैलिक एसिड व ट्रायोज फास्फेट। इस प्रकार 90 सेकेण्ड में ही फोटोसिंथेसिस के परिणाम-स्वरूप इतने सारे पदार्थों का निर्माण होना इस बात का सबूत है कि फोटोसिंथेसिस प्रक्रिया कितनी जटिल है। जब इस प्रयोग का समय घटाते-घटाते 5 सेकेण्ड कर दिया तो केवल 4-5 पदार्थों में डॉ० काल्विन द्वारा रेडियोएक्टिविटी पायी गई। इनमें से प्रमुख पदार्थ फास्फोग्लीसरिक था।

दस वर्षों तक लगातार परीक्षण करने के बाद डॉ० काल्विन ने उन रासयनिक प्रक्रियाओं का पूरा चार्ट तैयार कर लिया, जिनसे कार्बन डाइऑक्साइड व पानी मिलकर कार्बोहाइड्रेट तैयार करते हैं। इस फोटोसिंथेटिक कार्बनसाइकिल को प्रकाशसंश्लेषण कार्बन-चक्र कहते हैं।

द्वारा डॉ० वी० के० श्रीवास्तव, 4/5 डालीबाग कॉलोनी, लखनऊ-226001

डॉ० काल्विन ने फोटोसिंथेसिस को और समझाने के लिये पुनः बायोडायनेमिक्स टेक्नीक का विकास किया। इस टेक्नीक से किये गये परीक्षण से फोटोसिंथेसिस प्रक्रिया बिल्कुल स्पष्ट होकर सामने आ गई।

फोटोसिंथेसिस की प्रक्रियायें दो तरह से होती हैं। एक वह जो प्रकाश में (सूर्य से) क्लोरोफिल की सहायता से होती है। इसमें पानी का विघटन होकर ऑक्सीजन व हाइड्रोजन पैदा होती है। ऑक्सीजन पुनः वायुमंडल में मिल जाती है तथा हाइड्रोजन को क्लोरोफिल प्रकाश की शक्ति से "घटित पिरीडीन न्यूक्लिओटाइड" नामक पदार्थ में बदल देता है। इसके अलावा प्रकाश की शक्ति से ही क्लोरोफिल एक और भी पदार्थ का निर्माण करता है, जिसका नाम है "एडिनोसिन ट्राइफ़ासफेट"। ये दो पदार्थ पौधों के कोष्ठों में शक्ति के भंडार माने जाते हैं। इन्हीं पदार्थों की शक्ति से फोटोसिंथेसिस की दूसरी प्रक्रिया होती है जो अधिक महत्वपूर्ण है।

दूसरी प्रक्रिया में प्रकाश व क्लोरोफिल की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रक्रिया में कार्बन डाइऑक्साइड से कार्बोहाइड्रेट तैयार होते हैं, जिसके लिए प्रथम प्रक्रिया से तैयार होने वाले पदार्थ घटित पिरीडीन न्यूक्लिओटा-इड तथा एडिनोसिन ट्राइफास्फेट की आवश्यकता होती है।

इस तरह जब हम पौधों की सम्पूर्ण आहार-प्रक्रिया पर नजर डालते हैं तो पाते हैं कि वास्तव में इनकी आहार-प्रक्रिया कितनी जटिल है।

पौधों की इस सूक्ष्म व जटिल आहार-प्रक्रिया को सरल व मोटे तौर पर इस प्रकार समझा जा सकता है :

पौधों के भोजन बनाने की प्रक्रिया पत्तियों में होती है। इनकी पत्तियों में एक आश्चर्यजनक रंग होता है, जो भोजन बनाने में सहायता देता है। पौधा जड़ों से पानी सोखता है और कार्बन डाइऑक्साइड अपनी पत्तियों के छिद्रों द्वारा प्राप्त करता है। पानी में मिट्टी में विद्यमान बहुत से खनिज घुले होते हैं। पत्तियाँ इन खनिजों और पानी से सूर्य के प्रकाश की मदद से शकर्रा बनाती हैं। कार्बन लेकर पौधा ऑक्सीजन को वायुमण्डल में छोड़ देता है। पौधों की यह प्रक्रिया वायुमण्डल को शुद्ध करने में सहायता देती है। रात्रि के समय में पौधे अपना भोजन नहीं बनाते, क्योंकि उस समय धूप नहीं होती। उस समय ये केवल प्राण वायु (ऑक्सीजन) अन्दर लेते हैं और बाहर निकालते हैं कार्बन डाइऑक्साइड जो स्वास्थ्य के लिये हानिकारक गैस है। अतः रात्रि के समय पेड़ों के नीचे कभी नहीं सोना चाहिये। किन्तु पीपल इसका अपवाद है। पीपल मात्र ऐसा वृक्ष है जो 24 घण्टे अनवरत ऑक्सीजन ही निकालता है। इसीलिए पीपल के वृक्ष को पर्यावरण का प्रहरी माना गया है।

●●

फल वृक्षों में शीर्ष-रोपण

दर्शनानन्द

भारतवर्ष में बहुत से फल ऐसे हैं जिनके विकास पर अभी तक कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जा सका था यद्यपि इनके पौधे बड़ी संख्या व क्षेत्रफल मे वन्य रूप में भी उगते हुए पाए जाते हैं, परन्तु इनके घटिया किस्म का रहने के कारण इनका विशेष उपयोग नहीं हो पाता। इन फलों के विकसित न हो पाने का मुख्य कारण यह था कि इनके अलैंगिक (वानस्पतिक) प्रसारण की कोई तकनीक विकसित नहीं थी।

बीज से उगाए गए (लैंगिक प्रसारण वाले) पौधों में फल के किसी किस्म (वेराइटी) के गुणों का समावेश हो पाना सुनिश्चित नहीं रह पाता। अतः वानस्पतिक प्रसारण की किसी तकनीक जैसे बडिंग, ग्राफ्टिंग आदि को अपना कर ही पौधों की संख्या बढ़ाने से इन पौधों में अपने मातृ पौधों के गुणों का समावेश होना सम्भव हो पाता है। इन फलों के न विकसित हो पाने का एक कारण यह भी था कि यदि फल के वानस्पतिक प्रसारण की कोई तकनीक विकसित हो भी गई थी तो उसकी अच्छी किस्में ही उपलब्ध नहीं थीं।

जंगली या निम्न कोटि के आंवला के वृक्ष में शीर्ष – रोपण
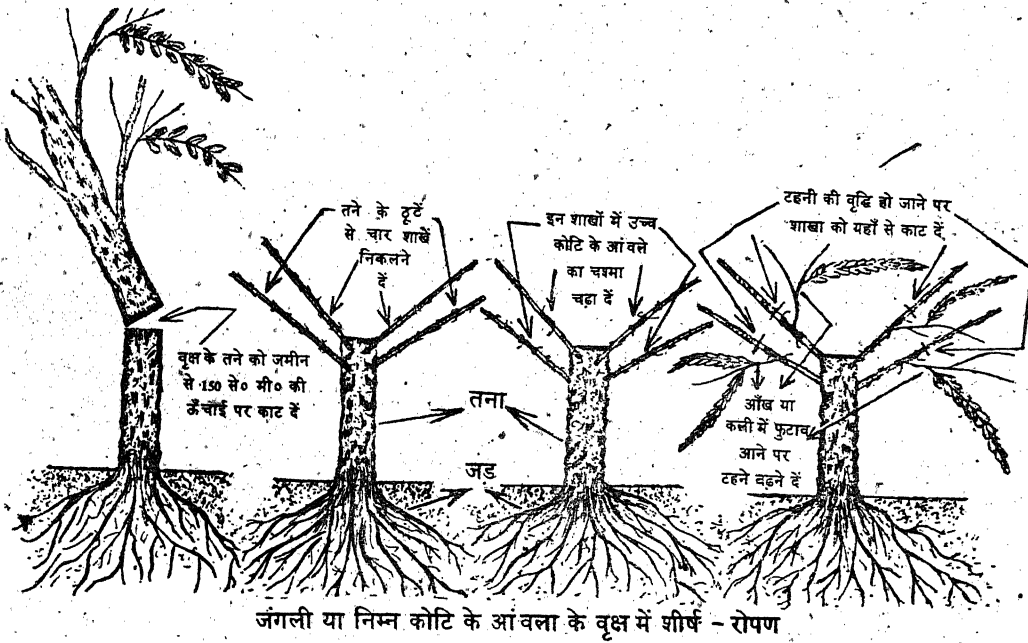
उपनिदेशक उद्यान, इलाहाबाद मण्डल (अवकाश प्राप्त), सी-67, गुरू तेग बहादुर नगर (करेली हाउसिंग स्कीम), इलाहाबाद-211016

फलों की अच्छी किस्में प्रजनन क्रिया या चयन द्वारा स्थापित की जा सकती हैं । फलदार पौधों को प्रजनन क्रिया द्वारा तैयार कर के नवीन किस्म विकसित करने के लिए कई वर्षों की आवश्यकता होती है, क्योंकि अधिकांश फल पाँच से लेकर दस वर्ष में फलते हैं । इसके अतिरिक्त एक बार की प्रजनन क्रिया से यह कोई आवश्यक नहीं है कि विशेष चाहे गए गुण प्रजनन क्रिया द्वारा तैयार किए गए नवीन पौधों में आ सकें । अतः पुन प्रजनन करने की आवश्यकता पड़ती है, जिसके पश्चात् प्राप्त नवीन पौधों के गुणों का अध्ययन किया जाता है । अतः प्रजनन क्रिया का परिणाम प्राप्त करने में कम से कम 10 से 20 वर्ष की आवश्यकता पड़ती है । यदि इनमें भी संतोषजनक गुण नहीं मिले तो पुनः प्रजनन क्रिया करनी पड़ती है, जिसमें और भी अधिक समय लग जाते हैं ।

कभी-कभी फलों के बीजू वृक्षों में कुछ वृक्ष अकस्मात अच्छे गुणों वाले निकल आते हैं । अतः इन वृक्षों का चयन करके एक नवीन किस्म स्थापित कर दी जाती है । इस प्रकार की किस्म (वेराइटी) को चयन द्वारा विकसित किस्म कहते हैं । यदि पौध-प्रसारण के लिए कोई वानस्पतिक विधि विकसित है तो इनके पौधों का प्रसारण इन्ही वानस्पतिक (अलैंगिक) विधियों से कर के पौधों की संख्या बढ़ाई जाती है ।

इस प्रकार के पिछड़े और कम ध्यान दिए गए फलों में बेल, जामुन, आँवला, और बेर प्रमुख हैं । बेल के पौधे का प्रसारण शील्ड बडिंग से और जामुन का पैंच बडिंग द्वारा किया जाता है । आँवला भेंट कलम द्वारा तैयार किया जाता था, जो एक कठिन व मँहगी तकनीक है । परन्तु अब आँवला के पौधे पैंच बडिंग, शील्ड तथा आई-बडिंग द्वारा तैयार हो जाते हैं । बेर के पौधे का वानस्पतिक प्रसारण रिंग बडिंग तथा शील्ड बडिंग द्वारा आसानी के साथ किया जा सकता है । इन फलों की अच्छी किस्में भी उपलब्ध हैं । अतः बड़ी संख्या में वन्य रूप में उगने वाले इन घटिया किस्म के फलों वाले वृक्षों को शीर्ष रोपण (टॉप वर्किंग) द्वारा अच्छी किस्मों में परिवर्तित कर सकते हैं ।

बेल की उन्नत किस्मों में कागजी इटावा, कागजी गोंडा, मिर्जापुरी, दारोगा जी, ओझा, खमरिया, अजमती, नरेन्द्र-5 व नरेन्द्र-7 प्रमुख हैं । 'फरेन्दा' जामुन की एक बढ़िया किस्म है । आँवला की चकइया, राजबाग, कृष्णा, कंचन, मधुपुर नोकीला और नरेन्द्र-7 (नदिया के पार) अच्छी किस्में हैं । बेर की उन्नत किस्मों में उमरान, गोला, गोधन, बनारसी कड़ाका, कैथली, अलीगंज, बनारसी पेवंदी आदि किस्में प्रमुख हैं ।

फल वृक्षों का शीर्ष रोपण करने के लिए पहले घटिया किस्म के वृक्ष के तने को भूमि धरातल से 120 सेमी. से 150 सेमी. की ऊँचाई पर फरवरी-मार्च में काट दें । कटे भाग पर कोलतार पोत दें । कुछ दिनों के बाद वृक्ष के काटे गए तने की शिखा के आस पास से शाखें फूटने लगती हैं । इनमें से 4-5 शाखें जो संतुलित रूप से चारों दिशाओं में वृद्धि कर रही हों, उनका चयन कर लें और शेष को निकाल दें । जब ये शाखें कुछ मोटी हो जाएँ तब इन पर मन पसंद अच्छी किस्म की बड का चश्मा (बडिंग) जून में चढ़ा दें । यही पौधा बढ़ कर मन चाहे व अच्छे गुणों वाले फल प्रदान करता रहेगा । इस प्रकार शीर्ष रोपण द्वारा बड़े पैमाने पर उगते हुए जंगली फलवृक्षों को बढ़िया किस्मों में परिवर्तित कर के फलों के उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है ।

●●

लाजवाब आलू नयी दुनिया से आया है

डॉ० विजय कुमार श्रीवास्तव

[आज लगभग पूरी दुनिया पर आलू का राज है। इस समय आलू विश्व भर में 130 से भी अधिक देशों के निवासियों की दैनिक आहार का एक महत्वपूर्ण अंग है। दुनिया भर में मनुष्य द्वारा उगाई जाने वाली फसलों में इसको महत्वपूर्ण और विशेष स्थान प्राप्त है। कई देशों में आलू ने बहुत बार लोगों को भुखमरी की मार से बचाया है। इसे सब्जियों का 'चक्रवर्ती सम्राट' और 'राजा' जैसे विशेषणों से सम्बोधित किया जाता है। पढ़िये आलू के विकास की दिलचस्प दास्तान।]

दुनिया भर में आलू को मनुष्य द्वारा उगाई जाने वाली फसलों में महत्वपूर्ण और विशेष स्थान प्राप्त है। दुनिया के अनेक भागों में आलू ने बहुत बार लोगों को भुखमरी की मार से बचाया है। प्रसिद्ध बोहेमियन युद्ध के दौरान आलू ने ही वहाँ के निवासियों का पेट भरा था। इसी तरह प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भी आलू ने कई देशों को भुखमरी से बचाया था। दुनिया के अनेक देशों के साथ-साथ हमारे देश के जवान भी आलू के सहारे दूर दराज के मोर्चों पर डटे रहते हैं। कुछ समय पहले तक आलू हमारे देश में गरीब और मध्यमवर्गीय लोगों का प्रमुख भोजन माना जाता था। परन्तु अब तो चिप्स, वेफर्स आदि के रूप में धनाढ्य वर्ग में इसकी खपत बढ़ती जा रही है।

अधिकांश वैज्ञानिक दक्षिण अमेरिका में पेरू देश की एंडीज पहाड़ियों को आलू की जन्मस्थली मानते हैं। कुछ वैज्ञानिक चिली को आलू की जन्मस्थली मानते हैं, तो कुछ उत्तरी अमेरिका में वर्जीनिया को आलू की उत्पत्ति का केन्द्र मानते हैं। 'आलू की उत्पत्ति के ये तीनों ही स्थल जिनको लेकर विवाद है, नई दुनिया में हैं। इस तरह यह तय है कि आलू नई दुनिया की ही देन है। नई दुनिया में आलू, पेरू पर आक्रमण करने वाले स्पेनी हमलावरों के साथ बाहर आया। स्पेन से यह इटली पहुँचा। वहाँ से यह उत्तरी यूरोप से बरमूदा होते हुए वर्जीनिया गया। पुर्तगाल के व्यापारियों के साथ आलू सत्रहवीं शताब्दी में भारत पहुँचा। वैज्ञानिकों ने शुरू में ही आलू के महत्व को समझ लिया था और तभी से वे इसे आहार के रूप में लोकप्रिय करने के प्रयास करने लगे थे।

नतीजा यह है कि आज लगभग पूरी दुनिया पर आलू का राज है। इस समय आलू विश्वभर में 130 से भी अधिक देशों के निवासियों की दैनिक आहार का महत्वपूर्ण अंग है। उत्पादन के मामले में आलू इस समय गेहूँ, मक्का और धान के बाद विश्व की चौथी सबसे महत्वपूर्ण फसल है और यदि आलू के रोगों पर विजय प्राप्त कर ली जाये तो इसका स्थान और भी ऊँचा हो सकता है।

सम्प्रेषण, डी-690, सरस्वती विहार, दिल्ली-110034

फिलहाल दुनिया में सबसे ज्यादा आलू रूस में पैदा होता है। रूस के बाद चीन, पोलैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका और भारत का स्थान है। हमारे देश में 1989-90 में नौ लाख सत्तावन हजार हेक्टेयर जमीन पर आलू उगाया गया और इससे एक करोड़ इक्यावन लाख टन से भी अधिक आलू पैदा हुआ। इस तरह आलू की औसत उपज 15.8 टन प्रति हेक्टेयर थी। हमारे देश मे खेती की जाने वाली कुल भूमि के लगभग 0.68 प्रतिशत हिस्से पर आलू की खेती होती है। देश में केरल को छोड़कर लगभग सारे राज्यों में आलू की खेती की जाती है। इस समय विश्व में भारत का आलू उत्पादन की दृष्टि से पाँचवाँ और क्षेत्रफल की दृष्टि से चौथा स्थान है। फिर भी जहाँ तक खपत का प्रश्न है वह विश्व के औसत 65 किलोग्राम प्रतिवर्ष की तुलना में भारत में खपत केवल 17.69 किलोग्राम ही है।

विविधता के मामले मे भी आलू का कोई जवाब नहीं है। इस समय इसकी कुल ज्ञात प्रजातियों की संख्या 235 है। इनमें इसकी खेती की जा सकने वाली और जंगली दोनों ही किस्में शामिल हैं। आलू की जहाँ कुछ प्रजातियाँ शून्य से भी कम तापमान पर फलती-फूलती हैं तो कुछ गर्म इलाकों में अच्छी उपज देती हैं। कुछ प्रजातियाँ पहाड़ियों पर तो कुछ वर्षा वनों में तो कुछ रेगिस्तानी क्षेत्रों में उगती हैं।

आलू **सोलेनम** कुल का पौधा है। दुनिया भर में इसकी सात जातियों की खेती होती है। इनमें से **सोलेनम ट्यूबरोसम** जाति की आलू की खेती सबसे ज्यादा क्षेत्र में होती है। आलू की एक जंगली प्रजाति **सोलेनम स्पार्सिपिलम** और पहले खेती की जाने वाली एक जाति **सोलेनम स्टेनोटोमम** के बीच प्राकृतिक रूप से संकरण के फलस्वरूप **सोलेनम ट्यूबरोसम** प्रजाति का जन्म हुआ था।

आलू का उत्पादन बढ़ाने के लिए भारत में वैज्ञानिक अनुसन्धान पहली अप्रैल 1935 में शिमला में 'आलू प्रजनन केन्द्र' खोलने के साथ प्रारम्भ हुआ था। इसके-बाद भुवाली और कुफ़ी पहाड़ियों में आलू के बीज उत्पादन के दो केन्द्र खोले गये। इसके बाद आलू पर अनुसन्धान के महत्व को देखते हुए 1949 में पटना में 'केन्द्रीय आलू अनुसन्धान संस्थान' स्थापित किया गया जिसे बाद में स्थानांतरित करके शिमला ले आया गया। तब से आज तक देश भर में आलू पर अनुसन्धान इसी संस्थान की देख-रेख में होता है।

'केन्द्रीय आलू अनुसन्धान संस्थान' ने आलू की खेती की वैज्ञानिक विधियों के विकास के साथ ही आलू की अनेक उन्नत और सुधरी हुई किस्में भी विकसित की हैं। साथ ही संस्थान ने काफ़ी मात्रा में आलू के प्रजनक बीज भी किसानों को उपलब्ध कराये हैं। संस्थान प्रतिवर्ष 1600 टन से भी अधिक रोगमुक्त प्रजनक बीज किसानों को उपलब्ध कराता है। संस्थान ने अब तक आलू की 25 से भी अधिक सुधरी हुई उन्नत किस्में जारी की हैं।

आलू के बीज का मतलब आलू के पूरे कंद से है जिसे हम खाते हैं। इस तरह केवल बीज के रूप में ही आलू के कुल उत्पादन का लगभग 20 प्रतिशत हिस्सा (लगभग ढाई करोड़ क्विटल) खर्च हो जाता है। इस तरह से आलू की खेती पर आने वाले खर्च का लगभग 40 प्रतिशत केवल बीज पर खर्च हो जाता है। बीज के साथ जुड़ी हुई अन्य समस्याएँ हैं—इतनी मात्रा में बीज को सुरक्षित रूप से भण्डारित रखना, उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना और रोगों से उनका बचाव करना। इसीलिए वैज्ञानिक 1979 से ही आलू का ऐसा 'सच्चा बीज' तैयार करने की दिशा में प्रयासरत थे जो अन्य फसलों के बीजों की तरह कम स्थान घेरे और साथ ही बीज के रूप में आलू की

अधिक मात्रा न खर्च हो। इस दिशा में वैज्ञानिकों का प्रयास सफल हुआ और दिल्ली में पूसा परिसर में स्थित 'अन्तरराष्ट्रीय आलू अनुसन्धान केन्द्र' के वैज्ञानिकों ने ऊतक संवर्धन विधि द्वारा आलू का सच्चा बीज तैयार करने में सफलता पाई है। इस बीज के उपयोग से कई लाख टन बीज के स्थान पर केवल कुछ टन बीज में देश भर में आलू की बुआई हो जायेगी।

आलू की किस्मों की सुधार की दिशा में संयुक्त राज्य अमेरिका की आउसियाना स्टेट यूनीवर्सिटी के जैव रसायन विभाग के वैज्ञानिक डॉ० जेसी जेनीस और पेरू में लीमा स्थित 'अन्तरराष्ट्रीय आलू केन्द्र' के वैज्ञानिक डॉ० जान डाड्स ने अत्यधिक महत्वपूर्ण अनुसन्धान किये हैं और वे अपने अनुसन्धानों के माध्यम से सफलता की नई बुलंदियाँ प्राप्त करने की दिशा में लगातार प्रयत्नशील हैं। ये दोनों वैज्ञानिक एक ओर तो आलू की पौष्टिक गुणों को बढ़ाने की दिशा में प्रयासरत हैं तो दूसरी ओर वे आलू में रोगों से लड़ने की क्षमता कूट-कूट कर भर रहे हैं।

विश्व भर के पोषण वैज्ञानिक इस बात पर एकमत हैं कि हम सभी के लिए आठ अमीनो एसिड बहुत ही आवश्यक हैं ये हैं—आइसो ल्युसिन, लियुसिन, वैली, थ्रिओनीन, ट्रिप्टोफैन, लाइसिन, मेथियोनीन और फेनिलएलेनीन। हमारे आहार में इन सभी अमीनो एसिडों की उपस्थिति ही उसे सम्पूर्ण आहार बनाती है। हमें ज्ञात है कि प्रोटीन का निर्माण अमीनो एसिडों से ही होता है अथवा दूसरे शब्दों में अमीनो एसिड ही प्रोटीन के निर्माता होते हैं। वैज्ञानिकों को यह भी पता है कि शाकाहार की श्रेणी में आने वाले किसी भी एक आहार में ये आठों अमीनो एसिड नहीं पाये जाते हैं। हाँ, मांसाहार में ये सारे के सारे अमीनो एसिड अवश्य मौजूद होते हैं। डॉ० जेनीस और डॉ० डाड्स आनुवंशिक इंजीनियरी तकनीकों की सहायता से आलू में ऐसी जीन प्रवेश कराने का प्रयास कर रहे हैं जो इन सभी अमीनो एसिडों के निर्माण को प्रेरित करे। अपने प्रयासों में इन वैज्ञानिकों को काफी सफलाएँ हासिल हुई हैं।

वैज्ञानिकों के अनुसार पादप खाद्य पदार्थों में अधिकतर आइसोल्यूसिन, थ्रिओनीन, मेथियोनीन, ट्रिप्टोफैन और लाइसीन अमीनो एसिडों की कमी पाई जाती है और डॉ० जेनीस तथा डॉ० डाड्स ने सर्वप्रथम इन अमीनो एसिडों के निर्माण को प्रेरित करने वाली जीन को आलू में प्रविष्ट कराया। परिणाम आशाजनकरूप से अनुकूल रहे। इस तरह विकसित आलू में उन्हें 23 प्रतिशत लाइसीन, 12 प्रतिशत मेथियोनीन और 6 प्रतिशत ट्रप्टोफैन तथा आइसोल्यूसीन एसिड प्राप्त हुआ। अब ये दोनों वैज्ञानिक बाकी बचे हुए तीन शेष अमीनो एसिडों के निर्माण को प्रेरित करने वाली जीनों को आलू में प्रविष्ट करने की दिशा में प्रयासरत हैं। इस तरह से विकसित आलू अंततः शाकाहार होते हुए मांस के पौष्टिक गुणों से लैस होगा। उसमें आलू के अपने अन्य पौष्टिक गुण तो होंगे ही परन्तु यह मांसाहार की अन्य बुराइयों से मुक्त होगा। आलू के बाद डॉ० जेनीस और डॉ० डाड्स अधिक लोगों द्वारा खाये जाने वाले अन्य पादप आहार को पौष्टिक गुणों से लैस करने का इरादा रखते हैं। कसावा इनमें से प्रमुख है।

वैसे फसलों में सुधार लाने तथा उनमें रोगों से लड़ने की क्षमता पैदा करने के लिए वैज्ञानिक सदियों से प्रजनन तकनीकों का सहारा लिया करते थे। परन्तु आलू में प्रजनन विशेष रूप से अत्यधिक समय लेने वाली और जिटिल प्रक्रिया है क्योंकि आलू की कोशिकाओं में क्रोमोसोम (गुणसूत्र) दो के जोड़ों में न होकर चार-चार में होते है। परन्तु हाल के वर्षों में आणविक जैविकी के क्षेत्र में हुई प्रगति से आलू में भी प्रजनन और संकरण का काम आसान हो गया है।

पादप जैविकी के क्षेत्र में आणविक जैविकी के विकास की गति काफी धीमी रही है। इसकी शुरुआत 1940 के दशक के उत्तरार्द्ध से मानी जा सकती है। उन दिनों वैज्ञानिक पौधों में ट्यूमर पैदा होने के कारणों की खोज का प्रयास कर रहे थे। अचानक उन्होंने पाया कि एग्रोबैक्टीरियम ट्यूमेफेसिएन्स नाम का जीवाणु इसके लिए जिम्मेदार है। यह स्वयं आनुवंशिक इंजीनियर के रूप में कार्य करके ट्यूमर उत्पन्न करता है। वैज्ञानिकों ने पाया कि जब यह जीवाणु किसी पौधे को संक्रमित करता है वैसे ही यह अपने आनुवंशिक पदार्थ यानी डी एन ए का एक छोटा-सा गोल टुकड़ा, जिसे प्लैज्मिड कहते हैं, पौधे के डी एन ए में डाल देता है। यह विदेशी डी एन ए एक बार पौधे के आनुवंशिक पदार्थ में शामिल होकर इस तरह कार्य करने लगता है जैसे कि वह पहले से उस पौधे की जीन में रहा हो। पादप आनुवंशिकविदों के लिए यह खोज अत्यधिक रोमांचकारी थी। इससे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वे एग्रोबैक्टीरियम के प्लैज्मिड का इस्तेमाल पौधे की कोशिकाओं में कोई विदेशी जीन पहुँचाने में कर सकते हैं परन्तु यह तकनीक केवल उन्हीं पौधों के साथ कारगर हो सकती है जो एग्रोबैक्टीरियम से संक्रमित हो पाते हैं। इसके बाद दूसरी प्रक्रिया होती हैं इस प्रकार से तैयार की गई नई कोशिका से ऊतक संवर्द्धन तकनीक द्वारा पूरा नया पौधा उगाना। एकबीजपत्री पौधों में ये दोनों ही काम कठिन होते हैं परन्तु आलू कुल के पौधों पर इन तकनीकों का सफलतापूर्वक उपयोग किया जा सकता है।

पेरू में अन्तरराष्ट्रीय आलू केन्द्र और संयुक्त राज्य अमेरिका की आउसियाना स्टेट यूनिवर्सिटी में वैज्ञानिकों ने आलू की अधिक पौष्टिक और रोगसंह्य किस्म तैयार करने के लिए इसी विधि का सहारा लिया है। और तो और इस कार्य के लिए वैज्ञानिकों ने प्रयोगशाला में संश्लेषित जीन की रचना कर डाली। वैज्ञानिकों के अनुसार प्रयोगशाला में निर्मित जीन के उपयोग से दो लाभ मिलते हैं। एक तो वे पोषक पौधे में पहुँच कर इच्छित प्रोटीन के निर्माण को प्रेरित करती है, दूसरे वे सभी ऐसी जीन जिनमें निहित आनुवंशिक आदेश से प्रोटीन निर्माण प्रेरित होता है—मध्यस्थ उत्पाद के रूप मेसेंजर अर्थात् संदेशवाहक आर एन ए को जन्म देती है। बहुत बार यह मेसेंजर आर एन ए कोशिका के अन्दर अन्य जीवों को आन या ऑफ अर्थात् सक्रिय या निष्क्रिय करके एक नियामक की भूमिका निभाता है।

वैज्ञानिक अब इस नई जीन नियंत्रण प्रक्रिया—जिसे वे 'वेसिक आर एनए नियंत्रण' कहते हैं—का लाभ उठाना चाह रहे हैं। इस प्रकार निर्मित संदेशवाहक आर एन ए प्रोटीन में रूपान्तरित नहीं होता है। वरन् इसकी लड़ियों में पिरोये हुए बेसों की शृंखला ऐसी होती है कि वह किसी जीन से जुड़कर इसे निष्क्रिय करके प्रोटीन संश्लेषण के मार्ग से दूर हटा देती है। इसी गुण के कारण इस संदेशवाहक आर एन ए को कभी-कभी 'एंटीसेंस' आर एन ए भी कहा जाता है।

डॉ० जेनीस और डॉ० डाड्स को आशा थी कि वे जीन नियंत्रण की इस अद्भुत प्रक्रिया का उपयोग आलू के रोग उत्पन्न करने वाले विषाणुओं की संख्या वृद्धि को रोकने में कर सकते हैं। इन वैज्ञानिकों को संदेशवाहक आर एन ए का निर्माण करने वाली ऐसी जीन के संश्लेषण में सफलता मिल ही चुकी थी जो आलू के आनुवंशिक पदार्थ में छिपी किसी भी विषाणु जीन से जुड़कर उसे निष्क्रिय करने की क्षमता रखती थी। इस प्रकार विषाणु जीन के निष्क्रिय हो जाने से विषाणु की संख्या में वृद्धि रुक जाती है फलस्वरूप उस विषाणु से होने वाले रोग की सम्भावना भी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार प्रयोगशाला में तैयार की गई विषाणुरोधी जीन विषाणु विशिष्ट होती है।

अतः अलग-अलग रोगजनक विषाणुओं के विरुद्ध तैयार की गई जीनों के उपयोग से आलू को पूरी तरह विषाणु-रोगमुक्त किया जा सकेगा।

डॉ० जेनीस और डॉ० डाड्स ने अपने पहले प्रयोग में 'पोटेटो लीफ रोल वायरस' को निशाना बनाया। विकासशील देशों में यह बिषाणु आलू की उपज को 80 प्रतिशत तक कम करने की क्षमता रखता है। केवल 30 बेस की शृंखला से तैयार मिक आर एन ए से प्रयोगशाला में इस विषाणु की संख्या में वृद्धि को 98 प्रतिशत तक कम करने में सफलता मिली है। इसके पश्चात् अब ये दोनों वैज्ञानिक आलू के अन्य रोगजनक बिषाणुओं पर इस तकनीक को आजमाने में लगे हैं। विषाणु रोगों के पश्चात् आलू में रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणु, कवक और कीट भी डॉ० जेनीस और डॉ० डाड्स के लक्ष्य हैं। उन्हें आशा है कि ये शीघ्र ही हर प्रकार के रोगों का सामना करने में सक्षम और मांसाहार में मौजूद सभी अमीनो एसिडों से युक्त 'सुपर आलू' के विकास में सफल होंगे।

समुद तले क्या कुछ फले ?

रत्नावली मित्रा

[अब तक दुनिया भर में अंतरिक्ष से सम्बन्धित शोध कार्य बड़े उत्साह और तेजी से चल रहे थे। लेकिन इन दिनों दुनिया भर के देशों और वैज्ञानिकों का विशेष ध्यान समुद्र-विज्ञान के क्षेत्र में होने वाले शोध कार्यों की तरफ है। नये शोधों से समुद्र के बारे में कई नई जानकारियाँ हमें मिली हैं। अभी शोध कार्यों का यह सिलसिला जारी ही है। अब तक जो कुछ पता लगा है, प्रस्तुत है उसका ब्योरा।]

पिछले कुछ वर्षों में वैज्ञानिकों को यह पता चला है कि समुद्र के एक बूंद पानी में असंख्य वाइरस (विषाणु) पाये जाते हैं। लेकिन ये वाइरस समुद्र की खाद्य शृंखला में कितनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, इस बात का पता वैज्ञानिकों को हाल ही में चला। अमेरिका के यानी यूनीवर्सिटी ऑव कैलिफोर्निया, लास एंजीलिस के समुद्री बायोतकनीकी (जैवविज्ञान) के क्षेत्र में शोध कर रही एक वैज्ञानिक लीटा प्रॉक्टर ने पाया कि समुद्र की सतह से लेकर अथाह गहराइयों तक एक बूंद पानी में अरबों-खरबों वाइरस पाये जाते हैं। यही नहीं, इनमें से प्रत्येक वाइरस समुद्री वनस्पतियाँ और जीवों का ध्वंस करने में सक्षम है। समुद की एक-कोशीय प्राणियों से लेकर भारी-भरकम जन्तुओं तक का ये वाइरस विनाश कर सकते हैं।

जीव वैज्ञानिक अभी तक यह मानते आये हैं कि सागरों और महासागरों की ऊपरी सतह पर कुछ एक मीटर तक की गहराई में ही सूर्य की रोशनी पहुँच पाती है और जहाँ तक सूर्य की रोशनी पहुँचती है, वहीं तक

सम्प्रेषण, डी-690, सरस्वती विहार, दिल्ली-110034

प्रकाशसंश्लेषण की प्रक्रिया का होना सम्भव हो पाता है। इस गहराई से नीचे के पानी में यह प्रक्रिया नहीं होती इसलिये वहाँ कोई वनस्पति नहीं पनपती, वहाँ केवल ऐसे जीव रह सकते हैं जो ऊपरी सतहों से गिरने वाले जैविक पदार्थों पर प्रक्रिया कर, अपना भोजन तैयार कर सकें।

सत्तर और अस्सी के दशक में कई शोध-पत्रों ने समुद्र में पनपने वाले **बैक्टीरिया (जीवाणु)** के अन्दर वाइरस की मौजूदगी के बारे में अपनी जानकारी प्रस्तुत की। **जॉन सीवर्थ रोड़**, आएलैण्ड विश्वविद्यालय के एक समुद्र वैज्ञानिक ने 1979 में प्रकाशित अपनी पुस्तक में समुद्र के कई जीवों में पाये जाने वाले इन वाइरसों की तस्वीरें दी थीं। ये वाइरस अपनी वृद्धि करके किस तरह कोशिकाओं का विध्वंस करते हैं, इस बारे में कई चौंका देने वाली तस्वीरें भी उनकी इस पुस्तक में थीं। लेकिन फिर भी, वैज्ञानिकों को यह भनक नहीं लगी कि वाइरस समुद्री पारिस्थितिकी में कितनी अहम भूमिका निभाते हैं।

अब हम जानते हैं कि यह बात इतने दिनों तक क्यों छिपी रही और अब कैसे इतने स्पष्ट रूप से वैज्ञानिकों के सामने आई ? हुआ यों, कि स्टोनी बुक यूनिवर्सिटी ऑव न्यू यार्क में **जेड फूहरमैन** अपनी प्रयोगशाला में यह पता लगाने की कोशिक कर रहे थे कि बैक्टीरिया की संख्या समुद्री पानी में किन-किन कारकों से प्रभावित होती है ? तो उनके सामने ये प्रश्न आया कि निरन्तर विभाजित होते रहने के बावजूद उनकी संख्या एक निश्चित मात्रा में ही बनी रहती है। पहले तो उन्होंने यह सोचा कि शायद समुद्र में मौजूद एककोशीय प्राणी, यानी **प्रोटोजोआ** उन्हे खाते हैं। लेकिन प्रयोगशाला में रखे पानी में भी उन्होंने पाया कि बैक्टरिया की संख्या घटती-बढ़ती रही। हर तरह के जीव पानी में से छानकर निकाल दिये गये थे। **फूहरमैन** को यह शक अवश्य हुआ कि यह काम वाइरस ही कर रहे होंगे लेकिन इस बात को साबित करने के लिये इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी के जरिये जो अध्ययन करने की आवश्यकता थी, उसके लिए वे सक्षम नहीं थे। संयोगवश, **लीटा प्रॉक्टर** इस काम के लिये सक्षम थीं और उन्होंने फूहरमैन के काम को आगे बढ़ाया। वह पानी में वाइरस की संख्याओं का पता लगाने लगीं, तो यह बात सामने आई कि पानी में केवल तीन प्रतिशत की मात्रा में ही वे पाये जाते हैं। ऐसे में वे बैक्टीरिया की संख्याओं में वृद्धि को नियन्त्रित नहीं रख सकते थे। दूसरे वैज्ञानिकों की तरह वह भी एक बात भूल रही थीं कि बैक्टीरिया में मौजूद वाइरस अपने जीवन के अन्तिम चरण में थे—यानी कि, वे दूसरी कोशिकाओं पर आक्रमण करने के लिये तैयार थे। वाइरस जब किसी बैक्टीरिया या किसी भी कोशिका पर आक्रमण करता है तो वह अपना स्वरूप खो बैठता है—उसे अलग से उस प्रभावित कोशिका में देखा नहीं जा सकता। लीटा प्रॉक्टर के साथ भी यही धोखा हो रहा था। वह ऐसी कई कोशिकाओं को वाइरस-मुक्त मान रही थीं जिनके जीन पर वाइरस हावी हो चुके थे और उनके विभाजन व अन्य जैविक प्रक्रियाओं को अपने नियन्त्रण में कर लिया था। इस तरह के नियन्त्रण से होता यह है कि बैक्टीरिया की कोशिका नये वाइरस बनाने लगती है—और ये वाइरस बैक्टीरिया की दूसरी कोशिकाओं का संक्रमण करने के लिए पूरी तरह से सक्षम होती हैं। इन वाइरसों को इलैक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी से देखा जा सकता है।

कुर्टिस शटल नामक एक समुद्र वैज्ञानिक ने लीटा प्रॉक्टर के अध्ययनों को आगे बढ़ाया और समुद्र के हरे-शैवालों पर वाइरस का प्रभाव जानना चाहा। उन्होंने देखा कि प्रयोगशाला में रखे शैवालों की वृद्धि में अस्सी प्रतिशत की कमी आई। अगर समुद्र के हरित शैवाल को वास्तव वाइरस इतना ही नुकसान पहुँचाते हैं तो वैज्ञानिकों को अपनी कई मान्यतायें बदलनी होंगी। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि समुद्र को वैज्ञानिक कार्बन डाइऑक्साइड गैस

सोखने का अच्छा माध्यम मानते आये हैं। समुद्री शैवाल और अन्य हरे पौधे भारी मात्रा में प्रकाश-संश्लेषण के जरिये कार्बन डाइऑक्साइड सोखते हैं। अब तक वैज्ञानिक यही मानते आये हैं कि इस तरह गरमाती पृथ्वी की समस्या को समुद्र काफी हद तक कम करते हैं। यही नहीं, समुद्र में खाद्य-श्रृंखला के बारे में भी वैज्ञानिकों को अपनी मान्यताएं बदलनी होंगी।

समय के साथ-साथ समुद्र के बारे में कई नई बातें सामने आयेंगी, लेकिन समुद्र के संसाधनों, पर किस देश का कितना हक होगा ? इस बारे में विवाद और झगड़े पुराने समय से चले आ रहे हैं। किसको हक होगा समुद्र से निकाली गई जैविक सम्पदा पर ? मछलियों की कई किस्में पक्षियों की तरह हजारों मील की दूरी तय करके एक जगह से दूसरी जगह अण्डे देने के लिये जाती हैं। ऐसे में एक देश की सीमायें पार कर, दूसरे देश की सीमाओं में जब वे पहुँचती हैं, तो उन पर किस देश का अधिकार बनता है ? इस तरह के कई मुद्दों पर बर्लिन में दो वर्ष पूर्व आयोजित 'डाहलेम कार्यशाला' के दौरान कई देशों के शोधकर्त्ताओं ने विचार-विमर्श किया। उनकी परिचर्चा का विषय था 'समुद्र तल का उपयोग और दुरुपयोग'। समुद्री सम्पदाओं का दोहन, कोरल-रीफ जैसे नाजुक पारिस्थितिक क्षेत्रों के सन्तुलन को कैसे बनाये रखा जाये—आने वाले समय में इन क्षेत्रों से सम्बन्धित व्यवसायिक पहलू क्या होंगे, क्या कोई नीतिगति मामले इनसे जुड़े हुए हैं ? इन पहलुओं पर विस्तार से इस कार्यशाला में विचारों का आदान-प्रदान हुआ था।

समुद्र की सम्पदाओं पर किसका प्रभुत्व हो इस मसले को लेकर विभिन्न देशों के बीच बातचीत आज से तीस वर्ष पहले से ही हो रही है। इसके लिए अन्तराष्ट्रीय स्तर पर कई कानून भी बनाये गए हैं। मोटे तौर पर एक बात हर कोई मानता है कि किसी भी देश के भू-खण्ड से जुड़े समुद्र में तट से बारह नाटिकल मील तक की दूरी उस देश के अन्तर्गत मानी जाती है और दो सौ किलोमीटर तक के पानी में जो भी सम्पदा पाई जाती है उस देश की सम्पत्ति होती है। वहाँ पाये गये जैविक, खनिज या रासायनिक, किसी भी सम्पदा का हकदार वही देश माना जाता है। लेकिन इस परिधि के आगे, खुले समुद्र में मौजूद सभी सम्पदाओं पर पूरे मानव-जाति का समान अधिकार बनता है। साठ के दशक में कुछ विकसित देशों ने जब समुद्रा तल से मैगनीज के बहुधात्विक पिण्डों का व्यवसायिक तौर पर खनन शुरू किया, तो इन प्रश्नों पर चर्चा और जोरों से होने लगी और अब, विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों ने मिलकर संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से एक ट्रीटी बनाई, जिसका नाम था "यूनाइटेड नेशनल कन्वेशन ऑन द लॉ ऑन द सी।" अब तक 45 देशों ने इसे मान्यता दे दी है। ट्रीटी के अनुसार महासागर पूरी पृथ्वी की सम्पदा है, कोई देश, व्यक्ति या संस्थान इनका दोहन नहीं कर सकता। इन महासागरों की देख-रेख, इनकी सम्पदाओं का बँटवारा सम्पूर्ण मानव जाति की हितों को ध्यान में रख कर ही किया जायेगा। इनकी पारिस्थितिकी को बनाये रखना होगा, आगे आने वाली पीढ़ियों के लिये।

समुद्र की गहराईयों में पाये जाने वाले अजीबोगरीब जीव-जन्तु न सिर्फ पृथ्वी की बढ़ती जनसंख्या के लिये भोजन जुटाने के काम आ सकते हैं, बल्कि उन पर किये गये अध्ययनों से यह पता चला है कि उनमें से कई जीव-जन्तु महत्वपूर्ण रसायनों का स्राव करते हैं। इस तरह के कई रसायनों के ओषधीय गुणों का भी पता चला है। वैज्ञानिकों को यह आशा है कि आज इस्तेमाल की जा रही ओषधियों को जो प्रतिरोध हमारे शरीर में पैदा होता है, उस समस्या का हल इन नये रसायनों के इस्तेमाल से किया जा सकता है।

अब तक समुद्र की गहराईयों से मिले जितने रसायनों का विश्लेषण किया गया है उनमें ज्यादातर रसायन शरीर के किसी भी भाग की कोशिकाओं के अनियन्त्रित विभाजन को रोकने की क्षमता रखते हैं—यानी की, कैंसर के उपचार में वे उपयोगी हो सकते हैं। वास्तव में, इन रसायनों से लगभग 12 ऐसी ओषधियाँ तैयार की गई हैं, जिनका परीक्षण केवल मनुष्यों पर होना बाकी है—शुरू के चरणों के सभी प्रयोग उत्साहजनक रहे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय भूमण्डल-जैवमण्डल कार्यक्रम के अन्तर्गत किये गये अध्ययनों से पता चला है कि अरब सागर से काफी भारी तादाद में नाइट्रस ऑक्साइड वायुमण्डल में निरन्तर जाता रहता है। यही नहीं, जीवाश्मों के अध्ययन से पता चलता है कि पिछले 14,500 वर्षों में समुद्र स्तर में 100 मीटर से भी ज्यादा वृद्धि हुई है जबकि फोरेमिनोफेरा के अध्ययनों से पता चला है कि पिछले 450 वर्षों में 77 वर्षीय चक्रीयता रही होगी और इसका सम्बन्ध सूर्य में चल रही प्रक्रियाओं के साथ है। इस तरह के कई सारे अध्ययनों का क्या महत्व है ? यह तो आने वाला समय ही बतायेगा।

○○

एड्स पर विचार-गोष्ठी

7 अप्रैल को 'विश्व स्वास्थ्य दिवस' के अवसर पर विज्ञान परिषद् प्रयाग में **'एड्स : कारण और बचाव'** विषय पर एक विचार-गोष्ठी सम्पन्न हुई। विषय प्रवर्तन करते हुए "विज्ञान" पत्रिका के संपादक **प्रेमचन्द्र श्रीबास्तव** ने बताया कि एड्स आज विश्व का सर्वाधिक भयानक और घातक रोग है। चौंकाने वाली बात तो यह है कि इस रोग का प्रवेश अब भारत के बड़े शहरों—कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली आदि—से होता हुआ इलाहाबाद में भी हो गया और चिन्ता की बात तो यह है कि वैज्ञानिक अभी भी इसका कोई इलाज नहीं ढूँढ सके हैं गोकि लगभग पचास ऐसी दवाइयाँ हैं जिन पर शोध तेजी से चल रहे हैं।

इलाहाबाद मेडिकल कॉलेज के प्रवक्ता **डॉ० केशव कुमार** ने अपने अत्यन्त रोचक और ज्ञानवर्धक व्याख्यान में बताया कि एड्स का पूरा नाम एक्वायर्ड इम्यूनो डिफिशिएन्सी सिंड्रोम अर्थात् ऐसा रोग है जिसमें शरीर की रोगों से लड़ने की क्षमता नष्ट हो जाती है। वास्तव में रोग का वाहक एक विषाणु है जिसे एच आई वी (ह्यूमन इम्यूनो डिफिशियन्सी वायरस के नाम से पुकारते हैं।

डॉ० केशव कुमार ने आगे बोलते हुए बताया कि किसी भी रोग के शरीर पर आक्रमण करने पर रक्त की टी-4 कोशिकायें (लिम्फोसाइट्स) श्वेत रक्त कणिकाओं को लड़ने का सन्देश देती हैं। इन्ही टी-4 कोशिकाओं के कारण शरीर में रोगों से लड़ने की क्षमता आती है। एच आई वी टी-4 कोशिकाओं पर आक्रमण कर देते हैं और इस प्रकार रक्त की श्वेत कणिकायें लड़ने की सूचना नहीं प्राप्त कर पातीं। अर्थात् शरीर-रोग की चपेट में आ जाता है। एड्स के लक्षणों में 10% से अधिक शरीर का भार कम हो जाना, एक महीने से ऊपर लम्बा बुखार, एक महीने से ऊपर लगातार खाँसी, पूरे शरीर में खुजली, जलन और चकत्ते जो दवा से ठीक न हो रहे हों, गिल्टियों में सूजन, हरपीज वायरस का बार-बार आक्रमण आदि हैं। एड्स के रोगियों को प्रायः छय रोग और रक्ताल्पता शीघ्र हो जाती है।

यह रोग योनिस्राव, वीर्य, रोगी माता के द्वारा गर्भस्थ शिशु, आँसू और थूक के माध्यम से फैलता है किन्तु थूक में वायरस की मात्रा अत्यन्त न्यून होती है। इस रोग के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ भी हैं। सच्चाई यह है कि यह रोग चुम्बन, हाथ मिलाने, स्पर्श, एक साथ उठने-बैठने या खाने-पीने से नहीं फैलता है। एड्स से बचने के लिए कण्डोम का प्रयोग, एकपत्नीव्रत, एक ब्लेड या रेजर से कई लोगों का दाढ़ी न बनाना, किसी रोगी के शरीर में यदि रक्त-आदान की आवश्यकता हो तो इसके पूर्व रक्त की भली-भाँति जाँच-परख कर लेना आदि अच्छे उपाय हैं।

डॉ० केशव कुमार ने यह आशा व्यक्त की कि वैज्ञानिक इस रोग की दवा अथवा टीका अवश्य ही ढूँढ लेंगे।

इस संगोष्ठी में **डॉ० रामसुरंजन धर दुबे, डॉ० मुरारी मोहन वर्मा, डॉ० दिनेश मणि, श्री विजय जी, डॉ० प्रदीप कुमार** आदि ने अनेक प्रश्न पूछे जिनका सम्बन्ध इस रोग से है।

डॉ० प्रदीप कुमार ने अपने अध्यक्षपदीय उद्बोधन में डॉ० केशव कुमार की रोचक व्याख्यान देने के लिए और विज्ञान परिषद् को यह विचार गोष्ठी आयोजित करने के लिए प्रशंसा की।

अन्त में प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने डॉ० केशव कुमार, डॉ० प्रदीप कुमार और अन्य उपस्थित अतिथियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की।

("अमृत प्रभात" 11-4-93 से साभार)

विज्ञान परिषद् प्रयाग की जोधपुर शाखा से

कार्यकारिणी सदस्यों के साथ प्रो० शिवगोपाल मिश्र की संक्षिप्त वार्ता

नवगठित जोधपुर शाखा के निम्न पदाधिकारियों के साथ प्रो० शिवगोपाल मिश्र की दिनांक 15 मई 1993 को एक संक्षिप्त एवं महत्वपूर्ण बैठक हुई।

1. डॉ० रामगोपाल - सभापति
2. डॉ० ईश्वरचन्द्र गुप्ता - उपसभापति
3. डॉ० दुर्गादत्त ओझा - संयुक्त मंत्री
4. डॉ० सुरेन्द्र मल मोहनोत - कार्यकारिणी सदस्य
5. श्री० राकेश श्रीवास्तव - ,, ,,
6. श्रीमती नीलम वासन - ,, ,,

प्रो० मिश्र ने सभी सभ्यों को विज्ञान परिषद् की जोधपुर में शाखा स्थापित करने हेतु बधाई देते हुए कहा, "मुझे यह जानकर असीम हर्ष है कि पदाधिकारी तथा अन्य सभ्य अपने-अपने क्षेत्रों के विशेषज्ञ हैं तथा आपकी हिन्दी विज्ञान में गहरी अभिरूचि है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि स्थानीय आजीवन वरिष्ठ सभ्यों - प्रो० रमेशचन्द्र कपूर, प्रो० सुमत प्रकाश गर्ग एवं आपके नव निर्वाचित सभापति के मार्गदर्शन में यह संस्था उत्कृष्ट कार्य करने में सक्षम होगी।"

प्रो० मिश्र ने हिन्दी विज्ञान प्रचार-प्रसार में समर्पित देश की इस प्राचीनतम संस्था के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला तथा संस्थापक वैज्ञानिकों की महती सेवाओं की प्रशंसा की। उन्होंने सभी सभ्यों को संबोधित करते हुए यह आशा व्यक्त की, "आप स्वामी श्री सत्यप्रकाशजी सरस्वती के द्वारा बताये गए मार्ग पर निः स्वार्थ भाव से चलेंगे। संस्था के उद्देश्यों के अन्तर्गत हिन्दी के अतिरिक्त अन्य प्रांतीय भाषाओं के विकास में भी कार्य किया जाना चाहिये। हमें नये युवा विज्ञान लेखकों को हिन्दी विज्ञान लेखन में प्रवृत करना है।

"संस्था की पत्रिकाओं व प्रकाशन का लगभग लागत मूल्य रखा जाता है। प्रत्येक वर्ष इन युवा वैज्ञानिकों को प्रोत्सहित करने के लिए 'डॉ० गोरखप्रसाद विज्ञान पुरस्कार' दिये जाते हैं तथा प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों के ज्ञान का लाभ प्राप्त करने हेतु प्रतिवर्ष चार स्मृति विज्ञान व्याख्यान मालाएँ आयोजित की जाती हैं। 'डॉ० रत्नकुमारी स्मृति व्याख्यान माला, केवल महिला वैज्ञानिक द्वारा ही दी जाती है।

प्रो० मिश्र ने सभ्यों को संबोधित करते हुए यह सुझाव दिया कि शीघ्र ही इस नवगठित शाखा में विज्ञान के प्रचार-प्रसार हेतु विज्ञान दिवस, पर्यावरण दिवस, विश्व स्वास्थ्य दिवस, हिन्दी दिवस आदि मनाया जाये।

बैठक में उपस्थित सभी सभ्यों ने प्रो० मिश्र का मार्गदर्शन हेतु आभार व्यक्त किया।

—प्रस्तुति: डॉ० राम गोपाल (सभापति)
एवं
डॉ० डी० डी० ओझा (संयुक्त मंत्री)
विज्ञान परिषद् प्रयाग जोधपुर शाखा, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर-342001

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक : खूनी नगरी का बैताल (बाल उपन्यास)

लेखक : कुलदीप शर्मा

प्रकाशक : मानक पब्लिकेशन्स प्रा० लि०, 3-ए सावरकर ब्लॉक, मधुबन रोड, शकरपुर, दिल्ली-110092

संस्करण : प्रथम, 1991

मूल्य : रुपये 15.00, पृष्ठ 30

'खूनी नगरी का बैताल,' कुलदीप शर्मा लिखित 'बाल उपन्यास' है जिसके द्वारा लेखक ने बालपाठकों को रक्त-वाहिनियों और हृदय की जानकारी देने का प्रयास किया है।

आमतौर पर विज्ञान को कठिन विषय माना जाता है। इसीलिये इसके तथ्यों को आम पाठकों और बच्चों को समझाने के लिये सरल से सरल तरकीब का प्रयोग किया जाता है। कहानी, कविता, उपन्यास आदि ऐसी सरल विधाएँ हैं जिनके द्वारा विज्ञान के कठिन तथ्यों को आसानी से समझाया जा सकता है। लेकिन हिन्दी में ऐसे प्रयास बहुत कम ही हुए हैं। इस दृष्टि से लेखक द्वारा रक्त-परिसंचरण तंत्र की बाल उपन्यास द्वारा जानकारी देने का प्रयास सराहनीय है।

पुस्तक की कहानी के अनुसार विक्रम कब्रिस्तान जाता है जहाँ उसकी भेंट बैताल से होती है। फिर बैताल, विक्रम पर प्रसन्न हो उसे खूनी नगरी की सैर कराने ले जाता है। खूनी नगरी में ही विक्रम को रक्त कणिकाओं, प्लाज्मा, हृदय की कार्यविधि आदि की जानकारी दी जाती है। लेकिन इस तथ्य को समझाने के विक्रम और बैताल नामक चरित्रों का उपयोग स्वयं में उलझा तथ्य है। बच्चों के लिये कहानी या उपन्यास की रचना करते समय ऐसे ही चरित्रों का उपयोग होना चाहिए जिनसे बच्चे बखूबी परिचित हों। इसके अलावा अतीन्द्रिय दर्शन, अतीन्द्रिय रक्त, सूक्ष्म काया, जैसे शब्द भी बच्चों के लिये भारी पड़ेंगे। ऐसे शब्दों का उपयोग बाल उपन्यासों या कहानियों में न ही हो तो अच्छा हो।

लेखक ने ऐसे भी कुछ शब्दों का उपयोग किया है जिनके अर्थ स्पष्ट नहीं हैं : जैसे 'नगरिय,'। 'नदियों' की जगह 'नदियाएं' जैसे शब्द भी खटकते हैं।

पुस्तक की छपाई, साजसज्जा और मुख पृष्ठ आकर्षक है। मध्यम वर्गीय पाठकों के लिये मूल्य जरूर कुछ ज्यादा है। लेखक और प्रकाशक दोनों ही साधुवाद के पात्र हैं।

■■

विजय जी, जवाहर इण्टर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठक गण !

मुझे इसके पूर्व ऐसा लग रहा था कि शायद अब 'विज्ञान' का प्रकाशन नियमित हो जाये। किन्तु आसार कुछ और ही दिख रहे हैं। यह अंक भी आपको विलम्ब से ही मिलेगा। इस संबन्ध में मैं आपसे क्षमा ही माँग सकता हूँ, और माँग रहा हूँ।

5 जून को 'विश्व पर्यावरण दिवस' के अवसर पर "जैव विविधता संरक्षण : विविध आयाम" विषय पर एक संगोष्ठी आयोजित की गई। इस संगोष्ठी की अध्यक्षता भौतिकी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रोफेसर सुरेन्द्र नाथ श्रीवास्तव ने की। प्रो० शिवगोपाल मिश्र, डॉ० मुरारी मोहन वर्मा. डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव, डॉ० दिनेश-मणि, डॉ० सुनीलदत्त तिवारी, सर्वश्री अरुण कुमार सिंह, देवी दयाल पाण्डेय, पवन कुमार सचान, विनय प्रकाश सचान, प्रेमनाथ पाण्डेय, विनोद विहारी वत्स्य, राजेश कुमार सिंह, जितेन्द्र कुमार जायसवाल, अनिल कुमार सिंह, अनिल कुकार मिश्र, एफ० एम० प्रसाद आदि ने इस गोष्ठी में जैव विविधता संरक्षण के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला।

आकाशवाणी इलाहाबाद के केन्द्र निदेशक की कृपा से संगोष्ठी की कार्यवाहीं रेकार्ड भी हो गई थी और 19-6-93 को 'परिक्रमा' के कार्यक्रम के अंतर्गत प्रसारित भी हुई।

हर्ष का विषय है कि श्रद्धेय स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी सुल्तानपुर में स्वास्थ्यलाभ कर रहे हैं। **1 अगस्त को एच ए एल कोरवां, अमेठी में स्वामी जी का अभिनन्दन समारोह होगा** जिसमें, जिलाधिकारी, पुलिस अधीक्षक एवं अन्य अनेक अधिकारियों के अतिरिक्त आर्य समाज के अनेक मूर्धन्य विद्वान भाग लेंगे। इस समारोह के मुख्य अतिथि हैं, भूतपूर्व केन्द्रीय में मंत्री एवं उत्तर प्रदेश सरकार के भूतपूर्व मुख्यमंत्री **श्री नारायण दत्त तिवारी**। इस अवसर पर स्वामी जी को बम्बई आर्य समाज द्वारा आर्य जगत् का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार, 25,001 रुपयों सहित, **'वेद वेदांग पुरस्कार'** प्रदान किया जायेगा।

हिन्दी संस्थान, लखनऊ एवं विज्ञान परिषद् प्रयाग के संयुक्त तत्वावधान में अगस्त मास में एक एकदिवसीय संगोष्ठी भी आयोजित की जायेगी।

शुभकामनाओं सहित।

आपका
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1993

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।
(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।
(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।
(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।
(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1993 से दिसम्बर 1993 माह के बीच प्रकाशित हो।
(6) लेखक को लेख के साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।
(7) विज्ञान परिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।
(8) वर्ष 1993 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1994 है।
(9) पुरस्कार के लिए पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागियों को इस प्रतियोगिता के लिए उपयुक्त नहीं समझा जायेगा।

लेख निम्न पते पर भेजें—

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद वा रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते है तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पत्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु०, चौथाई पृष्ठ 50.00 आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०

प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
अगस्त-सितम्बर 1993; वर्ष 79 अंक 5-6

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे
यह अंक : 5 रु०

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक
डॉ० डी० डी० नौटियाल
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7 ए बेली एवेन्यू
इलाहाबाद-211002

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

क्या सूर्य निष्कलंक है ?

प्रो० सुरेन्द्र नाथ श्रीवास्तव

भारत में फलित ज्योतिष पर विश्वास रखने वालों की संख्या बहुत अधिक है। प्रायः लोग ग्रह-नक्षत्रों का प्रभाव मनुष्य के जीवन की गतिविधियों से जोड़ते हैं। अचरज की बात तो यह है कि ज्योतिष पर आधारित भविष्यवाणियाँ कभी पूर्णतः तो कभी अंशतः खरी भी उतरती रहती हैं। तो क्या इन भविष्यवाणियों को केवल संयोग मात्र ही माना जाये ? कदाचित विज्ञान में पूर्णतः विश्वास रखने वाला तो ऐसा ही मानेगा।

यहाँ हम एक ऐसे ही संयोग का वर्णन करेंगे जिसका संबंध सूर्य के धब्बों से किसी राजा के शासनकाल से है। है न विचित्र बात ! किंचित भी विश्वास न करने योग्य ! पर सूर्य के धब्बे, आखिर होते क्या हैं ? यह तो कभी दिखे ही नहीं। ठीक है, नहीं दिखे। यहाँ एक उदाहरण देना समीचीन होगा। ग्रहों को पहचानने वालों की संख्या तो कम ही है, किन्तु उनके बारे में बातचीत करने वालों की संख्या अत्यधिक है। शायद भविष्यवाणियाँ करने वाले भारत के अधिकांश ज्योतिषी भी ग्रहों को न पहचानते हों। आइये सर्वप्रथम यह जाने के सूर्य में धब्बे होते भी हैं या नहीं, और यदि होते हैं तो क्षणिक होते हैं, जो निरंतर बनते-बिगड़ते रहते हैं अथवा कुछ काल तक रहते हैं और फिर विलुप्त हो जाते हैं या कि ये धब्बे सदैव एक जैसे ही बने रहते हैं ? तो आइये पहले इन प्रश्नों के उत्तरों की जानकारी प्राप्त करें।

मध्यकालीन युग में पश्चिमी यूरोपियों का विश्वास अरस्तू (Aristotle) की उस मान्यता पर था कि आकाशीय पिण्ड अपरिवर्तनीय तथा विकाररहित होते हैं। ऐसा कदाचित इसीलिये रहा हो कि ईश्वर की रचनाओं में विकारों के रहने का विचार भी बड़ी घृणित बात मानी जाती थी। ईश्वर की समस्त रचनायें आदर्श हैं, और आदर्श में विकार कहाँ ? वैसे सूर्य तो संपूर्ण विकारों से रहित ही लगता है। यह एक ऐसा पात्र है जो अपनी रचना के पश्चात से अपरिवर्तनीय रहा। यह स्वर्गिक आभा से परिपूर्ण और अपने स्वर्गिक प्रकाश से सबको आलोकित करता है। यह न कभी बदला है और कदाचित कभी बदलेगा भी नहीं, जब तक कि परमात्मा ही अपनी इच्छा से इसे समाप्त न कर दें।

वास्तव में जब सूर्य क्षितिज पर होता है उस समय यदि धुँधला-सा भी छाया हो तो कभी-कभी सूर्य पर कुछ धब्बे दृष्टिगोचर होते हैं। हो सकता है कि यह कोई बादल का टुकड़ा हो, या बुध ग्रह हो जो सूर्य तथा पृथ्वी के बीच में उस समय आ गया हो। यह कभी नहीं सोचा गया कि वास्तव में यह विकार है, क्योंकि सूर्य को तो विकाररहित ही माना जाता था।

पर तभी 1610 में गैलेलियो ने अपनी दूरबीन से सूर्यास्त के धुँधलके में देखा कि सूर्य में धब्बे दिखते हैं और बार-बार देखने पर प्रत्येक बार ही दिखते हैं। यद्यपि इस प्रकार से सूर्य के धब्बों को आँख से देखना आँखों के

भौतिकशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

लिए बड़ा ही हानिकारक होता है, और कदाचित इसी कारण अंततः गैलेलियो अपनी नेत्र-ज्योति से हाथ धो बैठा। अन्य ज्योतिषशास्त्रियों ने भी शीघ्र ही दूरबीन की सहायता से इन धब्बों को देख कर सूचना दी और उनमें से एक जर्मन ज्योतिषशास्त्री क्रस्तोफ शाइनर (Christoph Scheiner) भी था जो एक यहूदी था।

शाइनर के उच्च अधिकारी ने उसे चेतावनी दी कि वह अपने निरीक्षण पर अधिक विश्वास न करे। अरस्तू ने चूँकि इन धब्बों का कोई जिक्र ही नहीं किया था, अतः ये धब्बे तो हो ही नहीं सकते। इस कारण शाइनर ने इन निरीक्षणों को दूसरे नाम से छपवाया और कहा कि ये छोटी-छोटी वस्तुयें हैं, जो सूर्य की परिक्रमा कर रही हैं और ये धब्बे सूर्य में नहीं हैं। इस प्रकार से वह अरस्तू की मान्यता के अनुरूप ही रहा कि सूर्य विकार-रहित है।

गैलेलियो कुछ तुनुकमिजाज था और इन धब्बों की खोज का श्रेय भी लेना चाहता था। उसने इस प्रकरण पर बहस भी की तथा छींटाकशी भी की (इस कारण से उस समय का शासकवर्ग उसके विरोध में हो गया और उसकी मुसीबतें प्रारंभ हो गई)। गैलेलियो ने इस बात पर जोर दिया कि यह निरीक्षण उसने सर्वप्रथम् किये थे और उसने इस बात की खिल्ली उड़ाई कि ये धब्बे पदार्थ के टुकड़े हैं, जो सूर्य की परिक्रमा करते हैं और ये धब्बे सूर्य के भाग नहीं हैं। उसने बतलाया कि सूर्य के दोनों किनारे वाले धब्बों की गति काफी धीमी होती है। उसने यह निष्कर्ष निकाला कि ये धब्बे सूर्य के धरातल पर ही हैं तथा सूर्य के अपने अक्ष पर 27 दिनों में घूमने के कारण ही गति करते हैं। इस अवधारणा में गैलेलियो बिलकुल सही था। इसी के साथ सूर्य की संपूर्णता का विचार भी समाप्त हो गया। इससे शासक वर्ग उद्विग्न हो उठा और गैलेलियो मुसीबत में पड़ गया।

इसके पश्चात् ज्योतिषविदों द्वारा सूर्य धब्बों के निरीक्षण के विषय में फल प्रस्तुत किये जाने लगे और उनकी स्थितियाँ भी दर्शाई जाने लगीं। कभी तो ये धब्बे दिखते थे और कभी विलुप्त हो जाते थे।

1774 में अलेक्जेंडर विल्सन (Alexander Wilson) ने पाया कि एक विशालकाय सूर्य का धब्बा जब किनारे से देखा गया तो वह नतोदर लगा। वह सोचने लगा कि कहीं यह सूर्य में गहरा गड्ढा तो नहीं है। 1795 में इस अवधारणा पर उस समय के एक प्रख्यात ज्योतिषी विलियम हरशेल (William Herschel) ने विचार किया और सुझाव दिया कि सूर्य एक ठंडा पदार्थ है जो गर्म गैसों से घिरा है। उसके अनुसार गैस में छेदों के स्थान पर धब्बे थे जहाँ से ठंडा पदार्थ दिखता था। हरशेल ने यह भी अनुमान लगाया कि इस ठंडे स्थान पर कदाचित जीवन भी हो। परन्तु यह सब एकदम गलत सिद्ध हुआ, क्योंकि अंततः यह सिद्ध हुआ कि वास्तव में सूर्य का बाहरी आवरण ही सबसे शीतल है। सूर्य का भीतरी भाग गर्म और अधिक गर्म होता है और उसके केन्द्र में लगभग डेढ़ करोड़ सेल्सियस का ताप होता है। परन्तु यह बात 1920 तक ही स्पष्ट हो पाई। जहाँ तक सूर्य के धब्बों का संबंध है, वे काले नहीं होते। वे केवल सूर्य की सतह से कुछ हजार डिग्री सेल्सियस ही ठंडे होते हैं, जिसके फलस्वरूप इन धब्बों से निकलने वाला प्रकाश, सूर्य के अन्य भागों से निकलने वाले प्रकाश की तुलना में कम होता है और वह काले दिखते हैं। यदि बुध अथवा शुक्र ग्रह सूर्य के सामने आ जायें तो वे काले गोले के रूप में दिखते हैं। जब ये ग्रह किसी धब्बे के निकट आते हैं तब मालूम पड़ता है कि धब्बे वास्तव में काले नहीं होते।

एक और महत्वपूर्ण खोज हुई एक जर्मन वैज्ञानिक हेनरिख सेमुअल शाबे (Heinrich Samuel Schwabe) के द्वारा जो दिन भर दवा की दूकान में बैठता था। सारा दिन काम करने के पश्चात् वह तारों की खोज में रात्रि

नहीं बिता सकता था अतएव उसने विचार किया कि दिन में वह कोई ज्योतिषशास्त्र से संबंधित निरीक्षण करे, जिस समय उसके दूकान में अधिक काम न हो। हरशेल ने यूरेनस ग्रह की खोज की थी और यह वह समय था जब प्रत्येक ज्योतिषशास्त्री नया ग्रह खोजने की धुन में था। यदि कोई ग्रह सूर्य से बिलकुल पास हो तथा जिसकी दूरी बुध ग्रह से भी काम हो तो उसे देखना बहुत कठिन होगा। परन्तु कभी वह ठीक सूर्य के सामने भी आ जायेगा और तब वह सूर्य के ऊपर एक काला गोला सा दिखेगा तो क्यों न सूर्य को ही ध्यानपूर्वक देखा जाये और इस काले गोले को खोजा जाये। मगर बुध ग्रह, शुक्र ग्रह तथा सूर्य के धब्बों के अलावा कुछ काला सा दिखे तो निःसंदेह वह नया ग्रह ही होगा। 1825 से शाबे ने निरीक्षण प्रारंभ किया। उसे नया ग्रह तो नहीं दिखा, परन्तु सूर्य के धब्बे उसने खूब देखे। उसने पाया कि ये धब्बे दिन प्रतिदिन अपनी जगह व आकार बदलते रहते हैं। उसने यह भी पाया कि पुराने धब्बे विलुप्त हो जाते हैं तथा नये धब्बे उत्पन्न होते हैं। शाबे ने लगातार सत्रह वर्षों तक प्रतिदिन सूर्य के धब्बों का निरीक्षण किया। अंततः 1843 में उसने घोषणा की कि ये धब्बे एक चक्रबद्ध रूप से आते हैं। समय के साथ इनकी संख्या निरंतर बढ़ती रहती है, फिर वे एक समय अधिकतम हो जाते हैं। तत्पश्चात् उनकी संख्या घटने लगती है तथा वे लगभग समाप्त हो जाते हैं और पुनः एक चक्र का प्रारंभ होता है। एक चक्र का सम्पूर्ण काल लगभग दस वर्ष का होता है।

शाबे की खोज को पहले कोई मान्यता नहीं दी गई। इसी काल में जोहान वॉन लामोन्त (Johann Von Lamont) ने पाया कि पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता समय के साथ-साथ घटती-बढ़ती रहती है। 1852 में एडवर्ड सेबाइन (Edward Sabine) ने बताया कि चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता का संबन्ध सूर्य के धब्बों से है।

यह पाया गया कि प्रत्येक चक्र लगभग 10·4 वर्ष का होता है। कभी-कभी इस चक्र का काल 7 वर्ष तथा कभी 17 वर्ष भी पाया गया। सूर्य के धब्बों की महत्तम संख्या में भी अन्तर होता था। 1816 में यह संख्या 50 थी। 1954 में यह 200 हो गई तथा 1970 में केवल 100 ही रह गई। 1893 में एडवर्ड वाल्टर माण्डर (Edward Walter Mounder) ने पाया कि 1643 से 1715 के बीच कोई सूर्य का धब्बा नहीं था। 1894 में और फिर 1922 में माण्डर ने अपनी खोजों को पुनः प्रकाशित करवाया, परन्तु किसी ने उसकी जोज पर ध्यान नहीं दिया। उस समय तक सूर्य के धब्बों के चक्र की भली-भाँति स्थापना हो चुकी थी और 1900 में धब्बों से रहित सूर्य का विचार उतना ही अमान्य था जितना कि 1600 में धब्बों वाला सूर्य, परन्तु 1970 के आस पास जान ए० एडी (John A. Eddy) ने पाया कि माण्डर की खोज में कुछ तथ्य अवश्य है। उसने सूर्य के धब्बों का निरीक्षण केवल आँख द्वारा ही देखने के पुरानी खोजों को परखा और पाया कि ये ईसा से पाँच सौ साल पूर्व के थे और यह भी पाया कि समय के कुछ अन्तरालों में धब्बे नहीं देखे गये, और उसमें से एक अन्तराल 'माण्डर के न्यूनतम' का भी था।

सूर्य के धब्बों से सूर्य के चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता का भी संबंध था। सूर्य के चुम्बकीय क्षेत्र से उत्पन्न कई प्रभाव पृथ्वी पर पड़ते हैं, जैसे इसके द्वारा 'अरोरा' ('Auroras') दिखाई देते हैं।

यदि सत्तर वर्षों तक सूर्य के धब्बे नहीं के बराबर होते हैं, तो सूर्य का चुम्बकीय क्षेत्र भी शांत रहता है और उस काल में यूरोप में 'अरोरा' भी नहीं दिखे। एडी ने पाया कि 'अरोरा' का ना दिखना 'माण्डर न्यूनतम' से मेल खाता था।

जब सूर्य के धब्बों की संख्या चरम सीमा पर होती है तो सूर्य के चुम्बकीय क्षेत्र में भी बहुत बदलाव व तीव्रता होती है, जिसके फलस्वरूप सूर्य की अग्निशिखा या कोरोना (Corona) में बहुत ऊँची लपटें उठती हैं और 'माण्डर न्यूनतम' के काल में अग्निशिखायें भी छोटी होती थीं।

इन प्रमाणों के अलावा एक और महत्वपूर्ण प्रमाण भी है। वायु में सदा कार्बन-14 (C-14) की मात्रा रहती है। वायु में नाइट्रोजन पर ब्रह्माण्ड किरणों के द्वारा कार्बन-14 बनता रहता है जो रेडियोधर्मी (Radioactive होता है। पौधों में यह कार्बन-14 भी आ जाता है। यदि किसी कारण किसी वर्ष वायु में कार्बन-14 की मात्रा की अधिकता हुई, तो उस वर्ष पेड़ों की रचना में भी इसकी अधिकता हो जायेगी। कार्बन-14 की अधिकतम या न्यूनतम के बीच का अन्तर काफी कम होता है परन्तु इसके रेडियोधर्मी (Radioactive) होने के कारण इस अन्तर को काफी सूक्ष्मता से तथा सरलता से ज्ञात किया जा सकता है।[6]

जब सूर्य के चुम्बकीय क्षेत्र में बहुत तीव्रता होती है तो यह क्षेत्र पृथ्वी को भी ढँक लेता है, जिसके फलस्वरूप ब्रह्माण्ड किरणें पृथ्वी पर कम मात्रा में ही पहुँच पाती हैं और उस काल में कार्बन-14 वायु में कम होता है, तथा पौधों में भी उसकी मात्रा कम हो जाती है।

जब सूर्य के चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता कम होती है तो कार्बन-14 की मात्रा वायु में और फलस्वरूप पौधों में अधिक हो जाती हैं।

अतः सूर्य के धब्बों के न्यूनतम होने के काल में पौधों में कार्बन-14 की मात्रा अधिक व धब्बों के अधिकतम होने के काल में पौधों में विद्यमान् कार्बन-14 की मात्रा कम होती है। पेड़ों पर साल दर साल चक्र (Annual Rings) बनते रहते हैं और यदि पेड़ के तने को काटें और चक्रों को अन्दर की ओर गिने, तो यह बतलाना आसान है कि कौन सा चक्र किस वर्ष बना था।

यदि प्रत्येक चक्र की लकड़ी को पृथक कर लिया जाये तो उसके अन्वेषण से यह ज्ञात किया जा सकता है कि उस चक्र के बनने के समय कार्बन-14 किस मात्रा में थे (हाँ इस बात को भी गणना करनी होगी कि उस समय के बनने के बाद से रेडियोधर्मी की मात्रा एक निश्चित दर से घटती भी रहती है)। अतः गणना में सब बातों का ध्यान देने पर यह बतलाना संभव है कि किस वर्ष सूर्य के धब्बों की संख्या अधिक व किस वर्ष कम रही, और वह भी सूर्य के धब्बों को देखे बगैर।

वैज्ञानिक परीक्षणों से यह पाया गया कि सत्रहवीं सदी के मध्य काल के बाद से वास्तव में कार्बन-14 की मात्रा अत्यधिक थी, जो माण्डर के न्यूनतम से मेल खाता था। पेड़ों के वार्षिक चक्रों (Annual Rings) का एक लाभ यह भी है कि इसकी सहायता से बहुत प्राचीन काल के समय का भी अध्ययन किया जा सकता हैं। यहाँ तक कि पाँच हजार वर्ष पूर्व समय तक का भी अध्ययन किया जा सका है।

एडी ने बतलाया कि पिछले पाँच हजार वर्षों में बारह बार सूर्य का चुम्बकीय क्षेत्र न्यूनतम रहा। प्रत्येक न्यूनतम लगभग पचास वर्षों से कई सौ वर्षों का रहा। तथा माण्डर न्यूनतम सबसे नवीनतम वाला है। उसके पहिले 1400 से 1510 तक भी न्यूनतम रहा। दूसरी ओर 1100 से 1300 तक इसकी सबसे अधिक तीव्रता रही।

और उस समय पृथ्वी पर क्या होता है जिस समय माण्डर न्यूनतम होता है ? उस समय यूरोप में एक छोटा सा 'हिमकाल' था। उसके पहिले 1400 से 1510 में भी शीतकाल था।

यह केवल एक संयोग मात्र भी हो सकता है। किन्तु इससे भी उत्तम एक संयोग और भी है। वैसे यहाँ एक सहज-सा प्रश्न उठता है कि इस बात की क्या संभावना है कि कोई सम्राट बहत्तर वर्ष तक राज्य करें ? उत्तर है—निसंदेह बहुत ही नगण्य। यूरोपीय इतिहास में केवल एक ही सम्राट ऐसा हुआ है जिसका शासनकाल इतना अधिक था, और वह था फ्रांस का चौदहवाँ लुई। इतने लम्बे शासन काल तथा इतने ही अंतराल का होता है माण्डर न्यूनतम। तो इस बात की क्या संभावना होगी कि दोनों काल एक ही समय में हों ? स्पष्टतः लगभग शून्य ही। परन्तु हुआ कुछ ऐसा ही कि अपने पिता की मृत्यु के उपरांत 1643 में चौदहवाँ लुई सिंहासन पर आरूढ़ हुआ और 1715 तक, अपनी मृत्यु के समय तक, शासन करता रहा। वह ठीक उसी समय तक शासन करता रहा जब तक माण्डर न्यूनतम रहा। है न अचरज की बात !

चौदहवां लुई कहता था कि वही सूर्य है और अन्य सब लोगस म्राट के प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं उसने अपना चिह्न सौर परिवार के सूर्य का अपनाया और अपने को 'सूर्य सम्राट' घोषित किया। और संयोग देखिए कि उस सम्राट का शासनकाल उसी समय रहा जिस समय सूर्य में धब्बे नहीं थे और सूर्य निष्कलंक था। केवल विचित्र संयोग है कि उसी सम्राट ने अपने को 'सूर्य सम्राट' भी घोषित किया।

■ ■

मच्छरों की वर्गिकी एवं भारतवर्ष में इनका वितरण

डॉ० रवि शंकर पाण्डेय* एवं
मानवेन्द्र त्रिपाठी**

अनेक प्रकार के कीड़े एवं आर्थोपोडा संघ के अन्य जीव चिकित्सा एवं पशुचिकित्सा के दृष्टिकोण से महत्व-पूर्ण हैं। इसका प्रमुख कारण रोगात्मक (Pathological) स्थितियों के लिये इनका उत्तरदायी होना है। इसके अलावा ये रोगोत्पादक Pathogenic) जीवों को मनुष्य या अन्य जानवरों में फैलाते हैं। आर्थोपोडा संघ के जीव इनमें कई रूपों में सम्मिलित हैं। ये कारणात्मक रूप में—यथा स्केबीज माइट, या विकसित परपोषी स्थानान्तरण—यथा भृंग या मुँगरा (Beetle), जो कि हेल्मिन्थ परजीवी के लिये उपयोग में आते हैं। या फिर रोगजनक (Pathogen) के रोग वाहक (वेक्टर) के रूप में यथा—मादा एनोफेलीज मच्छर जिसका सम्बन्ध 'मलेरिया' से है।

कीटों और उनके अन्य सदस्यों का अध्ययन जब मानव स्वास्थ्य के परिप्रेक्ष्य में किया जाता है, तो उसे चिकित्सा कीटविज्ञान (Medical Entomology) कहते हैं।

* प्रवक्ता, प्राणि विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002
** शोध छात्र, प्राणि विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-2

मच्छरों के लिये "ऐनोफेलीज" नाम का सर्वप्रथम प्रयोग मेगन (Meigan) नामक जर्मन वर्गिकीविद् ने 1818 में किया और उन्होंने "क्यूलेक्स क्लेविजर" (Culex claviger) का नामकरण "ऐनोफेलीज क्लेविजर" के रूप में भी लिया। "ऐनोफेलीज" शब्द की उत्पत्ति अत्यन्त रोचक है। वेब्स्टर अन्तर्राष्ट्रीय शब्दकोश के अनुसार इस शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा से हुई है, जिसका शाब्दिक अर्थ—hurtful or harmful अर्थात् "हानिकारक" (An—not, opheles=fruitful) से है। यह ग्रीक भाषा का शब्द संस्कृत से उत्पन्न हुआ है और opheles का प्रयोग a phalam i.e. a=towards, phalam=fruit, अतएव fruitful से है। विभिन्न भारतीय भाषाओं में मच्छरों के लिये अनेक नामों का प्रयोग होता आया है। उदाहरण के तौर पर संस्कृत में मच्छ, मच्छक, हिन्दी में मच्छर, तमिल में कोशू और मलयालम में कोथयूक कहते हैं।

प्राचीन काल से ही भारत में मच्छरों के बारे में वर्णन मिलता है। यद्यपि ये मलेरिया वेक्टर के रूप में तो नहीं ही जाने जाते थे, बल्कि एक प्रकार से मानव रोगों के वाहक रूप में ज्ञात थे।

सुश्रुत (Susrut) ने मच्छरों को पाँच किस्मों में विभाजित किया है। ये हैं—

समुद्र, परिमण्डल, हस्तिमच्छक, कृष्ण और पर्वतीय।

अनुवादत: अब इनके निम्नलिखित रूप हैं—समुद्र मच्छर को मैरीन या कोस्टल (तटीय मच्छर); परिमण्डल को क्षेत्रीय या सरकुलर मच्छर; हस्तिमच्छक को हाथी मच्छर, शायद इनका नामकरण आकार में बड़े होने के कारण है; कृष्ण मच्छर को काले, गहरे मच्छर; पर्वतीय को पर्वत पर पाये जाने वाले मच्छरों के नामों से जाना जाता है। इनके काटने से उस स्थान पर सूजन, खुजली, चुनचुनाहट जैसे लक्षणों का उल्लेख है।

क्या ये पर्वतीय मच्छर वर्तमान में पायी जाने वाली पादगिरि जातियाँ जैसे कि (Anopheles fluviatilis) के ही रूप हैं ?

भारत में ऐनोफेलीज जातियों का वैज्ञानिक नामकरण और पहचान डॉ० रॉस की खोज के बाद और ग्रासी के द्वारा इटली में इन तथ्यों के आधार पर कि ये मलेरिया रोगों के संवाहक हैं, से प्रारम्भ हुआ।

वर्गिकी (Taxonomy)

कई आकलनों के आधार पर इन्सेक्टा (कीट) वर्ग में जातियों की संख्या 6,25,000 से 1,500,000 के बीच निरूपित की गयी है। "इन्सेक्टा" में निम्नलिखित लक्षण विद्यमान होते हैं। (चित्र संख्या-1)

- ○ विखण्डित शरीर जोड़ी युक्त विखण्डित उपांगों के साथ।
- ○ बाह्यकंकाल (Exoskeleton) उपस्थित।
- ○ द्विपार्श्वीय सममिति (Bilateral symmetry)।
- ○ इन प्राणियों का शरीर तीन या कुछ कम भागों में विभाजित रहता है। इनको सिर (Head), वक्ष (Thorax), उदर (Abdomen) में विभाजित करते हैं।

○ प्रौढ़ कीटों में सिर पर एक जोड़ी श्रृंगिका (antennae), मुख उपांग (Mouth parts) तथा संयुक्त नेत्र (compound eye) पाये जाते हैं।

○ गमन के उपांग तीन जोड़ी विखण्डित पैर और इसके अलावा दो जोड़ी पंख (जो कि आकारिकी रूप में उपांग नहीं हैं), उदर भाग में कोई उपांग नहीं केवल अन्तस्थ (terminalia) को छोड़कर, कभी-कभी सर्की (cerci)।

○ श्वसन की क्रिया सूक्ष्म ट्रेकिया ट्यूब्लस के माध्यम से।

चित्र 1
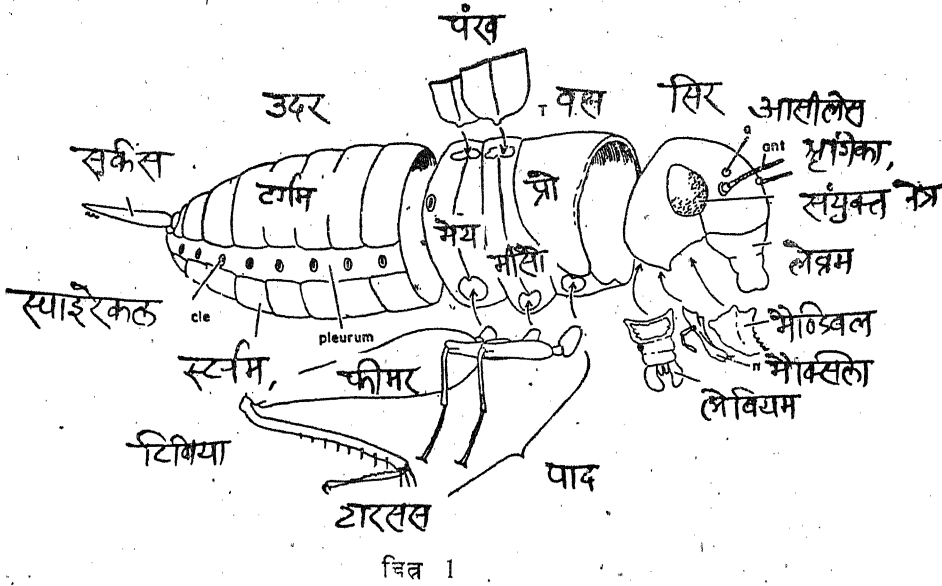
पंख (Wings)

प्रारम्भ काल में कीटों का वर्गीकरण पंखों के लक्षणों के आधार पर किया गया था। परन्तु आजकल कायान्तरण (Metamorphosis) और मुखाँगों को भी आधार पर माना जाता है। पंखों के शिरविन्यास अनेक जातियों में विशिष्टताओं से युक्त होते हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर कीटों के जाति की पहचान की जाती है।

प्रारूपिक रूप में दो जोड़ी पंख उपस्थित रहते हैं, जो कि मीसोथोरेक्स या मेटाथोरेक्स पर जुड़ते हैं, (चित्र संख्या-2) यद्यपि अन्य परजीवी कीटों में यथा खटमल, चीलर, जूं इत्यादि में अवशेषी या अनुपस्थित रहते हैं। रूपवत स्थिति में पंख लगभग त्रिकोणीय या त्रिभुजाकार रूप में होते हैं। इनकी तीनों सतहों को किनारे (margins) कहते हैं। कोस्टल किनारे को अग्रवर्ती तथा एपिकल तथा एनल किनारे को परवर्ती कहते हैं। सामान्यतया पश्च और अग्रभाग के पंखों के आकार में अन्तर होता है। अग्रभाग कुछ तितलियों, फतिंगों, बर्रे, मधुमक्खी में पश्चभागों से बड़े होते हैं जब कि तिलचट्टों इत्यादि में अग्रपंख पतले, केवल पश्चभाग को ढँकने में प्रयुक्त होते हैं। ड्रेगानफलाइज, दीमक इत्यादि में अग्र तथा पश्च भाग समान होते हैं। एक ही गण के कई सदस्यों के पंखों के आकार में अन्तर पाया

जाता है, परन्तु किसी एक कुल में पंखों के सामान्य लक्षण तो अवश्य ही मिलते हैं। पंखों में शिरायें पायी जाती हैं। ये शिरायें खोखली और फीते के आकार की होती हैं और पंखों को शक्ति देती हैं। शिराओं के बीच में पायी जाने वाली शल्कीय स्थानों को "कोशा" कहते हैं। यदि शल्कीय स्थान पंख के किनारे तक फैले हों, तो इन्हें "खुले रूप" (open form) की संज्ञा दी जाती है। यदि कोई कोशा चारों तरफ से शिराओं से घिरी हो तो उसे "बन्द रूप" (closed form) की संज्ञा दी जाती है।
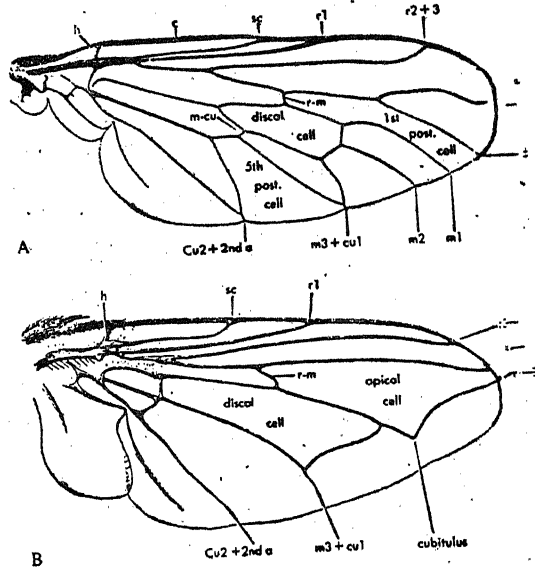
चित्र 2

जीनस ऐनोफेलीज, वर्ग-इन्सेक्टा और गण-डिप्टेरा के अन्तर्गत आते हैं। इनका उपगण-निमैटोसीरा (Nematocera) और कुल क्यूलिसिडी है। डिप्टेरा को निम्नलिखित लक्षणों के आधार पर विभेदित किया जा सकता है। ऐसे इन्सेक्टा जिनमें एकलजोड़े कलायुक्त पंख (Single pair of membranous wings) और पिछले पाद हाल्टर के रूप में रूपान्तरित, (चित्र संख्या-3) मुखांग चूषक (suctorial) रूप में, सामान्यतया प्रोबोसिस का निर्माण कभी-कभी चुभोने के लिए अनुकूलित, लेबियम सामान्यतया फैलकर मांसल (fleshy) लोब्स (गुच्छों) के जोड़े में प्रोथोरेक्स और मेटाथोरेक्स छोटे, आपस में संयुक्त, बड़े मीसोथोरेक्स के साथ, कायान्तरण पूर्ण, डिम्भक क्रूसीफार्म बिना पाद वाले (Apodus), सिर छोटे, प्यूपा या तो मुक्त या डिम्भक क्यूटीकल में बन्द या प्यूपेरियम। इन लक्षणों का उल्लेख इम्स (Imms) नामक कीटवैज्ञानिक ने अपनी पुस्तक में किया है।

डिप्टेरा ही कीटों का सबसे बड़ा गण है, जिसमें कि कई मक्खियाँ भी आती हैं। ये चिकित्सकीय दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण और संरचनात्मक रूपों में कीटों के अन्तर्गत सर्वाधिक विकसित रूप में भी मिलती हैं।

उपगण-निमैटोसीरा को निम्नलिखित लक्षणों के आधार पर पहचाना जाता है। इमेगों की श्रृंगिका जुड़ी,

संयुक्त, सिर और वक्ष से लम्बी, डिम्भ (Larva) विकसित, सिर बाहर निकला हुआ, मुख उपांगों में क्षैतिज काटने वाले मैण्डिबल्स (Mandibles), प्यूपा मुक्त अवस्था में परन्तु मच्छरों में पैल्पी (Palpi) स्तम्भित ।

इस उपगण में कई कुल सम्मिलित हैं—

1. **साइकोडिडी** : इसमें "बालूमक्खी" आती है और कालाजार (लीशमैनिया) फैलाती है ।
2. **सिमुयिलिडी** : इसमें "कालीमक्खी" आती है ।
3. **काइरोनमिडी** : इसमें "मशकाभ" (Midges) आते हैं ।
4. **क्यूलिसिडी** : "मच्छरों" का कुल ।
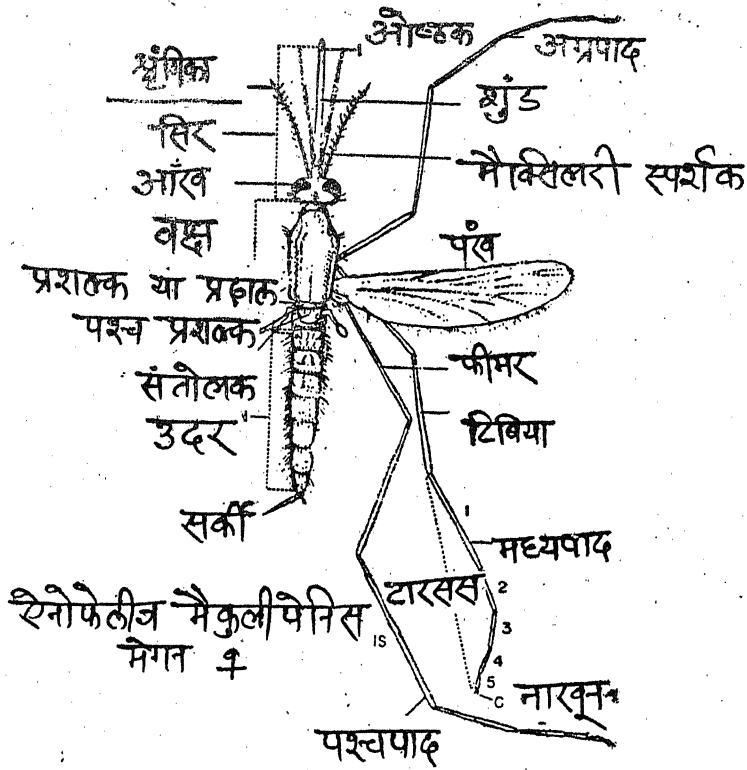
चित्र 3

ये सारे चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं । क्यूलिसिडी कुल के लक्षण इस प्रकार हैं । लम्बी चुभोने वाली **प्रबोसिस** श्रृंगिका घने प्लमोज नर में और पाइलोज रूप लिए मादा में पंख शल्कों के सहित परवर्ती किनारे पर शिरायें भी पायी जाती हैं । डिम्भक और कोशित (प्यूपी) जलीय तथा सक्रिय होते हैं, यह विवरण भी इम्स (Imms) ने दिया है ।

नवीन वर्गीकरण में क्यूलिसिडी को तीन उपकुलों में विभाजित किया गया है। उपकुल-क्यूलिसिनी में तीस जेनेरा हैं। उपकुल-ऐनोफेलाइनी (Anophelinae) में तीन जेनेरा हैं। यथा—**चेगेसिया** (Chagasia), **बिरोनेला** (Bironella) तथा **ऐनोफेलीज** (Anopheles)। उपकुल-टाक्सोराइन्चिटनी में केवल एक जीनस है।

मच्छरों का विवरण, जिसमें **ऐनोफेलीज** भी सम्मिलित है, विश्व साहित्य में बहुतायत में मिलता है। कुछेक लेखकों के लेखों में जैसे—**बेट्स** (1949), **हार्सफाल** (1972), **थामसन** (1951-65) ने इन मच्छरों का विस्तृत विवरण दिया है। "भारतवर्ष में मलेरिया के रोगवाहक" तथा "मच्छरों से उत्पन्न विभिन्न रोग" विशेष रूप से उल्लेखनीय साहित्य हैं।

सम्पूर्ण विश्व में ऐनोफेलीज की 364 जातियाँ पायी जाती हैं, जिसमें से उपजीनस-ऐनोफेलीज में 149 जातियाँ मिलती हैं।

भारतीय ऐनोफेलीज प्राणि समूह

भारतीय प्रायद्वीप में **ऐनोफेलीज** प्राणि समूह (Anopheles Fauna) के लिये भारत, पाकिस्तान, बांग्ला देश, नेपाल और श्रीलंका को सम्मिलित करते हुए **क्रिस्टोफर** (Christopher) ने 1933 में एक वृहत अध्ययन के पश्चात् इनके सम्बन्धों को निकट के उपक्षेत्रों से भी जोड़ा है। **क्रिस्टोफर** ने ही सारणी रूप में जातियों और विविधताओं को भौगोलिक वितरण के आधार पर सूचीबद्ध किया है।

भारतवर्ष, जो कि ओरियन्टल क्षेत्र (प्राणि भौगोलिक व्यवस्था के आधार पर) का भाग है, में कई ऐसी जातियाँ हैं जो कि पूर्व और पश्चिम दोनों में मिलती हैं। यहाँ पर जातियों को तीन मुख्य भागों में विभाजित किया गया है।

1. भारतीय तत्व

वे जातियाँ जिनका वितरण सम्पूर्ण भारत में हैं।

2. पश्चिमी तत्व

वे जातियाँ जिनका वितरण देश के पश्चिमी भाग में है।

3. दक्षिण पूर्व एशियाई तत्व

वे जातियाँ जिनका वितरण दक्षिण पूर्व एशिया के क्षेत्रों में है।

भारतीय तत्व

सम्पूर्ण भारतवर्ष में आच्छादित, वितरण का फैलाव पश्चिम और पूरब तक—
Anopheles annularis
A. culicifacies
A. maculatus viz. willmorei
A. nigerrimus

A. splendus

A. subpictus

सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैले परन्तु फैलाव मुख्यतया देश के पश्चिमी भागों में—

* A. fluviatilis

* A. stephensi

A. barianensis

A. turkhudi

(* थोड़ा सा वर्मा की तरफ फैले।)

O वितरण सम्पूर्ण भारतवर्ष में परन्तु पूर्व की ओर ज्यादा फैले—

A. aitkeni

A. insulaeflorum

A. jamesii

A. tessellatus

A. vagus

A. perllidus

A. jeyporiensis

O वितरण भारत में—ज्यादातर पूर्व भाग में—

A- bengalensis

A. ahomi

O पूर्णतया भारतीय जातियाँ—

A. interrups

A. majidi

O स्थानीय जातियाँ—

A. elegans

A. culiciformis

A. sintoni

A. gigas

O अल्पाइन जातियाँ

A. lindesayii

A. niligiricus

O पश्चिमी तत्व जो कि भारत में मिलते हैं—

A. dtheli

A. multicolor

A. pulcherrimus

कुल 51 जातियों के ऐनोफेलीज मच्छर एक उपजाति का, और पाँच अन्य विविधताओं से युक्त मिलते हैं। इनमें से दस ऐनोफेलोज जाति के मच्छर मलेरिया रोग के पारेषण में सहायक होते हैं। मलेरिया रोग के पारेषण (Transmission) में अवरोध उत्पन्न करने के लिए रोगवाहक (वेक्टर) अर्थात् मच्छरों, का नियन्त्रण करना आवश्यक है। सफलता पूर्वक वेक्टर-नियन्त्रण के लिए आवश्यक है कि लक्ष्य जाति के रोगवाहक (वेक्टर) की पारिस्थितिकी का

समग्र अध्ययन मानव सम्बन्धों के अन्तर्गत् किया जाय, जिससे कि नियन्त्रण विधियों की चयनात्मकता का नियोजन ठीक ढंग से हो सके। साथ ही साथ रोगवाहक के घनत्व में कमी लायी जा सके और रोक के वृद्धि की दर को कम किया जा सके।

● ●

उद्योग

अफ्रीकी घोंघा : विदेशी मुद्रा का अच्छा स्रोत

डॉ० जगदीप सक्सेना

विशाल अफ्रीकी घोंघा महत्वपूर्ण नाशीजीव है। यह कई फसलों को नुकसान पहुँचाता है। इसे कोई 145 साल पहले हिन्दुस्तान लाया गया। अब देश के अनेक हिस्सों में इसका प्रकोप है। घोंघे का प्रसार लगातार बढ़ता ही जा रहा है, फिर भी इस पर काबू पाने के लिए गंभीर प्रयास नहीं किए जा रहे हैं। इस घोंघे का एक दूसरा रूप भी है। यह प्रोटीन का अच्छा स्रोत है। इसे खाया जा सकता है। विदेशों में भी इसकी भारी मांग है। प्रस्तुत है इस घोंघे से जुड़े आर्थिक पहलुओं पर जानकारी।

घोंघे अपनी सुस्त चाल के लिए मशहूर हैं। पर पेड़-पौधों को नुकसान के लिए फर्राटा भरना तो जरूरी नहीं। सुस्त घोंघे फसलों का काफी नुकसान पहुँचाते हैं। इनमें सबसे खतरनाक है विशाल अफ्रीकी घोंघा अकेटिना फुलिका। यह जमीन पर रहने वाला सबसे बड़ा घोंघा है। कोई दस साल पहले पश्चिमी अफ्रीका में इस जाति का साढ़े पंद्रह इंच (39.3 सेमी०) लंबा घोंघा मिला था। इसके खोल की लम्बाई पौने ग्यारह इंच (27.3 सेंटीमीटर) थी और भार था पूरे दो पौंड (900 ग्राम)। यह एक रिकार्ड है। विशाल अफ्रीकी घोंघा मुख्यरूप से पूर्वी अफ्रीका का निवासी है। पर आज यह दुनिया के ज्यादातर देशों में मौजूद है, भारत में भी। यहाँ ये सब्जियों, फलों, फूलों और कई महत्वपूर्ण बागानी फसलों को नुकसान पहुँचा रहे हैं।

विशाल अफ्रीकी घोंघों को हिन्दुस्तान में लाने का कमाल जानबूझ कर अंग्रेजों ने किया डब्ल्यू. एच. बेन्सन नाम के एक अंग्रेज घोंघाविज्ञानी ने। फरवरी 1847 में मारिशस से कुछ घोंघे इकट्ठे किए और संगरोध यानी 'क्वैरे-न्टाइन' के तमाम नियमों को ताक में रखकर कलकत्ता ले आए। इन्हें चौरंगी गार्डन में छोड़ दिया और खुद वापस इंग्लैंड चले गए।

विशाल अफ्रीकी घोंघा पश्चिमी बंगाल और आज के उत्तरी और पूर्वी हिस्सों में व्यापक रूप से मौजूद है पर पश्चिमी जिलों में दुर्लभ है। असम के पश्चिमी भागों में यह सब्जी की फसलों का प्रमुख नाशीजीव है। खासतौर

'सम्प्रेषण,' डी-690, सरस्वती विहार, दिल्ली-110034

से कामरूप और गोलपाड़ा जिलों की हालत काफी खराब है। नई दिल्ली के भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान के वरिष्ठ वैज्ञानिक (अब अवकाशप्राप्त) **डॉ० पी० डी० श्रीवास्तव** ने इन्हें भारी तादाद में गुवाहाटी में भी देखा है। उड़ीसा का बालसोर जिला भी इनसे त्रस्त है। बिहार के कई जिलों में इनकी मौजूदगी देखी गई है, जैसे दरभंगा, मुजफ्फरपुर, मोतिहारी, पूर्णिया, सहसरा और संथाल परगना, नागालैंड के दीयापुर सब-डिवीजन में इसे महत्वपूर्ण नाशीजीव बताया गया है। मेघालय, त्रिपुरा और मणिपुर में भी घोंघे से त्रस्त इलाके देखे गए।

देश के दक्षिणी भागों में कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु में विशाल अफ्रीकी घोंघा मौजूद है। केरल में पालघाट, कोजीकोड, कालीकट, मल्लापुरम् और त्रिचूर में इनकी भारी तादाद है। तमिलनाडु, मद्रास, अन्नामलाई और तम्बारन इससे त्रस्त हैं। कर्नाटक में इसे केवल बंगलोर शहर के आस-पास देखा गया है। अभी तक आन्ध्र प्रदेश में इसके कदम नहीं पड़े हैं। उत्तर प्रदेश के बिजनौर, धामपुर और मुरादाबाद जिलों से घोंघे की मौजूदगी की रिपोर्ट है। पर वहाँ के पहाड़ी इलाके अभी तक इससे बचे हैं।

देश के घोंघा त्रस्त इलाकों में सबसे कम घोंघे नागालैंड के चुमुकेदीमा नामक जगह पर पाए गए—केवल 4.12 प्रति वर्ग मीटर, जबकि सबसे ज्यादा घोंघे बिहार की चौबासा स्थित टेल्को कॉलोनी में थे—38 प्रति वर्ग मीटर। देखा गया है कि जैसे-जैसे ऊंचाई बढ़ती जाती हैं, घोंघों की तादाद घटती जाती है। बारह सौ मीटर से ज्यादा ऊँचाई पर ये जिन्दा नहीं रह पाते। इसका कारण हवा का कम दबाव, ऑक्सीजन की कमी या कम तापमान हो सकता है। वैसे इस पर भली प्रकार अध्ययन नहीं हुआ है।

अंडमान और निकोबार द्वीप समूह विशाल अफ्रीकी घोंघे से बुरी तरह त्रस्त हैं। यहाँ ये अंग्रेजों की नहीं बल्कि जापानियों की देन हैं। यहाँ के बुजुर्ग बताते हैं कि दूसरे विश्व युद्ध से पहले यहाँ घोंघों का नामोनिशान नहीं था।

विशाल अफ्रीकी घोंघे के इतने प्रसार के बावजूद अभी भी इसके फैलाव पर रोक लगाने के लिए कोई कारगर कदम नहीं उठाया गया है और न ही देश में नियमित रूप से इन पर खोज कार्य हो रहा है। वैज्ञानिकों द्वारा पहले ही सुझाए गए प्रबंध उपायों को भी नहीं अपनाया जा रहा है।

हमारे पड़ोसी देश भी विशाल अफ्रीकी घोंघे के प्रकोप से बच नहीं पाए हैं। बंगलादेश, बर्मा, श्रीलंका, मालदीव द्वीप समूह, चीन आदि देशों में यह घोंघा एक समस्या बना हुआ है। हिन्द महासागर के कुछ अन्य द्वीप भी इससे त्रस्त हैं, जैसे सेशेल्स, रियूनियन और मॉरिशस, हांगकांग, ताइवान, थाइलैंड, कंबोडिया, वियतनाम, मलाया, सिंगापुर, इन्डोनेशिया, फीलीपीन्स और जापान जैसे एशियाई देशों के अलावा आस्ट्रेलिया और अमेरिका के कई देशों व द्वीपों में घोंघे की मौजूदगी की खबर है।

एक अफ्रीकी घोंघे **अकेटिका फुलिका** को खेती का महत्वपूर्ण नाशीजीव माना जाता है। यह रोज अपने भार के दस फीसदी के बराबर आहार ग्रहण करता है। गनीमत यह है कि इसमें पेड़-पौधों का हिस्सा केवल एक चौथाई है। बाकी तीन चौथाई आहार के लिए यह गन्दगी और कूड़ा-कर्कट पर निर्भर है। यह पेड़-पौधों के सड़े गले हिस्से, गोबर, मिट्टी, दीवारों की सफेदी, गीले कागज, गत्ते वगैरह बड़े मजे से उदरस्थ करता है। अपनी ही जाति के मरे घोंघों और अन्य प्राणियों को खाने में भी इसे कोई हिचक नहीं।

पेड़-पौधों में भी इसकी पसंद बड़ी व्यापक है। एक विदेशी वैज्ञानिक एफ० जे० ओल्सन ने अपने शोध प्रबंध में 227 ऐसे पौधे गिनाए हैं जिन्हें घोंघा खाता है। इनमें से 177 फूल वाले पौधे यानी एंजियोस्पर्म हैं। ओल्सन ने इनमें से 88 को घोंघे द्वार खाता पसंद किया जाने वाला बताया। एक अन्य प्रसिद्ध घोंघाविज्ञानी ए० आर० मीठ ने घोंघों के 'मीनू' में 86 पौधे दर्ज किए हैं। अपने देश में राउत और फोब ने घोंघों द्वारा नुकसान होने वाले 66 पौधों की सूची तैयार की है। इसमें सब्जी, फल, सजावटी पौधे और आर्थिक महत्व के कुछ अन्य पौधें शामिल हैं। इनमें से कुछ ऐसे हैं, जिन्हें बहुत नुकसान होता है और कुछ की क्षति नगण्य होती है।

पोर्टुलेका को भी घोंघा खूब पसंद करता है। यह इसकी पत्तियाँ, शाखा और कभी-कभी पूरा पौधा खा जाता है। एक अन्य लोकप्रिय सजावटी पौधा 'मनीप्लांट' भी इस घोंघे का प्रिय भोजन है।

फलों में पपीता और केला को विशाल अफ्रीकी घोंघे से काफी नुकसान होता है। पपीते के पौधे को ये पूरा ही खा जाते हैं। पपीते के पेड़ पर चढ़कर फलों और फूलों को भी खा जाते हैं। कभी-कभी ये पपीते के पेड़ की छाल भी खुरच कर खाते हैं। पश्चिम बंगाल के चौबीस-परगना, जलपाइगुड़ी और कलकत्ता में इसके कारण पपीते की बागवानी करना मुश्किल हो रहा है।

ये घोंघे अक्सर केले के पत्तियों पर चिपके देखे गए हैं। जब केले के फल छोटी अवस्था में होते हैं तो ये घोंघे उनके छिलकों को कुतर-कुतर कर खाते हैं, जिससे फलों पर निशान बन जाते हैं। बाजार में ऐसे फलों का कम दाम मिलता है क्योंकि ये देखने में खराब लगते हैं। हालाँकि इनका गूदा ठीक होता है।

कई महत्वपूर्ण बागानी फसलें भी इस घोंघे से प्रभावित होती हैं। कॉफी के पौधे को नर्सरी में इससे नुकसान होता है। इससे बड़े पौधों के नुकसान की कोई खबर नहीं है।

प्रबन्ध के उपाय

वैज्ञानिकों की राय में किसी भी नाशीजीव का सफाया करना संभव नहीं है और न ही ऐसा करना प्रकृति के नियमों के अनुकूल होगा। इसलिए इनका प्रबंध करना चाहिए। इस तरह कि इनकी तादाद हमेशा आर्थिक क्षति-स्तर के नीचे रहे। विशाल अफ्रीकी घोंघे के प्रबंध के लिए कई उपाय सुझाए गए हैं। जैसे--घोंघे और उनके अंडों को इक्ट्ठा करके नष्ट करना, घोंघे पकड़ने को प्रोत्साहित करना और इन्हें पकड़ने का अभियान आयोजित करना। घोंघों के छिपने के ठिकानों को ढूंढ-ढूंढ कर नष्ट करना, ऐसे पौधे उगाना जिन्हें घोंघा न खाता हो, घोंघे के प्राकृतिक शत्रुओं जैसे हरमिट क्रैच, जुगनू, नारियल का केकड़ा, अन्य परभक्षी घोंघे आदि को खेत में छोड़ना तथा रसायनों से नियंत्रण करना। कैल्सियम आर्सिनेट, कॉपर सल्फेट, कार्बोमेट यौगिक (टेमिक, सेविन, मेजोराल) और मैटाल्डिहाइड विशाल अफ्रीकी घोंघे के नियंत्रण में कारगर पाए गए हैं।

बढ़िया आहार

अकेटिना फुलिका का मांस मुर्गियों और सुअरों के लिए बढ़िया आहार है। इसे हम भी खा सकते हैं। दुनिया के कुछ हिस्सों में तो इसे स्वादिष्ट और पौष्टिक 'डिश' के रूप में भी खाया जा रहा है। अगर विशाल अफ्रीकी घोंघे के इन उपयोगों को बढ़ावा दिया जाए तो इन पर काबू पाना बेहद आसान हो जाएगा।

सुखाए गए घोंघे का मांस मुर्गी के अंडे से ज्यादा पौष्टिक पाया गया है। इसमें लाइसीन और अर्जीनीन जैसे उपयोगी अमीनों अम्ल मुर्गी के अंडे की तुलना में क्रमशः 1.33 और 2.33 गुना ज्यादा पाए गए हैं। घोंघे के अधोभाग (फुट) और आन्तरांगों (विसम्ल मांस) में लगभग 61 प्रतिशत प्रोटीन पाई गई है। वैज्ञानिकों ने इसे एक ऐसी जीवित मशीन बताया है, जो कूड़े-कर्कट और गन्दगी को प्रोटीन में बदलती है ।

घोंघे का व्यापार

पिछले दो दशकों से विशाल अफ्रीकी घोंघे का व्यापार लगातार बढ़ता जा रहा है। आठवें दशक के अंत में तुर्की, युगोस्लाविया और रूमानिया ने फ्रांस को चालीस हजार टन थल घोंघों का निर्यात किया था। हाल में अमेरिका और कनाडा में इनकी माँग तेजी से बढ़ी है। ये देश हर साल सैकड़ों टन घोंघे आयात करते हैं। ताइवान द्वारा छोटे-छोटे घोंघे जमाकर डिब्बों में बन्द करके निर्यात किए जाते हैं। चीन का हवाई द्वीप भी ऐसा ही कर रहा है। थाइलैंड और जावा से बड़े पैमाने पर घोंघों का निर्यात हो रहा है।

विदेशी मुद्रा का स्रोत

भारत से भी विशाल अफ्रीकी घोंघे के निर्यात की अपार संभावनाएँ हैं। इस तरह इनसे बहुमूल्य विदेशी मुद्रा कमाई जा सकती है। कोई बीस साल पहले अंडमान से घोंघों को फ्रांस निर्यात करने की कोशिश की गई थी, पर कुछ कारणों से तब बात बनी नहीं। अब फिर से इस ओर प्रयास शुरू किए गए हैं। समुद्री उत्पाद निर्यात विकास प्राधिकरण को विदेशों से घोंघे के संसाधित मांस के आर्डर मिल रहे हैं।

○○

कितने सुरक्षित हैं वातानुकूलित कमरें ?

राजेन्द्र कुमार राय

[गर्मियों का मौसम पहाड़ पर बिताना अब अमीरों की भी पहुँच के बाहर होता जा रहा है, इसलिए नहीं कि वे आवश्यक धन नहीं जुटा सकते बल्कि इसलिए कि वे अपने व्यापार से दूर नहीं रहना चाहते। जितने दिन दूर रहेंगे उतनी ही कमाई का नुकसान होगा। इसी से हमारे समाज में वातानुकूलन का चलन बढ़ चला है। पर ठंडा, और आरामदायक वातानुकूलित यह वातावरण इसमें रहने वाले लोगों के लिए कितना स्वास्थ्यकर है ? आइए जानें।]

बढ़ती हुई गर्मी के साथ शानदार वातानुकूलित भवनों का वैभव आम आदमी के दिलो-दिमाग पर छाना शुरू हो गया है, क्योंकि आम विश्वास यह है कि गर्मियों में वातानुकूलित इमारतें ठंडी और आरामदायक रहती हैं और उनके भीतर का वातावरण भी बाहर के धूल भरे वातावरण से कहीं अधिक साफ-सुथरा रहता है।

'सम्प्रेषण', डी-690, सरस्वती विहार, दिल्ली-110034

वातानुकूलित घरों में रहने वाले पैसे वाले लोग अक्सर शान से कहा करते हैं, "भाई, हमारा शिमला तो हमारा अपना घर है। एअरकन्डीशनर चलाया और घर शिमला बना।" किन्तु इधर हाल के वर्षों में जो तथ्य प्रकाश में आए हैं उनसे पता चला है कि आलीशान वातानुकूलित इमारतों के वातावरण में 'सूक्ष्म प्रदूषण' रहता है और गर्मी से बचने के लिए अपना अधिकांश समय वातानुकूलित इमारतों में गुजारने वाले लोगों के लिए यह 'सूक्ष्म प्रदूषण' दिल्ली जैसे प्रदूषित शहर की हवा से भी कहीं अधिक हानिकारक सिद्ध हो सकता है।

आजकल ऊर्जा की कीमत में लगातार बढ़ोत्तरी होने के कारण हम ऊर्जा की बचत करना चाहते हैं। वातानुकूलित इमारतों में ऊर्जा की बचत करने के लिए ताजी हवा के संचार को रोककर ऊष्मा हानि को कम से कम करने की कोशिश की जाती है। इन बचत उपायों का सीधा असर इमारतों के भीतर की हवा पर पड़ता है।

समझा जाता है कि वातानुकूलन की जिन प्रणालियों में हवा को छानकर साफ रखा जाता है उनसे थोड़ी बहुत शुद्ध ताजी हवा मिलती है। लेकिन बात ऐसी नहीं है। साधारण ताजी हवा में नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, कार्बन डाइऑक्साइड के अलावा आर्गन और ओजोन गैसें, कुछ खनिज और अल्प मात्रा में कार्बनिक पदार्थ रहते हैं।
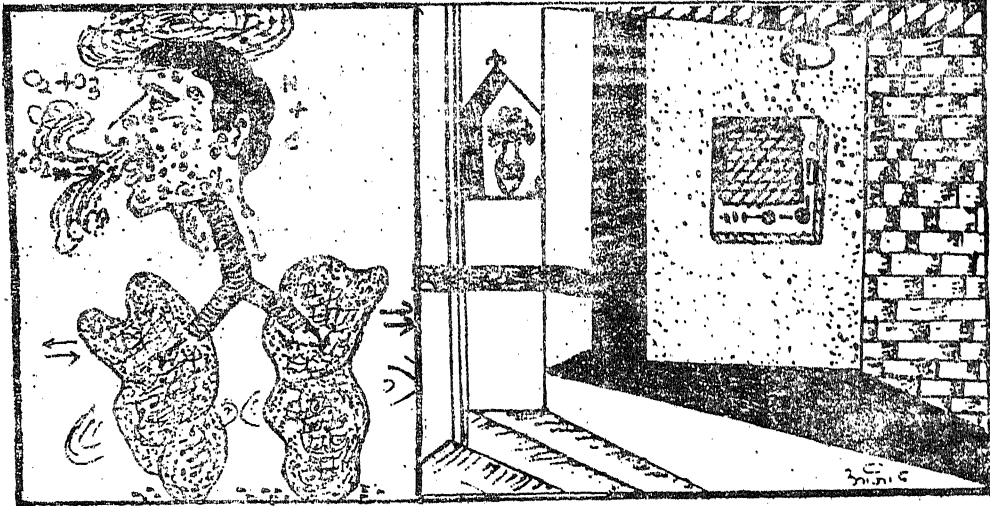
प्रदूषित वायु का सेहत पर प्रभाव　　　　वातानुकूलित कमरे की सुरक्षा पर प्रश्न चिन्ह

प्रदूषण के कारण

इधर इमारतों में इस्तेमाल होने वाले प्लास्टिक, रंग-रोगन, रसायन दीवारों, छतों और फर्शों पर लगे सिन्थेटिक पदार्थ आधुनिक फर्नीचर आदि घर की हवा में अपने सूक्ष्म कण झाड़ते हैं या सूक्ष्म पैमाने पर किसी दूसरे पदार्थ अथवा गैस से रासायनिक क्रिया कर जाते हैं और कमरे में सूक्ष्म प्रदूषण का वातावरण बना देते हैं।

इस प्रकार हमारे वातानुकूलित कमरे की तथाकथित 'ताजी हवा' वास्तव में नाइट्रोजन ऑक्साइड, कार्बन मोनोऑक्साइड, कार्बन डाइऑक्साइड और फार्मेल्डिहाइड जैसी गैसों से संदूषित रहती हैं। इसके अलावा वातानु-

कूलित कमरों में रेडोन नामक एक रेडियोसक्रिय गैस भी मौजूद रह सकती है। इसकी अर्धआयु लगभग 8 दिन होती हैं। जब इसका क्षय होता है तो रेडियोसक्रिय आयन बनते हैं जो धूल के कणों के साथ भीतर चिपक जाते हैं। वैज्ञानिकों के मत में इस प्रकार के धूल के कण सांस के साथ भीतर जा फेफड़ों में जम जाते हैं, जिससे कैंसर का खतरा उप-स्थित होता है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक मासिक पत्रिका 'आविष्कार' में छपे श्री राघवेन्द्र कुमार शर्मा के एक लेख के अनुसार वातानुकूलित भवनों के बारे में इस जानकारी के प्रकाश में आने की भी अपनी एक कहानी है। बात सन् 1977 की शरद ऋतु की है। उस वर्ष स्वीडेन में स्टाकहोम नगर के दो अत्याधुनिक 'डे केयर' नर्सरी स्कूलों में घटी वह एक ऐसी असाधारण घटना थी जिसने उन स्कूलों में वातानुकूलन के कारण पैदा हो जाने वाले 'सूक्ष्म प्रदूषण' का पर्दाफाश किया।

इन नर्सरी स्कूलों में नौ माह से छः वर्ष की उम्र तक के बच्चे रहते-रहते थे। उस वर्ष शरद ऋतु में इन बच्चों ने नाक, कान और गले में जलन होने की शिकायत की, उनके हाथों, पैरों और छाती पर लाल ददोड़ निकल आए। इसी तरह की शिकायतें स्कूल में काम करने वाले कम उम्र के अध्यापकों और कर्मचारियों से भी सुनने को मिलीं। जब ये 'डे केयर' स्कूल पाँच दिन काम करके शनि और रविवार को बंद रहते हैं तो इन दिनों में बच्चों, अध्यापकों और कर्मचारियों की सब शिकायतें दूर हो जाती हैं।

इसके लगभग चार साल के भीतर ऐसे ही करीब 40 वातानुकूलित नर्सरी स्कूलों के 2000 बच्चे और युवा अध्यापक व कर्मचारी ठीक ऐसी ही रहस्यमय घटना के फिर शिकार बन गए। वे भी उपरोक्त जैसे ही कष्टकारी लक्षणों से पीड़ित थे।

वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल

इस प्रकार की ऊजीबोगरीब बीमारी का कारण स्वास्थ्य अधिकारियों के हाथ लगने पर मामला वैज्ञानिक अनुसंधानकर्ताओं को सौंपा गया। आरंभ में तो वैज्ञानिक इस बात पर विश्वास न कर सके कि इन घटनाओं का संबंध स्कूलों के अन्दर की हवा से हो सकता है। वैज्ञानिक भी अपने इस विश्वास में दृढ़ थे कि आधुनिक सुख-सुविधाओं से सुसज्जित वातानुकूलित कमरों की हवा शुद्ध बनी रहती है। पर जब एक दोपहर एक रसायन वैज्ञानिक सुश्री इन्गेगर्ड जोइनसन, एक नर्सरी स्कूल में इन घटनाओं की जाँच कर रही थीं, वे स्वयं भी अपने दो बच्चों के साथ उपरोक्त लक्षणों की शिकार बन गईं। तब उन्हें हवा के प्रदूषित होने का विश्वास हुआ। इसके बाद वैज्ञानिक यह जानकर चौंक उठे कि जिन वातानुकूलित इमारतों में हम अपना 80-90 प्रतिशत वक्त गुजारते हैं उन्हीं में यह सूक्ष्म प्रदूषण छिपा बैठा रहता है।

अनुसंधानकर्ताओं ने पाया कि 'डे-केयर' स्कूलों के वातानुकूलित बन्द कमरों में संचारित हवा में बाहर की हवा की तुलना में करीब दो गुने अधिक संदूषक पदार्थ थे। रंग-रोगन और इमारतों तथा कई कामों में बड़े पैमाने पर इस्तेमाल होने वाले रसायन भी वातानुकूलित कमरों के अन्दरूनी वातावरण में पाए गए। इन कमरों के भीतरी वातावरण में 21 ऐसे पदार्थ पाए गए जिनकी मात्रा बाहरी वातावरण में मौजूद उनकी मात्रा से दोगुनी थी।

बन्द वातानुकूलित कमरों में जिन नए पदार्थों की उपस्थिति अब पाई गई है उनकी मात्रा इन कमरों में बहुत ही कम पाई गई। कारण वैज्ञानिकों का अनुमान है कि अभी हाल के वर्षों में ऊर्जा संकट के कारण भी शायद वातानुकूलन के क्षेत्र में कोई अचीन्हा पदार्थ पैदा हो गया है।

स्टाकहोम के बन्द वातानुकूलित वातावरण की जाँच करने के लिए एक अति आधुनिक चलती-फिरती प्रयोगशाला का इस्तेमाल किया जा रहा है। इस प्रयोगशाला ने कई चौंका देने वाले तथ्य उजागर किए हैं। एक परीक्षण में एक दफ्तर की इमारत की हवा का विश्लेषण करने पर पता चला कि उस इमारत के भीतरी वातावरण में संदूषण की मात्रा न केवल बाहर व्याप्त संदूषण की मात्रा से कहीं ज्यादा थी, बल्कि इमारत के भीतरी वातावरण में कई ऐसे नए संदूषक तत्व भी मौजूद थे जो बाहर की खुली हवा में नहीं होते। वैसे उस इमारत में यह दोष तो अवश्य था कि ऊर्जा को बचाने के लिए इमारत के अन्दर की आधी हवा को उसी से वापस संचारित किया जा रहा था, किन्तु वातावरण की जाँच करने वाले दल की एक सदस्या सुश्री जोहन्सन के अनुसार, "एक वैज्ञानिक होने के नाते हमने तो यही सोचा था कि इस दफ्तर का वातावरण बाहरी वातावरण के मुकाबले कहीं अच्छा होना चाहिए।"

इस प्रकार बंद वातानुकूलित कमरों में सूक्ष्म प्रदूषण संबंधित विज्ञान के क्षेत्र में लगातार अनुसंधान करते रहने की जरूरत है। इसका कारण यह है कि ऊर्जा निरंतर मंहगी होती जा रही है और हर साल अनेक नए रसायन तथा तरह-तरह की नई संश्लेषित सामग्रियाँ बाजार में आती हैं। जीवन का अधिकांश समय बन्द वातानुकूलित कमरों में बिताने वालों के स्वास्थ्य के लिए यह बहुत जरूरी है कि इस बात की हमें जानकारी रहे कि इन नए रसायनों का वातानुकूलित वातावरण पर क्या प्रभाव पड़ता है।

■ ■

विस्फोट

'आर डी एक्स' में छिपा दैत्य !!

रामसूर्ति

राजीव गाँधी और प्रेमदास की हत्या तथा बम्बई में कई स्थानों पर हुए विस्फोटों की गूँज अभी भी लोगों को सुनाई देती है। इन विस्फोटों के लिए 'आर डी एक्स' नामक विस्फोटक का इस्तेमाल किया गया। आखिर यह आर डी एक्स है क्या बला ?

बम्बई के स्टॉक एक्सचेंज तथा कई अन्य प्रमुख स्थानों पर एक साथ हुए विस्फोटों के आतंक एवं जान-माल के नुकसान ने न केवल भारत की आर्थिक राजधानी बम्बई के लोगों के दिलों को दहलाकर रख दिया, बल्कि इससे

'सम्प्रेषण', डी-690, सरस्वती विहार, दिल्ली--110034

पूरे देश में दहशत फैल गई थी । इससे कुछ ही दिनों पूर्व जब न्यूयार्क के 'विश्व व्यापार केन्द्र' की बहुमंजिली इमारत में विस्फोट हुआ था, तो पूरे अमेरिका में खलबली मच गई थी । ये दोनों विस्फोट अत्याधुनिक तकनीकों और विस्फोटकों से किया गया था ।

सी बी आई की एक शाखा केन्द्रीय अंगुलीछाप विज्ञान प्रयोगशाला (सी एफ एस एल) के विशेषज्ञों की जाँच से पता चला है कि ये विस्फोट कुछ प्रमुख उच्च-विस्फोटकों के द्वारा सुनियोजित तरीके से कराये गये हैं । ये विस्फोट निम्नांकित हैं--टी एन टी, नाइट्रोग्लिसरीन (एन जी), पी ई टी एन तथा मुख्य रूप से आर डी एक्स एवं प्लास्टिक बान्डेड विस्फोटक । इन विस्फोटों में आर डी एक्स का नाम सहसा चौंका देता है, क्योंकि पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गाँधी की हत्या में आर डी एक्स विस्फोटक का ही इस्तेमाल किया गया था । यह भारत में आर डी एक्स विस्फोट की पहली घटना थी । आर डी एक्स बहुत खतरनाक और आधुनिक विस्फोटक है । इन विस्फोटों में प्रचण्ड शक्ति होती है जो क्षण भर में तबाही ला देते हैं । इन विस्फोटकों को निश्चित समय पर विस्फोट कराने के लिए एक अत्याधुनिक युक्ति 'टाइमर' का प्रयोग किया जा रहा है । हाल ही में श्रीलंका के राष्ट्रपति आर० प्रेमदास की हत्या में भी इन्हीं विस्फोटकों का इस्तेमाल किया गया । आर डी एक्स को और रसायनों के साथ मिलाकर किसी आकृति में ढालकर रख देने के बाद इसका पता 'मेटल डिक्टेटर' से भी नहीं लग पाता ।

भारत के लिए आर डी एक्स विस्फोटक नया है । लेकिन पश्चिमी देशों में इसका प्रयोग धड़ल्ले से सैनिक तथा असैनिक कार्यों में किया जाता है । अब भारत में भी आर डी एक्स के संबन्ध में दिलचस्पी बढ़ी है । आखिर यह आर डी एक्स है क्या ? ये सभी विस्फोटक कार्बनिक नाइट्रिक यौगिक विस्फोटक हैं । आर डी एक्स उपरोक्त सभी विस्फोटाकों में सबसे अधिक गति से यानि 1.7 ग्राम प्रति घन सेमी० घनत्व पर लगभग 8750 मीटर प्रति सेकेण्ड की रफ्तार से आग फैलाने की शक्ति रखता है ।

आर डी एक्स देखने में रंगहीन क्रिस्टल होते हैं । सर्वप्रथम 1899 में हेक्सामीन में सान्द्र नाइट्रिक अम्ल डालने से आर डी एक्स के क्रिस्टल जर्मनी के वैज्ञानिक हेनिंग को प्राप्त हुए । इसकी उपयोगिता को देखते हुए इसके बड़े पैमाने पर निर्माण की प्रक्रिया में अनेक बाधाएँ आयीं । तब कनाडा तथा अमेरिका में इसको बनाने की दो अन्य विधियाँ विकसित की गयीं । आर डी एक्स के अधिक संवेदनशील होने के कारण इसे अकेला प्रयोग करना कठिन होता है । अतः इसमें मोम या अन्य असंवेदनशील पदार्थ मिला कर इसका सुरक्षित विस्फोट किया जाता है ।

हमारे यहाँ जो विस्फोटक आर डी एक्स के नाम से जाना जा रहा है उसे अमेरिका में 'साइक्लोनाइट', जर्मनी में 'हेक्सोजन' या 'ट्राइमेथिलीन' जबकि इटली में इसे 'टी-4' के नाम से जाना जाता है । उच्च शक्ति के विस्फोटक आर डी एक्स के साथ प्लास्टिक पदार्थ जैसे—पॉलिब्यूटाईन, ऐक्रिलीक अम्ल या पॉलियूरेथेन को मिलाकर 'प्लास्टिक बान्डेड एक्सप्लोसिव' बनाया जाता है । इस विस्फोटक का भी प्रचलन आजकल विनाशकारी विस्फोटों में हो रहा है । इसके एक रूप को 'सी-4' भी कहते हैं । इसके तापमान तथा आग फैलाने की गति को बढ़ाने के लिए इसमें ऐल्युमिनियम चूर्ण को मिलाया जाता है । 'प्लास्टिक विस्फोटक' का प्रयोग हमारे देश के आतंकवादी संगठन अक्सर करते रहे हैं । इस विस्फोटक को कठोर या रबर की तरह लचीला बनाया जा सकता है, यह इसकी एक बड़ी विशेषता है ।

बम्बई-स्टॉक एक्सचेंज पर हुए विस्फोटों के विस्फोटकों के विषय में विशेषज्ञों की राय है कि यहाँ जो विस्फोट हुआ वह नाइट्रोग्लिसरीन पर आधारित आर डी एक्स विस्फोटक था। आर डी एक्स की विस्फोटी उष्मा 1510 किलो कैलरी प्रति किलोग्राम मापी गई है।

आर डी एक्स के साथ प्रयोग की गयी नाइट्रोग्लिसरीन के क्रिस्टल हल्के पीले रंग के होते हैं। यह अन्य उच्च-विस्फोटकों की तुलना में एक अच्छा प्रज्वालक है। यह सर्वप्रथम 1847 में इटली के वैज्ञानिक ऐस्कैनिओ द्वारा बनाया गया था। यह 'ट्राइनाइट्रेट' नाम से भी जाना जाता है। इसके साथ आर डी एक्स की सम्पूर्ण विस्फोटी प्रक्रिया सेकेण्ड के एक अंश में ही पूरी हो जाती है।

कार विस्फोटकों में 'टी एन टी' (ट्राइनाइट्रो टालूईन) विस्फोटक मुख्य है। यह सर्वप्रथम 1863 में विलब्रांड द्वारा तैयार किया गया था। टी एन टी का गलनांक कम होने से इसे आसानी से उड़ेल कर किसी भी जगह भरा जा सकता है। यही कारण है कि इसका प्रयोग कार विस्फोटकों में ज्यादा किया जाता है। इसकी आग फैलाने की क्षमता 1.6 ग्राम प्रति घन सेमी घनत्व पर 6900 मीटर प्रति सेकेंड है। यह विषालु पदार्थ त्वचा से स्पर्श द्वारा या साँस द्वारा शरीर के अन्दर जाने से पाचन तंत्र, हृदय, यकृत तथा श्वेत रक्त कणिकाओं को प्रभावित करता है। यह 'ट्रोटिल', 'ट्राइनाल' आदि नामों से भी जाना जाता है। एक अन्य घातक विस्फोटक 'पी ई टी एन' (पेन्टा एरिथिटॉल टेट्रा नाइट्रेट) भी है। इसके द्वारा आग फैलाने की गति 1.7 ग्राम प्रति घन सेमी के घनत्व पर 8400 मीटर प्रति सेकेण्ड है, टी एन टी से बहुत ज्यादा। इसे आजकल 'सेमेटेक्स' नाम से जाना जा रहा है।

इन उच्च-विस्फोटकों की विस्फोट प्रक्रिया से उत्पन्न ऊर्जा, ताप, आग व तीव्र आवाज की विनाशलीला को देखते हुए यह लगता है कि इन विस्फोटकों को बना कर मानव ने अपने स्वयं के तथा इस खूबसूरत पृथ्वी के विनाश को आमंत्रण दे दिया है।

■ ■

प्रो० शिवगोपाल मिश्र सम्मानित

शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद के पूर्व निदेशक एवं विज्ञान परिषद् प्रयाग के पूर्व प्रधानमंत्री प्रो० शिवगोपाल मिश्र को केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा वैज्ञानिक एवं तकनीकी साहित्य और उपकरण विकास के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य के लिये वर्ष 1993 के "आत्माराम पुरस्कार" से सम्मानित करने का निर्णय लिया गया है। इस सम्मान स्वरूप आपको रु० 15,000/-, एक शाल तथा प्रशस्ति पत्र प्रदान किया जायेगा। यह सम्मान समारोह 14 सितम्बर 1993 को राष्ट्रपति भवन में सम्पन्न होगा तथा माननीय श्री अर्जुन सिंह, अध्यक्ष, केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण मण्डल, आगरा एवं मानव संसाधन विकास मंत्री, भारत सरकार द्वारा प्रदान किया जायेगा। विज्ञान परिषद् परिवार की ओर से प्रो० मिश्र को बधाई एवं दीर्घायु की शुभ कामना।

सेहत

महिलाओं की नई 'सहेली'

सुशीला कुमारी

भारतीय महिलाओं के पास अब जल्द ही इनकी एक नई नवेली 'सहेली' आने वाली है। यह 'सहेली' उन्हें रोज-रोज परम्परागत गर्भनिरोधक गोलियाँ खाने के झंझट से छुटकारा तो दिलायेगी ही, साथ ही साथ इन गोलियों के सेवन से होने वाली उल्टी, मिचली, बदन में कमजोरी और मासिक-चक्र की अनियमितता जैसी परेशानियों और वजन बढ़ने या घटने, रक्तस्राव और कैंसर जैसे दुष्प्रभावों से भी बचायेगी।

चौंकिये नहीं यह 'सहेली' हाड़-मास की बनी कोई युवती नहीं, बल्कि रासायनों से बनी पहली और गैर स्टेरॉयडल और गैर हार्मोनल गर्भनिरोधक गोली है, जिसे परम्परागत 'स्टेरॉयडल और हार्मोनल' गर्भनिरोधक गोलियों की तरह रोजाना नहीं, बल्कि सप्ताह में सिर्फ एक बार खाना पड़ता है।

उत्तर भारत में 'सहेली' और दक्षिण भारत में 'च्वॉइस-सेवन' के व्यापारिक नाम से बेची जाने वाली इस विशिष्ट किस्म की गर्भनिरोधक गोली का विकास वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् (सी०एस०आई०आर०) के एक प्रमुख अनुसंधान संगठन 'केन्द्रीय औषधि अनुसंधान संस्थान' (सी०डी०आर०आई०) ने किया है। अभी हाल के परीक्षणों से पता चला है कि यह गोली कैंसर सम्बन्धी दुष्प्रभाव तो पैदा नहीं करती, बल्कि छाती के कई तरह के कैंसर के इलाज में भी उपयोगी है।

यह गोली दोनों तरह की परम्परागत स्टेरॉयडल और हार्मोनल गर्भनिरोधक गोलियों—ओस्ट्रोजेन और प्रोजेस्ट्रोजेन के विपरीत निषेचित डिम्ब को गर्भाशय के सम्पर्क में आने से रोक कर गर्भ धारण नहीं होने देती है, जबकि परम्परागत गोलियाँ औरतों के शरीर के उपापचय (मेटॉबालिज्म) में परिवर्तन करके शरीर में गर्भधारण की पूर्व स्थितियाँ कृत्रिम तौर पर उत्पन्न करके डिम्ब उत्सर्जन (ओवुलेशन) को रोकती हैं।

ओस्ट्रोजेन हार्मोन तथा प्रोजेस्टाजेन हार्मोन से बनायी गई गोलियाँ शरीर में संश्लेषित हार्मोन का एक निश्चित स्तर बरकरार रखकर गर्भ ठहरने से रोकती है, जिससे सामान्य मासिक-चक्र में गड़बड़ी हो जाती है और उनका सेवन करने वाली महिलाओं को उनके शरीर व मानसिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। यह गोली डिम्ब उत्सर्जन को रोक देती है। दूसरी तरफ केवल प्रोजेस्ट्रोजेन हार्मोन से बनायी गयी परम्परागत गोली गर्भाशयी ग्रीवा के श्लेष्मा (म्यूकस) को इतना मोटा बना देती है ताकि शुक्राणु इसे पार नहीं कर पायें।

सी०डी०आर०आई० के वैज्ञानिकों के अनुसार 'सेंटक्रोमैन' के वैज्ञानिक नाम से जानी जाने वाली नयी गर्भनिरोधक गोली अंडाशयों अथवा पीयूष ग्रन्थि के कार्यों को प्रभावित नहीं करती बल्कि गर्भाशय के स्तर (लाइनिंग) में ओस्ट्रोजेन रिसेप्टर को बन्द कर देती हैं, जिससे निषेचित डिम्ब गर्भाशय में नहीं पहुँच पाती और इस तरह गर्भ नहीं ठहरता।

'सेंटक्रोमैन' मासिक-चक्र को प्रभावित नहीं करता। परीक्षणों के दौरान सिर्फ आठ प्रतिशत महिलाओं का मासिक-चक्र सामान्य से लम्बा पाया गया। सी०डी०आर०आई० के अनुसार 'सेंटक्रोमैन' मिचली, कै, चक्कर आने, वजन बढ़ने और रक्तस्राव जैसी समस्यायें पैदा नहीं करता है।

'सेन्टक्रोमैन' की गर्भ-निरोधक क्षमता की जाँच के लिये किये गये परीक्षणों से पाया गया कि महिलायें अगर पहले तीन महीनों के दौरान प्रत्येक सप्ताह एक या दो बार 30 मिलीग्राम 'सेन्टक्रोमैन' की खुराक लें तथा बाद के महीनों में प्रत्येक सप्ताह एक बार यह खुराक लें तब उन्हें सम्पूर्ण गर्भनिरोधक सुरक्षा मिल सकती है।

परीक्षण से यह भी पाया गया है कि अगर कोई महिला यौन-संबन्ध स्थापित होने के 24 घंटे के भीतर 'सेन्टक्रोमैन' की 60 मिलीग्राम की खुराक ले लें तब गर्भ ठहरने की आशंका दूर हो जाती है। 'सेन्टक्रोमैन' का संश्लेषण रेसोरसिनोल नामक मूल घटक से किया जाता है। इसके संश्लेषण के दौरान मुश्किल से दस प्रतिशत आयातित रासायनों का इस्तेमाल होता है। इसका पहली बार संश्लेषण 20 वर्ष से अधिक समय पूर्व सी० डी० आर० आई० के वैज्ञानिक डॉ० नित्यानन्द के नेतृत्व में किया गया और तभी से इसे विकसित करने का काम चल रहा है।

भारत सरकार के ओषधि नियंत्रक ने इस नई गोली की बिक्री की मंजूरी दे दी है, हालाँकि इसे बाजार में नहीं भेजा गया है। इसे बिक्री के लिये बाजार में भेजे जाने के पूर्व इसके प्रभावों और दुष्प्रभावों के संबन्ध में गहन परीक्षण कर लिया जाना जरूरी है। केन्द्र सरकार के स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय की विशेषज्ञ समिति की हाल की एक बैठक में 'सेन्टक्रोमैन' को राष्ट्रीय परिवार कल्याण कार्यक्रम में शामिल किये जाने के संबन्ध में मंजूरी दी गई। ओषधि नियंत्रक ने मंत्रालय के सामाजिक विपणन कार्यक्रम के तहत बेचे जाने के लिए भी आवश्यक मंजूरी दे दी है। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम हिन्दुस्तान लैक्टेक्स लिमिटेड (एच०एल०एल०) को इसकी बिक्री का लाइसेंस दे दिया गया है। विदेशों में इसकी बिक्री के लिये अनेक दवा कम्पनियों के साथ बातचीत चल रही है। 'सहेली' ने विदेशी उपभोक्ताओं, वैज्ञानिकों और दवा कम्पनियों का मन मोह लिया है और उन्होंने इसकी प्रौद्योगिकी के हस्तांतरण में काफी दिलचस्पी दिखायी है। देखना है कि यह 'सहेली' भारतीय और विदेशी महिलाओं का दिल जीत पाने में सफल होती है या नहीं।

○○

शेष पृष्ट 32 का

अन्य समस्याओं में स्प्रे के प्रति जनता का प्रतिरोध भी है। सामान्यतया जनता स्प्रे के कार्य में सहयोग नहीं करती हैं और पशुशालाओं में ही छिड़काव करवाती है। इसका परिणाम यह होता है कि पशुओं के स्थानों पर पाये जाने वाले मच्छरों का गमन मनुष्योचित आवासों में हो जाता है। ग्रामीण जनता स्प्रे की नयी सतह को सांस्कृतिक कार्यक्रमों या अन्य धार्मिक उत्सवों के समय लेप देती है। फलस्वरूप दीवाल इत्यादि पर कीटनाशक नहीं रह जाते हैं। अतएव मच्छर अपना सम्पूर्ण जीवन पूरा करते हुए रोंग के वृद्धि में सहायक होते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मच्छर भी अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहे हैं और वे वे मनुष्यों की तरह अपने को स्थितियों के अनुरूप ढालने के लिए कठिन परिश्रम कर रहे हैं। भविष्य ही इसका निर्धारण करेगा कि इस लड़ाई में कौन जीतता है, मच्छर या मनुष्य ?

□□

कम नमक खाएँ उम्र बढ़ाएँ

वो० ग्रांट

सेहत और स्वाद दोनों के लिए नमक जरूरी है लेकिन इसका अत्यधिक सेवन शरीर के लिये हानिकारक भी है। नमक का अत्यधिक सेवन शरीर के लिए कितना हानिप्रद है इस बात का अन्दाज इसी तथ्य से लगा सकते हैं कि कम मात्रा में नमकयुक्त भोजन खाने से उम्र में 25 वर्ष की वृद्धि हो सकती है।

यह सत्य है कि नमक और अन्य खनिज के सेवन के अभाव में बेहोशी जैसी स्थिति भी आ सकती है। वास्तव में जो लोग शारीरिक परिश्रम करते हैं, उनके शरीर से अत्यधिक पसीना निकलता है, और व्यक्ति के शरीर से जितना अधिक पसीना निकलता है, वह नमक का सेवन उतना अधिक करता है।

डॉक्टर सदैव अधिक नमक और सोडियम क्लोराइड का सेवन करने से मना करते हैं। वास्तव में वह ऐसा इसलिये कहते हैं क्योंकि उन्हें पता है कि अधिक नमक का सेवन करने से व्यक्ति को उच्च रक्तचाप की शिकायत हो जाती है।

अधिकांश लोग प्रतिदिन लगभग 12 ग्राम नमक का सेवन करते हैं। इसका एक तिहाई भाग तो हमें प्रतिदिन के भोजन से मिल जाता है और एक तिहाई भाग विशेष प्रक्रिया से तैयार आहार (प्रासेस्ड फूड) से मिल जाता है। इसके अतिरिक्त थोड़ी मात्रा में कुछ लोग भोजन में नमक अलग से मिलाते हैं।

हमें नमक खाने की इस तरह आदत पड़ चुकी है कि खाने से पहले चखकर नमक की मात्रा तक नहीं देखते हैं। यदि आप कम नमक खाना चाहते हैं तो पहले भोजन को चखने की आदत डालिये। अगर दृढ़ प्रतिज्ञ हैं तो भोजन में नमक की मात्रा कम कीजिये या नमक खाने की आदत छोड़ दीजिये।

वास्तव में नमक का छोड़ना ठीक उसी तरह से है जैसे लोग शक्कर का सेवन करना छोड़ देते हैं। अगर आप नमक की जगह जड़ी-बूटी और मसालों का सेवन शुरू कर दें तो कुछ समय के उपरान्त आप का ध्यान स्वतः ही नमक की तरफ नहीं जायेगा, क्योंकि तब तक आप नमक रहित भोजन के अभ्यस्त हो चुके होंगे। इस प्रकार के भोजन से स्वास्थ्य अच्छा बना रहेगा।

आप अपने भोजन को स्वादिष्ट बनाने के लिए पतले प्याज और अल्प मात्रा में लहसुन मिलायें। ऐसा करने से आप चिरकाल तक तंदरुस्त बने रहेंगे और शरीर के विभिन्न अवयव भी स्वस्थ बने रहेंगे। अगर आप तीखे एवं स्वादिष्ट भोजन का आनन्द लेना चाहते हैं तो उसमें पीसी काली मिर्च को मिला सकते हैं। खाते वक्त भोजन पर थोड़ा सा नींबू का रस निचोड़ने से भोजन स्वादिष्ट लगेगा और नमक की आवश्यकता भी महसूस नहीं होगी।

सम्प्रेषण, डी-690, सरस्वती विहार, दिल्ली-110034

अगर आपको अचार अत्यधिक पसन्द है तो नेस्ट्रिशियम के बीज (जलकुम्भी का तरह का पौधा) का स्वादिष्ट एवं तीखा अचार घर पर तैयार किया जा सकता है। मुट्ठी भर बीज लेकर उसे एक सप्ताह या कुछ अधिक दिनों तक सिरकें में डूबे रहने दें। इसमें न्यूनतम मात्रा में नमक मिलाया जा सकता है। नेस्ट्रिशियम की पत्ती का सलाद और सैंडविच तैयार करने में उपयोग किया जा सकता है। इसका सैंडविच अत्यन्त स्वादिष्ट लगेगा। अब प्रश्न उठता है प्याज और लहसुन के अतिरिक्त नमक की जगह हम किन-किन चीजों को उपयोग में ले सकते हैं? ताजा पीसा लौंग, साबूदाना, अजवायन, दालचीनी, काली मिर्च और सम्पूर्ण जड़ी-बूटी से प्राप्त मसालों को उपयोग में लाया जा सकता है।

मांस नमक लगाकर सुरक्षित नहीं करना चाहिए। सदैव काली मिर्च, साबूदाना तथा पीसे हुए मशरूम को उपयोग में लेना चाहिए। मछली को आप नमक रहित पका कर भी खा सकते हैं। यह स्वादिष्ट लगती है। अलग-अलग पेय पदार्थों में सोडियम की मात्रा भी अलग-अलग होती है। कुछ पेय प्राकृतिक रूप कार्बोनेट युक्त होते हैं साथ ही वे नमक रहित भी होते हैं, जबकि कुछ में नमक की मात्रा उपस्थित होती है। अतः ऐसे पेय को खरीदने से पहले बोतल पर दी गयी सूचना को अच्छी तरह पढ़ लेना चाहिये।

नमक रहित भोजन खाने के लिए सोडियम साइक्लेमेट, सोडियम एल्जीनेट, सोडियम बाइ कार्बोनेट, सोडियम बेंजोनेट, सोडियम हाइड्रोऑक्साइड, मोनोसोडियम ग्लूटामेट प्रयोग नहीं करने चाहिये। चावल, मक्का, फल, विभिन्न सब्जियों तथा उनके रस, शहद, सिरका आदि में नमक की मात्रा अत्यल्प होती है। अतः उनका अधिकाधिक प्रयोग करना चाहिये।

नमकयुक्त पदार्थों में, आटा डिब्बा बन्द, साल्मन मछली, टमाटर के सास के साथ भुना हुआ फ्लु अचार, नमक लगाया हुआ कच्चा जैतून और नमक लगायी झुलसी हुई मछली और मांस, विभिन्न घोंघा जाति की मछलियों में नमक अधिक मात्रा में होता है, अतः इनका प्रयोग कम करना चाहिये।

अगर भोजन का आनन्द उठाना चाहते हैं तो अधिक खाने का प्रयास नहीं करें और नमक की मात्रा भी कम रखें। इससे शरीर अधिक प्रभावशाली बना रहेगा और आयु में भी वृद्धि होगी।

○○

मलेरिया : वर्तमान् स्थिति, नीतियाँ एवं समस्यायें

डॉ० रविशंकर पाण्डेय एवं मानवेन्द्र त्रिपाठी

सदियों से मलेरिया मानव के लिए विनाशकारी रोग रहा है। इसके कारण सेनायें युद्ध में उजाड़ हुई हैं, देश बरबाद हुए हैं तथा देशों की उन्नति रुकी है। उदाहरणार्थ, ग्रीक एवं रोमन साम्राज्यों के पतन में इसका योगदान रहा है। सच्चाई तो यह है कि अफ्रीका, दक्षिणी-अमेरिका आदि भूखण्डों की प्राकृतिक सम्पदा का पूरा लाभ इस रोग के कारण नहीं उठाया जा सका है। इस प्रकार इस रोग ने विश्व के इतिहास को भी प्रभावित किया है।

19वीं सदी के मध्य तक लोग यह समझते रहे कि मलेरिया रोग दलदलीय स्थानों से निकली गन्दी व नम हवा के कारण होता है। इसका मलेरिया (mala=गन्दी+aria=हवा) नाम इसीलिये रखा गया है। मलेरिया प्लाज्मोडियम (Plasmodium) नामक रोगजनक परजीवी (Pathogenic Parasite) प्रोटोजॉन मनुष्य में रोग उत्पन्न करता है। इसकी खोज लेवरॉन (Laveran, 1880) नामक वैज्ञानिक ने की और इन्होंने ही सर्वप्रथम प्लाज्मोडियम को मनुष्य के रक्त में देखा। ऐनोफेलीज (Anopheles) नामक मच्छर की मादाएँ प्लाज्मोडियम के वाहक (Vector) का कार्य करती हैं, अर्थात् ये इसे एक मनुष्य से दूसरे में फैलाती हैं। मच्छर से इसके सम्बन्ध को 19वीं सदी में लासिन्सी (Lancisi) ने पहले पहल जाना। सन् 1898 में भारतीय सेना के डॉ० रोनॉल्ड रॉस (Ronold Ross) ने मादा ऐनोफेलीज में प्लाज्मोडियम की ओआसिस्ट्स (Oocysts) देखी। मलेरिया पर महत्वपूर्ण खोज के लिए इन्हें 1902 में 'नोबेल पुरस्कार' मिला।

इसी वर्ष ग्रासी और इनके सहयोगियों ने सर्वप्रथम मादा ऐनोफेलीज मच्छर के आमाशय में इस परजीवी के जीवन-चक्र का वर्णन किया।

मनुष्य में प्लाज्मोडियम की चार जातियाँ पायी जाती हैं, जो विभिन्न प्रकार के मलेरिया रोग उत्पन्न करती हैं। ये हैं—

(अ) प्लाज्मोडियम वाइवेक्स (Plasmodium vivax)

(ब) प्लाज्मोडियम फैल्सीपेरम (Plasmodium falsiparum)

(स) प्लाज्मोडियम मलैरी (Plasmodium malariae)

(द) प्लाज्मोडियम ओवेल (Plasmodium ovale)

प्लाज्मोडियम फैल्सीपेरम को प्रमस्तिष्कीय मलेरिया भी कहते हैं। इसके संक्रमण से घातक तृतीयक मलेरिया (malignant or subtertian malaria) होता है। इसमें मृत्यु दर भी अधिक होती है।

प्राणि विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

प्लाज्मोडियम के जीवनचक्र में जटिलतायें पायी जाती हैं। इसका कुछ भाग मनुष्य के तथा शेष मादा ऐनोफेलीज के शरीर में पूरा होता है। ऐसे जीवनचक्र को, जो दो भिन्न प्रकार के जन्तुओं में पूरा होता हो उसे द्विपोषदीय जीवनचक्र (Digenetic life-cycle) कहते हैं। मनुष्य प्लाज्मोडियम का प्राथमिक पोषद (Primary definitive or principal host) होता है और मादा ऐनोफेलीज द्वितीयक पोषद (Seeosndary or Intermediate host) होती है। मनुष्य में प्लाज्मोडियम का अलैंगिक जनन (Asexual Reproduction) होता है तथा मच्छर में लैंगिक जनन (Sexual Reproduction) एवं बीजाणुजनन (Sporogony)।
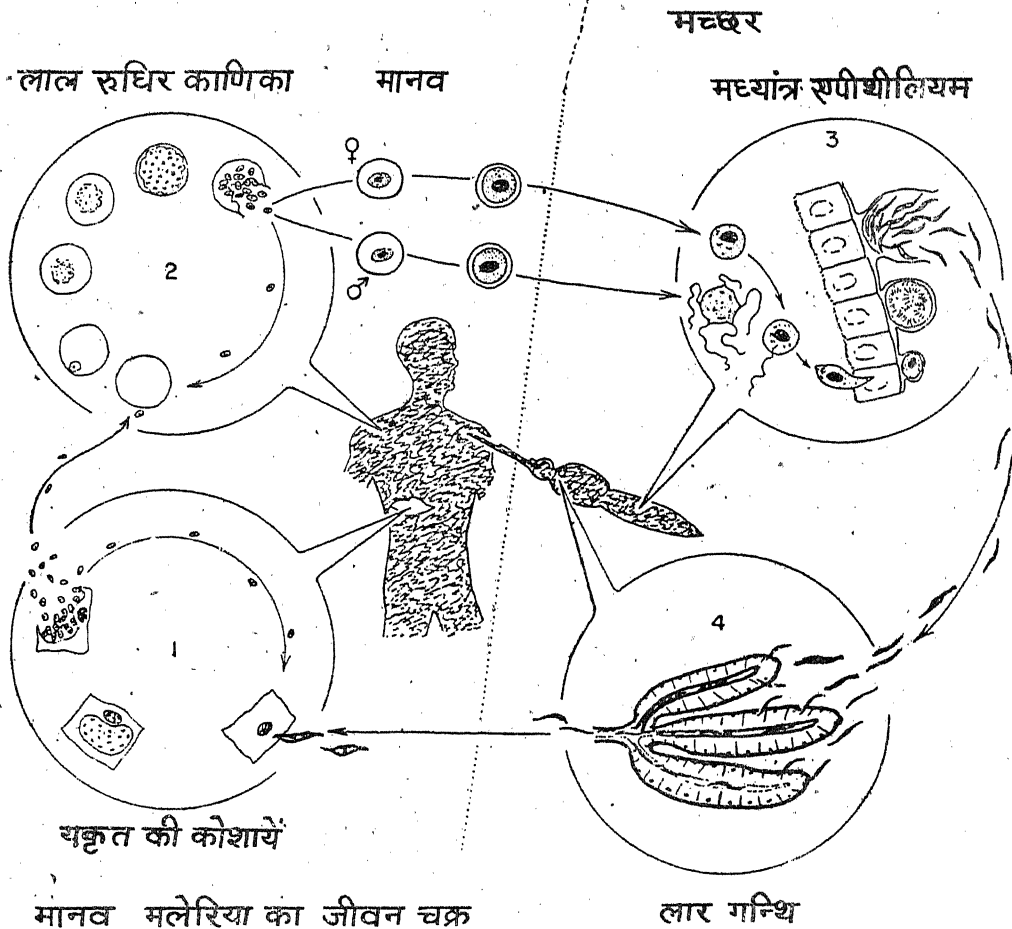
(चित्र संख्या 1)

प्रत्येक वर्ष भारत में 2 मिलियन या 20 लाख मलेरिया के नये रोगी राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम (National Malaria Eradication Programme) द्वारा प्रतिवेदित किये जाते हैं। वाइवेक्स मलेरिया 65% रोगी) प्रमुख संदूषण के रूप में उच्च रुग्णता के लिए उत्तरदायी हैं जबकि फेल्सीपेरम मलेरिया (35% रोगी) का

संदूषण उच्च रुग्ण जटिलता उत्पन्न करता है और इससे मृत्यु भी हो सकती है। इसी के साथ-साथ कुछ हजार की संख्या मिश्रित रोगी की और कुछ प्लाज्मोडियम मलैरी से ग्रसित रोगी भी मिलते हैं (चित्र संख्या-2), सारणी-1 एवं सारणी-2)।
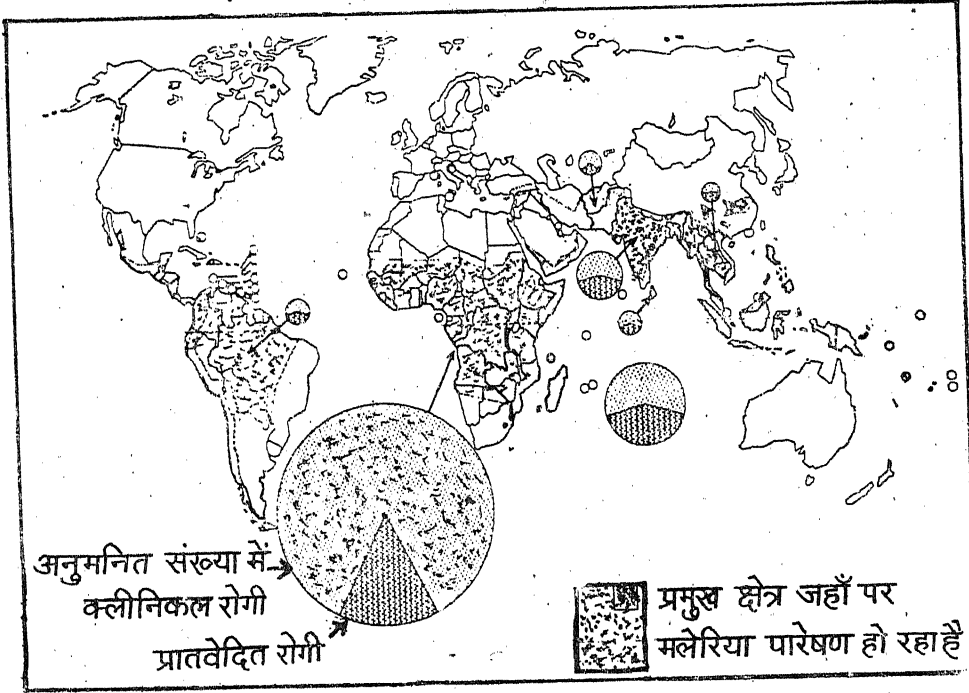
चित्र 2

देश में मलेरिया नियन्त्रण का कार्यक्रम ज्यादा से ज्यादा असाध्यता की ओर गतिमान हैं क्योंकि वेक्टर (रोग वाहक) जाति के मच्छरों में कीटनाशकों के प्रति प्रतिरोधी क्षमता विकसित हो गयी हैं तथा वेक्टर का व्यवहार एक्सोफिलिक (बाह्य विश्रामी) और एक्सोफेजिग (वाह्य भरणी जो मच्छर अपने भरण की क्रिया बाहर करता हो), पर्यावरण में होने वाला परिवर्तन वेक्टर जनन में सहायक सिद्ध हो रहा है तथा बहुल औषधियों के प्रति प्रतिरोधी क्षमता भी विकसित हो गयी है (चित्र संख्या-3)। प्लाज्मोडियम फैल्सीपेरम का नये क्षेत्रों में फैलाव तथा वित्तीय कमी के कारण कार्य योजनाओं में अवप्रेरण का सामना करना पड़ रहा है।

दुर्भाग्यवश ज्यादातर समस्याओं में वृद्धि हो रही है और नये आयामों में प्रवेश हो रहा हैं। उदाहरण-स्वरूप 1950 के दशक में नगरीय मलेरिया को विशेष महत्व देने की आवश्यकता नहीं होती थी, परन्तु तीव्र नगरीयकरण और जनसंख्या प्रवास के फलस्वरूप नगरीय मलेरिया की समस्या एक दुर्जेय रूप में मानव के समक्ष आ खड़ी है।
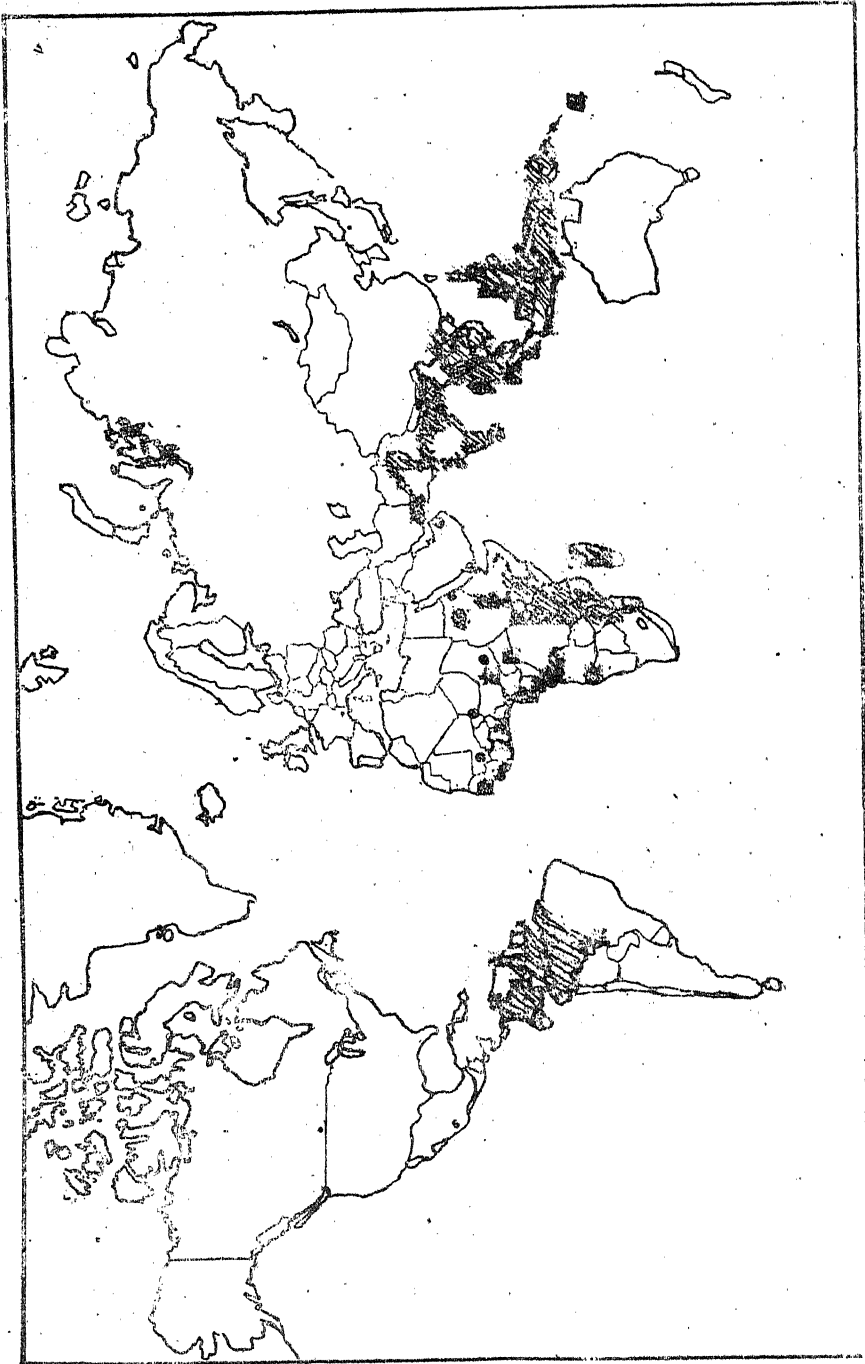
चित्र 3

सारणी—1

भारतवर्ष में मलेरिया प्रकोप की स्थिति 1961-1983

वर्ष	कुल धनात्मक रोगियों की संख्या	कुल पी० एफ० रोगियों की संख्या	मलेरिया से मृत्यु
1961	49,151	17,141	
1963	87,306	22,750	
1964	1,12,942	31,490	
1966	1,48,012	39,618	
1967	2,78,214	61,984	
1969	3,47,975	1,03,217	
1970	6,94,017	1,00,115	
1971	13,22,398	1,48,683	
1973	19,30,273	2,65,154	
1974	31,67,658	4,76,922	3
1975	51,66,142	7,22,951	99
1976	64,67,215	7,50,213	59
1977	47,40,900	4,59,867	55
1979	30,64,697	5,58,423	198
1982	21,82,303	5,51,057	187
1983 (अन्तिम)	18,95,297	5,31,384	178

स्रोत : भारत-ब्रिटेन कार्यशाला (मलेरिया रोग पर)

रोग के विस्तार के परिप्रेक्ष्य में देश की लगभग 7.5% जनजातीय जनसंख्या में 30% मलेरिया रोगी मिलते हैं, जिनमें से 60% (प्लाज्मोडियम फैल्सीपेरम) के रोगी और इनमें से 50% की मृत्यु मलेरिया रोग के कारण होती है।

राष्ट्रीय मलेरिया नियन्त्रण कार्यक्रम

वर्ष 1946 में भारत सरकार की 'स्वास्थ्य सर्वेक्षण एवं विकास समिति' ने सम्पूर्ण देश में मलेरिया नियंत्रण संगठन की स्थापना की संस्तुति की थी। अप्रैल 1953 में राष्ट्रीय मलेरिया नियंत्रण योजना को इस उद्देश्य से प्रारम्भ किया गया कि अति प्रभावी जनपदों में मलेरिया रोग के फैलाव को इस स्तर तक कम कर दिया जाय कि यह कोई बड़ी जनस्वास्थ्य की समस्या न रह जाय।

सारणी—2

भारतवर्ष में मलेरिया की स्थिति—जानपदिक रोग विज्ञानीय आँकड़े

वर्ष	धनात्मक कुल रोगियों की संख्या	मलेरिया रोगियों की संख्या प्रति 1000 जनसंख्या पर ए० पी० आई० (Annual Parasite Index)	प्लाज्मोडियम फेल्सीपेरम रोगियों का प्रतिशत (Slide Falsiparum rate)
1985	18,55,840 (अन्तिम)	2.5	29
1987	16,11,189	2.1	36.8
1988	18,54,830	2.4	37.1
1989	20,17,823	2.6	37.7
1990	17,77,253	2.2	34.7

स्रोत : विश्व स्वास्थ्य संगठन जर्नल

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत् जो तकनीक उपयोग में लायी गयी हैं वह मनुष्योचित आवास तथा पशुशालाओं में दो-चक्रीय डी० डी० टी० (डाइक्लोरोडाइफेनिल ट्राइक्लोरोएथेन) पाउडर का जल मिश्रित छिड़काव करना शामिल था, जिसकी मात्रा 100 मि०ग्राम प्रति वर्ग फीट प्रति चक्र थी। रोग की गम्भीरता के मूल्यांकन हेतु बच्चों की तिल्ली, बच्चों और शिशुओं में परजीवी दरों को पैमाना माना गया था। मलेरिया रोग के वाहक के रूप में मच्छरों की निम्नलिखित जातियाँ थीं।

(i) Anopheles culicifacies (एनोफेलीज क्यूलीसीफेसिज)

(ii) A. fluviatilis (ए० फ्लूवायटिलिस)

(iii) A. minimus (ए० मिनिमस)

(iv) A. stephensi (ए० स्टेफेंसाई)

मादा एनोफेलीज मच्छर द्वारा मनुष्य या जानवरों का रक्त अण्डे देने के लिए चूसना आवश्यक है। रक्त चूसने की प्रक्रिया के दौरान ही मादा मच्छर मलेरिया, फाइलेरिया आदि बीमारियाँ अस्वस्थ मनुष्य से स्वस्थ मनुष्य में फैलाती हैं।

छिड़काव कार्यक्रम के माध्यम से मलेरिया रोग वाहक मच्छरों पर आक्रमण करना था, जिससे इनके जीवनकाल में कमी आ जाय और रोग संक्रमण की कड़ी को तोड़ा जा सके। रक्त पीने के बाद मादा मच्छर दीवारों, छतों आदि पर बैठती हैं और वहाँ पर अगर कीटनाशक उपलब्ध हैं तो इसके सम्पर्क में आने पर कुछ दिनों में मर जाती हैं और रोग का प्रसार नहीं होता है।

वर्ष 1961-64 तक मलेरिया का प्रकोप कम था परन्तु इसके पश्चात् इसमें वृद्धि दृष्टिगोचर होती गयी। स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए मलेरिया नियन्त्रण हेतु संशोधित क्रियात्मक योजना (Modified Plan of Operation) बनायी गयी जो माह जनवरी 1978 से कार्यान्वित की गयी।

मुख्य उद्देश्य मलेरिया उन्मूलन के बजाय मलेरिया नियन्त्रण रखा गया।

इस योजना के उद्देश्य निम्नवत् हैं।

(i) मलेरिया के कारण मृत्यु को रोकना।
(ii) तीव्र एवं सघन मलेरिया निवारण उपायों द्वारा रोग को कम करना मुख्यतया औद्योगिक और—हरित क्रान्ति के क्षेत्रों में।
(iii) शोध एवं प्रशिक्षण।

उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति हेतु मलेरिया पर आक्रमण करने के लिए त्रिकोणात्मक युद्ध नीति अपनायी गयी।

वर्तमान् में भारतीय चिकित्सा शोध परिषद् के तत्वावधान में दो केन्द्रों द्वारा मलेरिया पर शोध किया जा रहा है। ये हैं—

1. मलेरिया शोध केन्द्र, दिल्ली
2. रोगवाहक नियन्त्रण केन्द्र, पाण्डिचेरी

इन संस्थानों में शोध के मुख्य उद्देश्य क्लोरोक्वीन की सूक्ष्मग्राहिता, रोगवाहक परजीवी के नियंत्रण हेतु वैकल्पिक प्रणाली, समेकित पद्धतियाँ तथा मलेरिया नियंत्रण हेतु नयी प्रणालियों की खोज करना है। शोध-योजनाओं का कार्य केन्द्रीय औषधि शोध संस्थान तथा राष्ट्रीय संचारी रोग संस्थान जैसी संस्थाओं को भी दिया गया है।

नगरीय मलेरिया नियन्त्रण योजना

इस योजना के अन्तर्गत सभी जलभरावों को डिम्भनाशकों के द्वारा उपचारित करके डिम्भ प्रति उपायों द्वारा मच्छरों का अभिजनन रोका जाता है।

'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के प्रतिवेदन के अनुसार पाँच मुख्य उष्ण कटिबन्धीय रोगों के, यथा मलेरिया, कालाजार, अफ्रीकी निद्रा का रोग, फाइलेरिया एवं सिस्टोसोमाइसिस, फलस्वरूप मृत्यु दर में दो मिलियन प्रतिवर्ष से से चार मिलियन प्रतिवर्ष की वृद्धि 2010 तक होने की सम्भावना है तथा इसी के साथ-साथ प्रत्येक दस व्यक्तियों में से एक व्यक्ति के किसी न किसी उष्ण कटिबन्धीय रोग से ग्रसित रहने की सम्भावना व्यक्त की गयी है।

इन रोगों में तीव्र वृद्धि के लिए निम्नलिखित कारण प्रमुख रूप से उत्तरदायी हैं—

(i) जनसंख्या में अनियंत्रित वृद्धि।
(ii) मलेरिया के प्रति औषधि प्रतिरोधी क्षमता का विकसित हो जाना।
(iii) जनसंख्या का विभिन्न क्षेत्रों में प्रवास।
(iv) पर्यावरण में किया गया मानव निर्मित परिवर्तन।

विकास किस प्रकार से स्वास्थ्य को प्रभावित करता है (चित्र संख्या-4)
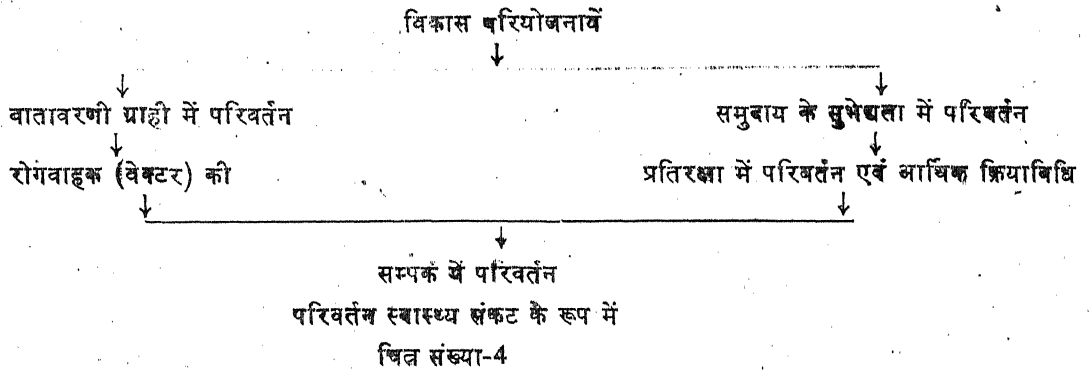
चित्र संख्या-4

उदाहरणस्वरूप जल संसाधन विकास की परियोजनायें किस प्रकार से रोगवाहक (वेक्टर) जनित रोगों के पारेषण में सहायक सिद्ध होती हैं (रेखाचित्र के माध्यम से, चित्र संख्या-5)।

चित्र-5 जलीय जनन स्थल
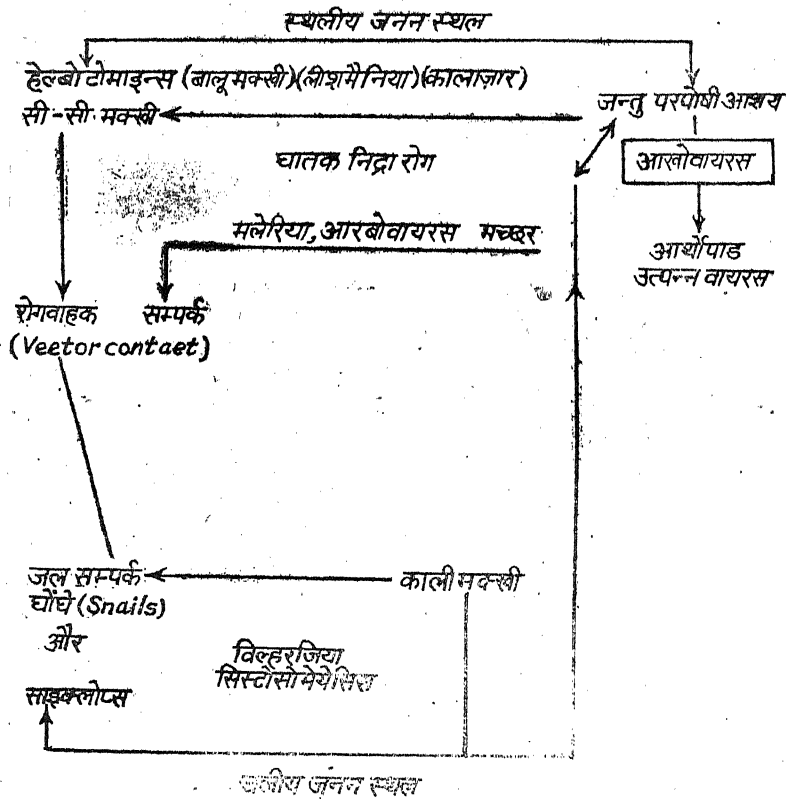
भारतवर्ष में मलेरिया जनस्वास्थ्य की एक बृहद समस्या के रूप विद्यमान है। विभिन्न वेक्टर जातियों में कीटनाशकों के प्रति प्रतिरोधी क्षमता विकसित होने के कारण समस्या और गम्भीर रूप लेती जा रही है। विशेष रूप से दक्षिण पूर्व एशिया (जिसमें भारत भी सम्मिलित है) के क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की समस्यायें मलेरिया के उन्मूलन में बाधक हैं। इन समस्याओं को मुख्यतया दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(i) प्रशासकीय एवं संक्रियात्मक, और

(ii) तकनीकी।

मलेरिया के नियंत्रण में आने वाले विभिन्न पदार्थ, विशेष रूप से कीटनाशकों के दामों में कई गुना वृद्धि हुई है। इससे मलेरिया नियंत्रण के कार्यों को धक्का लगा है। अवक्षेपी (Residual) कीटनाशकों का प्रयोग प्रौढ़ मच्छरों और डिम्भक (Larva) के नियंत्रण में किया जाता है, परन्तु विशेष रूप से भारत, वर्मा, इण्डोनेशिया, नेपाल श्रीलंका, जहाँ पर मुख्य वेक्टर डी० डी० टी० के प्रति प्रतिरोधी क्षमता विकसित कर चुका है, वहाँ पर इन मच्छरों के नियंत्रणों में आरगेनोफास्फोरस यौगिकों का प्रयोग करना पड़ रहा है। परन्तु इन यौगिकों के दामों में लगभग दस गुना तक वृद्धि हो चुकी है। उदाहरणस्वरूप 10 लाख लोगों को राहत दिलाने के लिए डी० डी० टी० पर लगभग 33 लाख रुपये का खर्च बैठता है। बी० एच० सी० (अर्थात् एच० सी० एच०—हेक्साइक्लोरोसाइक्लोहेक्सेन) पर 37 लाख रुपये और मैलाथियान पर 199 लाख रुपये का खर्च आता है।

कीटनाशकों के छिड़काव में लगने वाला मजदूरों का व्यय भी काफी बढ़ गया है। उस अनुपात में राष्ट्रीय बजट में वृद्धि नहीं हो सकी है। इसका परिणाम यह होता है कि कीटनाशकों का निर्धारित मापदण्डों के अनुरूप छिड़काव नहीं हो पा रहा है या फिर स्प्रे के चक्रों में कमी करनी पड़ रही है।

आर्थिक कमी के कारण 'सर्वेलेन्स' (जाँच-परख) में संलग्न कार्यकर्ताओं की कमी सदैव बनी रहती है परिणामस्वरूप रिपोर्टिंग और मूल उपचार भी नहीं हो पाता है।

इन सब कारणों के साथ-साथ वेक्टर जनन स्थानों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। इसके लिए मुख्यतया तीन कारण उत्तरदायी हैं।

कृषि का तीव्र विकास

1. विशेष रूप से धान बाहुल्य क्षेत्रों का तथा अन्य फसलों का जिनके लिए अधिक जल की आवश्यकता होती है।

2. औद्योगिक, जल-विद्युत् प्रक्रमों, जिसमें जल के संग्रह की आवश्यकता होती है और जल सदैव रिसता रहता है, इसी क्रम में जल निकास प्रणाली का अविकसित विकास का होना भी है।

3. पारिस्थितिकी तन्त्र (Ecosystem) में किये गये अन्धाधुन्ध परिवर्तन भी मलेरिया रोग के वृद्धि के लिए उत्तरदायी हैं।

शेष पृष्ट 24 पर

जन्म शती वर्ष पर

देश में आणविक भौतिकी के जनक प्रो० मेघनाद साहा

डॉ० अरुण आर्य

प्रो० मेघनाद साहा का नाम 'थ्योरी ऑव थरमल आयोनाइजेशन' और इसके उपयोग 'टू द इन्टरप्रटेशन ऑव स्टीलर स्पेक्ट्रा इन टर्म्स ऑव द फिजिकल कन्डीसन्स प्रिवेलिंग इन द स्टीलर एटमासफियर' के सम्बन्ध में सदैव याद किया जाता रहेगा। कभी न कभी उन्होंने स्टीलर स्पेक्ट्रा, थरमल आयोनाइजेशन, सेलेक्टिव रेडियेशन प्रैसर, स्पेक्ट्रोस्कोपी, मौलिक्यूलर डिसोसियेशन, प्रोपेगेसन ऑव रेडियो वेव्स इन आयोनोस्फियर, सोलर कोरोना, रेडियो इमीसन फ्राम द सन्, बीटा रेडियो एक्टीविटी एण्ड द येज् ऑव द राक्स के सम्बन्ध में काम किया।

आपका जन्म 6 अक्टूबर सन् 1893 को ढाका जिले के सिउरातली ग्राम में हुआ। वह अपने पिता के पाँचवें पुत्र थे। आपके कुल आठ भाई-बहन थे। आपके पिता **श्री जगन्नाथ साहा** एक छोटे दुकानदार और माता **श्रीमती भुवनेश्वरी देवी** थीं। इन्होंने सन् 1916 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के विज्ञान कॉलेज में इसके संस्थापक **सर आशुतोष मुखर्जी** के आमन्त्रण पर प्रवक्ता के रूप में अपना कैरियर शुरू किया, जो कि 1915 में एक वर्ष पूर्व शुरू किया गया था। डॉ० साहा का शोध जीवन 1917 से 1951 तक रहा जबकि वह भारतीय संसद के लिए स्वतन्त्र प्रत्याशी के रूप में चुने गये। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भी उन्होंने आचार्य पद को सुशोभित किया। उन्होंने अपने सक्रिय वैज्ञानिक जीवन में सत्तासी शोध-प्रपत्र लिखे। उनके कक्षा के सहयोगियों में प्रमुख थे— **प्रो० सत्य नारायण बोस, प्रो० जगदीश चन्द्र बसु,** जिन्होंने सर्वप्रथम यह खोजा कि पोधों में भी जीवन है और वे हम सब की तरह अनुभव कर सकते हैं, और **प्रो० जे० एन० मुखर्जी**। इन सभी ने विज्ञान के किसी न किसी क्षेत्र में उत्कृष्टता प्राप्त की। उनके शिक्षकों में प्रमुख थे **आचार्य जे० सी० बोस और प्रो० पी० सी० रे,** आपका विवाह जून माह में सन् 1918 में **राधारानी** से सम्पन्न हुआ।

देश में आणविक भौतिकी एवं भौतिक ऊर्जा के प्रथम प्रणेता

प्रो० साहा को जुलाई 1938 में भौतिकी के 'पलित प्रोफेसर' के रूप में दुबारा बुलाया गया। सिद्धान्ततः वह 'रामन प्रभाव' के बारे में काम नहीं करना चाहते थे। जैसा कि विदित है, **प्रो० सी० वी० रामन** पलित प्रो० के रूप में 1917 से 1932 के मध्य वहाँ कार्य कर चुके थे।

प्रो० साहा ने धीरे-धीरे आणविक भौतिकी में रुचि लेना प्रारम्भ किया। वास्तव में इसके पूर्व भी अपने एक छात्र **डॉ० दौलत सिंह कोठारी** के साथ बीटा क्षय के सिद्धान्त को प्रतिपादित कर चुके थे। डॉ० दौलत सिंह कोठारी के सम्पर्क में वह तब आये जब वह एम० एस-सी० करने इलाहाबाद विश्वविद्यालय पहुँचे। उन्होंने ही डॉ० कोठारी को कैम्ब्रिज जाने को प्रेरित किया और इस प्रकार एक नेक सलाह ने उनका जीवन परिवर्तित कर दिया। उनका यह शोध-प्रपत्र 'फर्मी थ्योरी ऑव बीटा डिके' के पूर्व था।

प्रवक्ता, वनस्पति विभाग, म० स० राव विश्वविद्यालय, बड़ौदा, बड़ोदरा-390002 (गुजरात)

उनका एक व्याख्यान 'अल्टीमेट कान्सटीट्युयेण्ट्स ऑव मैटर' कलकत्ता विश्वविद्यालय में ए० सी० मुखर्जी ट्रस्ट के अन्तर्गत सितम्बर 1934 में आणविक भौतिकी के सम्बन्ध में हुआ। आणविक भौतिकी के सम्बन्ध में आपकी रुझान डॉ० इ० ओ० लारेन्स की बरकले स्थित प्रयोगशाला और कोपेनहागेन में नील्स बोर की प्रयोगशाला में भ्रमण के साथ और भी बढ़ गया। प्रो० होमी जहाँगीर भाभा भी इन प्रयोगशालाओं में उनके साथ थे।

साहा ने 'डोराब जी टाटा ट्रस्ट' से साठ हजार रुपये मूल्य का 'साइक्लाट्रॉन' प्राप्त किया। पंडित नेहरू ने भी समय-समय पर उनकी मदद की। 1947 में उन्होंने भारत सरकार से कलकत्ता विश्वविद्यालय में आणविक शोध संस्थान की स्थापना हेतु मदद प्राप्त की। 11 जनवरी 1950 को इस संस्थान का उद्घाटन आइरेन क्यूरी जूलियट ने किया। प्रो० साहा की मृत्यु के पश्चात् आज इस संस्थान को 'साहा इन्स्टीट्यूट ऑव न्यूक्लियर फिजिक्स' के नाम से जाना जाता है। प्रो० साहा ही विश्वविद्यालयों में भौतिक विज्ञानशालाओं में अणु विज्ञान विभाग की उन्नति के लिये जिम्मेदार हैं। उदाहरण के तौर पर 50-60 के दशक में आगरा विश्वविद्यालय में आधुनिक भौतिकी में अणु भौतिकी पर अधिक प्रश्न पूछ कर आपने बताया कि अणु भौतिकी के अध्ययन को अब नकारा नहीं जा सकता।

आटोहॉन और एफ० स्ट्रासमैन के 5 सितम्बर 1938 के यूरेनियम विखण्डन को आपने अपने 26 मार्च 1941 के शोध प्रपत्र में उल्लेखित किया। फर्मी ने 2 दिसम्बर 1942 में 'कन्ट्रोल्ड चेन रियक्सन' की बात की। लगभग उसी समय प्रो० साहा ने कहा कि यदि एक छोटी टेबलेट भी एक्सप्रोलिसव वायलेन्ट हो जाय तो बहुत बड़ा विनाश कर सकती है। यह लगभग सर्वप्रथम प्रपत्र था जिसमें आणविक विखण्डन को ऊर्जा के स्रोत के बारे में उपभोग किया जा सकता है, यह प्रतिपादित किया गया था। संसार ने अणुबम को विनाशकारी रूप में 7 अगस्त 1945 को जापान के हिरोशिमा पर देखा और इसके 3 दिनों बाद नागासाकी में इसी तरह का प्रचण्ड विनाश दोहराया गया।

इस विनाश का विवरण आपने अपने एक छात्र प्रो० बी० डी० नागचौधरी के साथ 'अणुबम की कहानी' के नाम से 'साइन्स एण्ड कल्चर' के 11वें वाल्यूम के 111 पेज पर 1945 में लिखा।

वह प्रो० एच० जे० भाभा, जो भारत में अणु ऊर्जा के जनक कहे जाते हैं, के साथ अणु ऊर्जा कमेटी में थे। उनके अन्य प्रमुख साथियों में थे प्रो० एस० एस० भटनागर और डी० ए० वाडिया। अणु ऊर्जा स्रोतों को बढ़ाने के साथ-साथ उनका ध्यान गया अणु ऊर्जा को औद्योगिक उपयोगों के बढ़ाने में और इसी कारण उन्होंने भारत सरकार की अणु ऊर्जा स्रोत कमेटी में आने से लगभग इन्कार कर दिया। आपका कहना था—

(1) भारत में अणु ऊर्जा का विकास बिना औद्योगिक शक्ति के नहीं होना चाहिए।
(3) भारत में पहले अणु वैज्ञानिक विकसित किये जाने चाहिए जो इस कार्य को आगे बढ़ा सकें।

प्रो० साहा ने एक पुस्तक "ए ट्रिटीज ऑन हीट" अपने एक छात्र डॉ० बी० एन० श्रीवास्तव के साथ लिखी, जो कि 1931 में इलाहाबाद से प्रकाशित हुई। 63 वर्ष की आयु में 16 फरवरी 1956 को नई दिल्ली में अपने निवास से योजना आयोग के दफ्तर जाते समय आपने इस संसार से अन्तिम विदा ली, किन्तु अपने कृतित्व में प्रो० साहा सदैव अमर रहेंगे।

●●

नई दुनिया से आया एक फल

राजेन्द्र कुमार राय

[आज पूरा विश्व जिस विस्मयकारी बहुउपयोगी फल के गुण गाता है, उसे खाता है पीता है और भूल नहीं पाता, उसे अनन्नास कहा जाता है। इस फल को सर्वप्रथम **क्रिस्टोफर कोलंबस** ने 1493 में अमेरिका की अपनी द्वितीय समुद्री यात्रा के दौरान सफलता के वर्तमान पथ पर डाला था। और जिस तेजी के साथ यह पौधा फैला उसकी मिसाल किसी भी फल के इतिहास में नहीं मिलती। अनन्नास ने लोगों के रहन-सहन, कला और संस्कृति पर भी प्रभाव डाला है। प्रस्तुत है इस सर्वगुणसम्पन्न फल के विकास की कहानी।]

अनन्नास अमेरिका महाद्वीप (नई दुनिया) से आया एक फल है। **क्रिस्टोफर कोलंबस** ने 1493 में अमेरिका की अपनी द्वितीय समुद्री यात्रा के दौरान अनन्नास की सफलता के वर्तमान् पथ पर डाला था। इस यात्रा मे कोलबस ने वेस्ट इंडीज के ग्वाडएलअप द्वीप के वाशिंदों को इसे खाते देखा था। अत: उसने उसे 'इंडीज के देवदारु' का नाम दिया।

इस फल को सर्वप्रथम 4 नवम्बर 1493 को कोलंबस और उसके दल के सदस्यों ने चखा था। लेसर इंटालिस द्वीप के एक गाँव में उन्होंने इस फल को खाया था। बाद में कई खोजी दस्तों ने अमेरिका के गर्म भागों के तटों के नजदीक कई स्थानों पर इसे उगते देखा। अनन्नास का उपयोग वहाँ के निवासी कितने वर्षों से कर रहे हैं, यह ठीक-ठीक पता नहीं। वहाँ के आदिवासियों ने ही इसे जंगलों से छांट कर अलग किया और इसकी खेती शुरू की। ब्राजील और पाराग्वे के मूल निवासी इसे 'याना या श्रेष्ट फल' कहते हैं।

कोलंबस की इस खोज के बाद अनन्नास के इतिहास को दो युगों में बाँटा जा सकता है। पहला उन्नीसवीं सदी के अंत तक और दूसरा उसके बाद का। जिस तेजी के साथ यह पौधा यूरोप, एशिया व अफ्रीका में फैला उसकी मिसाल किसी भी फल के इतिहास में नहीं मिलती। उन्नीसवीं सदी के अंत तक यह एशिया व यूरोप तक पहुँच चुका था। यह वह समय था, जब अनन्नास ने यहाँ के लोगों के रहन-सहन, कला और संस्कृति पर भी प्रभाव डाला। यूरोप में यह गर्म कांच-घरों में उगाया जाने लगा। इन दिनों अनन्नास की नई-नई किस्मों का विकास हुआ।

यूरोप तथा एशिया के कुछ देशों में अनन्नास सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में उगाया गया। इस सख्त-जान पौधे को, जिसकी पत्तियाँ प्राकृतिक रूप से जल संचयन में समर्थ होती हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना भी काफी आसान था। समुद्री यात्रा करने वाले पुर्तगालियों को यह श्रेय जाता है कि अनन्नास 1505 में सेंट हेलेना द्वीप 1548 में मेडागास्कर और 1550 में भारत पहुँचा। सत्रहवीं सदी के आते-आते यह जावा, नेपाल, बरमूदा व फिलीपीन्स आदि देशों में उगाया जाने लगा।

सम्पादक, 'सम्प्रेषण', साप्ताहिक फीचर सेवा, डी 690, सरस्वती विहार, दिल्ली-110034

19वीं सदी के अंत तक हवाई द्वीपों के अनन्नास उद्योग की नाटकीय प्रवृद्धि में दो घटनाओं का काफी योगदान रहा। एक तो इन द्वीपों का अमेरिका शासित क्षेत्रों में शामिल हो जाना, जिसके कारण वहाँ के मुख्य भूमि तक जाने वाले माल पर अधिक शुल्क की दर का समाप्त हो जाना, और दूसरा अनन्नास की खेती के लिए उन उद्योगपतियों का आगे आना जो स्वादिष्ट फलों की खेती किया करते हैं। हारव र्डविश्वविद्यालय के एक युवा स्नातक जेम्स डी० डोल ने वाहीआवा में 12 एकड़ भूमि लेकर 75000 पौधों वाला एक फार्म शुरु किया। 1903 में डोल की हवाईयन पाइनेपल कंपनी ने अनन्नास की 1,800 पेटियों का उत्पादन किया।

क्रोमवेल द्वारा सर्वप्रथम अनन्नास ब्रिटेन पहुँचा था। उसके बाद 7 जुलाई 1688 को चार्ल्स द्वितीय को अनन्नास भेंट किए गए। एक डच व्यापारी द्वारा सर्वप्रथम यूरोप में इसकी खेती व्यवस्थित स्तर पर लीडल के पास शुरू की गई। सन् 1900 के बाद अनन्नास फल के इतिहास का द्वितीय युग शुरू होता है। इसी समय इसकी व्यापारिक स्तर पर उपलब्धि और अनन्नास उद्योग शुरू हुआ। आज इसकी खेती में लाखों व्यक्तियों को रोजगार मिला है।

इसका अमेरिकी नाम 'अनासी' या 'नानास' था और विश्व के कई देशों में यही नाम अपना लिया गया। लैटिन भाषा में इसे 'अनन्नास सटाइवा शुल्ट एफ' कहा जाता था। वनस्पति विज्ञान में यह ब्रोमीलिएसी कुल का पौधा है और इसका वैज्ञानिक नाम अनन्नास सैटिक्स है। इसके पौधे बहुवर्षजीवी होते हैं तथा तने छोटे होते हैं। यह 2 से 3 फुट ऊँचा होता है। तने के चारों तरफ लगभग एक फुट लम्बी पत्तियों के शीर्ष नुकीले और किनारे दांतेदार होते हैं। इसके सिर पर छोटी पत्तियों का मुकुट रहता है। फल के पकने की पहचान इन मुकुटों के द्वारा ही होती है। अनन्नास के फल की सतह उबड़-खाबड़ होती है। जिन स्थानों पर सारे साल थोड़ी-बहुत वर्षा होती रहती है, वायु में नमी रहती है और तापक्रम 60 से 90 फारनहाइट रहता है, वहाँ का मौसम अनन्नास की खेती के लिए आदर्श होता है। इसे ढलाव वाले स्थानों में उगाया जाता है क्योंकि पानी भर जाने पर ये पौधे गल जाते हैं। हमारे यहाँ जुलाई-अगस्त का समय इसके उगाने के लिए सबसे उपयुक्त होता है।

विश्व में अनन्नास की 90 किस्में मिलती हैं। व्यावहारिक दृष्टि से इसे तीन समूहों में रखा गया है। पहला क्वीन, दूसरा केइन तथा तीसरा स्पेनिश। प्रतिकूल अवस्थाओं में भी काफी मात्रा में फल देने वाले पौधे को क्वीन कहते हैं। इस किस्म का पौधा कठोर और अधिक फैला हुआ होता है। इसका फल बहुत जल्दी पक जाता है और इसमें काफी सुगंध होती है। इसके पके हुए फल का वजन आमतौर पर 2 किलोग्राम तक होता है। हवाई द्वीप और आस्ट्रेलिया में चिकनी सतह वाला केइन किस्म का अनन्नास पैदा होता है। इसका फल 3 किलो तक का होता है। इसी वर्ग की एक और किस्म होती है-क्यू। इसका फल बड़ा और गूदा मुलायम होता है। भारत में सबसे ज्यादा खेती केइन व क्यू किस्म की होती है। इस पौधे पर (इसे वानस्पतिक प्रजनन द्वारा बोने के बाद) फल आने में 15 से 20 माह तक लगते हैं। इसका रोपण कतारों में किया जाता है।

वास्तव में अनन्नास का फल अनेक पुष्पों के बने पुष्पक्रम के संयुक्त होने से बनता है। बहुत सारे फूलों की सैपलें एक साथ जुड़ जाती हैं और तना मोटा होता जाता है। फल की सतह पर लगी पत्तियों और तने का रंग जब पीला-हरा हो जाता है, तो फल को काट लिया जाता है। यह फल के पकने की पहचान है। पूरे पके हुए फल को ही काटा जाता है, क्योंकि कच्चा फल खाने के उपयोग में नहीं लिया जाता है।

फिलीपीन में अनन्नास को अधिकतर अन्य व्यापारिक फसलों जैसे नारियल, पपीता और केले के साथ उगाया जाता है जबकि दक्षिण थाइलैंड में इसे रबड के पेड़ों के साथ। अभी तक सबसे बड़ा अनन्नास फिलीपीन में देखने में आया है जिसका वजन था 7.96 किलोग्राम। स्पेनिश किस्म का अनन्नास अपने ताजे उपयोग के लिए काफी प्रसद्धि है क्योंकि इसमें मिठास बहुत अधिक होती है परन्तु केइन अपनी आकृति के कारण डिब्बाबंदी के लिए काफी उपयुक्त रहता है। डिब्बा बंद करके अनन्नास को काफी अधिक समय तक सुरक्षित रक्खा जा सकता है।

फल के साथ दवा भी

स्पेन के सुप्रसिद्ध इतिहासकार ओवडो ने अनन्नास के बारे में 535 में प्रकाशित अपनी पुस्तक में लिखा है कि यह देखने में, स्वाद, सुगंध, ध्वनि आदि सभी पौधों की अनुभूति कराने वाली तृप्ति प्रदान करता है। यह निश्चित रूप से दुनिया का सर्वोत्तम फल है।

सुन्दर सा दिखने वाला अनन्नास एक गुणकारी फल के साथ दवा भी है। यह भूख को बढ़ाता है। इसका 65 प्रतिशत भाग गूदेदार व खाने योग्य होता है, जिसमें 19 प्रतिशत रस होता है। इस रस में 4 प्रतिशत शकरी भी होती है। साथ ही कैल्शियम, फॉसफोरस, आयरन, विटामिन 'ए' व 'सी' भी अच्छी मात्रा में पाए जाते हैं। इसके छोटे-छोटे टुकड़ों से शरबत या मुरब्बा भी बनाया जाता है। इसके शरबत में अन्य फलों के रसों को मिलाकर शरबत की कई किस्में तैयार की जाती हैं। अनन्नास के कच्चे फलों का रस दस्तावर और कृमिनाशक होता है। अनन्नास में पाया जाने वाला एंजाइम, इसे गरम करने पर नष्ट हो जाता है। इसलिए अनन्नास का सब्जी के रूप में उपयोग नहीं किया जाता है।

अनन्नास को विविध प्रकार से खाया जाता है। कुछ लोग ताजे अनन्नास पर नमक छिड़कर कर खाना पसंद करते हैं। थाई लोग अतिरिक्त सनसनाहट के लिए इस पर थोड़ी चीनी और ऊपर मिर्च बुरक कर खाते हैं। इसे आइसक्रीम, बिस्कुट तथा केक में भी डाला जाता है। अनन्नास चिकन करी के स्वाद को बढ़ाता है। ताइवान तथा हांगकांग में अनन्नास की छौंक लगा चावल एक विशिष्ट व्यंजन माना जाता है। और ताजे अनन्नास के रस के बारे में तो क्या कहना।

अनन्नास के पत्तों से 25 से 30 ग्राम प्रतिदिन सफेद चमकीला रेशा निकाला जा सकता है। यह टिकाऊ होता है और पानी में खराब नहीं होता। यह बुनाई के भी काम आता है। इसके रेशे से कपड़े भी बनाए जा सकते हैं परन्तु उत्पादन लागत अधिक आने के कारण हमारे देश में इससे वस्त्र नहीं बनाए जाते। फिलीपीन में इसके सख्त पत्तों से रेशे बनाए जाते हैं जिन से महीन अर्ध-पारदर्शी कपड़ा बुना जाता है। इसके तिनकों और बाँस के साथ मिश्रण करके पत्तों से निकले इन रेशों से बने कागज पर चीनी चित्रकारी भी की जाती है। इस प्रकार अनन्नास के बहुउपयोग को देखते हुए इसे सर्वगुण सम्पन्न फल कहा जा सकता है।

○○

दिल की खबर लेती कलाई घड़ी

कुलदीप शर्मा

[दिल का दौरा सोचने-समझने का वक्त नहीं देता। अगर तुरंत डॉक्टरी मदद न मिले तो मौत। काश इसकी पूर्व चेतावनी का कोई बंदोबस्त हो पाता। अब यह सपना सच हो गया है। आपकी कलाई पर बंधी घड़ी कोई घंटा पहले 'पिप-पिप' करके आपको बता देगी—'सावधान, दिल का दौरा पड़ने वाला है, जानिए इस जीवनदायी युक्ति के बारे में।]

भागती, दौड़ती जिंदगी, बढ़ता तनाव, प्रदूषण और कई अच्छी-बुरी आदतों के कारण आज स्वास्थ्य की परेशानियाँ बढ़ती जा रही हैं। तनाव और चिन्ता हमारे जीवन का एक अंग बन गए हैं। और इनसे उपजे हैं--कई रोग। आसपास के माहौल, खान-पान के बदलते स्तर और हमारे रहन-सहन ने सबसे अधिक प्रभावित किया है तो हमारे दिल को। इस लिए दिल सम्बंधी बीमारियों की संख्या भी दिन व दिन बढ़ती जा रही है।

हमारे देश में हृदयाघात अब तेजी से बढ़ती एक समस्या है। हृदय रोग विशेषज्ञों का कहना है कि यदि हृदयाघात का पता पहले से ही लग जाए तो दुर्घटना को टाला जा सकता है।

चिकित्सकों के लिए खतरे की सूचना पाना अब तक संभव न था मगर कैलिफोर्निया के चिकित्सकों ने इसके लिए एक अत्यंत ही संवेदी युक्ति तैयार कर ली है। एलिन फाउंडेशन, कैलिफोर्निया के चिकित्सकों ने अपने इस युक्ति को कलाई पर बंधी घड़ी से जोड़ दिया है। जब हृदय रोगी को दौरा पड़ने को होता है तो उसके एक घंटे पहले इस घड़ी में हलचल शुरू हो जाती है। यानी घंटे भर पहले इस बात का पता चल जाता है कि लगभग घंटे भर बाद रोगी को दिल का दौरा पड़ेगा, सो समय रहते इंतजाम कर लिया जाए। हृदय विशेषज्ञ तक पहुँचने के लिए एक घंटे का समय काफी हद तक पर्याप्त समय कहा जा सकता है। यदि समय पर चिकित्सा सुविधाएँ मिल जाएँ तो एक बड़े खतरे को आसानी से टाला जा सकता है।

पूरी की पूरी युक्ति अत्यंत संवेदी तकनीक पर आधारित है। इसके लिए रक्त-वाहनियों के मूल में जाना होगा। हमारा दिल एक तरह से रक्त साफ करने की मशीन है। इसकी हर धड़कन रक्त को शरीर में भेजती है। इस दिल को कार्यशील बनाए रखने के लिए धमनियाँ ऑक्सीजन पहुँचाती हैं। यदि शरीर में ऑक्सीजन की कमी हो जाए या फिर रक्त-वाहनियों में रुकावट पैदा हो जाए तो आफत दिल पर आती है। इन दशाओं में दिल को अपना सामान्य कार्य से ज्यादा कार्य करना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि दिल कमजोर पड़ने लगता है। यही खबर धमनियों द्वारा घड़ी तक जा पहुँचती है।

घड़ी में डायल पर एक छोटा-सा विद्युत् पर्दा जिसे 'इलेक्ट्रोकार्डियोग्राफ' कहते हैं, लगा रहता है। धमनियों से दिल की खराबी की सूचना उसमें लगे बेहद सूक्ष्म कम्प्यूटर द्वारा पहुँचती है। कम्प्यूटर इलेक्ट्रोकार्डियोग्राफ से जुड़े

सम्प्रेषण, डी-690, सरस्वती विहार, दिल्ली-110034

इलेक्ट्रोस को संचालित करता है, और दिल से धमनियों के जरिए संदेश प्राप्त करता है। ये संदेश कलाई पर बंधी घड़ी के पर्दे पर आ जाते हैं साथ ही 'पिप-पिप' का अलार्म भी बज उठता है। इस तरह से समय रहते दिल का दौरा पड़ने की खबर लग जाती है और रोगी को भयंकर दुर्घटना से बचा लिया जाता है।

एक नए उपकरण में कम्प्यूटर चिप और माइक्रोप्रोसेसर तकनीक का इस्तेमाल किया जाता है जो हृदय की धड़कानों से उत्पन्न होने वाले इलेक्ट्रॉनिक संकेतों को आँकड़ों में बदलकर घड़ी के डॉयल पर दिखा देती है। इस उपकरण में तीन संवेदक लगे होते हैं जो हृदय की धड़कनों को पहचानते हैं। एक संवेदक कलाई पर दबाव डालता है और नब्ज की गति नापता है। बाकी दो घड़ी के दोनों तरफ लगे होते हैं। इस उपकरण के जरिए हृदय की गति बिल्कुल ठीक-ठाक पढ़ी जा सकती है।

दिल की खातिर एक और महत्वपूर्ण उपकरण तैयार किया है ब्रिटिश वैज्ञानिकों ने। ऐसा एक 'पाकेट-डॉपलर' के निर्माण से संभव हुआ, जिसे 'हन्टलेह' नामक कंपनी ने तैयार किया है। इस पाकेट डॉपलर के निर्माण से दिल के रोगों को समझने में एक क्रांतिकारी सफलता मिली है। इसमें लगी स्क्रीन पर खून की रफ्तार और उसके बहाव की दिशा को ठीक-ठीक निर्धारित किया जा सकता है। इसकी कीमत बाजार में करीब तीन सौ पाउण्ड है। पाकेट डॉपलर को डॉक्टर अपने परामर्श कक्ष में अथवा स्वयं ही अपने घर पर इस्तेमाल कर सकते हैं। अस्पतालों में इस काम के लिए जिन मशीनों का इस्तेमाल किया जा रहा है उनकी कीमत इस यंत्र की तुलना में दस गुने से भी ज्यादा है।

'यूनिवर्सिटी हास्पिटल ऑव वेल्स' के शल्य-चिकित्सक श्री इयन लेन ने इस पाकेट डॉपलर का ढ़ाई सौ से भी ज्यादा मरीजों पर सफलतापूर्वक इस्तेमाल किया है। उनका कहना है कि रक्त के बहाव की दशा को दर्शाने में यह यंत्र बड़े काम का है। साथ ही इससे दिल के उस हिस्से का भी ठीक तौर पर निर्धारण किया जा सकता है जहाँ पर धमनियाँ सख्त पड़ गई हैं या फिर जहाँ घाव हो गया है। श्री लेन का कहना है कि परामर्श कक्ष में ही तुरंत दिल की सही हालत पता चलने से मरीज को मौत के मुँह में जाने से बचाया जा सकता है।

इसी अस्पताल के जैव-इंजीनियरिंग विभाग के प्रोफेसर जॉन वुडकाक का कहना है कि इस डॉपलर की रक्त-बहाव की दिशा को निर्धारित करने की क्षमता उन लोगों का इलाज करने में काफी मददगार है, जिन्हें एक बार दिल का दौरा पड़ चुका है। फिर रोगी के दिल का दौर पड़ सकता है, यह जानने में भी यंत्र अत्यंत उपयोगी है। इसका निर्धारण मस्तिष्क को जाने वाली मुख्य धमनी की स्थिति से किया जा सकता है। यदि इसकी स्थिति ठीक न हो तो इसकी अन्य धमनियाँ उसका काम निपटाती है। ये रक्त-वाहनियाँ आँखों की भौं के ठीक नीचे से गुजरती हैं। इनमें रक्त-प्रवाह की दिशा से उन लोगों की पहचान की जा सकती है, जिन्हें दिल का दौरा पड़ने का खतरा है। और एक बार समय रहते यह पता चल जाये तो इलाज काफी आसान हो जाता है। बाजारों में जल्द ही ऐसी माइक्रोसंवेदी घड़ियाँ उपलब्ध होंगी, जो हृदय गति के साथ ही रक्तचाप, नब्ज और शरीर का तापमान भी बताया करेंगी।

■ ■

साहित्य परिचय

1. पुस्तक—भारत के महान वैज्ञानिक
   लेखक--पृथ्वी नाथ पाण्डेय
   प्रकाशक--नवभारती प्रकाशन
   118-ए/3, दारागंज, इलाहाबाद-211006
   प्रथम संस्करण -- 1992
   मूल्य - बारह रुपये मात्र

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने भारत के चौदह वैज्ञानिकों—डॉ० जगदीश चन्द्र बसु, आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय डॉ० मोक्षगुण्डम विश्वेश्वरैया, सर आशुतोष मुखर्जी, श्रीनिवास रामानुजन, डॉ० चन्द्रशेखर वेंकट रामन, डॉ० बीरबल साहनी, डॉ० मेघनाथ साहा, प्रो० सत्येन्द्र नाथ बोस, डॉ० सलीम अली, डॉ० कर्मेमणिक्कम, श्रीनिवास कृष्णन, डॉ० होमी जहाँगीर भाभा, डॉ० विक्रम अम्बालाल साराभाई एवं डॉ० हरगोविन्द खुराना के जीवन से सम्बन्धित विवरण तथा इनके द्वारा की गयी खोजों का उल्लेख किया गया है। कितना ही अच्छा होता यदि पुस्तक में भारत के दो महान वैज्ञानिक प्रो० नील रत्न धर तथा डॉ० शान्ति स्वरूप भटनागर को भी सम्मिलित किया गया होता। ये दोनों उच्च कोटि के वैज्ञानिक थे। भारतीय मूल के वैज्ञानिक डॉ० हरगोविन्द खुराना जो इस समय अमेरिका के नागरिक हैं, को सम्मिलित करते हुये डॉ० सुब्रमण्यम चन्द्रशेखर को नजरन्दाज किया जाना अनुचित प्रतीत होता है क्योंकि यह भी भारतीय मूल के वैज्ञानिक हैं। पुस्तक की भाषा सरल तथा बोधाम्य होने से यह बच्चों के लिये विशेष रूप से उपयोगी है। वैज्ञानिकों के चित्रों का दिया जाना पुस्तक को आकर्षक बनाता है। लेखक तथा प्रकाशक को बधाई।

2. पुस्तक - विदेश के महान वैज्ञानिक
   लेखक - पृथ्वी नाथ पाण्डेय
   प्रकाशक - नवभारती प्रकाशन, 118-ए/3, दारागंज, इलाहाबाद-211006
   प्रथम संस्करण - 1992
   मूल्य - बारह रुपये मात्र

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने विश्व के प्रमुख 14 वैज्ञानिकों के जीवन तथा उनके अनुसंधान से सम्बन्धित तथ्यों को सरल तथा सहज भाषा में स्पष्ट किया है। ये वैज्ञानिक हैं—गैलिलियो गैलिली, सर आइजक न्यूटन, कार्ल लिने, डॉ० सेमुअल हेनीमन, बेंजमिन फ्रेंकलिन, सर हम्फ्री डेवी, माइकेल फैराडे, मैथ्यू फॉण्टेनी मॉरी, चार्ल्स डार्विन, लुई पाश्चर, मेरी स्क्लोडोस्का क्यूरी, एल्बर्ट आइन्सटीन, एलेक्जैण्डर फ्लेमिंग, एनरिको फेर्मि। पुस्तक में वैज्ञानिकों के चित्र भी दिये गये हैं। पुस्तक में प्रूफ सम्बन्धित त्रुटियाँ न के बराबर हैं। वैसे पुस्तक मुख्य रूप से बच्चों के लिये लिखी गयी है, किन्तु पुस्तक सभी के लिये उपयोगी है। पुस्तक की छपाई आवरण सज्जा सभी कुछ आकर्षक है। लेखक तथा प्रकाशक दोनों साधुवाद के पात्र हैं।

—डॉ० दिनेश मणि संयुक्तमंत्री, विज्ञान परिषद् प्रयाग, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

3. पुस्तक : हम और हमारा विज्ञान (बाल साहित्य)
लेखक : पृथ्वी नाथ पाण्डेय
प्रकाशक : जयभारती प्रकाशन, 447 पीली कोठी, नयी बस्ती, कीटगंज, इलाहाबाद
संस्करण : प्रथम: 1992
पेज : 40
मूल्य : रुपये 12.00

'हम और हमारा विज्ञान', बच्चों के लिये लिखी गयी पुस्तक है। पुस्तक में कुल 15 नये आविष्कारों के बारे में जानकारी दी गयी है। ये जानकारियाँ हैं : जिमी हीट (नल से गरम पानी प्राप्त करने का यंत्र), स्पेनर स्कैनिंग (समुद्र के भीतर की चीजों को देखने का यंत्र), पाकेट डापलर (दिल के रोगियों के लिये बनाया गया यंत्र), डिसेलीनेटर (खारे जल को पीने योग्य बनाना), यूरोसिड (चिकित्सा विज्ञान के उपयोग हेतु मानव डमी), आटो ब्रेल (ब्रेल पत्रिका प्रकाशन मशीन), टेलीराण्ड 210 (गोलाई मापक यंत्र), टर्बोहूवील (अपंग बच्चों के लिये ह्वील चेयर), थर्मल इमेजिंग कैमरा (आग में देखने वाला कैमरा), स्टड्स (कान छेदने की मशीन), सरफेस हीटिंग मैट्स, स्टूडियो फोटोग्राफी के लिये प्रोलाइट फ्लेश यूनिट, प्लानर-100, प्रकाशन के लिये आधुनिक कम्प्यूटर प्रणाली और जेट विमानों के लिये 'विंग मिरर्स'।

बच्चों को नये-नये आविष्कारों की जानकारी देने का लेखक का प्रयास सराहनीय है, लेकिन अनेक पाठों का प्रस्तुतिकरण इतना कठिन और तकनीकी शब्दों से भरा है कि बच्चे तो क्या बड़ों के पल्ले भी नहीं पड़ेगा। स्टूडियो फोटोग्राफी के लिये प्रोलाइट फ्लेश यूनिट, प्लानर-100, प्रकाशन के लिये आधुनिक कम्प्यूटर प्रणाली आदि ऐसे ही पाठ हैं।

पुस्तक की छपाई साफ सुथरी और कवर आकर्षक है।

4. पुस्तक : जीव-जन्तुओं की अनोखी दुनिया
लेखक : श्रीमती निशा पाण्डेय
प्रकाशक : ऊर्जा प्रकाशन, 83/69 नया बैरहना, इलाहाबाद
संस्करण : 1992
मूल्य : बारह रुपये
पेज : 38

'जीव-जन्तुओं की अनोखी दुनिया' पुस्तक को कुल आठ पाठों में विभाजित किया गया है। पहला पाठ साँपों पर, दूसरा कछुआ पर, तीसरा गैंडा पर। आगे बिल्ली, तोता, छिपकली, चींटी और मकड़ी के सम्बन्ध में जानकारी दी गयी है।

पुस्तक में उठाये गये सभी विषयों पर दी गयी जानकारी को रोचक और सरल बनाने का प्रयास किया गया है। इसीलिये पुस्तक बच्चों के लिये ग्राह्य है। पुस्तक में पर्याप्त रेखाचित्र भी दिये गये हैं। छपाई और साज-सज्जा अच्छी है। पुस्तक बच्चों के लिये उपयोगी है।

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक : जीवनोपयोगी सूक्ष्ममात्रिक तत्व

लेखक : प्रो० शिवगोपाल मिश्र

प्रकाशक : राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली

मूल्य : रु० 14.50

संस्करण : प्रथम 1993

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली द्वारा "पढ़ें और सीखें योजना" के अन्तर्गत प्रकाशित इस पुस्तक में लेखक ने बड़ी रोचक शैली में जीव रसायन जैसे जटिल विषय को बच्चों की रुचि के अनुसार नवीनतम जानकारीयुक्त सामग्री प्रस्तुत की है। "जीवनदायी तत्वों की खोज" नामक प्रथम अध्याय में पादप पोषण से सम्बन्धित इतिहास देते हुए विभिन्न वैज्ञानिकों द्वारा विभिन्न तत्वों की पोषण में अनिवार्यता ज्ञात करते हेतु आनन तथा स्टाउट (1939) के सर्वप्रचलित तीन मानदण्डों को विस्तृत रूप से समझाया गया है। पादप पोषण के अतिरिक्त पशु पोषण में भी पोषक तत्वों की भूमिका को समझाते हुए सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की व्याख्या की गयी है। पुस्तक के दूसरे अध्याय में वनस्पतियों के जीवनदायी तत्वों की न्यूनता एवं अधिकता से सम्बन्धित लक्षणों को रंगीन चित्रों द्वारा प्रदर्शित किया गया है। रासायनिक ऊतक परीक्षण, मृदा विश्लेषण इत्यादि विधियों द्वारा बिभिन्न पोषक तत्वों की न्यूनता ज्ञात कर छिड़काव विधि द्वारा उपचार की सिफारिश की गयी है। पुस्तक के तीसरे अध्याय में प्राणियों की जीवनदायी तत्वों पर चर्चा की गयीं है। विभिन्न पोषक तत्वों की न्यूनता तथा अधिकता से पशुओं तथा मनुष्यों में होने वाले विभिन्न रोगों पर प्रकाश डाला गया है। श्वेत-श्याम चित्रों की सहायता से विषय वस्तु को समझाने का प्रयास किया गया है। पुस्तक के चौथे तथा अन्ति अध्याय में प्रदूषणकारी तत्वों पर दृष्टिपात किया गया है जो कि आज का ज्वलन्त विषय है। पर्यावरण प्रदूषण के सन्दर्भ में भारी धातुओं से उत्पन्न प्रदूषण एक समस्या का रूप ले चुका है। इस अध्याय में छः भारी धातुओं-कैडमियम, सीसा, मर्करी, आर्सेनिक, ऐल्यूमीनियम, निकेल की विषाक्तता के विषय में विस्तार से बताया गया है। सार रूप में यह कहा जा सकता है कि पुस्तक के विषय वस्तु को सरल तथा बोधगम्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। लेखक का इस विषय में लगभग 30 वर्षों का शोध अनुभव विषय वस्तु की प्रामाणिकता को आधार प्रदान करता है। एक सिद्धहस्त विज्ञान लेखक होने के नाते प्रो० मिश्र ने अपनी चिरपरिचित शैली में जटिलतम तथ्यों को भी रोचक बना कर प्रस्तुत किया है। पुस्तक की छपाई त्रुटिरहित तथा आकर्षक है। प्रकाशक तथा लेखक दोनों को इस पुनीत कार्य के लिए बधाई।

—डॉ० दिनेश मणि
संयुक्त मन्त्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद211002

पत्रिका समीक्षा

पत्रिका का नाम— भारतीय वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान पत्रिका

प्रकाशक— प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली

प्रवेशांक— जून 1993

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली के प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय द्वारा नव प्रकाशित "भारतीय वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान पत्रिका" के प्रवेशांक जून 1993 का अवलोकन करने के पश्चात् प्रसन्नता हुयी कि हिन्दी की शोध पत्रिकाओं में एक और वृद्धि हुयी। वैसे भी हिन्दी में प्रकाशित होने वाली शोध पत्रिकाओं की संख्या उँगलियों पर गिने जाने भर है। विगत 35 वर्षों से विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा "विज्ञान परिषद् अनुसंधान पत्रिका" नाम से हिन्दी में एक शोध-पत्रिका का प्रकाशन नियमित रूप से हो रहा है, जिसमें प्रायः विज्ञान के सभी क्षेत्रों से सम्बन्धित शोध-पत्र प्रकाशित होते हैं। इस पत्रिका में शोध-पत्रों के अतिरिक्त समीक्षा पत्र, कान्फ्रेन्स रिपोर्ट, पुस्तक समीक्षा तथा सार संग्रह के सम्मिलित होने से इसमें विविधता आ गयी है, फलस्वरूप इसकी उपयोगिता हिन्दी में प्रकाशित अन्य शोध पत्रिकाओं की तुलना में अधिक कही जा सकती है।

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद् द्वारा प्रकाशित भारतीय वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान पत्रिका, में प्रकाशित कुछ शोध पत्र तो काफी अच्छे हैं किन्तु कुछ टिप्पणियाँ विशेष नवीनतम जानकारी से युक्त न होकर सामान्य सी प्रतीत होती हैं। पत्रिका के प्रथम एवं प्रमुख लेख "हिन्दी में वैज्ञानिक और तकनीकी साहित्य शब्दावली और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतीकों का प्रयोग" में वर्णित सभी सुझावों को स्वीकार कर वैज्ञानिकों द्वारा सही शब्द/मात्रक प्रयोग किये जाने की आवश्यकता है ताकि शोधपरक लेखों/शोध-पत्रों में समरूपता रहे। इससे निश्चय ही हिन्दी शोध-पत्रिकाओं का स्तर उच्च होगा। इस नई—शोध-पत्रिका के प्रकाशन के लिये प्रकाशक एवं सम्पादक को साधुवाद।

डॉ० दिनेश मणि
संयुक्त मन्त्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-2

केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी परिषद्

एक्स-वाई 68, सरोजिनीनगर, नई दिल्ली-110023

तार "हिन्दी परिषद्" दूरभाष : 672716

विषय : विज्ञान तथा तकनीकीविषयों पर अखिल भारतीय हिन्दी लेखन प्रतियोगिता के नियम

1. इस प्रतियोगिता में 1-9-92 से 31-8-93 तक की अवधि में मौलिक रूप में हिन्दी में लिखे गए लेख सम्मलित किए जाएँगे।
2. लेख कम से कम 10 तथा अधिकतम 20 फुल स्केप पृष्ठों का और कागज के एक ओर डबल स्पेस में टाइप किया हुआ होना चाहिए।
3. लेख के साथ जो चार्ट, ग्राफ तथा नक्शे आदि दिए जाएं वे काली स्याही से बने होने चाहिए जिससे यदि लेखों को छापने की योजना बने तो ब्लाक बनवाये जा सकें।
4. इस प्रतियोगिता के सम्बन्ध में उन्हीं लेखों पर विचार किया जाएगा जो केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी परिषद्, एक्स-वाई 68, सरोजिनी नगर, नई दिल्ली-110023 से 30 सितम्बर 1993 तक प्राप्त हो जावेंगे। लेखों की विषय वस्तु उनकी मौलिकता, विवेचन शैली की स्पष्टता आदि की श्रेष्ठता के आधार पर निम्नलिखित पुरस्कार दिए जाएँगे।

1. प्रथम पुरस्कार	501 रूपए
2. द्वितीय पुरस्कार	351 रूपए
3. तृतीय पुरस्कार	251 रूपए
4. हिन्दीतर भाषी प्रोत्साहन पुरस्कार	251 रूपए

5. लेखों को जांचने तथा उनकी तुलनात्मक श्रेष्ठता निर्धारित करने के लिए परिषद् विधान तथा तकनीकी विषयों के विद्वानों की समिति अथवा समितियां गठित करेगी। उनके द्वारा लिया गया निर्णय सभी प्रतियोगियों को मान्य होगा।
6. विशेष परिस्थितियों को छोड़कर लेख में यथासंभव भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा तैयार की गई पारिभाषिक शब्दावली का ही प्रयोग किया जाए।
7. जो लेख किसी पत्र-पत्रिका में प्रकाशित हो चुके होंगे उन्हें अथवा रेडियो, दूरदर्शन से प्रसारित हो चुके होंगे उन्हें इस प्रतियोगिता में सम्मलित करने के लिए विचार नहीं किया जा सकेगा।
8. परिषद् को इन नियमों में संशोधन/परिवर्तन करने का पूर्ण अधिकार होगा।

सुभाष चन्द्र लखेड़ा	कृष्ण कुमार चावला	स० दर्शन सिंह
संयोजक विज्ञान	प्रतियोगिता मंत्री	महामंत्री

नोट : परिषद् "विज्ञान गंगा" नामक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन करती है। मात्र बीस रुपये भेजकर इसका वार्षिक ग्रहक बनिए और विज्ञान के प्रचार प्रसार में भागीदार बनें।

शुल्क- 5/- रूपये प्रति अंक--वार्षिक 20/- रु०

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद्
नई दिल्ली-110016

"पढ़ें और सीखें" योजना के अन्तर्गत तैयार की गई विज्ञान के पुस्तकों की सूची जो इस समय उपलब्ध हैं

क्र० सं०	पुस्तक का नाम	लेखक	मूल्य
1.	पेंग्विन के देश में (Penguin Ke Desh Mein)	डॉ० सैयद ज़ुहूर कासिम डॉ० प्रभातनाथ मुखर्जी	रु० 11.20
2.	चिकित्सा विज्ञान की कहानियाँ (Chikitsa Vigyan Ki Kahaniyan)	डॉ० यतीश अग्रवाल	रु० 9.60
3.	मिट्टी का मोल (Mitti Ka Mol)	डॉ० शिवगोपाल मिश्र	रु० 7.45
4.	मानव मशीन से परिचय (Manav Machine Se Parichaya)	प्रो० डॉ० ललित कुमार कोठारी डॉ० श्रीगोपाल काबरा	रु० 10.25
5.	राकेट एक परिचय (Rocket-Ek Parichaya)	डॉ० सतीशचन्द्र उत्तम	रु० 8.45
6.	चमत्कार परमाणु ऊर्जा के (Chamatkar Parmanu Urja Ke)	डॉ० उमेशचन्द्र मिश्र	रु० 11.62
7.	तत्व-नये पुराने (Tatwa-Naye Purane)	प्रो० रामचरण मेहरोत्रा प्रो० रमाशंकर राय	रु० 8.00
8.	फोनोग्राफ से स्टीरियो तक (Phonograph Se Stereo Tak)	प्रो० बीरेन्द्र भटनागर	रु० 10.35
9.	कम्प्यूटर से बातचीत (Computer Se Batcheet)	प्रो० ओमविकास	रु० 12.12
10.	कहानी शल्य चिकित्सा की (Kahani Shalya Chikitsa Ki)	डॉ० यतीश अग्रवाल	रु० 20.00
11.	हम क्या खायें (Hum Kya Khayen)	प्रो० रमेश बिजलानी	रु० 8.50
12.	जैव तकनीक (Biotechnology)	डॉ० राजकुमार बंसल	रु० 6.50
13.	उत्कृष्ट गैसें (Noble Gases)	प्रो० रामचरण मेहरोत्रा	रु० 5.50
14.	तारों की जीवनगाथा (Taron Ki Jeevangatha)	प्रो० जयन्त विष्णु नार्लिकर	रु० 9.50

15.	नापो तो सच पता चले (Napo To Sach Pata Chale)	प्रो॰ अजितराम वर्मा	रु॰ 7.50
16.	नाभिकीय विकिरणों के अनुप्रयोग (Nabhikiya Vikirano Ke Anuprayog)	प्रो॰ रामचरण मेहरोत्रा प्रो॰ रमाशंकर राय	रु॰ 8.90
17.	ब्रह्माण्ड का रहस्य (Brahmand Ka Rahasya)	प्रो॰ ए॰ के॰ सिन्हा	रु॰ 13.52
18.	सूक्ष्ममात्रिक जीवनोपयोगी तत्व (Sukshma Matrik Jeevanopayogi Tatva)	डॉ॰ शिवगोपाल मिश्र	रु॰ 14.50
19.	भारतीय गणित की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक झलकियाँ (Bharatiya Ganit Ki Aitihasik Awam Sanskiritic Jhalkiyan)	डॉ॰ आर॰ सी॰ गुप्ता	
20.	शरीर क्रिया एवं व्यायाम (Sharir Kriya Awam Byayam)	डॉ॰ श्रीमती कमला खेतपाल	
21.	जीवाणुओं की दुनियाँ और हम (Jeevanuo Ki Duniya Aur Hum)	प्रो॰ दयाशंकर मिश्र	रु॰ 10.50
22.	द्रव रवे (Liquid Crystals)	प्रो॰ सी॰ एल॰ खेतपाल	
23.	समुद्र कुबेर का भण्डार (Samudra Kuber Ka Bhandar)	श्री प्रभात कुमार मुखर्जी	
24.	उपग्रह उवाच (Upagrah Uvach)	श्री मणीश चन्द्र उत्तम	
25.	हम स्वस्थ कैसे रहें ?	प्रो॰ राकेश कुमार टंडन	
26.	गहन समुद्र में बहुधात्विक पिंड : खनिजों के भावी स्रोत	डॉ॰ प्रतिभा जौहरी	

नोट : पुस्तकों के लिए कृपया सम्पर्क करें, अध्यक्ष प्रकाशन विभाग, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली-110016

● ●

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय सुहृदय !

"विज्ञान" का अगस्त-सितम्बर अंक आपके हाथों में है। अभी भी "विज्ञान" पत्रिका नियमित नहीं हो पा रही है, किन्तु आपने देर से अंक मिलने के बावजूद जिस धैर्य का परिचय दिया है, निःसंदेह उससे मेरी अपनी निजी हताशा कम हुई है। विज्ञान परिषद् और "विज्ञान" पत्रिका के बुरे दिन चल रहे हैं फिर भी हमने आशा का दामन नहीं छोड़ा है। यह सोचकर कि 'सब दिन होत न एक समान'। 'जब नीके दिन आइ हैं बनत न लगिहैं देर'।

एक शुभ समाचार है। स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी का स्वास्थ्य पहले से बेहतर है। आर्य समाज की बम्बई शाखा ने स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी को 'वेद-वेदांग पुरस्कार' से विभूषित कर सम्मानित किया है। यह समारोह सुल्तानपुर जिले के अमेठी तहसील में 1 अगस्त को सम्पन्न हुआ। उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री एवं भूतपूर्व केन्द्रीय मंत्री श्री नारायण दत्त तिवारी ने मुख्य अतिथि के रूप में बोलते हुए बताया कि स्वामी जी उनके अध्यापक रह चुके हैं और स्वामी जी से उनकी भेंट 50 वर्षों के लम्बे अंतराल के बाद हुई है। 88 वर्षीय वयोवृद्ध स्वामी जी की वेद एवं विज्ञान तथा विज्ञान लेखन संबंधी योगदान की प्रशंसा करते हुए श्री तिवारी ने स्वामी जी द्वारा स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान किए गए महत्वपूर्ण योगदान का भी उल्लेख किया और स्वामी जी को एक शाल, एक रजत स्मृति चिन्ह और 25001 रुपयों का नगद पुरस्कार प्रदान किया। समारोह रणवीर रणञ्जय कॉलेज, अमेठी में सम्पन्न हुआ।

विज्ञान परिषद् प्रयाग के नवीन पदाधिकारियों और अंतरंग सभा के सदस्यों का चुनाव सम्पन्न हो चुका है और नये पदाधिकारियों ने अपना कार्यभार संभाला लिया है। परिषद् के नये सभापति डॉ० श्रीकृष्ण जोशी, महानिदेशक, सी. एस. आई., आर. नई दिल्ली देश के चोटी के वैज्ञानिक हैं। आप व्यक्ति नहीं संस्था हैं। प्रधानमंत्री प्रोफेसर देवेन्द्र दत्त नौटियाल इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग के वर्तमान अध्यक्ष हैं। आप मृदुभाषी किन्तु सिद्धान्त के पक्के और कर्मठ व्यक्ति हैं। आपसे परिषद् को बड़ी आशायें हैं। इसी प्रकार नये पदाधिकारियों में डॉ० अशोक महान, कोषाध्यक्ष और डॉ० ईश्वर चन्द्र शुक्ल, पुस्तकालयाध्यक्ष इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वरिष्ठ रीडर हैं और दोनों ही रसायनविद् के रूप में विख्यात हैं। नव निर्वाचित पदाधिकारियों को बधाई। डॉ० ईश्वर चन्द्र शुक्ल रसायन विज्ञान से संबंधित एक संगोष्ठी में फ्रांस जा रहे हैं। डॉ० शुक्ल को परिषद् परिवार की बधाई एवं शुभकामनाएँ।

'व्हिटेकर पुरस्कार' एवं 'डॉ० गोरख प्रसाद विज्ञान लेखन पुरस्कार' के लिए विजेताओं के नामों की घोषणा भी शीघ्र ही कर दी जायेगी।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की लिखित परीक्षायें लगभग समाप्त हैं। प्रयोगात्मक परीक्षायें भी सितम्बर माह के प्रथम सप्ताह तक समाप्त हो जायेंगी। अतएव ऐसी आशा है कि सितम्बर मास के मध्य से परिषद् की गतिविधियाँ फिर तेज हो जायेंगी। इसी आशा, इसी विश्वास के साथ।

आपका

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1993

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।
(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।
(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।
(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।
(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1993 से दिसम्बर 1993 माह के बीच प्रकाशित हो।
(6) लेखक को लेख के साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।
(7) विज्ञान परिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।
(8) वर्ष 1993 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1994 है।
(9) पुरस्कार के लिए पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागियों को इस प्रतियोगिता के लिए उपयुक्त नहीं समझा जायेगा।

लेख निम्न पते पर भेजें—

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद वा रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पत्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं :

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु०, चौथाई पृष्ठ 50.00 आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०
प्रति अंक : 2 रु० 50 पैसे यह अंक : 5 रु०

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
अक्टूबर-नवम्बर 1993; वर्ष 79 अंक 7-8

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०
वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 2 रु० 50 पैसे
यह अंक : 5 रु०

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक
डॉ० डी० डी० नौटियाल
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7 ए बेली एवेन्यू
इलाहाबाद-211002

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

ऐनोफेलीज मच्छर का जीवविज्ञान

डॉ० रवि शंकर पाण्डेय एवं मानवेन्द्र त्रिपाठी

मच्छर का छोटा व कोमल शरीर पतला तथा शल्कों द्वारा ढँका होता है। शरीर सिर, वक्ष, उदर में विभाजित रहता है। मच्छर का सिर अधोहनु अवस्था में (Hypognathus Condition) नीचे की ओर झुका रहता है। यह कुछ छोटा, गोल-सा तथा एक छोटी संकरी ग्रीवा द्वारा वक्ष से जुड़ा और काफी गतिशील रहता है। दो बड़े वृक्काकार संयुक्त नेत्र होते हैं, परन्तु नेत्रक नहीं होते हैं। नेत्रों के पीछे सिर का शिखर भाग एपीक्रेनियम तथा इसके आगे का त्रिकोणाकार मोटी क्लाइपियस या फ्रान्स नामक स्कीलाराइट का बना होता है। फ्रान्स मुख उपांगों के आधार भाग को ऊपर से ढँके रहती है। इसी से दो लम्बी संवेदी शृंगिकायें (antennae) आगे निकली रहती हैं। मच्छर की प्रत्येक शृंगिका में 15 पोडोमीयर्स या खण्ड होते हैं। दूसरे खण्ड में "जान्सन का अंग" श्रवणांग (auditory organ) मिलता है। तीसरे से आगे वाले खण्ड लगभग समान होते हैं। शृंगिकाओं के आधार में मोटे बालों का गुच्छा मिलता है। इसके अलावा छोटे-छोटे परिष्कृत बाल बाकी पूरी सतह पर फैले रहते हैं। नर मच्छर में शृंगिका पंखदार (पक्षदार) और घने बालों से आच्छादित रहती है। मादा मच्छर में ये छितराये हुए से अथवा रोएँ (sparsely hairy or Pilose) होते हैं। इसीलिए नर और मादा मच्छर में स्पष्ट पहचान सुगम होती है [... सं०—!]।

मच्छर की शृंगिका
क. मादा ख. नर

चित्र—1.

प्राणि विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002
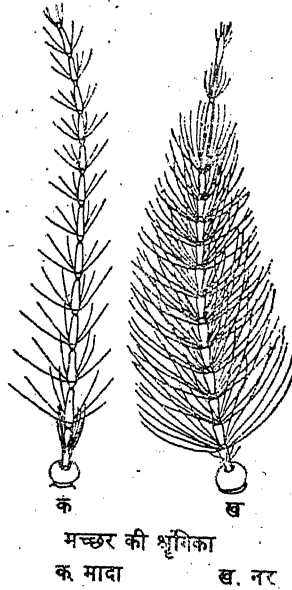
मुखांग

शुण्ड (Probosis) : यह एक लम्बी, सीधी एवं मोटी खोखली रूप में होता है। यह लेबियम से सम्बन्ध रखता है। इसके छोर पर स्थित दो छोटे व संवेदी शूकयुक्त (Bristles) नोकदार लैबेली लेबियल स्पर्शकों (Labial Palps) के द्योतक होते हैं। शुण्ड के पृष्ठतल पर, इसकी पूरी लम्बाई में फैली एक गहरी खाँच के कारण ही यह खोखली होती है। अन्य प्रमुख उपांग लम्बी महीन नोकदार शलाकाओं (stylets) के रूप में होते हैं और शुण्ड की इसी खाँच में स्थित होते हैं। मच्छर के मुख उपांग फल-फूलों का रस चूसने या पक्षियों, स्तनियों की त्वचा में चुभकर रक्त चूसने के लिए उपयोजित होते हैं।

लैब्रम एपीफैरिंक्स

यह एक लम्बी नोकदार रचना होती है जो पृष्ठतल की ओर शुण्ड की खाँच पर ढक्कन की तरह स्थित होती है। यह लैब्रम तथा मुखदार के पृष्ठ भाग से निकली एपीफैरिंक्स के समेकन से बनी होती है। इसकी एक खाँच आहारकुल्या का काम करती है। तरल भोजन इसी से होकर चूसा जाता है [चित्र सं०—2]।
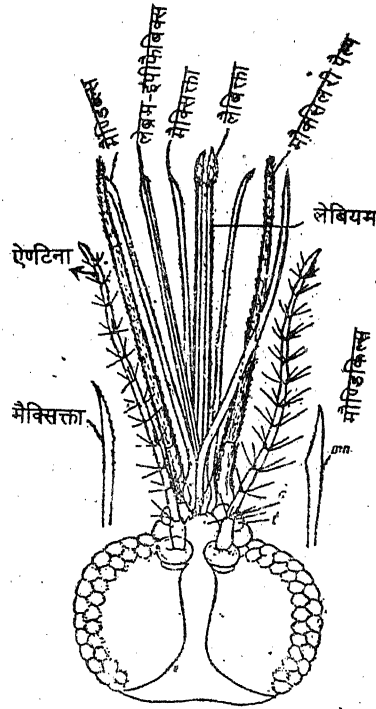
मादा ऐनोफिलीज का सिर-मुखुपागों सहित

चित्र—2.

अधोजिह्वा या हाइपोफैरिंक्स

यह एक महीन व नुकीली, चपटी सी शलाका के रूप में लैब्रम एपीफैरिंक्स की खाँच अर्थात् आहारकुल्या पर ढंकी रहती है। इसके दोनों किनारे धारदार होते हैं। अतः यह दुधारी तलवार (double edged sword) के

समान होती है। यह जीभ का प्रतिनिधित्व करती है। यह मुख के फ्लोर से निकलती हैं। इसके भीतर ही भीतर एक महीन लार नालिका होती है जो इसके छोर पर खुलती है। इस प्रकार यह इन्जेक्शन की सुई के समान कार्य करती है [चित्र सं०—3]।
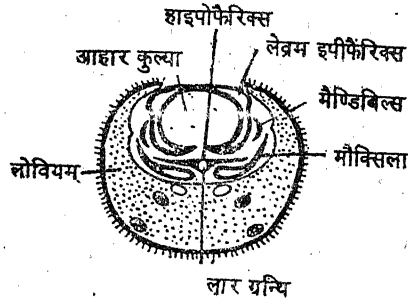
मादा मच्छर के प्रबोसिस की अनुप्रस्थ काट

चित्र—3.

लार ग्रन्थि

प्रत्येक ओर की ग्रन्थि में तीन पिण्डक या एसिनी होते हैं। दोनों पिण्डकों में से पार्श्वीय पिण्डक लम्बे ज्यादा रिफ्रैक्टाइल तथा मध्य पिण्ड की अपेक्षा छोटे होते हैं। प्रत्येक पिण्डक में वाहिनी होती है और उसमें र कोशायें होती हैं। तीनों वाहिनियाँ जुड़कर एक बड़ी वाहिनी बना लेती हैं और जब ये गर्दन के पास से गुजरती हैं तो वहाँ पर दोनों वाहिनियाँ (बड़ी वाहनियाँ) जुड़कर सामान्य लार ग्रंथि का निर्माक णरती हैं [चित्र सं०—4]।
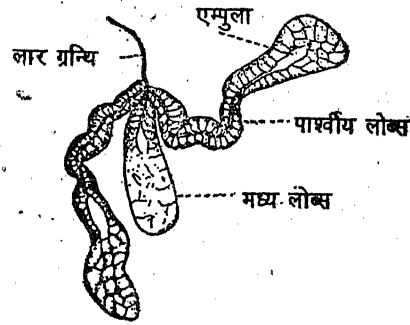
ऐनोफेलीज मच्छर की एक तरफ की लार ग्रन्थि

चित्र—4.

मैण्डिबल्स

ये एक जोड़ी महीन सूई जैसी शलाकाओं के रूप में लेब्रम एपीफैरिक्स के इधर-उधर स्थित होते हैं। इनके दूरस्थ सिरे पर कुछ भाग दाँतेदार आरी की तरह होता है। ये पोषद की त्वचा को वेधने का कार्य करते हैं। नर मच्छर में मैण्डिबल्स काफी लघुकृत (reduced) रूप में होते हैं।

मैक्सिली

ये भी पोषद की त्वचा को वेधने के लिए, मैण्डिबल्स की तरह सूई जैसी सिरे पर आरीनुमा होते हैं। ये लेबियम की खाँच के अधर भाग में अधोजिह्वा के नीचे दोनों ओर एक-एक होती है। अपनी पूरी लम्बाई में प्रत्येक मैक्सिला भीतरी किनारे पर मोटी और बाहरी किनारे पर चपटी व धारदार होती है। अतः यह छूरे के फलक जैसी दिखाई पड़ती है।

काटने की विधि तथा भोज्य पदार्थों का ग्रहण

मादा मच्छर मनुष्य के शरीर पर जहाँ बैठती है वहाँ की त्वचा की अपनी शुण्ड की संवेदी लैबलों द्वारा पहले जाँच करती है। यदि स्थान उपयुक्त होता है तो यह शुण्ड को त्वचा पर थोड़ा दबाती है। इससे शुण्ड कोमल होने के कारण कुछ मुड़कर ऊपर की ओर खिसकते हैं। शेष कठोर भाग शुण्ड के छोर पर उघड़ जाते हैं। अब ये कठोर शलाका के समान पाये जाने वाले उपांग मैण्डिबल्स तथा मैक्सिली के आरीनुमा छोरों की सहायता से त्वचा को वेधते हुए इसमें घुस जाते हैं। जैसे-जैसे ये त्वचा में गहन स्तर की ओर प्रवेश करते है लचीले लेबियम का शुण्ड-खोल त्वचा के बाहर ही कमान या लूप की भाँति मुड़ता जाता है। त्वचा के अन्दर मुखउपांग किसी अधस्त्वचीय शिरा कोशिका की दीवार को वेध देते हैं। अब ग्रसनी की प्रचूषण क्रिया द्वारा ...त होकर रुधिर कोशिका का रक्त आहार कुल्या में होकर चूस लिया जाता है। ग्रसनी से ग्रासनली (oesophagus) ...त पम्प कर दिया जाता है। मादा मच्छर रक्तपान शुरू करने से पहले लारनालिका से इन्जेक्शन सुई की तरह ...की एक नन्ही बूंद पोषद की त्वचा के घाव पर छोड़ती है। लार में एक प्रतिज्ञापन (antic coagulant) एंजाइम की सम्भावना भी व्यक्त की गयी है जो रक्तपान के समय रक्त को जमने से रोकता है। यह भी विश्वास किया जाता है कि त्वचा पर जो स्थान लाल होकर सूजता है वह भी इसी एंजाइम के कारण होता है।

वक्ष भाग

इसमें 3 खण्ड होते हैं—प्रोथोरेक्स, मीसोथोरेक्स, मेटाथोरेक्स। मेटाथोरेक्स छोटे होते हैं। ये बड़े मीसोथोरेक्स द्वारा ढंके होते हैं। मीसोथोरेक्स का टरगम या मीसोनोटम् अनुप्रस्थ दरारों द्वारा आगे से पीछे की ओर 3 भागों में बंटा होता है—स्कूटम् (scuteum), स्कूटेलम् (scutellum) पोस्ट स्कूटेलम् (Post scutellum)। स्कूटेलम् पीछे की ओर ऐनोफेलीज में तो सामान्य अर्द्ध चन्द्राकार-सा परन्तु क्यूलेक्स में निपिण्डकीय होता है। तीनों वक्षीय खण्डों में से एक-एक जोड़ी संयुक्त पाद मीसोथोरेक्स से एक जोड़ी सन्तुलन अंग (Halters) यथावत् लगे होते हैं। इसके अलावा प्रोथोरेक्स पर पादों के उद्गम स्थानों के निकट एक-एक जोड़ी श्वासरन्ध्र (spiracles) होते हैं।

उदर

यह लम्बा पतला होता है। इसमें 10 खण्ड होते हैं। प्रथम खण्ड अविकसित मेटाथोरेक्स से समेकित (fused) होता है। दूसरे से 8वें तक खण्ड सामान्य होते हैं। इन पर एक-एक जोड़ी श्वासरन्ध्र होते हैं। नौवाँ व दसवाँ—उदरखण्ड आंशिक रूप से आँठवें में धँसे रहते हैं। मादा में दसवें उदरखण्ड से एक जोड़ी छोटे गुदलूम (anal circi) निकले रहते हैं। इनके बीच में एक छोटी सी जननप्लेट होती है। नर में दोनों उदरखण्ड (अन्तिम) 180 के कोण पर घूमें रहते हैं। नौवाँ खण्ड मुद्राकार होता है। इस पर एक जोड़ी पंजेदार अलिंगक (claspers)

लगे होते हैं। दसवाँ खण्ड एक मैथुनांग में रूपांतरित होता है, जिसे (Aedegus) ऐडिगस कहते हैं। नर व मादा दोनों में गुदा (आठवें) जननछिद्र नौवें उदरखण्डों के पश्चछोरों पर होता है।

पाद एवं पंख

मच्छर में पाद बहुत लम्बे व महीन होते हैं। ऐनोफेलीज में कुछ दुर्बल परन्तु क्यूलेक्स में मजबूत होते हैं। ये उन्हीं 5 पोडोमीयर्स—काक्सा, ट्रोकेन्टर, फीमर, टिबिया तथा टारसस के बने होते हैं। काक्सा कुछ छोटा परन्तु टारसस लम्बा होता है। 5 खण्डीय टारसस के छोरखण्ड में एक जोड़ी हुकनुमा पंजे तथा एक जोड़ी संवेदी गद्दियाँ या पल्वाइली भी होती हैं। प्रत्येक पाद पर अनेक महीन शूक व शल्क होते हैं।

मच्छर में मीसोथोरेक्स से लगे केवल प्रथम जोड़ी के ही पंख विकसित होते हैं। मेटाथोरेक्स से लगे, दूसरी जोड़ी के पंख, उसी प्रकार सूक्ष्म "संतोलक अंगों" (Halters) में रूपान्तरित होते हैं [चित्र-5]। पंख महीन झिल्लीनुमा

ऐनोफेलीज मच्छर का पंख

चित्र—5.

तथा लम्बे व चपटे अण्डाकार से होते हैं। ऐनोफेलीज के पंखों पर 3-4 जगह अधिकतर गहरे रंग की शल्कों के झुण्ड होते हैं। इसीलिए ये चितकबरे दिखाई पड़ते हैं। मच्छर का प्रत्येक संतोलक अंग 3 भागों में विभेदित होता है। फूला हुआ आधार भाग या स्कैबेलम (Scabellum), मध्यवर्ती संकरा वृन्त (Pedicel), और फूली हुई छोर घुण्डी या कैपिटेलम (Capitellum)।

आहारनाल

ग्रसनी लम्बी फ्लास्क के आकार की होती है। इसका अग्र भाग दो भागों में विभेदित रहता है। अग्र तथा पश्च। इनमें प्रोवेन्ट्रीकुलस पाया जाता है। यह एक मांसपेशियों से निर्मित संरचना है, जो कि ग्रास नली के अन्तर्वलन (Invagination) से निर्मित होती है। मच्छरों में ये वाल्व का कार्य करती है [चित्र सं०—6]।

जनन अंग

मादा में एक जोड़ी बड़े अण्डाशय, जो कि संगर्भ के समय में अण्डों से भरी रहती हैं। अण्डाशय अण्ड-वाहिनियों से जुड़े रहते हैं, जिस पर काइटिन का आवरण होता है और आपस में मिलने पर सामान्य अण्डवाहिनी का

मच्छर के आहारनाल के विभिन्न भाग

चित्र—6.

निर्माण करती है। इसका निचला भाग "योनि" कहलाता है। स्पर्मथीका-ऐनोफेलीज और क्यूलीसाइन मच्छरों में अलग-अलग होते हैं। ऐनोफेलीज में केवल एक तथा क्यूलेक्स में तीन की संख्या में स्पर्मथीका मिलते हैं [चित्र सं०— एवं 8]।
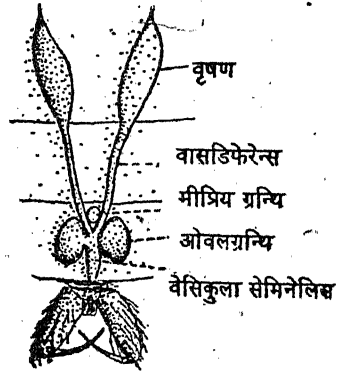
नर ऐनोफेलीज मच्छर का जनन तन्त्र

चित्र—7.
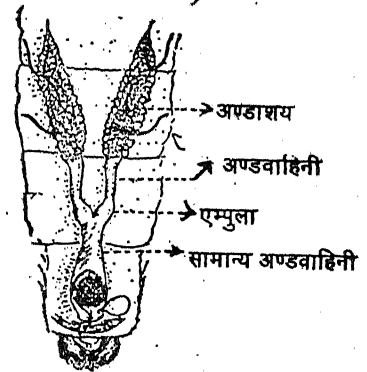
मादा ऐनोफेलीज मच्छर का जनन तन्त्र

चित्र—8.

जीवन चक्र

मच्छर के जीवनचक्र में चार अवस्थायें आती हैं। वे निम्नवत् हैं—

अण्डे (Eggs)

डिम्भक (Larva)

प्यूपा (Pupa)

प्रौढ़ मच्छर (Adult mosquito)

अण्डों का जीवविज्ञान (Biology of Eggs)

अण्डे छोटी काली रचनायें होती हैं और आँखों से देखी जा सकती हैं। क्यूलेक्स अण्डे लम्बे व चुरुट की आकृति के होते हैं। इनका संकरा सिर प्लावी बेड़े में ऊपर की ओर तथा चौड़ा व गोल सिरा नीचे की ओर होता है। निचले सिरे पर एक सूक्ष्म प्यालीनुमा संरचना होती है, जिसे "बिजाण्डदार प्याली" कहते हैं। प्रारम्भ में अण्डे सफेद होते हैं और शीघ्र ही गहरे धूसर रंग के हो जाते हैं।

ऐनोफेलीज के अण्डे नौकाकार अर्थात् दोनों सिरों पर संकरे व नोकदार से होते हैं। इनका रंग काला होता है। प्रत्येक अण्डे के दोनों पार्श्वों में झिल्ली की बनी तथा वायु से भरी छतरीनुमा संरचनायें होती हैं, जिन्हें "वायुप्लाव" कहते हैं [चित्र सं०—9 अ, ब]।

अ. पृष्ठीय एवं पार्श्वीय रूप, ब ऐनोफेलीज के अण्डे, स पृष्ठीय एव पार्श्वीय रूप

ऐनोफेलीज के अण्डे समूह में

चित्र—9.

मादा ऐनोफेलीज अण्डों को एक-एक करके देती है। इनका निषेचन उस समय होता है जब ये स्परमेटाजोआ से ऐट्रियम की तरफ बढ़ते हैं। डिम्भक का विकास अण्डे के अन्दर ही प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु यह तथ्य अभी तक प्रमाणित नहीं हो सका है कि अण्डे वातावरण से कोई पोषक पदार्थ ग्रहण करते है या नहीं। अण्डों में थोड़ी वृद्धि तो अवश्य देखी जाती है, परन्तु सम्भवतया वह आर्द्रता के शोषण के कारण है। डिम्भक के पूर्ण विकास के लिए लगने वाले समय में भी विभिन्नता पायी जाती है और सामान्य परिस्थितियों में भारयीय वातावरण में लगने वाला समय 48 घण्टों का रहता है, जो कि शीतकाल में बढ़ सकता है। ऐनोफेलीज के अण्डे शुष्कीय वातावरण को सहने में पूर्णतया अक्षम हैं। जब कि ऐडीज जाति के मच्छर कई महीनों तक शुष्क वातावरण से, जीवनसक्षम (viable) रहते हैं। ऐनोफेलीज के अण्डों को सूखे शोषकपत्रों पर संग्रहित नहीं किया जा सकता है। ऐडीज जाति के मच्छरों के साथ यह सम्भव है। अण्डों के उत्तरजीवन (survival) और डिम्भकों के विकास के लिए जल की पतली सतह ही पर्याप्त है। अण्डे 5°C का निम्न तापक्रम सह सकने में सक्षम हैं। प्रत्येक मादा के द्वारा दिये गये अण्डों की संख्या में भी विभिन्नता होती है। यह संख्या 100 से 150 के बीच हो सकती है। मादा मच्छर ने कितना रक्त ग्रहण किया है इससे अण्डों की संख्या पर प्रभाव पड़ता है।

डिम्भक पारिस्थितिकी (Larval Ecology)

ऐनोफेलीज डिम्भक के वृद्धि और परिवर्धन में चार अवस्थायें पायी जाती हैं। प्रथम अवस्था का डिम्भक जो कि अण्डे से बाहर निकलता है, वह अत्यन्त सूक्ष्म पर आँखों से दिखाई भी पड़ता है। उपयुक्त भोज्य पदार्थों के

ग्रहण के पश्चात डिम्भक में वृद्धि होती है और निर्मोचन की विभिन्न श्रृंखलाओं के पश्चात् द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अवस्थाओं के डिम्भक निकलते हैं। सामान्यतया निर्मोचित त्वचा को [चित्र सं०—10] विकसित डिम्भक ग्रहण कर
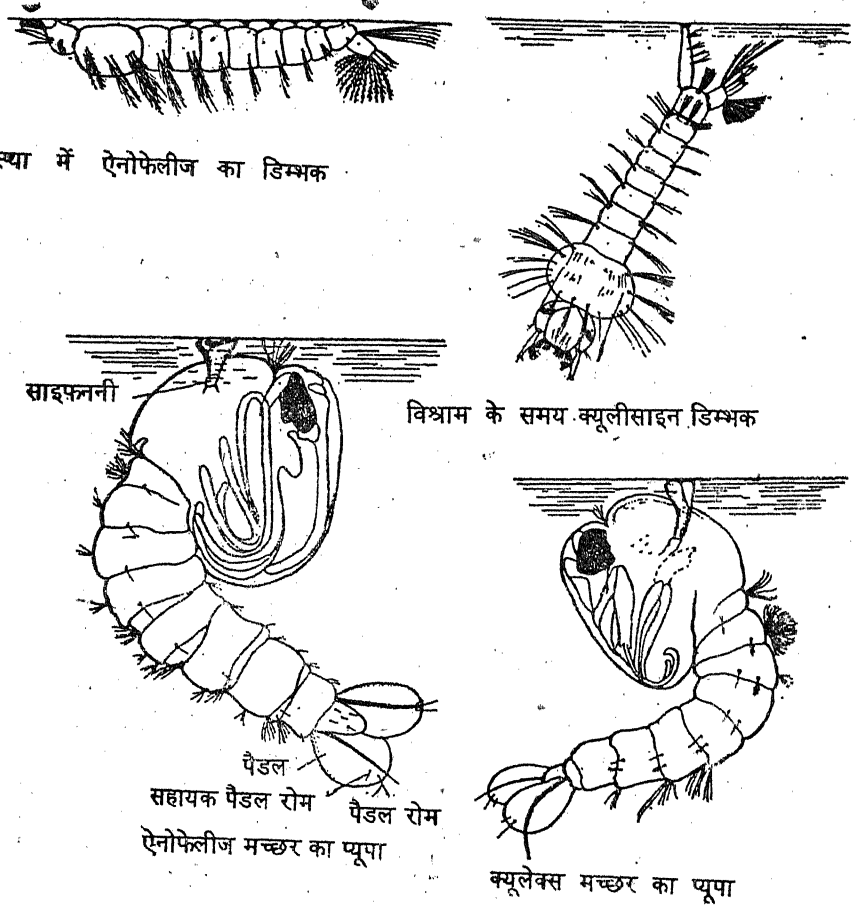
चित्र—10.

लेते हैं (केवल चतुर्थ निर्मोचिन त्वचा को छोड़कर जो कि प्यूपनकोशा की अवस्था में परिवर्तित हो जाती है)। अभरणीय जातियों के प्रथम और द्वितीय डिम्भक अवस्था की पहचान करना थोड़ा कठिन होता है और ज्यादातर डिम्भक की आकारिकी, व्यवहार का अध्ययन तृतीय और चतुर्थ अवस्थाओं से ही होता है। पूर्ण विकसित डिम्भक की लम्बाई 3 से 6 मि० मी० के बीच होती है। विभिन्न जातियों के डिम्भको के आकार में भी विभिन्नता पायी जाती है। *Hyrcanus* और *Barbirostris* सदस्यों की जातियों, जैसे कि *A. gigas* के डिम्भक सबसे ज्यादा लम्बे होते हैं। और *A. aitkeni* के डिम्भक सबसे छोटे आकार के होते हैं [चित्र सं०—11]।

सामान्यतया ग्रीष्म वातावरण में डिम्भक अवस्था 8 से 10 दिनों के बीच की होती है जबकि शीतकाल में यह अवस्था लम्बी होती है। कुछेक डिम्भक तो पूरे शीतकाल (अर्थात् मार्च तक) प्यूपेट या कोशीय अवस्था में आते ही नहीं)। यह एक ऐसी विशिष्ट क्रियाविधि है, जिसके माध्यम से कीट अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों को झेलने में

सक्षम हो जाते हैं। इस कारक को शीतनिद्रा के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है, क्योंकि जीवन की क्रियाविधि में विराम की अवस्था न होकर बल्कि गति मन्द हो जाती है।
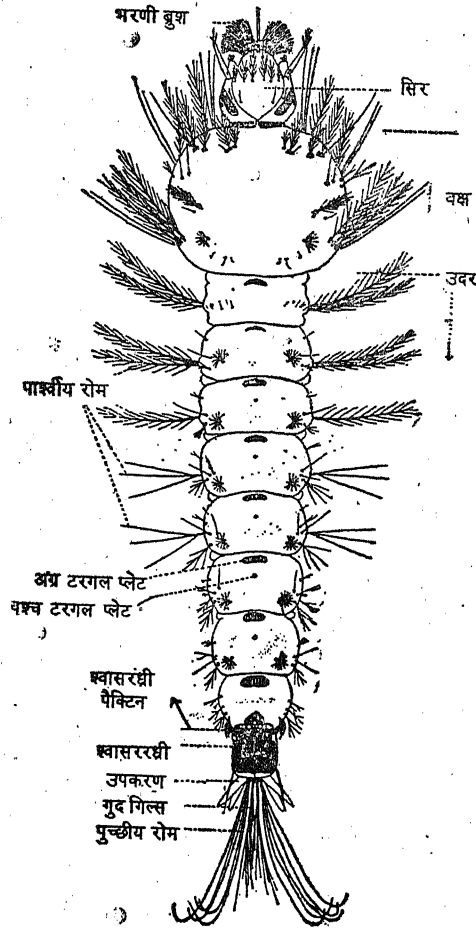
ऐनोफेलीज का पूर्ण विकसित डिम्भक

चित्र—11.

जनन स्थल (Breeding Places)

ऐनोफेलीज डिम्भक में जनन अनेक प्रकार के जननस्थलों पर होता है। यह वाक्यांश अनुपयुक्त न होगा कि किसी भी प्रकार का संग्रहित स्वच्छ जल, केवल अत्यन्त संदूषित प्रकृति का जल जिसमें सीवेज अथवा विभिन्न कारखानों से निकले जल को छोड़कर, एक या अन्य प्रकार के जातियों के विकसित होने के लिए पर्याप्त है। **ऐनोफेलीज सबपिक्टस** के डिम्भक का जनन उष्ण गन्धक प्रपातों में भी सम्भव है। ऐसा इण्डोनेशिया में देखा गया है। ऐनोफेलीज की कुछेक अन्य जातियों के डिम्भक झीलों के खारे पानी में भी पाये जाते हैं। जैसे—A. sundaicus। इसका एक अत्यन्त रोचक उदाहरण और भी है कि इसका जनन ऐसे जल में भी सम्भव है, जिसमें खारापन मानवमूत्र

से उत्पन्न किया हो (Colless 1948)। वर्षा का जल (वह जल जो बर्फ के पिघलने से प्राप्त होता है) अथवा सिंचित जल में भी जनन सम्भव है।

जनन स्थलों का वर्गीकरण कई कीट-वैज्ञानिकों के द्वारा किया गया है। भारत में पाये जाने वाले ऐनोफेलीज के जनन स्थल निम्न प्रकार हैं—

प्राकृतिक

झीलें, दलदली स्थान, नदियों के किनारे, धारायें, गिरने वाले स्थान, झरने, खारे दलदल, स्थलीय गड्ढे, जो कि खुली जगह अथवा जंगलों में मिलते हैं। इसी के साथ-साथ हाथी तथा अन्य चौपायों के पाद छाप द्वारा निर्मित स्थानों में मिलते हैं। पेड़ों की खोहें, बाँसों के झुरमुट भी जनन स्थल हैं।

मानव निर्मित

अर्द्ध प्राकृतिक : सिंचाई के लिए अथवा पेय जल के लिए बड़े-बड़े जलाशयों, तालाब, नहरें, गड्ढे, छोटी-छोटी वाहिकायें, धान के खेतों, गन्ने तथा अन्य कृषीय युक्त स्थानों, जहाँ पर जल एकत्रित होता हो या बहता हो, चाय के बागानों, नारियल के बागानों तथा कुंओं में भी मिलते हैं।

कृत्रिम

धातु, प्लास्टिक, शीशे या मिट्टी के बर्तन, कुण्ड या टंकी में, धातु या सीमेन्ट निर्मित जल के टैंक, फौव्वारे, अप्रयोगिक टायर इत्यादि में जनन सम्भव है।

भारतीय ऐनोफेलीज की जातियों के जनन स्थल निम्न प्रकार से हैं—

1.	वृक्षों की खोहें	Culiciformis, Sintoni, barianensis
2.	जंगल में दलदली स्थानों पर, जन्तुओं के पाद छापों पर, धीमी गति की जल-धाराओं में	Umbrosus, balabacensis aitkeni, insulaeflorum interrupts
3.	जंगलों और पहाड़ी धाराओं में	barianensis, nilgiricus gigas और उसकी जातियाँ
4.	धारायें, सिंचाई के कुलवे, तटीय किनारों के बहते हुए जल में, झरने तथा टपकने वाले स्थानों पर	Culicifacies, fluviatilis minimus maculatus majidi theobaldi, stephensis
5.	नदी तथा धाराओं के कुण्ड में	Culicifacies, vaqus subpictus
6.	बरसात या सिंचाई वाले जल में, रुके हुए जल में	Culcifacies subpictus, Vagus nigerrinus tessellatus, Stephensi pallidus, Splendidus Philippinensis
7.	कैज्युरायना तथा नारियल के बागानों में पाये जाने वाले गड्ढों में	Culicifacies subpictus varuna

8.	कुण्ड तालाब, दलदली सतह (वनस्पतियों की प्रचुरता हो)	annularis Pallidus Philippinensis, aconitus vagus
9.	खन्दक (trenches), कुलवे जो गन्नों के खेतों में मिलते हैं	aitkeni, insulaeflorum elegans, minimus.
10.	धान के खेतों में जो थोड़े समय पूर्व ही रोपा गया हो	Subpictus, Vagus, Culicifacies, Pallidus
11.	धान के खेत जो वृद्धि की ओर अग्रसर हों	Nigerrimus, pallidus कभी-कभी fluviatilisminimus
12.	घरेलू उपयोग वाले कुंओं में	Stephensi, Varuna, Culicifacies
13.	तटीय खारे जल में	Sundaicus, Vaqus
14.	रेगिस्तान वाले जल में, बालू वाले स्थान पर	Multicolor, Subpictus
15.	बनावटी जल के संग्रह वाले पात्र, फौव्वारे	Ttephensi, Subpictus

उपर्युक्त विवरण के अलावा भी अनेक जनन स्थल हो सकते हैं और इनमें भी विभिन्नता देखी गयी है जैसे—

(अ) A. fluviatilis—जो धाराओं, कुलवों, धान के खेतों में जनन करते हैं। परन्तु कभी-कभी जल के संग्रह वाले पात्रों में भी जनन करते हैं।

(ब) A. sundaicus—जनन के लिए खारे जल को पसन्द करते हैं, परन्तु स्वच्छ जल में भी जनन करते हैं।

वितरण में इस प्रकार की भिन्नता के लिए कुछेक अप्रायिक (Not customary) कारक हैं, जिनके कारण से सगर्भ मादा असामान्य स्थितियों वाले जनन स्थानों पर अण्डे देती हैं। अथवा डिम्भक भी जल की धारा के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाये जाते हैं।

डिम्भक के विकास पर तापक्रम, छाया, जल के प्रवाह का प्रभाव, रासायनिक गुण, लवणता, प्राणि एवं वनस्पति समूह का विशेष प्रभाव पड़ता है।

प्यूपा

चौथे निर्मोचन के बाद डिम्भक सुस्त होकर जल में नीचे डूब जाता है और विराम चिन्ह की आकृति के प्यूपा में रूपान्तरित हो जाता है। मच्छर का प्यूपा खोलविहीन अत्याधिक सक्रिय जीव होता है। प्यूपा का शरीर दो भागों में विभाजित रहता है—आगे सिर और वक्ष के समेकन से बना फूला हुआ बड़ा सा अखण्डीय शिरोवक्ष (cephalothorax) तथा पीछे अधर भाग की ओर मुड़ा हुआ संकरा लम्बा—9 खण्डीय उदर। शिरोवक्ष के मध्य-पृष्ठ भाग पर एक जोड़ी छोटे नालवत् तुरहीनुमा श्वसनश्रृंग होते हैं। इन्हें प्यूपा जल सतह पर हवा में निकालकर

डिम्भक की भाँति साँस लेता रहता है। विघ्न उत्पन्न होने पर प्यूपा तुरन्त कलाबाजी खाता हुआ नीचे चला जाता हैं। इसे सामान्यतया "कलाबाज" (trumbler) कहते हैं। ऐनोफेलीज प्यूपा की पारिस्थितिकी का अध्ययन बहुत कम किया गया है।

मच्छर में पूर्ण कायान्तरण का प्रदर्शन
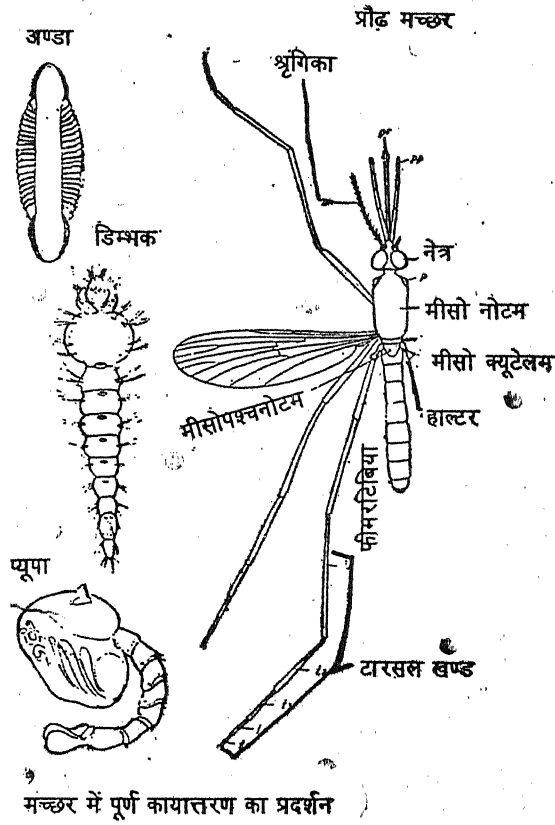
[चित्र—12]

कायान्तरण (Metamorphosis) की क्रिया लगभग 24 घण्टों से 48 घण्टों के मध्य पूरी हो जाती है। शीतकाल में इस समय में वृद्धि देखी गयी है। थामसन ने 1940 में A. minimus के सन्दर्भ में देखा कि तापक्रम का प्रभाव प्यूपा की अवस्थाओं पर पड़ता है।

30°C पर 1.25 दिन	20°C पर 2.75 दिन
24°C पर 1.75 दिन	16°C पर 4.5 दिन

प्यूपा अवस्था में भीतर ही भीतर ऊतकलयन (Histolysis) एवं ऊतकउत्पत्ति (Histogenesis) प्रक्रियाओं द्वारा वयस्क मच्छर के अंग-प्रत्यंगों का निर्माण होता है। मच्छर में कायान्तरण पूर्ण अर्थात् होलोमेटाबोलिक होता है। मच्छर के जीवनवृत्त में लगभग एक माह का समय लगता है। करीब एक सप्ताह बाद इमैगो, अर्थात् नया मच्छर स्वयं प्रजनन शुरू कर देता है। नर मच्छर का जीवनकाल अधिकतम तीन सप्ताह का होता है। मादा मच्छर एक महीने से आगे भी जीवित रह सकती है। ■ ■

शोध

वे अब नहीं मारे जाएंगे...

डॉ० विजय कु ार

वैज्ञानिक प्रयोगों में मनुष्य की भलाई के नाम पर होने वाले अनुसंधानों में अनेक प्रकार की तकलीफें सहते हुए मौत के आगेश में जाना अनेक जन्तु प्रजातियों की त्रासदी रही है। रसायनों का विषाक्त परीक्षण इन अनुसंधानों में प्रमुख है। परन्तु हाल के वर्षों में इन प्रयोगों में जन्तुओं के विकल्प की खोज की दिशा में काफी प्रगति हुई है। अब तक इस दिशा में हुई प्रगति से यह आशा बंधी है कि वह दिन दूर नहीं, जब जन्तु प्रजातियों को वैज्ञानिक प्रयोगों में तिल-तिल कर मरने से छुटकारा मिल जाएगा।

विश्व भर में प्रतिवर्ष लाखों-करोड़ों निरीह जन्तु वैज्ञानिक अनुसंधानों की भेंट चढ़ जाते हैं। वैसे तो इन जन्तुओं की सूची बहुत लम्बी है। इनमें बन्दर, गोरिल्ले, खरगोश, चूहे, गिनीपिग आदि प्रमुख हैं। इन जन्तुओं पर होने वाले अधिकांश वैज्ञानिक प्रयोग मानव की बेहतरी के लिए किए जाते हैं और हमारी भलाई के लिए, हमारी भावी जिन्दगी को सुरक्षित, सुखमय, रोगमुक्त बनाने के लिए प्राणियों को घोर कष्टों से गुजरना और अक्सर अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है।

जन्तुओं पर होने वाले वैज्ञानिक अनुसंधानों में रसायनों की विषाक्तता अथवा विषालुता का परीक्षण प्रमुख है। प्रतिवर्ष हजारों रसायनों को परीक्षण के विभिन्न दौरों से होकर गुजरना पड़ता है। इन परीक्षणों का उद्देश्य होता है इनकी संभावित विषाक्तता का मूल्यांकन करना ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि वे मानव उपयोग के लिए कहां तक सुरक्षित हैं। इस तरह के लगभग सारे ही परीक्षण जन्तुओं पर ही होते हैं।

वास्तव में विषाक्तता परीक्षण हर उस नए रसायन के लिए आवश्यक होता है जो बाजार में लाया जाता है। इसके अतिरिक्त विषाक्तता परीक्षण उस पुराने (पहले से उपयोग में रहने वाले) रसायन का भी आवश्यक होता है जिसका नया उपयोग किया जाना होता है अथवा किसी नए अथवा पुराने रसायन के साथ मिलकर उसका उपयोग किया जाना होता है। इस तरह के विषाक्तता परीक्षणों में प्रमुख रूप से दो उद्देश्य होते हैं, पहला उन खतरों का पता लगाना, जिससे यह जाना जा सके कि परीक्षित रसायन के गलत प्रभाव क्या होंगे—जैसे वह कैंसरकारक होगा, गुर्दों के लिए हानिकारक होगा, जनन अंगों को क्षति पहुंचाएगा, पाचन अंगों को हानि पहुंचाएगा, तन्त्रिका तन्त्र के लिए हानिकारक होगा, आदि। दूसरा परीक्षणों के आधार पर रसायन की उस मात्रा से सम्बन्धित आंकड़ों का पता लगाना जो मात्र मनुष्य तथा अन्य जन्तुओं से लिए खतरनाक होगी। रसायन की मात्रा, उसके सम्पर्क में आने के समय आदि के प्रभाव के बीच सम्बन्धों से जन्तु में उस विशिष्ट हानिकारक जैविक प्रतिक्रिया के विकास

डी-690 सरस्वती विहार, दिल्ली-110034

की सम्भावनाओं का पता चलता है जो उस रसायन के सम्पर्क में आने का परिणाम होती है। इस प्रकार का संबन्ध सम्भवत: रसायन के प्रत्येक हानिकारक प्रभाव के बीच पाया जाता है। हाँ, इस बात के अनुसार कि व्यक्ति किस तरह से रसायन के सम्पर्क में आया है। इन सम्बन्धों में विभिन्नता हो सकती है। रसायन के साथ सम्पर्क उसको खाने या पीने, श्वसन मार्ग से उसके शरीर में प्रवेश करने अथवा वाहरी त्वचा के उसके सम्पर्क में आने से हो सकता है। व्यक्ति की आयु, उसका स्वास्थ्य, उसकी पौषाणिक स्थिति और उसकी आनुवंशिक बनावट की भी इन सम्बन्धों में प्रमुख भूमिका होती है।

किसी रसायन के विषाक्तता परीक्षण के लिए किए जाने वाले इतने सारे परीक्षणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक रसायन को पूर्ण विषाक्तता परीक्षण के दौरान अनेक परीक्षणों को अत्यन्त जटिल प्रक्रियाओं से होकर गुजरना पड़ता है, जिससे समय तो अधिक लगता ही है साथ ही यह अत्यधिक खर्चीला होता है। एक नए रसायन के परीक्षण में 5 लाख से 15 लाख अमेरिकी डालर खर्च होते हैं, कम से कम 2-3 वर्ष का समय लगता है और पूर्ण परीक्षण में हजारों जानवरों की बलि देनी पड़ती है। इन्हीं कारणों से वैज्ञानिक वहुत समय से ऐसे परीक्षण की खोज में थे जो सस्ता तो हो ही और कम समय में पूरा भी हो जाए।

पिछले दशकों के दौरान जन्तु प्रेमियों ने भी जन्तुओं के साथ होने वाले अमानवीय, क्रूर और निर्दयी परीक्षणों के खिलाफ अपने आन्दोलन तेज कर दिए थे। साथ ही नए-नए रसायनों को बाजार में लाने वाले उद्योग भी नए रसायनों के विषाक्तता परीक्षण पर आने वाले व्यय और लगने वाले समय को लेकर परेशान हो गए थे। इन सबने मिलकर विषाक्तता परीक्षणों में जन्तुओं के विकल्प की खोज को और अधिक प्रेरित किया। इसी दौरान थैलिडोमाइड जैसी असुरक्षित दवा के हानिकारक प्रभाव के उदाहरण ने वैज्ञानिकों को रसायनों की सुरक्षा के प्रति और सचेत कर दिया था।

यहाँ पर यह बता देना अनुपयुक्त न होगा कि 1957 में जन्तु परीक्षणों के पश्चात् जर्मनी द्वारा थैलिडोमाइड दवा के बाजार में आने और उसका उपयोग बढ़ने के कुछ समय बाद ही थैलिडोमाइड का उपयोग करने वाले देशों में विकृत शिशुओं के जन्म की बाढ़ आ गई थी। इन शिशुओं के हाथ विकसित न होकर ठूँठ की भाँति होते थे। इस तरह जन्म लेने वाले अधिकांश बच्चे तो मर गए, लेकिन कुछ जिन्दगी भर के लिए अपंग होकर जिन्दगी बिताने के लिए जीवित बचे रह गए। बाद में इन विकृत शिशुओं के जन्म के लिए थैलिडोमाइड को जिम्मेदार पाया गया और उसका प्रयोग बन्द करना पड़ा था।

अन्तत: अथक प्रयासों के फलस्वरूप वैज्ञानिकों को रसायनों के विषाक्तता परीक्षण के लिए एक वैकल्पिक तरीका हाथ लगा है। यह तरीका है इनविट्रो अथवा अन्त:पात्र परीक्षण। इनविट्रो का शाब्दिक अर्थ है शीशे के बर्तन में परीक्षण। लेकिन जीवविज्ञानी व्यापक रूप में इस शब्द की व्याख्या जिस रूप में करते हैं उसका अर्थ उस अनुसंधान से है जिसमें पूरे बड़े जन्तु की आवश्यकता न पड़े। इनविट्रो परीक्षणों में जीवाणुओं, सम्बन्धित जन्तु कोशिकाओं, मुर्गी के निषेचित अण्डों, मेढक के भ्रूणों का उपयोग शामिल है जिनका उपयोग मानव में रसायनों की विषाक्तवा के परीक्षण में किया जा सकता है। वैज्ञानिकों को आशा है कि अन्तत: वे मनुष्य के विभिन्न अंगों और ऊतकों से प्राप्त मानव कोशिकाओं के सम्वर्ध में रसायनों का सीधे परीक्षण कर सकेंगे।

इनविट्रो परीक्षण प्रारम्भ करने में कई अन्य उपलब्धियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इनमें से एक है विषविज्ञान के क्षेत्र में हुई महत्वपूर्ण प्रगति जिसके फलस्वरूप आज वैज्ञानिक यह बेहतर तरीके से जानते हैं कि विषविज्ञानी प्रक्रियाएं किस प्रकार प्रारम्भ होती हैं और विषैले पदार्थों (रसायनों) का प्रभाव किस प्रकार व्यक्त होता है। अब उन्हें इस प्रकार के अध्ययनों में अन्तिम परिणाम तक पहुंचने में किसी जन्तु की मृत्यु अथवा विषैले रसायन के प्रभाव में उसके हताहत होने तक की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है। दूसरी उपलब्धि रही है पिछले कुछ वर्षों के दौरान विज्ञान के क्षेत्र में हुआ तकनीकी विकास।

अब सम्वर्ध तकनीकों के क्षेत्र में हुई आधुनिकतम प्रगति और नई-नई जैवविश्लेषण तकनीकों के विकास से उन्हें विषाक्तता पर कोशिका स्तर पर इतनी सूक्ष्मता और शुद्धता से नजर रखना सम्भव हो गया जिसकी पहल कल्पना तक नहीं की जा सकती थी।

अनेक प्रयोगशालाएं मानव त्वचा के माडल के रूप में मनुष्य की उपत्वचीय कोशिकाओं का संवर्ध तैयार करने की दिशा में प्रयासरत है। कुछ त्वचा कोशिका संवर्ध विधियां जले हुए रोगियों के लिए त्वचा को पुनः उगाने की तकनीकों से विकसित की गई हैं।

किसी विशिष्ट अंग में रसायनों की विषाक्तता ज्ञात करने के लिए भी इनविट्रो परीक्षणों का विकास किया जा रहा है। जन्तुओं में अंगों के लिए रसायन की विषाक्तता का परीक्षण करने में रासायनिक उपचारित जन्तुओं के अंगों में विकृतविज्ञानी परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है। इनविट्रो परीक्षणों में अंग विशिष्ट की कोशिकाओं का संवर्धन करके उनका परीक्षण किया जाना होगा। यकृत, रक्त, हृदय, गुर्दों, फेफड़ों और तन्त्रिका तन्त्र की विषाक्तता के इनविट्रो परीक्षण की दिशा में काफी प्रगति हुई है, यकृत कोशिकाओं के संवर्धन की दिशा में विशेष प्रगति हुई है। यकृत कोशिकाओं के इनविट्रो कोशिका विषाक्तता परीक्षण अलग की गयी यकृत कोशिकाओं, यकृत के पतले टुकड़ों तथा पूरे यकृत का भी उपयोग किया जाता है। कुछ परीक्षणों में मानव की यकृत कोशिकाओं का भी परीक्षण किया जा चुका है। जिन परीक्षणों में मानव के स्थान पर जन्तुओं की यकृत कोशिकाओं का भी प्रयोग किया जाता है, उनमें भी लक्ष्य अंगों के इनविट्रो परीक्षण आंकड़ों का उपयोग करके ऐसे परीक्षणों के लिए आवश्यक जन्तुओं की संख्या को काफी कम किया जा सकता है। केवल 2-3 जन्तुओं से उतने अध्ययन के लिये पर्याप्त मात्रा में शारीरिक अंग प्राप्त किए जा सकते हैं, जितने के लिए 20 से 40 जन्तुओं को मारने की जरूरत पड़ सकती है।

ऐसे इनविट्रो परीक्षणों का उद्देश्य विशेष तौर पर यकृत में विषाक्तता उत्पन्न करने वाले रसायनों का पता लगाने से लेकर रसायनों के चयापचय और चयापचयी पदार्थों के प्रभाव तथा शरीर से उनके बाहर निकलने के भागों और तरीकों का पता लगाना हो सकता है।

विषैले रसायन के प्रभाव में विकसित हो रहे शिशु के शरीर की संरचना सम्बन्धी विकृतयों अथवा गड़-बड़ियों के मूल्यांकन के लिए भी इनविट्रो परीक्षणों के विकास की दिशा में प्रगति हुई है। इस प्रकार के परीक्षण की सफलता विषविज्ञानी अनुक्रिया के इनविट्रो अभिसूचकों और विकासशील जीव में अभेदी विषाक्तता की जटिल प्रक्रिया के बीच सम्बन्धों पर निर्भर करती है। कुछ मामलों में इनविट्रो परीक्षणों से प्राप्त जानकारी से जन्तुओं को और समृद्ध किया जा सकता है।

जब कोई व्यक्ति किसी रसायन के सम्पर्क में आता है तो उसके रसायनिक गुण से यह तय करते हैं कि वह रसायन स्वयं अथवा उसका कोई चयापचयी पदार्थ संवेदी कोशिकीय अथवा आणुविक लक्ष्य तक पहुँचकर जैविक अनु-क्रिया प्रारम्भ करेगा। लक्ष्य अंग तक रसायन के सक्रिय घटक के पहुँच जाने पर अगली प्रक्रिया यह तय करती है कि वह घटक व्यक्ति को कितना अधिक नुकसान पहुँचाएगा। अन्तिम विकृति विज्ञानी प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति का शरीर जैविक संगठन के सभी स्तरों पर विषैले पदार्थ से होने वाले हानिकारक प्रभाव की कितनी मरम्मत कर लेगा।

सफल इनविट्रो परीक्षणों के मार्ग में एक अन्य रोड़ा है--मानव कोशिका सम्बंधों का परीक्षण जिसे इनविट्रो परीक्षण का सबसे बड़ा लाभ माना जा रहा है क्योंकि इससे रसायनों के विषाक्तता परीक्षण में जन्तुओं की कुर्बानी समाप्त हो जाएगी। परन्तु मानव कोशिका सम्बंधों के परीक्षण के मार्ग में अभी एक कठिनाई है। अभी तक सब प्रकार की मानव कोशिकाओं का संवर्धन अर्थात् प्रयोगशाला में उन्हें उगाना, सम्भव नहीं हो पाया है। दूसरी अड़चन यह है कि कुछ मानव अंगों की कोशिकाएं प्रयोगशाला में संवर्धित किये जाने पर अपनी पूर्ववर्ती अविशिष्ट आदिम कोशिका में बदल जाती है जिससे उसका विकास हुआ होता है (उनमें ऐसे गुण नहीं रह जाते हैं जिनके आधार पर उन्हें मांसपेशी कोशिका, प्लीहा कोशिका, गुर्दा कोशिका आदि के रूप में अलग-अलग पहचाना जा सके)। इसके साथ ही विषाक्तता परीक्षण के लिए सामान्य मानव कोशिकाओं की उपलब्धता भी सीमित है। अतः यह सुनिश्चित करने के लिए विषाक्तता परीक्षणों के लिए सामान्य मानव कोशिकाएं पर्याप्त संख्या में लगातार मिलती रहें, उन्हें पर्याप्त संख्या में प्राप्त करने के उपाय विकसित करने होंगे।

कुछ भी हो, विषाक्तता परीक्षण में जन्तुओं के विकल्प की खोज में पिछले एक-दो दशकों में काफी प्रगति हुई है और वैज्ञानिक इस प्रयोग को उस चरम अवस्था तक ले जाने की दिशा में प्रयत्नशील हैं जब वैज्ञानिक परीक्षणों में जन्तुओं का उपयोग बिल्कुल ही बन्द हो जाएगा। इन वैज्ञानिक अनुसंधानों, विकासों और उपलब्धियों से जन्तु प्रेमियों को जन्तु प्रजातियों के संरक्षण और उनके जीवन को निरापद बनने के प्रति काफी आवश्वस्त कर दिया है।

(सम्प्रेषण)

○○

नया शोध

आ रही है एड्स की नई दवा

डॉ० रमेश दत्त शर्मा

इन दिनों एड्स की एक नई दवा जाँची जा रही है। इसका नाम है—यू०-90, 152। यू०-90, 152 के परीक्षण अमेरिका के 'नेशनल इंस्टीट्यूट ऑव एलर्जी एण्ड इनफेक्शंस डिजीजेज' (एन० आई० ए० आई० डी०) में किये जा रहे हैं। इस समय जिड़ोबुडाइन यानी 'ए जेड टी', डिडानोसाइन यानी 'डी डी एल' और जाल्सी रेबिन यानी 'डी डी सी' ये तीन दवाएँ मुख्य रूप से एड्स के उपचार में काम आ रही हैं। ये तीनों दवाएँ 'रिवर्स ट्रांसक्रिप्टेज' नामक एक एंजाइम की क्रिया में बाधा डालती हैं। इस एंजाइम को एड्स का वाइरस अपनी अनुकृतियाँ बनाने में इस्तेमाल करता है।

अमेरिका में जाँची जा रही नई दवा भी 'रिवर्स ट्रांसक्रिप्टेज' नामक एंजाइम पर ही हमला बोलती है लेकिन यह हमला एंजाइम के किसी दूसरे ठिकाने पर बोला जाता है। परखनली में एड्स के वाइरस से संक्रमित कोशिकाओं पर नई दवा का अच्छा असर पाया गया है और उसने सभी कोशिकाओं को एड्सके वाइरस से छुटकारा दिला दिया। लेकिन एन. आई. ए. आई. डी. के डाइरेक्टर **डॉ० एंटोनी फॉसी** का कहना है कि यह नई दवा अकेली के बजाय पहले प्रचलित दवाओं में किसी एक के साथ मिलाकर दी जाय तो ज्यादा कामयाब साबित होगी।

इधर जब से भारत में हैदराबाद की रसायन-प्रौद्योगिकीशाला ने नये तरीके से 'ए जेड टी' बना डाली है, तब से एड्स पर इस दवा के असर को लेकर पश्चिमी देश अनेक प्रकार की शंकाएँ उठा रहे हैं। भारत में बनी 'ए जेड टी' बरोज वेलकम कंपनी द्वारा दुनिया भर में बेची जा रही 'ए जेड टी' के मुकाबले बहुत सस्ती पड़ती है। एक बार एड्स के लक्षण प्रकट हो जाएँ तो 'ए जेड टी' देने पर एड्स रोग का प्रभाव मंद पड़ जाता है। मतलब यह कि एड्स के मरीज की उम्र बढ़ाई जा सकती है। अभी तक एड्स की 'रामबाण' दवा तो कोई निकली ही नहीं। इसलिए एड्स के रोगियों को केवल 'ए जेड टी' का ही सहारा है।

पहले अमेरिका में ही 'ए जेड टी' को एड्स के रोगियों पर परखा गया था। तब पाया गया था कि जिन रोगियों में एड्स के लक्षण प्रकट नहीं हुए हैं, उनमें भी 'ए जेड टी' एड्स प्रकट होने का समय लम्बा कर देती है। जिन रोगियों के खून में रोगाणु से लड़ने वाली 'सी डी-4' कोशिकाएँ प्रति माइक्रोलिटर 500 से कम रह गई थीं, उनमें भी 'ए जेड टी' असरदार पायी गयी। सामान्य तौर पर खून में 'सी डी-4' कोशिकाओं की संख्या एक हजार से तेरह सौ प्रति माइक्रोलिटर होती है। माइक्रोलिटर का मतलब समझिए कि खून की एक बूंद।

डी-690, सरस्वती विहार, दिल्ली—110034

'ए जेड टी' दवा पर ये अमेरिकी प्रयोग दो-ढाई साल तक किये गये थे। लेकिन हाल में इंग्लैंड, आयरलैंड और फ्रांस में 1988 से 1991 तक चार साल के परीक्षणों के नतीजे चिकित्सा विज्ञान की प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्रिका 'लेंसट' में प्रकाशित किए गए हैं। इस प्रयोग में कुछ रोगियों को असली दवा दी गई और कुछ को नकली। रोगियों यह नहीं पता था। नतीजा यह निकला कि दोनों पर एक-सा असर हुआ। यानी जिन्हें असली दवा मिली वे भी एड्स से उतने ही दिन में मरे, जितने दिन में नकली दवा वाले मरे। पहले साल में तो एड्स पर 'ए जेड टी' का असर कुछ दिखाई पड़ा पर दो साल के बाद यह असर भी जाता रहा। 'कंकर्ड' नामक इस परीक्षण की पूरी रिपोर्ट अभी छपकर नहीं आई, है, केवल नतीजे छापे गये हैं।

'ए जेड टी' बनाने वाली एकमात्र कंपनी बरोजबिलियम के प्रवक्ता का कहना है कि यूरोपीय परीक्षण के आधार पर एड्स के मरीजों को 'ए जेड टी' देना बन्द करना, उनके साथ अन्याय होगा। क्योंकि प्रयोगों में 'ए जेड टी' अकेली दी गई थी, जबकि मरीजों को 'ए जेड टी' दूसरी दवाओं के साथ दी जाती है--अकेली नहीं दी जाती। 'ए जेड टी' सन् 1987 से एड्स के रोगियों को दी जा रही है।

अमेरिका के संक्रामक रोग अनुसंधान संस्थान में किये गये प्रयोगों में यह भी देखा गया है कि एड्स का वाइरस 6 से 12 महीनों में ही अपनी बनावट बदल लेता है। फिर उस पर इस समय प्रचलित कोई भी दवा असर नहीं करती। इसलिए एक दवा के बजाय, कई दवाएँ मिलाकर देना लाभकारी होगा।

एड्स का वाइरस ह्यूमन इम्यूनो डेफिसिएंसी वाइरस यानी एच आई वी कहा जाता है। यह रोगी से सहवास, संक्रमित खून या सूईयों के जरिए फैलता है। आदमी के खून में पहुँचने के बाद 5 से 10 साल तक यह छुप-छुप कर शरीर की प्रतिरक्षा-प्रणाली की सफेद कोशिकाओं में से चुन-चुनकर 'सी डी-4' नामक कोशिकाओं को खत्म करता है। अपना पूरा असर दिखाने से पहले हाल में ही पता चला है कि यह एच आई वी टॉंसिल, तिल्ली, एडिनॉइड और लिम्फनोडों में छुपे हुए खून की मुख्य कोशिकाओं का सफाया करता रहता है। इस तरह इस वाइरस की पहचान करके उसे देह से बाहर खदेड़ने वाली तमाम रुधिर-कोशिकाएँ खत्म हो जाती हैं। इसके बाद यह खतरनाक वाइरस खुले में आकर पूरे खून में विचरण करने लगता है। इस तरह देह की प्रतिरक्षा प्रणाली पूरी तरह ठप्प हो जाती है और फिर मामूली निमोनिया या मोतीझरा या डायरिया भी जानलेवा बन जाता है। प्रतिरक्षा-प्रणाली ठप्प होने का मतलब है कि फिर कोई दवा असर नहीं करेगी। इसीलिए एड्स का मतलब है—मौत का पैगाम।

एड्स टीकों पर भी शोध

अभी तक एड्स का कोई कारगर टीका भी नहीं निकला। वैसे करीब 20 किस्म के टीकों पर अनुसंधान चल रहा है। इनमें से एक टीके को अमेरिका में एड्सग्रस्त बच्चों पर इस्तेमाल करके देखा जा रहा है। स्वीडेन में 'जी पी 160' नामक टीका एड्स के 160 रोगियों पर आजमाया जा रहा है। पहले साल के परीक्षण में रोगियों की प्रतिरोधी क्षमता बढ़ी मगर टीका साल भर बाद दुबारा लगाना पड़ा। हाल में ही बर्लिन में सम्पन्न हुए अंतर्राष्ट्रीय एड्स सम्मेलन में सुप्रसिद्ध टीकाकार डॉ० जोनास साल्क ने एड्स के एक नये टीके की घोषणा की है। डॉ० साल्क पोलियो की वैक्सीन के जाने-माने आविष्कारक हैं और कैलीफोर्निया के साल्क इन्स्टीट्यूट के कर्ता-धर्ता हैं। इस संस्थान में जैविकी और चिकित्सा विज्ञान पर बुनियादी अनुसंधान चल रहे हैं। सात साल पहले एड्स के बारे में साल्क ने कहा था कि इसका वाइरस नया नहीं है और सदियों से हमारी देह में अन्य सूक्ष्मजीवों की तरह पल रहा

है । । अब आकर प्रकट हुआ है तो उन्हीं लोगों में जिनकी देह की प्रतिरक्षा प्रणाली दूसरे कारणों से कमजोर हो चुकी है ।

साल्क ने अपने टीके को इसी आधार पर विकसित किया है कि वह वाइरस पर हमला बोलने की बजाय एड्स के रोगी की प्रतिरक्षा प्रणाली को मजबूत बनाता है । इस टीके को आजमाने के लिए एड्स के 50 रोगी चुने गये, जिनमें एड्स का वाइरस पूरी तरह प्रकट हो चुका था । अमेरिका के विविध क्षेत्रों में स्थित 9 अस्पतालों में इन मरीजों को साल्क टीके के इंजेक्शन दिये गये । 50 मरीज ऐसे भी चुने गए, जिन्हें नकली इंजेक्शन लगाये गये । तीसरे इंजेक्शन के बाद अच्छा असर पाया गया । अधिकतर रोगियों की प्रतिरक्षा-प्रणाली फिर से चालू हुई और खून की सफेद कोशिकाओं ने चुन-चुनकर 'एच आई वी' का कचूमर निकालना शुरु किया । जिन्हें टीका दिया गया था, उनकी देह में ह्यूमन इम्यूनोडेफिसिएंसी वाइरस की संख्या काफी कम हो गई । लेकिन बाजार में लाने से पहले अभी डॉ० साल्क इस टीके को और भी आजमाना चाहते हैं ।

इस बीच दुनिया में एड्स के रोगियों की संख्या 1 करोड़ 40 लाख तक पहुँच चुकी है । सन् दो हजार तक चार करोड़ हो जाने की आशंका है । अगले दस वर्षों में विकासशील देशों में 95 लाख लोगों में एड्स का प्रसार रोका जा सके, इसके लिए विश्व स्वास्थ्य संगठन 215 करोड़ डॉलर खर्च करेगा । इन देशों में कुल मिलाकर एड्स नियंत्रण पर हर साल 150 करोड़ डॉलर खर्च करने होंगे । इधर पिछले 10 साल में एड्स अनुसंधान पर करीब 300 करोड़ डॉलर खर्च हुए हैं और कुल मिलाकर 36000 शोधपत्र प्रकाशित हो चुके हैं, सबसे अधिक अमेरिका में, लगभग 20 हजार । विश्व के प्रथम 15 एड्स अनुसंधानकर्ताओं में भारत कहीं नहीं है । लेकिन न तो अभी कोई कारगर दवा मिली है और न टीका है । हाँ, एड्स के विषाणु का नख-शिख वर्णन किया जा चुका है और उसकी काफी हरकतें पता चल चुकी हैं ।

तब तक, जिन्हें एड्स हो चुका है, वे हरि स्मरण करें । और जिन्हें नहीं हुआ है, ब्रह्मचर्य, पतिव्रत और पत्नीव्रत धर्म का पालन करें । इसके सिवा भारत सरकार एक और चारा बता रही है--कंडोम ।

(सम्प्रेषण)

○○

आवर्त सारणी के रंगीन फोटोप्रिण्ट

योगेन्द्र बहादुर सिंह

अकार्बनिक तत्वों का वर्गीकरण में डलीफ ने किया था--और इसी वर्गीकरण के साथ शुरू हुआ था वर्गीकृत तत्वों का क्रमबद्ध अध्ययन। अकार्बनिक पदार्थों की रंगीन मिजाजी को हम 'आवर्त सारणी' के प्रत्येक समूह में जीवन्त देख सकते हैं—और देखकर रंग-भावना की सार्थकता को हम अनुभूतियों के सापेक्ष सारणीबद्ध कर सकते हैं। यदि रंग जीवन में दिलचस्पी पैदा कर सकते हैं तो निश्चित ही 'रंगों का आधार'—'आवर्त सारणी' के फोटोप्रिण्ट्स देखने में दिलचस्पी पैदा करेगा।

आइये—देखें—'आवर्त सारणी' के कुछ रंगीन फोटोप्रिण्ट्स !

प्रथम समूह के तत्व तथा रंग

प्रथम समूह के तत्व सोडियम (Na) के कुछ यौगिक रंगों की दुनिया से जुड़े हुए हैं। विरंजित कपड़ों से क्लोरीन को अंतिम रूप से पृथक् करने के लिए सोडियम थायोसल्फेट (हाइपो : $Na_2S_2O_3.5H_2O$) का उपयोग किया जाता है। सोडियम सल्फाइट ($Na_2SO_3.7H_2O$) के रंगहीन क्रिस्टलों का उपयोग विरंजक के रूप में होता है। रंजक-व्यवसाय में सोडियम सल्फाइड (Na_2S) का बहुत उपयोग होता है। यह हल्के कत्थई रंग का ठोस पदार्थ है। इसी समूह के चमकदार कत्थई धातु ताँबा (Cu) के कुछ यौगिक भी रंगीन परिप्रेक्ष्य में दृष्टव्य हैं। क्यूप्रिक ऑक्साइड (CuO) का रंग काला होता है तथा इसका उपयोग काँच-उद्योग में प्रमुखता से होता है—जहाँ काँच के साथ यह हरा या नीला रंग देता है। क्यूप्रिक सल्फेट ($CuSO_4.5H_2O$), जिसे नीला थोथा भी कहते हैं, का उपयोग विद्युत्-रंजन में किया जाता है। चाँदी भी विद्युत्-रंजन में प्रयुक्त होती है। चाँदी (Ag) का एक यौगिक ($AgNO_3$) कार्बनिक पदार्थों के साथ काला रंग देता है, यही इसकी पहिचान है। सोना (Au) के पीत चमक की छटा नारी-मन को बरबस ही मोह लेती है, तभी तो कवि 'कनक-कनक ते सौ गुनी··' लिखने को बाध्य होता है। रंगों से सम्बन्धित इस समूह के अन्य तत्व हैं—लीथियम (Li), पोटैशियम (K) तथा सीजियम (Cs), जिनमें लीथियम गर्म करने पर ज्वाला पर लाल रंग देता है, पोटैशियम अधिक गर्म करने पर हरे रंग की वाष्प देता है। पोटैशियम एक सफेद धातु है। सफेद धातु सीजियम भी है जो पानी के साथ लाल-बैंगनी ज्वाला देकर जलता है।

द्वितीय समूह के तत्वों की रंगीनियाँ

इस समूह के लगभग सभी तत्व सफेद होते हैं। संक्रमण तत्वों में केवल जस्ता (यशद : जिंक Zn) और कैड्मियम (Cd) नीलापन लिए होते हैं। रंगमिजाज यौगिकों वाले तत्व हैं—मैग्नीशियम (Mg), कैल्शियम (Ca), जस्ता तथा कैड्मियम। मैग्नीशियमसल्फेट ($MgSO_4.7H_2O$) का उपयोग रंगाई-उद्योग में किया जाता है। ब्लीचिंग पाउडर ($CaOCl_2$) का उपयोग विरंजन के लिए होता है। जस्ते का ऑक्साइड (ZnO) सफेद होता

प्रवक्ता, के० एन० आई, सुल्तानपुर-228118 (उत्तर प्रदेश)

है जो गर्म करने पर पीला तथा पुनः ठण्डा करने पर सफेद हो जाता है। कोबाल्ट के साथ गर्म करने पर यह हरे रंग का कोबाल्ट-जिंकेट ($CoZnO_2$) बनाता है जिसका व्यापारिक नाम 'रीमान्स ग्रीन' है तथा जिसका उपयोग वर्णक के रूप में होता है। कैडमियम सल्फाइड (CdS) पीले रंग का होता है तथा इसका भी उपयोग वर्णक के रूप में होता है।

तृतीय समूह के तत्वों का रंग-ढंग

तृतीय समूह के तत्वों में थैलियम (Tl) नीले-सफेद रंग का, लैन्थेनम (La) सफेद-स्लेटी रंग का, यट्रियम (Y) काले-स्लेटी रंग का, स्कैण्डियम (Sc) ग्रे रंग का होता है। एल्यूमिनियम (Al) के यौगिक एल्यूमिनियम सल्फेट $[Al_2 (SO_4)_3.18H_2O]$ का उपयोग छपाई में वर्ण-बंधक के रूप में किया जाता है। एल्यूमिनियम से फिटकरी भी बनाई जाती है। फिटकरियों का उपयोग वर्ण-बंधकों के रूप में भी किया जाता है। एल्युमिनियम लवण के विलयन में यदि कार्बनिक रंग की उपस्थिति रहे तो इस विलयन से एल्युमिनियम हाइड्रॉक्साइड : $Al(OH)_3$, अवक्षिप्त करते समय यह रंग भी अवक्षेप में मिलता है। अयस्क की शुष्क अवस्था को 'लेक' कहते हैं तथा मुद्रण-स्याही बनाने में यह प्रयुक्त होता है। इस समूह का दूसरा प्रमुख तत्व बोरॉन (B) है। अक्रिस्टलीय बोरॉन बादामी-भूरे रंग का होता है। सोडियम और ऑक्सीजन के साथ मिलकर यह बोरैक्स : $Na_2B_4O_7.10HO_2$ बनाता है। आम भाषा में इसे सुहागा कहते हैं। गर्म करने पर जल निकल जाने के कारण सुहागा फूल जाता है। इसी फूले हुए भाग की सहायता से हम ताँबा, लोहा, चाँदी, सीसा, क्रोमियम, कोबाल्ट, निकिल तथा मैंग्नीज का परीक्षण करते हैं। इसे सुहागा-फुल्लिका परीक्षण (Borax Bead Test) कहते हैं। इस परीक्षण के लिए प्लैटिनम के तार के सिरे को गोल करके एक छोटा-सा छल्ला बनाया जाता है, जिसपर सुहागा को चिपका लिया जाता है। इसको बुंसन ज्वाला पर गर्म करके फुल्लिका बनाते हैं फिर उसको धातु के परीक्ष्य लवण से स्पर्श कराते हैं। इस फुल्लिका को ऑक्सीकारक और अवकारक ज्वाला में बारी-बारी से रखकर तथा बाहर निकालकर उसके रंगों के अनुसार धातुओं की उपस्थिति का पता लगाते हैं। ताँबा, लोहा, सीसा, चाँदी, क्रोमियम, कोबाल्ट, निकिल तथा मैंग्नीज ऑक्सीकारक ज्वाला के गर्म भाग में क्रमशः नीला, भूरा-पीला, रंगहीन, पीला, नीला, बैंगनी तथा रंगहीन छवि दर्शाते हैं। इसी तरह ये अवकारक ज्वाला के गर्म भाग में क्रमशः रंगहीन हरा, धूसर, धूसर, हरा, नीला, धूसर, धूसर छवि दर्शाते हैं।

तिरंगा चतुर्थ समूह

रंगों की दुनिया के लिए चतुर्थ समूह के तीन तत्व दृष्टव्य हैं—सीसा (Pb), टिन (Sn) तथा सिलिकन (Si) जिनमें सीसा (लेड) नील-धूसर रंग वाला धातु है। लेड ऑक्साइड (PbO), जिसे लिथार्ज भी कहते हैं, को 4000° सेण्टीग्रेड तक गर्म करने पर लाल रंग वाला (Pb_3O_4) प्राप्त होता है, जिसे 'लाल सीसा' कहते हैं। टिन की एक किस्म-सफेद टिन है। स्टैनिक ऑक्साइड (SnO_2) टिन का एक सफेद यौगिक है। इस पाउडर का उपयोग सफेद काँच बनाने में किया जाता है। स्टैनिक सल्फाइड (SnS_2) को कृत्रिम स्वर्ण या 'मोजेक गोल्ड' भी कहते हैं। इसका उपयोग मुख्यतः पच्चीकारी में होता है। एक अन्य यौगिक (लवण)—सोडियम स्टैनेट (Na_2SnO_3) सफेद रंग के रूप में होता है। इसका उपयोग मुख्यतः कपड़ों की छपाई में बेधक के रूप में होता है। सिलिकन का क्रिस्टलीय रूप पारदर्शी तथा हल्का नारंगी होता है।

पंचम समूह की चौरंगी

पाँचवें समूह का तत्व फॉस्फोरस (P) बड़ा ही रंगीला है। इसकी कई छवियाँ हैं : सफेद, लाल, काला, सिंदूरी तथा बैंगनी। सफेद फॉस्फोरस का उपयोग चूहों को मारने वाली दवा में तथा विस्फोटक पदार्थ बनाने में किया जाता है। इसका उपयोग लाल फॉस्फोरस बनाने में भी होता है। लाल फॉस्फोरस का उपयोग मुख्यतः दियासलाई उद्योग में होता है। डिबिया पर--जिसपर तीली रगड़ी जाती है—इस लाल-फॉस्फोरस को एण्टीमनी सल्फाइड तथा पीसे हुए काँच के साथ लगाया जाता है। फॉस्फोरस की तरह ही आर्सेनिक (As) तथ एण्टीमनी (Sb) भी बड़े रंगीले तत्व हैं। आर्सेनिक के तीन रूप-रंग होते हैं—भूरा, पीला तथा काला। एण्टीमनी के दो रूप-रंग होते हैं--पीला तथा काला। पंचम समूह के तत्वों की विभिन्न छवियाँ 'चौरंगी' अस्मिता संजोते हैं। ये चार तत्व हैं—फॉस्फोरस, आर्सेनिक, एण्टीमनी तथा वैनेडियम (V)। वैनेडियम को हवा में जलाने पर पाँच ऑक्साइड बनते हैं, जिन्हें हम रंगों के आधार पर ही पहिचानते हैं। ये ऑक्साइड हैं : V_2O (भूरा), V_2O_2 (धूसर), V_2O_3 (काला), V_2O_4 (नीला) तथा V_2O_5 (नारंगी-लाल)।

षष्टम समूह के तीन रंग

छठें समूह के तत्व सल्फर (गंधक : S) का एक यौगिक--सल्फ्यूरस अम्ल (H_3SO_3) विरंजक होता है। गंधक के प्रमुख ऑक्सी अम्ल—सल्फ्यूरिक अम्ल (H_2SO_4) का उपयोग रंग-उद्योग में खूब होता है। सल्फर डाइऑक्साइड गैस (SO_2) भी बड़ी मजेदार गैस है। यदि पोटैशियम थायोसल्फेट को (SO_3) के साथ गरम करेंगे तो विलयन पीला हो जायेगा। मजे की बात तो यह है कि अधिक (SO_2) प्रवाहित कर देने से पीला रंग गायब हो जाता है। इसी समूह के धातु-क्रोमियम का नाम ही रंग की हस्ती से सम्बन्धित है। ग्रीक भाषा में 'क्रोमा' का अर्थ 'रंग' से है और चूंकि इसके बहुत से लवण रंगीन होते हैं, इसलिए इसका नाम क्रोमियम (Cr) रखा गया, जबकि स्वयं यह चाँदी की तरह सफेद धातु है। क्रोमिक नाइट्रेट : $Cr(NO_3)_3 . 9H_2O$ का रंग बैंगनी होता है। गर्म करने पर यह हरा तथा ठण्डा करने पर पुनः बैंगनी हो जाता है। क्रोमियम के क्लोराइड के मुख्यतः तीन हाइड्राइड हैं। तीनों अलग-अलग रंगों के होते हैं :

$[Cr(H_2O)_6]Cl_3$—भूरा-हरा,

$[CrCl(H_2O)_5]Cl_2 . H_2O$—हल्का हरा तथा

$[CrCl(H_2O)_4]Cl.2H_2O$ —गाढ़ा हरा।
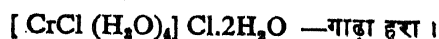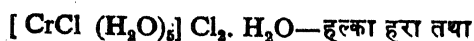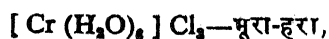
रंगों में यह विभिन्नता उनके संगठन की विभिन्नता के आधार पर है। क्रोमफिटकिरी: $K_2SO_4 . Cr_2(SO_4)_3 . 24H_2O$ का रंग गहरा बैंगनी होता है। रंगों में इसका उपयोग रंग-बंधक के रूप में होता है। सोडियम क्रोमेट— Na_2CrO_4—पीला होता है तथा पोटैशियम डाइक्रोमेट—$K_2Cr_2O_7$—लाल होता है। डाइक्रोमेट का उपयोग रंगाई में होता है। विश्व-मंच पर चर्चित तत्व यूरेनियम (U) शुद्धतम अवस्था में सफेद तथा हल्के नीले रंग का होता है। नाइट्राइड की अशुद्धि के कारण इसका रंग कुछ पीला पड़ जाता है। वायु में खुला रखने पर इसका रंग-भूरा हो जाता है।

रंगीला सप्तम समूह

हैलोजन रंगीले होते हैं। (F)—पीला, क्लोरीन (Cl)—हरित पीला, ब्रोमीन (Br)—जंग के रंग का तथा आयोडीन (I) —बैंगनी रंग का होता है। इनके ये रंग 'अणु के वर्ण शोषण' के फलस्वरूप प्रतीत होते हैं। ब्लीचिंग पाउडर ($CaOCl_2$) का उपयोग विरंजक के रूप में खूब होता है। हाइपोब्रोमस अम्ल (HBrO) का भी उपयोग विरंजक के रूप में होता है। स्टार्च के ताजे विलयन में आयोडीन नीले रंग का 'अज्ञात' पदार्थ बनाता है। इसी समूह का एक तत्व मैंग्नीज भी है। इसका रंग धूसर-सफेद होता है। मैंगनस क्लोराइड ($MnCl_2.4H_2O$) जो कि स्वयं गुलाबी रंग का पदार्थ है, मुख्य रूप से रुई को भूरा रंगने में प्रयुक्त होता है। पोटैशियम परमैंग्नेट ($KMnO_4$) के क्रिस्टल काले तथा लाल रंग के होते हैं जो परावर्तित प्रकाश में हरे रंग के दिखाई देते हैं। इसे 'लाल दवा' के नाम से भी जाना जाता है। यह कीटाणुनाशक होता है।

अष्टम समूह के चार रंग

लोहा (आयरन : Fe) अष्टम् समूह का एक प्रमुख धातु है। आयरन के तीन प्रकार हैं—पिग आयरन, रॉट आयरन तथा स्टील। पिग आयरन के तीन किस्मों में दो रंगों पर आधारित हैं : सफेद तथा भूरा पिग आयरन। कठोर स्टील की सतह पर वायु में निरन्तर गर्म करने पर पॉलिश किया जाये तो यह पहले हल्की पीली तत्पश्चात् सुनहरी पीली, बैंगनी चिन्हों सहित कत्थई, बैंगनी तथा नीली हो जाती है। इन सब रंगों के कारण विभिन्न तापों का भास होता है तथा ठण्डा करने के ताप का पता चलता है। यह रंग सतह पर बनी पतली ऑक्साइड की तहों के कारण होता है। 'विभिन्न रंगों के तापों पर स्टील' विभिन्न सामग्रियों के निर्माण में प्रयुक्त होता है। पोटैशियम फेरिक फेरोसाइनाइड, नाइट्रिक अम्ल (HNO_3) तथा हाइड्रोजन परॉक्साइड (H_2O_2) से अभिक्रिया करके 'विलियमसन-बैंगनी' में परिणत हो जाता है। इस समूह का धातु कोबाल्ट (Co) होता तो है सफेद लेकिन इसके यौगिक रंगीले होते हैं। कोबाल्ट क्लोराइड का तनु विलयन गुलाबी होता है तथा सान्द्र विलयन बैंगनी रंग का होता है। इसके सफेद क्रिस्टल को 30°C तक गर्म करने पर गुलाबी रंग की तथा 50°C तक गर्म करने पर नीले रंग की छवि देखने को मिलती है। कोबाल्ट ऑक्साइड को सोडियम-कार्बोनेट तथा बालू के साथ गलाने पर गहरे नीले रंग का काँचीय पदार्थ प्राप्त होता है। पीस कर इसे नीले वर्णक के रूप में प्रयोग करते हैं। कोबाल्ट सिलिकेट ($CoSiO_3$) के कारण ही काँच तथा पोर्सिलेन में नीला रंग होता है। यह नीला वर्णक संभवतः कोबाल्ट एल्यूमिनेट होता है। यह तुरन्त बनाये गये एल्यूमिनियम हाइड्रॉक्साइड [$Al(OH)_3$] के साथ कोबाल्ट फॉस्फेट को मिलाने से प्राप्त होता है। इसे 'थेनार्ड ब्ल्यू' कहते हैं। कोबाल्ट जिंकेट को 'रीनमान ग्रीन' कहते हैं। इसी समूह का प्लैटिनम धातु सफेद होता है। नवजात हाइड्रोजन द्वारा यह काले पाउडर में परिणत हो जाता है, जिसे काला प्लैटिनम कहते हैं। अष्टम समूह के निकिल (Ni) धातु का उपयोग 'विद्युत्-रंजन में खूब होता है।

○○

चम्बल के बेहड़ों में पाई जाने वाली एक बहुपयोगी घास : डाब

डॉ० रामलखन सिंह सिकरवार

सदियों से डाकुओं की शरणास्थली रहे चम्बल के बेहड़ अपने भयावह भौगोलिक स्वरूप के कारण, लम्बे अरसे से जनमानस की जिज्ञासा का केन्द्रबिन्दु रहे हैं। इन भयावह बेहड़ों का निर्माण चम्बल नदी के द्वारा भू-कटाव से हुआ है। इन्दौर जिले की मऊ तहसील में विन्ध्य पर्वत की जनपाव पहाड़ी से निकली चम्बल नदी, उत्तर पश्चिमी मध्य प्रदेश की एक विशालतम नदी है। इसका बहाव उत्तर-पश्चिम से उत्तर-पूर्व की ओर है। यह नदी मुरैना जिले में मध्य प्रदेश तथा राजस्थान एवं मध्यप्रदेश तथा उत्तर प्रदेश की सीमा रेखा बनाती है। चम्बल संभाग के दोनों जिलों—मुरैना तथा भिण्ड—में चम्बल नदी ने किनारों की जमीन को कई मीलों तक बुरी तरह काट-छाँट दिया है, जिससे 50 से 500 फुट तक गहरी दरारें तथा खाईयाँ निर्मित हो गई हैं। ये खाईयाँ चम्बल के बेहड़ों के नाम से जानी जाती हैं। ये बेहड़ इतने भयानक हैं कि इनका विकल्प देश तथा विदेशों में अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। यही वजह है कि डाकू गिरोह स्वर्ग से भी अधिक सुरक्षित अपने आपको इन बेहड़ों में महसूस करते हैं।

इन बेहड़ों में वनस्पतियों के नाम पर प्राय: कंटीली झाड़ियाँ ही पाई जाती हैं जिनमें "करील" (कैप्पारिस डेसीडुआ), "हींस" (कैप्पारिस सेपीआरिया), "बबूल" (अकेसिया निलोटिका), "खैर" (अकेसिया केटेचू) "रेमजा" (अकेसिया ल्यूकोफ्लोईया), "छोंकर" (प्रोसोपिस सिनेरेरिया), "विरवरा" (डाइक्रोस्टेचिस सिनेरेरिया), "हिंगोट" (बैलेनाइटिस अजिप्टीएका, "धौ" (एनोजीसस पेन्डुला) तथा "गूगल" (कोम्मीफोरा मुकुल) प्रमुख हैं। इनके साथ इन बेहड़ों में एक घास अधिक तादात में पाई जाती है, जिसे क्षेत्रीय निवासी "डाब" कहते हैं। यह घास यहाँ के निवासियों के दैनिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। हिन्दी में इसे डाब, डाभ, कुश, संस्कृत में कुशा, डरभा, विष्टार तथा लैटिन में इसे "डैस्मोस्टेच्या बाइपिन्नाटा" कहते है।

डाब पोएसी (ग्रैमिनी) कुल का बहुवर्षीय पौधा है, जिसका रूटस्टॉक भूस्तारिक, रेंगने वाला, तथा तना पर्व एवं पर्वसन्धियों में विभक्त होता है जिसे कलम कहते हैं। इसके आधार से बहुत सारी पत्तियों का गुच्छ निकलता है। ये पत्तियाँ 3 से 5 फीट तक लम्बी, रेखाकार, किनारा खुरदरा तथा नोक लम्बाग्र होती है। पुष्पक्रम बादामी रंग का होता है। यद्यपि यह सम्पूर्ण भारत में पाई जाती है तथापि यह चम्बल के बेहड़ों की खाईयों की ढलानों पर अत्यधिक मात्रा में पाई जाती है।

उपयोग

डाब का उपयोग हमारे दैनिक जीवन में प्राचीन काल से ही होता रहा है। परन्तु इस क्षेत्र के निवासियों में इसका उपयोग उनके द्वारा उनके जन्म से मृत्यु के समय तक किया जाता है। बच्चा पैदा होने पर डाब की रस्सी

हर्बेरियम सेक्शन, राष्ट्रीय वनस्पति अनुसंधान संस्थान, लखनऊ-226001

से बनी पुरानी चारपाई ही उपयोग में लाई जाती है तथा मृत्यु के समय इसकी अर्थी बनाई जाती है या डाब की बुनी चारपाई प्रयोग की जाती है।

अक्टूबर तथा नवम्बर के महीने में डाब की लम्बी पत्तियों को यहाँ के निवासी चम्बल के बेहड़ों से काटकर लाते हैं। काटते समय उसके छोटे-छोटे गट्ठे बनाये जाते हैं जिन्हें "जूरी" कहते हैं। पहले जूरियों को कई दिन तक धूप में अच्छी तरह सुखाया जाता है फिर इनको नदी या तालाब के पानी में 10-15 दिन तक डुबाकर पकाया जाता है। पकने के बाद इनको सुखाकर आवश्यकतानुसार उपयोग में लाया जा सकता है। डाब की पत्तियों से अनेक प्रकार की बहुपयोगी चीजें बनाई जाती हैं। यह कार्य यहाँ के किसानों द्वारा किया जाता है।

डाब (डभोई) को हाथ से बटकर रस्सी बनाई जाती है जिसको पानी में डुबोकर "ढ़ेरा" (एक लकड़ी का यंत्र) से रस्सी में ऐंठ लगाई जाती है और सुखाकर इसी रस्सी की "विण्डा" बनाई जाती है। चार विण्डियों का एक "वान" होता है। वान से चारपाई बुनी जाती है जिनमें "राजवान", "गधापछारी" तथा "कौंकड़ी" प्रमुख हैं। "राजवान" बुनी चारपाई सबसे अच्छी मानी जाती है और ऐसा माना जाता है कि राजवान चारपाई पर लेटने वाले को सर्प भी नहीं काटता। इस बान से "पिढ़ी" भी बुनी जाती है।

डाब की पतली रस्सी से "मुशीका" बनाए जाते हैं जिन्हें हल चलाते समय बैलों के मुँह में लगाया जाता है, जिससे हल चलाते समय फसल को न खा सकें। इसकी पतली रस्सी से बुनकर "पसेला" बनाया जाता है जिसका उपयोग स्रोतों से चारा ढोने के लिए किया जाता है। इसी रस्सी से "छींका" बनाया जाता है, जिसका उपयोग अचार के बर्तन, दही का मटका टाँगने के लिए किया जाता है। इसकी मोटी रस्सी बटकर "लेजु" बनाई जाती है, जिसका उपयोग विशेषकर बरसात के दिनों में कुएँ से पानी निकालने के लिए किया जाता है, क्योंकि इसकी रस्सी पानी में भीगने पर मजबूत होती है जबकि सन या पटसन की रस्सी पानी में भीगने पर सड़ जाती है। इससे "ईंडुरा" भी बनाया जाता है जिस पर पानी के बर्तन रखाने से लुढ़कने का डर नहीं रहता। डाब की पत्तियों से झाड़ू बनाया जाता है। इसकी पत्तियों से "कूचियाँ" भी बनाई जाती हैं, जो घरों की पुताई के काम आती हैं।

डाब का उपयोग ग्रामीण क्षेत्रों में "झोपड़ी" तथा "घोंपा" की छाजन करने में विशेष तौर पर किया जाता है। पुरानी झोपड़ीयों पर, जिनमें बरसात में पानी टपकता है उन पर, डाब की एक पर्त चढ़ाई जाती है जिसे "ढ़ेबा" कहते हैं। डाब से बैलगाड़ी की "लधियाँ" भी बुनी जाती हैं।

चारपाई के बान, मुशीका, पसेला, झाड़ू, कूचियाँ तथा छींका को निम्न वर्ग के लोग भी बना-बनाकर हाट तथा बाजारों में बेचकर धन कमाते हैं तथा अपनी आजीविका चलाते हैं।

डाब से बनी चटाई (कुश सैय्या) का उपयोग प्राचीन काल से होता आ रहा है। 'राम चरित मानस' में 'राम-वनबास' के समय निसादराज ने श्री राम के लेटने के लिए डाब (कुश) की ही चटाई बिछाई थी।

गुहं संवारि सांथरी डसाई।
कुश किसलयमय मृदुल सुहाई॥ अयोध्या काण्ड 89/7

इसी प्रकार नन्दीग्राम में भरत जी भी अपने सोने के लिए कुश सैय्या का ही प्रयोग करते थे।

जटाजूट सिर मुनि पर धारी।
महि खानि कुस सांथरी संवारी॥ अयोध्या काण्ड 324/3

"वाल्मीकि रामायण" में भी कुशासन (कुश सैय्या) का वर्णन किया गया है। भगवान श्रीराम माता कौशल्या को समझाते हुए कहते हैं—"अब तो मेरे लिए कुशासन पर बैठने का समय आ गया है। मुझे 14 वर्षों तक घोर बन में वास करना पड़ेगा।"

विष्टरासनयोग्यो हि कालोऽयं मामुपस्थितः ।
चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने बने ।।

रामायण-2/20/29

धार्मिक अनुष्ठानों में भी डाब का उपयोग आदिकाल से होता आ रहा है। शास्त्रों तथा पुराणों में डाब को ब्रह्मा जी का रोम माना गया है। डाब की जड़ की अंगूठी उंगली में धारण करने से शरीर पवित्र हो जाता है। इसलिए आज भी हिन्दू रीति रिवाजों जैसे कथा, हवन, शादी इत्यादि में कुश की बनी अंगूठी धारण की जाती है। शादी-ब्याह में डाब का मण्डप बनाया जाता है। ऐसा माना जाता है महाराज दशरथ तथा महारानी कौशल्या के विवाह के समय डाब का मण्डप बनाया गया था।

क्वार महीने के प्रथम पखवाड़े पित्रपक्ष (कृष्णपक्ष) में डाब का उपयोग पूर्वजों की मोक्ष प्राप्ति के लिए किया जाता है। यह डाब स्थानीय पुरोहित द्वारा भादों मास की अमावस्या के दिन खोदा जाता है तथा पित्रपक्ष शुरू होने से पहले हर घर में दिया जाता है। परिवार का सबसे बड़ा सदस्य हर दिन सुबह नदी में जाकर चारों दिशाओं की ओर हाथ में डाब लेकर पानी देते हैं। यह कार्य 15 दिन चलता है। इससे पूर्वजों को मोक्ष प्राप्ति होती है। ऐसा माना जाता है। पित्रपक्ष के अन्तिम दिन (अमावस्या को) डाब को जनेऊ (यज्ञोपवीत) में बाँधकर पानी में बहा दिया जाता है।

औषधीय रूप में इसका कलम डाइयूरेटिक होता है। इसका उपयोग पेचिस तथा रजोधर्म में भी किया जाता है। यही नहीं यह, भू-कटाव रोकने में भी बहुत उपयोगी है। इसको पशुधन नहीं खाते लेकिन इसका कोमल भाग भैंसों द्वारा खाया जाता है। इस घास का उपयोग पेपर उत्पादन में कच्चे माल के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

इस प्रकार यह डाब यहाँ के लोगों के दैनिक जीवन में सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक रूप में जन्म से लेकर मृत्यु तक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

○○

ताप-विद्युत् की भूमिका रच रही है जलधारा

उदय वीर सिंह

उत्तर प्रदेश के फैजाबाद शहर से लगभग 55 किलोमीटर पूर्व सरयू के पावन तट पर स्थित है छोटा सा गाँव विद्युत् नगर (टाण्डा)। यहीं से शुरू होती है प्रकृति के तथ्यों, रहस्यों तथा घटनाओं को क्रमबद्ध करके धरती से निकाली गई जलधारा की यात्रा ! यह जलधारा कभी जलाशय, कभी तालाब, कभी झील के रूप में निखारती हुई, कभी पाइपों में सिमटती हुई लगभग एक किलोमीटर की यात्रा करके अभियन्त्रण ज्ञान प्र संगम टाण्डा ताप विद्युत् गृह तक पहुँचती है और भूमिका रचती है—बादलों के उस पार से झाँकती ज्योति उर्वशी सौदामिनी को धरती पर उतारने की। निर्माणाधीन टाण्डा ताप विद्युत् गृह में बैठाई जा रही 110 मेगावाट क्षमता की चार मशीनों के परि-चालन के लिए 45 घन फुट प्रति सेकेण्ड की रफ्तार से चलने वाली जलधारा की आवश्यकता होगी।

45 घनफुट प्रति सेकेन्ड की रफ्तार से बहती जलधारा के स्रोत

टाण्डा ताप विद्युत् गृह के जल की आपूर्ति के दो मुख्य स्रोत होंगे—

1. तीन रेडियल कलेक्टर कुंओं से पानी खींचकर

सरयू तट पर तीन रेडियल कलेक्टर कुँयें निर्माणाधीन हैं जिनमें से एक कार्यरत है। रेडियल कलेक्टर कुँआ 24 मीटर गहरा 5 मीटर व्यास का कांकरीट का बनाया गया है। इस कुँए में धरती के निचले सतह का पानी एकत्र करके गिराने के लिए त्रिज्या की दिशाओं में (radially) 30 सेन्टीमीटर व्यास के 30 मीटर लम्बे 10 पाइप कुंए की निचली सतह से एक मीटर की ऊँचाई की दीवार में धँसाये गये हैं। यही प्रबन्ध पुनः एक-एक मीटर की ऊँचाई पर दो अन्य सतहों पर भी किया गया है, अर्थात् 30 मीटर लम्बे 30 सेन्टीमीटर के व्यास के 30 पाइप धरती के निचले सतह का पानी रेडियल कलेक्टर कुंए में निरन्तर गिराते रहते हैं। रेडियल कलेक्टर कुंए के ऊपरी सतह पर 325 घनमीटर प्रति घण्टे की रफ्तार से पानी खींचने वाले 4 पम्प लगे हैं जो कुंए से पानी खींचकर पाइप के द्वारा विद्युत् गृह की ओर भेजते रहते हैं। दो अन्य रेडियल कलेक्टर वेल का कार्य भी शीघ्र पूर्ण करने का प्रयास चल रहा है। तीनों रेडियल कलेक्टर वेल से 22.5 घनफुट प्रति सेकेन्ड की रफ्तार से जलधारा विद्युत् गृह की ओर भेजी जा सकेगी या एक विशाल जलाशय में एकत्रित की जायेगी।

2. महरीपुर पम्प नहर से पानी खींचकर

महरीपुर पम्प नहर से 22.5 घनफुट प्रति सेकेन्ड पानी खींचकर विद्युत गृह की ओर ले जाने या जलाशय में गिराने का भी प्रबन्ध हो रहा है। महरीपुर पम्प नहर का पानी जलाशय के पास पहुँचते ही एक टैंक में गिरेगा और टैंक का पानी पम्प द्वारा उठाकर या तो जलाशय में गिराया जायेगा या सीधे विद्युत गृह की ओर भेजा जायेगा।

अधीक्षण अभियन्ता, टाण्डा तापीय शक्ति परियोजना, विद्युत् नगर, फैजाबाद (उ० प्र०)

इस प्रयोजन के लिए 1500 घनमीटर प्रति घण्टे की रफ्तार मे पानी चढ़ाने वाले 4 पम्प जलाशय के किनारे लगाये गये हैं।

जलधारा जब जलाशय में गिरती है

जलधारा 5 मीटर गहरे तथा 7 लाख घनमीटर जलभरणा क्षमता के एक जलाशय में गिरती है। जलाशय एक दीवार से दो भागों में विभक्त है। जलाशय के चारों ओर फूलों से सुसज्जित लतायें इसे आकर्षण से अलंकृत करती रहती हैं। जल के दर्पण में कभी चाँदनी स्नान के लिए उतरती, है कभी ऊषा निशा के माँग में सिन्दूर भरती है और कभी सन्ध्या रूपी सुन्दरी अपना रूप निहारती है। समूची सौन्दर्य राशि दर्शकों को बरबस मोह लेती है।

जलाशय में जल एकत्रित करने का प्रयोजन

जलाशय में सम्पूर्ण जल टाण्डा विद्युत् गृह के उपयोग के लिए एकत्र किया जाता है और यहाँ से 1500 घनमीटर प्रति घण्टे की रफ्तार से पानी फेंकने वाले चार पम्पों के द्वारा विद्युत् गृह की ओर जाने वाली पाइप लाइन की जलधारा का कुछ भाग सर्कुलेटिंग वाटर पम्प हाउस की ओर तथा शेष भाग राख फेंकने के संयंत्रों की ओर भेजा जाता है।

सर्कुलेटिंग वाटर पम्प हाउस

सर्कुलेटिंग वाटर पम्प हाउस में 9 सर्कुलेटिंग वाटर पम्प बैठाने की योजना है। सम्प्रति 4 पम्प कार्यरत हैं। प्रत्येक पम्प 8275 घनमीटर प्रति घण्टे की रफ्तार से पानी खींच कर विद्युत् गृह के कन्डेन्सर में भाप ठण्डा करने के लिए भेजता है। रेडियल कलेक्टर कुँआ, महरीपुर नहर या जलाशय से लिया गया पानी सर्कुलेटिंग वाटर पम्प हाउस के सामने बने हुए तालाब में गिरता है। 6 मीटर गहरे इस तालाब से पानी खींच कर सर्कुलेटिंग वाटर पम्प कन्डेंसर की ओर भेजते रहते हैं। कन्डेंसर से निकला गर्म पानी कूलिंग टावर में ठण्डा होता है और पुनः उपरोक्त तालाब में गिरता है अर्थात् पानी बार-बार सर्कुलेट करता है। तालाब में फंगस नष्ट करने के लिए क्लोरीन का घोल समय-समय पर गिराते रहते हैं।

सर्कुलेटिंग वाटर पम्प हाउस में 260 घनमीटर प्रति घण्टे की रफ्तार से पानी फेंकने वाले तीन सर्विस वाटर-पम्प लगे हैं। सर्विस वाटर पम्प भी उपरोक्त तालाब से पानी खींचकर विद्युत् गृह की छत पर सर्विस वाटर टैंक में भेजते रहते हैं जहाँ से पानी ब्वायलर धुलाई, कोयले की उड़ती धूल पर छिड़काव आदि विविध प्रयोजनों के काम आती है।

सर्कुलेटिंग वाटर पम्प हाउस के तालाब से अग्नि शमन के पानी की आपूर्ति करने वाले पम्प भी पानी खींचते रहते हैं। इस कार्य के लिए 273 घनमीटर प्रतिघण्टे की रफ्तार से पानी फेंकने वाले पम्प लगे हैं—दो हइड्रेंट पम्प, एक ट्रान्सफार्मर की आग बुझाने के जल की आपूर्ति की मलसी फायर पम्प एक आपात स्थित के लिए डीजल पम्प समय-समय पर पानी के वांछित दाब को सुनिश्चित करने के लिए 11 घनमीटर प्रति घण्टे की रफ्तार से पानी फेंकने वाले दो जाकी फायर पम्प भी उपरोक्त तालाब से ही पानी खींचते हैं।

तालाब से पानी खींचने के लिए 3 रा वाटर पम्प लगे हैं। 550 घनमीटर प्रति घण्टे की रफ्तार से पानी फेंकने वाले ये पम्प विद्युत् गृह के जल शोधक संयंत्रों के जल के स्रोत हैं।

कहाँ जाता है रा वाटर पम्प से निकला पानी ?

रा वाटर पम्प से निकला पानी फ्लैश मिक्सर से पास किया जाता है जहाँ जल की कार्बनिक अशुद्धियाँ दूर करने के लिए इसका सम्पर्क फिटकरी, चूना, क्लोरीन तथा कोएगुलेटिंग एजेण्ट जैसे रासायलिक घोलों से कराया जाता है। तभी कार्बनिक अशुद्धियाँ पानी की सतह पर तैरने लगती हैं। तैरती अशुद्धियाँ लिए जल 31 मीटर व्यास तथा 6 मीटर गहराई के एक गोल कांकरीट के बने झील में गिराया जाता है। कार्बनिक अशुद्धियाँ तेज रफ्तार से झील के नीचे बैठ जाती हैं और ऊपर का शुद्ध जल फिल्टर से पास किया जाता है। फिल्टर के पानी में तैरते अत्यन्त बारीक कण भी छन जाते हैं और साफ पानी फिल्टर वाटर के एक तालाब में गिरता है। इस तालाब से 3 मुख्य धाराएँ निकलती हैं।

फिल्टर वाटर तालाब से निकली त्रिवेणी

फिल्टर वाटर तालाब से खींचकर पानी आगे भेजने के लिए 270 घनमीटर प्रति घण्टे की रफ्तार से पानी फेंकने वाले 4 फिल्टर वाटर पम्प लगे हैं। इस तालाब से निकली त्रिवेणी की धाराओं का विवरण निम्नांकित है :

1. पहली धारा विद्युत् गृह की छत पर रखे 50 घनमीटर क्षमता के पीने के पानी के टैंक में जाती है।

2. दूसरी जलधारा साफ़्रेनिंग वाटर प्लान्ट में भेजी जाती है। इस प्लान्ट के पानी में घुले कैलशियम तथा मैग्नेशियम लवण के कैलशियम तथा मैग्नेशियम आयान को सोडियम आयाने से विस्थापित कर दिया जाता है। सोडियम के लवण ज्यादा तापक्रम पर भी पानी में घुले रहते हैं और पाइप लाइन की सतह पर नहीं जमते तथा शुद्ध जल का मार्ग अवरुद्ध नहीं करते। साफ्रेनिंग वाटर प्लान्ट से निकले जल को कूलिंग टावर में भेजा जाता हैं। इसके लिए 1150 घनमीटर प्रति घण्टे की रफ्तार से पानी फेंकने वाले 5 पम्प लगे हैं। कूलिंग टावर से ठण्डा हुआ पानी विद्युत् गृह के छत पर रखे बियरिंग कूलिंग वाटर टैंक में भेजा जाता है। इस प्रयोजन के लिए 1150 घनमीटर प्रति घण्टे की क्षमता से पानी फेंकने वाले 5 बियरिंग कूलिंग वाटर पम्प लगाये जाने की योजना है जिसमें से 2 कार्यरत हैं।

3. तीसरी जलधारा डीमिनरलाइजेशन प्लान्ट में जाती है। ब्वायलर के लिए पानी इसी प्लान्ट में तैयार किया जाता है। इस प्लान्ट में सभी मिनरल निकाल दिये जाते हैं ताकि ब्वायलर ट्यूब का करोजन और टरबाइन ब्लेड का इरोजन न हो सके। डी मिनिरलाइजेशन प्लान्ट के मुख्य संयंत्र निम्नांकित हैं।

(क) एक्टिवेटेड कार्बन फिल्टर

इसमें घुसते ही कोयले द्वारा पानी में घुली क्लोरीन गैस सोख ली जाती है। यहाँ से पानी कैटायन एक्सचेंज बेड में पहुँचता है।

(ख) कैटायन एक्सचेंज बेड

यह बेड सिंथेटिक एसिड रेजिन से भरा रहता है। सिंथेटिक रेजिन पानी में घुले कैलशियम, मैग्नीशियम तथा सोडियम लवण के कैटायन (अर्थात् Ca, Mg तथा Na) को पानी से अलग कर देता है।

रेजिन R द्वारा कैटायन को अलग करने की प्रक्रिया निम्नांकित रासायनिक समीकरण में अभिव्यक्त की गई है—

$$Ca\,CO_3 + R{-}H \rightarrow R{-}Ca + H_2\,CO_3$$
$$Mg\,CO_3 + R{-}H \rightarrow R{-}Mg + H_2\,CO_3$$
$$Na\,Cl + R{-}H \rightarrow R{-}Na + HCl$$
$$Ca\,SO_4 + R{-}H \rightarrow R{-}Ca + H_2\,SO_4$$
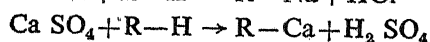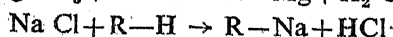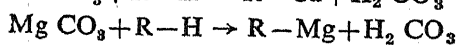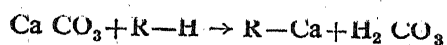
R—Ca, R—Mg, R—Na तो कैटायन बेड में ही रह जाते हैं और शेष एनायन बेड की ओर ले जाते हैं। R—Ca, R—Mg तथा R—Na को पुनः सिंथेटिक रेजिन R—H में परिवर्तित करने के लिए कैटायन बेड का रीजेनेरेशन करते हैं जिसके दौरान निम्नांकित रासायनिक अभिक्रिया द्वारा HCl मिलाकर पुनः R—H प्राप्त किया जाता है :

$$R{-}Ca + HCl \rightarrow R{-}H{-}Ca\,Cl_2$$
$$R{-}Mg + HCl \rightarrow R{-}H + Mg\,Cl_2$$
$$R{-}Na + HCl \rightarrow R{-}H + Na\,Cl$$
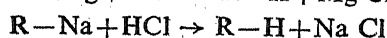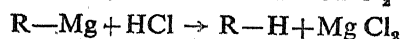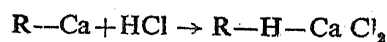
$Ca\,Cl_2$, $Mg\,Cl_2$ तथा NaCl पानी के साथ बाहर निकल जाते हैं और कैटायन बेड में R—H रह जाता है।

(ग) डीगैसर

कैटायन बेड से निकला एसिड $H_2\,CO_3$, CO_2 गैस और पानी में स्वतः परिवर्तित हो जाता है। अब CO_2 गैस HCl तथा $H_2\,SO_4$ के मिक्सचर को डी कार्बोनाइजिंग टावर में पास करते हैं जहाँ ब्लोअर द्वारा CO_2 गैस निकाल दी जाती है और बाकी बचा HCl तथा $H_2\,SO_4$ को एनायन एक्सचेंज बेड में लाया जाता है।

(घ) ऐनायन एक्सचेंज बेड

ऐनायन एक्चेंज बेड बेसिक रेजिन R से भरा होता है जो पानी में घुले एसिड तथा सिलिका को पानी से अलग कर देता है। इससे सम्बन्धित रासायनिक अभिक्रिया निम्नांकित समीकरण में प्रदर्शित की गई है :

$$R{-}OH + HCl \rightarrow R\,Cl + H_2O$$
$$R{-}OH + H_2\,SO_4 \rightarrow R\,SO_4 + H_2O$$
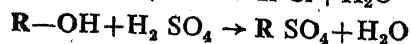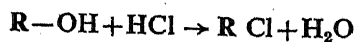
ऐनायन एक्सचेंज बेड से निकला पानी मिक्सड बेड की ओर भेजा जाता है और बेसिक ऐनायन रेजिन को पुनः प्राप्त करने के लिए कास्टिक सोडा के घोल का प्रयोग किया जाता है। कास्टिक सोडा के घोल से होने वाली रासायनिक अभिक्रिया निम्नांकित समीकरण में प्रदर्शित है :

$$R\,Cl + NaOH \rightarrow NaCl + R{-}OH$$
$$R\,SO_4 + NaOH \rightarrow Na_2\,SO_4 + R{-}OH$$
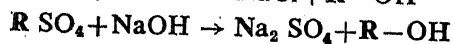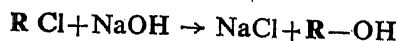
Na Cl तथा $Na_2 SO_4$ वगैरह पानी के साथ घुलकर बाहर निकल आते हैं और केवल बेसिक ऐनायन रेजिन रह जाता है।

(च) **मिक्सड बेड**

ऐनायन एक्सचेंज बेड से निकला पानी जब मिक्सड बेड में पहुँचता है तो एसिड सिंथेटिक रेजिन तथा बेसिक अनायन रेजिन दोनों के सम्पर्क में आता है ताकि पानी में बचे मिनरल तथा सिलिका निकल जायें और पूर्ण-रूपेण शुद्ध जल की यात्रा प्रारम्भ हो सके। डीमिनरलाइजेशन प्लांट 3×60 घनमीटर प्रति घण्टे की रफ्तार से जल शोधित करके यूनिट कन्डेन्सेट टैंक में भेजता रहता है।

युनिट कन्डेन्सेन्ट स्टोरेज टैंक

110 मेगावाट क्षमता की चारों मशीनों के लिए 4 यूनिट कन्डेन्सेन्ट स्टोरेज टैंक लगाये जाने की योजना है जिनमें से 2 टैंक कार्यरत हैं। प्रत्येक टैंक में 500 घनमीटर डीमिनरलाइज्ड पानी एकत्र किया जा सकता है। यहाँ से निकल कर पानी कन्डेन्सर के निचले भाग हाटवेल में ले जाने के लिए प्रत्येक टैंक के साथ 2 कन्डेन्सेन्ट ट्रान्सफर पम्प लगाये गये हैं जिनमें से प्रत्येक की क्षमता 6.5 घनमीटर प्रतिघण्टा है। यह पम्प हाटवेल में आवश्यकतानुसार पानी पहुँचाते रहते हैं।

जलधारा की यात्रा हाटवेल से डीएअरेटर तक

हाटवेल से लगभग 40°C तापक्रम का पानी निकलता है। इस पानी को 42 मीटर ऊँचाई पर रखे डीएअरेटर में चढ़ाया जाता है। डीएअरेटर 15.9 मीटर लम्बा 3.6 मीटर व्यास का सिलिंडर की आकार का टैंक है। इसमें पानी चढ़ाने के लिए 3 यूनिट कन्डेन्सट पम्प लगे हैं जिनमें प्रत्येक की जल चढ़ाने की क्षकता 160 घनमीटर प्रति घण्टे हैं। डीएअरेटर की ओर जाते समय पानी को उत्तरोत्तर गर्म करते जाते हैं। हाटवेल से 40°C तापक्रम का निकला पानी डीएअरेटर की ओर जाते समय भाप द्वारा उत्तरोत्तर गर्म करने के लिए इसे स्टीम जेट इजेक्टर, एल पी हीटर A1, 1B, 2A, 2B, चिमनी स्टीम कन्डेन्सर, ग्लैंड स्टीम कन्डेन्सर एल पी हीटर नम्बर 3, एल पी हीटर नं० 4 तथा एल पी हीटर नं० 5 से पास किया जाता है। डीएअरेटर पर पहुँचकर पानी ऊपर से गिरता है और नीचे से भाप फेंकते हैं जिससे पानी में घुली ऑक्सीजन भाप के साथ बाहर निकल आती है और हवा से मुक्त जल डीएअरेटर में एकत्रित होता रहता है।

डीएअरेटर से ब्वायलर तक जल पहुँचाने की प्रक्रिया

इस प्रक्रिया में पानी पहले 42 मीटर पर रखे डीएअरेटर से नीचे उतरता है और 545 घनमीटर की रफ्तार से ऊपर ब्वायलर की ओर पानी चढ़ाने वाले ब्वायलर फीड पम्प से 45 मीटर ऊँचाई पर रखे गये ब्वायलर ड्रम पर पहुँचता है। प्रत्येक मशीन के साथ 2 ब्वायलर फीड पम्प का प्राविधान है। एक ब्वायलर फीड पम्प को चलाने के लिये 4000 किलोवाट विद्युत् की आवश्यकता पड़ती है। ब्वायलर फीड पम्प तक लाने से पहले ही पानी में हाइड्रेजीन मिला दिया जाता है। ताकि पानी में घुली ऑक्सीजन पूरी तरह खत्म हो जाय तथा पानी का एसिडिक असर न्यूनतम हो जाये। 45 मीटर की ऊँचाई पर रखे ब्वायलर की ओर जाते समय जल धारा एच पी हीटर नं० 1 तथा एच पी हीटर नं० 2 से पास होती है। अत्यधिक तापक्रम की भाप के सम्पर्क में आने के कारण जल का

तापक्रम 240° सेन्टीग्रेड हो जाता है। तदोपरान्त इस फ्लू गैस के ताप से गर्म करने के लिये एकोनोमाइजर में पास किया जाता है। एकोनोमाइजर से गर्म पानी ब्वायलर ड्रम में पहुँचता है। ब्वायलर में फास्फेट की डोजिंग करते रहते हैं जिससे कि कैलशियम तथा मैगनेशियम के क्लोराइड, सल्फेट वगैरह को फास्फेट से रासायनिक अभिक्रिया करके सी० बी० डी० वाल्व से बाहर निकाल दिया जाता है। ब्वायलर ड्रम में बचा हाइड्रोजीन मुक्त होकर पानी, तथा नाइट्रोजन बन जाता है जो भाप के साथ निकल आता है।

ब्वायलर में पहुँचा पानी नली से होकर भट्टी में पहुँचता है। भट्टी के सम्पर्क में आते ही जलधारा भाप के रूप में परिवर्तित हो जाती है और ब्वायलर ड्रम के ऊपर इकट्ठी होती जाती है। इसी भाप को सुपर हीट करके 540°C तापक्रम तथा 139 किलोग्राम प्रतिवर्ग से० मी० दाब पर 380 टन प्रतिघण्टे की रफ्तार से टरबाइन की ओर भेजा जाता है जिससे टरबाइन 3000 चक्र प्रति मिनट की रफ्तार से घूमने लगती है। टरबाइन के घूमते ही उसके साथ जुड़ा 110 मेगावाट क्षमता का जेनेरेटर घूमता है और विद्युत्-उत्पादन प्रारम्भ हो जाता है। 11,000 वोल्ट की विद्युत्धारा जैसे ही बाहर स्विचयार्ड में लगे 125 MVH ट्रांसफार्मर से गुजरती है 2,20,000 वोल्ट की विद्युत्धारा में परिवर्तित हो जाती है और ग्रिड में प्रवाहित होने लगती है।

टाण्डा ताप विद्युत्गृह की 3 मशीनों का कार्य पूर्ण हो जाने से आशा के अनेक दीप जल गये हैं। सभी को व्यग्रता है—विद्युत् विकास के इतिहास में जल्दी से जल्दी एक स्वर्णिम अध्याय जोड़ने की।

निर्धनता से त्रस्त इस क्षेत्र के ग्रामवासी पहले कहते थे—"इस बस्ती में कौन हमारे आँसू पोंछेगा, जिसका देखो उसका दामन भीगा लगता है।" लेकिन आज सरयू तट पर बना सौदामिनी का यह मन्दिर सबके समृद्धि के मार्ग का सारथी बन गया है। हर ग्रामवासी के चेहरे पर अब सृजन तथा सुखद भविष्य की मुस्कान है। सरयू तट से उठती जलधारा विद्युत्गृह पहुँचकर उतरंगे श्रृंगार से सजी झिलमिल सौदामिनी को तारों में उतारने लगी है।

○○

भारतीय दर्शन और धर्म-साधना की गणितीय परम्परा

योगेन्द्र बहादुर सिंह

भारतीय दर्शन तथा धर्म-साधना के गणितीय परम्परा की सम्पदा विपुल है। परम्परा का दार्शनिक पक्ष शून्य, एक तथा अनन्त की परिकल्पना से आरम्भ होता है। शून्य शब्द 'शून'का बिगड़ा हुआ रूप है। शून का अर्थ होता है—सूजा हुआ। दार्शनिक चिन्तन की ब्रह्माण्ड के निरन्तर बढ़ते जाने तथा उसके फटने से आकाश की उत्पत्ति विषयक आस्था का पता तो इसी बात से चलता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में अण्ड (ब्रह्माण्ड) शून होता अर्थात् बढ़ता चला गया और फिर फट गया जिससे आकाश की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार शून्य के अर्थ 'खालीपन' तथा 'आकाश' हुए। धर्म-साधना के क्षेत्र में शून्य परमतत्व की एक संज्ञा के रूप में परि-कल्पित कर लिया गया था। 'महाभारत' में भीष्म ने विष्णु के सहस्रनामों में एक नाम शून्य भी बताया है। हिन्दू दार्शनिक इस शून्य का अर्थ 'सत्ता का अभाव' लेते हैं। महायान (बौद्ध धर्म के 18 सम्प्रदायों में से शक्तिशाली) को सामान्यतया दो दार्शनिक सम्प्रदायों में विभाजित किया गया है—शून्यवाद तथा विज्ञानवाद। शून्यवाद (Nihilism) के प्रबल प्रतिपादक थे—**आचार्य नागार्जुन**। नागार्जुन के अनुसार—"इसे शून्य भी नहीं कह सकते, अशून्य भी नहीं कह सकते और दोनों भी नहीं कह सकते।" निर्वाण के सम्बन्ध में नागार्जुन ने कहा कि वह शून्य में उलझी हुई गाँठ है जो शून्य में ही खुल जाती है। तत्व-दर्शन में शून्य का उल्लेख उस तत्व से है जो अगोचर है, अगम है। शून्य तत्व वर्ण-हीन है, आकृतिहीन है। वह न तो महान है, न ह्रस्व है, न लघु है, न दीर्घ है। सिद्धों ने शून्य-स्वभाव को परम-कल्याणकारी माना है। साधना-पद्धति में शून्य के चार स्वरूपों को स्वीकार किया गया : शून्य, अतिशून्य, महाशून्य तथा सर्वशून्य। नाथ-सम्प्रदाय के साहित्य में शून्य का प्रयोग तीन रूपों में हुआ है—परमतत्व-नाद, ब्रह्मरंध्र, शिवलोक। बज्रयानी साहित्य में चार शून्य माने गये परन्तु उन्हें नाद की चार अवस्थाओं से जोड़ दिया गया। सन्त-साहित्य में महल, गुफा, सरोवर, शिखर, कमल, दीपक, ज्योति, नीर, मेघ आदि उपमानों से शून्य को सजाया गया है। परवर्ती सन्त-साहित्य में शून्य को बाघम्बर, ध्वजा थाल आदि उपमानों से भी चित्रित किया गया है। भाषाशास्त्री **ब० ल० उपाध्याय** के अनुसार—'शून्य स्वयं शून्य अवश्य है, किन्तु अनन्त का पिता है।'

ब्रह्मगुप्त को सबसे पहले आभास हुआ कि यदि किसी राशि को शून्य से भाग दिया जाये तो एक विशिष्ट भागफल प्राप्त होता है, जिसका नाम उन्होंने 'तच्छेद' रखा। बाद में **श्रीपति** (1039 ई०) ने 'खहर' शब्द का उपयोग किया। **भास्कर द्वितीय** ने 1150 ई० में सर्वप्रथम् यह बताया कि खहर राशि का मान अनन्त होता है। उनके अनुसार "जिस प्रकार सृष्टि और प्रलयकाल के समय ब्रह्म में से अनन्त जीव आते-जाते रहते हैं, किन्तु वह फिर भी अनन्त रहता है, उसी प्रकार यह अनन्त संख्या भी है। इसमें कितनी बड़ी संख्या को भी जोड़ने या घटाने से कुछ अन्तर नहीं पड़ता।" इस प्रकार धार्मिक-दर्शन ने अनन्त को परम-संख्या बना डाला। शून्य का अर्थ परम-तत्व था। शून्यता पा लेना अर्थात् सिद्ध हो जाना। शून्य से पैदा हुआ अनन्त। अनन्त भी परम् तात्विक गुणों का पुंज बन गया। शून्य और अनन्त दोनों हो ईश्वर की परम्सत्ता से जुड़े किन्तु दोनों जुड़े अलग-अलग अर्थों में। धर्म-साधना में संकुचन का परम्-बिन्दु है शून्य तथा विरलन का परम-आकार है—अनन्त। दोनों में दिव्यता है ईश्वर की—उस ईश्वर की जो एक ओर केवल एक है। 'एक' संख्याओं में सबसे प्राचीन है तथा ईश्वर के स्वरूप से जुड़ी इस संख्या का स्वरूप आज तक नहीं बदला।

गणितीय परम्परा के कुछ प्रिण्ट्स और देखिये—

प्रवक्ता, के० एन० आई, सुलतानपुर-228118 (उ० प्र०)

त्रिक् : कश्मीर शैव-साहित्य की संज्ञा त्रिक् है। यह त्रिक् आगम-शास्त्र, स्पन्द-शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र का बोध कराता है। यह परा, अपरा और परात्परा-तीनों अवस्थाओं का बोध कराता है। त्रिक् से शैव दर्शन के अभेद, भेद और भेदाभेद पक्षों का ज्ञान होता है। यह इच्छा, ज्ञान और क्रिया-शक्तियों तथा पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी-वाचाओं का संकेतन भी करता है। विमार्ग सिद्धान्त स्वभाव के तीन प्रकारों, सुकुमार, विचित्र, मध्यम के प्रतिपादन का सिद्धान्त है। यह त्रिवेणी-शिव संहिता में गंगा, यमुना और इनके मध्य स्थित सरस्वती के संगम को कहते हैं। हठयोग में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के संगम को त्रिवेणी कहा गया है।

चतुर्व्यूह : ईश्वर लोक कल्याण के लिए (दे० गीता, अ4, श्लोक 8) चार प्रकार का रूप धारते हैं : व्यूह, विभव, अर्चावतार, अन्तर्यामी अवतार। व्यूह के चार रूप हैं : वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्मन, अनिरूद्ध को सम्मिलित रूप से चतुर्व्यूह कहते हैं। चार आनन्द-वज्रयानी सिद्धों ने चार क्षणों, चार आनन्दों और चार मुद्राओं का प्रचुर उल्लेख किया है। चार क्षणों को विचित्र, विपाक, विमर्द और विलक्षण की संज्ञा दी गयी है। इन्हीं के भेद से चार आनन्द बताये गये हैं : प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द।

पाँच : भारतीय दर्शन एवं धर्म-साधना के साहित्य में पाँच की संख्या बड़ी ही महत्वपूर्ण है। पंचमकार, पंचतत्व, पंच स्कंध, पंचामृत, पंचोपसना, पंचप्राण, पंचकुल, पंचतन्मात्र, पंचमहाभूत, पंच कर्मेन्द्रियाँ आदि संख्या-शब्द इसके प्रमाण हैं।

छः पुत्र : 'कबीर मंसूर' के अनुसार सत्य पुरुष सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने वाले हैं। सृष्टि के लिए उन्होंने छः पुत्र उत्पन्न किये थे। इनके नाम हैं : सहज, अंकुर, इच्छा, स्वयं, अचिन्त और अक्षर। षट्कर्म-वैदिक कर्मकाण्डीय विधानों के प्रभुत्वकाल में ब्राह्मण के छः कर्म थे—अध्ययन, अध्यापन, यज्ञकर्म करना तथा कराना, दान देना तथा लेना। पराशर स्मृति में छः कर्म बताये गये हैं—स्नान- संध्या, यज्ञ, तर्पण, होम, देव पूजा। मनुस्मृति में गृहस्थ ब्राह्मण के लिए छः कर्म बताये गये हैं : ऋतु, अमृत, मृत, कर्षण, सत्यनृत (व्यापार) तथा स्ववृत्ति। शाक्त तंत्र में षट्कर्म हैं—शांति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन एवं मारण। हठयोग की क्रियाओं को सम्पादित करने वाले षट्कर्म हैं : मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि। षट्दर्शन—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा वेदान्त (छः आस्तिक दर्शन) तथा चार्वाक्, जैन, वैभाषिक, सोत्रान्तिक, योगाचर (विज्ञानवाद) माध्यमिक या शून्यवाद (छः नास्तिक दर्शन)।

सात : हठयोग की साधना में सात क्रियायें आवश्यक मानी जाती हैं—शोधन, दृढ़ता, स्थिरता, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष, निर्लिप्तत्व।

षोडशोपचार : भगवान की प्रतीक पूजा के सोलह विधान है।

तत्व : तांत्रिकों के अनुसार तत्व 36 हैं। शैव योगी भी तत्वों की संख्या 36 मानते हैं। सांख्य दर्शन में तत्वों की संख्या 25 मानी गयी है।

इत्यादि : उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त, भक्ति-9 से, अवतार-10 से, शिव-11 से, सूर्य-12 से, परम्-भागवत्-13 से, मनु-14 से, पुराण व स्मृति-18 से, देवता-33 की संख्या से जुड़े हुए हैं। वैष्णवों ने विष्णु के 24

अवतारों की कल्पना की है। बौद्ध धर्म में 24 बुद्धों की तथा जैन धर्म में तीर्थंकरों की मान्यता है। योनि 84 मानी गयी है। सिद्ध सिद्ध सम्प्रदाय में सिद्धों की संख्या भी 84 मानी गयी है।

ये संख्यायें कदाचित् संख्यायें ही नहीं हैं, अपितु भारतीय दर्शन एवं धर्म-साधना की गणितीय परम्परा की व्यवस्थित सभ्यता का बोध कराती हैं। परम्परा की गणितीय संस्कृति की जीवाश्म हैं ये संख्यायें। इन पर शोध के मार्ग दृष्टव्य हैं।

□□

बस्तर का 'सोमवृक्ष' सल्फी

कौशल किशोर चतुर्वेदी

सदियों से मनुष्य विभिन्न प्रकार के नशीले पेयों की ओर आकर्षित होता रहा है और उनका इस्तेमाल करता आया है। नशीले पेयों में महुए की शराब, खजूर की ताड़ी, बीयर, ब्राण्डी, ह्विस्की आदि प्रमुख हैं। इन नशीले पेयों की ही श्रेणी में ही एक और नाम जुड़ता है और वह है सल्फी का।

सल्फी एक आदिमजातीय नशीला पादप पेय है जिसे मध्य प्रदेश के बस्तर जिले में पायी जाने वाली आदिम जातियाँ गुरिया, गारिया, हल्वा, गोंड, कलार आदि इस्तेमाल करती हैं। सल्फी के वृक्ष को इन आदिम जातियों के लोग 'सल्फी झाड़' कहकर पुकारते हैं। इसके तने से निकलने वाले रस को ये लोग 'सल्फी' कहते हैं। इसका वृक्ष सामान्यतया सभी स्थानों पर पाये जाने वाले खजूर तथा ताड़ के वृक्षों से भिन्न होता है जिससे कि ताड़ी नामक नशीला पेय निकलता है।

वनस्पति जगत् के पामी कुल के अन्तर्गत् रखे जाने वाले इस वृक्ष को वनस्पति विज्ञान की भाषा में **कैरियोटा युरेन्स** कहा जाता है। इसे हिन्दी में 'मारी' तथा अंग्रेजी में 'इण्डियन सागो पाम' आदि के नामों से जाना जाता है। इसका वृक्ष सामान्यतया 5-7 मीटर लम्बा, तना काला-भूरा, खुरदुरा तथा पत्तियाँ कटी-फटी मछली की पूंछ जैसी होती हैं।

सल्फी का रस निकालने के लिये तने के अग्रभाग पर चाकू से गहरा चीरा लगाकर एक तुम्बी (लौकी को खोखला करके बनाया गया बर्तन) बाँध दी जाती है, जिसमें तने का रस इकट्ठा होता रहता है। यही वह सल्फी है जिसे ये लोग इस्तेमाल करते हैं। किन्तु वर्षों पूर्व वैज्ञानिक शोधों से एक तथ्य जो उभर कर सामने आया था वह यह कि ताजी सल्फी विटामिनयुक्त, स्वास्थ्य-वर्द्धक तथा क्षय-रोग में गुणकारी है। इसमें 3.5% शर्करा, 3-4.5%

शोध छात्र, वनस्पति विज्ञान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, टी-33, टी० बी० कॉलोनी, तेलियरगंज, इलाहाबाद-211004 (उ० प्र०)

एल्कोहॉल तथा 0.3% ऐसीटिक अम्ल मिलता है (ट्रॉपिकल एग्रीकल्चरिस्ट, 1938)। कुछ देर तक रखने के बाद किण्डवन की क्रिया द्वारा यह अत्यधिक नशीली हो जाती है। इतना ही नहीं, इसे खूब नशीला बनाने के लिये आदिवासी लोग जंगली जड़ी-बूटियों के विभिन्न भागों का प्रयोग करते हैं। जंगली पौधे का कौन सा भाग किस रूप में प्रयोग किया जाता है, इसका विवरण निम्न तालिका में दिया गया है।

तालिका

क्रमांक	पौधे का वानस्पतिक नाम	पौधे का आदिम जातीय नाम	पादप कुल	प्रयोग में आने वाला भाग	प्रयोग की विधि
1	एडिना कॉर्डीफोलिया	हल्दू, गुण्डी	रूबियेसी	छाल	कूटी हुई छाल को सल्फी में मिलाकर दो-तीन दिन तक रखा जाता है।
2.	कैसिया फिस्टुला	रीला	सीसलपिनियेसी (कैसिएसी)	जड़	जड़ का रस सल्फी को नशीला बनाता है।
3.	हेमीडेसमस इन्डिकस	सुगन्धी, फालुरी	एस्क्ले पियेडेसी	जड़	उपर्युक्त विधि जैसे।
4.	टर्मिनैलिया एलाटा	मोरवा, साना	काम्ब्रीटेसी	पत्ती	पत्तियों का रस नशीला बनाता है।
5.	बाउहीनिया वाहलाई	सिघारी, सियाड़ी	सीसलपीनियेसी (कैसिएसी)	बीज	पिसे हुए बीज को सल्फी में मिलाने से सल्फी नशीली हो जाती है।

सल्फी बस्तर जिले में पायी जाने वाली जन-जातियों का 'सोमरस' है। यह इनकी प्राचीन आदिमजातीय संस्कृति का परिचायक भी है। विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक उत्सवों पर इसका प्रयोग करना ये लोग काफी शुभ मानते हैं। देवी-देवताओं की पूजा में, हर दुःख तथा खुशी के मौकों, तीज-त्योहार, शादी-ब्याह, जन्म-मरण आदि पर इन आदिम जातियों के लोग इसका इस्तेमाल कर खुशियाँ तथा दुःख मनाते हैं। ये लोग खाते समम पानी के स्थान पर सल्फी ही पीते हैं। बच्चे, जवान, बूढ़े, स्त्री-पुरुष सभी इसे पी-पीकर मस्त रहते है। यही नहीं, एक चौंका देने वाला तथ्य यह है कि ये जल्दी बीमार नहीं होते हैं। मेहमानों के आवभगत में सबसे पहले सल्फी ही पेश की जाती है, बाद में दूसरी चीजें।

मारिया जन-जाति में तो दहेज के रूप में एक तुम्बी सल्फी लड़के को लड़की वाले की तरफ से भेंट की जाती है। शादी के बाद नवदम्पत्ति एक दूसरे को सल्फी पिलाकर अपने वास्तविक जीवन की शुरुआत करते हैं। इस प्रकार सल्फी आदिम जातियों के जीवन का अभिन्न अंग है। खाने को चाहे कुछ मिले या न मिले, पीने को सल्फी

अवश्य मिलनी चाहिये। सबेरा हुआ नहीं कि बच्चे, बूढ़े, जवान सल्फी झाड़ की तरफ भागने लगते हैं। इसके वृक्ष बस्तर जिले के जंगलों में बहुतायत से मिलते हैं। सल्फी हर समय पीने को मिलती रहे इसलिए घर के आस-पास इसके वृक्ष को ये लोग लगाते हैं। मध्य प्रदेश के अलावा यह वृक्ष असम, मेघालय, मैसूर तथा हिमालय के जंगलों में भी मिलता है। सल्फी वृक्ष के तने के भीतरी भाग को इस क्षेत्र के आदिवासी, मुख्यत: मारिया तथा मुरिया, छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर सुखाते हैं। टुकड़ों के पूर्णतया सूख जाने पर उन्हें पीसकर आटा बनाते हैं और इस आटे को रोटी बनाने के काम में लाते हैं। इसके तने से साबूदाना भी प्राप्त किया जाता है।

ऐसा जान पड़ता है कि आदिवासी इसके औषधीय एवं पौष्टिक गुणों से भली-भाँति परिचित नहीं हैं अतएव आवश्यकता है इस वृक्ष पर विस्तार से शोध करने की।

OO

अनन्त जीवन की आत्मा : मिट्टी

डॉ० दिनेश मणि

क्या आपने कभी यह सोचा है कि इस सृष्टि में यदि धूप, हवा, पानी तथा मिट्टी न होती तो क्या हमारा अस्तित्व सम्भव होता ? वैसे तो खाद्यान्न-उत्पादन के लिए प्रकृति की ये सभी देन बेहद जरूरी हैं, फिर भी, इनमें से मिट्टी का अपना विशेष महत्व है। यह एक अत्यन्त मूल्यवान प्राकृतिक सम्पदा है। हमारी सबसे बुनियादी जरूरत रोटी है। दुनिया का पेट भरने के लिए कुछ मामूली आहार नदियों और समुद्रों से प्राप्त हो सकता है, परन्तु मुख्य आहार प्राप्त करने के लिए हमें मिट्टी की ऊपरी परत पर ही निर्भर रहना है।

मिट्टी न केवल हमारे सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे का आधार-स्तम्भ है अपितु हमारी सभ्यता/संस्कृति, दर्शन और जीवन शैली पर मिट्टी की इतनी गहरी छाप है कि हमारे जीवन दर्शन को उससे अलग कर पाना सम्भव नहीं है। फिर भी हममें से बहुत से लोग मिट्टी को उपेक्षा के भाव से देखते हैं। मेरी समझ से शायद वे मिट्टी के महत्व तथा इसकी उपयोगिता से अनभिज्ञ हैं। आज मिट्टी के प्रति सही दृष्टिकोण अपनाना समय की माँग है। अगर गलत तरीके इस्तेमाल करके मिट्टी खराब कर दी गयी, अगर उसकी लगातार सही देखभाल नहीं की गयी और मौसम इसी तरह से अपनी तुनकमिजाजी दिखाता रहा तो मिट्टी की स्थिति और भी शोचनीय हो सकती है।

हम जानते हैं कि पौधों, वृक्षों तथा अन्य वनस्पतियाँ उगाने के लिए भूमि अनिवार्य है। कार्बनिक पदार्थों से भूमि समृद्ध होती है तथा अनेक मृदा-सूक्ष्मजीवों (जो मिट्टी को उपजाऊ बनाते हैं) का जीवन इन्हीं कार्बनिक पदार्थों पर निर्भर करता है। यद्यपि हमें भूमि की सतह बहुत अधिक दिखायी देती है, लेकिन गहराई में भूमि खोखली है। कहीं-कहीं तो कुछ फुट के बाद ही भूमि का खोखलापन दिखायी देता है। जब हमें कहीं बंजर चट्टानी सतह दिखायी देती है उससे यह विदित होता है कि मूल रूप से उपस्थित मिट्टी की थोड़ी सी मात्रा वहाँ से उखड़ गयी।

संयुक्त मन्त्री, विज्ञान परिषद् प्रयाग, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

भारी अथवा तेज वर्षा तथा तेज हवा से मिट्टी की ऊपरी परत का क्षरण (ह्रास) होता है। नदियाँ अपने साथ बहुत सारी मिट्टी बहाकर समुद्र में ले जाती हैं। एक अनुमान के अनुसार भारतवर्ष में प्रतिवर्ष ऊपरी सतह की 60,000 लाख टन मिट्टी की हानि हो जाती है। इसमें केवल खाद की राशि लगभग 2000 करोड़ रुपये बैठती है। कुल 3060 लाख हेक्टेयर का क्षेत्र प्रभावित हो रहा है। भारतवर्ष में प्रतिवर्ष एक प्रतिशत भूमि बंजर बन रही है।

उपजाऊ मिट्टी की ऊपरी परत बनने में अधिकतर दशाओं में 3000 साल से लेकर 12,000 साल तक लग जाते हैं। एक बार यह उपजाऊ परत नष्ट हो गयी तो फिर मिट्टी बेजान हो जाती है। उसे फिर से जीवंत बनाना असम्भव की सीमा तक कठिन है, क्योंकि इस परत को बनने में बहुत धीमी गति से क्रियायें चलती हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यदि एक बार मिट्टी की यह परत गयी तो फिर लौटकर नहीं आयेगी।

आज मिट्टी पर चारों ओर से खतरे मंडरा रहे हैं। एक ओर से हवा तथा जल द्वारा मिट्टी का क्षरण हो रहा है तो दूसरी ओर से वनों की अन्धाधुन्ध कटाई व जानवरों की चराई से मिट्टी नंगी होती जा रही है। तीसरी ओर से प्रदूषित जल से सिंचित मृदा "बीमार" होती जा रही है तो चौथी ओर से सघन खेती करने से मिट्टी से पोषक तत्वों का तीव्र गति से ह्रास होता है और इनकी अविलम्ब पूर्ति करने के उद्देश्य से हम रासायनिक उर्वरकों का अधिकाधिक इस्तेमाल करते हैं। माना कि कृषि-उत्पादन बढ़ाने के लिए उर्वरकों का उपयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है, परन्तु यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यदि ये उर्वरक मिट्टी की भौतिक, रासायनिक तथा जैविक तीनों दशाओं में से किसी एक भी दशा से मेल नहीं खाते हैं तो इन्हें प्रयोग नहीं करना चाहिए। यदि इन्हें सही तरह से प्रयोग नहीं किया जाता है तो ये मिट्टी की दशा बिगाड़ भी देते हैं। साथ ही अन्य समस्याओं को भी जन्म दे सकते हैं जैसे पौधा नाइट्रेट की भारी मात्रा सोख सकता है या मिट्टी में धातुओं की अशुद्धता आ सकती है।

शुष्क क्षेत्रों में उपजाऊ मिट्टी तेज हवा या आँधियों के साथ उड़कर गायब होती जा रही है। जहाँ भूमि पर जंगल या हरियाली का दूसरा आवरण यथा—घासें, झाड़ियाँ इत्यादि हैं वहाँ तो गनीमत है अन्यथा अन्य स्थानों पर जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ वर्षा की बूँदें कोड़े की मार की तरह मिट्टी की ऊपरी चमड़ी (परत) उधेड़ देती हैं तथा वर्षा का पानी इन्हें अपने साथ बहा ले जाता है। मिट्टी के इस बहाव से न केवल मिट्टी की ऊपरी उपजाऊ परत की हानि होती है अपितु नदियों, झीलों तथ भू-जल तट में भराव तथा प्रदूषण की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

खाद्य एवं कृषि संगठन ने यह अनुमान किया है कि यदि इसी तरह से मिट्टी की बरबादी होती रही तो इस सदी के अन्त तक विकासशील देशों की उत्पादक-क्षमता में 20 प्रतिशत तक कमी आ सकती है। इसी आशंका से सावधान होकर सन् 1991 में खाद्य एवं कृषि संगठन के सदस्य देशों ने "वर्ल्ड सॉइल चार्टर" को स्वीकार किया था। इस चार्टर में जो सिद्धान्त निर्धारित किये गये, उनके आधार पर अनेक देशों ने अपने यहाँ मिट्टी के संरक्षण की नीतियाँ बनायी हैं और उन्हें व्यवहार रूप भी दे दिया है। कम ढलान वाली भूमियों में सीढ़ीदार खेत बनाने से पानी के साथ मिट्टी का बहना रोका जा सकता है, लेकिन उष्ण कटिबन्धों में परिस्थितियाँ बहुत विकट हो गयी हैं। कई जगहों पर जंगल या हरियाली का आवरण अविलम्ब तैयार करना अति अनिवार्य हो गया है। पहाड़ी क्षेत्रों में जंगलों की कटाई इतनी निर्ममता से हुई है कि जो मिट्टी बह गयी उससे हम हमेशा के लिए हाथ धो चुके हैं। बहुत ही

उन्नत तकनीकें (जैसे अवनालिका या खड्ड नियन्त्रण के लिए 'स्पिल वे' आदि का पक्का निर्माण करना) प्रयोग में लाकर ही आगे होने वाली मिट्टी की हानि को बचाया जा सकता है।

इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं होनी चाहिए कि मिट्टी की ऊपरी परत की उत्पादकता तभी बनी रहती है जब उनमें बराबर पानी और अकार्बनिक पदार्थ जमा हो गये हों। इन पदार्थों में पौधों द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य रूप में नाइट्रोजन, फॉस्फेट और कम मात्रा में इस्तेमाल किये जाने वाले सूक्ष्ममात्रिक तत्व तथा खनिज शामिल हैं। जिस मिट्टी को प्यासा रखा जाये या आवश्यक अकार्बनिक/कार्बनिक पदार्थ न देकर भूखा रखा जाये, वे भी इन चीजों को उपलब्ध कराने और इनकी कमी पूरी कर देने से जिन्दा हो जाती हैं। "बीमार" मिट्टी की नब्ज टटोलकर प्रदूषक तत्वों की मात्रा कम करके (मृदा सुधारकों जैसे—चूना, जिप्सम, पाइराइट आदि द्वारा) स्वस्थ बनाया जा सकता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मिट्टी (जो कि अनन्त जीवन की आत्मा है) को हर सम्भव प्रयास करके उर्वर और उत्पादन-अवस्था में रखा जाये। इसका चीर हरण न करके कई तरह के पेड़-पौधे, झाड़ियाँ, घासें इत्यादि उगाकर इसे वाह्य तथा अधोवस्त्र उपलब्ध करये जायें ताकि "माता भूमि पुत्रो अहं पृथिव्या:" की उक्ति सार्थक हो सके।

आइये इस बात का व्रत लें कि धरती-पुत्र होने के नाते हम धरती माता की रक्षा का हर तरह से प्रयास करेंगे।

OO

अन्तरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में भारत : इनसेट-2 बी का सफल प्रक्षेपण

डॉ० विमल कान्त श्रीवास्तव

यह निर्विवाद सत्य है कि भारत भी अन्तरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में तेजी से कदम बढ़ा रहा है। भारतीय वैज्ञानिकों ने अन्तरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में किसी सीमा तक आत्म-निर्भरता भी प्राप्त कर ली है (देखें सारणी—1)।

अभी हाल में 23 जुलाई 1993 को भारत ने अपने दूसरे बहुउद्देशीय उपग्रह इनसेट-2 बी का सफलता-पूर्वक प्रक्षेपण किया। इसे भारतीय समय के अनुसार सुबह चार बजकर 29 मिनट पर गुयाना अन्तरिक्ष केन्द्र से यूरोप के सबसे शक्तिशाली एरियन राकेट के द्वारा छोड़ा गया। उपग्रह अपनी कक्षा में प्रवेश कर गया। इसका सफल प्रक्षेपण देश के सभी भागों में अन्तरिक्ष टेक्नॉलोजी का लाभ पहुँचाने के भारतीय प्रयासों की दिशा में मील का पत्थर सिद्ध होगा।

4/5 डालीबाग कॉलोनी, लखनऊ-226001 (उत्तर प्रदेश)

इन्सेट-2 बी 1906 किलोग्राम का है। इसके साथ स्पेन के एक संचार उपग्रह हिस्पेसेट-1 बी को भी अन्तरिक्ष में छोड़ा गया। नारंगी-पीली चमकदार लौ के साथ आग उगलता हुआ और आस-पास के जंगलों में अपनी ध्वनि गुंजयमान करता हुआ एरियन राकेट दोनों उपग्रहों को अन्तरिक्ष में ले जाने के लिए धीरे-धीरे ऊपर उठा। जैसे ही राकेट छोड़ा गया प्रक्षेपण-स्थल से 12 किलोमीटर दूर स्थापित नियन्त्रण केन्द्र में बैठे पर्यवेक्षकों ने भी 58 मीटर ऊँचे राकेट को छोड़े जाने के झटके महसूस किये। इनसेट-2 बी को छोड़े जाने के समय कौरू में रात के सात बजकर 50 मिनट हुए थे जबकि भारत में अभी भोर ही हुई थी। इंजन के हरकत में आने के तीस मिनट के बाद ही भारतीय उपग्रह प्रक्षेपित हो गया। स्पेन का उपग्रह इनसेट-2 बी से पाँच मिनट पहले ही राकेट से अलग हुआ।

स्वदेश में निर्मित बहुउद्देशीय इनसेट-2 बी को उसकी अन्तिम भू-स्थिर कक्षा में 27 जुलाई 1993 को सफलतापूर्वने पहुँचा दिया गया तथा इसी दिन तीसरी अपोजी मोटर चालू करके उपग्रह को इस कक्ष में पहुँचाया गया। सुबह 10 बजकर तीस मिनट पर 440 एन तरल अपोजी मोटर 127.4 सेकेण्ड तक चालू रखा गया। उपग्रह अब लगभग 72° पूर्व पर है और इसकी विस्थापन दर 3.5° प्रतिदिन है। अन्त में यह 93.5° पूर्व की स्थिति में पहुँच जायेगा। इसके सभी उपकरण ठीक ढंग से कार्य कर रहे हैं तथा दो एस० बैंड ट्रान्सपौण्डर और सभी सी बैंड ट्रान्सपौण्डर चालू कर दिये गये हैं। इससे उपग्रह के सभी पेलोड के परीक्षण का काम पूरा हो गया है। उपग्रह में लगे अपोजी मोटर लिक्विड प्रोप्यूलशन सेन्टर तिरुअनंतपुरम् में बनाये गये हैं।

इनसेट-2 बी एरियन द्वारा छोड़ा गया चौथा भारतीय उपग्रह है। यह इससे पूर्व छोड़े गये इनसेट-1 बी का स्थान लेगा। इसके पूर्व प्रयोग के तौर पर जून 1981 में पहला उपग्रह एपल छोड़ा गया। इसके बाद जुलाई 1988 में इनसेट-1 सी और पिछले वर्ष जुलाई में इनसेट-2 ए छोड़ा गया। इनसेट-2 ए और इनसेट-2 बी के लिए कुल 329 करोड़ 94 लाख रुपये की राशि मंजूर की गयी और इनके प्रेक्षण की लागत 198 करोड़ 30 लाख रुपये आँकी गयी है। वर्तमान् में किया गया प्रक्षेपण एरियन-4 वाहन का 30वां प्रक्षेपण है और एरियन स्पेस के इतिहास में 56वां प्रक्षेपण है। इनसेट-2 बी के निर्माण पर 78 करोड़ रुपये लागत आयी और इसके प्रक्षेपण पर एक अरब रुपयों का खर्च आया। अन्तरिक्ष कार्यक्रम की शुरुआत के बाद इसरो द्वारा निर्मित यह 15वां उपग्रह है।

इसरो के इस नवीनतम उपग्रह (इनसेट-2 बी) से मौसम की बेहतर जानकारी मिलेगी। भारत के लोगों को बेहतर एस० टी० डी० सुविधा मिलेगी और भारतीय दूरदर्शन पांच नये चैनल भी ठीक से चला पायेगा। इसके सी० बैंड और विस्तारित सी० बैंड ट्रांसपौण्डर बड़े शहरों के बीच टेलीफोन व्यस्तता को दूर करने के उपयोग में आयेगा। इनसे दूरदराज के इलाकों में एक चैनल वाले संचार सम्पर्क डेटा और संदेश भेजने के नेटवर्क क्षेत्रीय टेलीविजन मॉनिटरिंग और मैट्रो टी० वी० चैनलों को भी दुरुस्त रखा जा सकेगा। एस० बैंड ट्रांसपोंडरों का इस्तेमाल राष्ट्रीय टेलीविजन चैनल, क्षेत्रीय टी० वी० नेटवर्क, रेडियो नेटवर्क, आपदाओं की पूर्व सूचना, मौसम सम्बन्धी सूचना और आँकड़े तथा समाचार और फैक्स सम्पर्क के लिए किया जा सकेगा।

उपग्रहों, मिसाइलों और राकेटों को गेंद की तरह अन्तरिक्ष में उछालने की शक्ति भारत के पास अब इस हद तक आ चुकी है कि जल्दी ही वह अन्तरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र बनाने में समर्थ हो जायेगा। किन्तु भारत अपनी वैज्ञानिक क्षमता का उपयोग शांतिपूर्ण कार्यक्रमों के लिए ही करेगा। अमेरिका के दबाव में आकर रूस और भारत के

क्रायोजेनिक इंजिन समझौते रद्द होने की अब आशंका नहीं है। क्रायोजेनिक इंजन तकनीक को भारतीय वैज्ञानिक भारत में विकसित करने के लिए कृतसंकल्प हैं। यदि रूस से तकनीक न मिला तो भी भारत का अन्तरिक्ष विज्ञान कार्यक्रम चलता रहेगा।

सारणी—1

अन्तरिक्ष कार्यक्रमों में भारत की उपलब्धियाँ

उपग्रह	दिनांक	कार्य	प्रक्षेपक	परिणाम
आर्यभटट	19 मार्च 1975	वैज्ञानिक	सोवियत संघ	सफल
भास्कर-1	7 जून 1979	पृथ्वी का निरीक्षण	सोवियत संघ	सफल
रोहिणी	10 अगस्त 1979	पृथ्वी का निरीक्षण	ए० एल० बी०	असफल
रोहिणी	18 जुलाई 1980	पृथ्वी का निरीक्षण	एम० एल० वी० तीन	असफल
ऐपल	19 जून 1981	संचार	एरियन	सफल
भास्कर-2	31 मई 1981	वैज्ञानिक	एस० एल० वी० तीन	सफल
इनसेट-1ए	अप्रैल 1983	बहुउद्देशीय	बी० एल० टी० ए०	सफल
सीस-1	34 मार्च 1987	तकनीकी	ए०एस० एल० बी०	असफल
आइ० आर०	19 मार्च 1980	दूर संवेगी	सोवियत संघ	सफल
सीस-2	13 जुलाई 1988	तकनीकी	ए० एस० एल० बी०	असफल
इनसेट-1सी	22 जुलाई 1988	बहुउद्देशीय	एरियान	असफल
इनसेट-1डी	12 जून 1990	बहुउद्देशीय	डेल्टा	सफल
इनसेट-2ए	10 जुलाई 1992	बहुउद्देशीय	डेल्टा	सफल
इनसेट-2बी	23 जुलाई 1993	बहुउद्देशीय	एरियान	सफल

□□

उन्नत कृषि के लिए जैवउर्वरक

प्रेमनाथ पाण्डेय[1] एवं डॉ० एम० एम० वर्मा[2]

उन्नत कृषि में अधिकतम उत्पादन के लिए कृत्रिम उर्वरकों का उपयोग बढ़ा है, जो कृषि लागत, मृदा उर्वरता एवं पर्यावरण की दृष्टि से अनुपयुक्त है। आज जैव-उर्वरक (Biofertilizers) इनका सर्वोत्तम विकल्प समझे जा रहे हैं। जैव-उर्वरक वायुमण्डलीय स्वतन्त्र नाइट्रोजन को पौधों की जड़ों में स्थिर करने के साथ-साथ मृदा में अनुपलब्ध फॉस्फोरस को उपलब्ध अवस्था में परिवर्तित कर पौधों के उपयोग के योग्य बनाते हैं। ये उर्वरक कृषि लागत, मृदा उर्वरता एवं पर्यावरण की दृष्टि से उत्तम हैं।

भारत की जनसंख्या इस शताब्दी के अन्त तक लगभग एक अरब (975-1000 मिलियन) हो जायेगी। इस विशालतम जनसंख्या के भरण-पोषण के लिए 240-243 मिलियन टन अनाज की आवश्यकता होगी, जिसके लिए 20-22 मिलियन टन उर्वरकों ($N+P_2O_5+K_2O$) की आवश्यकता होगी। भारत में 1350-51 में 0.069 मिलियन टन उर्वरक की खपत थी, जो इस समय करीब 13 मिलियन टन तक पहुँच चुका है। भारत में उर्वरक खपत 72 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर है, जबकि विकसित देशों जैसे जापान, नीदरलैण्ड में क्रमश: 432.7 एवं 687.09 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर है। अपने देश के अन्दर ही विभिन्न राज्यों में उर्वरक खपत में काफी भिन्नता पाती जाती है। सर्वाधिक उर्वरक खपत वाला प्रदेश पंजाब (156 कि० ग्राम/हे०) एवं सबसे कम आसाम (6.7 कि० ग्रा०/हे०) है। इस प्रकार उर्वरकों की बढ़ती खपत को देखते हुए उर्वरक उत्पादन बढ़ाना नितान्त आवश्यक है, जो सम्भव नहीं दिख रहा है। अतएव एक मात्र विकल्प जैव उर्वरक ही हो सकता है। पिछले दो दशकों में विकसित एवं विकासशील देशों में कृषि उत्पादन बढ़ने का मुख्य कारण अधिक उपज वाली प्रजातियाँ, रसायनिक उर्वरक, कवकनाशी (Fungicide), कीटनाशी (Insecticide), खरपतवारनाशी (Herbicide) एवं मूषकनाशी (Rodenticide) रसायनों का प्रयोग था। सिंचाई के साधनों में वृद्धि के फलस्वरूप खेती करने के क्षेत्र में वृद्धि हुई। उत्पादकता में वृद्धि के लिए जरूरी सभी साधन वे हैं जो हमें प्रकृति के दोहन से प्राप्त हुए हैं। प्राकृतिक साधनों के उपभोग की दृष्टि से यह शताब्दी सबसे अपव्ययी शताब्दी है। अब तक के ज्ञात इतिहास में प्रकृति का ऐसा दुरूपयोग नहीं मिलेगा। उत्पादकता में वृद्धि हेतु जो ऊर्जा की आवश्यकता थी, उसे प्राकृतिक साधनों से प्राप्त किया गया, जिसका नित नवीनीकरण नहीं होता। इसलिए ये साधन धीरे-धीरे निश्चित रूप से समाप्त हो जायेंगे। अत: इस तरह के साधनों का उपयोग भविष्य में सीमा कारक (Limiting factor) का काम करेगा। आज आवश्यकता इस बात की है कि कृषि की ऐसी तकनीकें विकसित की जायें जिससे इस समस्या का समाधान हो सके। आजकल यूँ भी रसायन के खिलाफ जेहाद-सा छिड़ा हुआ है, चाहे वह कृषि में रसायन का प्रयोग हो या वातानुकूलन के लिए क्लोरोफ्लूरोकार्बन (CFC) गैसों का मामला हो। ये सब मृदा उर्वरता, मानव स्वास्थ्य एवं वातावरण के लिए सुरक्षित नहीं हैं। मृदा वैज्ञानिकों के अनुसार मृदा में रसायनों के लगातार प्रयोग से इसकी उत्पादन क्षमता (productivity) में अवनति होने लगती है

1. शोध छात्र, शीलाधर मृदा शोध संस्थान, इलाहाबाद, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-2
2. रीडर (कृषि रसायन एवं मृदा विज्ञान), इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-2

तथा कुछ ही वर्षों में वह मृदा अनुर्वर या बांझ (infertile) हो जाती है। अतः अब कृत्रिम उर्वरकों के विकल्प में जैव उर्वरकों का महत्व बढ़ गया है क्योंकि इनका प्रयोग सर्वथा निरापद है। उन्नत कृषि के सघन खेती में कृषि रसायनों के उपयोग की मात्रा बढ़ती जा रही है। सबसे ज्यादा कृषि रसायन उर्वरकों के रूप में प्रयोग किये जाते हैं। इनके खर्च का वहन भारत जैसे विकासशील देश में सम्भव नहीं है, क्योंकि इनका मूल्य काफी ज्यादा होता है तथा इनको खेत में देने की बार-बार आवश्यकता होती है। इसलिए आज यह आवश्यक हो गया है कि कृषि रसायनों के उपयोग को उर्वरक के रूप में रोका जाय तथा इस क्षेत्र में जैविक विधियों के उपयोग के बारे में विस्तार से वैज्ञानिक अध्ययन हो और उन्हें कृषि में लागू करने की सिफारिश की जाये।

जैवउर्वरकों को माइक्रोबियल इनोकुलेन्ट (Microbial Inoculant) के नाम से भी जाना जाता है। मृदा का सूक्ष्मजीवाणु उपचार (Microbial Inoculation) ही जैवउर्वरक कहलाता है। जैवउर्वरक ऐसे जीवों के उत्पाद हैं, जिनके प्रयोग से वायुमण्डलीय स्वतन्त्र नाइट्रोजन को मृदा में जमा किया जाता है अथवा पौधों को उपलब्ध कराया जाता है अथवा सेलूलोजयुक्त पदार्थों का जैविक अपघटन कराकर पोषक तत्वों को उपलब्ध कराया जाता है। जैव उर्वरकों मोटे तौर पर निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है (देखें तालिका—1)।

तालिका—1

(1) नाइट्रोजनयुक्त जैव उर्वरक—जैसे राइजोबियम कल्चर (Rhizobium culture), नील-हरित शैवाल (Blue-green Algae) इत्यादि।

(2) फॉस्फेट उपलब्ध कराने वाले जैव उर्वरक—जैसे फॉस्फोबैक्ट्रिन (Phosphobactrin), वैम कवक (VAM) इत्यादि।

(3) सेल्यूलोज अपघटक जैवउर्वरक—इसमें विभिन्न प्रकार के जीवाणु एवं कवक सम्मिलित हैं।

(4) अन्य—जैसे बायोसुपर (Biosuper)।

नाइट्रोजन के जैविक संश्लेषण में विभिन्न प्रकार के सूक्ष्मजीव भाग लेते हैं। कुछ सूक्ष्मजीव पौधों के साथ सहजीवन यापन करते हुए नाइट्रोजन कार्बनिक रूप में संश्लेषित करते हैं जो कि पौधों द्वारा खनिजीकरण (Mineralization) के उपरान्त ले ली जाती हैं। राइजोबियम (Rhizobium) नामक जीवाणु इसी प्रकार का सूक्ष्मजीव है। यह जीवाणु दलहनी (leguminous) फसलों की जड़ों में ग्रन्थियों (nodules) के अन्दर पाया जाता है। यह जीवाणु वायुमण्डल की नाइट्रोजन को पौधों की जड़ों की गाँठों में संश्लेषित करता है। इस जीवाणु के संवर्धं (culture) को भारतीय कृषि विश्वविद्यालयों के सूक्ष्मजीव विज्ञान विभाग से सम्पर्क कर प्राप्त किया जा सकता है। दलहनी फसलों की बुवाई से पूर्व उनके बीज को इस जीवाणु के कल्चर के साथ मिलाकर बुवाई करते हैं। यह जीवाणु विभिन्न दलहनी फसलों में निम्न मात्रा में नाइट्रोजन स्थिर करते हैं (देखें तालिका—2)।

एजोटोबैक्टर (Azotobactor) नामक जीवाणु धान्य फसलों जैसे गेहूँ, मक्का, सब्जियों जैसे बैंगन, प्याज आदि के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ है। यह जीवाणु फसलों की जड़ों में गाँठ का निर्माण नहीं करता है। रूस में गेहूँ की खेती में एजोटोबैक्ट्रीन नामक जैव उर्वरक सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ था।

क्लॉस्ट्रीडीयम (Clostridium) नामक जीवाणु धान्य फसलों में बहुत ही कम मात्रा में वायुमण्डलीय नाइट्रोजन को स्थिर करता है। यह जीवाणु पी-एच० (pH) 5-9 तक अच्छी प्रकार कार्य करता है। इसकी नाइट्रोजन स्थिरीकरण क्षमता का अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि 1 ग्राम कार्बोहाइड्रेट को उपयोग करने पर मात्र 2 से 10 मि० ग्रा० नाइट्रोजन स्वांगीकृत कर पाता है।

तालिका—2

दलहनी फसलों का नाम	नाइट्रोजन स्थिरीकरण (कि० ग्रा०/हे०/वर्ष)
अल्फालफा (Medicago sativa)	125-335
मटर (Pisum sativum)	80-180
लोबिया (Vigna unguiculata)	65-130
सोयाबीन (Gycine max)	65-115

नील-हरित शैवाल का प्रयोग धान उगाये जाने वाले क्षेत्रों में उत्साहवर्धक रहा है। नील-हरित शैवाल अपनी कोशिकाओं में एक विशेष प्रकार की संरचना बनाती हैं, जिसे हेटरोसिस्ट (Heterocyst) कहते हैं। यह स्वतंत्र वायुमण्डलीय नाइट्रोजन को स्थिर करती है। यह शैवाल धान के खेत से प्रतिवर्ष प्रति हेक्टेयर 40 कि० ग्राम नाइट्रोजन स्थिर करती है। इसके अतिरिक्त यह मृदा में कार्बनिक पदार्थ एवं वृद्धि वर्द्धक हार्मोन उत्पादित करती है, जो मृदा की जैविक भौतिक एवं रसायनिक गुणों में सुधार लाती है।

नाइट्रोजन के बाद फसलों के लिए आवश्यक महत्वपूर्ण तत्व फॉस्फोरस है। यह तत्व अधिकांशतः मृदा में अनुपलब्ध रूप में विद्यमान होता है, जिसे सूक्ष्मजीव आसानी से उपलब्ध रूप में परिवर्तित कर देते हैं। पौधा इसे आसानी से अवशोषित कर लेता है। इस वर्ग का मुख्य जीवाणु **बैसिलस मेगाटीरियम, किस्म फॉस्फेटीकम** (Bacillus megatherium var. phosphaticum) है। इस जीवाणु के संवर्ध को रूस में फॉस्फोबैक्ट्रीन के नाम से जाना जाता है।

मृदा में कुछ ऐसे कवक पाये जाते हैं जो पौधों की जड़ के साथ सहजीवी (Symbionts) होते हैं। इन्हें माइकोराइजा (Mycorrhiza) कहते हैं। यह कवक मृदा में अनुपलब्ध फास्फोरस को उपलब्ध अवस्था में परिवर्तित करता है। इनके संवर्ध का प्रयोग फसलों में करने से उपज में 10-20% वृद्धि पायी जाती है। कवकों में वैम (VAM) कवक बहुत महत्वपूर्ण है। यह कवक मृदा में पर्याप्त मात्रा में उपस्थित फॉस्फोरस की अनुपलब्ध अवस्था को उपलब्ध अवस्था में परिवर्तित करता है। आजकल कृषि वैज्ञानिक इस प्रयास में हैं कि वायुमण्डलीम स्वतन्त्र नाइट्रोजन को स्थिर करने वाले निफ जीन (nif gene) को वैम कवक (VAM Fungus) में जैवअभियांत्रिकी (Biotechnology) द्वारा प्रत्यारोपित कर दिया जाय, जिससे फॉस्फेट उपलब्धीकरण के साथ-साथ नाइट्रोजन स्थिरीकरण भी होता रहे।

आजकल विदेशी बाजारों में नये-नये प्रकार के जैव उर्वरक आ रहे हैं। आस्ट्रेलिया में बायोसुपर (Biosuper) नामक जैव उर्वरक तैयार किया गया है। यह जैव उर्वरक रॉक फॉस्फेट एवं सल्फर में **थायोबैसिलस**

थायोऑक्सीडेन्स (Thiobacillus thioxidans) का मिश्रण होता है। यह उर्वरक पौधों को रॉक फॉस्फेट में अनुपलब्ध फॉस्फोरस (PO_4^{---}) को उपलब्ध अवस्था ($H_2PO_4^-$, HPO_4^{--}) में परिवर्तित कर अवशोषण योग्य बना देता है। इसके अतिरिक्त इस जैव उर्वरक का प्रयोग ऊसर भूमि के सुधार में किया जा सकता है क्योंकि ये पर्याप्त मात्रा में कार्बनिक अम्ल उत्पादित करते हैं, जो मिसेल पर उपस्थित सोडियम आयन (Na^+) को विस्थापित करता है।

वर्तमान् समय में **एजोस्पाइरिलम्** (Azospirillum) नामक जीवाणु पर भारत एवं विदेशों में काफी शोध-कार्य हो रहा है। यह एक मात्र ऐसा जीवाणु है जो धान की फसल के लिए भी उपयोगी साबित हुआ है। इस जीवाणु के प्रयोग से धान, मक्का, गेहूँ, बाजरा आदि फसलों में 25-30 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर नाइट्रोजन की बचत की जा सकती है।

एजोला (Azolla) नामक जल फर्न (water fern) का इस्तेमाल कमपोस्त (cumpost) खाद बनाने में किया जाता है। यह फर्न धान के खेत के लिए काफी उपयोगी साबित हुई है। एजोला 40-60 टन जैविक उत्पाद से 100-150 कि० ग्राम नाइट्रोजन संश्लेषित की जा सकती है। इससे तैयार कम्पोस्ट खाद में 5% नाइट्रोजन पाया जाता है। धान के खेत में जैविक उर्वरकों अर्थात् एजोला, नील-हरित शैवाल के साथ मछली-उत्पादन भी किया जा सकता है। यह विधि पश्चिम बंगाल, आंध्र प्रदेश एवं तमिलनाडु के धान उगाये जाने वाले क्षेत्रों में काफी प्रचलित है।

इस प्रकार जैव उर्वरकों द्वारा कृत्रिम उर्वरकों पर आत्मनिर्भरता को कम किया जा सकता है एवं भविष्य में जैव उर्वरक एक मात्र विकल्प सिद्ध हो सकते हैं। जैव उर्वरकों के उत्पादन के लिए न तो कोई बड़ा कल-कारखाना लगाना पड़ता है न ईंधन की पूर्ति करनी पड़ती है। भारत एवं अन्य विकासशील देशों में, जहाँ पर्याप्त मात्रा में मानव श्रम उपलब्ध है, वहाँ जैव उर्वरकों के उत्पादन के लिए लघु उद्योग का सृजन किया जा सकता है एवं बेरोजगारी की समस्या का समाधान किया जा सकता है। रासायनिक उर्वरक उत्पादन वाले कल-कारखानों का संचालन कम्प्यूटरकृत प्रणाली से होने के कारण काफी लोग बेरोजगार हो रहे हैं अतः ऐसी परिस्थितियों में जैव उर्वरक उत्पादन को बढ़ावा देना अत्यन्त अनिवार्य हो गया है। दूसरी तरफ पूरी विश्व व्यवस्था प्रदूषण से त्रस्त हो गई है, जिसमें उर्वरक उत्पादन वाले कल-कारखानों का योगदान कम नहीं है। अतः भविष्य में अनेक समस्याओं से बचने का विकल्प है— जैवउर्वरकों के उपयोग को बढ़ावा देना।

□□

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक : कुमाऊँनी लोक गीतों में पर्यावरण शिक्षा

सम्पादक : दिनेश जोशी

साहित्य संकलन : दीपक उप्रेती

प्रकाशक : हिमालयन अध्ययन केन्द्र, पाण्डेगाँव, पिथौरागढ़

प्रथम संस्करण : सितम्बर 1988

प्रस्तुत पुस्तिका में ऋतु गीतों, धार्मिक गीतों, संस्कार गीतों, कृषि गीतों, मेला गीतों तथा विविध गीतों के माध्यम से जनमानस में पर्यावरण के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया गया है। पहाड़ों पर ऋतु परिवर्तन का प्रकृति के साथ सम्बन्ध मैदानी क्षेत्रों की तुलना में अधिक स्पष्ट दिखायी पड़ता है। ऋतु गीतों में प्रकृति के हरे आवरण की महत्ता का संकेत मिलता है। उत्तराखण्ड के लोक मानस में धार्मिक गीतों में पर्यावरण से सम्बन्धित कई महत्वपूर्ण तथ्य पाये जाते हैं। इन गीतों से यह प्रमाणित होता है कि हमारे धार्मिक गीतों ने तत्कालीन ग्रामीण समाज को पर्यावरण संरक्षण के प्रति सचेत किया है।

विभिन्नन संस्कारों जैसे जन्मोत्सव, नामकरण, उपनयन तथा विवाह संस्कार पर जो गीत गाये जाते हैं, उनकी भावभूमि तथा विषयवस्तु पर्यावरण चेतना से बहुत अधिक जुड़ी हुई है। कृषि गीतों में एक ओर जहाँ कृषि तथा मिट्टी से लगाव की बातें आती हैं वहीं पर प्रकृति के नाना रूपों का बहुत ही सहज वर्णन हुआ है। सहयोग तथा संगठन से कृषि कार्यों को निपटाना ही इन गीतों का ध्येय है। कृषि गीतों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि जितना महत्व कृषि का है उससे भी कहीं अधिक जड़ी-बूटियों तथा वन्य प्रजातियों का है। मेला गीतों में मनोरंजन के विशाल दृष्टिकोण के साथ-साथ अनेक प्रकार से प्रकृति तथा पर्यावरण की रक्षा के उल्लेख आये हैं जिनसे पर्यावरण संरक्षण की प्रेरणा मिलती है। पुस्तिका के अन्त में शुद्धि पत्र भी संलग्न है जिससे वर्तनी तथा मात्राओं की गलतियों को संशोधित करके गीतों का भावार्थ समझा जाये। इस उत्कृष्ट संकलन के लिए सम्पादक तथा प्रकाशक दोनों साधुवाद के पात्र हैं।

—विजय जी
जवाहर इण्टर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद

पत्रिका समीक्षा

जीवन्ती (प्राकृतिक विज्ञान एवं संरक्षण की शोध-पत्रिका)

सम्पादक : जे० एस० यादव

प्रकाशक : प्राणी-शास्त्र विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र-132119

अंक 8, 1990

मूल्य : व्यक्तिगत : 30 रुपये

संस्थागत : 50 रुपये

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र के प्राणी-शास्त्र विभाग द्वारा हिन्दी में प्रकाशित इस शोध-पत्रिका में जीव-विज्ञान से सम्बन्धित शोध-पत्र प्रकाशित होते हैं। प्रस्तुत अंक में सरषो बया द्वारा असामान्य नीड़ निर्माण, जंगली कबूतर के नीड़न, प्रजनन एवं क्षेत्रीय आचरण पर अध्ययन, घरौंदे बनाने, अण्ड-निक्षेपण प्रक्रियाओं एवं आचरण पर कुछ प्रेक्षण, दीमक जाति (ओडन्टोटरमिस ओबेसस रामबूर) के चूहों पर एक अध्ययन, पैतृकता-विवादों में रक्त आनुवंशिकी अंकक, कैडमियम धातु का स्वच्छ जलीय टिलपोस्ट मछली (चन्ना पंक्टेटस ब्लोच) पर दुष्प्रभाव, कुरुक्षेत्र के 'रोव भृंगों' का सर्वेक्षण तथा पंजाब के अर्द्धशुष्क क्षेत्र की वनस्पति सम्पदा शीर्षक युक्त आठ शोध-पत्रों को सम्मिलित किया गया है। शोध-पत्रों के शीर्षक तथा सारांश को अंग्रेजी में भी प्रकाशित किया गया है। सन्दर्भ अँग्रेजी में दिये गये हैं। हिन्दी में प्रकाशित शोध-पत्रिका के शोध-पत्र अँग्रेजी की शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित शोध-पत्रों से किसी मायने में कम स्तर के नहीं है। हालाँकि हिन्दी में प्रकाशित होने वाली शोध-पत्रिकायें काफी कम संख्या में हैं, फिर भी अब यह तो प्रमाणित हो ही चुका है कि हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों को अभिव्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है। शोध परिणामों को सामान्य जन तक पहुँचाने में इनका हिन्दी में प्रकाशित होना एक तरह से अनिवार्य ही है। इस प्रकार कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के प्राणी-शास्त्र विभाग द्वारा किया गया यह पुनीत प्रयास प्रशंसनीय ही नहीं अपितु सराहनीय है। इसके लिए सम्पादक सहित सम्पादन मण्डल के अन्य सदस्य तथा हिन्दी प्रेमी एवं सभी शोधकर्ता वैज्ञानिक जिन्होंने अपने शोध-पत्रों को हिन्दी में लिखने का सत्साहस किया है को बहुत-बहुत धन्यवाद।

—डॉ० दिनेश मणि
संयुक्त मन्त्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-2

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठकगण !

आपके हाथों में "विज्ञान" का अक्टूबर-नवम्बर 1993 अंक सौंपते हुए प्रसन्नता हो रही है। परिषद् की गतिविधियाँ इधर तेज हुई हैं। कुल मिलाकर इलाहाबाद का अकादमिक परिदृश्य पहले से सुन्दर दिख रहा है। परिषद् की विभिन्न शाखाओं से भी अच्छे समाचार मिल रहे हैं। परिषद् की जोधपुर शाखा में प्रो० शिवगोपाल मिश्र का अभिनन्दन किया, व्याख्यान कराये और एक 'मरु विशेषांक' निकालने की योजना मूर्तरूप ग्रहण कर रही है। वाराणसी शाखा में प्रो० महाराज नारायण मेहरोत्रा ने 14 सितम्बर को 'रामदास गौड़ स्मृति व्याख्यानमाला' के अन्तर्गत "21 वीं शती में विज्ञान से अपेक्षाएँ" विषय पर व्याख्यान दिया। परिषद् मुख्यालय पर 7 अक्टूबर को 'कलिंग पुरस्कार' से विभूषित डॉ० नरेन्द्र सहगल द्वारा "भारतीय विज्ञान : गन्तव्य एवं प्रयोजन" विषय पर डॉ० आत्मा राम स्मृति व्याख्यान के अन्तर्गत व्याख्यान सम्पन्न हुआ। 'हिन्दी दिवस' एवं 'विश्व खाद्य दिवस' पर विचार गोष्ठियाँ आयोजित की गयीं।

1 अक्टूबर को 'शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान' के अध्यापकों, शोध छात्रों एवं एम० एल-सी० के छात्रों द्वारा प्रो० शिवगोपाल मिश्र को अभिनन्दन-पत्र देकर सम्मानित किया गया।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग ने डॉ० मेघनाद साहा जन्मशती समारोहों के अन्तर्गत विभागाध्यक्ष प्रो० मुरली मनोहर जोशी के नेतृत्व में 4-6 अक्टूबर और पुन: 11-14 अक्टूबर, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की दो संगोष्ठियाँ आयोजित कीं। संगोष्ठियों का उद्घाटन सत्र विज्ञान परिषद् के सभागार में सम्पन्न हुआ। इन संगोष्ठियों में प्रो० साहा, उनके शोध कार्यों और उनके शोध के प्रभावों पर विस्तार से चर्चायें हुईं और शोधपत्र प्रस्तुत किये गय। इलाहाबाद की प्रमुख वैज्ञानिक संस्था, नेशनल एकेडमी ऑव साइन्सेज ने भी अनेक उच्चस्तरीय व्याख्यान कराये और डॉ० साहा, डॉ० जगदीश चन्द्र बसु एवं डॉ० महालनबीस पर फिल्म शो भी आयोजित किये।

किन्तु महाराष्ट्र के उस्मानाबाद और लातूर जिलों के 62 गाँव 30 सितम्बर की सुबह 3 बजकर 56 मिनट पर आये भूकम्प से जिस बुरी तरह प्रभावित हुए और जान-माल की जो हानि हुई वह हृदय विदारक है। 'रिक्टर स्केल' पर 6.2 किन्तु असर करीब 10 एटम बमों के बराबर।

'सेण्टर फॉर अर्थ साइन्स स्टडीज' की भूवेत्ता डॉ० कुशला राजेन्द्रन और डॉ० हर्ष गुप्ता के अनुसार लातूर क्षेत्र में स्थित कोई दरार भूकम्प का कारण है। किन्तु आई० आई० टी० (पवई, बम्बई) के भूगर्भशास्त्री डॉ० वी. सुब्रह्मण्यम भूकम्प का एक अन्य कारण बताते हैं। इनका कहना है, "कोई भी नदी एकदम सीधी नहीं बहती, कुछ न कुछ परिवर्तन उसकी राह में होता है। यदि सीधी बह रही है तो समझिये कि उसे नियन्त्रित करने वाली ताकत कोई और है। यह ताकत सतह से नीचे स्थित 'फाल्ट' (दरार) की होती है। किल्लारी से होकर बहने वाली 'तरणा' नदी सीधी बहती थी। हमारे भूगर्भ-शास्त्रीय नक्शे के मुताबिक उस नदी के नीचे कोई 'फाल्ट' मौजूद है।

वैसे वास्तविकता यह है कि भूकम्पों पर रोक नहीं लगाई जा सकती पर मकानों के बनाने पर तो ध्यान दिया जा सकता है। भवन ऐसे होने चाहिये जो भूकम्प के झटकों को सह सकें। बहुमंजिली इमारतों के बनाने पर भी फिर से ध्यान देने की आवश्यकता है और सबसे बड़ी आवश्यकता प्रभावित लोगों को फिर से उनके पाँवों पर खड़ा करने की।

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1993

विह्टेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।

(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।

(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।

(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।

(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1993 से दिसम्बर 1993 माह के बीच प्रकाशित हो।

(6) लेखक को लेख के साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।

(7) विज्ञान परिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।

(8) वर्ष 1993 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1994 है।

(9) पुरस्कार के लिए पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागियों को इस प्रतियोगिता के लिए उपयुक्त नहीं समझा जायेगा।

लेख निम्न पते पर भेजें—

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

मलेरिया रोगवाहक की पारिस्थितिकी

डॉ० रवि शंकर पाण्डेय एवं मानवेन्द्र त्रिपाठी

पारिस्थितिकी को सामान्यतया जीव तथा वातावरण के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर परिभाषित किया जाता है, जिसमें चारों ओर का वातावरण, स्वभाव, जीवन की विधि, जनसंख्या आदि हैं। उष्णकटिबन्धीय वातावरण के प्राकृतिक आवासों में शीतोष्ण स्थितियों की अपेक्षा अधिक जटिलतायें पायी जाती हैं और प्राणिसमूह भी अधिक प्रचुरता में मिलते हैं। परन्तु वर्गिकी के दृष्टिकोण से इनका अध्ययन बहुत कम किया गया है।

रोगवाहक (वेक्टर-Vector) नियन्त्रण की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि लक्ष्य जाति के रोगवाहक की पारिस्थितिकी का अध्ययन मानव के सम्बन्धों के अन्तर्गत् किया जाय जिससे कि नियन्त्रण विधियों को कार्यरूप दिया जा सके। विशेष पारिस्थितिकी सूचनाओं के अन्तर्गत् उनकी संख्या, गमन, सक्रियता विधि, वृहत् व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। वर्तमान् में रोगवाहक पारिस्थितिकी द्रुतगति से एक परिमाणात्मक विज्ञान के रूप में विकसित हुई है, जिसमें भविष्यवाची सम्भावयता विद्यमान है। इसलिए उपरोक्त अनुकूलताओं का प्रयोग रोगवाहक जाति के अध्ययन के लिए करना आवश्यक है। आज नगरीकरण रोग की मुख्य समस्या **ऐडीज एजेप्टाई** (Aedes aegypti), जो कि पीतज्वर और डेंगूज्वर फैलाते हैं तथा **क्यूलेक्स क्यून्केवफैसिएटस** (Culex quinqufasciatus), जो कि फाइलेरिया रोग के प्रसारण हेतु उत्तरदायी हैं, मच्छरों से पूर्णरूपेण तादात्मय स्थापित कर चुकी हैं। मानव की गतिविधियों में लगातार वृद्धि होती जा रही है जिसके परिणामस्वरूप अनेक विकट समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं। इसलिए इस तथ्य का भी निर्धारण किया जाना आवश्यक है कि मुख्य रोगवाहक (वेक्टर) जनसंख्या और मानव निर्मित पर्यावरण, जिसमें ग्रामीण परिस्थितियाँ भी सम्मिलित हैं, के मध्य इन्हीं तथ्यों के आधार पर रोग पारेषण (Disease transmission) को भी ठीक प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है। अतएव मादा **ऐनोफेलीज** मच्छर, जो कि मलेरिया रोग के वाहक के रूप में विद्यमान हैं, की पारिस्थितिकी की विस्तृत विवेचना आवश्यक है।

ऐनोफेलीज मच्छर समुद्री सतह से लेकर 3530 मीटर की ऊँचाई पर भी मिलते हैं। ये भारतवर्ष के प्रत्येक भाग में पाये जाते हैं। एनोफेलीज जाइगस (A. gigas) केदारनाथ (उ० प्र०) हिमालय में मिलते हैं। **ऐनोफेलीज मैकुलेटस** (A. maculatus) को 2740 मीटर की ऊँचाई पर कई स्थानों से संग्रहीत किया गया है। गहरी खानों में भी, विशेष रूप से क्यूलीसिनी मच्छरों का, उल्लेख मिलता है। ये 1000 मीटर से भी ज्यादा गहराई वाली खानों में भी, जिसमें कोलार स्वर्ण खान भी है, मिलते हैं जब कि ऐनोफेलीज मच्छर केवल बिहार राज्य में कोयले की खानों में मिलते हैं।

A. annularis और A. vagus दोनों ही 300-600 फीट की गहराई (92 से 184 मीटर) पर मिलते हैं। A. culicifacies, A. nigerrimus, A. stephensi और A. subpictus, 300 फीट की गहराई पर मिलते हैं। Culex fatigans का जनन स्थलीय सतह से 600 फीट नीचे होता है।

प्राणि विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

सामान्यतया, समुद्र के किनारे या मैदानी भागों में पायी जाने वालीं जातियाँ पर्वतीय (hills) और पादगिरि (foot hills) की अपेक्षा छोटी होती हैं। बिरली जातियाँ ही पर्वतों पर मिलती हैं जैसे—A. gigas तथा इसकी अन्य जातियाँ और A. culiciformis। इसी के साथ-साथ A. stephensi का जनन बड़े-बड़े भवनों में निर्मित जलाशयों (टंकी) में होता है।

प्रायद्वीपीय भारत और पूर्व भारत में, जहाँ पर सामान्य तापक्रम उपलब्ध रहता है वहाँ पर, सामान्य प्रकार की ऐनोफेलीज जातियाँ पूरे वर्ष मिलती हैं। परन्तु किसी भी जाति की प्रचुरता जनन स्थानों की अधिकता पर निर्भर करती है। मानसून तथा पश्च मानसून महीनों में ऐनोफेलीज मच्छरों की संख्या में वृद्धि तथा उनको जीने का अच्छा सुअवसर मिल जाता है। जब कि कुछेक अन्य क्षेत्रों में जैसे कि सिंचित क्षेत्रों में, सिंचाई का समय, जो कि मानसून महीनों से मेल नहीं खाता है, उस समय उच्च ऐनोफेलीज घनत्व के लिए अनुकूलतम परिस्थितियाँ उपलब्ध रहती हैं। कुछ तटीय क्षेत्रों, विशेष रूप से दक्षिण में जहाँ पर मानसून और पूर्व मानसून शुष्क महीनों के बीच अन्तर ज्यादा होता है वहाँ पर, नदियों की थालें और धारायें, कुछ विशेष ऐनोफेलीज जातियों के लिए जैसे A. culiciformis जनन के लिए अनुकूल वातावरण प्रदान करती हैं। कुछेक जातियों का तो उस समय (अप्रैल और मई) में सर्वाधिक बाहुल्य रहता है जब कि वातावरणीय परिस्थितियाँ पूर्णतया प्रतिकूल रहती हैं। A. annularis जाति के मच्छरों के लिए स्थिर जल तथा वनस्पतियों की अधिकता से इनकी व्यापकता गैर मानसून महीनों में भी अधिक रहती है।

मच्छरों की कालव्यापकता पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रभाव भू-आकृति एवं जलवायु का पड़ता है। कई उदाहरणों के माध्यम से इनको स्पष्ट किया जा सकता है—

वनोच्छादित क्षेत्रों में जहाँ पर मच्छरों की विभिन्न जातियों का जनन वृक्षों की दरारों में (जैसे कि A. culiciformis) या छाया वाले जल अवशोषित स्थल पर (जैसे कि A. balabacensis) होता है। इसके लिए मानसून तथा पश्चमानसून अवधि सर्वाधिक उपयुक्त रहती हैं। परन्तु शुष्कता अवस्था में ये किस प्रकार जीवित रहते हैं यह अपने आप में एक अनोखी पहेली है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि वनोच्छादित क्षेत्रों में वर्ष के अधिकतर महीनों में थोड़ी वर्षा अवश्य होती हैं या भारी ओस के कारण दरारों के आधार में आर्द्रता मिलती है। A. stephensi मच्छर जो कि कुँए में अपना जनन कार्य करती हैं, उनमें काल उच्चावचन का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है।

देश के उत्तर—पश्चिम भाग में, जैसे कि गुजरात और राजस्थान, जहाँ पर लगभग शुष्क वातावरण विद्यमान रहता है, सम्पूर्ण वर्ष वेक्टर जाति के मच्छर, A. culiciformis, नालों, कुँओं, टैंकों में कम संख्या में मिलती हैं, परन्तु अत्यधिक वर्षा वाले वर्ष में मृदायुक्त बालू वाली पानी की सतह पर इन जातियों का घनत्व बढ़ जाता है जो कि क्षेत्रीय मलेरिया महामारी (malaria epidemic) के लिए पूर्णरूपेण उत्तरदायी है।

किसी भी जाति के मच्छर की प्रचुरता किसी विशेष क्षेत्र में ही क्यों रहती है यह एक ऐसा महत्वपूर्ण प्रश्न है जिसके लिए विकास के प्रक्रम का विश्लेषण करना पड़ेगा और ऐनोफेलीज मच्छरों से सम्बन्धित यह विषय अभी तक अछूता ही रहा है।

प्रचुरता की स्थिति में निम्नलिखित परिवर्तन कई वर्षों के पश्चात् प्राकृतिक रूप से देखे गये हैं। इनमें से एक उदाहरण A. sundaicus का है। ये मच्छर सम्पूर्ण उड़ीसा और आन्ध्र प्रदेश के तटीय क्षेत्रों से पूर्णतया अदृश्य हो गये हैं जब कि 1950 तक इन क्षेत्रों में इनकी व्यापकता सर्वाधिक थी।

प्रौढ़ ऐनोफेलीज का दैनिक जीवन

प्रौढ़ ऐनोफेलीज मच्छर के दैनिक जीवन में कई अवस्थायें पायी जाती हैं यथा—

(अ) दिन के समय शरण स्थानों पर विश्राम	उषा काल के थोड़े समय बाद से अंधेरा होने के पहले तक।
(ब) सान्ध्या क्रिया (Crepuscular activity) जिसमें कि शरण स्थानों से निकलना, झुण्ड या दल बनाकर जोड़ा बनाने की क्रिया (mating)	अंधेरा होने के थोड़ा पहले और बाद में भी। कुछ सक्रियता उषाकाल में भी।
(स) अण्डनिक्षेपण (Oviposition)	सम्पूर्ण रात्रिभर, ज्यादातर रात्रि के प्रथम भाग में।
(द) भरण की क्रिया	सम्पूर्ण रात्रिभर, परन्तु सक्रियता अनुसार चरम सीमा में भिन्नता। कुछ जातियों में भरण रात्रि के प्रथम पहर में, कुछ में मध्य, कुछ में बाद में।
(य) उड़ान एवं प्रकीर्णन	सम्पूर्ण रात्रि भर, अंधेरा होने के थोड़ा पहले और थोड़ा उषाकाल के बाद भी।
(र) शरण स्थान हेतु आवश्यक क्रिया	थोड़ी देर रात्रि में गमन के समय, थोड़ा उषा काल में और कुछ गमन दिन में शरण स्थान पर ही।

मच्छरों के दैनिक सक्रियता को आजकल "डाइल" ("diel") सक्रियता कहा जाता है।

दिन के समय विश्राम की प्रकृति

भारतवर्ष में पाये जाने वाले अधिकतर ऐनोफेलीज रात्रिचर होते हैं और दिन के समय को किसी स्थान पर बिताते हैं। मच्छरों की कुछेक जातियों को छोड़कर जो कि वनों में मिलती हैं और उपयुक्त परपोषी के मिलने पर ही वनों में उन्हें काटती हैं—उदाहरण A. umbrosus जाति के मच्छर। अन्य सभी जातियों के मच्छर मानव या पालतू जानवरों के निकट सम्पर्क में रहने के कारण विश्राम या तो घरों के अन्दर या मिश्रित निवास अथवा जानवरों के निवास के निकट करते हैं। काफी समय पूर्व से ही यह विश्वास किया जाता रहा है कि ऐनोफेलीज की कई जातियाँ, जिनमें से कुछ प्रमुख रोगवाहक भी हैं, बाह्य आश्रय स्थलों पर विश्राम करती हैं। उदाहरण—पुलिया में, चट्टानों की विदरिका (crevices) में, घासों तथा झाड़ियों में। मच्छरों की विभिन्न जातियों में बाह्य स्थलों पर विश्राम करने की कोटि तथा एक ही मच्छर के विभिन्न ऋतुओं तथा क्षेत्रों के सन्दर्भ में भी विभिन्नतायें देखी गयी हैं।

मलेरिया के प्रमुख वेक्टर A. fluviatilis और A. minimus किसी कोटि तक बाह्य स्थलों पर विश्राम करते हैं। इनकी पर्वतीय तथा गिरिपर्वत (foot hills) जातियां भी बाह्य विश्राम हेतु सुअवसर खोज लेती हैं। A. fluviatilis के बाह्य विश्राम स्वभाव को कई वैज्ञानिकों ने यथा—रामचन्द्र राव रामाराव ने 1944 में प्रेक्षण के

माध्यम से देखा और इनके आकलनानुसार इनकी 60% संख्या ग्रीष्मकाल में तथा 40% संख्या शीतकाल में बाह्य विश्रामी होती है। ठीक इसी प्रकार से A. culiciformis को सामान्यतया अन्तरंग विश्रामी पाया गया है क्योंकि इनको अधिकतर घरों तथा जानवरों के आवास स्थानो से संग्रहीत किया गया है। A. balabacensis केवल बाहर काटते ही नहीं बल्कि बाह्य विश्रामी भी है। A. philippinensis सर्वाधिक बाह्य विश्रामी के रूप में जाना जाता है। प्रयोगात्मक पर्यावलोकन में सभी रोगवाहक जातियाँ जैसे—A. annularis, A. varuna आदि कुछ न कुछ समय बाह्य विश्रामी हैं। उच्च नगरीकरण वाले क्षेत्रों में A. stephensi बहुत कम समय के लिए बाह्यविश्रामी है। अरोग-वाहक (Nonvector) A. nigerrimus घरों तथा जानवरों के आस-पास विरले ही मिलते हैं जब कि इनका जनन सर्वाधिक धान के खेतों में ही होता है। बाह्य वातावरण में इनमें से कई मच्छर सायंकाल काटते भी हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक निश्चित समय में सभी ऐनोफेलीज मच्छरों की जनसंख्या बाह्य विश्रामी तथा अन्तरंगविश्रामी रहती हैं। यह अनुपात केवल जाति के स्वभाव पर निर्भर न रहकर बल्कि पूर्णरूपेण नगरीय, ग्रामीण और वन्य वातावरण पर निर्भर करता है।

काफी समय पूर्व ही यह ज्ञात हो चुका है कि उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र जहाँ पर अत्यधिक गर्मी पड़ती है, वहाँ पर लोग रात्रि में विश्राम बाहर करते हैं और जानवरों को भी बाहर ही बाँधा जाता है। वहाँ पर विशेषतया A. culicifacies जाति के मच्छर अधिक संख्या में घरों के अन्दर ही विश्राम करते हैं और पशुशालाओं में दिन के समय मिलते हैं।

नर और मादा दोनों ही मच्छर ज्यादातर बाह्य तथा अन्तरंग विश्रामी होते हैं। मादा की आपेक्षा नर की संख्या में न्यूनता उनके छोटे जीवनचक्र और सीमित प्रकीर्णन के कारण है। नर की संख्या में अधिकता किसी जनन क्षेत्र के नजदीक होने का सूचक है। बाह्य विश्रामी स्वभाव को देखने के लिए बाह्य विश्रामी वाले मच्छरों को संग्रहीत कर उनके व्यवहार के आधार पर ही निर्णय किया जाता है।

सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि ऐनोफेलीज के बाह्य विश्राम तथा अन्तरंग विश्राम में व्यापक विभिन्नतायें पायी जाती हैं। अन्तर्जात तथा बाह्य कारक, दोनों ही विश्राम स्थलों के चयन को प्रभावित करते हैं।

सान्ध्य-क्रिया, स्वर्मिग और मेटिंग

ऐनोफेलीज में सान्ध्य-क्रिया को उषाकाल और सायंकाल देखा जा सकता है। सामान्यतया तेज सूर्य रोशनी के समाप्त होने के बाद ही ये इस क्रिया में तल्लीन होते हैं। अँधेरे की सक्रियता सामान्य तौर देर अपरान्ह तथा कभी-कभी सूर्यास्त के कुछ घण्टों पूर्व ही प्रारम्भ हो जाती है। इस स्थिति में मच्छरों की सुग्राहित में वृद्धि हो जाती है और ये अपने पैर, पैल्प्स ऐण्टिनी और पंखों को हिलाते हैं। ये अपने विश्राम स्थल में ही एक स्थान से दूसरे स्थान के बीच में उछलते हैं। इनमें से प्रथम वास्तविक उड़ान-क्रिया दरवाजों या प्राकृतिक आवासों से बाहर आना है। यहाँ पर उन्मुक्त वातावरण और प्रकाश की न्यूनता पहले से ही विद्यमान रहती है। वास्तव में यह क्रिया सूर्यास्त के थोड़ा ही पहले होती है। इस क्रम में दूसरी क्रिया स्वर्मिग और मेटिंग की होती है। कभी-कभी वास्तविक भरण क्रिया (feeding) दरवाजों के बाहर ही प्रारम्भ होती है। इसके बाद की क्रिया काटने या दंश (Biting) से प्रारम्भ होती है। यह क्रिया स्वार्मिग के समाप्त होने के पश्चात् ही होती है लेकिन देर रात्रि तक या पूरी रात अनवरत रूप से

चलती रहती है। ठीक इसी प्रकार की उड़ान-क्रिया, परन्तु जिसका अनुक्रम विपरीत हो जाता है, अर्थात् सायंकाल के विपरीत क्रिया, प्रातः काल में कुछ कम तीव्रता से होती है। इस क्रिया के पश्चात् ये मच्छर दिन भर के लिए अपने-अपने विश्राम स्थलों की तलाश में निकल जाते हैं।

स्वार्मिंग (swarming) किसी ऊर्ध्वाधर वस्तु के ऊपर होती है जैसे कि कोई झाड़ी, वृक्ष, खम्भा, झोपड़ी या किसी जानवर या मानव सिर के ऊपर। यहाँ पर नर मच्छर सूर्यास्त होने के बाद से ही या फिर जब प्रकाश काफी कम रह जाता है, एकत्रित होना प्रारम्भ कर देते हैं। A. annularis मच्छर में स्वार्म की क्रिया तभी प्रारम्भ होती है जब बाह्य प्रकाश की तीव्रता लगभग 2 फुट कैंडला से कम रह जाती है। A. annularis जाति के मच्छरों में स्वार्म की क्रिया अँधेरा होने के 10 मिनट से पूर्व से प्रारम्भ होती है और 10 मिनट आगे तक चलती रहती है। नर मच्छरों में स्वार्मिंग की क्रिया के लिए कौन सा उद्दीपन उत्तरदायी है, यह पूर्णतया ज्ञात नहीं है।

अण्डनिक्षेपण

कई ऐनोफेलीज मादा मच्छरों को गीले शोषक पत्र पर अण्डे देने के लिए प्रयोगशाला में उत्प्रेरित किया जा सकता है। सामान्यतया पिंजड़े में रखे पैन या वेसिन, जिसकी भीतरी सतह काली हो, का प्रयोग ज्यादा उपयुक्त रहता है। भारत में इस माध्यम से A. stephensi और A. tassellatus मच्छरों की कॉलोनियाँ (समूह) बनायी जा सकी हैं। A. atropanus मच्छर की कॉलोनी अन्य देशों में बनायी गयी है। परन्तु इस प्रकार के सभी ऐनोफेलीज मच्छरों की कॉलोनियाँ निर्मित करना अत्यन्त कठिन है। अन्य कारणों के अलावा "केज" में मेटिंग का न हो पाना प्रमुख है।

प्राकृतिक रूप में मच्छरों के द्वारा अण्डों के देने की क्रिया का अध्ययन केवल कुछ जातियों में ही किया जा सका है। बेट्स के अनुसार ऐनोफेलीज जाति के मच्छर जब पिंजड़ों में रहती हैं तब जल अवतरण के पश्चात् एक-एक करके अण्डे देती हैं। अन्य वैज्ञानिकों के अनुसार अण्डनिक्षेपण के पूर्व एक प्रकार का नृत्य भी करती हैं। रामचन्द्र राव नामक वैज्ञानिक के अनुसार A. culicifacies जाति के मादा मच्छर जल के थोड़ा ऊपर-नीचे मँडराने की तरह का नृत्य करती हैं जब कि यह पूर्णतया निर्विवाद है कि भारत में मिलने वाली ऐनोफेलीज की अधिकतर जातियाँ अपने अण्डे या तो एकत्रित जल के किनारे या घासों के पर्णों पर या वनस्पतियों पर या जिन सतहों पर विश्राम करती हैं, वहाँ देती हैं। ये अण्डे बेड़े (rafts) में न दे करके एक-एक करके देती हैं। ये अण्डे जल की सतह पर फैल जाते हैं क्योंकि इनमें आर्द्रताग्राही आकर्षण होता है और आपस में मिलकर फीते के आकार की रचना बनाते हैं जिसमें अण्डे एक दूसरे को किनारे से छूते रहते हैं। इनकी सहायता से विभिन्न प्रकार की रचनाएँ निर्मित होती है जैसे—त्रिभुज, वर्ग, पंचभुज आदि।

काटने या चुभोने एवं भरण की क्रिया

ऐनोफेलीज मच्छर की कुछ जातियों को छोड़कर अन्य सभी रक्त भोज्य पदार्थ रात्रि में ग्रहण करती हैं। ये भरण के लिए मनुष्य, चौपाया जानवरों एवं अन्य पालतू पशुओं का उपयोग करती हैं। इसी के साथ-साथ जंगल में पाये जाने वाले कपियों (बन्दरों) और कभी-कभी पक्षियों का भी उपयोग करती हैं। कुछ क्यूलीसाइन मच्छर भरण के लिए सरीसृप वर्ग तथा उभयचरों पर भी आश्रित हैं, परन्तु इस प्रकार की आदत या स्वभाव भारत में मिलने

वाली ऐनोफेलीज मच्छरों में नहीं मिलता है। कुछ जातियों के मच्छर पूरी रात काटती हैं परन्तु अपने उच्चावस्था में केवल कुछ ही समय ही रहती हैं। कुछ केवल सान्ध्य के समय ही काटती हैं। A. culicifacies मच्छर ज्यादातर रात्रि के प्रथम भाग में, कुछ मध्य रात्रि तक, और कुछ पूरी रात काटती हैं। वैज्ञानिकों के प्रेक्षण से यह स्पष्ट हो चुका है कि मध्य रात्रि के पूर्व ये अपने काटने के कार्यक्रम को काफी हद तक नियन्त्रित कर लेती हैं। विश्वनाथन एवं रामचन्द्र राव के अनुसार A. fluviatilis मच्छर भी ज्यादातर रात्रि के प्रथम पहर में ही काटती हैं।

सारांश में इन मच्छरों के काटने की आवर्तिता निम्नवत है—

A. culicifacies	ठण्डे महीनों में नवम्बर से मार्च तक	काटने की क्रिया ज्यादातर रात्रि के प्रथम भाग में
	गर्मी के महीने अप्रैल एवं मई सितम्बर एवं अक्टूबर	काटने की क्रिया रात्रि के दूसरे और तीसरे पहर में स्थानान्तरित।
	मध्य गर्मी में जून, जुलाई, अगस्त	काटने का आवर्तन समाप्त और पूरी रात्रि भर काटते हैं।
A. annularis	सम्पूर्ण वर्ष	काटने की क्रिया रात्रि के प्रथम और द्वितीय भाग में परन्तु शीतकाल में थोड़ा परिवर्तन परिलक्षित।
A. nigerrimus	काटने की क्रिया रात्रि के प्रथम भाग में, मौसम वाले परिवर्तन स्पष्ट नहीं, अँधेरे के समय अचानक काटने की क्रिया में परिवर्तन।	
A. stephensi	भरण की क्रिया मध्य रात्रि से पूर्व।	
A. subpictus	पंजाब में ठण्डे समय में अदृश्य, परन्तु मानसून के पश्च भाग में सामान्यतया मिलते हैं। अर्द्धरात्रि के पूर्व भरण की क्रिया सम्पन्न।	

संग्रहीत मच्छरों के आधार पर ये निष्कर्ष निकाले गये हैं। कुछ वैज्ञानिकों ने इनके लिए विभिन्न समयों का उल्लेख किया है और विभिन्न वातावरणीय दशाओं में मच्छरों के काटने की क्रिया को "बाइटिंग कर्व" (Biting curve) के रूप में आरेखित किया है। इन वैज्ञानिकों ने आनुवंशिक कारकों को इनके व्यवहार में परिवर्तन के लिए उत्तरदायी माना है।

उड्डयन एवं प्रकीर्णन

ऐनोफेलीज मच्छरों के सम्बन्ध में उड्डयन और प्रकीर्णन महत्वपूर्ण लक्षणों में आते हैं और मलेरिया मरक-विज्ञान (Malaria epidemiology) के परिप्रेक्ष्य में भी ये अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। ये केवल रोग की तीव्रता और फैलाव से ही सम्बन्धित नहीं बल्कि इनके नियन्त्रण में इनकी प्रभावकारी भूमिका है।

सर्वप्रथम उड्डयन एवं प्रकीर्णन में विभेद आवश्यक है। उड्डयन वह यात्रा है जो कि ऐनोफेलीज मच्छर पंखों की सहायता से एक उड़ान में पूरी करता है। प्रकीर्णन की क्रिया मच्छरों के बाहर फैलाव से सम्बन्धित है।

इसमें छोटी उड़ान की पुनरावृत्ति होती है। उदाहरण—जैसे जब कहा जाता है कि किसी मच्छर की प्रौढ़ जाति उसके मुक्त वाले स्थान से 1.5 किमी० दूरी पर मिली—इसका अर्थ यही हुआ कि अमुक मच्छर कुछ समय बाद उस दूरी पर मिला। परन्तु इसके साथ यह स्पष्ट नहीं है कि यह दूरी एक प्रयास में पंखों की सहायता से तय की गयी या कई छोटी उड़ानों में। उड्डयन और प्रकीर्णन का नियन्त्रण केवल अन्तर्जात शक्तियों के द्वारा ही नहीं बल्कि वातावरण के द्वारा भी होता है। रक्त भोज्य पदार्थ के स्रोत अथवा उनका सान्द्रण, जनन स्थानों की सुविधा और फैलाव, भौतिक अवरोधों की व्यापकता जैसे कि, वनों में लम्बे वृक्षों का होना, ऊँचे पर्वत, जल का वृहद फैलाव, वायु का वेग, ये सारे के सारे कारक उड्डयन एवं प्रकीर्णन में रूपान्तरण हेतु उत्तरदायी हैं। मच्छरों में उड्डयन की क्रिया कई अन्य कारणों से भी होती है। जैसे—लैंगिकजनन के लिए, जिसमें स्वार्मिङ्ग और मेटिंग सम्मिलित है, परपोषी के लिए—(जहाँ से भरण की व्यवस्था होगी) तथा अण्डे देने के लिए उपयुक्त जनन स्थलों के चयन में।

मलेरिया मरक-विज्ञान में कुल उड्डयन दूरी (Total flight distance) वह दूरी है जिसे व्यक्तिगत रूप से या तो मच्छर उड़कर पूरी करते हैं, महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि प्रभावक उड्डयन दूरी (Effective flight distance) महत्वपूर्ण है। इसको दूसरे प्रकार से भी परिभाषित किया जा सकता है। वह दूरी जहाँ पर पर्याप्त संख्या में मच्छर उड़कर और केन्द्रीय बिन्दु तक पहुँचकर, वेक्टर (रोगवाहक) के घनत्व का निर्माण कर मलेरिया पारेषण (Transmission) में सहायक होते हैं। प्रभावक, उड्डयन दूरी घरों के विस्तार, वितरण और पशुओं की संख्या पर भी निर्भर करती है। जैसे अगर किसी मच्छर को उपयुक्त परपोषी भरण के लिए, जनन के लिए उपयुक्त स्थान, अण्डनिक्षेपण की व्यवस्था दिन के लिए विश्राम हेतु अनुकूल व्यवस्था आदि आवश्यकतायें पूरी हो रही हैं तो उस दशा में उस मच्छर को अधिक दूरी तय करने की आवश्यकता नहीं है जब कि दूसरी स्थिति में अगर रक्त भोज्य पदार्थ का कोई स्रोत 2 या 3 किमी० की दूरी पर भी है उस स्थिति में ऐनोफेलीज मच्छर वहाँ तक उड़कर अपनी भूख की तृप्ति करने में सक्षम होते हैं। अत्याधिक लम्बे वृक्षों से उड्डयन में अवरोध हो जाता है, ऐसा A. sundaicus के प्रेक्षण से प्राप्त हुआ है। नर मच्छर की उड्डयन दूरी मादा की अपेक्षा कम होती है।

उषाकाल में विश्राम स्थलों हेतु प्रयास

रात्रि के समय जब मच्छर सक्रिय अवस्था में रहते हैं, उस समय इधर-उधर विभिन्न उद्दीपनों के प्रति आकर्षित होते रहते हैं। रात्रि में मच्छरों में स्फूर्ति ज्यादा रहती है, यहाँ तक कि प्रकाश का एक पुंज जो कि टार्च से उत्पन्न किया गया है, दिन के समय विशेष प्रभावकारी न रहकर रात्रि में व्यवधान उत्पन्न कर देता है और वे उड़ने लगते हैं। उषाकाल का झिलमिल प्रकाश बाह्य मच्छरों के लिए व्यवधान उत्पन्न कर देता है। ये उड़ने के पश्चात् स्वार्मिङ्ग उद्दीपन की क्रिया करने करने लगते हैं परन्तु यह क्रिया सायंकाल के स्वार्मिङ्ग से भिन्न होती है। प्रकाश की तीव्रता में वृद्धि के साथ-साथ ऐनोफेलीज मच्छरों में विकर्षण की क्रिया होती है। वे अँधेरे में वस्तुओं के पास उड़ने लगते हैं। अन्धकार वाला क्षेत्र कोई झाड़ी, या वृक्ष आदि हो सकता है। इन स्थानों में ये छिपने का प्रयास करते हैं। नगरीय क्षेत्रों में अँधेरी खिड़कियों, दरवाजों की तरफ उड़ते हैं। इन स्थानों पर पहुँचने के बाद भी अगर प्रकाश पुंज की तीव्रता उपलब्ध है तो ये मच्छर अँधेरे गहनतम क्षेत्रों में प्रवेश कर जाते हैं। प्रकाश पुंज की अत्यधिक तीव्रता की स्थिति में ये अक्रियता को प्रदर्शित करते हैं। ऐसा ये शमक प्रभाव (depressant effect) और डायरनल आवर्तिता (diurnal rhythm) के कारण करते हैं। इन स्थानों पर इनका विश्राम सायंकाल तक रहता है। शरण स्थलों में

इनका प्रवेश वातावरण पर भी निर्भर करता है कि वह नगरीय, ग्रामीण, कैसा है। उसी जाति का मच्छर नगरीय वातावरण में अन्तरंग, विश्रामी हो सकता है और वनों या बगीचों में बहिरंगी विश्राम हो सकता है। यह भी निर्विवाद रूप से स्थापित हो चुका है कि A. balabacensis और A. philippinensis, जो कि वनों में मिलते हैं, भरण और पोषण के लिए घरों में प्रवेश करते हैं, यहाँ तक कि A. culicifacies मच्छर कुछ वनीय क्षेत्रों में बाह्य विश्रामी रूप में मिलते हैं। यहाँ पर वातावरण ही इस प्रकार के व्यवहार के लिए उत्तरदायी है। इनके बीच किसी भी प्रकार की स्पष्ट विभाजक रेखा निर्मित करना दुरूह कार्य है।

ऐनोफेलीज मच्छरों के दैनिक जीवन विधि को **सैमयुल टायलर डार्लिंग** के कथन के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है, जो उन्होंने मच्छरों के स्वभाव का अध्ययन करने वाले मलेरिया वैज्ञानिकों के सम्बन्ध में कहा है— "उनको मच्छरों के तरीके से ही सोचना प्रारम्भ करना चाहिए। मच्छरों के व्यवहार के बारे में मानवीय दृष्टिकोण से प्रेक्षण के पश्चात् परिणाम भ्रामक हो सकते हैं।"

OO

महुवा और उसका उपयोग

वर्शनानन्द

महुवा सैपोटैसी कुल का एक बहुवर्षीय पतझड़ी फल-वृक्ष है। महुवे का वृक्ष बीजू आम के वृक्ष की भाँति विशाल आकार का होता है। इसी कारण महुवे का वृक्ष चौड़ी सड़कों के दोनों ओर लगाने के लिए एक उपयुक्त वृक्ष है। पथिक धूप में चलते-चलते जब थक जाते हैं तो सड़कों के किनारे लगाये गये महुवा के वृक्षों की शीतल छाया में वे विशेष आनन्द का अनुभव करते हैं। महुवे के वृक्ष के नीचे बैठ कर वे विश्राम भी करते हैं। छाये की दृष्टि से महुवे का वृक्ष चरागाहों, तालाबों, झीलों और कुओं के पास लगा सकते हैं। इसके वृक्ष उद्यान व वन के रूप में तथा छिटपुट भी लगाये जाते हैं। इसे बेकार, परती, बंजर, बीहड़, ऊसरीली तथा किसी भी प्रकार की भूमि व मिट्टी में उगा सकते हैं। महुवा के पौधों व वृक्षों की कोई विशेष देख-भाल की भी आवश्यकता नहीं होती। इसके पौधे बीज बोकर तैयार किये जाते हैं। पौधों को वर्षा ऋतु में यथास्थान 35 से 40 फीट की दूरी पर लगा सकते हैं।

महुवा के वृक्ष की लकड़ी इमारत, हल व गाड़ी आदि बनाने में तथा ईंधन के रूप में भी प्रयोग करते हैं। इसके वृक्ष से एक जाला निकलता है जिसे शरीर के जले-कटे भाग पर लगाने से कष्ट का निवारण होता है। इसका दूधिया रस (Latex) गठिया के इलाज में उपयोगी रहता है। इसके पत्ते 20-20 सेमी० तक लम्बे और 10 सेमी० तक चौड़े होते हैं। इन्हें जोड़-जोड़ कर भोजन व नाश्ते के लिए पत्तल व दोने बनाये जाते हैं। इसके पत्ते पशुओं के लिए उत्तम चारा होते हैं।

उपनिदेशक उद्यान, इलाहाबाद मण्डल (अ० प्र०), सी-67, गुरु तेगबहादुर नगर (करेली हाउसिंग स्कीम), इलाहाबाद-211016

चीकू या सपोटा (Sapodilla : Acharus sapota), खिरनी (Milk tree : Mimusops hexandra) और मौलसरी (Mimusops ilengi) भी महुवा के ही परिवार के वृक्ष हैं। संस्कृत में महुवे को मधूक, गुड़, पुष्प, मधु पुष्प, मधु स्रव तथा मराठी में मोहडा और बंगला में मऊल व महुवा कहते हैं। तमिल में इसका नाम इल्लुपि या कट इल्लीपी तथा तेलगू में चैट्टयाइप्पा, या इप्पा है। सिन्धी व गुजराती में इसे मुँहडो तथा अँग्रेज़ी में इसे इण्डियन बटर ट्री (Indian Butter Tree) कहते हैं।

महुवे का वनस्पतिशास्त्रीय नाम **मधूका लैटिफोलिया** (Madhuca latifolia) है। **मधूका इण्डिका** (Madhuca indica) और **बैसिया लैटिफोलिया** (Bassia latifolia) भी इसके अन्य वनस्पतिशास्त्रीय नाम हैं। **मधूका** वंश का ही एक और वृक्ष **मधूका लांगीफोलिया** (Madhuca longifolia) या बैसिया लांगीफोलिया (Bassia longifolia) होता है, जिसे जल मधूक या मधूलक कहते हैं। यह दलदली व कीचड़ वाली भूमि में भी वृद्धि करता है। इसी वंश के **मधूका मालाबारिका** (Madhuca malabarica) या **बैसिया मालाबारिका** (Bassia malabarica) तथा **मधूका ब्यूटीरैसिया** (Madhuca butyracia) या **डिपलॉकनेमा ब्यूटीरैसिया** (Diploknema butyracia) या **बैसिया ब्यूटीरैसिया** (Bassia butyracia) भी अन्य दो वृक्ष हैं। इन सभी वृक्षों की विशेषताएं महुवे के वृक्ष की विशेषताओं से मिलती-जुलती हैं।

मार्च के द्वितीय सप्ताह से महुवे के वृक्ष के पत्ते गिरने लगते हैं। पत्ते गिरने के बीच ही पिछले वर्ष की टहनियों की शिखाओं के पास फूल की कलियाँ निकलने और मोटी होने लगती हैं। धीरे-धीरे वृक्ष के सारे पत्ते गिर जाते हैं और मार्च के अन्त में महुवा फूलने लगता है। इस प्रकार वृक्ष के पत्ते 2-3 सप्ताह के लिए झड़े रहते हैं। वृक्ष में फूल फूलने के ही बीच टहनियों की चोटी से तांबे के रंग की चमकदार, आकर्षक, कोमल व नवीन टहनियां और पत्तियां निकलने लगती हैं। ये पत्तियां धीरे-धीरे माप में वृद्धि करने लगती हैं। इस बीच महुवे का वृक्ष बड़ा ही शोभाकार लगता है।

महुवे का फूल रात में खिलता है और प्रातः काल भूमि पर टपक जाता है। फूल अन्तिम मार्च से अप्रैल के तीसरे सप्ताह तक टपकता रहता है। इस बीच महुवे के वृक्ष के नीचे से निकल जाएँ तो इसके फूल की सुगन्ध से जी भर जाता है। महुवे का फूल जो टपकता है, वह वास्तव में फल का दलपुँज (पंखुड़ी चक्र) होता है, जो क्रीम के रंग का अंगूर के दाने के आकार का अण्डाकार या गोलाकार तथा रसमय होता है। यह मधुर स्वाद और सुवास वाला होता है। फूल टपकते ही इन्हें चुनने के लिए महिलाओं और बच्चों का तांता लग जाता है।

ताजे फूल में 52.6 प्रतिशत शर्करा होती है। इसके रस से हलवा, मीठी पूरियां व अन्य प्रकार की भोजन व नाश्ते की सामग्रियां बनायी जाती हैं। ताजे फूल खाये भी जाते हैं। पुष्पों व इनके रस के किण्वन से मदिरा का निर्माण किया जाता है। ताजे फूलों को सुखा कर भी रखते हैं। सुखाये फूलों को भून कर भी खाते हैं। सुखाये फूलों का उपयोग भी ताजे फूलों की भांति विभिन्न खाद्य सामग्रियां बनाने में करते हैं। इस प्रकार महुवे का फूल खाद्य समस्या के समाधान का भी अच्छा साधन है। देहातों में कितने लोग तो महुवा खाकर ही दिन-रात व्यतीत कर देते हैं। महुवे के फूल ओषधीय गुणों वाले भी होते। एक वृक्ष से 4 से 8 क्विण्टल ताजे फूल निकल आते हैं। सुखाने पर इनका भार लगभग 1/4 भाग रह जाता है।

वृक्ष में फल मई मास के आरम्भ से लगने और वृद्धि करने लगते हैं। फल चोंचदार व हरे रंग के होते हैं, जिन्हें महुवे का कोया कहते हैं। कच्चे फल (कोया) की स्वादिष्ट सब्जी बनाई जाती है। कच्चे फल मई के लगभग पूरे महीने तक उपलब्ध रह ते हैं। फलने के डेढ़ से 2 मास में ये कोये पक कर मुलायम हो जाते हैं, जो जून-जुलाई में उपलब्ध रहते हैं। पकने पर फल में पीलापन भी आ जाता है। पके कोये खाये भी जाते हैं, जो स्वाद में मीठे होते हैं। एक वृक्ष से लगभग 4 क्विन्टल पके कोये निकल आते हैं।

महुवे के बीज बड़े उपयोगी और औद्योगिक महत्व के होते हैं। ये बीज भूरे या बादामी रंग के नोकीले व चमकदार होते हैं। कोये को दबाने से गुठली (बीज) तुरन्त अलग हो जाती है। एक कोये में प्राय: एक तथा कभी कभी दो गुठलियां रहती हैं। इसमें 3 व 4 बीज भी पाये गये हैं। कोये में बीज का भाग 20 प्रतिशत और गूदे का भाग 71 प्रतिशत होता है। गुठली में 50 से 55 प्रतिशत तेल उपलब्ध रहता है।

महुवे का तेल साबुन और मोमबत्ती बनाने के कारखाने एवं अन्य उद्योग धन्धों में विशेष रूप से उपयोगी होता है। कोल्हू से गुठली में से 33.3 प्रतिशत तथा मशीन से 41.66 से 50 प्रतिशत तक महुवे का तेल निकल पाता है। इस तेल को विभिन्न पकवान तलने में भी प्रयोग करते हैं। इसे चिराग जलाने में भी प्रयोग करते हैं। शरीर के चर्म रोग में इसका तेल ओषधि के रूप में उपयोगी होता है।

महुवे की खली साग-सब्जी, फल-फूल व अन्य खाद्य फसलों में जैविक खाद के रूप में प्रयोग करते हैं। इसके प्रयोग से नाइट्रोजन, फॉस्फोरस और पोटाश फसल को प्राप्त होती है तथा मिट्टी की भौतिक दशा में सुधार होता है। महुवे की खली में नाइट्रोजन 2.5%, फॉस्फोरस 0.8% तथा पोटाश 1.8% पाया जाता है। खली के चूरे को लॉन में भी भुरकाते हैं, जिससे घास हरी-भरी रहती है और कीड़े-मकोड़े भी मर जाते हैं। नीम की खली भी इसी प्रकार खाद के रूप में बड़ी उपयोगी होती है। महुवे की खली जलाकर तापते भी हैं। भट्ठियों में भी इसे जलाते हैं। अधिक गर्म प्रभाव होने के कारण महुवे की खली को पशुओं को नहीं खिलाते हैं।

अतः महुवा के पौधे अधिक से अधिक संख्या में लगा कर उपरोक्त लाभों के साथ-साथ पर्यावरण-संतुलन का भी लाभ उठाएँ।

■ ■

दैनिक प्रयोग में आने वाले डिटरजैन्ट्स

डॉ० चन्द्रकला पन्त

डिटरजैन्ट रसायनिक विधियों द्वारा बनाये गये ऐसे पदार्थ हैं जिनका उपयोग अधिकांश सूती, ऊनी एवं रेशमी कपड़ों की धुलाई, बरतनों की सफाई तथा बालों की धुलाई में किया जाता है। समय-समय पर विज्ञापनों द्वारा दैनिक प्रयोग में आने वाले डिटरजैन्ट्स की जानकारी, अनायास ही हमारा ध्यान आकर्षित करती है कि वास्तव में डिटरजैन्ट्स क्या हैं और कैसे बनाये जाते हैं।

यह सत्य है कि साबुन एवं डिटरजैन्ट्स का प्रयोग प्राचीन काल से ही होता रहा है। अट्ठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी में लकड़ी की राख, पेड़ों की छाल, जड़ों एवं पत्तों से कपड़े धोये जाते थे। रोम तथा इजिपट में एक प्रकार का क्षारीय पदार्थ, जिसे "नैन्ट्रन झील" से सिकाला जाता था, कपड़ों की धुलाई में इस्तेमाल किया जाता था। इसमें आधुनिक वाशिंग सोडा की तरह सोडियम कार्बोनेट एवं बाइकार्बोनेट आदि थे।

साधारण साबुन, घरों में भी आसानी से बनाया जा सकता है। यह उच्च कार्बन श्रृंखला वाले वसा अम्लों जैसे ओलिक, स्टीयरिक, पामीटिक, लौरिक एवं मिरिस्टिक आदि अम्लों के सोडियम अथवा पोटेशियम लवण हैं। इन्हें वसा एवं तेलों को सोडियम हाइड्राक्साईड द्वारा जल-अपघटन से बनाया जाता है। वसा एवं तेल ट्राइग्लिराइड्स हैं। दूसरे शब्दों में साबुन लम्बी कार्बन श्रृंखला (C_{12} से C_{18}) वाले कार्बनिक अम्लों के लवणों के मिश्रण को कहा जा सकता है। पामिटिक एवं स्टीयरिक वसा अम्ल संतृप्त कार्बन श्रृंखला वाले अम्ल हैं तथा कठोर साबुन बनाते हैं। इसके विपरीत ओलिक वसा अम्ल असंतृप्त कार्बन श्रृंखला वाले हैं तथा मृदु साबुन बनाते हैं।

पोटेशियम लवण युक्त साबुन, सोडियम लवण युक्त साबुन की अपेक्षा अधिक मृदु (soft) होते हैं तथा इनका अधिकांश प्रयोग शेविंग क्रीम एवं शैम्पू आदि में किया जाता है।

साबुन बनाने की दो प्रमुख विधियाँ हैं—कैटल प्रोसेस तथा हाइड्रोलाइसिस प्रोसेस। प्रथम विधि में एक स्टील के बड़े बरतन में वसा (fat) अथवा तेल (oil) को सोडियम हाइड्राक्साइड के साथ तब तक गरम किया जाता है जब तक सारा तेल एवं सोडियम हाइड्राक्साइड एक दूसरे से क्रिया करके साबुन की तरह चिकना पदार्थ न बना दें। इस क्रिया को सैपोनिफिकेशन कहते हैं। इसके पश्चात् नमक मिलाया जाता है, जिससे साबुन अलग होकर बरतन की सतह पर तैरने लगता है। निचली सतह में ग्लिसरीन बनता है जिसे बाहर निकाल लिया जाता है। बरतन में केवल साबुन तथा बची हुई अक्रियाशील वसा रह जाती है, जिसे पुनः सोडियम हाइड्राक्साइड डालकर गरम किया

प्रवक्ता, रसायन विज्ञान, डी० एस० बी० कॉलेज, नैनीताल (उ० प्र०)

जाता है। बची हुई वसा फिर से रासायनिक क्रिया द्वारा साबुन बना देती है। इस प्रकार बने हुए साबुन को पानी से धोया जाता है ताकि शेष ग्लिसरीन एवं अशुद्धियाँ निकल जायें। स्वच्छ, रंगीन एवं सुगन्धित साबुन बनाने के लिए इसमें रंग, सुगन्ध तथा कीटाणुनाशक मिलाये जाते हैं। ठोस हो जाने पर इसे इच्छानुसार टिक्कियों में काट लिया जाता है।

दूसरी विधि में वसा का अधिक ताप एवं दाब पर जिंक ऑक्साइड की उपस्थिति में जल अपघटन किया जाता है। इसके बाद वैक्यूम डिसटिलेशन करके इसका सोडियम हाइड्राक्साइड के साथ उदासीनीकरण किया जाता है। इस विधि द्वारा स्वच्छ साबुन तैयार होता है। इसे व्यावसायिक विधि भी कहा जाता है। सन् 1954 तक साबुन को ही मुख्य डिटरजैन्ट की तरह प्रयोग किया जाता था, परन्तु साबुन का स्थान आधुनिक वैज्ञानिक युग में सफल प्रयोगों द्वारा विभिन्न डिटरजैन्ट्स ने ले लिया है। सिन्थेटिक डिटरजैन्ट्स साबुन की तरह ही धुलाई एवं सफाई में प्रयुक्त किये जाने वाले ऐसे प्रसाधन हैं जिनसे संसार की 60 प्रतिशत साबुन की माँग पूरी हुई है। साबुन की तरह ये भारी पानी के साथ अविलेय कैल्सियम एवं मैगनीशियम सोप नहीं बनाते हैं तथा अधिक झाग पैदा करते हैं।

डिटरजैन्ट का महत्वपूर्ण गुण है कि ये कपड़े की सतह पर इकट्ठा होकर झाग पैदा करते हैं। इन्हें सरफैक्टैन्ट भी कहते हैं। ये चिकनाई के साथ मिलकर गन्दगी एवं धूल कणों को तोड़ कर अलग कर देते हैं। इनमें दो विशेष समूह होते हैं जिनमें से एक पानी में विलेय (hydrophilic) और दूसरा तेल में विलेय (lipophilic) होता है। इसी कारण डिटरजैन्ट का एक भाग सीधे तैलीय सतह पर तथा दूसरा भाग पानी में घुलकर पुनः तैलीय सतह पर जमा हो जाता है तथा झाग पैदा करता है।

सिन्थेटिक डिटरजैन्ट्स को सिनडेट्स भी कहते हैं। इनमें C_8 से C_{22} वाले हाइड्रोकार्बन लिपोफिलिक समूह उपस्थित रहते हैं। हाइड्रोफिलिक समूहों में ऋणात्मक समूह (negative groups) जैसे सल्फोनेट्स, सल्फेट्स तथा कार्बोनिल समूह, व्यावसायिक रूप से अधिक महत्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त धनात्मक समूह (positive groups) जैसे एमीनो साल्ट तथा अमोनियम यौगिक होते हैं। एम्फीटेरिक डिटरजैन्ट्स में धनात्मक तथा ऋणात्मक दोनों समूह होते हैं। चौथे प्रकार के डिटरजैन्ट्स में कोई आयन नहीं होते बल्कि एल्कोहॉल, ईथर आदि कार्बनिक ग्रुप होते हैं। उदाहरण के लिए एल्काइल बैन्जीन सल्फोनेट, लीनियर एल्काइल बैन्जीन सल्फोनेट, लौटाइल एल्कोहॉल सल्फेटेड, नौनाइल फीनौल इथौक्सीलेटेड, सेकेन्डरी एल्कोहॉल इथौक्सीलेटेड और सल्फेटेड डिटरजैन्ट्स प्रमुख हैं।

दैनिक प्रयोग में आने वाले डिटरजैन्ट्स में लीनियर एल्काइल बैन्जीन सल्फोनेट (L A S) अधिक प्रयुक्त होते हैंतथा सौडियम डौडिसाइल बेन्जीन सल्फोनेट (S D S) कहलाते हैं। ये सल्फेटेड एवं सल्फोनेटेड डिटरिजैन्ट्स भारी पानी में उपस्थित कैल्सियम, मैगनीशियम आयनों के साथ अवशेष नहीं बनाते तथा इनको अम्लीय माध्यम में भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

कपड़े धोने अथवा बरतन साफ करने के अतिरिक्त डिटरजैन्ट्स का प्रयोग बहुत बड़ी मात्रा में शैम्पू आदि में किया जाता है। शैम्पू से बाल धोने पर बालों में अधिक चमक एवं मुलायमपन आ जाता है। रुसियां (डैन्ड्रफ) भी नहीं होने पातीं।

शैम्पू विभिन्न रूपों में जैसे—द्रव, पेस्ट, पाउडर अथवा इमलशन की तरह बनाये जा सकते हैं। ये सुगन्धित अथवा रंगीन हो सकते हैं। अधिकांश दैनिक प्रयोग में आने वाले शैम्पू द्रव (liquid) रूप में होते हैं तथा चिकनाई

लिए हुए तैलीय दिखाई देते हैं। तकनीकी रूप से शैम्पू दो प्रकार के डिटरजैन्ट्स पर निर्भर होते हैं, पहला साबुन तथा दूसरा साबुन रहित डिटरजैन्ट्स, दोनों शैम्पू में लगभग एक प्रकार के रासायनिक पदार्थ मिलाये जाते हैं। सिन्थिटिक डिटरजैन्ट्स (कृत्रिम रूप से तैयार किए गए) में बहुधा घुलनशील विलायक मिलाये जाते हैं जिससे, स्वच्छ द्रव शैम्पू बन सके।

शैम्पू में प्रयुक्त होने वाले डिटरजैन्ट्स, जो कि साबुन पर निर्भर नहीं होते, अधिकांश लौराइल सल्फेट के सोडियम एवं पोटेशियम लवण अथवा डाइइथेनौलएमीन लवणयुक्त रसायन हैं। उनके अतिरिक्त लौराइल ईथर सल्फेट, सल्फेटेड मोनोग्लिसराइड, सोडियस एल्काइल सल्फोएसीटेड, एल्काइल बैन्जीन पोलीऑक्सी इथाइल सल्फोनेट सोडियम लौराइल सारकोसिनेट तथा अन्य धनात्मक आयनिव डिटरजैन्ट्स आवश्यकतानुसार प्रयोग में लाये जाते हैं। विलायक के रूप में शैम्पू की घुलनशीलता बढ़ाने के लिए यूरिया, एलीफैटिक एल्कोहॉल, सोडियम टोल्वीन सल्फोनेट और सोडियम जाइलीन सल्फोनेट एल्कोहॉल, सोडियम टोल्वीन सल्फोनेट और सोडियम जाइलीन सल्फोनेट मिलाये जाते हैं।

साबुन एवं डिटरजैन्ट शैम्पू में अन्य रसायन जो झाग को स्थायी बनाने एवं बालों की सतह पर स्थिर करने के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं, मुख्य रूप से इथेनॉल एमाइड, आइसोप्रोपेनोल एमाइड, गोले का तेल, वसा अम्ल तथा एमीन ऑक्साइड आदि हैं। सोडियम पौली फौस्फेटस, इथाइलीन डाइएमीन टेट्राएसीटिक अम्ल के डाइसोडियम एवं टेट्रासोडियम साल्ट भी झाग की सतह पर स्थिरता बढ़ाते हैं। एल्कोहॉल फारमैल्डिहाइड, पैराहाइड्रोक्सी बेन्जोइक अम्ल के एस्टर शैम्पू में एक (प्रिजरवेटिव) संरक्षक का कार्य करते हैं। बालों को घना बनाने के लिए कुछ शैम्पू में सोडियम कार्बोक्सी मिथाइल सैल्यूलोज और मिथाइल सैल्यूलोज आदि रसायन भी मिलाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न सुगन्ध एवं रंग प्रदान करने वाले पदार्थ भी प्रयोग में लाये जाते हैं। कभी-कभी भारी पानी के साथ, लुग्दी की तरह अवांछित कैलसियम एवं मैग्नीशियम सोप बालों में इकट्ठा हो जाता है तथा बाल सूखे (रूखे) एवं चमक-विहीन हो जाते हैं। इसको दूर करने के लिए शैम्पू में नींबू का रस मिला दिया जाता है, जोकि अम्लीय होने के कारण कैल्शियम और मैग्नीशियम की अविलेय लुग्दी को घोल कर दूर कर देता है तथा बालों में पुनः चमक आ जाती है। कुछ शैम्पू में अण्डा एवं एन्टीसेप्टिक एलैनटोइन तथा ट्राइक्लोरोकार्बोनिलाइड भी मिलाये जाते हैं। रूसी अथवा डैन्ड्रफ को हटाने के लिए सिलीनियम सल्फाइड तथा जिंक पाइरीथिओन युक्त शैम्पू का उपयोग लाभदायक है।

इस प्रकार दैनिक प्रयोग में आने वाले डिटरजैन्ट्स रासायनिक विधियों द्वारा संश्लेषित पदार्थ हैं, जिनको आसानी से घरों में भी बनाया जा सकता है। ये न केवल कपड़े धोने अथवा बरतन साफ करने के लिए ही उपयोगी हैं बल्कि शैम्पू के रूप में बालों को घना, मजबूत एवं चमकदार बनाने में भी सहायक हैं। परन्तु शैम्पू की खरीददारी में वही शैम्पू खरीदना चाहिए जो न अधिक अम्लीय हो और न अधिक क्षारीय तथा जो आँखों में जलन पैदा न करे। आँखों के विशेषज्ञों ने उन शैम्पू को सही बताया है जिनका pH मूल्य 6.5 से 7.8 तक लिखा गया हो।

○○

खनिज तेल प्रागैतिहासिक काल से आधुनिक काल तक

डॉ० विजय कुमार उपाध्याय

अनुमान है कि खनिज तेल का उपयोग प्रागैतिहासिक काल में ही शुरू हो गया था। आज से लगभग 5 हजार वर्ष पूर्व सुमेरिया, एसीरिया (वर्तमान ईरान) तथा बेवीलोन (इराक) में खनिज तेल को उपयोग में लाये जाने के प्रमाण मिले हैं। इसी प्रकार मेसोपोटामिया में भी उस काल में खनिज तेल को उपयोग में लाया जाता था। उस समय खनिज तेल की खानें नहीं खोदी जाती थीं, बल्कि यह तेल धरती से रिस-रिस कर बाहर निकलता रहता था तथा गड्ढों में जमा होता रहता था। इन्हीं गड्ढों से लोग तेल को उठा लेते थे तथा उससे दीपक जलाते थे। कभी-कभी इस तेल की परत जल के कुओं में पानी के ऊपर तैरती रहती थी। यहाँ से छान कर उसे अलग कर लिया जाता था तथा उपयोग में लाया जाता था। प्राचीन काल में मृत सागर (डेड सी) को 'लेक ऐसफाल्टी' के नाम से पुकारा जाता था, क्योंकि उसकी पेंदी से काफी मात्रा में डामर (ऐसफाल्ट) निकलता रहता था तथा इसके किनारों पर जमा होता रहता था।

मूसा (वर्तमान ईरान) तथा उर (वर्तमान इराक) में की गयी पुरातात्विक खुदाइयों से इस बात के प्रमाण मिले हैं कि वहाँ के लोग उस काल में बिटुमेन को बालू के साथ मिलाकर गारा (मोर्टर) बनाते थे जिससे गृह-निर्माण के लिए ईंटें जोड़ी जाती थीं। ये अवशेष लगभग 4-5 हजार वर्ष पुराने हैं। उस काल में बिटुमेन का उपयोग सड़क निर्माण तथा लकड़ी से निर्मित जलयानों पर लेप चढ़ाने के लिए भी किया जाता था। बिटुमेन के उपयोग द्वारा हड्डियों पर फ्लिंट के छोटे-छोटे नुकीले टुकड़ों को साटकर हँसिया बनाया जाता था। चटाइयों को जलरोधी (वाटर प्रूफ) बनाने तथा मुर्दों को कब्र में गाड़ने के पहले उन पर बिटुमेन का लेप चढ़ाया जाता था।

ऐसे संकेत मिले हैं कि चीन में 200 वर्ष ई० पू० सेंधा नमक के खनन के लिए 140 मीटर गहरी एक खान खोदी गयी जिसमें खनिज तेल एवं गैस की प्राप्ति हुई। 'बाइबिल' में भी खनिज तेल को उपयोग में लाये जाने की चर्चायें मिलती हैं। आज से लगभग 18 शताब्दी पूर्व अरब तथा फारस में खनिज तेल की प्राप्ति तथा उसे उपयोग में लाये जाने के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। जब अरबों ने स्पेन पर चढ़ाई की तो उनके साथ 12वीं शताब्दी में खनिज तेल के रिसाव को कई प्रमुख देशों में ढूंढ लिया। इन देशों में शामिल थे क्यूबा, मेक्सिको, बोलीविया, इक्वाडोर तथा पेरू। हालैंड वासियों ने जावा तथा सुमात्रा में खनिज तेल की खोज की। इसी प्रकार अमेरिका के न्यूयार्क तथा पेंसिलवानिया क्षेत्र में भी तेल के भण्डार ढूंढ निकाले गये।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में स्कॉटलैंड के एक वैज्ञानिक प्रो० जेम्स यांग ने डर्बिनशायर कोयला खान में रिसाव से प्राप्त खनिज तेल को शुद्ध करने के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के प्रयोग किये। कुछ वर्षों के बाद यंग ने शेल नामक चट्टान से खनिज तेल निकालने की एक विधि विकसित की। जब यंग शेल से प्राप्त तेल से सम्बन्धित उद्योग की स्थापना में लगा हुआ था उसी समय अमेरिकी उद्योगपतियों के एक समूह ने पेंसिलवानिया में तेल के लिए वेधन

प्राध्यापक, भूगर्भ, इंजीनियरी कॉलेज, भागलपुर-813210

(ड्रिलिंग) करने हेतु **एडविन ड्रेक** नामक एक पुराने रेलवे कर्मचारी को नियुक्त किया। इस स्थान पर खनिज तेल को बहुत पहले से ही रिस-रिस कर बाहर निकलते देखा गया था। इस स्थान पर लगभग एक वर्ष तक वेधन कार्य करने पर 45 मीटर की गहराई पर तेल मिला। यहाँ तेल की प्राप्ति 27 अगस्त सन् 1859 ई० को हुई तथा यहीं से हुई आधुनिक तेल उद्योग की शुरुआत।

प्रारम्भ में खनिज तेल उद्योग से सम्बन्धित लोगों को तेल की उत्पत्ति, स्वभाव, तथा प्राप्ति के सम्बन्ध में कोई वैज्ञानिक जानकारी उपलब्ध नहीं थी। जहाँ पर तेल जमीन के भीतर से रिसकर बाहर निकलता दिखाई देता था उसी स्थान पर वे तेल के खनन का प्रयास करते थे। परन्तु शीघ्र ही तेल उद्योगपतियों ने अनुभव किया कि तेल की खोज के लिए सबसे उपयुक्त लोग हैं भूविज्ञानवेत्ता। अतः उन्होंने इस काम के लिए भूवैज्ञानिकों को नियुक्त किया।

सन् 1912 ई० में भूविज्ञानवेत्ताओं ने तेल के लिए भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण का काम प्रारम्भ किया। सर्वेक्षण से प्राप्त नतीजों के आधार पर तेल के लिए वेधन का काम किया जाता था। सन् 1920 ई० में तेल के लिए भूवैज्ञानिक खोज का काम विस्तृत ढंग से शुरू किया गया। वेधन से प्राप्त चट्टान नमूनों का भूवैज्ञानिक अध्ययन किया जाने लगा तथा उपयोगी निष्कर्ष निकाले जाने लगे। इस दिशा में पुराजीव वैज्ञानिकों (पैलियोंटोलौजिस्ट्स) से भी काफी सहायता मिली। उन्होंने सूक्ष्म जीवाश्मों (माइक्रोफॉसिल) के अध्ययन के आधार पर बहुत दूर-दूर पर स्थित चट्टानों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान किया। खनिज वैज्ञानिकों (मिनरलौजिस्ट) ने भी शैलों में प्राप्त खनिजों के आधार पर विभिन्न चट्टानों के बीच तादात्म्य स्थापित किया तथा तेल की प्राप्ति के संबंध में महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले।

अमेरिका में 1920 के दशक में तेल की खोज के लिए भूभौतिकीय सर्वेक्षण विधियों का उपयोग प्रारम्भ किया गया। जर्मन वैज्ञानिकों ने इसी समय के आस-पास तेल की खोज के लिए भूकम्पीय (साइस्मिक) विधियों का सफलतापूर्वक उपयोग किया। इस विधि की सहायता से यू० एस० गल्फ में पहली बार एक साल्ट डोम की खोज की गयी। साल्ट डोम खनिज तेल के अच्छे भंडार माने जाते हैं।

सन् 1932 ई० में बहरैन में खनिज तेल की खोज की गयी। इसके तुरन्त बाद अरेबियन-अमेरिकन ऑयल कम्पनी की स्थापना की गयी। इस कम्पनी ने फारस की खाड़ी के पूर्वी किनारे पर स्थित बहुत बड़े क्षेत्र के सर्वेक्षण की एक महत्वाकांक्षी योजना बनायी। इस कार्य में इस कम्पनी को काफी सफलता मिली तथा यहाँ बड़े-बड़े तेल भण्डार का पता चला। शीघ्र ही यहाँ तेल का खनन प्रारम्भ किया गया।

भारत में खनिज तेल की खोज की कहानी काफी रोचक है। एक घटना है सन् 1890 ई० के प्रारम्भ की। आसाम में रेल की पटरी बिछाने का काम चल रहा था। यहाँ कुछ हाथियों को सामान इधर से उधर ढोने के काम में लगाया गया था। उनमें से एक हाथी भाग कर जंगल के दलदली क्षेत्र की ओर चला गया। जब वह हाथी लौटकर आया तो देखा गया कि उसके शरीर पर गहरे काले रंग का चिकना कीचड़ लगा हुआ था। इस कीचड़ से खनिज तेल की गन्ध आ रही थी। वहाँ पर उपस्थित लोगों को आश्चर्य हुआ। वे लोग हाथी के पैर के चिन्हों का अनुसरण करते हुए उस स्थान पर पहुँचे जहाँ एक छोटे गढ्ढे के भीतर से खनिज तेल रिस कर बहार निकल रहा था। यह स्थान था डिगबोई जहाँ सन् 1890 ई० में खनिज तेल की खुदाई का काम शुरू किया गया। खुदाई का काम

प्रारम्भ किया आसाम रेलवे एण्ड ट्रेडिंग कम्पनी ने जिसकी एक इकाई सन् 1899 में आसाम ऑयल कम्पनी के नाम से विकसित हुई। 1921 ई० तक आसाम ऑयल कम्पनी की आर्थिक स्थिति बहुत ही दयनीय हो गयी। उसी वर्ष बर्मा ऑयल कम्पनी ने आसाम ऑयल कम्पनी के तकनीकी कार्य का दायित्व अपने ऊपर ले लिया तथा खुदाई में उपयोगी अनेक उपकरणों के लिए धन उपलब्ध कराया। सन् 1922 से 1932 ई० के बीच आसाम में कम से कम दस स्थानों पर की गयी खुदाइयाँ बेकार साबित हो गयीं। इतना ही नहीं इस कम्पनी ने भारत के कुछ पश्चिमी क्षेत्रों जैसे कच्छ एवं जैसलमेर में भी तेल की खोज की। परन्तु कहीं भी तेल मिलने के आसार नजर नहीं आये। सन् 1937 ई० में बर्मा शेल, बर्मा ऑयल कम्पनी एवं ऐंग्लो इण्डियन ऑयल कम्पनी ने भारत सरकार की अनुमति से भारत में जलोढ़ मिट्टी एवं बालू से ढँके एक लाख वर्गमील से अधिक क्षेत्र में तेल की खोज का काम प्रारम्भ किया, परन्तु दुर्भाग्यवश द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण काम को बीच में ही स्थगित कर देना पड़ा।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद बर्मा ऑयल कम्पनी एवं आसाम ऑल कम्पनी ने पुनः काम शुरू किया। सन् 1953 ई० में आसाम के नहर कोरिया में खुदाई के दौरान 3000 मीटर की गहराई पर व्यवसायिक मात्रा में तेल मिला। आसाम में ही दो अन्य स्थानों हुग्रीजन तथा मोरान में खुदाई की गयी तथा उन दोनों स्थानों पर भी भारी मात्रा में खनिज तेल पाया गया। इन सफलताओं के बाद कम्पनी के हौसले बढ़े तथा उसने भारत सरकार से आसाम के अनेक क्षेत्रों में खुदाई के लिए अनुज्ञा-पत्र प्राप्त किये। सन् 1958 ई० में भारत सरकार एवं बर्मा ऑयल कम्पनी ने मिलकर ऑयल इण्डिया लिमिटेड नामक एक नयी कम्पनी की स्थापना की। ऑयल इण्डिया लिमिटेड को भारत सरकार से कुछ सुविधायें प्राप्त हुईं तथा इसने आसाम के कई क्षेत्रों में खनिज तेल की खोज तथा उत्पादन का काम प्रारम्भ किया। इसी कम्पनी ने नेफा (अरुणाचल) के खरसांग तथा शौपकिंड क्षेत्र में भी हाइड्रो-कार्बन की उपस्थिति के संकेत पाये। सन् 1949 ई० में स्टैंडर्ड वैक्युम ऑयल कम्पनी द्वारा पश्चिम बंगाल में तेल की खोज प्रारम्भ की गयी। स्टैंडर्ड वैक्युम ऑयल कम्पनी द्वारा सन् 1954 ई० में अपना कार्य-भार इंडो स्टॉनवक पेट्रोलियम प्रोजेक्ट को सौंप दिया गया। इस खोज कार्य में जो धन खर्च किया गया उसका एक चौथाई भाग भारत सरकार द्वारा वहन किया गया। उपर्युक्त विभाग ने पहले भूभौतिकीय सर्वेक्षण द्वारा कुछ स्थानों का चयन कर खुदाई प्रारम्भ की। परन्तु किसी भी स्थान पर तेल नहीं निकल सका। अन्त में सन् 1960 ई० में आगे का काम छोड़ दिया गया।

सन् 1955 ई० में भारत सरकार के प्राकृतिक संसाधन मंत्रालय के अधीनस्थ एक तेल एवं प्राकृतिक गैस प्रमण्डल की स्थापना की गयी जिसे भारत में खनिज तेल एवं गैस के नये स्रोतों का पता लगाने एवं उसके उत्पादन का भार दिया गया। कुछ ही समय के उपरान्त इस प्रमण्डल को एक निदेशालय में बदल दिया गया। यही निदेशालय कुछ समय के बाद एक आयोग में बदल गया जिसे आज 'तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग' कहा जाता है। इस आयोग द्वारा खनिज तेल एवं गैस की खोज हेतु पहली खुदाई सन् 1957 ई० में हिमाचल प्रदेश के ज्वालामुखी नामक स्थान पर की गयी। यहाँ पर थोड़ी मात्रा में प्राकृतिक गैस मिली, परन्तु इस स्थान का गैस भण्डार व्यवसायिक उत्पादन के लायक नहीं था। सन् 1958 ई० में गुजरात के काम्बे क्षेत्र में खुदाई की गयी जहाँ तेल एवं गैस का काफी बड़ा भण्डार मिला। गुजरात के ही अंकलेश्वर क्षेत्र में सन् 1960 ई० में तेल गैस के विशाल भण्डार का पता लगाया गया। उपर्युक्त क्षेत्रों के अलावा अनेक अन्य क्षेत्रों में तेल एवं गैस की खोज की गयी। जैसे गुजरात के कलौल, नवगाँव, सानन्द, ओलपाद, अहमदाबाद, ढोलका, लेहसाना, काडी, सोभासन तथा बक्रोल। इसी प्रकार आसाम के

रुद्रसागर, ललवा, गले की बोढ़ौला आदि स्थानों पर भी तेल एवं गैस की खोज की गयी। सन् 1964 ई० में टेकनों एक्सपोर्त नामक एक सोवियत कम्पनी की सहायता से कावेरी नदी के मुहाने के निकट समुद्र में तेल की खोज का काम आरम्भ किया गया। उपर्युक्त सोवियत कम्पनी द्वारा प्रदत्त सहायता से बम्बई हाई तथा दक्षिण ताप्ति नामक स्थानों पर तेल एवं गैस के भण्डारों का पता लगाया गया। सन् 1970 ई० के बाद तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग ने सोवियत सरकार की सहायता से काम्बे की खाड़ी में तेल की खोज का काम प्रारम्भ किया तथा इस योजना का नाम रखा गया 'ऑपरेशन लीप फ्रॉग'। इस प्रकार खनिज तेल एवं गैस की खोज की दिशा में काफी प्रशंसनीय काम किये गये जिसके काफी अच्छे नतीजे सामने आ रहे हैं। सन् 1950-51 में जहाँ भारत में कच्चे तेल का उत्पादन था मात्र 3 लाख टन, वहीं 1985-86 में यह बढ़कर 3 करोड़ टन हो गया। आज कच्चे तेल का उत्पादन निःसन्देह प्रगतिपथ पर अग्रसर है।

■ ■

वातावरण में विषैले रसायनों का प्रभाव

डॉ० डी० डी० ओझा एवं प्रो० आर० के० मेहता

वायुमंडल में अनेक रसायन विद्यमान होते हैं। इनमें से कुछ विषैले तथा कुछ निराविषी होते हैं। उद्योग द्वारा ये विषैले रसायन वायु, पानी तथा मिट्टी में विसर्जित होते रहते हैं। इस प्रकार ये पर्यावरण के द्वारा मानव-खाद्य अथवा भोजन श्रृंखला में प्रविष्ट हो जाते हैं। हमारी जैव प्रणाली में प्रवेश करने के पश्चात् ये पदार्थ जैव-रासायनिक क्रियाओं में व्यवधान उत्पन्न करते हैं, फलस्वरूप विषैला प्रभाव डालते हैं और यहाँ तक कि जीवों की मृत्यु तक हो जाती हैं। रसायन आविषालुता विज्ञान की शाखा के अंतर्गत् आविषालु रसायनों के प्रकार एवं कार्य प्रणाली का अध्ययन किया जाता है।

विषैले रसायनों की सूची बहुत विस्तृत है। यह एक विडंबना ही है कि अभी तक दृढतापूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक रासायनिक यौगिक विषालु या निराविषी हैं। काफी धातुएँ जो पर्यावरण आपदाओं की सूची में नामांकित हैं, उनकी आहार में सूक्ष्म मात्रा सामान्य वृद्धि तथा मानव एवं अन्य जीवधारियों के विकास में आवश्यक होती हैं। इसमें कुछ प्रमुख तत्व हैं एल्यूमीनीयम, एन्टीमनी, आर्सेनिक, बेरियम, बैरिलियम, बिस्मथ, कैडमियम, कोबाल्ट, कापर, सीरीयम, इन्डियम, लेड, मरकरी, मालिब्डनम, टीलुरियम, टिन, टाइटेनियम, टंगस्टन, यूरेनियम तथा जिंक।

यह सर्वविदित तथ्य है कि सामान्य रूप से विषालु तत्व—आर्सेनिक, सीसा तथा कैडमियम की अत्यल्प मात्राएँ जीवधारियों के विकास में सहायक होती हैं। इसी प्रकार जैविक दृष्टि से निष्क्रिय एल्यूमीनीयम भी मस्तिष्क

ब्रह्मपुरी, हजारी चबूतरा, जोधपुर

विकार, हड्डी में बीमारी तथा एनीमिया जैसी बीमारी उत्पन्न कर सकता है, जबकि उसका सांद्रण 100 से 1000 पी. पी. बी. तक पानी में होता है।

विषैले पदार्थों का वर्गीकरण उनके कार्य तथा प्रभावों पर निर्भर करता है जैसे उत्परिवर्तन जनीय, कैंसर जन्य आदि अथवा खाद्य योज्य, पीड़कनाशीय, भारी धातुएँ धातु कार्बोनिल तथा आर्गेनोक्लोरीन यौगिक आदि।

संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम के तहत पंजीकृत अन्तर्राष्ट्रीय विभव आविषालु रसायन पंजिका के अनुसार विश्व में 4 लाख ऐसे रसायन हैं, जो विषाक्त हैं तथा सूची में प्रतिवर्ष 30,000 नये यौगिक समाविष्ट होते हैं। इनमें से 60,000 से 70,000 ऐसे रसायन हैं जो सामान्य रूप से प्रयोग किये जाते हैं। पर्यावरण के विभिन्न क्षेत्रों में विषालु रसायन निम्नलिखित हैं।

1. वायु में विषाक्त रसायन

वर्ष 1978 में संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण सुरक्षा एजेन्सी, व्यावसायिक सुरक्षा, स्वास्थ्य प्रशासन तथा उपभोक्ता उत्पाद सुरक्षा आयोग ने वायुमंडल में ऐसे 24 पदार्थों को सम्मिलित किया है जो दुष्प्रभावी होते हैं। इनमें एक्राइलो नाइट्राइल, आर्सेनिक, एस्बेस्टस, बैंजीन, बैरिलियम, कैडमियम क्लोरीनीकृत विलायक, क्लोरोफ्लोरोकार्बन, क्रोमेट, कोयला, डाइएथिल स्टील बैस्ट्राल, डाइब्रोमोक्लोरो प्रोपेन, ऐथिलीन डाइब्रोमाइड, ऐथीलीन ऑक्साइड, सीसा, पारा, नाइट्रोसामीन, ओजोन, पॉलीब्रोमीनेटेड बाइ फेनिल, पॉली क्लोरीनेटेड बाइ फेनिल, विकिरण, सल्फर डाइ-ऑक्साइड, विनाइल क्लोराइड तथा आविषालु आपशिष्ट उत्सर्जित पदार्थ।

जल में विषैले तत्व

प्राकृतिक जल तथा व्यर्थ जल में व्याप्त विषैले तत्वों का विवेचन सारिणी-1 में दिया गया है। इनमें से कुछ की अत्यल्प मात्रा पशुओं तथा पौधों के लिए पोषण का कार्य करती है, जबकि अधिक मात्रा हानिप्रद होती है।

सारणी-1

प्राकृतिक एवं व्यर्थ जल में व्याप्त सूक्ष्म विषैले तत्व

क्रम संख्या	तत्व	स्रोत	प्रभाव तथा महत्व
1.	आर्सेनिक	खानों का उत्पाद, पीड़कनाशी व्यर्थ रसायन	विषैला, कैन्सरजनी
2.	कैडमियम	औद्योगिक आस्राव, जल पाइप, धातु प्लेटिंग	उच्च रक्तचाप, गुर्दा क्षय, वृषण ऊतक तथा रक्त में लाल कणिकाओं का क्षय, जलीय जीवजात में विषैलापन

3.	बैरिलियम	कोयला, न्यूकलियर ऊर्जा तथा अंतरिक्ष उद्योग	तीक्षण विषैलापन एवं कैंसर जनी
4.	बोरॉन	कोल, औद्योगिक उत्पाद	कुछ पौधों हेतु घातक
5.	क्रोमियम	धात्विक प्लेटिंग प्रदूषित जल	आवश्यक सूक्ष्मतत्व कैंसरजनी
6.	ताँबा	धात्विक प्लेटिंग खान एवं खनिज निक्षालन	आवश्यक सूक्ष्मतत्व सामान्य तौर पर शैवाल एवं पौधों हेतु विषालु
7.	फ्लोरीन (फ्लोराइड आयन)	प्राकृतिक भूगर्भीय स्रोत, औद्योगिक उत्पाद, जलयोज्य	अल्प मात्रा दाँतों हेतु आवश्यक परन्तु अधिक मात्रा दाँतों एवं अस्थियों हेतु घातक
8.	लेड (सीसा)	उद्योग, सीसाकरण गैसोलीन	विषालु, कमजोरी, गुर्दा क्षय एवं तंत्रिका तंत्र का क्षय
9.	मैंगनीज	खनिज उद्योग उत्पाद	आपेक्षिक तौर पर पशुओं हेतु आविषालु परंतु उच्च स्तर पर पौधों हेतु घातक
10.	पारा	औद्योगिक उत्पाद, पीड़ानाशक, कोयला	अत्यधिक विषालु
11.	मालिब्डनम	औद्योगिक उत्पाद एवं प्राकृतिक स्रोत	पौधों हेतु आवश्यक परंतु पशुओं हेतु घातक
12.	सेलिनियम	प्राकृतिक भूगर्भीय स्रोत	कम मात्रा में आवश्यक परन्तु ज्यादा हानिप्रद
13.	जस्ता	औद्योगिक उत्पाद धातु प्लेटिंग एवं सीसाकरण	कई चयापचयी क्रियाओं में आवश्यक परंतु उच्च स्तर पर पौधों के लिए हानिप्रद

जल में पीड़ानाशक

कई जलाशयों में अधिक मात्रा में पीड़ानाशक होते हैं। ये पीड़ानाशक मुख्यतया दो प्रमुख समूहों, क्लोरीनेटेड हाइड्रोकार्बन तथा आर्गेनिक फॉस्फेट होते हैं। इनमें से आर्गेनिक फॉस्फेट समूह अधिक जैव निम्नीकरणीय होते हैं।

विषैले रसायनों का प्रकिण्वों पर प्रभाव

सामान्यतया विषैले रसायन प्रकिण्वों के सक्रिय स्थानों को प्रभावित कर आवश्यक प्रकिण्व कार्यों मे कमी करते हैं। भारी धातु आयन यथा Hg^{2+}, Pb^{2+} तथा Cd^{2+} प्रभावी प्रकिण्व (एन्जाइम) निरोधक होते हैं। इनकी गंधक युक्त संयुग्मी के साथ बंधुता होती हैं। उदाहरणार्थ मैथीयोनीन तथा सिस्टीन अमिनो अम्ल में SCH_3 तथा —SH समूह जो कि प्रकिण्व संरचना में होते हैं।
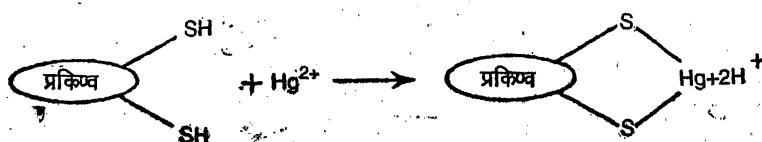
धात्विक प्रकिण्वों की संरचना में धातुएं समाविष्ट होती हैं। इनकी क्रिया में अवरोध तब उत्पन्न होता है जब धात्विक प्रकिण्व में एक धातु आयन का प्रतिस्थापन समान आवेश तथा आकार वाले दूसरे धातु आयन द्वारा होता है। उदाहरणार्थ Zn^{2+} आयन का प्रतिस्थापन Cd^{2+} द्वारा होने पर कैडमियम की विषाक्तता हो जाती है। कैडमियम से निरोधित प्रकिण्व मुख्यतया एडीनोसीन ट्राइफास्फेट, एल्कोहॉल, डिहाइड्रोजीनेज, एमाइलेज, एवं कार्बोनिक एनहाइड्रेज आदि हैं।

यह सर्वविदित है कि इन विषैले रसायनों के प्रतिकूल जैव-रासायनिक प्रभाव होते हैं। इनमें से कुछ प्रारूपिक विषैले पदार्थों के जैव-रासायनिक प्रभाव निम्न है।

(i) आर्सेनिक [As (III)] के जैव रासायनिक प्रभाव

सामान्यतया आर्सेनिक की विभिन्न मात्राएं कीटनाशी, फफूंदनाशी तथा शाकनाशी दवाईयों में प्रयुक्त की जाती हैं। इसके As (III) यौगिक अधिक विषैले होते हैं। प्राय: यह देखा गया है As (III) प्रकिण्व के -SH समूह पर आक्रमण कर अपना विषैलापन प्रभाव दिखा देते हैं जिससे प्रकिण्व क्रिया निरोधित होती है।

प्रकिण्व(SH)(SH) + (O⁻)(O⁻)AS—$\bar{O}$ ⟶ प्रकिण्व(S)(S)AS — $\bar{O}$ +2OH
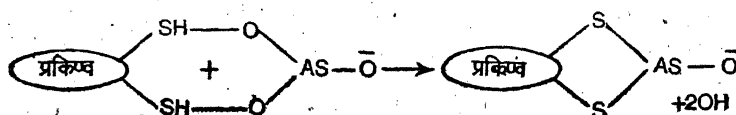
आर्सेनिक के निरोधन कार्य के कारण पायरूवेट डीहाइड्रोजीनेज की क्रियाशीलता कम हो जाती है, फलस्वरूप A T P (एडीनोसीन ट्राइफास्फेट) कम उत्पन्न होता है। प्रतिक्रिया का रासायनिक समीकरण निम्न है।

```
              O—                HS—CH2
—O—As<               +             |
              O—                  CH2                       S—CH2
                                   |                      /     |
                                HS—CH ——→ O = As<            CH2
                                   |                      \     |
                                  CH2                       S—CH2
                                   |                            |
                                  CH2                          CH2
                                   |                            |
                                  CH2                          CH2
                                   |                            |
                                  CH2                          CH2
                                   |                            |
                                  C=O                          CH2
                                   |                            |
                                                               C=O
                                                                |
                                प्रोटीन                         प्रोटीन
                 डाइहाइड्रोलाइपिक एसिड प्रोटीन            (अक्रियाशील प्रोटीन)
```
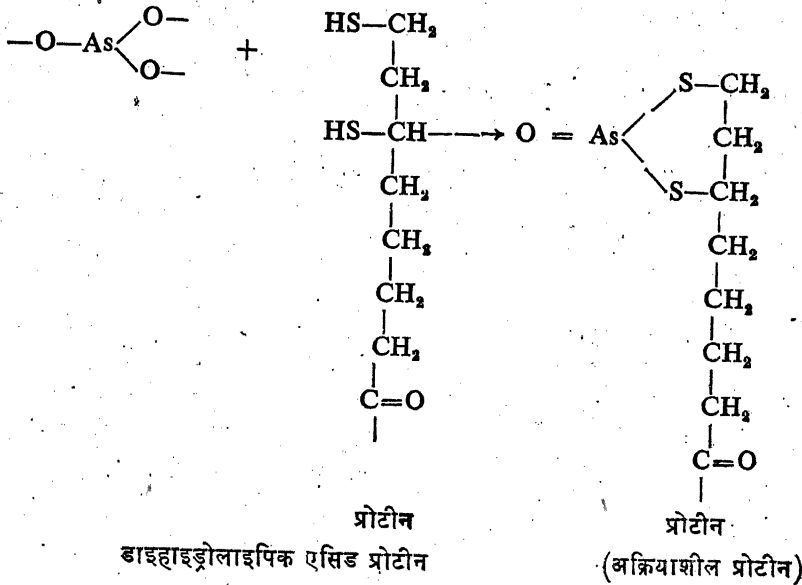
अधिक सान्द्रण होने पर आर्सेनिक (III) यौगिक प्रोटीनों का स्कन्दन कर देते हैं। इस प्रकार आर्सेनिक की जैव रासायनिक अभिक्रियाओं में प्रोटीन स्कन्दन, सह प्रकिण्वों से संकुलीकरण तथा फॉस्फोरीलेशन प्रमुख हैं। आर्सेनिक विषाक्तता हेतु प्रतिविष BAL (2, 3 मरकेप्टो प्रोपेनाल) है।

(ii) लेड (सीसा) के जैवरासायनिक प्रभाव

प्रकृति में सीसा या लेड प्रचुर मात्रा में पाया जाता है तथा मुख्यतया लेड खनिजों में मिलता है। वायुमंडल में अनेक भारी धातुओं की अपेक्षा यह अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। लेड हमेशा टेट्राएल्काइल के रूप में संयुक्त रहता है तथा इसका प्रमुख स्रोत लेड युक्त पैट्रोल/गैसोलीन का दहन है। यह पाया गया है कि अधिकतर शहरीवास गृहों में लेड का अंतग्रहण आहार (लगभग 200-300 माइक्रोग्राम प्रतिदिन) वायु तथा जल (10-15 माइक्रोग्राम प्रतिदिन) द्वारा होता है। इस प्रकार पूरे अंतग्रहण में 200 माइक्रोग्राम लेड उत्सर्जित होता है तथा 25 माइक्रोग्राम प्रतिदिन हड्डियों में एकत्र हो जाता है। इसको चित्र-1 (शहरी आवास में प्रतिदिन लेड का सन्तुलन) द्वारा दर्शाया गया है।

लेड का सबसे महत्वपूर्ण जैरासायनिक प्रभाव रक्तनिर्माण क्रियाओं में व्यवधान उत्पन्न करना है। इसके अतिरिक्त यह श्वसनवर्णक साइटोक्रोम को भी कुप्रभावित करता है। लेड विषाक्तता को कीटेलीकरण द्वारा अप्रभावित किया जा सकता है।

(iii) मरकरी के जैवरासायनिक प्रभाव :

धात्विक तत्व मरकरी या पारे की विषाक्तता का प्रादुर्भाव वर्ष 1953-60 में जापान में "मीनामाटा बीमारी" के कारण हुआ। सर्वप्रथम मीनामाटा खाड़ी में मरकरी संदूषित मछलियाँ खाने पर 111 लोगों में यह रोग

पाया गया। इनमें से 45 की मृत्यु शीघ्र हो गई तथा 20 बच्चों में वंशानुगत दोष पाये गये। उक्त मछलियों में 27-102 मिलीग्राम प्रति लीटर मरकरी, मेथिल मरकरी के रूप में पाया गया।
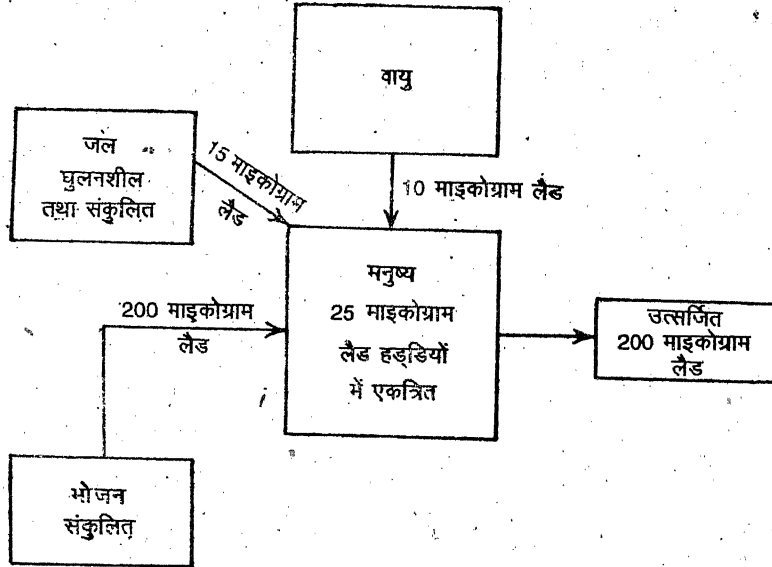
चित्र 1. शहरी आवास में प्रतिदिन लेड का संतुलन

प्रकृति में विभिन्न खनिज स्रोतों के साथ मरकरी पाया जाता है। इसका प्रमुख अयस्क सीनाबार HgS है। मिट्टी में इसकी उपलब्धता 0.1 पी० पी० एम० है। उपयोगिता की दृष्टि से इसका महत्तम उपयोग कई उत्पादनों में यथा—क्लोरीन तथा कास्टिक सोडा, मरकरी वाष्प दीप, बिजली के स्विच में, मरकरी बैटरी एवं कृषि उद्योग में फफूंदीनाशी रसायन तथा बीज संसाधन में किया जाता है। मरकरी का विषैला प्रभाव उनकी रासायनिक प्रजाति पर निर्भर करता है।

(iv) कार्बन मोनोऑक्साइड के जैव रासायनिक प्रभाव

कार्बन मोनोऑक्साइड के स्रोतों में प्राकृतिक क्रियायें यथा—ज्वालामुखीय क्रियायें, प्राकृतिक गैस उत्सर्जन, तूफान के दौरान विद्युत विसर्जन, बीज अंकुरण, मार्श गैस उत्पादन आदि हैं। मानसिक क्रियाओं द्वारा भी इसका सान्द्रण बढ़ जाता है। विश्व स्तर पर इसका वार्षिक उत्सर्जन 350 लाख टन है (मानवीय स्रोत से 275 तथा प्राकृतिक से 75 लाख टन)। अनुमानतः अमेरिका विश्व में सर्वाधिक कार्बन मोनोऑक्साइड का उत्सर्जन (100 लाख टन से ज्यादा) करता है।

कार्बन मोनोऑक्साइड रक्त में विद्यमान हीमोग्लोबिन को प्रभावित करके, ऑक्सीजन को विस्थापित करके कार्बोक्सीहीमोग्लोबिन बनाती है।

$$O_2\,Hb + CO \rightleftharpoons CO\,Hb + O_2$$
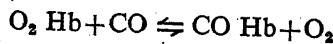
चूंकि कार्बोक्सीहीमोग्लोबिन एक सशक्त संकुल है, परिणामतः रक्त में ऑक्सीजन-पालन क्षमता का क्षय हो जाता है। कार्बन मोनोऑक्साइड के प्रारम्भिक दुष्प्रभाव द्वारा व्यक्तियों में अनभिज्ञता तथा निर्णय लेने की क्षमता समाप्त हो

जाती है जिससे दुर्घटनाओं की अशंका बढ जाती है। इसी प्रकार इसके अधिक प्रभावन से कई प्रकार की चयापचयी अभिक्रियायें प्रतिकूल प्रभावित होती है, फलस्वरूप मृत्यु तक हो जाती है।

कार्बनमोनोऑक्साइड विषाक्तता से पीड़ित रोगी अधिक समय तक ताजे ऑक्सीजन के क्षेत्र में रहने पर इस विषाक्तता से मुक्त हो जाता है क्योंकि इससे उत्क्रमणीय प्रतिक्रिया होने लगती है।

$$Co\,Hb + O_2 \rightleftharpoons O_2\,Hb + CO$$
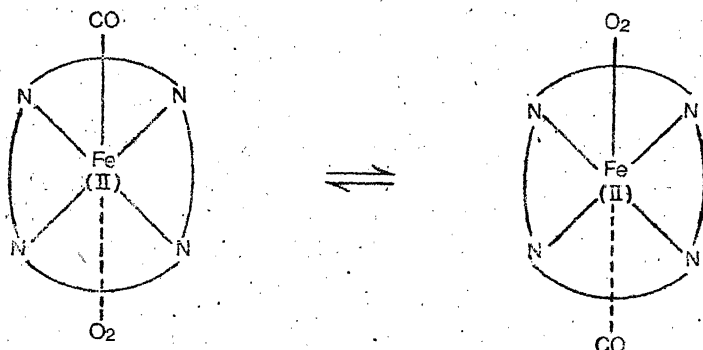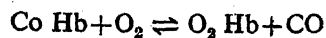
(v) नाइट्रोजन ऑक्साइडों के जैव-रासायनिक प्रभाव

नाइट्रिक ऑक्साइड, नाइट्रोजन परऑक्साइड या डाइऑक्साइड से कम विषैली होती है। कार्बन मोनो-ऑक्साइड की तरह यह भी हीमोग्लोबिन के साथ बंध बनाते हैं जिससे

ऑक्सीजन की परिवहन क्षमता में कमी आ जाती हैं।

नाइट्रोजन डाऑक्साइड मानव स्वास्थ्य के लिए अधिक हानिकारक है। इसके प्रभावन के प्रभावों को सारणी संख्या-2 में वर्णित किया गया है।

सारणी—2

नाइट्रोजन परऑक्साइड प्रभावन के प्रभाव

NO_2 का स्तर (पी० पी० एम०)	प्रभावन समय	मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव
50-100	1 घंटे तक	फेफड़े के ऊतकों में सूजन
150-200	एक घंटे तक	श्वसनीशोथ या मृत्यु
500 से ज्यादा	2-10 दिन	मृत्यु

(Vi) सल्फर डाइआक्साइड के जैव रासायनिक प्रभाव

यह आपतित वायु प्रदूषण के लिए उत्तरदायी होता है तथा इसके दूषित प्रभाव से कई देशों में मृत्यु भी देखी जा चुकी है। इसके प्रारंभिक प्रभाव श्वसन तंत्र पर होते हैं जिससे उत्तेजना तीव्र हो जाती है तथा वायु मार्ग की क्षमता बढ़ जाती हैं। यह देखा गया है कि कई मनुष्यों में इसके 1-2 पी. पी. एम. प्रभावन से भी उत्तेजना बढ़ जाती हैं। सामान्यतया लोगों में 5 पी. पी. एम. प्रभावन से उत्तेजना बढ़नी शुरू होती है। जनस्वास्थ्य प्राधिकारी वर्ग द्वारा भी सल्फर डाइआक्साइड को खतरनाक वायु प्रदूषक की श्रेणी में नामांकित किया गया है।

पौधों पर प्रभाव

अन्वेषणों द्वारा यह देखा जा चुका है कि सल्फर डाइऑक्साइड का प्रभावन पौधों के लिये भी घातक होता है। इसके अधिक प्रभावन से पत्तियों के ऊतकों का क्षय तथा किनारों का मुड़ना आदि होता है। तीव्र प्रभावन से क्लोरोसिस नामक भयंकर रोग हो जाता है। जैसे-जैसे आपेक्षिक आर्द्रता बढ़ती जाती है पौधों में इसके बिषैले प्रभाव भी बढ़ते जाते हैं। यह भी प्रेक्षित किया जा चुका है कि इसके दीर्घकालीन अल्प मात्रा में प्रभावन कई फसलों के लिए हानिकारक होते हैं। सल्फर डाइआक्साइड से आम्लीय वर्षा होती है, जिसके फलस्वरूप झीलों एवं नदियों के जलीय जीव तथा पौधे नष्ट हो जाते हैं।

(Vii) ओजोन तथा पी. ए. एन. के जैवरासायनिक प्रभाव

ओजोन तथा परॉक्सी ऐसिटिक नाइट्रेट (P.A.N.) दोनों ही प्रकाशरासायनिक धूम्र कुहारा के उत्पाद हैं। इसमें ओजोन मुख्य उत्पाद होती है।

$$CH_3-\overset{\overset{\displaystyle O}{\|}}{C}-OO-NO_2$$ (पी. ए. एन.)
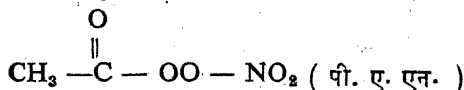
ये भी पौधों, पशुओं तथा मनुष्यों के लिए हानि कारक होते हैं। दोनों ओजोन तथा पी. ए. एन. आंखों तथा श्वसन तंत्र में तीव्र उत्तेजना उत्पन्न करते हैं। यह देखा गया है कि 5 0 पी. पी. एम. ओजोन के कई घंटों तक प्रभावन से मनुष्यों में पल्मोनरी एड़िमा से मृत्यु भी हो जाती है। कम आयु वाले मवेशी तथा मनुष्य अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित होते हैं। ऐसा ओजोन तथा पी. ए. एन. के जैवरासायनिक प्रभाव मुक्त मूलकों के उत्पन्न होने के कारण होते है। प्रायः सल्फीड्राइल समूह ओजोन तथा पी. ए. एन. से ऑक्सीकृत हो जाते है तथा पी. ए. एन. से एसीटीलीकृत भी हो जाते हैं।

(Viii) पीड़ानाशकों के जैवरासायनिक प्रभाव

जनस्वास्थ्य की दृष्टि से पीड़ानाशकों की जैव-रासायनिक अभिक्रियाएं अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। यद्यपि पीड़ानाशकों की सूची में अनेक रसायन हैं फिर भी डी. डी. टी. की पर्यावरणीय जैविक अभिक्रियाओं पर विस्तृत अध्ययन किया जा चुका है। डी. डी. टी. केन्द्रीय तंत्रिका संस्थान को क्षति पहुंचाता है तथा अनेक जैव संबन्धी प्रक्रिण्वों के उत्पादन को रोकता है। कई देशों में तो डी. डी. टी. के प्रयोग पर भी रोक लगा दी गई है।

अतः इस प्रकार के विषैले रसायन न केवल वातावरण को दूषित करते हैं वरन् प्रत्येक जीवधारी के लिए अभिशाप हैं। इनकी रोकथाम के लिए हमें प्राचीन तथा आधुनिक तरीके अपनाने होंगे क्योंकि आज वातावरण में विद्यमान विषैले रसायनों ने विश्व के लिए एक विषम समस्या खड़ी करदी है।

न्यूट्रॉन बमबारी रोकने में सक्षम भारी पानी

उदय वीर सिंह

साधारण पानी हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन का यौगिक है जब कि भारी पानी ड्युटीरियम तथा ऑक्सीजन का यौगिक है। ड्युटीरियम हाइड्रोजन का समस्थानिक है। ड्युटीरियम परमाणु के नाभिक में हाइड्रोजन के समान एक प्रोटॉन होता है किन्तु एक न्युट्रॉन भी रहता है। इसी कारण ड्युटीरियम का परमाणु भार हाइड्रोजन का दुगना यानी 2 हो जाता है। 2 ड्युटीरियम के परमाणु एवं एक ऑक्सीजन का परमाणु मिलकर भारी पानी बनता है। साधारण पानी का अणुभार 18.016 है जबकि भारी पानी का 20.026 है। साधारण पानी जम कर बर्फ होता है 0°C पर जबकि भारी पानी 3.8°C तापमान पर ही जमने लगता है। भारी पानी को भाप बनाने के लिये इसे 101.42°C तापक्रम तक गर्म करना पड़ता है जबकि साधारण पानी 100°C पर ही भाप बन जाता है। आणविक ताप विद्युत गृहों में नभिकीय विखण्डन प्रक्रिया से उत्पन्न तीव्रगामी न्युट्रॉनों को धीमा करने में भारी पानी त्वरित गति से प्रभावकारी कार्य करता है।

कैसे बनता है भारी पानी !

साधारण पानी से ही भरी पानी बनाया जाता है। साधारण पानी में ड्युटीरियम की उपस्थिति 100 भाग प्रति 10 लाख भाग होती है। विद्युत विश्लेषण से प्राप्त समृद्ध हाइड्रोजन का आसवन —253°C से निम्न तापीय वातावरण में करके ड्युटीरियम का पृथककरण किया जाता है और ड्युटीरियम तथा ऑक्सीजन के संयोग से भारी पानी बनाया जाता है। इस प्रक्रिया से नांगल में प्रतिवर्ष 14 टन भारी पानी तैयार जिया जा रहा है।

आणविक भट्ठियों में चलती रहती है न्युट्रॉन बमबारी

आणविक भट्ठियों में प्राकृतिक यूरेनियम-235 पर न्युट्रॉनों की बमबारी करके इसके द्रव्यमान की क्षति की जाती है और विशाल ताप ऊर्जा प्राप्त की जाती है। द्रव्यमान की क्षति होते ही युरेनियम का नाभिक टूटता है और 3 न्युट्रॉन उत्पन्न होते हैं जो अन्य युरेनियम नाभिकों पर बमबारी करके उन्हें विखंडित कर देते हैं और नये न्युट्रॉन बनाते जाते हैं, जो अन्य युरेनियम नाभिकों का विखण्डन करते हैं और नाभिकीय विखण्डन शृंखला अभिक्रिया प्रारम्भ हो जाती है तथा असीम ताप शक्ति उत्पन्न होती है।

न्युट्रॉन बमबारी का नियन्त्रण

न्यूट्रॉन बमबारी का नियन्त्रण करने के लिये न्युट्रॉन बनने की प्रक्रिया धीमी करनी पड़ती है और प्रक्रिया धीमी करने के लिये न्यूट्रॉनों की गति धीमी करनी पड़ती है। साधारण पानी से वांछित गति प्राप्त करना सम्भव

अधीक्षण अभियन्ता, टाण्डा ताप-विद्युत् परियोजना, विद्युतनगर, फैजाबाद, उत्तर प्रदेश

नहीं है इसलिये भारी पानी का प्रयोग किया जाता है। भारी पानी से न्यूट्रॉनों की गति कम करके युरेनियम नाभिक के विखण्डन की अभिक्रिया वांछित रफ्तार पर की जा सकती है। शोधित युरेनियम का प्रयोग करने पर साधारण पानी भी यह कार्य कर सकता है।

कहाँ जाती है नियन्त्रण ऊर्जा ?

नियंत्रित नाभिकीय प्रक्रिया को नलिकाओं के चारों ओर शीतलक प्रवाहित किया जाता है। नाभिकीय प्रक्रिया से उत्पन्न ऊष्मा ले कर शीतलक भापजनित्र में जाता है और अपनी ऊष्मा भाप जनित्र के पाइपों में घूमते पानी को देकर पुन: आणविक भट्ठी में लौट आता है। भापजनित्र की भाप टरबाइन में भेजी जाती है, जिनसे टरबाइन 3000 चक्र प्रतिमिनट के रफ्तार से घूमने लगती है। टरबाइन के घूमते ही उसके साथ जुड़ा जेनेरेटर घूमता है और जेनेरेटर का चक्र प्रारम्भ होते ही बाहर तारों में विद्युत्-धारा प्रवाहित होने लगती है।

न्यूट्रॉनों की बमबारी रोकने में भारी पानी सक्षम तथा अत्यंन्त प्रभावकारी है क्योंकि इसकी मन्दन अनुपात 21.000 है, जबकि साधारण पानी का मात्र 58 है। भारी पानी बनाना बहुत खर्चीला है, किन्तु इसके बिना प्राकृतिक युरेनियम की नाभिकीय विखण्डन शृंखला को नियंत्रित करना सम्भव नहीं है, जबकि भाप-उत्पादन के लिये नियंत्रित तापक्रम की ऊष्मा चाहिए।

○○

जन्म-शताब्दी

राहुल सांकृत्यायन और मेघनाद साहा

गुणाकर मुले

राहुल जी और **डॉ साहा** को केवल इसलिए एक साथ स्मरण नहीं किया जा रहा है कि इस साल इन दोनों विभूतियों की जन्म-शताब्दी मनाई जा रही है। राहुलजी प्रमुखत: प्राचीन संस्कृति के अन्वेषक थे, तो साहा मुख्यत: आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र के अनुसन्धानकर्ता। मगर दोनों में काफी समानताएँ भी थीं। राहुलजी विज्ञान के अध्ययन को बहुत अधिक महत्व देते थे, तो साहा भी इतिहास व पुरातत्व के गम्भीर अध्येता थे। दोनों ने राजनीति में जमकर भाग लिया—राहुलजी ने स्वाधीनता आन्दोलन के दिनों में और साहा ने आजादी के बाद। दोनों की सामाजिक व धार्मिक मान्यताओं में भी काफी साम्य था और दोनों ही भारतीय संस्कृति की श्रेयस्कर उपलब्धियों के आराधक थे।

प्रस्तुत है दोनों से जुड़ा एक प्रसंग :

"अमरावती" सी-210, पांडव नगर, दिल्ली-110092

जून 1945 की बात है। ईरान में सात महीने तक असह्य प्रतीक्षा करने के बाद राहुलजी उसी महीने के आरम्भ में लेनिनग्राद पहुँचे थे—पत्नी लीला और बेटे ईगोर के पास। इस बार लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में वे संस्कृत के प्राध्यापक नियुक्त हुए थे।

लेनिनग्राद पहुँचे अभी करीब तीन सप्ताह ही हुए थे कि एक दिन राहुलजी को पता चला कि डॉ० मेघनाद साहा आये हुए हैं और उन्हें ढूंढ रहे हैं। यह भी पता चला कि वे उसी दिन लेनिनग्राद छोड़ने वाले हैं। राहुलजी दौड़े-दौड़े उस अस्तोरिया होटल पहुँचे जहाँ डॉ० साहा ठहरे थे। दोनों की भेंट हुई। लम्बी बात करने का अवसर नहीं था। सोवियत विज्ञान अकादमी की 220वीं जयन्ती मनाई जा रही थी। उस महोत्सव में दुनिया के चोटी के विज्ञानवेत्ता आमन्त्रित थे। डॉ० साहा भारत का प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

सोवियत विज्ञान अकादमी के महोत्सव में शरीक होने के लिए भिन्न-भिन्न देशों के जो विद्वान रूस पहुँचे थे वे अपना सन्देश तैयार करके लाये थे। डॉ० साहा को पहले इसका ख्याल नहीं आया। वहाँ पहुँचने पर डॉ० साहा को सन्देश देने के लिए कहा गया, तो उन्होने एक सन्देश तैयार किया। आगे राहुलजी के ही शब्दों में :

"भारत की उन खूसट खोपड़ियों में डॉ० मेघनाद साहा नहीं हैं, जो दूसरे देशों में जाकर अँग्रेजी को सर्व-सर्वा मानने में जातीय अपमान का ख्यान नहीं करते। उन्होंने अपने सन्देश की अँग्रेजी कापी मुझे देकर कहा—मैं नहीं चाहता कि मेरा सन्देश अंग्रेजी में जाये।. इसे हमारी भारतीय भाषा में होना चाहिए – चाहे हिन्दी में हो या बँगला में, किन्तु मैं पसन्द करूँगा कि यह संस्कृत में हो।' उन्होंने कहा कि इसे संस्कृत में अनुवादित कर ही अच्छी तरह छपवाकर दे दें। मैंने अनुवाद तो कर दिया, किन्तु नागरी अक्षरों की उतनी सुन्दर छपाई का वहाँ प्रबन्ध नहीं हो सकता था, इसलिए उसे डॉक्टर साहा के पास भेज दिया।"

डॉ० साहा के जिस सन्देश का राहुलजी ने संस्कृत में अनुवाद किया था उसे उन्होंने 'मेरी जीवन-यात्रा' (भाग-3) में हिन्दी में दिया है। सन्देश का पूर्वार्द्ध है : "भारत की जनता, एक सौ इकसठ बरस पहले स्थापित 'बंगाल रॉयल एशियाटिक सोसायटी' और भारतीय वैज्ञानिक परिषदों और सभाओं के संघ के रूप में स्थित राष्ट्रीय विज्ञान प्रतिष्ठान की ओर से सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की विज्ञान अकादमी का अपने अस्तित्व के दो सौ बीस बरस पूरा करने के उपलक्ष्य में अभिनन्दन करता हूँ। क्रान्ति के पहले भी विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में अकादमी ने जो सफलताएँ प्राप्त की थीं, उन्हें विज्ञान के इतिहास मे सुनहले अक्षरों में लिखा गया है। भारतीय विद्या के क्षेत्र में रूसी प्रतिभाओ की अद्वितीय देन, रॉथ और बोथलिंक के महान वैदिक कोश—जो कि लेनिनग्राद में करीब सत्तर बरस पहले प्रकाशित हुआ—भारत बड़ी कृतज्ञतापूर्वक याद करता है। बौद्ध शसात्र के महान विद्वान अकादमिक श्चेरवात्स्की—जिन्होंने दो साल पूर्व निर्वाण प्राप्त किया—की गम्भीर देनों को भी भारत बड़ी कृतज्ञतापूर्वक याद करता है।"

डॉ० साहा एक श्रेष्ठ वैज्ञानिक ही नहीं, प्राचीन भारतीय विद्याओं के भी प्रेमी थे, यह बात उनके उपर्युक्त सन्देश से स्पष्ट है। उन्होंने कई सालों तक जिस पत्रिका का सम्पादन किया उसका नाम है—'साइन्स एण्ड कल्चर' (विज्ञान और संस्कृति)। इस पत्रिका में उन्होंने न केवल विज्ञान व टेक्नॉलोजी के बारे में बल्कि योजना और इतिहास-पुरातत्व के बारे में भी दर्जनो लेख लिखे। पंचांग सुधार समिति के अध्यक्ष के रूप में डॉ० साहा ने जो कार्य किया वह प्राचीन भारतीय संस्कृति-सम्बन्धी उनके गहन अध्ययन-अन्वेषण का परिचायक है।

राहुलजी भी विज्ञान के अध्ययन और लेखन को बड़ा महत्व देते थे। आरम्भ में गणित में उनकी गहरी पैठ रही है। उनकी "विश्व की रूपरेखा" तो वैज्ञानिक पुस्तक है ही, "मानव-समाज" और "वैज्ञानिक भौतिकवाद" भी एक प्रकार से वैज्ञानिक कृतियाँ ही हैं। राहुलजी ने अपने प्रायः सभी प्रमुख भाषणों में वैज्ञानिक साहित्य के निर्माण पर बल दिया। सितम्बर 1947 में प्रयाग में आयोजित अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्ष पद से उन्होंने कहा था—"हमें अपने साहित्य को आधुनिक युग और उसकी आवश्यकताओं के अनुसार समृद्ध बनाना है। उच्च कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध ही के द्वारा नहीं, बल्कि, ज्ञान-विज्ञान, साइन्स-सम्बन्धी प्रचुर साहित्य का निर्माण करके। आज साइन्स का युग है। साइन्स ही हमारे समाज के दैविक और भौतिक तापों को मिटा सकती है। उसी के पास रत्नगर्भा वसुन्धरा के उदर में छिपी निधि के खुलने की कुंजी है। साइन्स सिर्फ विशेषज्ञों तक ही सीमित रहने वाला ज्ञान नहीं, उसे जनसाधारण तक जनभाषा में पहुँचना है।"

दोनों ही विभूतियों का जीवन बड़ा संघर्षमय रहा है और दोनों के विचारों में काफी साम्य भी था। राहुलजी अनीश्वरवादी, अनात्मवादी तथा अपुनर्जन्मवादी थे। वे धर्म और संस्कृति को एक चीज नहीं मानते थे। डॉ० साहा धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करते थे, मगर पूजा-अनुष्ठानों में उनकी आस्था नहीं रह गई थी और बाद में वे नास्तिक के रूप में जाने जाते थे।

एक और समानता थी दोनों में। जवाहर लाल नेहरू की गलत योजनाओं और नीतियों का दोनों ने ही जमकर विरोध किया।

राहुलजी आयु में डॉ० साहा से करीब छह महीने बड़े थे। सन् 1893 में राहुलजी का जन्म 9 अप्रैल को हुआ था और मेघनाद साहा का 6 अक्टूबर को। मगर साहा की इहलीला पहले समाप्त हुई, 16 फरवरी 1956 को। राहुलजी का निधन 14 अप्रैल 1963 को हुआ, सत्तर साल की आयु में।

भारत की इन दो विभूतियों की जन्म-शताब्दी के आयोजनों की आज विविध प्रेरणाएँ हैं। मगर दोनों को एक साथ याद करते हैं, तो निश्चय ही प्रमुख प्रेरणा है—साहित्य और विज्ञान के समन्वय को सुदृढ़ बनाना।

OO

जन्म-शताब्दी

विज्ञान-पुरुष थे मेघनाद साहा

डॉ० एम० एस० विष्ट

विज्ञान संकाय में भौतिकी विभाग द्वारा प्रो० मेघनाद साहा जन्मशती समारोह अक्टूबर 1992 से अक्टूबर 1993 तक मनाया जा रहा है। इस अन्तराल में कई वैज्ञानिक कार्यक्रम विभाग द्वारा सम्पादित किये जा रहे हैं और इन सबकी परिणिति स्पेक्ट्रॉस्कोपी तथा एस्ट्रोफिजिक्स में और प्लाज्मा विज्ञान एवं तकनीकी में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के रूप में हो रही है। भौतिकी विभाग 'साहा चेयर' स्थापित करने के लिये भी कटिबद्ध है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना यद्यपि 1887 में हुई थी पर उसका आज का आवासीय रूप सन् 1922 के अधिनियम द्वारा पारित हुआ था और तब तत्कालीन म्योर सेन्ट्रल कॉलेज को विज्ञान संकाय का रूप दिया गया था। इसी तारतम्य में प्रो० साहा (भौतिकी के), प्रो० नीलरत्न धर (रसायन के), प्रो० ए० सी० बनर्जी (गणित के), प्रो० टी० एच० मित्तर (वनस्पति विज्ञान) तथा प्रो० दक्षिणा रंजन भट्टाचार्य (जन्तु विज्ञान के) अध्यक्ष नियुक्त हुए थे। विज्ञान संकाय में तब से काफी विस्तार हुआ है इसकी इलेक्ट्रॉनिक कम्युनिकेशन विभाग, भू एवं नक्षत्र विज्ञान विभाग, बायोकेमेस्ट्री तथा होम साइन्स विषय के रूप अभिवृद्धि हुई है। एक सम्पूर्ण कम्प्यूटर सेन्टर तथा साइन्स इंस्ट्रूमेंटेशन सेन्टर इसके अभिन्न हैं।

भौतिकी विभाग को प्रो० साहा के 15 वर्षों के सेवाकाल में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई। उनके थरमल आयोनिजेशन सिद्धान्त को मूलभूत शोध कार्य माना जाता है जो कि आज के प्लाज्मा भौतिकी का मूल स्रोत है। इस सिद्धान्त के तहत भौतिकी विज्ञान के कई आयाम प्रस्फुटित हुए हैं। प्रो० साहा द्वारा स्थापित उच्च तापीय ग्रेफाइट भट्ठी में आज तक शोध कार्य सम्पन्न कराये जा रहे हैं और उनके द्वारा स्थापित विज्ञानशाला के नाम से देश भर में जानी जाती है। प्रो० साहा ने 1930 में भारत में सर्वप्रथम एक साइन्स एकेडेमी की स्थापना करायी जो आज नेशनल एकेडेमी ऑफ साइन्सेज के नाम से सर्वविदित है। प्रो० साहा को 'रॉयल सोसायटी', लन्दन ने अपना फेलो चयनित कर सम्मानित किया।

प्रो० साहा की विज्ञान के अतिरिक्त भी कई विषयों में अभिरुचि थी, कौशाम्बी की खुदाई के वे प्रेरणा स्रोत रहे हैं।

इण्डियन साइन्स न्यूज एसोसियेशन, कोडाईकेनाल एस्ट्रोनॉमिकल वेधशाला तथा इंस्टीट्यूट ऑफ न्यूक्लियर फिजिक्स की स्थापना में उनका योगदान रहा है। उनके प्रयत्नों से सन् 1938 में नेशनल प्लानिंग कांग्रेस की स्थापना हुई। कैलेंडर संशोधन समिति के अध्यक्ष के रूप में भी उन्होंने भारतीय कैलेंडर को नये आयाम दिये।

प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद 211002

भारतीय शुद्ध जल व्यवस्था हेतु भी उन्होंने नई दृष्टि दी और संसद सदस्य के रूप में भी उन्होंने भारत के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन में सुधार लाने का अथक प्रयास किया था। प्रो० साहा द्वारा प्रतिपादित कार्य को भौतिकी विभाग में प्रो० के० एस० कृष्णन, प्रो० केदारेश्वर बनर्जी तथा प्रो० कुन्दर सिंह सिंघवी आदि ने नया जीवन कालान्तर में दिया।

वर्तमान में भौतिकी विभाग में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के कई कार्यक्रम चल रहे हैं तथा त्रीष्ट के सैद्धान्तिक भौतिकी अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र के साथ भौतिकी विभाग का अभिन्न सम्बन्ध है।

इस विभाग के अध्यापकों तथा शोधछात्रों को कई वैज्ञानिक पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। वर्तमान सी० एस० आई० आर० के डाइरेक्टर जनरल डॉ० श्रीकृष्ण जोशी भी इस विभाग के छात्र तथा अध्यापक रह चुके हैं।

साहा शताब्दी समारोह का शुभारम्भ नवम्बर 1992 में प्रो० बी० डी० नागचौधरी द्वारा हुआ था। इसके पश्चात् साहा स्मृति व्याख्यानमाला का शुभारम्भ हुआ जिसमें कई अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के वैज्ञानिकों ने अपने शोध व्याखयान दिये।

(अमृत प्रभात)

□□

जन्म-शताब्दी

व्यापक सरोकारों से प्रतिबद्धता

डॉ० चन्द्र मोहन भण्डारी

प्रोफेसर मेघनाद साहा के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का सही आकलन स्वयं में एक दुष्कर कार्य है, विशेष रूप से उस परिप्रेक्ष्य में जो अपनी विसंगतियों से स्वयं ही जूझ रहा हो। भौतिक विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय में 'साहा के व्यक्तित्व तथा कृतित्व का मूल्यांकन' एक ऐतिहासिक अनिवार्यता है और उसकी प्रतिध्वनि भविष्य में कुछ दूर तक सुनायी पड़ती रहेगी, इसमें सन्देह नहीं। यों यह भी हो सकता है कि यह सारा कार्यकलाप महज एक कर्मकाण्ड का ही रूप ले ले और यह सब हमारे सामाज़िक परिवेश में एकदम अप्रत्याशिय भी नहीं है। यहीं पर शायद पहचान हो सकेगी कि समाज में प्रबुद्ध लोगों की भूमिका यही होती है कि वे स्वस्थ सामाजिक चिन्तनधारा में अव-रोध न आने दें और समारोहों को मात्र कर्मकाण्ड तक सीमित हो जाने के खतरे को पहचानते हुए आवश्यक कार्रवाई करें।

ढाका के निकट शेवड़ातली ग्राम में 6 अक्टूबर 1893 में जन्मे मेघनाद साहा एक सामान्य ग्रामीण परिवार की सारी आर्थिक एवं सामाजिक कठिनाइयों से जूझते हुए अपने लियें एक ऐसा पथ प्रशस्त करने में सफल

प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

रहे जो किसी साधनसम्पन्न व्यक्ति के लिये भी गर्व का विषय हो सकता था। ढाका से इन्टर की परीक्षा अच्छे अंकों से उत्तीर्ण करने के उपरान्त उन्होंने कलकत्ता के प्रेसिडेन्सी कॉलेज में प्रवेश लिया। प्रेसिडेन्सी कॉलेज तथा कलकत्ता शहर दोनों के ही जीवन में यह समय बड़े महत्व का था। उनके सहपाठियों में सत्येन्द्रनाथ बोस, एन० आर० सेन तथा जे० सी० घोस जैसे प्रतिभाशाली छात्र थे जिन्हें समकालीन विज्ञान के इतिहास में याद किया जाता रहेगा। शिक्षकों में भौतिकशास्त्र जगदीश चन्द्र बोस तथा रसायनशास्त्र प्रफुल्ल चन्द्र रे पढ़ाते थे। लगभग इसी समय सुभाष चन्द्र बोस भी वहाँ पर थे। निश्चय ही साहा का चिन्तन एवं विकास उस सृजनशील परिवेश में और भी समृद्ध हुआ होगा। शायद भारतीय भूभाग के सम्पूर्ण इतिहास में पहली बार इतनी प्रखर प्रतिभायें एक लघु अन्तराल में एक ही स्थान पर कार्यरत रही हों।

1917 में गणित (एप्लाइड) से एम० एस-सी की डिग्री लेने के बाद बोस व साहा दोनों ही कलकत्ता विश्वविद्यालय में लेक्चरर नियुक्त हुए। उसी समय रामन भी भौतिक विज्ञान में प्रोफेसर नियुक्त हुए। सैद्धान्तिक भौतिकी के विषयों में साहा की रुचि थी और वे उनके अध्ययन में जुट गये। नक्षत्र विज्ञान तथा स्पेक्ट्रॉस्कोपी उनकी रुचि के विषय थे और शोध के तीन-चार वर्षों में उन्होंने अनेक शोध-निबन्ध तैयार किये। 1920 में फिलासिफिकल मैगजीन में प्रकाशित उनका निबन्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण था जिसमें साहा का बहुचर्चित 'ऊष्मीय आयनीकरण का सिद्धान्त' वर्णित है।

खगोल भौतिकी में नक्षत्र किरणों का अध्ययन कर उनकी आवृत्ति के आधार पर वहाँ (नक्षत्र) में उपस्थित गैसों की उपस्थिति का ज्ञान किया जाता रहा है। उन आवृत्तियों को सैद्धान्तिक आधार पर भी जाँचा-परखा जा सकता है। उस समय एक समस्या यह थी कि अनेक वर्णपटीय आवृत्तियाँ, सैद्धान्तिक निष्कर्षों से मेल नहीं खाती थीं और इस अन्तर को समझने के प्रयास जारी थे। मेघनाद साहा ने इस अन्तर का स्पष्टीकरण देने के लिये गैसों के आयनीकरण का सिद्धान्त दिया था और इस कार्य में उन्हें सफलता मिली।

साहा के शोध-निबन्धों के प्रकाशन के साथ-साथ उनकी ख्याति बढ़ी। इसी दौरान अनेक विश्वविद्यालयों (अलीगढ़, बनारस, इलाहाबाद) से उन्हें आमन्त्रण भी मिले। इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने उन्हें भौतिकी विभाग के अध्यक्ष पद पर नियुक्त किया (सन् 1923) और साथ ही साहा ने यह नियुक्ति स्वीकार कर ली। तब तक इलाहाबाद वि० वि० में केवल स्नातक कक्षायें ही चला करती थीं। साहा के प्रयाग-आगमन के साथ भौतिकी विभाग में एक नये युग का सूत्रपात हुआ, उत्तर स्नातक कक्षायें शुरू हुई और धीरे-धीरे आरम्भ हुई शोध। सन् 1927 में साहा के भौतिकी में योगदान के आधार पर उन्हें 'रॉयल सोसायटी' का फेलो बनाया गया और इलाहाबाद विश्वविद्यालय का भौतिकी विभाग शोध के प्रमुख केन्द्र के रूप में जाना जाने लगा। साहा का नाम 'नोबल पुरस्कार' के लिये भी चयनित किया गया था यद्यपि यह पुरस्कार उन्हें मिल नहीं सका।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में साहा का कार्यकाल 15 वर्ष का था (1923 से 1938)। इस दौरान विभाग का सर्वांगीण विकास हुआ। मूलतः सैद्धान्तिक भौतिकी में रुचि लेते हुए भी साहा ने प्रायोगिक भौतिकी को समुचित प्रोत्साहन दिया। स्पेक्ट्रॉस्कोपी की प्रयोगशाला आज भी अपने गौरवमय अतीत पर नाज कर सकती है। अनेक प्रतिभाशाली छात्रों ने बाद में ख्याति अर्जित की। प्रोफेसर दौलत सिंह कोठारी, बी० डी० नागचौधरी, पी० के० किचलू, आर० सी० मजूमदार आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इसी अन्तराल में साहा के बहुआयामी व्यक्तित्व का उत्तरोत्तर विकास हुआ और कई आयामों में उनका योगदान क्रमश: उद्भासित होता चला गया। एक सफल वैज्ञानिक और एक आदर्श शिक्षक होने के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व के कतिपय और आयाम मुखरित होते चले गये। किसी राष्ट्र या समाज के जीवन में विज्ञान की महत्ता के प्रतिफलन के लिये क्या कुछ जरूरी है? इस विषय में संग्रहालयों की क्या भूमिका है? इस विषय में संस्थानों तथा अकादमियों की क्या भूमिका है? ये सारी बातें न केवल साहा के चिन्तन को उद्वेलित करती रहीं वरन् यदा कदा उनके भाषणों एवं लेखों में भी प्रस्फुटित होती रहीं और इन सबका प्रभाव पड़ा भी। सन् 1924 में उन्होंने विश्वविद्यालय की पत्रिका में एक लेख लिखा जो इलाहाबाद में एक संग्रहालय की जरूरत को प्रतिबिम्बित करता था। 1935 में एक संग्रहालय की स्थापना प्रयाग में की गयी। विश्वविद्यालय की पत्रिका में विज्ञान अकादमी की स्थापना का उन्होंने जिक्र किया और 1930 में पहली यू० पी० विज्ञान अकादमी की स्थापना हुई जिससे प्रथम अध्यक्ष स्वयं साहा थे। राष्ट्रीय प्लानिंग कमीशन बनाने पर साहा का आग्रह था और कालान्तर में वह भी बना। साहा ने 'विज्ञान एवं संस्कृति' नाम से एक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया और वे उस पत्रिका में नियमित रूप से लिखते रहे—सम्पादकीय के रूप में या लेखों में। शायद ही कोई विषय रहा हो जिसमें उन्होंने रुचि न ली हो—राष्ट्रीय विकास व ऊर्जा, खनिज सम्पदा, नदी जल-नियोजन, राष्ट्रीय कैलेण्डर, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, वैज्ञानिक सोच-सभी विषयों पर उनका लेखन समकालीन चिन्तन को प्रभावित करता रहा। यह लेखन और चिन्तन किसी बुद्धिजीवी का बौद्धिक विलास नहीं था वरन् एक गहन सामाजिक प्रतिबद्धता का सूचक था—एक ऐसी प्रतिबद्धता जो मात्र व्यक्तिगत सफलताओं व उपलब्धियों की जरूरत को बहुत पीछे छोड़ देती है।

एक वैज्ञानिक होने के साथ-साथ मेघनाद साहा एक मनीषी थे और एक द्रष्टा। उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता अप्रतिम थी। विश्व के वैज्ञानिकों में शायद विरले ही होंगे जो सामाजिक सन्दर्भों में विज्ञान की उपादेयता तथा महत्व की खोजबीन में पूरी लगन और ईमानदारी से जुटे हों। विज्ञान प्रयोगशाला की दीवारों के बीच ही सिमटकर नहीं रह सकता; उसे अन्तत: समाज से जुड़ना होगा और इसी में उसकी सार्थकता होगी। ऐसा मेघनाद साहा का दृढ़ विश्वास था और वे इस दिशा में सदैव जागरूक रहे।

(अमृत प्रभात)

□□